श्रीमद्भगवद्गीता

(प्रथम खण्ड)

प्रथम छः अध्यायोंके मूल श्लोक, अन्वय, श्रीधरस्वामिकृत टीका

उसका हिन्दी अनुवाद

और

योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशयकी
आध्यात्मिक-दीपिका

एवम्

श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल

द्वारा

उक्त आध्यात्मिक-दीपिकाकी विशद व्याख्या।

—:*:—

काशी गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेजके भूतपूर्व अध्यक्ष

महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज एम० ए०

लिखित भूमिका सहित।

प्रथम संस्करण

अक्षय तृतीया

सम्वत् २०१०

प्रकाशक
हिन्दी प्रकाशन समिति
गुरुधाम, मन्दार
पो०—बौंसी
जि०—भागलपुर

सम्पादक

ज्वाला प्रसाद तिवारी
बाँकेबिहारी लाल

अनुवादक
पं० गौरीशंकर द्विवेदी शास्त्री
साहित्यरत्न, साहित्याचार्य, गोरखपुर

प्राप्ति-स्थान—

१—बाँकेबिहारी लाल, ६०/१ सिद्ध माताकी गली, बनारस।
२—मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, कचौड़ी गली, बनारस।

मूल्य दस रुपये

मुद्रक
अमलकुमार बोस,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस ब्रांच।

विषय-सूची

———

श्रीगुरवे नमः

सम्पादकीय वक्तव्य

भारतीय संस्कृतिका मूल आधार योग ही है। योग साधनके जिज्ञासुओं और साधकोंको इस पुस्तकके द्वारा दो महान सिद्ध योगियोंके स्वानुभूतिके आधार पर योग-क्रियाके सुगम-मार्गका आभास मिलेगा, जिससे साधनमें श्रद्धा और प्रेरणा प्राप्त होगी। इसी सदुदेश्यको लेकर हिन्दी-भाषा-भाषियोंके हितार्थ इस ग्रन्थके प्रकाशनमें प्रवृत्ति हुई। हिन्दीमें गीतापर अबतक कोई वृहत् योगभाष्य नहीं था। आशा है, यह भाष्य इस अभावकी पूर्ति करेगा।

योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशयकी आध्यात्मिक दीपिका प्रत्येक मूल श्लोककी अध्यात्मिक व्याख्याके आरम्भमें ही छोटे अक्षरोंमें सूत्रवत् दी गई है। तत्पश्चात् ग्रन्थकारने उन्हीं सूत्रोंकी विशद व्याख्या की है जो कुछ मोटे अक्षरोंमें छपी है।

पुस्तकके प्रकाशनमें श्रीमान् सेठ राधाकृष्णजी चमड़ियासे पर्याप्त आर्थिक सहायता मिली है जिसके लिये हम उनके आभारी हैं।

विशेष उद्योग करने पर भी अनुवाद तथा भाषा-सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिनके लिए सहृदय पाठक क्षमा करेंगे। आशा है, अगले संस्करणमें ये अशुद्धियाँ सुधार दी जायँगी।

अक्षय तृतीया
सम्वत् २०१० (वि०)

ज्वालाप्रसाद तिवारी
बाँकेबिहारी लाल



योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय

विलोक्य लोकान् कलिदुष्टचित्तान्
समादिशद् यः कृपयात्मनिष्ठः।
गीतैव पाठ्या खलु मुक्तिहेतु-
र्योगीश्वरं तं प्रणमामि नित्यम्॥

प्रथम संस्करणकी भूमिका

भारतीय धर्मसाहित्यके क्रमिक विकासकी आलोचना करनेवाले जानते हैं कि एकमात्र श्रीमद्भगवद्गीताका अवलम्बनकर विभिन्न भाषाओंमें सहस्रों ग्रन्थोंकी अवतारणा हुई है। अनुवाद, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, टीका, टिप्पणी, भाष्य, विवृति आदि असंख्य नामोंसे विभिन्न दृष्टिकोणसे विभिन्न प्रकारके ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। किसी ग्रन्थमें मूल श्लोकके क्रमकी रक्षा करते हुए संक्षिप्त या विस्तृत रूपसे भगवद्वाणीका तात्पर्य प्रकाशित करनेकी चेष्टा की गयी है, किसी ग्रन्थमें आलोचकके परम्पराप्राप्त या अनुभवसिद्ध ज्ञानके आलोकमें स्वतन्त्रभावसे समस्त ग्रन्थकी समालोचना की गयी है—जिसने जिस प्रकारसे गीतातत्त्वके प्रचारको आवश्यक समझा है, उसने उसी प्रकारसे अपनी भाषामें व्याख्या लिखी है। बङ्गाली, हिन्दी, गुजराती, महाराष्ट्री आदि भारतीय भाषाओंके अतिरिक्त अँग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटैलियन—यहाँ तक कि ग्रीक भाषामें भी गीता-विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। संस्कृत भाषामें लिखे गये प्राचीन और अर्वाचीन, साम्प्रदायिक अथवा असाम्प्रदायिक भाष्यग्रन्थ आदिकी रचना भी इसी प्रकार हुई है। ऐसे प्रतिष्ठित सम्प्रदाय भारतमें कम ही होंगे जिन्होंने अपने सिद्धान्तानुसार गीताकी व्याख्या न की हो।*

ऐसी अवस्थामें इतने ग्रन्थोंके होते हुए भी, फिर नये ढंगसे गीताकी व्याख्या करनेका प्रयोजन क्या है?—इसका प्रयोजन है। व्याख्याकर्त्ताने उस प्रयोजनका अनुभव करके ही उसके साधनकी चेष्टा की है। जो अध्यात्मराज्यके पथिक हैं, जो गुरुदत्त शक्तिके प्रभावसे तत्प्रदर्शित साधनमार्गमें अग्रसर हो रहे हैं, वे देखते हैं कि शास्त्रोंके सब उपदेशोंके मूलमें एक गम्भीर रहस्य वर्तमान है। जो लोग चित्तको स्थिर और अन्तर्मुख करके अन्तर्जगत्में प्रविष्ट नहीं हो सके हैं, जो लोग अभी स्थूलदृष्टि-सम्पन्न होनेके कारण साधनाके बहिरङ्गसे प्रत्यावृत्त होनेमें समर्थ नहीं हो, सके हैं उनके लिए इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्य जालका उच्छेद करना सुसाध्य नहीं है। परन्तु इसकी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं। गीताका उपदेश सार्वभौम होनेके कारण, इसके मूलमें भी इस प्रकारका रहस्य है, इसमें सन्देह नहीं। योगी लोग कहते हैं कि योगमार्गमें गुरूपदिष्ट प्रणालीसे शनैः शनैः अग्रसर होने पर ये सारे रहस्य क्रमशः प्रकाशित हो जाते हैं—तब गीताका यथार्थ तात्पर्य हृदयङ्गम किया जाता है। केवल शब्दार्थके आधारपर प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तोंके अवलम्बनसे अन्वयानुसार समझनेकी चेष्टा करने पर इस गुह्यार्थका सन्धान नहीं मिलता।

बहुत दिन हो चुके श्रीकाशीपुरीमें एक महापुरुष पूज्यपाद योगीश्वर श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशय थे—अपने अन्तरङ्ग शिष्योंके लिए उन्होंने गीता, षड्दर्शनके मूल सूत्र और

---

* गोरखपुरके गीताप्रेससे गीता-साहित्यकी एक विस्तृत सूची प्रकाशित हुई है। उसमें विभिन्न भाषाओंमें गीताके सम्बन्धमें प्रकाशित ग्रन्थोंकी एक तालिका दी गयी है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वह सूची विस्तृत होने पर भी पूर्ण नहीं है। उसमें भी सब ग्रन्थोंका नामोल्लेख नहीं हुआ है।

अन्यान्य आर्षग्रन्थोंकी इस प्रकारकी गुह्यार्थ व्याख्या की है। आजकल ऐसी व्याख्याको लोग योग-व्याख्या कहेंगे। सब शास्त्रोंका गुह्यतत्त्व एकमात्र योगियोंको ही अधिगम्य होता है। योगाभ्यासपूर्वक यथार्थ ज्ञानका अधिकारी हुए बिना जैसे जगत्तत्व समझमें नहीं आता, उसी प्रकार किसी शास्त्रका तत्त्व भी अनुभूत नहीं हो सकता है। इस व्याख्याके प्रकाशित होनेके पहले गीताकी ऐसी कोई दूसरी व्याख्या कहीं उपलब्ध न थी। इसके प्रकाशित हुए कई वर्ष बीत गये, और इसके आदर्शको लेकर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूपसे इसका ही अनुसरण करते हुए अनेक योग-व्याख्याएँ लिखी गयी हैं। तथापि योगराज्यकी जिस उन्नत भूमिमें आरोहण करके इस प्रकारकी आध्यात्मिक व्याख्या करनेका निःसंशय अधिकार उत्पन्न होता है वह सर्वत्र अत्यन्त सुलभ नहीं है। इसी कारण आज भी गीताकी बहुत सी विस्तृत योग-व्याख्या प्रचलित होने पर भी उक्त संक्षिप्त व्याख्याकी सार्थकता है। पूजनीय लाहिड़ी महाशयके अन्यान्य ग्रन्थोंके समान गीता-व्याख्या भी बहुत दिनोंसे दुष्प्राप्य थी। श्रद्धेय श्रीयुत् भूपेन्द्रनाथ सान्याल महाशयने इस ग्रन्थका पुनः संस्करणके द्वारा उद्धारकर केवल गीताके आध्यात्मिक तत्त्वके जिज्ञासु योगाभ्यासी पाठकोंका ही उपकार नहीं किया है, बल्कि साथ ही साथ भारतीय साहित्यका भी उपकार किया है। लाहिड़ी महाशयकी व्याख्या सूत्रवत् अतिसंक्षिप्त और सारगर्भित है— तत्त्वान्वेषी साधारण पाठक सहज ही उसके मर्मको समझ नहीं पाते। इसीलिए श्रद्धेय सान्याल महाशयने वर्तमान संस्करणमें उसके साथ स्वरचित एक विशद विवृति प्रदान की है। इसमें प्रयोजनके अनुसार लाहिड़ी महाशयके अन्यान्य ग्रन्थोंकी आलोचना करके स्वानुभूतिके आलोकमें आनुषङ्गिक विषयोंकी जटिलताको दूर करनेकी चेष्टा की गयी है। श्रीयुत सान्याल महाशय भारतीय साहित्यके सुपरिचित सुलेखक हैं—विशेषतः वह पूज्यपाद योगीवर्यके साक्षात् शिष्य हैं तथा स्वयं उनके बतलाये हुए योगमार्गमें प्रशंसनीय संयम, निष्ठा तथा अध्यवसायके साथ दीर्घकालसे अग्रसर हो रहे हैं, अतएव इस वर्तमान कठिन कार्यके सम्पादनमें वह यथार्थमें बहुत योग्य हैं, इसमें सन्देह ही क्या है?

आध्यात्मिक व्याख्याके औचित्यके सम्बन्धमें बहुतसे लोग विरुद्ध मत रखते हैं, इसे मैं जानता हूँ। लौकिक व्यवहार-क्षेत्रमें इस प्रकारकी व्याख्या बहुधा अप्रासङ्गिक हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि साधारण मनुष्य साधारण दृष्टिसे जो देख सकता है उसको समझनेके लिए उसे असाधारण उपायका अवलम्बन करना आवश्यक नहीं होता। परन्तु सत्यदर्शनकी एक असाधारण दिशा है। विशेषज्ञके बिना उस दिशाका पता किसीको नहीं लगता। असाधारण होनेके कारण ही उसे अग्राह्य या उपेक्षणीय नहीं कह सकते। अपने चिरपरिचित विश्वको हम जिस दृष्टिसे देखते हैं, एक उच्चकोटिका वैज्ञानिक उस दृष्टिसे नहीं देखता। उसकी सूक्ष्मदृष्टिमें जगत्का जो चित्र प्रतिभात होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध चित्रसे बिल्कुल भिन्न होने पर भी अधिकतर सत्य है।

यह जो हम पाँच प्रकारकी ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायतासे रूपरसगन्धादिके समष्टिभूत स्थूल भावापन्न जागत्को विचित्र भावमें निरन्तर अनुभव करते हैं, इसका स्वरूप क्या है? जिसकी इन्द्रियशक्ति जिस प्रकारसे विकसित तथा जिस परिमाणमें बलयुक्त होती है वह उसी रूपमें जगत्का अनुभव करता है। रूपग्राहक चक्षु न हो तो रूपकी सत्ता व्यक्त नहीं

होती। इन्द्रियोंकी बहिर्मुख वृत्तिके निरुद्ध होने पर तद्गोचर जगत् भी उसके साथ साथ विलीन हो जाता है। यह जगत् जिसे हम बहिर्जगत्के नामसे पुकारते हैं, वह समष्टि आत्माका कल्पनास्वरूप है। जिस विशुद्ध चिद्भूमिमें सङ्कल्पका स्फुरण नहीं होता उसे हम निर्विकल्प परमपद कहते हैं— वह मन-वाणीके परे तथा स्वप्रकाश अव्यक्त अवस्था है। उसमें निरन्तर और स्वभावतः सङ्कल्पका स्फुरण होता रहता है। यह स्वातन्त्र्यका या स्पन्दन-शक्तिका विलास है। इसका कोई हेतु नहीं है। चक्षुके निमेषोन्मेषके समान यह अपने आप होता है। अतएव चैतन्यके स्वरूप-गर्भमें एक ओर जैसे कूटस्थ शिवभाव विराजमान रहता है, दूसरी ओर उसी प्रकार स्पन्दन-स्वरूप शक्तिभाव है— शिवभावमें शक्ति भी शिवाकारमें विराजमान होती है, और शक्तिभावमें शिव भी शक्तिरूपमें प्रकाशित होते हैं, और दोनोंके साम्यभावमें, शिव-शक्तिका अद्वय स्वरूप तत्त्वातीतरूपमें शिव और शक्ति दोनोंका मूलस्तम्भ बनकर प्रतिष्ठित है। शक्तिकी यह नित्यस्फूर्ति ही अनादि सङ्कल्प है— वही पृथक् भावसे देखने पर प्रापञ्चिक दृष्टिमें जगत्के आदि सङ्कल्प या नियतिके रूपमें प्रकाशित होता है। शुद्ध चैतन्यमें इस चिन्मय अनादि सङ्कल्पस्वरूप विश्वकी स्थिति है, उसके ऊपर यह आदि सङ्कल्पका प्रकाश ही सङ्कल्पमय आतिवाहिक जगतका विकाश है। जिस व्यापक अभिमानमें यह विशाल आतिवाहिक जगत् विधृत हो रहा है वही समष्टि आत्मा है,—इस अवस्थामें अतीतअनागतरूप खण्ड काल नहीं होता—एक नित्य वर्तमान महाकाल रहता है। दूर-निकटरूप पृथक् देश नहीं—एक नित्य सन्निकृष्ट महादेश है, कार्य-कारणका व्यवधान नहीं होता—एक व्यापक कारणसत्ता रहती है। इस भूमिमें संशय नहीं, मिथ्या ज्ञान नहीं, विकल्प नहीं। इसके पश्चात् आदि सङ्कल्पके क्रमिक विवर्त्तनमें जब द्वितीय या मिथ्या सङ्कल्पका अर्थात् विकल्पका प्रादुर्भाव होता है तब व्यापक अभिमान परिच्छिन्न होकर नाना प्रकारके व्यष्टि अभिमानमें प्रकट होता है। दर्शक और भोक्तृरूपमें, इन सारे व्यष्टि आत्माके प्रपञ्चमें अवतीर्ण होनेके पूर्वसे ही समष्टि आत्माका कल्पनास्वरूप विशाल जगत् अपने दृश्य बाह्य जगत्के रूपमें वर्तमान रहता है। व्यष्टि अहं इन्द्रियोंकी सहायतासे इस बाह्य जगत्का परिचय तो पाता है—परन्तु व्यष्टिके कारण वह इस जगत्को कल्पना जालके रूपमें समझ नहीं पाता, यह उसे घीनभूत और सत्य ही जान पड़ता है। इस बोधके ऊपर ही प्रतिष्ठित होकर उसका व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन सहस्रों जन्मोंके बीच प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा है। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, लोक-लोकान्तर सभी इस बोधके साथ अनुस्यूत हैं। जब तक बाह्य जगत् सत्य जान पड़ता रहेगा, तब तक उसके मूलका सन्धान न मिलेगा, तब तक बाह्यकर्म करना ही पड़ेगा, और कर्तृत्वाभिमानके वैशिष्ट्यके अनुसार उस कर्मके अनुरूप फल भी भोगना पड़ेगा। यह कार्यकारणभावके अमोघ नियम हैं। जब तक स्थूल देहमें 'मैं-पन' का बोध होता है, तब तक यह नहीं हो सकता कि यह स्थूल बाह्य जगत् सत्यवत् प्रतीत न हो। शास्त्रोंका उपदेश श्रवण करनेसे ही अनधिकारी पुरुषके चित्तसे स्वप्रतीतिका कभी लोप नहीं होता। जीव इसी प्रकार स्थूल देह धारणकर स्थूल जगत्के संग इन्द्रियोंके द्वारा व्यवहार करता है। पश्चात् स्थूल देह त्याग करता है—फिर ग्रहण करता है और फिर त्याग करता है। स्थूलका वासनारूप बीज चित्तमें लगा रहता है अतएव स्थूलका आत्यन्तिक परिहार संभव नहीं होता। न जाने

कितने युग-युगान्तरोंसे उसका इस प्रकारका व्यवहार चलता आ रहा है, इसकी कोई इयत्ता नहीं है। यही संसार है। इसमें आपाततः ऊर्ध्वगति है, अधोगति है, तिर्यक् गति है—वस्तुतः यह चक्राकार गतिस्वरूप है। सांसारिक जीव वस्तुतः ऊर्ध्वगतिको नहीं प्राप्त कर सकता। इन्द्रियोंके द्वारा स्थूल जगत्को ग्रहण करते हैं, परन्तु इन्द्रियोंके स्थिर या अन्तर्मुख होनेसे जगत्का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि तब इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं और पाञ्चभौतिक जगत्का ग्रहण नहीं होता। इन्द्रियाँ और शरीर निरन्तर प्राणके सञ्चारसे सञ्चालित हो रहे हैं। यद्यपि आसनादिके द्वारा कुछ अंशमें देहको स्थिर करने पर प्राण अपने आप स्थिर हो जाता है, तथापि प्राणायामकी सहायतासे प्राणको स्थिर न करनेसे इन्द्रियोंकी तथा देहकी स्थिति सम्यक् रूपसे सम्पन्न नहीं होती। प्राणके स्थिर होने पर इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, और इन्द्रियोंकी क्रिया बन्द हो जाने पर बाह्य जगत् अनुभवमें नहीं आता। जब सारी इन्द्रियाँ सङ्कुचित होकर विन्दु स्थानमें आकर विलीन होती हैं तब रूपरसादिमय विचित्र जगत् शून्याकार धारण करता है, और अपने शरीरकी सत्ताका भी बोध नहीं रहता—'अहं'-बोध एक सूक्ष्म तेजोमय सत्ताको आश्रय करके प्रकाशित होता है। यह तेजोमय सत्ता ही सत्त्वगुण-प्रधान अन्तःकरण है। पहले इसमें भी चाञ्चल्यका आभास रहता है—पश्चात् ही दीर्घकाल-व्यापी अभ्यासके फलसे वह क्रमशः स्थिर ज्योतिमें परिणत होता है। और भी अभ्यास होने पर द्रष्टा और यह ज्योतिर्मय सत्ता क्रमशः निकट होते होते तादात्म्यको प्राप्त होती है। तब केवल स्पन्दन आत्मबोधके निदर्शन रूपमें वर्तमान रहता है। यही वह आदि सङ्कल्प है। अन्तमें यह भी नहीं रहता,—तब उन्मनी अवस्थाका विकाश होता है, महाविन्दुका आविर्भाव होता है, और उस महाविन्दुरूप योगासनपर संवर्त्त-अनलरूप परमात्मा और चित्कलारूप पराशक्ति अद्वय तथा परस्पर आबद्धरूपमें नित्यलीलाके बहाने प्रकट होती हैं।

जिस जगत्को जीव इन्द्रिय ग्राह्य और स्थूल रूपमें मानता है, इन्द्रियोंके प्रत्याहार और प्रज्ञाशक्तिके उन्मेषमें उसे पता चलता है कि वह स्थूल नहीं है, आतिवाहिक तथा कल्पना-सम्भूतमात्र है। अपना अभिमान स्थूल देहमें बँधा होनेके कारण जगत्का स्थूल रूप ही प्रतिभासित होता है। इन्द्रियोंको समेट लेने पर, प्राणकी गतिको सूक्ष्म करके सुषुम्नाके मार्गपर चलानेसे, एक ओर जहाँ अपना स्थूलाभिमान विगलित हो जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार जगत्की स्थूलता दृष्टिक्षेत्रसे अपगत हो जाती है। जिसे इस समय हम स्थूल देख रहे हैं उस समय वह शक्तिमय तथा तैजस रूपमें प्रकाशित होता है। यह तैजस रूप, आतिवाहिक रूप, सत्त्वमय या मनोमयरूप, कल्पना-विजृम्भण मात्र है। जिस प्रकार दीपकी तेजोमय कलिकासे तेजोमय प्रभा चारों ओर विकीर्ण होती है, उसी प्रकार केन्द्रगत विशुद्ध सत्त्वरूप ज्योति-कलिकासे ज्योतिर्मय प्रभामण्डलरूपमें समस्त जगन्मण्डलका आविर्भाव होता है। केन्द्र विन्दुसे चक्रकी उत्पत्ति इसी प्रकार होती है।

तब समझमें आता है कि सारा जगत् मनोमय है, मनकी क्रिया जबतक है तबतक मनोमय या कल्पनामय जगत् भी है। मनके निष्क्रिय होनेपर जगत् अव्यक्त हो जाता है। मनः स्थिर हो जानेपर चैतन्यमें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है—तब फिर मनोमय जगत् नहीं रहता—जो रहता है वह केवल चैतन्य-शक्तिका विलासमात्र है। जिस प्रकार दर्पणमें समस्त नगर प्रतिभासित होता है उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मामें प्रतिबिम्ब-स्वरूप समस्त

विश्व आविर्भूत होता है। अर्थात् समस्त विश्व तब चित्‌शक्तिके स्फुरणरूपमें उपलब्ध होता है। शक्तिके कूटस्थमें अन्तर्लीन होने पर क्रियाकी परावस्थामें विश्वातीत अतितुर्य अवस्थाका उदय होता है—यही ब्रह्मसंस्था और अमृतत्व है।

चाहे किसी भी मार्गसे साधना करो, आत्मदर्शनपूर्वक आत्माके परमस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेके लिए देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिका आश्रय लेकर यथाविधि क्रिया-योगमें क्रियाकी परावस्थामें उठना पड़ेगा—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। शास्त्रोंके समस्त उपदेश इसी एक मार्गके विभिन्न स्तरोंके साधकोंके लिए दिये गये हैं। जो साधक नहीं है, जो सद्‌गुरुके आदेशानुसार यथार्थ योग-मार्गमें प्रविष्ट नहीं होता, उसके लिए शास्त्रोपदेशका गूढ़ तात्पर्य समझना अत्यन्त ही दुरूह है।

परन्तु दुरूह होने पर भी यही शास्त्रका यथार्थ रहस्य है। सारे शास्त्रोंके बहिरङ्ग उपदेश देश-काल आदिकी विचित्रताके कारण विचित्र प्रकारके होते हैं, परन्तु अन्तरङ्ग उपदेश एक और अभिन्न है। श्रीश्रीगीताकी व्याख्याके बहाने पूजनीय व्याख्याकार तथा भक्तिभाजन विवृतिकारने जो इस अन्तरङ्ग साधन-तत्त्वकी ओर पाठकोंकी दृष्टि आकर्षित की है इसके लिए वे जिज्ञासुवर्गके धन्यवाद-भाजन हैं। स्थलविशेषमें व्याख्याकर्त्ताकी व्याख्या-प्रणालीके साथ साधक-विशेषका किसी अंशमें मतभेद हो सकता है, परन्तु किसी भी शास्त्रका यथार्थ मर्म समझनेके लिए आध्यात्मिक दृष्टि आवश्यक है, और योगीके सिवा अन्यत्र वह दृष्टि सुलभ नहीं है।

आशा करता हूँ धार्मिक साहित्यके अनुरागी महोदय इस ग्रन्थके पाठसे उपकृत होंगे।

गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज,
काशी। } **श्रीगोपीनाथ देवशर्मा कविराज।**

——

ॐ नमो ब्रह्मणे

विज्ञप्ति

बहुत दिनोंसे मेरे कुछ अन्तरङ्ग बन्धुओंने, विशेषतः स्वर्गीय डा० कन्हाईलाल गुप्तने गीताकी एक व्याख्या लिखनेके लिए मुझसे अनुरोध किया था। उस समय मैं कोई उत्साह प्रकट नहीं कर सका। गीताके सम्बन्धमें कुछ लिखनेकी मेरी इच्छा न थी ऐसी बात नहीं, परन्तु जब सोचता था कि क्या लिखूँ, मेरे पास गीताके पाठकोंको देनेके लिए क्या नया है—तभी मनमें निराशा आ जाती थी। वस्तुतः मेरे जैसे व्यक्तिके लिए गीताको समझानेका प्रयास करना एक प्रकारसे हास्यजनक व्यापार ही कहना पड़ेगा। पूर्वकालमें गीताकी व्याख्या महर्षिप्रतिम आचार्य शङ्कर, रामानुज प्रभृतिके समान असाधारण प्रतिभासम्पन्न, महानुभव और अलौकिक साधनसिद्धिसम्पन्न सिद्ध पुरुषोंने की थी। पश्चात्कालीन व्याख्याताओंमें श्रीमद् आनन्दगिरि, श्रीधर स्वामी, श्रीमधुसूदन सरस्वती, श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभृति लोग भी तपस्वी और त्यागी पुरुष थे। वैराग्य-साधना तथा पाण्डित्यमें इनमेंसे प्रत्येक दिग्गज थे, यह कहना ही पड़ेगा। उनके लिए इस प्रकारका कार्यभार ग्रहण करना वस्तुतः शोभनीय हुआ। वर्तमान युगमें भी अनेक कृतविद्य प्रतिभासम्पन्न पुरुषोंने गीताकी आलोचना और व्याख्या की है। इन लोगों जैसे मनस्वी पुरुषोंके गीताके सम्बन्धमें इतनी सुन्दर आलोचना करनेके बाद भी मेरे जैसे भक्तिहीन, विवेकहीन, मूर्ख व्यक्तिका गीताके सम्बन्धमें कुछ लिखना एक प्रकारकी धृष्टता नहीं तो और क्या है? यह समझता हूँ, तो भी गीताके सम्बन्धमें कुछ लिखने और बोलनेकी इच्छा हो रही है। जान बूझकर इस प्रकारके उद्यमकी इच्छा क्यों हुई, इसे अन्तर्यामीके सिवा और कोई नहीं समझ सकता। मैं पूर्ववर्ती व्याख्याताओंकी अपेक्षा कुछ नये ढंगसे गीता को समझा सकूँगा, इसकी आशा मुझे बिल्कुल ही नहीं है। क्योंकि मुझमें वह सामर्थ्य कहाँ है? तथापि जो लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ वह इसी भावना से कि,

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

यदि श्रीमाधव कृपा करें तो मेरे जैसा विद्याबुद्धिहीन, साधन-सामर्थ्यहीन पङ्गु भी गिरि-लङ्घन कर सकता है। नहीं जानता, मेरी यह साध पूरी होगी या नहीं? गीता दुरवगाह अध्यात्मशास्त्र है, मेरे जैसा मन्दबुद्धि क्या उसमें प्रवेश प्राप्त कर सकेगा? मन्दधी होने से क्या हुआ, मनुष्यकी वासना तो कम नहीं होती। मैं उसी वासनाके वेगसे इस विशाल कार्यमें हाथ डाल रहा हूँ। भरोसा है एकमात्र श्रीगुरुदेवके युगल चरण-कमलका। इन चरण कमलोंका स्मरण कर कार्य तो प्रारम्भ कर दिया, इसका पार लगेगा या नहीं, इसे दयालु श्रीगुरु ही बतला सकते हैं। इतने बड़े विशाल कार्यमें मेरे जैसा दीन और असमर्थ

क्यों प्रयास कर रहा है, इसका उत्तर यही है कि अब तक अनेक विद्वानोंने गीताके अनेक संस्करण प्रकाशित तो किये हैं, परन्तु परमाराध्य श्रीगुरुदेव दिवङ्गत श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशयने भी गीताकी एक अपूर्व व्याख्या की है, जो साधारणतः गीताकी आध्यात्मिक व्याख्याके नामसे परिचित है,* कालक्रमसे इस व्याख्याके विलुप्त हो जानेकी आशङ्का देखकर, जिससे यह व्याख्या लुप्त न हो और जन साधारण इसके मर्मका आस्वादन कर सकें—इस आशासे इस आध्यात्मिक व्याख्या और इसके सम्बन्धमें एक विशद आलोचना करना ही इस प्रयत्नका मुख्य उद्देश्य है। मेरी यह आशा कहाँ तक सफल होगी, इसे श्रीगुरुदेवही बतला सकते हैं।

श्रीमदाचार्य लाहिड़ी महाशय ही सर्वप्रथम भारतमें, विशेषतः बंगालमें गीताकी आलोचनाके प्रथम और प्रधान प्रवर्त्तक थे। उन्होंने गीताके सम्बन्धमें जो अभिनव व्याख्या जनसमाजमें प्रचलित की थी, वह कदापि उपेक्षणीय नहीं है। क्योंकि इस प्रकारकी योग सम्बन्धी व्याख्या योगाभ्यासियोंके लिए अत्यन्त ही आवश्यक और समादरकी वस्तु है। सर्वसाधारणको इसकी उतनी आवश्यकता न होनेपर भी यदि कोई श्रद्धाके साथ इसका मर्म समझनेकी चेष्टा करेगा तो आध्यात्मिक जगत्‌के अनेक रहस्य उसकी धारणाके विषय बनेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

गीताके व्याख्याताओंमें किसीने द्वैतवादको लेकर, किसीने अद्वैतवादको लक्ष्य करके, और किसीने द्वैताद्वैत भावके आधारपर गीताकी व्याख्या की है। कोई इसमें ज्ञानकी प्रधानता, कोई भक्तिकी प्रधानता तथा कोई कर्मकी प्रधनताको लक्ष्य मानता है। भगवान्‌की एक उक्तिमें इतने प्रकारके पृथक् भावोंका सन्धान पाया जाता है, अतः कोई यदि इसके भीतर 'योग' का ही सन्धान पाता है, तो इससे उसको दोष नहीं दे सकते। क्योंकि भगवत्प्राप्तिके लिए जिस प्रकार ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार योगमार्ग भी एक सुप्रसिद्ध पथ है। योगमार्गका अपूर्व सुन्दर परिणाम देखकर सभी मतावलम्बियोंने योगमार्गकी न्यूनाधिक सहायता ग्रहण की है। प्राचीन कालमें भी ऋषियोंने योगमार्गका अत्यधिक समादर किया था। क्योंकि इस मार्गमें विज्ञान-सम्मत विधिसे तत्त्वालोचना की गयी है। यह केवल आलोचनात्मक शास्त्र ही नहीं है, बल्कि इसमें आध्यात्मिक मार्गके साधनके लिए उपयोगी कर्म तथा उसके पथका निर्देश किया गया है। आत्मानुसन्धान करते समय चार वस्तुएँ हमारी दृष्टिमें पड़ती हैं—मन, बुद्धि, प्राण और यह शरीर। तत्त्वके सम्बन्धमें धारणा करते समय मन और बुद्धिकी प्रयोजनशीलता अत्यन्त अधिक है। बहुतोंने मन-बुद्धिका अवलम्बन करके ही परमतत्त्वका सन्धान पाया है, और उसमें कृतार्थ भी हुए हैं। कुछ लोग आत्मतत्त्वके सन्धानके लिए मुख्यरूपसे प्राणका अवलम्बन करते हैं, उनका प्रयत्न भी सफल हुआ है, इसका प्रमाण अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। उन ग्रन्थोंमें योगकी विशेष आलोचना और भूरि भूरि प्रशंसा देखनेमें आती है।

---

* योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी महाशयकी आध्यात्मिक दीपिका प्रत्येक श्लोककी आध्यात्मिक व्याख्याके आरम्भमें छोटे अक्षरोंमें दी गई है।

योगमार्ग उपेक्षाकी वस्तु नहीं है। ज्ञान-भक्तिके समान योगमार्गके भी बहुतसे सम्प्रदाय हैं, और इस मार्गका विशेष समादर हमारे देशमें आज भी पाया जाता है। ऐसा कोई शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं, जिसमें योगका प्रशंसात्मक उल्लेख न हो। षड्दर्शनोंमें योगसम्बन्धी दर्शन कुछ अधिक प्राचीन जान पड़ते हैं। पातञ्जल सूत्रके भाष्यकार स्वयं व्यासदेव हैं। तन्त्रशास्त्रोंमें योगके विविध अनुष्ठान और अभ्यासके विषयमें भी आलोचना की गई है। हम लोगोंकी कोई भी दैनिक साधन-प्रणाली योगसाधनविहीन होकर नहीं की जा सकती है।

बुद्धि, मन और प्राणके अवलम्बनसे ही प्रकृत साधना होती है। बुद्धि, मन और प्राण क्या हैं तथा इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है तथा इनका पारस्परिक मिलन या ऐक्य-साधन कैसे किया जाता है, इसको जानकर तदनुरूप कार्य करना ही साधना कहलाती है। हमारे शास्त्रोंमें इसी कारण इन समस्त साधन-प्रणालियोंके नाना प्रकारके उपाय देखे जाते हैं। आजकल हम लोग किसी शास्त्रादिमें विश्वास नहीं करते, तथा साधन करनेमें जिस विपुल आयासकी जरूरत होती है, आरामतलब कलियुगी दूषितचित्त जीवमें उस परिश्रमके लिए उतना उत्साह नहीं दीख पड़ता। इससे शास्त्रके लेख शास्त्रोंमें ही पड़े रह जाते हैं, और हमको इतनी भी सूचना नहीं रहती कि शास्त्रोंमें क्या लिखा है और क्या नहीं। इस योगाभ्यासके बलसे ही एक दिन हमारे देशने असाध्यको सिद्ध कर दिया था।

हमारे सारे शास्त्रोंमें दो प्रकारके भाव देखनेमें आते हैं। एक बहिर्लक्ष्यकी बात जो सहज ही बोधगम्य हो जाती है। और एक अन्तर्लक्ष्य की बात—साधनाके निगूढ़ रहस्यकी बात—इसमें साधनाका जो सङ्केत है, अभिज्ञ पुरुष उस सङ्केतके अनुसार उस अन्तर्लक्ष्यके अभिप्रायसे अवगत होते हैं, इस सङ्केतको समझे बिना शास्त्रके गम्भीर रहस्यको खोलकर उसके यथार्थ मर्मको समझना संभव नहीं होता। शास्त्रोंने इतना हेर फेर करके इस रहस्य-साधनको गुप्त क्यों रक्खा, यह समझना कठिन नहीं है, क्योंकि यदि अनधिकारी इस रहस्य-साधनको जान लें तो अपना और दूसरोंका बहुत अकल्याण कर सकते हैं। अतएव उनसे इन रहस्यकी बातोंको गुप्त रखना ही समुचित है, यह उन्होंने ध्यानमें रक्खा था।

हमारी गीताकी यह रहस्यात्मक व्याख्या जनसाधारणका क्या उपकार करेगी, इसकी आलोचना मैंने नहीं की है। गीताकी अनेक व्याख्याएँ इस युगमें हुई हैं और हो रही हैं। बहुतोंने गीताके अनेक संस्करण प्रकाशित किए हैं, इस संस्करणसे सम्भव है कि संख्या एक और बढ़ जाय, पर इससे कोई विशेष हानि भी नहीं होगी।

आजकल गीताके पाठकोंकी कमी नहीं है। जो गीताके आध्यात्मिक रसके रसज्ञ हैं वे इसकी उपेक्षा नहीं करेंगे, यही मेरे लिए एकमात्र सान्त्वना है। यदि साधकवर्गने इसका कुछ भी समादर किया तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

गीताका अनुवाद और व्याख्या करके मैं किसका कितना उपकार कर सकूँगा, यह नहीं कह सकता। परन्तु इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है कि इससे मेरा निजी उपकार बहुत होगा। सबसे अधिक उपकार तो यह होगा कि मुझे गीताकी और भी भलीभाँति आलोचना करनेका सुयोग मिलेगा। यह भी कम लाभ नहीं है। ४० वर्षोंसे कुछ अधिक कालसे मैं गीताकी आलोचना करता आ रहा हूँ। इस बीचमें गीताके समझनेकी मैंने स्वयं चेष्टा की

है। और जिनके विषयमें मेरा विश्वास है कि वह गीता समझते हैं उनके मुखसे मुझे गीता सुननेका भी सुयोग मिला है, तथा बहुत दिनों तक अनेक बार बहुतसे लोगोंके साथ एकसङ्ग बैठकर गीताकी चर्चा की है। इसीके परिणाम स्वरूप आज गीताकी आलोचनामें हाथ डालनेका साहस कर रहा हूँ। तथापि यह मानता हूँ कि गीताके कितने ही स्थल आज भी ठीक तौर पर समझमें नहीं आये। अतएव मेरी व्याख्यामें यथेष्ट दोष रह जायँगे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है, तथापि यह आशा है कि बारम्बार आलोचना करने पर यदि गीतामें प्रवेश करनेका कुछ सुयोग पा सका तो मेरा यह उद्यम एकबारगी असफल नहीं होगा। गीताध्ययनके अनेक फल गीता माहात्म्यमें वर्णित हैं, इस लोभसे आकृष्ट होकर यदि अन्याय करता हूँ तो सहृदय सज्जन वृन्द मुझे क्षमा करेंगे। दुर्लभ होनेपर भी आज भी इस ऋषि-सेवित भारतवर्षमें भक्त, ज्ञानी और कर्मयोगी पुरुषोंका अभाव नहीं है। वे दया करके मेरी त्रुटि दिखला देंगे तो मेरा और बहुतोंका उपकार होगा, यह आशा मेरे अन्तः-करणके एक निभृत कोनेमें विद्यमान है। मैं भक्त-ज्ञानी-साधु-महात्माओंके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर निवेदन करता हूँ कि वे मेरे ऊपर कृपादृष्टि करें जिससे मेरे मनकी आशा पूर्ण हो।

गीताकी आलोचना करते हुए मैंने जिन श्रद्धास्पद ग्रन्थकारों तथा गीताके व्याख्याताओंकी लिखी गीताकी व्याख्यासे सहायता ली है, कृतज्ञता पूर्वक उन सब पुस्तकोंका नामोल्लेख यहाँ करता हूँ। (१) श्रीकृष्णानन्दस्वामिकृत गीतार्थसन्दीपनी (२) श्रद्धास्पद पण्डित श्रीरामदयालमजुमदारकृत श्रीमद्भगवद्गीता (३) श्रीअविनाशचन्द्र मुखोपाध्याय द्वारा सङ्कलित श्रीमद्भगवद्गीता (४) आर्यमिशन इन्स्टिट्यूशनकी गीता (५) काशीके प्रणवाश्रमसे प्रकाशित श्रीमद्भगवद्गीता (६) श्रीयुत प्रसाददास गोस्वामीके द्वारा प्रकाशित गीताकी आध्यात्मिक व्याख्या (७) श्रीयुत राजेन्द्रनाथ घोषकृत श्रीमद्भगवद्गीता (८) श्रीयुत युक्तेश्वर गिरिकी श्रीमद्भगवद्गीता व्याख्या (९) श्रीयुत बिहारी लाल सरकार द्वारा अनुवादित कृष्णार्जुन-संवाद, कपिलाश्रमीय योगदर्शन, पण्डित श्रीकुमारनाथ मुखोपाध्याय प्रणीत पद्यानुवाद गीता आदि ग्रन्थोंके नाम समधिक उल्लेखयोग्य हैं।

जो लोग मुझे श्रद्धा-दृष्टिसे तथा स्नेहकी दृष्टिसे देखते हैं उनकी भी बहुत दिनोंकी साध पूर्ण होगी, यह भी मेरे लिए कम आनन्दकी बात नहीं है। आज यह गीता प्रकाशित तो हुई, परन्तु जो मेरे इस ग्रन्थका बड़ा ही समादर करते, इस गीताको प्रकाशित देखकर जिनको न जाने कितना आनन्द होता, मेरे वे दो सुहृद अब इहलोकमें नहीं हैं, इसीसे उनके नाम इस ग्रन्थके साथ जोड़नेकी इच्छा हो रही है। उनमें एक तो मुङ्गेरके सुप्रसिद्ध जनप्रिय डाक्टर शौरीन्द्रमोहन गुप्त और दूसरे कलकत्ताके प्रसिद्ध होमियोपैथिक चिकित्सक डाक्टर कन्हाईलाल गुप्त हैं।

भाई, आज तुम लोग इहलोकमें नहीं हो, यह ठीक है। परन्तु तुम लोग निश्चय ही उच्चतर लोकोंमें वर्तमान हो, चाहे तुम जिस लोकमें रहो श्रीकृष्णके हृदयस्वरूप यह गीता तुम्हारे आत्माके आनन्दको बढ़ाये, यही श्रीभगवानसे मेरी प्रार्थना है।

जो लोग बहुत परिश्रम करके गीताके इस संस्करणको प्रकाशित कर रहे हैं, उनको मैं अपना आन्तरिक आशीर्वाद प्रकट कर रहा हूँ, जिससे वे उत्तरोत्तर श्रद्धा-भक्ति प्राप्तकर जीवनको धन्य और कृतार्थकर सकें। किमधिकम्।

पुरी गुरुधाम, चटक पहाड़
दोल पूर्णिमा सन् १३४० (बं०) } श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल

उपक्रमणिका

श्रद्धा-युक्त होकर शास्त्रोंका अध्ययन करनेसे ही शास्त्रीय विषय समझमें आते हैं; श्रद्धाके बिना शास्त्रके अभिप्रायको समझनेपर भी पाठकका कुछ विशेष उपकार नहीं होता। ऋषियोंका भी उपदेश है कि, "तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्"—वास्तवमें सदाचारके अनुष्ठानसे ही जीवको चरित्र-बलकी प्राप्ति होती है। चरित्रको सुन्दर बनाए बिना कोई अनन्त ज्ञान-सिन्धुके एक बिन्दुसे भी अवगत नहीं हो सकता। जो चरित्रवान् और श्रद्धालु हैं वे ही भगवद्भक्ति प्राप्त कर ज्ञानकी प्राप्ति कर सकते हैं—जिससे जीवन कृतार्थ हो जाता है। जीवनकी कृतार्थताके लिए—पूर्ण आचार-निष्ठ, संयत और साधुजीवन-प्राप्तिमें यत्नशील होना पड़ता है। जो चरित्रहीन और व्यग्र-चित्त हैं तथा नाना प्रकारकी वासनाओंमें फँसे रहते हैं, उनको कभी उस अनिर्वचनीय, इन्द्रिय-अगोचर तथा परम ध्रुव सत्यस्वरूपका सन्धान नहीं मिल सकता। इसके लिए शास्त्रीय दृष्टि और शास्त्रोंमें श्रद्धा होना आवश्यक है।

शास्त्र पढ़कर भी लोग मूर्ख रह जाते हैं, कारण यह है कि केवल ग्रन्थाभ्याससे शास्त्रोंका पढ़ना पूर्णतः सार्थक नहीं होता; शास्त्रोंको पढ़कर यदि हृदयमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए उत्साह पैदा न हो, ज्ञान और भक्तिकी प्राप्तिके लिए मनमें चेष्टा न हो तो वह शास्त्रका अध्ययन केवल श्रम मात्र है। यह ठीक है कि शास्त्रोंके अभ्याससे हमको भगवान् या आत्माके विषयमें कुछ न कुछ परोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु जब तक साधनके द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार नहीं होता, अथवा शास्त्र-प्रतिपादित ज्ञानका यथार्थ अनुभव नहीं होता, या शास्त्रोंको पढ़कर आध्यात्मिक ज्ञानकी प्राप्तिके लिए मन पूर्णतः सचेष्ट नहीं होता, तब तक समझना चाहिये कि हमारा परिश्रम व्यर्थ ही है। यदि प्रकृत सत्य-ज्ञानका उदय नहीं होता तो शास्त्रीय ज्ञानसे केवल अभिमान ही बढ़ता है, और यथार्थ शान्ति नहीं मिलती। साधुजन कहते हैं कि जो पुरुष गुरु और वेदान्त-वाक्यमें श्रद्धालु होकर साधनमें सचेष्ट होगा उसका जीवन निश्चय ही कृतकृत्य हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं।

हमारे देशमें इतने अधिक शास्त्रीय ग्रन्थ हैं कि उनको जीवनमें पढ़कर समाप्त करना सम्भव नहीं है। अतएव 'यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्' यानी समस्त शास्त्रोंका जो सार है उसको ही ग्रहण करना बुद्धिमानी है। गीता सर्व शास्त्रोंका सारभूत है, अतएव एकमात्र गीताको पढ़नेसे ही सब शास्त्रोंके पाठका फल मिल जाता है। जीवन क्या है? जीवनका लक्ष्य क्या है? जन्म क्या है? मृत्यु क्या है? आत्मा

क्या है ? प्रकृति क्या है ? किस मार्गका अवलम्बन करनेसे जीवन यथार्थ लक्ष्यकी ओर अग्रसर हो सकता है, साधनके मार्गमें नाना प्रकारके विघ्न और उनको दूर करनेके उपाय तथा भगवत्प्राप्ति या ज्ञानप्राप्तिकी साधना आदि अनेक विषयोंके उपदेश श्रीभगवान्ने वीराग्रगण्य श्रीअर्जुनको लक्ष्यकर जगत् और मानव-कल्याणके लिए गीतामें प्रदान किये हैं।

कुरुक्षेत्रके युद्धक्षेत्रमें शोक और मोहसे अभिभूत अर्जुनके अज्ञान-जनित संशयको नष्ट करनेके लिए श्रीभगवान्ने उनको जो अपूर्व शिक्षा प्रदान की थी, वह चिरकालसे मुमुक्षु साधकोंके लिए कण्ठ-हारके रूपमें सुशोभित होती आ रही है। इस शिक्षाकी कथा ही श्रीकृष्णार्जुन-संवाद है। यही श्रीमद्भगवद्गीताके नामसे सुपरिचित है। यह महाभारतके भीष्म-पर्वमें सन्निविष्ट है। भीष्म-पर्वके तेरहवें अध्यायसे गीता-पर्वाध्याय प्रारम्भ होता है। गीता-पर्वाध्यायसे पचीसवें अध्यायमें गीता-उपनिषद् प्रारम्भ होती है।

आजकल बहुतसे लोग धर्म-साधनमें सचेष्ट तो दीख पड़ते हैं पर उनका मत वर्णाश्रम-धर्मके विरुद्ध है, अतएव वह अपने हृदयमें वेद-विरुद्ध मतका पोषण करते हैं। गीताके उपदेशसे उनको ज्ञात हो सकता है कि स्वाधिकारसे बहिर्भूत होकर धर्मसाधना करनेसे वह साधना निष्फल चेष्टा मात्र हो जाती है।

शास्त्रोंमें अधिकारीके सामर्थ्यके अनुसार साधनकी व्यवस्था की गयी है, कोई मनमाना मार्ग नहीं ग्रहण कर सकता। इससे श्रीभगवान्ने उच्च स्वरसे अर्जुनसे कहा है कि, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'।—हे अर्जुन! तुम्हारा अधिकार कर्ममें है, कर्म त्याग करके संन्यास ग्रहण करनेसे तुम्हारा काम नहीं चलेगा। जो जिस प्रकारका अधिकारी है वह गीतामें उसी प्रकारके अधिकारकी साधना प्राप्त कर सकता है। अतएव गीता सर्वश्रेणीके साधकके लिए पठनीय है। गीता एक सम्पूर्ण उपनिषद् है, सम्भवतः यह कहा जाय कि यह सर्वश्रेष्ठ उपनिषद है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि इसमें ब्रह्म-विद्या—योगतत्त्वकी सम्यक् आलोचना की गयी है।

गीताकी भाषा सरल और प्राञ्जल संस्कृत होने पर भी वह सहज-बोधगम्य ग्रन्थ नहीं है। हमारे देशके अनेक महानुभव मनस्वी पुरुषोंने गीताशास्त्रको समझानेका प्रयास किया है। अवश्य ही सबने अपने अपने भावोंके अनुसार व्याख्या की है। पूज्यपाद आचार्य शङ्करने अद्वैत मतानुसार भाष्य किया है, तथा महानुभव आनन्दगिरि, भक्तचूड़ामणि श्रीबलदेव विद्याभूषण, रामानुज, श्रीधर स्वामी और परम भक्त पण्डित श्रीमधुसूदन सरस्वती आदि अनेक विद्वानोंने गीताका भाष्य और टीका प्रणयन किया है। रामानुज और बलदेवको छोड़कर इनमें प्रायः सबकी व्याख्या अद्वैतमतानुसार है। द्वैत और द्वैताद्वैतके भी अनेक प्राचीन भाष्य और टीकाएँ हैं। इन समस्त व्याख्याताओंने अपने अपने मतके अनुसार गीताका मर्म समझानेकी चेष्टा की है। उन सभीका प्रयत्न सफल हुआ है। क्योंकि देखनेमें आता है कि उन मतोंके अनुसार साधन कर अनेक लोग अपना जीवन धन्य बना गये हैं।

गीतामें सर्ववादसमन्वय—ऐसा क्यों न हो ? श्रीभगवान् जितने विराट् तथा जितने विशाल हैं, उनकी उपदेशराशि भी वैसी ही विराट् और विशाल है। उनकी कथा सुननेवाले लोग भी जिस प्रकार अनेक और विचित्र प्रकारके हैं, श्रीमद्भगवद्गीताकी कथन-प्रणाली भी उसी प्रकार विचित्र है। भक्त श्रोताकी भावराशिकी सीमा जिस प्रकार अनन्त है, उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेश भी अनन्त और अगाध हैं। चाहे कोई किसी प्रकारका रसाभिलाषी क्यों न हो, तदनुरूप रसास्वादनसे उसे गीता वञ्चित नहीं करती। जैसे लोग पवित्र मन्दाकिनीमें अवगाहन कर, सुस्नात होकर अपने अपने पात्रमें उसका सुनिर्मल जल भर लेते हैं उसी प्रकार यदि इस पुण्यपूता श्रीमद्भगवद्गीतारूप प्रवाहिणीमें जो प्रवेश करते हैं, प्राणपनसे डुबकी लगाते हैं वह अपने मतके अनुसार अपना कार्य सिद्ध करने मात्रके लिए जल संग्रह कर लेते हैं, तो इसमें आश्चर्यकी बात क्या है ? यही कारण है कि अद्वैतवादी परम ज्ञानी गीतामें अद्वैतवादका विजय-डंका बजते हुए सुनते हैं और मुग्ध हो जाते हैं; तथा भक्त अद्वैतवादी भी गीतामें भक्ति-प्रेमकी पराकाष्ठाका अनुसन्धान पाकर आनन्दसे उत्फुल्ल हो उठते हैं। जो द्वैतवादके अनुयायी हैं वे भी इसमें नवजलधर श्यामसुन्दरकी अपूर्व मोहनी बाँसुरीकी मधुर ध्वनि सुन भावाविष्ट होकर नाचने लगते हैं। कर्मवादी भी इसमें कर्मकी अपूर्व व्याख्या देख, 'गीता हमारी ही बात कहती है'—यह घोषित कर दिगन्तको मुखरित करते हैं।

अब भलीभाँति विचार करके देखिये कि गीतामें वस्तुतः क्या व्याख्या की गयी है तथा यह ग्रन्थ किनके लिए रचा गया है ? वास्तवमें गीता ज्ञानी, भक्त, कर्मी, संसारी, संन्यासी सब सम्प्रदायके लोगोंके लिए लिखी गयी है। सभी इसमें अपने अपने मतके अनुसार भाव पाकर कृतार्थ होते हैं। क्योंकि जो जगत्के एकमात्र सुहृद् और गुरु हैं वह सबकी उपेक्षा करके क्या केवल एक सम्प्रदाय विशेषकी सुविधाके लिए उपदेश दे सकते हैं ? यह कभी सम्भव नहीं है। गीता सार्वभौम ग्रन्थ है, इसी कारण सब सम्प्रदाय अपने अपने मतकी पुष्टि करनेवाले भाव इसमें प्राप्त करके स्तम्भित हो जाते हैं। स्तम्भित होनेकी बात भी है, इतनी बड़ी विराट् शक्ति प्रदान करके श्रीभगवान्ने इस उपदेश-मालिकाको ग्रथित किया है कि उस अतीत युगसे आजतक जगत्के विभिन्न मतोंके अनुयायी इसमें अपने अपने मतोंकी परिपुष्टि देखकर विस्मित हो गये हैं। गीताकी यही विशेषता है। यदि प्रश्न करो कि यह कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि यदि द्वैतवाद सत्य है तो अद्वैतवाद सत्य नहीं हो सकता, और यदि अद्वैतवाद सत्य है तो द्वैतवादको असत्य मानना ही होगा। भगवान् यदि निराकार हैं तो साकारवादका समर्थन करते नहीं बनता और यदि वह साकार हैं तो निराकारवाद मनकी कल्पना मात्र है। यदि एकमात्र कर्म ही अनुष्ठेय है तो भक्ति और ज्ञानकी बातें बनावटी हैं, और यदि ज्ञान और भक्तिके द्वारा भगवान् प्राप्त होते हैं तो आध्यात्मिक राज्यमें कर्मके लिए स्थान नहीं है, और वस्तुतः कर्म उनका विरोधी हुए बिना नहीं रह सकता। तथापि

कर्मके बिना संसार नहीं चलता। इन सारे तर्कोंकी मीमांसा गीतामें हुई है। साधन न करके केवल तर्क करना वितण्डा है अथवा केवल कलह मात्र है। इसके द्वारा कभी सत्यका निर्णय नहीं हो सकता। अवश्य ही यह कहना भी ठीक नहीं है कि युक्ति या तर्कका कोई प्रयोजन नहीं। तथापि शास्त्रानुकूल युक्ति ही ग्रहणीय होती है। आचार्य शङ्करने कहा है—"श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याप्यभ्युपेतत्वात्" अर्थात् तर्ककी प्रयोजनशीलता ही यही है कि यह श्रुतिके समझनेमें सहायता करता है। वस्तुतः एक भगवान् या आत्माको जाननेके लिए साधन-जीवनमें जिस प्रकार ज्ञान, योग, भक्ति, कर्म सबका प्रयोजन होता है, उसी प्रकार साधनकी विशेष विशेष अवस्थाओंमें भगवान् अद्वैत भावमें, द्वैताद्वैत भावमें अथवा द्वैतभावमें ग्रहणीय होते हैं, इसी कारण उनको साकार कहना भी ठीक है और निराकार कहना भी ठीक है। जिस प्रकार नदीसे जल लेनेमें जिसका जैसा पात्र होता है वह उतना ही जल ग्रहण कर सकता है, उसी प्रकार हमारे मन-बुद्धिके आधार और गठनके भेदसे हम भगवान्‌को अपने मनोनुकूल भावोंके अनुसार ग्रहण कर सकते हैं। इसमें कोई दोष नहीं होता। परन्तु जो भाव हमारे मनोनुकूल है वही ठीक है, तथा जो हमारे चिन्तनके विरुद्ध है वह ठीक नहीं है, यह कहना सत्य नहीं है। सारे ही भाव ठीक हैं, सारे ही सत्य हैं। भगवान् इतने विशाल और इतने विराट् हैं तथा इतने अनन्त भावमय हैं कि किसी भी एक भावका अवलम्बन करके साधना की जा सकती है, उसे कभी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। परन्तु यदि कोई केवल अपने ही मतको सत्य, और अन्य सबको असत्य मानता है तो यह निश्चय ही मिथ्या है। हम यह समझना भूल जाते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ हैं और सब जीवोंके परम सुहृद् हैं। सारे भावुक जनोंके लिए, सारे साधकोंकी सुविधाके लिए वह सब कुछ बनकर बैठे हुए हैं—"सर्वस्वरूपे सर्वेशे, सर्वशक्तिसमन्विते"—इसी कारण उस मानवमात्रके हृदयेश्वर सर्वेश्वरके समीप पहुँचनेके लिए उनके समस्त भावोंको समझनेके लिए जो विभिन्न मार्ग हैं उनमेंसे एकको भी अस्वीकार करते नहीं बनता; और कोई भी साधक उनमेंसे किसी भी एक भावका अवलम्बनकर अपने जीवनको सार्थक कर सकता है। इस एक भावको यदि पकड़ लिया तो जीवनमें फिर क्षोभ करनेके लिए कुछ नहीं रह जाता। परन्तु हमें मूढ़ताके वश ऐसा भ्रमपूर्ण प्रचार नहीं करना चाहिये कि हमने उनकी प्राप्तिके लिए जो मार्ग अवलम्बन किया है वही एक सत्य मार्ग है और शेष सब भ्रान्त हैं। ऐसी बात नहीं है। एकनिष्ठाके लिए तुम अनन्त भावोंमें से एक भावको लेकर उसमें लीन हो जाओ, उससे ही तुम कृतार्थ हो जाओगे; परन्तु ध्यान रहे कि अन्य मतोंकी निन्दा करके तुम अपने साधनको कहीं निष्फल न बना डालो।

श्रीभगवान्‌ने गीताके नवें अध्यायमें कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

दैवी प्रकृतिवाले महात्मा पुरुष अनन्य चित्तसे मुझे भूतोंका आदि कारण मानकर तथा नित्य स्वरूप अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करते हुए मेरी आराधना करते हैं। उपासना तीन प्रकारकी होती है—मानसिक, वाचिक और कायिक। कोई दृढ़व्रती होकर प्रयत्नपूर्वक सदा अभेद-चिन्तनके द्वारा आराधना करते हैं (यह मानसिक उपासना है), कोई मन्त्र-स्तोत्रादिके द्वारा कीर्तन करते हैं (यह वाचिक उपासना है), और कोई भक्तिभावसे प्रणाम करते हैं (यह कायिक उपासना है), कोई-कोई ज्ञानयज्ञके द्वारा अर्थात सब कुछ वासुदेव ही हैं ऐसा जानकर मेरी उपासना करते हैं। (परन्तु केवल चिन्तनके द्वारा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन नहीं होता, ब्रह्मदर्शनके लिए चिन्ताशून्य होना पड़ेगा)। कोई अभेद-भावनाके द्वारा, कोई पृथक् भावनाके द्वारा और कोई सर्वात्मक भावके द्वारा उपासना करते हैं।

जीवनके एकमात्र लक्ष्य श्रीभगवान् हैं। वह हम सबके आत्मा और प्रियतम हैं। वह ही चराचरमें व्याप्त, सब भूतोंके अन्तरात्मा ब्रह्म हैं। इस ब्रह्मका साक्षात्कार या भगवच्चरणका स्पर्श जब तक नहीं होता, जीवको मुक्ति नहीं मिलती। भारतवर्षमें मुक्तिप्राप्तिके जो उपाय प्रचलित हैं वे मुख्यतः तीन हैं—कर्म, भक्ति और ज्ञान। इन तीनों मार्गोंके अवलम्बनके बिना जीव आवागमनसे नहीं छूट सकता। संसारसे हम क्यों प्रेम करते हैं, इस बातको हम खूब विचार करके नहीं देखते, अच्छा लगनेके कारण ही लोग सार करते हैं, इसी कारण परम्पराके अनुसार हम भी संसार करते हैं। परन्तु यह शास्त्रीय बुद्धि नहीं है। शास्त्र कहते हैं कि संसार करना चाहिये—आत्म-तृप्तिके लिए नहीं, बल्कि भगवत्प्रीतिके लिए। हम सभी जो संसार करते हैं उस संसार-क्रीड़ामें ही एक दिन समझमें आ जायगा कि संसार संसारके लिए नहीं किया जाता, संसारमें आनेका उद्देश्य है भगवान्को प्राप्त करना, भगवान्को समझना। हमारी व्यक्तिगत आसक्ति या अज्ञानजनित मोह ही इस ज्ञानदृष्टिमें बाधक है। यदि यह बाधा न होती तो हम समझ पाते कि हमारी चाह क्या है, सर्वापेक्षा हमारा प्रियतम कौन है ? वह प्रिय वस्तु ही समस्त वस्तुओं की सत्ता या आत्मा है, और वही भगवान् हैं। श्रुति कहती हैं—

जीवोंकी मुक्तिका उपाय उपासना है और धि-कार-भेदसे उपास पृथक् पृथक् भेद हैं।

"न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।"

पहले कह चुके हैं कि अधिकार-भेदसे आत्मतत्त्वको जाननेके लिए तीन मार्ग हैं। श्रीभगवान्ने भागवतमें उद्धवजीसे कहा है कि,—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

त्रिविध मार्ग—जीवके कल्याणके लिए भगवान्‌ने तीन उपाय बतलाये हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीन मार्गोंके सिवा मुक्तिका कोई अन्य मार्ग नहीं है। इन्हीं तीनों मार्गोंके विषयमें गीतामें सम्यक् आलोचना की गयी है। जिस प्रकार मार्ग तीन हैं, उसी प्रकार अधिकारी भी तीन प्रकारके होते हैं। अवश्य ही कोई अपनी इच्छाके अनुसार मार्ग ग्रहण नहीं कर सकता। किसीका कर्ममें अधिकार होता है, किसीका भक्तिमें तथा किसीका ज्ञानमें अधिकार होता है। इसलिए बलात् एकका अधिकार दूसरेके सिर नहीं डाला जाता, डालने पर अनर्थ ही होता है।

अवश्य ही यह मानना पड़ेगा कि विभिन्न अधिकारियोंके लिए विभिन्न पथ होने पर भी प्रत्येक अधिकारीको न्यूनाधिक रूपसे इन तीनों मार्गोंका सहारा लेना पड़ता है, परन्तु अपनी प्रकृतिके अनुसार किसी एक मार्गकी प्रधानता रहती है। पर एक का अवलम्बन लेनेके कारण दूसरे दो अमान्य नहीं हो सकते। अमान्य करनेसे पद पद पर गिरनेका भय होता है और साधन-मार्ग विघ्न-सङ्कुल हो जाता है।

अपना मार्ग मनुष्य स्वयं चुनता है, यदि चुननेमें सुविधा नहीं होती तो सद्-गुरुकी कृपासे मार्ग निश्चित हो जाता है, यह अधिकार उन्हींको है।

ज्ञानयोग—सभी लोगोंका ज्ञानमें अधिकार नहीं होता, क्योंकि वैराग्यके बिना कोई ज्ञानमार्गका अधिकारी नहीं बनता। विषयोंके प्रति वैराग्य बहुम कम लोगोंमें देखा जाता है। और चित्तमें वैराग्य हुए बिना ज्ञानका उदय होना सम्भव नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

भगवद्विषयक ज्ञानके द्वारा जिनका वैषम्यजनक अज्ञान नष्ट हो गया है उनका वह आत्मज्ञान अज्ञानको नष्ट कर ईश्वरके परिपूर्ण स्वरूपको उसी प्रकार प्रकाशित करता है जिस प्रकार आदित्य अन्धकारका नाश कर निखिल वस्तुको प्रकाशित करता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

उनमें ही जिनकी बुद्धि निश्चयात्मिका हो गयी है, उनमें ही जिनका आत्मभाव है अर्थात् मन लीन है, उनमें ही जिनकी निष्ठा है अर्थात् प्रयत्न हो रहा है, वह ही जिनके परम आश्रय हैं, तथा उनकी कृपासे प्राप्त हुए आत्मज्ञानके द्वारा जिनके पाप धुल गये हैं, वे ही अपुनरावृत्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकारके ब्रह्मविद् ज्ञानी पुरुषका लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढ़ो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

जो ब्रह्मवेत्ता होकर ब्रह्ममें अवस्थित हैं वह प्रिय वस्तुको प्राप्त कर हर्षित नहीं होते और न अप्रिय वस्तुको प्राप्त कर उद्विग्न ही होते हैं, क्योंकि वह असंमूढ़ हैं, अर्थात् उनका मोह निवृत्त हो गया है तथा उनकी बुद्धि स्थिर है।

असंमूढ़ या स्थिरबुद्धि हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति असम्भव है। परन्तु यह अवस्था जगत्में बहुत थोड़े लोगोंको प्राप्त होती है। तथापि जब ज्ञानके बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती तब सभी साधकोंको ज्ञानके लिए प्रयत्न करना ही पड़ता है। उस ज्ञान-स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए हृदयमें जो ऐकान्तिक अनुराग उत्पन्न होता है वही द्वितीय मार्ग है। यह द्वितीय अधिकार है भक्तियोग।

भक्तियोग—जातश्रद्धः मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥

मेरी कथामें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, सब कामोंमें विरक्ति है, कामोंको दुःखात्मक समझता है पर उनके त्यागमें समर्थ नहीं है। तथा—

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ।

जो पुरुष अत्यन्त विरक्त नहीं है और न अत्यन्त आसक्त है उसके ही लिए भक्तियोग सिद्धिप्रद होता है। इस भक्तियोगके द्वाराही ज्ञान-प्राप्ति होती है। भागवतमें लिखा है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम् ॥

भगवान् वासुदेवमें भक्तियोगका प्रयोग करने पर शीघ्र वैराग्य उत्पन्न होता है तथा उसके बाद अपने आप ही ज्ञान उदित होता है।

कर्मयोग और योगाभ्यास—परन्तु जिसे विवेक-वैराग्य नहीं है, यथार्थ भक्ति भी नहीं है, तथापि भगवान्‌को पाना चाहता है, उसके लिए उपाय क्या है? बहुतसे लोग यह अच्छी तरह समझते हैं कि भगवान्‌के बिना जीवन-ज्वाला शान्त नहीं हो सकती, परन्तु उनको पानेके लिए मनमें आग्रह या व्याकुलता होते न देख निराश हो जाते हैं। इस श्रेणीके लोगोंके लिए योगाभ्यास ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। अधिकांश लोग इसी श्रेणीके होते हैं। वे जब सब कुछ समझते हैं तो उनके मनमें वैसा आग्रह क्यों नहीं होता? इसका कारण यह है कि पुराकृत कर्मोंके फल-स्वरूप उनका मन अत्यन्त चञ्चल रहता है, और मनकी चञ्चलताके कारण वह अपनी बुद्धिको एक विषयमें स्थिर नहीं रख सकते। बुद्धिकी स्थिरताके अभावमें अज्ञान और विषयोंमें आसक्ति होती है। यह विषयासक्ति ही सारे दुःखों और तापोंका मूल है। बहुत विचार करने पर यद्यपि अज्ञान-मेघ थोड़ी देरके लिए दूर हो जाता है, परन्तु वह अवस्था बनी नहीं रहती, अतएव मनोवेगके शान्त न रहनेके

कारण हम एकाग्रचित्तसे भगवत्स्मरण नहीं कर पाते। यही कारण है कि लाख चेष्टा करने पर भी मनकी ज्वाला नहीं मिटती। जिससे विवश होकर मन न जाने कहाँ कहाँ भटकता है। शतधा विक्षिप्त चित्तमें हम इस मनसा रामको समझनेकी चेष्टा करके भी ठीक नहीं समझ पाते, पकड़नेके लिए बढ़ते हैं पर पकड़ नहीं पाते। प्राणका अविरत स्पन्दन ही इस अशान्तिका मूल कारण है। जब तक प्राणका यह स्पन्दन बना रहेगा तब तक चित्तका स्थिर होना सम्भव नहीं। अतएव प्राणके स्पन्दनको रोकनेके लिए क्रियायोग या योगाभ्यास करना आवश्यक है। जिनके मनमें ब्रह्म-विचारका उदय नहीं होता, जो अपने संसारमें ही अत्यन्त व्यस्त रहते हैं, वे कर्म तथा उसके खटरागको लेकर पड़े रहें, परन्तु जिनका चित्त आसक्त है तथापि कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेके लिए व्याकुल हैं, ऐसे लोगोंको निष्काम कर्मका अवलम्बन करना चाहिये। यह निष्काम कर्मयोगकी साधना ही आत्मक्रिया या योगाभ्यास कहलाता है। क्रियायोग तथा इस विषयकी विविध साधनाओंकी आलोचना श्रीभगवान्‌ने गीताके चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, अष्टम तथा पञ्चदश अध्यायोंमें की है। इस क्रियायोगकी साधना क्या ज्ञानी, क्या भक्त और क्या कर्मी सबके लिए अत्यन्त ही आवश्यक साधना है। यथार्थतः यही कर्मयोग है, इस क्रियाके द्वारा ही सारे कर्म ब्रह्मार्पण किये जा सकते हैं।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान् एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

इस प्रकार बहुविध यज्ञ वेदमुखसे विहित हुए हैं, ये सभी कर्मज हैं अर्थात् वाङ्मनकाय सम्बन्धी कर्मसे उत्पन्न हुए हैं, यानी वाक्य, मन और शरीरके द्वारा सम्पादित होते हैं। ऐसा जानकर जब योग-साधन करोगे तो मुक्ति प्राप्त हो जायगी।

श्रीभगवान्‌ने यद्यपि 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' कहकर ज्ञानकी प्रशंसा की है, परन्तु उस ज्ञानकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय योगाभ्यास है। इसी कारण आगे फिर कहा है कि, 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'—साधक उस आत्मज्ञानको योगसंसिद्धिके द्वारा यथासमय आत्मामें स्वयं ही प्राप्त करता है। परन्तु कर्मयोगके बिना वह प्राप्त नहीं होता।

सुदीर्घ काल तक कर्मयोगका अभ्यास किये बिना आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। योगाभ्यासके द्वारा योग्यता प्राप्त होती है, योग्यता प्राप्त होने पर अनायास ही ज्ञान प्राप्त किया जाता है। प्राणायामादि योगाभ्यास करनेवाले पुरुषके विवेक-ज्ञानके आवरणरूपी कर्म क्षीण हो जाते हैं। योगदर्शनमें लिखा है—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'। प्रकाशके आवरण, प्राणायाम आदिके द्वारा क्षयको प्राप्त होते हैं। श्रीभगवान्‌ने भी योगाभ्यासीकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनको योगी होनेके लिए कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

योगी तपस्वीसे श्रेष्ठ है, ज्ञानीसे श्रेष्ठ है और कर्मीसे भी श्रेष्ठ है, यह मेरा मत है। अतएव हे अर्जुन, तुम योगी बनो।

यदि क्रियायोग ही एकमात्र कर्म है तो अन्य सैकड़ों कर्मोंको हम क्यों करें तथा उनको करनेसे लाभ ही क्या है? इसी प्रश्नकी मीमांसा करते हुए श्रीभगवान्ने गीताके तृतीय, अष्टम और अष्टादश अध्यायमें विशद रूपसे अर्जुनको समझा दिया है कि ये सारे कर्म किस प्रकार अनुष्ठित होने पर भगवत्प्राप्तिमें सहायक हो सकते हैं।

ब्रह्म कर्मार्पण या ब्रह्मार्पित कर्म किये कैसे जाते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रके क्या क्या स्वाभाविक कर्म हैं, इसका उल्लेख गीताके अष्टादश अध्यायके ४२, ४३, ४४, ४५ श्लोकोंमें मिलता है। स्वाभाविक कर्मोंके करनेका अधिकार चाण्डाल पर्यन्त सभी मनुष्योंको है और स्वाभाविक कर्म करनेसे किसीको पाप नहीं लगता। जैसे जीवहिंसा ब्राह्मणके लिए पाप होनेपर भी निषादके लिए पाप नहीं माना जाता। क्योंकि स्वकर्ममें लगा हुआ व्यक्ति स्वकर्मके द्वारा भी सिद्धि यानी ज्ञानकी योग्यता प्राप्त करता है। यह छोटी बात नहीं है। इसी कारण किसीको अपने कुलके प्रति घृणाका भाव नहीं पैदा होना चाहिए। क्योंकि स्वकुलोचित कर्मोंको करते हुए यदि ईश्वरमें निष्ठा बनी रहे अर्थात् भगवत्प्रीतिके लिए ही कर्म किये जायँ तो मनुष्यको नरकका भय नहीं रहेगा। बल्कि भगवान्ने, परधर्म श्रेष्ठ हो तो भी उसको ग्रहण करनेका निषेध किया है। वहाँ भगवान्ने एक बहुत बड़ी और चमत्कारपूर्ण बात कहकर जगत्के सभी जीवोंको अभयदान दिया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

जिस अन्तर्यामी भगवान्से प्राणियोंकी कर्म-चेष्टा होती है तथा जो इस विश्वमें व्याप्त होकर विराजमान है उस ईश्वरकी अपने कर्मों द्वारा अर्चना कर मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है अर्थात् उसका ज्ञान लाभ होता है।

स्व स्व कर्मोंके द्वारा उसकी पूजा करनी पड़ेगी। कोई भी कर्म ईश्वरार्पितचित्तसे करने पर निष्फल या हेय नहीं होता और न बन्धनका कारण बनता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

परमेश्वरमें समर्पित कर या फलासक्ति का त्याग कर जो कर्म करता है वह पुण्यपापात्मक कर्ममें उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार पद्मपत्र जलमें रहते हुए भी जल द्वारा लिप्त नहीं होता है।

भगवान् सर्वात्मक हैं, अतएव हम जो कुछ करना चाहते हैं उसे इस ढङ्गसे करना चाहिये कि जिससे वह ब्रह्म-समर्पित हो सके। कर्तृत्व का अभिमान रहने पर कर्म-बन्धन अनिवार्य हो जाता है।

अहङ्कार और अभिमान जब तक हृदयमें भरे हुए हैं तब तक भगवदर्पण नहीं हो सकता। यही कारण है कि निरहंकारी ज्ञानी भक्त सारी वस्तुओंको भगवान्का ही समझता है। सभी भगवद्रूप हैं अथवा सब भगवान्के ही हैं—इस प्रकार की बुद्धिसे युक्त होकर जो कुछ किया जायगा वह निश्चय ही भगवत्पादपद्ममें जा पहुँचेगा। अतएव आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर ईश्वरार्पित-चित्तसे कर्म करना ठीक है। इस प्रकार जो कर्म कर सकता है वही प्रकृत ज्ञानी, योगी और भक्त है।

कर्म करनेका अधिकार सबको है और मनुष्यमें कर्म करनेका वेग बहुत ही प्रबल होता है। परन्तु साधारणतः सारे प्राणी स्वार्थसे प्रेरित होकर ही कर्म करते हैं। पहले पहल निःस्वार्थ होकर कर्म करना भी कठिन होता है। जो लोग स्वार्थ-रहित होकर कर्म नहीं कर सकते वे स्वार्थ-बुद्धिसे ही कर्म करें, वे आलसी और कर्म विमुख लोगोंकी अपेक्षा फिर भी श्रेष्ठ हैं।

साधारणतः दो प्रकारके लोग कर्म नहीं करना चाहते—एक आलसी और दूसरे सांख्यमतावलम्बी। आलसी लोग जो कर्मत्यागका स्वांग रचते हैं वह उनका केवल कपटाचरण मात्र है। कपटाचारीको धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। भगवान्ने उनके विषयमें कहा है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

तुमने कर्मेन्द्रियोंका संयम तो किया है पर मनमें विषयोंको पानेकी यथेष्ट लोलुपता बनी रहती है, अतएव तुम्हारा कर्म-त्याग कायक्लेशके भयसे है; इसके द्वारा त्यागफल यानी शान्तिकी प्राप्तिकी कोई आशा नहीं।

दूसरे प्रकारके लोग आपत्ति करते हैं—"त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः"—कर्म बन्धनका हेतु है अतएव सारे ही कर्म त्याज्य हैं। कर्म करनेसे कर्मफल-भोग अनिवार्य होता है। भगवान् उनकी आपत्तिका इस प्रकार खण्डन करते हैं—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

यज्ञ, दान और तपस्या रूप कर्म कभी त्याज्य नहीं होते, बल्कि इनको करना ही कर्त्तव्य है। क्योंकि ये सारे कर्म विवेकी पुरुषोंके चित्तको शुद्ध करते हैं।

इन सब नित्य कर्मोंका त्याग करना किसी प्रकारसे ठीक नहीं है; मोहवश होकर जो इन कर्मोंका त्याग करता है वह तो तामसिक त्याग मात्र है। तब किस प्रकार कर्म करनेसे वह चित्त-शुद्धिकारक बनेगा?

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

हे पार्थ, पूर्वोक्त यज्ञ-दानादि कर्मोंको करना ही चाहिये—फलाकांक्षासे रहित होकर तथा कर्तृत्वाभिमानको त्याग कर। श्रीधर कहते हैं—'केवलमीश्वराधीनतया कर्त्तव्यानीति'—अर्थात् नित्य कर्मोंको केवल ईश्वराधीन होकर और फलाभिसन्धिका त्याग करके करना पड़ेगा, तभी ये कर्म पावन अर्थात् चित्तशुद्धि करनेवाले होंगे।

उनकी एक और प्रबल आपत्ति यह है कि कर्म करने पर वे अवश्य ही फल उत्पन्न करेंगे; अतएव कर्म अच्छे, बुरे या मिश्र, जिस प्रकारके होंगे उनके अनुसार ही फलकी प्राप्ति अनिवार्य है। इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥

कर्मफल भोग उनको करना पड़ता है जो कर्मासक्त हैं, अत्यागी हैं। परन्तु जो ब्रह्मार्पण-चित्तसे कर्म करते हैं उनके कर्म बन्धनकारक नहीं होते। वे त्यागी हैं, क्योंकि समस्त कर्मोंके अन्तरालमें उनको भगवदिच्छा ही दीख पड़ती है। विष्णु-प्रीत्यर्थ कर्म करनेपर कर्मबन्धन नहीं होता। जब कर्मका एकबारगी त्याग नहीं हो सकता तब विष्णु-प्रीत्यर्थ कर्म करना ही ठीक है। इससे कर्मबन्धन नहीं होगा तथा इस प्रकार निष्काम भावसे कर्म करनेके फलस्वरूप अनायास ही ज्ञानकी प्राप्ति होगी। इसी कारण भगवान् कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

अतएव फलाशक्ति-रहित होकर अवश्य कर्त्तव्य कर्मोंको तुम करते हुए चलो, अनासक्त होकर कर्म करने पर चित्तशुद्धि होती है, चित्तशुद्धिके द्वारा मुक्ति या ज्ञान-प्राप्ति होती है।

अतएव जो ज्ञानी नहीं हैं उनको कर्ममें आलस्य करनेसे काम न चलेगा, उदासीनता दिखलानेसे भी काम न चलेगा। चाहे जिस प्रकृतिका आदमी हो, जिस कुलमें उत्पन्न हुआ हो, सबको स्व स्व कर्ममें उत्साह दिखलाना पड़ेगा। जो रजोगुणी हैं अर्थात् जिनकी कर्मचेष्टा स्वभावतः ही बहुत अधिक है वे स्वार्थ-द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके कर्मस्रोतमें बह जाते हैं, अतएव उनको नियमित होकर कर्म करनेका उपदेश भगवान्‌ने दिया है। असंयत भावसे फलकामनायुक्त होकर कर्म करने पर कर्म-प्रवाह मनुष्यको कहाँ से कहाँ बहा ले जायगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है। केवल कर्म, केवल कर्म—दिन रात साँस लेनेकी भी फुरसत नहीं—इस प्रकार कर्म करनेका अर्थ है कर्मका उद्देश्य और जीवनके साथ उसका सम्बन्ध न जानकर जीवनके प्रकृत उद्देश्य और लक्ष्यको व्यर्थ कर देना। अतएव इस प्रकृतिके लोगोंको बतलाना होगा कि कर्मका उदार क्षेत्र क्या है? जिनको ज्ञान प्राप्त है उनके सामने यह जगत् अविद्या-कल्पित और मिथ्या निरूपित है। अतएव ऐसे आत्मज्ञ पुरुषके लिए कर्म-अकर्मके फलाफल या पाप-पुण्यकी तरङ्ग उठती ही नहीं। वे जानते हैं कि कर्मके प्रवर्तक ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता, तथा कर्मके आश्रय करण,

कर्म और कर्त्ता क्या वस्तु हैं, और यहभी जानते हैं कि आत्मा किसी कर्मके आश्रयमें नहीं है। परन्तु जो ज्ञानी नहीं हैं, कर्मफलमें जिनकी अत्यन्त आसक्ति है उनको समझाना होगा कि दूसरोंके मङ्गलमें ही तुम्हारा मङ्गल है, केवल अपना कल्याण ही कल्याण नहीं है। अतएव देवताके उद्देश्यसे परोपकारार्थ कर्म करो तभी तुम्हारा यथार्थ मङ्गल होगा। 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।' देवताके उद्देश्यसे त्याग रूप यज्ञ ही कर्म कहलाता है। इस प्रकार कर्म करनेसे कर्ममें परपीड़ाका अभाव होगा और उससे आसक्तिका नाश हो जायगा। ऐसा होने पर मनकी सात्त्विकताकी वृद्धि होगी। सात्त्विकताकी वृद्धिके साथ-साथ जीवनको भगवद्-अभिमुख करनेके लिए आग्रह उत्पन्न होगा और उस आग्रहके बढ़ने पर उसकी कर्मचेष्टा भक्तिके रूपमें परिणत हो जायगी। इस अवस्थामें ही सर्व कर्म ब्रह्मार्पण हो सकते हैं। सर्व कर्म ब्रह्मार्पण होने पर ही जीवको विशुद्ध भक्ति तथा ज्ञानकी प्राप्ति होती है। पश्चात् त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त कर वह कैवल्यपदको पहुँचता है। इसे ही ब्राह्मीस्थिति कहते हैं, इसे प्राप्त कर जीव फिर किसी कारणसे भी मोह-ग्रस्त नहीं होता। समस्त गीतामें यह परम पावन भाव अति दृढ़तापूर्वक और अति मनोज्ञ भावसे वर्णित हुआ है।

जिस कर्मके द्वारा इस प्रकारके ज्ञानकी प्राप्तिकी योग्यता होती है वह कर्म तीन प्रकारसे अनुष्ठित होता है—(१) कर्ममें फलासक्तिका त्याग कर, (२) अहङ्कार शून्य होकर अर्थात् जो कुछ करना हो उसमें अहं—मम भावका न रहना, (३) 'अध्यात्मचेतसा' अर्थात् ईश्वरार्पण बुद्धिसे भगवत्प्रेरित होकर कर्म करना जिससे फलाफलके लिए मनमें कोई उद्वेग न रहे।

इस प्रकारसे कर्म करने पर सारे कर्म ब्रह्मार्पित हो जाते हैं। परन्तु मनमें समता हुए बिना इस प्रकार कर्म नहीं किये जा सकते। सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार रहना ही मनकी समता है। परन्तु प्राणके चञ्चल रहने पर चित्तका विक्षेप नष्ट नहीं होता। तब फिर मनकी समता कैसे आयेगी ? इसके लिए प्राणायाम आदि योग-कौशलका सहारा लेना पड़ेगा और योग-क्रियाओंके साथ साथ निर्जन वास, इन्द्रिय संयम और आहार शुद्धिका अभ्यास करना होगा। इस प्रकार कर्मके द्वारा जीव जीवनकी परम सार्थकता प्राप्त कर सकता है।

गीतामें आत्मतत्त्व

(पुरुष, प्रकृति, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ)

पुरुष और प्रकृति दोनों मिलकर मानो अच्छेद्य बन्धनमें जड़ित होकर जगत् और जीवरूपमें परिणत हो रहे हैं। प्रकृति जड़ है, ये जड़ देहेन्द्रियादि प्रकृतिके ही परिणाम हैं। पुरुष भोक्ताके रूपमें तादात्म्य भावसे प्रकृतिके साथ मिले हुए हैं। आत्मा और प्रकृतिके विषयमें दर्शनशास्त्र तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें नाना प्रकारके मतवाद प्रचलित हैं। श्रीभगवान्ने गीतामें भी इन सारी बातोंकी विशद आलोचना की है। जो लोग देहको ही सर्वस्व समझते हैं वे जड़वादी, इन्द्रियाराम

कहलाते हैं। अज्ञानी लोगोंको यह धारणा ही नहीं होती कि मनोविलासकी वस्तुओंके अतिरिक्त भी कोई अभिलषणीय वस्तु है। वे आत्मा नामकी वस्तुको नहीं मानते। षड्दर्शनकार प्रायः सभी आत्माको मानते हैं परन्तु आत्माके सम्बन्धमें वे विभिन्न मतोंकी पुष्टि करते हैं। आत्माका अनेकत्व प्रायः सब दर्शनोंको मान्य है, केवल वेदान्तने आत्माके एकत्वको स्वीकार किया है। निश्चय ही उन ऋषियोंमें कोई अज्ञानी नहीं था, केवल अपने शिष्योंकी योग्यताके अनुसार उपदेश देनेके लिए उन्होंने आत्माके अनेकत्वको स्वीकार किया है। एक ही बात बालकको और ढंगसे समझायी जाती है और वयोवृद्धको समझानेके लिए और ही व्यवस्था करनी पड़ती है। यही कारण है कि इतने विभिन्न प्रकारके मतवाद प्रचलित हैं; अन्यथा ऋषियोंके ज्ञानमें त्रुटि माननेसे भूल होगी।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी आत्माके सम्बन्धमें विस्तृत आलोचना की है। उन्होंने बतलाया है कि आत्मा देहसे अतिरिक्त है, अतएव देहमें जैसे विकार उत्पन्न होते हैं वैसे आत्मामें नहीं होते। आत्मा षड्विकारोंसे वर्जित है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

आत्माके जन्म, मृत्यु, वृद्धि, अपक्षय, रूपान्तर आदि षड्विकार नहीं होते। यह अजन्मा, सदा एकरूप, शाश्वत और परिणामहीन है, शरीरके विनाशसे यह मरता नहीं है।

आत्मामें किसी प्रकार कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व भी नहीं है—

अनादित्वात् निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

संसारावस्थामें देह-सम्बन्धके कारण कर्मजनित सुख-दुःखादि भी आत्माको नहीं होते। हे कौन्तेय, जिसकी उत्पत्ति होती है उसीका 'आदि' होता है, तथा जो गुणवान् है उसीका गुणनाश होने पर रूपान्तर होता है, परन्तु जन्ममृत्यु-रहित और निर्गुण यह परमात्मा अविकारी है अतएव देहमें रहते हुए भी कुछ करता नहीं, न कर्मफलमें ही लिप्त होता है। यदि आत्मामें कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है तो सुख-दुःखादि भोग होते हैं किसको ?

प्रकृतिके अविवेकके कारण ही पुरुष संसारी बना है, वस्तुतः पुरुष संसारी नहीं है। प्रकृतिके कार्यरूप इस शरीरमें रहते हुए भी पुरुष प्रकृतिसे पृथक् है, प्रकृतिके कार्यमें वह योग नहीं देता।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

पुरुष केवल साक्षीमात्र है, अनुमन्ता अर्थात् सन्निधि मात्रसे अनुग्राहक है। (वह देहादिके कार्योंमें प्रवृत्त न होते हुए भी अत्यन्त समीपवर्ती होनेके कारण

अनुमन्ता है); वह भर्त्ता है अर्थात् उसकी सत्ताके बिना देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी स्फूर्ति या पुष्टि नहीं हो सकती, इसी कारण वह भर्त्ता है। वह भोक्ता है अर्थात् बुद्धिमें प्रतिबिम्बित सुख दुःखादिका उपलब्धा है, और वह ब्रह्मादिका भी पति है, इसी कारण महेश्वर अर्थात् जगत्प्रभु कहलाता है। बृहदारण्यक श्रुतिमें लिखा है—

"एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष लोकपालः"

सुख-दुःखादि आत्माके धर्म नहीं हैं, प्रकृतिके संगके कारण आत्माको कर्तृत्व तथा सुख-दुःख भोगकी प्रतीति मात्र होती है। इसको ही अध्यास कहते हैं। 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ'—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही इस प्रकारका बोध होता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अविकारी और अजन्मा पुरुषको भोक्तृत्व होता है कैसे ? जन्म होता है क्योंकर ? इसीलिए भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

क्योंकि पुरुष प्रकृतिके कार्यरूप शरीरमें अवस्थित है, अतएव प्रकृतिके द्वारा उत्पन्न गुणों अर्थात् सुख-दुःखादिका भोग करता है। परन्तु पुरुषका जो सदसद् योनियोंमें जन्म होता है उसका कारण है शुभाशुभ कर्म करनेवाली इन्द्रियोंके साथ पुरुषका सङ्ग अर्थात् उनके साथ पुरुषका तादात्मय सम्बन्ध।

इसलिए मुमुक्षु पुरुषके लिए प्रकृति-पुरुषका विवेक होना परम आवश्यक है। भगवान् कहते हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

जो इस प्रकार निःसङ्ग पुरुष और सविकार प्रकृतिके स्वरूपको जानता है वह प्रारब्ध कर्मोंके द्वारा वेष्टित होने पर भी फिर जन्म नहीं लेता। ब्रह्मसूत्रमें लिखा है—"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्"—जो आत्म-साक्षात्कारसे यह अनुभव करता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उसके अगले और पिछले सारे पुण्य पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मके अणुमें स्थित होने पर अनन्त ब्रह्माण्डमें ब्रह्मके स्वरूपकी उपलब्धि होती है। जिसने उत्तम पुरुषको जान लिया है वह सबके भीतर अणुस्वरूप ब्रह्मको जान सकता है। वह यदि निरन्तर उत्तम पुरुषमें न भी रहे तथापि उसका जन्म नहीं होता।

प्रकृतिके गुणसङ्गके कारण सांसारिक प्रपञ्च चल रहा है, अतएव आगे चलकर भगवान् कहते है कि गुणोंके परे जाने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

जब द्रष्टा देखता है कि गुणोंके सिवा (गुण ही बुद्धि आदिके रूपमें परिणत हैं) अन्य कोई कर्त्ता नहीं है, अर्थात् गुण ही कर्म करते हैं आत्मा नहीं

करता—ऐसा देखता है, तथा गुणोंके साक्षीस्वरूप आत्माको गुणातीत जानता है; तब वह मद्भाव अर्थात् ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है। भगवद्भक्त ही ब्रह्मत्व प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त करता है। प्रकृत भक्त वह है जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय प्रभृतिसे अवगत होकर भगवद्भावकी प्राप्तिका अधिकारी बन गया है।

ब्रह्म स्वरूपतः अज्ञेय है अर्थात् मानवीय मनोबुद्धिके लिए अगोचर है। जो साधक ब्रह्म-स्वरूपको जान लेता है वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, और फिर लौटकर उस स्वरूपके विषयमें कुछ नहीं कह सकता। श्रुतिमें ब्रह्मका स्वरूप 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' 'आनन्दं ब्रह्म' कहा गया है, अर्थात् वह सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप और आनन्दस्वरूप हैं। तथा ब्रह्मसूत्रमें लिखा है—'जन्माद्यस्य यतः'—जिससे इस विश्वकी सृष्टि स्थिति और लय होता है। यही ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है। परन्तु ब्रह्म निर्लिप्त और निर्विकार है।

ब्रह्मतत्व

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि वह सृष्टि, स्थिति और लयके कर्त्ता हैं तब तो यह जगद्-व्यापार उनका ही कार्य हुआ। मनुष्य सामान्य कर्मोंको कर जब बन्धनमें पड़ता है तो इतने बड़े जगद्-व्यापारका कर्त्ता होकर भी वह कर्ममें लिप्त क्यों नहीं होते? इसका कारण यह है कि कर्मफलमें जीवके समान उनकी स्पृहा नहीं। साधारणतः बिना उद्देश्यके किसीकी भी कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती, परन्तु भगवान्के कर्म इस प्रकारके नहीं हैं। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार जीवकी श्वास-प्रश्वासकी क्रिया स्वभावतः होती है, इसमें कोई उद्देश्य नहीं होता, जीवकी इच्छाकी अपेक्षा किये बिना ही शरीरमें जिस प्रकार स्वभावतः ही नख-लोमादि उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार बिना किसी प्रयोजनके ही ईश्वरेच्छा जगत्-रचनामें प्रवृत्त होती है।

श्रीभगवान्ने गीताके तेरहवें अध्यायमें ब्रह्मके सम्बन्धमें कहा है—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।

ब्रह्म अनादिमत् अर्थात् अनादि और निरतिशय है, वह विधिनिषेधका विषय नहीं, वह सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण है, क्योंकि वह अविषय है।
तथापि—

अविचिन्त्य शक्तियुत श्रीभगवान्।
इच्छाय जगद्रूपे पाय परिणाम॥

श्रीभगवान् अचिन्त्य शक्तियोंसे युक्त होनेके कारण इच्छामात्रसे जगत्-रूपमें परिणत हो जाते हैं।

अविचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे वह एक और अद्वितीय होकर भी सर्वात्म-भावमें—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
बहिरन्तश्च भूतानां अचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

वह सर्वत्र हस्तपद-विशिष्ट हैं, सर्वत्र नेत्र-शिर-मुख-विशिष्ट हैं, सर्वत्र श्रवणेन्द्रिय-युक्त होकर प्राणियोंमें तथा लोकमें सब स्थानोंमें व्याप्त होकर अवस्थित हैं। वह चक्षु आदि इन्द्रियोंकी वृत्तिमें रूप आदिके आकारमें प्रकाशमान हो रहे हैं, तथापि स्वयं सर्वेन्द्रियोंसे रहित हैं; निःसङ्ग हैं तथा सबके आधार-भूत हैं; तथा वह सत्त्वादिगुणोंसे रहित होकर भी सर्वगुणोंके भोक्ता हैं। वह सारे जीवोंके भीतर और बाहर (तरङ्गमें जलके समान, अलङ्कारमें स्वर्णके समान) अवस्थित हैं। वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय हैं, वह दूरसे भी दूर और निकटसे भी निकट हैं। वह स्थावर-जङ्गमात्मक सब भूतोंमें अविभक्त होकर भी विभक्त-से प्रतीत हो रहे हैं। वही ज्ञेय पदार्थ स्थिति-कालमें भूतोंके पालक, प्रलयकालमें संहर्त्ता और सृष्टिकालमें प्रभविष्णु हैं अर्थात् स्वयं नाना रूपोंमें उत्पन्न होते हैं।

गीतामें श्रीभगवान्को लक्ष्य करके ब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम, ईश्वर, अक्षर, अधियज्ञ प्रभृति शब्दोंका व्यवहार किया गया है। निश्चय ही प्रत्येक शब्दकी स्वतन्त्रता और सार्थकता है। इस सम्बन्धमें कुछ आलोचना करना अप्रासङ्गिक न होगा। गीतामें प्रकृति, आत्मा, पुरुष प्रभृति शब्द जो व्यवहृत हुए हैं उनका दर्शन-शास्त्रादिके साथ सादृश्य होनेपर भी गीतामें कुछ वैशिष्ट्य लक्षित होता है। श्रीभगवान्ने क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम, इन तीन प्रकारके पुरुषोंका उल्लेख किया है। क्षर-अक्षर पुरुषके साथ सांख्योक्त प्रकृति-पुरुषका सादृश्य है। पार्थक्य केवल इतना ही है कि सांख्यके मतसे पुरुष नाना हैं और प्रकृति एक है, परन्तु गीताके मतसे पुरुष नाना हैं और उनके साथ प्रकृति भी नाना मानी गयी है। जैसे "क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।' यहाँ 'क्षेत्र'के पूर्व 'सर्व' शब्द होनेके कारण नाना प्रकृति, तथा समस्त क्षेत्रके क्षेत्रज्ञ-रूपसे पुरुष भी व्यवहारतः नाना माने गये हैं; तथापि वेदान्तके एकात्मवादके समान गीतामें भी एकात्मवाद समर्थित हुआ है। जैसे--

जो जीवोंके लिए भजनीय है वह ईश्वर है, जो कर्मफलदाता है वह भगवान् या पुरुषोत्तम है।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

हे धनञ्जय, मेरे सिवा जगत्का कोई दूसरा कारण नहीं है। सूत्रमें जिस प्रकार मणिगण ग्रथित होते हैं, सब भूतोंके अधिष्ठान-स्वरूप मुझमें यह समस्त जगत् उसी प्रकार ग्रथित होकर अवस्थित हो रहा है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यात् मया भूतं चराचरम् ॥

हे अर्जुन, जो स्थावर-जंगमात्मक सब भूतोंका बीज (कारण) है वह मैं हूँ। ऐसी कोई वस्तु चराचर जगत्में नहीं है जो मेरे बिना रह सके। इसके द्वारा सब कुछ ब्रह्म है, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—यह श्रुति-वाक्य समर्थित होता है।

एतद् योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

वही सृष्टि आदिके कारण हैं, यह निर्देश कर रहे हैं। स्थावर-जङ्गमात्मक, चेतन-अचेतन सब भूतोंकी—परा और अपरा प्रकृतिद्वय ही योनि है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ स्वरूप द्विविध प्रकृतिसे समस्त चराचरको उत्पन्न हुआ समझो। इनमें अपरा या जड़ा प्रकृति देह रूपमें परिणत होती है, तथा मदंशभूता चेतन प्रकृति भोक्ता रूपमें देहमें प्रवेश कर स्वकर्मके द्वारा सबको धारण किए हैं। मेरी यह दोनों प्रकृतियाँ मुझसे ही उत्पन्न हुई हैं। अतएव मैं ही (सर्वज्ञ ईश्वर) प्रकृतिके साथ निखिल जगत्की उत्पत्ति का परम कारण हूँ, और मैं ही इसके लयका भी कारण हूँ। श्रीशंकराचार्यने इस श्लोककी व्याख्यामें अन्तमें कहा है—"प्रकृति-द्वयद्वारेणाहं सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमित्यर्थः।"

यह जड़ाजड़ प्रकृतिद्वय तथा मैं (परमेश्वर) ये तीन गीताके तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ (चिदंश) और अहं (परमात्मा या चित्स्वरूप) शब्दसे अभिहित हुए हैं। व्यावहारिक जगत्में क्षेत्रज्ञ शरीराभिमानी जीवमात्र हैं, पारमार्थिक रूपमें वे असंसारी हैं, परमात्माके साथ अभिन्न हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पार्थक्यज्ञान जब तक नहीं होता तब तक जीव बद्धवत् प्रतीत होता है। इन दोनोंका जो पृथक् ज्ञान है उसे ही श्रीभगवान्ने मोक्षका कारण बतलाया है। आठवें अध्यायमें इन्हीं तीनोंको अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ नामसे अभिहित किया गया है। अक्षर शब्दका अर्थ है जिसका क्षरण या विनाश न हो, अतएव प्रत्येक जीव अक्षर है। और जो जगत्का मूल कारण ब्रह्म है वही परम अक्षर है। श्रुति कहती है—

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत' इत्यादि। इस अक्षरके प्रशासनमें चन्द्र-सूर्य यथास्थान धृत हो रहे हैं। अक्षर ही परमब्रह्म है, उसके दो विभाव हैं—सगुण और निर्गुण, ब्रह्मभाव और ईश्वरभाव। इन्हें केवल-निर्गुण ब्रह्मभावमें देखा जा सकता है, और सगुण ईश्वरभावमें भी देखा जा सकता है। सगुण कहनेसे मायायुक्तताका बोध होता है। इससे कोई यह न समझे कि वह जीवके समान मायाधीन हैं। ईश्वर मायाधीश हैं, वह चिरकाल

तक स्वभाव अर्थात् ब्रह्मभावमें रहकर फिर लीलाके लिए सगुण ब्रह्म या ईश्वररूपमें लीला करते हैं। यही ईश्वर भजनीय हैं। पातञ्जल दर्शनमें लिखा है—'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा'। ईश्वर प्रणिधानसे साधक समाधिके निकट पहुँचता है। वह ईश्वर किस प्रकारका है? योगदर्शन कहता है—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्', 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।' अनात्म-प्रत्यय वस्तुमें क्लेश होता है और उससे ही पुण्य-पापादि कर्म उत्पन्न होते हैं। कर्मका परिणाम या फल विपाक कहलाता है। कर्मके साथ साथ तदनुरूप जो वासना या संस्कार रहता है उसे आशय कहते हैं। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय—ये चारों जीवमात्रमें सतत वर्तमान रहते हैं, इनके द्वारा ही पुरुष भोक्तृत्व रूपको प्राप्त होता है। ये चारों जिसमें नहीं होते अथवा जिसे स्पर्श नहीं कर पाते वही ईश्वर कहलाता है। जीवके साथ ईश्वरका इतना ही भेद है। जीवके कर्म होते हैं अतएव उस कर्मके संस्कार भी होते हैं, ईश्वरको कर्म नहीं होते अतएव उनको कोई संस्कार नहीं होता। इसी कारण ईश्वर स्वभावतः चिरमुक्त हैं। ईश्वरको पुरुष विशेष कहा है, इसका कारण यह है कि पुरुष तीन प्रकारके होते हैं—क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम। पुरुषोत्तम ही ईश्वर हैं, वह अन्य दो पुरुषोंसे विशेष या विलक्षण हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

क्षर-अक्षर पुरुषसे पृथक् उत्तम पुरुष ही परमात्मा कहलाते हैं। वह परमोत्तम पुरुष, अचेतन क्षर पुरुषसे भिन्न, और भोक्ता अक्षर पुरुषसे श्रेष्ठ हैं। जो निर्विकार होते हुए भी तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण करते हैं वही ईश्वर हैं। उपनिषद्में है, 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्।' उनमें सर्वज्ञ-बीज निरतिशयरूपमें विद्यमान है अर्थात् उनकी अपेक्षा अधिक ज्ञान और कहीं नहीं है। वह समस्त कारणोंके भी कारण रूपमें अवस्थित हैं।

ईश्वर पूर्वकालीन गुरुओंके भी गुरु हैं। पूर्व कालमें ब्रह्मा, सनकादि ऋषि, नारद,कपिल, वशिष्ट आदि गुरुगण जगत्के कल्याणके लिए आविर्भूत हुए थे, ईश्वर उनके भी गुरु हैं। क्योंकि वे देश-काल द्वारा परिच्छिन्न थे, परन्तु ईश्वर देश-कालातीत हैं। वही जगदात्मा हैं। जगत्के प्रकृत गुरु वही हैं। मनुष्य-देहमें इस जगद्गुरुका आविर्भाव होता है। यदि उनको मनुष्य न मानकर गुरु-रूप या ईश्वररूपमें देखा जाय तो जीवको मुक्तिकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" जिनकी इष्ट देवताके प्रति परमा भक्ति है तथा गुरुमें देव-बुद्धि है उनके ही सामने आत्मा अपनी महिमाको प्रकाशित करता है। जब तक गुरुमें विश्वास नहीं होता तब तक ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती। इसे केवल मुखसे कह कर स्वीकार करनेसे काम नहीं चल सकता, मन-वाणी-कर्मके द्वारा स्वीकार किये बिना शिष्य गुरुमें परित्राण-परायण शक्ति प्राप्त कर ही नहीं सकता।

देहादि समस्त नाशवान् पदार्थ ही क्षर पुरुष है, चिदाभास या जीव ही अध्यात्म है। यही सुख-दु:खका भोक्ता है। सूर्यमण्डल-मध्यवर्ती सब देवताओंके अधिपति वैराज पुरुष ही अधिदैवत पुरुष हैं अर्थात् अधिष्ठात्री देवता हैं। यही प्रथम शरीरधारी हैं, इनको ही पुरुष कहा जाता है। श्रुतिमें लिखा है—"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। अदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥" परमात्मा ही हिरण्यगर्भ रूपमें पहले प्रादुर्भूत हुए। वही आदिदेव, प्रजापति, ब्रह्मा हैं। वही सविताके वरणीय भर्ग हैं। और इस देहमें 'मैं' अर्थात् परमात्मा भगवान् ही अधियज्ञ हैं, अर्थात् सारे यज्ञों या कर्मोंके प्रवर्त्तक और सब कर्मोंके फलदाता अन्तर्यामी विष्णु हैं। "अत्रास्मिन्देहे अन्तर्यामित्वेन स्थितोऽहमधियज्ञः"। यही अन्तकालमें स्मरणीय हैं। जो उनका स्मरण कर सकता है, 'स मद्भावं याति' वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है। श्रीधर कहते हैं—'स्मरणं ज्ञानोपायः', ज्ञानका उपाय स्मरण है तथा ज्ञानका फल मद्भाव प्राप्ति है।

दुर्गा-सप्तशतीमें अधियज्ञ या ईश्वरका उल्लेख करते हुए कहा है—'परा पराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी'।

यह परमा शक्ति प्रति जीवमें चार प्रकारसे व्यक्त होती है। देह, प्राण, मन और बुद्धि—ये आत्माके चार व्यूह हैं। देहको अधिभूत कहा जाता है, प्राणको अधिदैव कहा जाता है, मन और बुद्धिको अध्यातम कहते हैं। और अधियज्ञ सबका मूल कारण परमात्मा या ईश्वर है। उनको ही ब्रह्म कहते हैं। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।" जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है, वही विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य हैं, वही ब्रह्म हैं। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति"—उनको जानकर ही मनुष्य मृत्युको पार करता है। वही 'अक्षरात्परतः परः' अर्थात् वही अक्षरसे भी श्रेष्ठ है। 'रसो वै सः'—वही सच्चिदानन्दमय परमपुरुष या पुरुषोत्तम हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'—उनके ही प्रकाशसे ये जगदादिक सारे लोक प्रकाशित हो रहे हैं। वह 'तमसः परः' सब प्रकारके अज्ञान और अन्धकारके परे हैं। 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।' उस परम धाम, निज महिमासे सदाके लिए मायिक प्रपञ्चसे मुक्त, उन सत्यस्वरूप भगवान्को, जो 'परं' सर्वश्रेष्ठ हैं, मैं ध्यान करता हूँ। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'—इस ब्रह्मकी नाना प्रकारकी अलौकिक शक्तियोंके विषयमें सुना जाता है। हमारे लिए वह इन्द्रियगोचर न होने पर भी साधनाभ्यासके द्वारा बुद्धिगोचर हो सकते हैं। 'नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्'—वह देवी नित्या अर्थात् उत्पत्ति नाशरहिता हैं, सदा एकरूपा हैं, तथापि अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे जगदादिरूपमें सर्वत्र व्याप्त होकर विद्यमान हो रही हैं। वही हमारी इष्ट हैं, वही गुरु हैं, वही एकमात्र आश्रय हैं।

यह चराचर जगत् ही उनकी मूर्ति है, हमारी माँकी मूर्ति है, और कहाँ हम माँको खोजने जायँ? आँखें खोलकर देखो, वह जगत्में हैं, जगत्के प्रत्येक अणुमें हैं, तुम्हारे 'अहं' के भीतर हैं, सर्वत्र वही एकमात्र प्रकाशित हो रही हैं।

'त्रिभुवन ही माँकी मूर्ति है',—फिरभी यदि हम उनके पास नहीं पहुँच पाते, तो यह हमारी ही असमर्थता, हमारा ही दुर्भाग्य है।

समस्त वस्तुओंमें, नर-नारी, पशु-पत्ती, कीट-पतङ्गमें चित् रूपमें वही जगन्माता प्रकाशित हो रही हैं। उस चिद्रूपाको हम आँखसे न देखते हुए भी उनके कार्योंको देखकर निरन्तर उनका परिचय प्राप्तकर रहे हैं। वह चैतन्य या वह प्रकाश कैसा विलक्षण, कैसा अनिर्वचनीय है! वह चैतन्यमयी माँ ही सर्वत्र सब कुछ बनकर बैठी हुई हैं, उनके शरणमें जाने पर, उनको आत्मसमर्पण करने पर जीवका जीवत्व छूट जाता है। इसीलिए गीता में श्रीभगवान्‌ने कहा है कि 'सब कुछ उनको अर्पण कर दो'—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान करते हो, जो कुछ तपस्या करते हो, वह इस प्रकार करो कि जिससे मुझे समर्पित हो सके। श्रद्धापूर्वक देने पर वह हमारी दी हुई सामान्य वस्तुको भी ग्रहण करते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

भक्तिपूर्वक जो मुझको पत्र, पुष्प, फल और जल प्रदान करता है मैं उस भक्तिसे उपहृत द्रव्यको ग्रहण करता हूँ।

अरे दुःखी जीव! अरे मोह-मुग्ध जीव! देख ले, वह तुम्हारा कौन है।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

सब भूतोंके वह निरपेक्ष उपकारी हैं, सब भूतोंके हृदयेश्वर हैं, सारे कर्मफलोंके एकमात्र अध्यक्ष हैं, समस्त प्रत्ययोंके साक्षीस्वरूप हैं, सर्वलोकके महेश्वर हैं—मुझको इस प्रकार जानकर शान्ति प्राप्त करो।

भगवान्‌का यही स्वरूप है, यही मूर्त्ति है, यह जाने बिना जीवकी मुक्ति कहाँ? यदि कोई कहे कि मेरा मन किसी प्रकारभी उनकी ओर नहीं जाता, मैं क्या करूँ? मेरे लिए कुछ उपाय बतलाओ, तो श्रीभगवान् उनसे कहते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

इसका उपाय योगाभ्यास है अर्थात् भगवत्स्मरण रूप स्वजातीय प्रत्ययका प्रवाह जिससे निरन्तर बना रहे, इसके लिए प्रयत्न करना। अभ्यासके द्वारा ही एकाग्रता आयगी, एकाग्र होने पर ही चित्त अनन्यगामी बनेगा, उस अनन्यगामी चित्तके द्वारा चिन्तन करने पर ही उनकी प्राप्ति होगी।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

अनन्यचित्त होकर जो प्रतिदिन निरन्तर मेरा स्मरण करते हैं उस नित्ययुक्त योगीके लिए मैं अत्यन्त सुलभ हूँ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

अत्यन्त दुराचारशील व्यक्ति भी यदि अनन्य भावसे मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि उसका अध्यवसाय उत्तम है। अतिशय पापी व्यक्ति भी मेरी शरण लेने पर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और नित्य शान्ति प्राप्त करता है। इसमें जो विश्वास नहीं करते अथवा सन्देह करते हैं उनसे तुम बाँह उठाकर निःशङ्क चित्तसे प्रतिज्ञापूर्वक कह सकते हो कि मेरा भक्त कभी नाशको नहीं प्राप्त होता।

वह सर्वव्यापी हैं, निखिल जीवोंके अन्तर्यामी हैं, समस्त जीवोंके प्रियतम आत्मा हैं, हम भक्तिपूर्वक उनकी वस्तु उनको प्रदान करें तो वह अवश्य ही आदरपूर्वक उसे ग्रहण करेंगे। उनको मन ही मन निवेदन करने पर भी वह सब समझ लेते हैं। इतना सहज और कुछ नहीं हो सकता। सर्वत्र ही उनके कान हैं, इसलिए हम जहाँ बैठकर पुकारेंगे वह उसे अवश्य ही सुनेंगे। हम प्रेमाकुल चित्तसे यदि उनको कुछ नैवेद्य समर्पण करेंगे तो वह उसे सादर ग्रहण करेंगे और हमारे लिए कुछ प्रसाद भी छोड़ जायँगे। हमारे व्यथित होनेपर वह प्रेमीके समान हमारी व्यथा छुड़ाने आते हैं। उनकी महिमा अपार है! यह कैसे सम्भव हो सकता है, इस बातको विचार द्वारा सौ जन्मोंमें भी कोई नहीं समझ पाता, पर यह बात सत्य है। अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे, अपनी अघटन-घटना-पटीयसी महाशक्तिके प्रभावसे वह हमारे समान बनकर हमारे पास आकर हमारे दिये हुए उपहारको हाथ बढ़ाकर ले सकते हैं। इसे समझना पड़ेगा, यदि इसे नहीं समझा तो उनको तुमने कुछ भी नहीं समझा। वह जगत्के स्वामी हैं, जगद्बन्धु हैं, वह सबके सर्वस्व हैं—उनको इस प्रकार समझ कर भक्त कृतार्थ हो जाता है।

वह इतने दर्दी, इतने आत्मीय, इतने मधुर हैं, तभी तो आत्माको सभी इतना प्यार करते हैं। उनके जितना हमारे निकट और कोई नहीं है, वह हमारे दुःखसे जितना दुःखी होते हैं उतना और कोई नहीं हो सकता—वह हमारे प्राणोंके प्राण हैं, हमारे जीवन-सर्वस्व हैं। इसीलिए श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको अपना परिचय देते हुए कहा है—

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

मैं ही संसारकी गति हूँ, पोषणकर्त्ता, प्रभु, साक्षी, आश्रय, रक्षक, सुहृद्, स्रष्टा, संहर्त्ता, आधार, लयस्थान, जीवोंकी उत्पत्तिका कारण बीज तथा अविनाशी हूँ ।

इस अविनाशी आत्मा, इस जगत्-प्रभुको अनन्यभक्तिके द्वारा ही जान सकते हैं ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

हे परन्तप अर्जुन ! मेरे प्रति निरतिशय प्रीतिरूपी भक्तिके द्वारा भक्त इस प्रकार मुझको तत्त्वतः जान सकता है, देख सकता है और मुझमें प्रविष्ट हो सकता है ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

मैं जैसा (सर्वव्यापी) तथा जो (सच्चिदानन्द-रूप) हूँ, उस मुझको पराभक्ति (ब्रह्म-ज्ञान) के द्वारा तत्त्वतः जानकर तदनन्तर मुझमें ही प्रवेश करते हैं अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म बन जाते हैं ।

श्रुति कहती है, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' । तथा—

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते ॥ (श्रीमद्भागवत)

श्रीभगवान्में नैष्ठिकी भक्ति होनेपर काम-लोभरूपी रजस्तम भावोंके द्वारा चित्त आविद्ध नहीं होता, उस समय चित्त सत्त्वभावमें स्थित होकर प्रसन्नता प्राप्त करता है । इस प्रकार भगवद्भक्तिके द्वारा भगवान्से मिलन होता है अर्थात् भगवत्स्पर्श होता है । ऐसी स्थितिमें भगवत्तत्त्वविज्ञान अर्थात् ज्ञान, और मुक्तसङ्गत्व अर्थात् वैराग्यकी प्राप्ति होती है ।

गीतामें श्रीभगवान् भक्तका लक्षण बतलाते हैं—

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥

जो सन्तुष्ट हैं, सर्वदा योगसमाहितचित्त हैं, संयमी और दृढ़-निश्चयी हैं तथा मुझमें मन-बुद्धि समर्पित कर चुके हैं, इस प्रकारके मेरे भक्तही मुझको प्रिय हैं ।

वैराग्ययुक्त चित्त हुए बिना कोई सन्तुष्ट नहीं हो सकता, यह वैराग्यभाव योग-समाहित-चित्तमें आता है। आत्मतत्त्वके विषयमें जिनका अध्यवसाय अत्यन्त दृढ़ है और मुझमें जिन्होंने मन-बुद्धिको स्थापित कर दिया है, वह और कहीं नहीं जाते, यही भक्तका लक्षण है। ज्ञानी ही उनका सर्वापेक्षा श्रेष्ठ भक्त होता है। भगवान् गीताके सातवें अध्यायमें कहते हैं—

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

मैं ज्ञानीका अत्यन्त प्रिय हूँ, और वह भी मेरे अत्यन्त प्रिय हैं। ज्ञानीगण देहादिमें अभिमान नहीं रखते, अतएव वे परमात्माके साथ नित्य युक्त हो सकते हैं, और एक वस्तुमें लक्ष्य होनेके कारण वे 'एक-भक्ति' भी हो सकते हैं। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'—ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है अर्थात् मेरा स्वरूप है, मुझसे अभिन्न है, यही मेरा मत है।

अतएव ज्ञानी या भक्त एक ही है, उनकी साधना भी इसी कारण एक ही प्रकारकी होती है। परन्तु जो मन्दाधिकारी हैं उनको समाधि-सिद्ध होना कठिन है। जो वास्तविक ज्ञानी हैं, उनको निर्गुण ब्रह्म या अक्षर ब्रह्मकी उपासना प्रिय होती है, जो भक्त हैं वे भी सगुण उपासनाके सूक्ष्म तत्त्वमें मनोनिवेश करके साधन कर सकते हैं। वे 'मत्कर्मपरम' होकर सब कर्मोंमें, सब चिन्तनोंमें और सब रूपोंमें एक भगवान्को ही समझनेकी चेष्टा करते हैं। इस प्रकार ज्ञानी और योगियोंके समान वे भी संसारको भूल जाते हैं।—'अपनार नाम मोर नाहिं पड़े मने'—अपना नाम भी मुझे याद नहीं आता। भागवतमें कहा है—

यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नाम-रूपे।

परन्तु जो लोग इस प्रकार भावमें तन्मयता नहीं प्राप्त कर सकते, इसका कारण यह है कि अभी उन्होंने भगवान्में ठीक चित्त समर्पण नहीं किया है, वे मन्दाधिकारी हैं। उनके लिए यह व्यवस्था है कि—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्पन्ते सविशेषनिरूपणैः॥

जो मन्दाधिकारी हैं वे निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं कर सकते। अतएव उनको सविशेष या सगुण ब्रह्मकी उपासनाके द्वारा भगवान्की अनुकम्पा प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार सविशेष ब्रह्मका ध्यान और चिन्तन करके अन्तमें निर्विशेष ब्रह्ममें पहुँचा जाता है।

धर्माधर्म आदि कर्म-संस्कार ही जीवका कर्माशय है। यह जब तक रहेगा तब तक अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि क्लेश-समूह कभी नष्ट होना नहीं चाहेंगे। इसी कारण योगदर्शनमें लिखा है—

'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः'—बीजभावमें स्थित क्लेशोंकी वृत्ति जो शोक-मोहादिरूपमें आविर्भूत होती है, वह ध्यानके द्वारा हेय हो सकती है।

ईश्वरमें आत्मसमर्पण या सर्वत्र ब्रह्मदर्शनके लिए जीवकी चेष्टा ही योग प्राप्तिका उपाय है। यही 'योगः कर्म सुकौशलम्'—यही सुकौशल कर्म और क्रियायोग है। इस क्रियायोगके द्वारा ही क्लेश क्षीण होता है और ध्यान प्रगाढ़ होता है, और प्रगाढ़ ध्यानके द्वारा मनकी वृत्ति क्षीण होती है। जब तक मनोवृत्ति है तब तक पाप-क्षय नहीं होता, संशय भी छिन्न नहीं होता, अतएव कोई विदितात्मा भी नहीं बन सकता।

श्रीभगवान् कहते हैं—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

काम-क्रोध-वियुक्त, संयतचित्त, आत्मतत्त्वज्ञ यतियोंको दोनों लोकोंमें ब्रह्म-निर्वाणकी प्राप्ति होती है। योगीकी ब्रह्मनिर्वाण-प्राप्तिके साधनके सम्बन्धमें श्रीधर स्वामी कहते हैं—'तमेव योगं संक्षेपेनाह'। उस योगके विषयमें संक्षेपमें कहते हैं—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥

बाह्य स्पर्श-रूप-रस आदिका चिन्तन करने पर ये भीतर प्रवेश करते हैं, इसी कारण योगी लोग इस प्रकारके चिन्तनका त्याग करते हैं, यानी इनको मनमें प्रवेश नहीं करने देते। चक्षुर्द्वय अर्थात् दृष्टिको भ्रूमध्यमें स्थिर कर नासिकाके भीतर संचरण करनेवाले प्राण और अपान वायुको समानकर अर्थात् उनकी उर्ध्व और अधोगतिका निरोध कर, (जो प्राणायाम द्वारा ही संभव है, अन्य किसी उपायसे नहीं) मोक्षपरायण होकर, जो मुनि इन्द्रिय, मन और बुद्धिको संयममें रखनेवाला और इच्छा-भय-क्रोधसे शून्य है वही सदा मुक्त है अर्थात् जीवित अवस्थामें भी मुक्त है।

क्योंकि विक्षिप्त चित्तमें मुमुक्षुत्व नहीं आता, अतएव उसमें ज्ञान या भक्तिका उदय नहीं होता। इन सारे विघ्नोंके प्रतिकारके लिए अनुद्विग्न चित्तसे योगाभ्यास करना आवश्यक है। उसके अनेक उपायोंका निर्देश भगवान्ने गीतामें किया है। अवश्य ही योगमार्ग बड़ा दुर्गम है, क्योंकि साधक सब विषयोंमें संयमका अभ्यास किये बिना योगफलको प्राप्त नहीं कर सकता। तथापि भीष्मपितामहने राजा युधिष्ठिरसे कहा था कि 'योगमार्गका त्याग कर परिवारके प्रतिपालनके चिन्तनमें लगे रहना कभी कर्त्तव्य नहीं हो सकता।' योगी याज्ञवल्क्य प्राणायामकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

प्राणायामपराः सर्वे प्राणायामपरायणाः।
प्राणायामैर्विशुद्धा ये ते यान्ति परमां गतिम्॥

प्राणायामादृते नान्यत्तारकं नरकादिव ।
संसारार्णवमग्नानां तारकं प्राणसंयमः ॥

प्राणायामपरायण सभी साधक प्राणायामके द्वारा विशुद्ध होकर परमगति प्राप्त करते हैं, प्राणायामके अतिरिक्त नरकसे त्राण करनेवाला और कुछ नहीं। भवसागरमें डूबते हुए व्यक्तिके लिए प्राण-संयम ही संसार-सागरसे तरनेका उपाय है।

गीतामें योगसाधनके सम्बन्धमें बहुतसी बातोंकी आलोचना की गयी है। अतएव यहाँ उन विषयोंका और अधिक उल्लेख नहीं किया जायगा। योग-शास्त्रमें कहा है कि मूलाधार-स्थिता-कुण्डलिनी-शक्ति ही ब्रह्मशक्ति है। यही हमारा जीवन है। इसको वशमें किये बिना ज्ञान-भक्ति प्राप्त करने की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। वह कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मद्वारका अवरोध कर सुखसे निद्राभिभूत पड़ी है, इसी लिए हमारा जीवभाव किसी प्रकार भी नष्ट नहीं हो रहा है, विषयस्पृहा भी शान्त नहीं हो रही है तथा मनकी चंचलता भी दूर नहीं हो रही है—इसी कारण मन अशान्त होकर भटक रहा है। योगाभ्यासके द्वारा इस कुण्डलिनी-शक्तिको चैतन्य कर सकनेसे मनुष्य-जीवन सार्थक हो जाता है। हमारे देशमें दीक्षा-ग्रहण किये हुए सभी लोग अपने इष्ट देवका ध्यान और जप किया करते हैं, परन्तु वे शायद नहीं जानते कि कुण्डलिनी-शक्ति ही उनके स्व स्व इष्टदेवताके रूपमें विराजमान हो रही है।

तामिष्टदेवतारूपां सार्द्धत्रिवलयान्विताम् ।
कोटिसौदामिनीभासां स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिताम् ॥

उसे जाग्रत न कर सकनेसे मन्त्र-यन्त्रकी सारी अर्चना व्यर्थ हो जाती है। तन्त्र में लिखा है—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो ।
तावत्किञ्चिन्न सिध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् ॥
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसंचयैः ।
तदा प्रसादमायाति मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् ॥

मूलाधारस्थित कुण्डलिनी जब तक जाग्रत नहीं होती तब तक मन्त्रजप या यन्त्रार्चन आदिके द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं होता। यदि अनेक पुण्योंके संचयसे वह देवी जाग्रत होती है तो मन्त्र-यन्त्रार्चनादिका फल प्राप्त हो सकता है। अतएव श्रीभगवान्‌की अत्यन्त गुह्य बाणीका पुनः स्मरण करो—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

इस गीतामें जिनकी व्याख्या ही प्रधानतः आलोचित हुई है, उन्होंने इस श्लोकको जो व्याख्या दी है उसे ही उद्धृतकर हम अपनी भूमिका समाप्त करेंगे।

"मुझमें ही मन रक्खो, मेरा ही यजन करो अर्थात् क्रिया करो। नमस्कार करो अर्थात् ॐकारकी क्रिया करो—जो गुरुमुखसे ही जानी जाती है। मैं तुमसे सत्य कह रहा हूँ, तुम मुझको प्राप्त होगे—प्रतिज्ञा करके कहता हूँ क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।"

वास्तवमें यह अंशभूत जीव परमात्माको सर्वापेक्षा प्रिय है क्योंकि जीव ही उनके अत्यन्त समीप है, उनकी सत्तासे सत्तावान हो रहा है। संसारमुखी होकर जो जीव उनसे न जाने कितनी दूर हट गये हैं, उनको फिर उस परमात्मासे युक्त कर देना ही सर्वोच्च पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ से हमको वञ्चित नहीं होना चाहिए। हम जिसे या जिस वस्तुको चाहते हैं उसी ओर हमारा मन टूट पड़ता है। मन भी जब परमात्माके साथ मिलनेके लिए प्राणपनसे चेष्टा करेगा या उनकी ओर अत्यन्त उन्मुख होगा, तभी उनके प्रति हमारी भक्तिकी प्रगाढ़ता सूचित होगी। इस प्रकारकी भक्ति या साधनाके द्वारा ही ज्ञानस्वरूप प्रियस्वरूप प्रियतमस्वरूप परमात्माका सन्निकर्ष प्राप्त होता है। उनकी निकटता जितनी ही अधिक होगी उतना ही उनके साथ योग होगा। प्राणकी चंचलताके कारण मन विक्षिप्त होकर विषयोंमें भ्रमण करता है, इसी कारण उनमें स्थिति-लाभ नहीं किया जा सकता। प्राणायामके द्वारा प्राणकी चंचलता दूर होने पर ही स्थिरता प्राप्त होती है, ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है, मनके स्थिर होते ही मन और बुद्धि उनके साथ एक हो जाते हैं—यही साधन कौशल है। इस साधनके द्वारा साध्य ज्ञान या ज्ञेय पदार्थका परिचय प्राप्त हो जाने पर फिर साधन-ज्ञानकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

हम शास्त्र पढ़कर सामान्य ज्ञानके द्वारा जो सोचते या निश्चय करते हैं वह कुछ भी नहीं है। अपरोक्ष ज्ञानके बिना अन्य सारे ज्ञान तमसाच्छन्न अज्ञान मात्र हैं। अतएव जिस साधनके द्वारा यह अपरोक्षानुभूति प्राप्त होती है उसीकी खोज और साधनामें यत्नशील होना आवश्यक है। योगाभ्यासके द्वारा ही गुह्यतम ज्ञान या मोक्ष की प्राप्ति होती है, यही सब शास्त्रोंका गूढ़ अभिप्राय है। किमधिकमिति।

——— ——

ॐतत्सत्

ॐ नमः श्रीगुरवे ।

ॐ श्रीगणपतये नमः ।

ॐ नमः श्रीभगवते वासुदेवाय ।

अथ श्रीमद्भगवद्गीता प्रारभ्यते ।

पाठक्रमः ।

श्रीहयग्रीवाय नमः ।

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥
नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ २ ॥
व्यासं वशिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम् ।
पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम् ॥ ३ ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे ।
नमो वै ब्रह्मविधये वाशिष्ठाय नमोनमः ॥ ४ ॥
अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः ।
अभाललोचनः शंभुर्भगवान् बादरायणिः ॥ ५ ॥

करादिन्यसः ।—ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य श्रीभगवान् वेदव्यासऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । श्रीकृष्णः परमात्मा देवता । 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इति बीजम् । 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इति शक्तिः । 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' इति कीलकम् । श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थं-पाठे विनियोगः ।

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी मन्त्रमालाके श्रीभगवान् वेदव्यास ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है और श्रीकृष्ण परमात्मा देवता हैं । 'जिनके लिए शोक करनेकी आवश्यकता

नहीं, तुम उनके लिए शोक प्रकट करके आत्माके सम्बन्धमें अपनी अज्ञता प्रकट करते हो, तथा पण्डितोंकी तरह बातें करते हो।' यही इस मालामन्त्रका बीज है। 'सब प्रकारकी धर्माधर्म-अनुष्ठान-विधिकी दासता छोड़कर एकमात्र मेरे ही शरणापन्न होओ', —गीतारूपी मन्त्रमालाकी यही शक्ति है। 'मेरे ऊपर दृढ़ विश्वास कर मुझमें आत्मसमर्पण करने पर मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम शोक मत करना' —यही इस मन्त्रमालाका कीलक अर्थात् आश्रय है। 'भगवान् श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए ही गीताका पाठ किया जाता है'।

श्रीमद्भगवद्गीता मन्त्रमाला—श्रीमद्भगवद्गीता मन्त्रमाला है, इस विषय में मैं यहाँ कुछ आलोचना करना चाहता हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता एक मन्त्ररूपी फूलोंकी माला है। मालामें जिस प्रकार राशि-राशि फूल होते हैं, उसी प्रकार इसमें इतने मन्त्र हैं कि उनकी संख्या नहीं हो सकती। मालाके एक एक फूलमें जैसे अनुपम सौन्दर्य, अनुपम सुगन्ध होती है और वह हमारे चित्तको हर लेती है, उसी प्रकार शोभासे भरे, गन्धसे भरपूर अपूर्व मन्त्रोंकी माला श्रीमद्भगवद्गीता हमारे मन-प्राणको न जाने किस चिरविस्मृत अथच अपने नित्य निकेतन वैकुण्ठधामके अपूर्व द्वारकी ओर ले जाती है, जिसे सोचकर चित्त आनन्दमें उल्लसित हो उठता है।

मन्त्र किसे कहते हैं, क्या शास्त्रमें तुमने इस विषयमें कुछ पढ़ा है? अथवा श्रीगुरुके मुखसे सुननेका कभी सौभाग्य प्राप्त किया है? यदि नहीं सुना है तो मैं संक्षेपमें कहता हूँ, ध्यान देकर सुनते जाओ और मन ही मन प्राणपन से धारण करो। जिसको मनन करनेसे त्राण मिलता है उसे ही मन्त्र कहते हैं। मन्त्र भी एक प्रकारकी वाणी ही है, परन्तु साधारण वाक्योंके समान वे हमको बन्धनमें नहीं डाल देते। हममेंसे अधिकांश लोग वाक्यके द्वारा ही बन्धनमें पड़ते हैं। शिशुकी मधुर तुतलाहटसे लेकर प्रियजनोंके प्रेमपूर्ण आलाप तक सब हमारे चित्त को न जाने कितने सुदृढ़ बन्धनमें जकड़ देते हैं। हमारी चित्त-नदीमें शुभाशुभ भावोंकी न जाने कितनी तरङ्गें निरन्तर उठती रहती हैं, मनके इन विविध भावोंको हम वाक्य द्वारा ही प्रकट करते हैं। और शत्रुता या मित्रता—सब कुछ वाक्यों के द्वारा ही उत्पन्न होती है। सन्देह है कि वाक्यके समान ऐसी महाशक्ति अन्य किसी वस्तुमें है या नहीं। हम संगीतसे मुग्ध हो जाते हैं, वक्तृतासे मुग्ध हो जाते हैं, ग्रन्थ पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं, कहानी सुनकर मुग्ध हो जाते हैं—परन्तु ये सारी मुग्ध-कारिणी शक्तियाँ वाक्यमें ही रहती हैं।

वाक्यका मूल है प्राणशक्ति। हम वाक्य द्वारा बद्ध होकर प्राणको नाना प्रकारके संस्कारोंमें अटका देते हैं। परन्तु यह है वाक्यकी बहिर्मुखी शक्ति। उसकी एक अन्तर्मुखी शक्ति भी है, उसके द्वारा हम बन्धनमें नहीं पड़ते, बल्कि बन्धनसे छूटते हैं। जिस वाक्यमें यह बन्धन-मोचन करनेवाली शक्ति है, उसे ही मन्त्र शब्दसे अभिहित करते हैं।

भगवद्गीताके अनेक श्लोक इस प्रकारकी कैवल्यदायिनी मन्त्रशक्ति द्वारा परिपूर्ण हैं। अतएव भगवद्गीताको मन्त्र-माला कहनेमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं।

उन सारे मन्त्रोंकी दीक्षा है, साधना है। उपयुक्त गुरुके सन्निकट उन मन्त्रोंका साधन-कौशल जानकर साधना करनेसे जीवन कृतार्थ हो जाता है। मन्त्रोंका रहस्य भारतवर्षके सिवा अन्य किसी देशमें उतना परिस्फुट नहीं हुआ है, यही कारण है कि आध्यात्मिक सम्पदमें भारत समस्त विश्वमें सर्वापेक्षा समृद्धिशाली है। बड़े ही दुःखकी बात है कि आज हम विजातीय शिक्षा ग्रहण कर मन्त्रशक्तिका अनादर करना सीख गये हैं। इससे जाना जा सकता है कि हमारा कितना अधःपतन हो गया है। इस मन्त्रशक्तिमें जो अमूल्य अपूर्व कौस्तुभमणि विराजमान है उसका पता न पाकर साधारण लोगोंके समान हम इस महाशक्तिको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना सीख गये हैं, इसका फल यह हो रहा है कि हम निरन्तर दुःखोंकी राशि सिर पर लेकर भिखारीके समान दर-दर भीख माँग रहे हैं। भाइयो, बन्धुओ, एक बार तुम लोग अपने घरकी ओर ताको, देखो तुम कितनी अमूल्य सम्पत्तिके अधिकारी हो। तुम इसे न जानकर आज द्वार द्वार सामान्य वस्तुके लिए भिक्षाकी झोली कन्धे पर रखकर भटक रहे हो! 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः,' हे अमृतके पुत्रो! आज तुम जहाँ जहाँ जिस जिस अवस्थामें हो वहाँसे ही यह आश्वासनकी वाणी सुनो। तुम नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित सामान्य मर्त्यजीवमात्र नहीं हो। जन्म-मृत्युकी विविध लीलाएँ तुम्हारे लिए एकमात्र स्मरणीय नहीं हैं। तुम उनके पुत्र हो, वही हो जिनके द्वारा त्रिभुवन व्याप्त हो रहा है। तुम अजर, अमर, शाश्वत हो, फिर भी तुम क्यों अपनेको मृत्युका ग्रास मानकर अनुशोचना कर रहे हो? एक बार जागकर उठो, एक बार मोहनिद्रा त्याग करो, एक बार अपनी ओर देखो, तुम कौन हो? इससे निखिल विश्वके परम कल्याणको तुम प्राप्त करोगे। अपने स्वधाममें, निजी निकेतनमें प्रवेश कर सकोगे।

ज्ञानी कहते हैं कि जीवका बन्धन-रज्जु उसकी देहात्मबुद्धि है। उस देहात्मबुद्धिके कारण ही जीव चिद्‌विमुख होकर अनन्त दुःखको वरण कर लेता है। उस दुःखसे मुक्ति पानेका उपाय है मन्त्र-साधना। कृपालु ऋषियोंने जीवकी मुक्तिके लिए नाना प्रकारके उपाय खोज निकाले हैं। उसी खोजका परिणाम है मन्त्रशक्तिका सम्यक् ज्ञान। जो महानुभव ध्यान-मग्नचित्तसे मनकी सीमाका अतिक्रमण कर विज्ञानमय और आनन्दमय कोषकी साक्षात्प्राप्ति करते हैं, उनके जगत्-विस्मृत ध्यान-नेत्रके समीप एक एक मन्त्र अपनेको प्रकट कर देता है। जिनको यह मन्त्रशक्ति सर्वप्रथम गृहीत होती है, वही उस मन्त्रके सिद्ध हैं, तथा वही उस मन्त्रके ऋषि या आविष्कारक हैं अर्थात् उस मन्त्रशक्तिके प्रत्यक्षदर्शी पुरुष हैं। 'ऋषि' शब्द ऋष् या दृश् धातुसे निष्पन्न है। ऋष्‌का अर्थ है गमन करना और दृश्‌का अर्थ है दर्शन करना। अतएव ऋषि शब्दके भी दो अर्थ हैं। इन दो अर्थोंके अनुसार ऋषि भी दो प्रकारके होते हैं। (१) जो भोग-वासनाकी उपेक्षा कर भगवत्प्राप्तिके लिए ज्ञानपथमें गमन करते हैं। और (२) जो इस मार्गमें गमन करके सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। आत्मसाक्षात्कार-सम्पन्न या ईश्वरदर्शी पुरुष ही वस्तुतः श्रुतिसिद्ध ऋषि हैं। इस प्रकारके एक एक सिद्ध ऋषि वेद-मन्त्रोंके द्रष्टा हैं।

गीताके ऋषि वेदव्यास—इस गीता-मन्त्रमालाके ऋषि व्यासदेव हैं। वेद-विभाग करनेवाले मुनि-विशेषको व्यास कहते हैं। व्यास किसीका नाम नहीं है, व्यास वेद-विभागकर्त्ता ऋषिकी उपाधि है। प्रत्येक द्वापर युगके अन्तमें मनुष्योंकी आयु और स्मृतिशक्तिका ह्रास देखकर एक एक वेद-विभागकर्त्ता व्यास भगवदंशमें जन्म ग्रहण करते हैं। हमने जिस कलियुगमें जन्म लिया है, इसके पूर्वके द्वापरके अन्तमें भी एक वेद-विभागकर्त्ता अतिमानव पुरुषने जन्म लिया था, उनका नाम था कृष्णद्वैपायन व्यास। उनके पिता सुप्रसिद्ध पराशर ऋषिने भी एक बार व्यास होकर वेदका विभाग किया था। परन्तु जान पड़ता है कि कृष्णद्वैपायनके समान व्यास और कभी पैदा नहीं हुए। वह जिस प्रकार तपमें अद्वितीय थे, वैसेही ज्ञानमें भी थे। केवल इतना ही नहीं, बल्कि इतने बड़े योगी, इतने बड़े भक्त, इतने बड़े दार्शनिक पण्डित और कवि भारतमें कभी पैदा नहीं हुए। दर्शनमें, विज्ञानमें, काव्यमें, धर्मशास्त्रमें, इतिहासमें, जहाँ ही उन्होंने हाथ डाला, वहाँ ही सोनेमें सुगन्ध उपस्थित कर दिया। भारतवर्षमें आज जो कुछ गौरवकी बात है वह सब हमने उस विश्वविख्यात ऋषि कृष्णद्वैपायनके प्रसादसे प्राप्त किया है। वेदान्तदर्शन, महाभारत और विविध पुराण उनकी ही रचना है। इसीसे जान पड़ता है कि श्रीभगवानने भी जगत्को बतला दिया है कि मुनियोंमें उनकी सर्वश्रेष्ठ प्रकाशमान विभूति व्यासमें ही विद्यमान है—'मुनीनामप्यहं व्यासः'। श्रीमद्भागवतमें महर्षि कृष्णद्वैपायन भगवान्के अवतार माने गये हैं। वह जिस कुलमें आविर्भूत हुए थे, वह कुल ज्ञान और योगमें अति प्रसिद्ध, यही क्यों, अद्वितीय भी था। जगत्पूज्य महर्षि वशिष्ठ ही इनके आदि पुरुष थे। आदिदेव भगवान् ब्रह्माने जीव और जगत्की उन्नतिके लिए अनेक असाधारणशक्ति-सम्पन्न मानसपुत्रोंकी सृष्टि की। उन मानस पुत्रोंमें प्रचेता, दक्ष, पुलस्त्य आदि प्रजापति थे। प्रजाकी सृष्टि तथा उनके देख-रेखकी व्यवस्था प्रजापतियोंके हाथ सौंपी गयी थी। प्रजाकी सृष्टिके द्वारा संसार बढ़ा, विराट् विश्वके विपुल कार्य सुचारु रूपसे चलने लगे, परन्तु विश्वका कार्यकलाप सुचारु रूपसे चलनेसे ही काम नहीं चल सकता, संसार और विश्वकार्यको चलाते चलाते देव और मानवोंके चित्त संसारासक्त होकर कलुषित होने लगे, तथा साथ साथ त्रितापकी ज्वाला भी बढ़ चली, अब चिन्ता होने लगी कि इस त्रिताप-ज्वालाके निवारणका उपाय क्या है? आधि-व्याधि-जन्म-मरणबहुल आवागमनके मार्गको रोकनेका क्या उपाय है? केवल खाद्य, ऐश्वर्य-भोग और समृद्धिके द्वारा जीवका मन शान्त नहीं किया जा सकता, उसे दूसरी सम्पद्की भी आवश्यकता होती है, जिसे पाये बिना जीवका हाहाकार, शोकादि बन्द नहीं हो सकता। उसी सम्पद्के लिए जीवका प्राण अत्यन्त व्याकुल है, अत्यन्त कातर है! तृषित जीवकी तृष्णाको दूर करनेके लिए, भीतिसे सन्त्रस्त जीवको अभयदान देनेके लिए, मरणशील जीवको अमृतका पता बतानेके लिए जगत्के आदि पुरुष भगवान् पितामह ब्रह्माने दो और मानसपुत्रोंकी सृष्टि की। उन दोनोंने ही जगत्के जीवोंको मुक्ति-मार्ग, परमानन्दका मार्ग दिखला दिया। उनमें एकका नाम वशिष्ठ और दूसरेका नाम नारद था। सुप्रसिद्ध महर्षि वशिष्ठजीने ही जगत्को सर्व प्रथम ब्रह्मज्ञानका उपदेश प्रदान

कर जीवकी मुक्तिका मार्ग खोल दिया। आओ, हम ज्ञान-गुरु वशिष्ठजीको पुनः पुनः साष्टाङ्ग प्रणिपात करें। महर्षि वशिष्ठजीके ही कुलमें अद्वितीय ब्रह्मवेत्ता, भक्ति और प्रेमके अपूर्व स्रोत, जगत् और जीवके परमोपकारी बन्धु श्रीकृष्णाद्वैपायनने जन्म लिया था। वशिष्ठके पुत्र महर्षि शक्ति थे, शक्तिके पुत्र जन्मजात सिद्ध पराशर, और पराशरके पुत्र निखिल भुवनके वरेण्य श्रीकृष्णाद्वैपायन व्यास हुए।

षड्ऐश्वर्यशाली, त्रिकालज्ञ महर्षि व्यास गीतारूपी मालिकाके मालाकार हैं। हिमालयमें बदरीनारायणके सन्निकट व्यासकी तपश्चर्याका स्थान लोग आज भी दिखलाते हैं। बदरी-विशालके समान ही उस विशाल उत्तुङ्ग हिमवर्षी पर्वत-मालाके बीचमें महर्षिकी तपोभूमि आज भी मनुष्य के चित्तको विस्मित कर देती है। प्रकृतिके विशाल गाम्भीर्यपूर्ण उस निर्जन स्थानमें महर्षिके तपःपूत विशाल हृदयक्षेत्रमें सर्वप्रथम उस विराट् पुरुषोत्तमका प्रतिबिम्ब पड़ा, और ज्ञानालोकसे उनके हृदयस्थानको उद्भासित कर दिया। अति दुष्कर तपके प्रभावसेउनके हृदयमें ज्ञानालोक प्रज्वलित हो उठा, द्वैधभाव मिट गया और सन्देह नाममात्रको भी नहीं रहा, जीवकी चरम सार्थकताको प्राप्तकर वह कृतकृत्य हो उठे, और जगत्के कल्याणकी चिन्तासे उनका दयार्द्र हृदय व्याकुल हो उठा। यही चिन्ता वेद व्यासके हृदयको पूर्णतः अधिकृत कर बैठी। महर्षि सोचने लगे कि जगत्का कल्याण किस प्रकार होगा।

ब्रह्मनदी सरस्वतीके पश्चिमतीर, वेद-मन्त्रोंसे मुखरित और शिष्योंसे परिवेष्ठित व्यासजीका एक और प्रसिद्ध आश्रम था, उनका नाम था सम्याप्राश आश्रम। वहाँभी बदरी वृक्षोंके द्वारा आश्रम शोभित है। अनेक शिष्योंसे परिवेष्टित व्यासजी वहाँ गम्भीर ध्यानमें मग्न रहते थे, और समय समय पर शिष्योंको शास्त्र और ज्ञानोपदेश द्वारा कृतार्थ करते थे। वहाँ ही नारदके साथ व्यासजीका सम्मिलन हुआ, मानो मणि-काञ्चन संयोग उपस्थित हो गया। जगत् और जीवको कृतार्थ करनेके लिए मानो दो महापुरुष एकत्रित हुए। एक दिन व्यासजी जीवोंके कल्याण-चिन्तनमें रत थे। यद्यपि जीवोंके उपकारार्थ उन्होंने बहुतसे ग्रन्थ रचे थे, वेदादि शास्त्रोंका मन्थनकर महाभारतकी रचना की थी, उपनिषदोंके तत्त्वोंका समन्वय कर एक अलौकिक दर्शनशास्त्रका प्रणयन किया था, तथापि वह सोच रहे थे कि जगत्के लिए औरभी कुछ करनेसे ठीक होता, जो कुछ किया गया है वह पर्याप्त नहीं है। इस भावनासे जब वह व्याकुल हो रहे थे, ठीक उसी समय व्यासके आश्रममें महानुभव देवर्षि नारद आकर समुपस्थित हो गये। वह व्यासजीको कुछ व्यथित और विषण्ण देखकर बोले—

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मनः।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा॥
जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम्।
कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम्॥
जिज्ञासितमधीतञ्च ब्रह्म यत्तत् सनातनम्।
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो॥

हे महाभाग, पराशर-पुत्र ! आपका शरीर, मन और आत्मा (स्थूल शरीर और मन) खूब आनन्दपूर्वक है न? आपने धर्मके यथार्थ तत्त्वको जाननेके लिए उत्सुक होकर जिज्ञासा की थी और उसे भलीभाँति जान भी लिया। केवल युक्ति और तर्कसे ही नहीं जाना है, बल्कि साधनके द्वारा सारे तत्त्वोंका साक्षात्कार किया है। क्योंकि आपने सब प्रकारके ज्ञातव्य तथ्योंसे भरपूर चतुर्विध पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाला महाभारत नामक अद्भुत और अनुपम ग्रन्थ रचा है। आपने अपनी प्रतिभाके प्रभावसे नित्य सत्य ब्रह्मके सम्बन्धमें विचार किया है, तथा स्वयं ब्रह्मस्वरूपका अनुभव करके अतिसुन्दर युक्तिके साथ लोगोंको समझा दिया है। ब्रह्मज्ञान-प्राप्त जीव कृतार्थ हो जाता है; उसे और कुछ जानना शेष नहीं रहता; तथापि जान पड़ता है कि आप अपनेको अकृतार्थ समझकर विषादको प्राप्त हो रहे हैं। इसका कारण क्या है? यह सुनकर व्यासजी बोले—"आपने ठीक ही समझा है, मैंने बहुत तपस्या की है, अनेक शास्त्रोंका अनुशीलन किया है, परन्तु—"तथापि नात्मा परितुष्यतेमे"—प्राण मेरे ठीक भर नहीं रहे हैं, मुझमें कहीं मानो कुछ त्रुटि रह गयी है। आपका ज्ञान अगाध है, सबके भीतरकी बात भी आप जानते हैं, अत्यन्त गूढ़ विषयोंका अनुभव करनेमें आप समर्थ हैं, आप बतलाइये कि मेरी अशान्तिका कारण क्या है? और उसको दूर करनेका क्या उपाय है? मैं स्वयं बहुत कुछ सोचने पर भी कोई ठीक सिद्धान्त निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ।

नारदने उनकी त्रुटि दिखला दी तथा उसके शोधनके उपाय भी बतला दिये। श्रीनारदजीने उनको उपदेश दिया कि वह एक ऐसा ग्रन्थ लिखें जिसमें भक्ति और ज्ञानके समन्वय-साधनके द्वारा जीवको शीघ्र ही भवरोगसे मुक्त करने का मार्ग दिखलाया जाय। निश्चय ही व्यासजीको स्वयं इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वह तो स्वयं ही भगवान्‌के अंश, चिरमुक्त और विज्ञानस्वभाव थे। परन्तु जिनके कल्याणके लिए उन्होंने शास्त्र-रचना की थी, उनका ही कल्याण नहीं हुआ तो उस शास्त्रप्रणयनसे क्या? जीवका पुरुषार्थ होता है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चतुर्वर्गोंकी प्राप्ति। इनमेंभी मोक्ष परम पुरुषार्थ है। सर्वसाधारणके लिए मोक्ष प्राप्त करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि इन्द्रियाराम जीव किसी मूल्य पर कामोपभोगकी उपेक्षा नहीं कर सकता—अतएव वैराग्यविहीन जीव मोक्षके लिए चेष्टा कैसे करेगा? पहले तो साधारण जीवको मुक्ति-मार्गमें चलने की इच्छा ही नहीं उत्पन्न होती। यदि किसी प्रकारसे इच्छाभी होती है तो साधन-मार्ग इतना कठिन है कि उस पर जानेके लिए वैसा उत्साह ही नहीं उत्पन्न होता। यदि उत्साहका भी अभाव न हो, तथापि मार्ग इतना सूक्ष्म और फिसलनेवाला है कि गम्य स्थान सहज ही दृष्टिगोचर नहीं होता, और दृष्टिगोचर होने परभी मार्गकी दुर्गमताके कारण पद-पद पर पैर लड़खड़ाता है। यही कारण है कि इस पथके यात्रियोंकी संख्या कभी अधिक होते नहीं देखी गयी। फिर उपाय क्या है? किस प्रकारसे मार्गको सहज और सर्वगम्य बनाया जाय? भक्तकवि तुलसी-दासजी कहते हैं—

जीव हृदय तम मोह बिसेखी। ग्रन्थि छूटि किमि परइ न देखी ॥

जीवका हृदय सदा मोहान्धकारसे ढँका रहता है, उस अन्धकारमें बन्धनकी ग्रन्थि दीख नहीं पड़ती। अतएव जो दीखता ही नहीं, वह खुले कैसे ? अर्थात् मोहासक्त जीव सदा विषय-व्यसनमें इतना मोहमुग्ध रहता है कि उसकी तत्त्वदर्शी बुद्धि खुलती ही नहीं, वह बन्धनको बन्धनरूप समझ नहीं पाता। अतः बन्धनसे मुक्त होनेके लिए प्रबल आग्रह कहाँसे आवे ?

यह तो मैं कह नहीं सकता कि कब पुण्यपुञ्ज सञ्चित होगा और कब साधु पुरुष और सद्गुरुका दर्शन प्राप्त होगा। उनकी कृपाके बिना तो ज्ञान-प्राप्ति न होगी, और ज्ञानप्राप्ति हुए बिना अविद्याका प्रबल अन्धकार दूर न होगा। अतएव,

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचण्डा ॥

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेदभ्रम नासा ॥

चित्तकी अनेक वृत्तियाँ हैं, नाना प्रकारकी वृत्तियोंके रहते हुए भला निस्तार कैसे हो सकता है ? 'सोऽहमस्मि' यह वृत्ति जब अखण्ड भावसे प्रवाहित होती है तब तत्त्वज्ञानका दीप जल उठता है और उस ज्ञानदीपकी उज्ज्वल अमल किरणोंमें आत्मस्वरूपका बोध हो जाता है। उस बोधके साथ अनन्त आनन्दका विकास होता है और तभी संसारके मूलकारण भेद और भ्रम सदाके लिए मिट जाते हैं। परन्तु इस मार्गके विषयमें—

कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक ॥

ज्ञानके विषयमें आलोचना करना कठिन है, क्योंकि इसके लिए अनेक शास्त्रों का ज्ञान होना आवश्यक है, और बुद्धिमें यदि इस प्रकारके वेदोज्ज्वल प्रकाशका अभाव है, तब वह ज्ञान ठीक ठीक मस्तिष्कमें न घुसेगा। ब्रह्मचर्य और तपस्याका बल यदि न हो तो समझमें आने पर भी वह धारण नहीं किया जा सकेगा। यदि घुनाक्षर न्यायके समान कुछ हो भी जायगा तो उसमें बहुतसे विघ्न आ जायँगे। और मनमें लोभ उत्पन्न होगा कि बहुतसे लोग मुझको मानें, मुझे प्रतिष्ठा मिले। अहङ्कारकी वृद्धि होगी। और बहुतसे लोग मुझे मानें, इसके लिए असीम स्पर्द्धा उठ खड़ी होगी। और अन्तमें लोगोंको धोखा देकर जीवन निर्वाह करना पड़ेगा।

अतएव भगवत्प्राप्तिके मार्गको सुगम करनेके लिए भक्तिकी आवश्यकता है। दान, तीर्थाटन और सत्सङ्ग करते करते भगवत्प्राप्तिकी इच्छा बलवती होती है। क्रमशः आत्मसंयम और साधन-पथपर चलनेके लिए अभ्यास करनेका मनमें आग्रह बढ़ता है। इस प्रकार शनैः शनैः चित्तनिरोध करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। परन्तु उससे प्राणको तृप्ति नहीं मिलती। मानो और कुछ पाना है जिसे न पाकर वह वेदना-विद्ध हृदयसे रोता रहता है। जितना ही साधुसङ्ग करता है, जितनी ही सत्कथा श्रवण करता है, जितना ही ध्यान-धारणामें मन लगाता है, उतनी ही मानो हृदयकी व्याकुलता, भगवानको पानेकी आशा बढ़ती चलती है। अन्तमें हृदय जलकर भस्म हो

जाता है। अग्नि-दग्ध स्थानमें जिस प्रकार तृणादि उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार भगवद्-विरह-दग्ध हृदयमें फिर प्रवृत्तिके संस्कार जमने नहीं पाते। उस अवस्थामें यदि कभी पूर्व संस्कार जाग उठते हैं तो वह जागते ही भगवद्-विरहानलमें भस्मीभूत हो जाते हैं। वह विरह-ताप बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है कि सहनकी सीमाके बाहर चला जाता है। तब भक्तके आसन्न विनाशको देखकर भक्तके भगवान्, दीन आर्त्तके बन्धु उस दीन आर्त्त भक्तके सम्मुख आ उपस्थित होते हैं और अपने अपरूप रूपकी कमनीय प्रभासे, अपने भुवनमोहन मधुर हास्यसे भक्तकी अन्तर्व्यथाको मिटाकर चिरकालके लिए भक्तके भवबन्धनको दूर कर देते हैं और उसको अभयदान कर कृतार्थ करते हैं।

कबीरने कहा है—'बिरहिन जलती देखिके साईं आवे धाइ।' यही भक्ति है। इस भक्तिके द्वारा ही चित्तको प्रसन्नता प्राप्त होती है। प्रसन्न चित्तसे भगवत्साधना करना क्लेशकर नहीं होता; योगाभ्यासमें चित्त सहज ही स्थिर और शुद्ध हो जाता है। शुद्धचित्तमें विषयभोगकी स्पृहा नहीं होती। उसी समय आध्यात्मिक निर्मल बुद्धि प्रतिष्ठित हो सकती है। भागवतमें लिखा है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते॥

भगवद्भक्ति और योगाभ्यासके द्वारा मन आसक्ति रहित होकर प्रसन्न होता है। प्रसन्न चित्तमें ही तत्त्वज्ञानका उदय होता है। अतएव भगवत्तत्त्वको जाननेके लिए मध्यम और निकृष्ट अधिकारियोंको भगवद्भक्ति अत्यन्त ही आवश्यक है। श्रीमद्भागवतमें पुनः लिखा है—'अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।" भगवद्भक्तिके द्वारा ही अनर्थका उपशम होता है। माया-मोहित जीव देहको ही अपना स्वरूप समझता है। देहात्मबोधसे ही कर्तृत्वाभिमान तथा देह, गृह, पुत्र धनादिके प्रति अत्यधिक प्रीति और आसक्ति बढ़ती है। जीवकी इस प्रकारकी धारणा ही भ्रमसङ्कुल और अनर्थोत्पादक है। इससे मायामुग्ध चित्त स्त्री-पुत्र, धनादिको ही उपादेय समझ लेता है, और यदि कभी-कभी मायाजालको समझ भी लेता है तो मनको विषयचिन्तनसे निवृत्त नहीं कर पाता। परन्तु जीवको समझना होगा कि धर्म, अर्थ और कामका भी अन्तिम उद्देश्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति है। उस चरम फल मोक्षकी प्राप्तिके लिए सबको प्रयत्न करना आवश्यक है। ऐसा न कर जो केवल संसार और भोग लेकर मस्त रहते हैं या पशुके समान जीवन व्यतीत करते हैं, उनको अन्त तक कुछ प्राप्त नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

धर्मस्य ह्यपवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामोलाभाय हि स्मृतः॥
कायस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥

धर्म मोक्षपर्यन्त विस्तृत है अर्थात् धर्मसाधनाका चरम लक्ष्य है मोक्ष। यदि धर्मसाधनाके फलस्वरूप स्वर्गकी प्राप्ति अथवा धन-धान्यादि ऐहिक सुखकी प्राप्ति ही होती है, मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, तो समझना चाहिए कि धर्माचरणका यथार्थ फल प्राप्त नहीं हुआ। इसी प्रकार अर्थ-प्राप्तिके लिए जो साधना की जाती है उसका एकमात्र लक्ष्य धर्म है, यदि अर्थके द्वारा धर्मलाभ नहीं हुआ, केवल इन्द्रिय-सुखकी प्राप्ति हुई तो उस प्राप्तिको प्राप्ति नहीं माना जा सकता। और जब काम्यवस्तुकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न किया जाय और उससे केवल इन्द्रियतृप्ति अर्थात् भोग-सुख मात्र प्राप्त हो तो उस लाभको लाभ (न स्मृतः) नहीं समझा जा सकता। इसका कारण यह है कि जब तक जीवन है तब तक ब्रह्मजिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपका अनुभव करनेका आग्रह ही जीवनका यथार्थ उद्देश्य है। अतएव ब्रह्मस्वरूपका अनुभव कैसे हो, यह कामना ही जीवनकी सर्वश्रेष्ठ कामना होनी चाहिए। 'काम'का वास्तविक अर्थ इन्द्रिय सुख-भोगकी प्राप्ति करना ठीक नहीं है। इस संसारमें कर्मोंद्वारा जो अर्थ, स्वर्ग और धन आदि प्राप्त होते हैं—सकाम अनुष्ठानके द्वारा पाये जाते हैं—वे सब भोगसुख 'त्रिवर्ग-साधन'का प्रकृत अर्थ यानी यथार्थ फल नहीं हैं, अतएव तत्त्व-जिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मस्वरूपके अनुभवकी कामनाही 'काम' का यथार्थ लक्ष्य है। जिस प्रकार धर्मका चरम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति है उसी प्रकार अर्थका चरम लक्ष्य धर्मकी प्राप्ति है। और अर्थका चरम लक्ष्य जैसे धर्मकी प्राप्ति है उसी प्रकार कामका चरम लक्ष्य अर्थ-प्राप्ति अर्थात् अन्ततः धर्म-प्राप्ति है। इसी प्रकार धर्मका जब चरम लक्ष्य मोक्ष है तो अर्थ और कामका भी चरम लक्ष्य मोक्ष ही हुआ—यही भावार्थ निकलता है।

इसलिए जीवनके यथार्थ उद्देश्यको सम्यक् रूपसे निश्चय करके उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है। इस प्रकारके पुरुषार्थके प्रयत्नसे ही मनुष्य-जीवनके लक्ष्यकी ओर अग्रसर हुआ जा सकता है—भगवद्गीतामें इसी विषयकी पुनः पुनः आलोचना की गयी है।

सौभाग्यवश यदि जीव भगवद्भक्ति प्राप्तकर भगवान्‌को प्रिय बोध करने लगे तो सर्वदा स्मरण-मननके लिए चेष्टा करेगा और उसके द्वारा भगवान्‌के साथ वह योगयुक्त हो जायगा। उस योगयुक्त अवस्थामें ही अविद्याका उपशम हो जायगा और साथ ही सारे अनर्थोंकी निवृत्ति हो जायगी। और अनर्थकी निवृत्तिसे ही शुद्धा भक्ति या आत्मज्ञानका उदय होता है।

गीताका छन्द अनुष्टुप्—अब छन्दके बारेमें दो-एक बात कहूँगा। 'छन्द' का अर्थ है दीप्ति पाना या आनन्द करना। पद्यबन्ध या पद्यकी जातिको भी छन्द कहते हैं। पद्यकी विभिन्न आकृति छन्द द्वारा ही प्रकट होती है और उसके द्वारा मनको भी विशेष आनन्द मिलता है। भाषामें यह आनन्द या रस न हो तो वह कविता न होगी। मनके विभिन्न भावोंको भाषामें व्यक्त करते समय हम विभिन्न छन्दोंमें वाक्य रचना करते हैं। उस समय छन्दके ताल-ताल पर एक ऐसा स्पन्दन होता है जिससे हमारी तदनुकूल मनोवृत्तियाँ भी स्पन्दित हो उठती हैं। जो मनमें

बीजावस्थामें रहता है, वह (बीज) जब प्रकाशोन्मुख होता है तभी उसकी गतिका हम अनुभव करते हैं, वह गति ही छन्द है। कार्य-कारणका व्यतिक्रम होने पर छन्द शुद्धावस्थामें प्रकाशित नहीं हो सकता। हम स्वेच्छानुसार बहुधा काव्य-रचना करते हैं, परन्तु कभी कभी उसमें भावशुद्धिका अभाव हो जाता है, और तब आकारमें कविता होने पर भी वह यथार्थ कविता नहीं होती। कविता तभी सत्य होती है जब हम एक विशेष भावसे अनुप्राणित होते हैं; और जब उस अनुप्राणन-क्रियाको हम भाषामें व्यक्त करना चाहते हैं, तब तदनुकूल छन्द भी अपने आप स्फुटित हो उठते हैं। छन्द वस्तुतः एक अद्भुत शक्ति है। युद्धके समय बाजे भी छन्दमें बजते हैं और उसके श्रवण मात्रसे योद्धाओंके सोये हुए मनोवेग जाग उठते हैं, फलतः उनका हृदय युद्धके लिए नाच उठता है। युद्धमें मृत्यु हो सकती है, यह भय उस समय उनके हृदयसे दूर हो जाता है। इसी प्रकार प्रभातमें भैरवी रागिनी सुनने पर मनुष्यका चित्त स्वयं अज्ञात अलक्ष्यकी ओर दौड़ लगाना चाहता है, न जाने कौनसा अभाव, कौनसी विरह-व्यथा चित्तको आकुल कर देती है, सारा चित्त वेदनासे भर जाता है। इसी प्रकार विहाग राग निर्जन गम्भीर रात्रिमें सुनने पर श्रोताके हृदयमें एक अननुभूत व्यथा जाग उठती है, न जाने किस के लिए चित्त बिलख बिलख कर रो उठता है।

हमारे अन्तःकरणमें भी अनेक वृत्तियाँ सुप्तावस्थामें पड़ी रहती हैं। सुर, तान और लयके द्वारा उनको प्रबुद्ध किया जाता है। संगीतके सुर तान और लयके द्वारा जिस प्रकार अन्तःकरणकी सुप्त वृत्तियाँ जागृत हो सकती हैं, उसी प्रकार वेदके छन्द सोयी हुई आध्यात्मिक वृत्तियोंको जगा दे सकते हैं। वेदमें बहुतसे छन्द हैं और उन छन्दों या सुरोंमें एक एक अज्ञात सुप्त शक्तिको जगा देनेकी प्रचेष्टा रहती है। जब तक अन्तःकरणके सुप्त भाव स्फुटित नहीं होते तब तक साधना सफल नहीं होती। यही कारण है कि समस्त साधनाओं के मन्त्र एक एक भावको प्रस्फुटित करनेकी प्रक्रिया या छन्द मात्र हैं। अवश्य ही बाहरसे देखने पर सारे छन्द कुछ अक्षरोंकी योजना मात्र जान पड़ते हैं। हम इन छन्दोंके साथ ही विशेष परिचित हैं। परन्तु अन्तर-राज्यमें भी इसी प्रकार नाना छन्दोंकी क्रिया होती है। उदाहरणार्थ गायत्री छन्दको लीजिए। बाहरसे देखने पर यह छः अक्षरों का वैदिक छन्द विशेष है, परन्तु इसकी आध्यात्मिक शक्ति है—'गायन्तं त्रायसे यस्मात् गायत्री त्वं ततः स्मृता' अर्थात् जो गान या अंतःस्फुरित शक्ति उपासकको भवबन्धनसे मुक्त करती है, वही गायत्री छन्द है। इसी प्रकार अनुष्टुप् छन्द भी भवमोचन-कारिणी शक्ति विशेष है। सप्त व्याहृतियोंके द्वारा जिस प्रकार गायत्री छन्द को अधिकृत किया जाता है, उसी प्रकार अनुष्टुप् छन्दकी भी साधना है। अनुष्टुप्का अर्थ है सरस्वती या विद्यारूपिणी शक्ति अर्थात् वह ज्ञान जिसके उदय होने पर भवबन्धन छूट जाता है। अनु + स्तुभ् धातुका अर्थ है स्तब्ध होना। इस गीतामन्त्रमालाका छन्द है स्तब्ध होना। अर्थात् साधन-बलसे जब शक्ति स्फुरित होती है तो मन बाह्य विषयोंसे उपराम प्राप्त हो जाता है, वह अन्तर्मुखी होकर जगत्को भूल जाता है—इसी स्वरमें, इसी छन्दमें भगवद्गीता

प्रणीत हुई है। अतएव गीता सारे शास्त्रोंका निचोड़, मोक्षप्रद और जीवोंका महा कल्याण साधन करने वाला मन्त्र है।

गीताके देवता श्रीकृष्ण परमात्मा—श्रीकृष्ण परमात्मा गीतामन्त्रमालाके देवता हैं। देवताको समझकर उसका चिन्तन नहीं किया गया तो मन्त्र चैतन्य न होगा। श्रीकृष्ण किसीके कल्पित देवता नहीं हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्मवाचक शब्द है, अतएव श्रीकृष्ण परमात्माके वाचक, परब्रह्म, स्वयं भगवान् हैं। मूढ़ लोग उनको 'मानुषीतनुमाश्रित' समझ कर उनकी अवज्ञा करते हैं, वे उनको ठीक समझ नहीं पाते। अनेक महापुरुषोंने मनुष्यदेह धारण किया है, साधारण दृष्टिसे वह सामान्य पुरुष ही जान पड़ते हैं, परन्तु यह हमारी बुद्धिमें नहीं आता कि मनुष्य-देहको कोई अतिमानव पुरुष आश्रय किये बैठा है। मायातीत पुरुषको जाननेके लिए आवश्यक है कि हम प्राकृत गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लें; अन्यथा उनको जाननेका कोई अन्य उपाय नहीं है। अर्जुनके पास श्रीकृष्ण कितने दिनों तक रहे, अर्जुनने उनको कितनी बार देखा, उनके साथ कितनी बार बातें की, तथापि श्रीभगवान्ने अर्जुनसे कहा कि तुम मुझको देखते नहीं हो; केवल इतना ही नहीं, यह भी कहा कि मुझको देखनेकी शक्ति भी तुममें नहीं है। इससे जान पड़ता है कि उनको देखनेके लिए सबको अर्जुनके समान दिव्यदृष्टि प्राप्त करनी होगी। दिव्यदृष्टि प्राप्त होने पर समझमें आ जायगा कि—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत्।

वह देवता एक अद्वितीय, सब भूतोंमें गूढ़भावसे अवस्थित है, वह सर्वव्यापी और सबका अन्तरात्मा है, समस्त कर्मोंका नेता, सब भूतोंका आश्रय, साक्षीमात्र, चेतयिता और सब प्रकारसे गुणसम्बन्ध-शून्य है।

कृष्ण, ब्रह्म या परमात्मा सब एकके ही निर्देशक हैं।

परमात्मा परब्रह्म निर्गुणं प्रकृतेः परः।
कारणं कारणानाञ्च श्रीकृष्णो भगवान् स्वयम् ॥

'कृष्ण' शब्दसे शास्त्रोंमें परब्रह्म परमात्माका ही बोध होता है। 'कृष्ण' शब्द ब्रह्मवाचक क्यों है? कृष्ण शब्द कृष् धातुसे बना है। कृष्का अर्थ है आकर्षण करना। जो जीवको आकर्षण करते हैं। किधर आकर्षण करते हैं? अपनी ही ओर जीवको खींच लेना उनका स्वभाव है। साधारणतः जीव विषयोंकी ओर अत्यन्त आकृष्ट होता है। जीवका मन क्षण भर भी विषय-त्याग कर नहीं रह सकता। तो क्या जीव किसी एक ही विषयमें बहुत समय तक रह सकता है? उसका मन क्षण क्षणमें एक विषयसे दूसरे विषयकी ओर दौड़ता रहता है। इस प्रकार चञ्चल और विक्षिप्त स्वभाव होनेके कारण वह व्यभिचारिणी स्त्रीके समान पतित है। इस प्रकार विषयमें विक्षिप्त, पतित मनको जो अपने चरण-प्रान्तकी ओर खींचकर पवित्र करते हैं, कलुष-पङ्कसे उद्धार

करते हैं, वही सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण हैं। अब एक बार विचारकर देखो कि हमारा मन इतना चंचल क्यों है ? किसके लिए है ? शान्तिपूर्वक थोड़ा विचार करने पर यह समझमें आ जायगा कि आनन्द पानेके लिए ही मन एक विषयसे दूसरेमें घूमता रहता है। आनन्द ही मनका उपभोग्य है, वही उसकी एकमात्र लोभनीय वस्तु है। आनन्द पानेकी आशासे ही वह अस्थिर होकर जहाँ तहाँ ठोकरें खाता फिरता है। मन आनन्दकी खोजमें भटकता तो है, पर उसे कहीं वह आनन्द नहीं मिलता जिसे पाकर सदाके लिए तृप्त हो जाय और कह सके कि 'मैं तृप्त हो गया, पूर्णकाम हो गया, आनन्दमें डूब गया, मैं और कुछ नहीं चाहता।' शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिमें वह वस्तुतः कुछ आनन्द पाता है, परन्तु वह आनन्द बहुत ही कम है, क्षणस्थायी है, हमारे मनको वह सदाके लिए तृप्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि अतृप्त मन पुनः पुनः लोभातुरके समान विषयोंमें आकृष्ट होता है। मनमें अनुमान होता है कि इस बार उस परमानन्दकी साक्षात् प्राप्ति होगी, इस बार मैं आनन्दके अतल तलमें निमग्न हो जाऊँगा और फिर वहाँसे उठना न पड़ेगा। परन्तु उसकी सारी कल्पनाएँ कल्पना-मात्र रह जाती हैं और उसके भाग्यमें परमानन्दका स्पर्श भी नहीं घटित होता। बाह्य विषयोंको प्राप्तकर वह उत्फुल्ल होकर, आशान्वित होकर भोग करनेकी आशासे उनकी ओर दौड़ पड़ता तो है, पर दूसरे ही क्षण उसकी आशा भङ्ग हो जाती है, वह भोग करते करते समझने लगता है कि जो वस्तु वह खोज रहा था, जिस आशासे वह निकला था वह परमानन्द उसमें नहीं है, तनिक भी नहीं है। तब वह लम्बी साँस छोड़कर उसे छोड़ देता है और दूसरी वस्तुकी ओर चल पड़ता है। इस प्रकार जीवन भर दौड़-धूप करने पर भी वह प्रकृत वस्तुको प्राप्त नहीं कर पाता, केवल क्लान्तिसे उसके मन-प्राण अवसन्न हो जाते हैं। वह नहीं समझता कि उस परमानन्दका नित्य स्रोत उसके भीतर ही विद्यमान है। बाहर रूप, रस, गन्धमें उसे खोजनेकी आवश्यकता नहीं। परन्तु हाय! 'नाभि गन्ध मृग नाहीं जानत, ढूँढ़त व्याकुल होय।' वह जो अपनी ही गन्ध है, आत्माके शुद्ध आनन्दकी ज्योति है—वह अपने निकेतनके निभृत कुञ्जमें नित्य विराजमान है—उसे वहाँ न खोजकर बाहर अन्वेषण करनेसे क्या हाथ आयगा ?

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

जो आनन्द और चिन्मयरससे परिपूरित अपने स्वरूपसे अपनी शक्तियोंके साथ गोलोकमें विराजमान हैं, मैं उस अखिलात्मा आदि पुरुष गोविन्दका भजन करता हूँ।

उस अखिलात्मा गोविन्दका भजन किये बिना कोई साक्षात् परमानन्दकी प्राप्ति नहीं कर सकता। वह आत्मा ही निखिल परमानन्दका आलय है। आनन्द ही

आत्माका स्वरूप है। उसमें आनन्दके सिवा और कुछ नहीं है। यही कारण है कि आनन्दके प्रति सब जीवोंमें इतना आकर्षण होता है। इस आनन्दको ही लक्ष्य करके सब जीव दौड़ लगा रहे हैं। वेदान्त पञ्चदशीमें लिखा है—'इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः'—यह आत्मा परम प्रेमका आस्पद है इसीलिए यह आनन्दमय है, इसी कारण आत्माके प्रति जीवका इतना स्वाभाविक और अत्यधिक प्रेम है।

हमारे महान् अहङ्कारके ठहरनेका स्थान—एकमात्र स्थान यह आत्मा ही है। आत्माके सम्बन्धमें हमारी अज्ञता ही हमारे इन कष्टों और दुःखोंका कारण है। आत्माको लेकर ही हमारी सारी संसार-लीला है, आत्माको लेकर ही हमारा गृह-कर्म है, तथापि हम यह नहीं जानते कि आत्मा है क्या वस्तु। आत्माके न रहने पर संसारका कोई आकर्षण ही नहीं रहता। आदि, मध्य और अन्तमें आत्मा ही रहता है। 'सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्'। जगत्की जो कुछ सत्ता है, आत्माको ही लेकर है। घट-घटमें इस आत्माका ही प्रकाश है। आत्मा ही जगतके समस्त आनन्दका केन्द्र है। हमारा जो कुछ प्रिय या प्रियतम है, हमारे सामने जो कुछ सौम्य, सौम्यतर या सर्वापेक्षा सुन्दरतम है, सब आत्माको ही लेकर है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वमिति'—'पादोऽस्य विश्वाभूतानि', ये सारे भूत परमात्माके एक पादमात्र हैं। अतएव यह आत्मा ही तुम्हारा, हमारा और विश्वका एकमात्र मूल है। अपने आपको मनुष्य जो इतना प्रिय समझता है, इसका कारण यह है कि आत्माके समान और कोई वस्तु जगत्में प्रिय नहीं है। अपने प्रति जीवका जो इतना आकर्षण होता है, इससे भी आत्माके प्रति जीवके अत्यन्त आकर्षणकी सूचना मिलती है। मोहवश जब हम देह और स्त्री-पुत्रादिके प्रति आकर्षण अनुभव करते हैं तो वह काम कहा जाता है, और वह आकर्षण जब भगवान्को लक्ष्य करके होता है तब उसका नाम होता है प्रेम। परन्तु हृदयका वेग चाहे जिस ओर ही फूटे, वह सबको अपनी ही ओर खींचते हैं। यह आकर्षण ही जगत्का मोहन है। इसी कारण हम अपनी अभीष्ट वस्तुसे मोहित होते हैं, जब काम्य वस्तुओंमें भी हम उस मोहनका या उस सुन्दरका अनुभव करते हैं तब वह केवल मोहन या काम नहीं रह जाता, बल्कि वह अकाम-रमण या मदनमोहन बन जाता है। जगत् या वस्तुमात्र वही है। केवल अपनी स्वकीय माया या एक पर्देके आवरणमें ढका है। यही कारण है कि अज्ञानान्ध जीव सबमें मदनको देखता है, मदनमोहनको अनुभव नहीं करता; भोग्य वस्तुओंको देखता है, भजनीयको नहीं देखता। सब वस्तुओंमें उस निखिल परम आनन्दमय सत्ताका अनुभव न कर सकनेके कारण जीवका मन गम्भीरतापूर्वक किसी वस्तुमें आश्रय नहीं ले सकता। इसी कारण उसके प्राणकी ज्वाला भी नहीं मिटती। परम कृपालु ऋषियोंने इस निराश्रित विषय-व्याकुल जीवके कल्याणके लिए भगवान्की आवरणशून्य आनन्दघन मूर्तिकी उपासना करनेका निर्देश किया है। वह बड़ी ही चित्ताकर्षक, बड़ी ही मनोहर मूर्ति है। साधककी स्वल्प चेष्टासे ही वह श्यामसुन्दर मूर्ति उसके हृदयके भीतर प्रकट होती है। कैसी नवीन-नीरद-कान्ति-विनिन्दित अपूर्व सुषमा है, कैसा सुन्दर प्रोज्ज्वल ध्वान्त-विनाशक अपूर्व नक्षत्र-कान्तिपुञ्ज है! मानो नवीन नीरदके

वक्षःस्थल पर स्थिर सौदामिनी चमक रही है! जिस प्रकार वाष्प जल बनता है, और जल जम कर हिम बन जाता है उसी प्रकार वह भी आनन्दकी घनीभूत मूर्ति है, मूर्ति होने पर भी वह जड़ नहीं है, उसमें माया या गुणका आवरण नहीं है। तुम ध्यान-निमीलित नेत्रोंसे उस परमसुन्दरका एक बार ध्यान करो, फिर तो जगत् दुःखमय, शोकमय, मृत्युमय नहीं जान पड़ेगा। तुम्हारा हृदय-मन आनन्दमें डूब जायगा, तुम्हारा प्राण-प्रवाह उस आनन्दमें स्थिर हो जायगा—तुम मुक्ति प्राप्त करोगे, प्राण छोड़कर अमर हो जाओगे! इस निखिल जगत्के आत्मा गोविन्द सर्वदा गोलोकमें निवास करते हैं। वह नित्य गोलोकधाम प्रत्येक जीवके भ्रूमध्यमें स्थित आज्ञाचक्रमें अखण्ड मण्डलाकारमें विराजित हैं! उस परम धाममें पहुँचे बिना समस्त इन्द्रिय-मनके परिचालक गोविन्दको कोई अनुभव नहीं कर सकता।

मन जब विषयोंसे निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होता है तो उसका मनत्व या अशुचित्व दूर हो जाता है। तब वह स्वच्छ बुद्धिके साथ मिलकर एक हो जाता है। उस स्वच्छ निर्मल बुद्धिके भीतर ही आत्म-स्वरूपका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जब वह प्रतिबिम्ब स्थायी हो जाता है तो जीवकी मुक्ति हो जाती है। तब यह बुद्धि हमारी या तुम्हारी नहीं रह जाती, सब उनके चरणमें अर्पित हो जाता है, तब फिर प्रतिबिम्ब भी नहीं रह जाता, सब स्वरूपका रूप बन जाता है। तब काम भी मनःसङ्कल्परूप नहीं रहता, तब सब प्रकारकी चाहमें एकमात्र उसीकी चाह रह जाती है, सभी प्राप्य वस्तुओंमें एकमात्र वही प्राप्त होता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जो मुझको समस्त भूतमात्रमें देखता है और मुझमें भूतमात्रको देखता है, मैं कभी उसके लिए अदृश्य नहीं होता, और न मेरे लिए वह अदृश्य होता है।

वह आनन्दकी घनीभूत मूर्ति ही श्रीकृष्ण हैं। इसी कारण श्रीकृष्णको सच्चिदानन्दविग्रह कहते हैं। आनन्द ही जीवमात्रको प्रिय है, अतएव श्रीकृष्ण भी सब जीवोंके प्रियतम हैं। श्रीकृष्णको गोपियोंने कहा था—'न खलु गोपिकानन्दनो भवान्, प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किलबन्धुरात्मा।' तुम हमारे आत्मा हो, इसी कारण देहधारियोंके तुम इतने प्रिय हो।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह आनन्द जड़ पदार्थ या भावनामात्र नहीं है, यह नित्य चिन्मय रसस्वरूपमें समस्त जीवोंका जीवन है। कृष्ण शब्दका एक और धातुजनित अर्थ है, वह अर्थ भी इसी प्रकारका है।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

'कृष्' सत्तावाचक शब्द है तथा ण आनन्दवाचक शब्द। इन दोनोंके संयोगसे 'कृष्ण' शब्द बनता है। जहाँ सत्ता है वहीं आनन्द है। मानो दोनों अङ्गाङ्गीभावसे जुड़े हुए हैं। इन दोनोंका ऐक्य ही परब्रह्म है और उसे ही 'कृष्ण' कहते हैं। वही श्रीकृष्ण

गीताके परम देवता हैं। उनको हम पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। वे यदि दया कर हमारे चित्तको आकर्षण करें तो हमारा गीता-मन्त्रमालाके गंभीर अर्थमें प्रवेश हो सकेगा। इसी कारण गीताकी आलोचना करनेके पूर्व पुनः उनको प्रणाम कर कहता हूँ कि हे प्रभो! यदि तुमने कृपा न की, यदि तुमने रास्ता नहीं दिखलाया तो तुम हमारे आत्मा हो, तुम हमारे सर्वस्व हो, यह बात कैसे हमारी समझमें आयगी। हमारे मन-प्राण-बुद्धि, हमारे अभिमान-अहंकार किसी प्रकार भी तुमको अङ्गीकार करना नहीं चाहते, तुम्हारे श्रीपादपद्मकी धूलिमें विलुण्ठित होना नहीं चाहते, स्पर्द्धा और गर्वसे भरे हुए इस चित्तको क्या करें, कोई उपाय नहीं सूझता, तथापि इतना तो जानता हूँ कि तुमने ही महामायारूपमें, विषय-रसमें इसको उन्मत्त कर रक्खा है, यदि तुम इसको शान्त करनेका मार्ग नहीं दिखलाते तो हे जगद्गुरु! इस अन्ध, दीन और आर्त जीवका दूसरा आश्रय क्या होगा? यह विषयासक्त मन विषयोंमें कितना आसक्त है? हे जगदात्मा, हे जगत्के महाप्राण! तुम्हारे प्राणके साथ कब वह अपने प्राणको मिलाकर तुममें ही एकान्त विश्रान्ति प्राप्त करेगा, तुम्हारे सिवा और किसी वस्तुको न चाहेगा—ऐसी अनुरक्ति, ऐसा प्रेम उसे कब प्राप्त होगा? प्रभो! तुमने एक दिन वंशी बजा कर गोपाङ्गनाओंके चित्तको हरण कर लिया था, कब तुम मेरे इस कुटिल विषयासक्त चित्तको हरण कर अपनी ओर खींचोगे?

प्रभो! यह मन अति कुत्सित है, अत्यन्त कायर है, तुम्हारी सेवा के उपयुक्त नहीं, पर इस मनके सिवा तुमको देनेके लिए दूसरी वस्तु मेरे पास है ही क्या? हे नाथ! इसलिए इसे तुमको अर्पण करना चाहता हूँ, क्या तुम इसे लोगे?

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा
देयं किमस्ति भवते पुरुषोत्तमाय।
आभीरवामनयनाहृतमानसाय
दत्तं मनो यदुपते त्वमिदं गृहाण॥

समस्त रत्नोंका आकर रत्नाकर तुम्हारा घर है, सब ऐश्वर्योंकी ईश्वरी महालक्ष्मी तुम्हारी गृहिणी हैं। हे पुरुषोत्तम, ऐसी स्थितिमें तुमको देनेके लिए अब क्या रह गया? परन्तु एक वस्तुकी तुम्हारे पास कमी है, तुम्हारा मन खो गया है, क्योंकि आभीर-रमणियोंने तुम्हारे मनको शुद्धा भक्तिके द्वारा अधिकारमें कर लिया है। अतएव हे यदुपति! मैं अपना मन तुमको दे रहा हूँ, इसे ग्रहण करो।

गीताका बीज या मूल—'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे'—'जिनके लिए शोक करना उचित नहीं, उनके लिए शोक करते हो, और फिर पण्डितोंके समान बातें करते हो।' गीताका यही बीज या मूलमन्त्र है। अतएव गीताका आरम्भ ही हमारे 'अहं-मम'का नाश करनेके लिए है। जिस प्रकार बीजके भीतर वृक्षकी समस्त शक्तियाँ निहित रहती हैं, उनको प्रकट करनेका उपाय करने पर वह शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फलसे परिशोभित होकर आत्मप्रकाश करता है, उसी प्रकार श्रद्धावारिसे सींच-

कर गीताके इस बीजमन्त्रको जागृत करना होगा। तब उससे अपूर्व सुगन्ध निकलकर तुम्हारे मनः-प्राणको आमोदित कर डालेगी। अच्छा, गीतामें इतने श्लोकोंके रहते हुए इसे ही बीज रूपमें ग्रहण क्यों किया गया?

देहात्मबोध और उससे उत्पन्न शोक-मोह ही संसार-प्रवाहके मूल हैं। शोक और मोह जब विवेकज्ञानको अभिभूत करते हैं तो जीव स्वधर्मपालन रूपी कर्त्तव्य कर्मसे च्युत हो जाता है। अनात्म ज्ञान ही शोक-मोहका कारण है। नित्य और आनन्दस्वरूप आत्मामें अनित्यकी भावना करना और उसके लिए हर्ष-शोकादिके वशीभूत होना, अज्ञानके कार्य हैं। तुम जिसे मृत्यु या जन्म समझते हो, वह है केवल द्वारका खुलना और बन्द होना। द्वार बन्द रहे या खुला—इससे गृहमें बैठे हुए गृहस्वामीके अभाव या सद्भावकी कल्पना युक्तिविरुद्ध है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीररूपी पटके अन्तरालमें जो नित्य, सत्य और चिरस्थिर है वही तो आत्मा है। वह नित्य विद्यमान है। तुम अज्ञानसे अन्धे बनकर आत्मविषयका चिन्तन न कर देहादिके लिए इतना चंचल क्यों हो रहे हो? देह तो किसीकी भी सदा नहीं रहेगी। इससे जान पड़ता है कि तुम आत्मदृष्टिशून्य हो, इसीसे देहादिके नाशसे देहीके नाशकी आशङ्का करके इतना विमूढ़ हो रहे हो। जो सत्य है वह सदा ही सत्य होता है, भूत, भविष्यत् और वर्तमानमें कदापि उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिमें जिस प्रकार आत्मसत्ताका अभाव दृष्टिगत नहीं होता, उसी प्रकार समाधि-अवस्थामें भी आत्माकी विभिन्न सत्ता नहीं परिलक्षित होती, उस समय सब एकाकार हो जाता है। जलकी तरङ्गें जलमें ही विलीन होती हैं। अतएव कौन है और कौन नहीं है, इसके लिए शोक करनेसे क्या मिलेगा? देखो वस्तुतः कौन है, और कौन नहीं है। जो है, उसको नहीं समझकर रोना शिशुको ही शोभा देता है। परमार्थरूपमें सब कुछ नित्य है तथा देहादि अविद्यारूपमें सब कुछ मिथ्या है। अतएव मिथ्याके लिए शोक कर परम सत्यको क्यों अस्वीकार करते हो?

यही है आत्मतत्त्वका मूल सिद्धान्त। इस आत्मतत्त्वको जान लेने पर और कुछ जानना शेष नहीं रहता। जिसको जान लेने पर और कुछ जानना नहीं रहता, उसको न समझकर अन्य कुछ समझनेकी चेष्टा ही निरर्थक है। अतएव तुम आत्माके स्वरूपको जानो, ऐसा करने पर फिर तुम्हें हर्ष-शोक-मोहादिके वशीभूत होकर कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। अज्ञान ही संसारका बीज है। ज्ञान अर्थात् आत्म-तत्त्वकी उपलब्धिसे ही संसारकी निवृत्ति होती है। वह ज्ञान इस प्रकार है—आत्माका जन्म नहीं होता, मृत्यु नहीं होती। तुम भी वही आत्मा हो, सभी आत्मा हैं। अतएव किसीके मरने पर व्याकुल होनेका कोई कारण नहीं है क्योंकि आत्मा अमर है। यह ज्ञान, यह तत्त्व, अध्यात्म-विद्या या आत्मज्ञानका मूल है। तुम अध्यात्म-विद्याका साधन कर इस आत्मस्वरूपको जानो। यही कारण है कि इस श्लोकको गीतामन्त्रका बीज बतलाया है।

गीताकी शक्ति—'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—सब प्रकारके

धर्माधर्मकी अनुष्ठानविधि की दासताका त्याग कर एकमात्र आत्माके शरणापन्न हो जाओ—मालामन्त्रकी यही शक्ति है। 'मेरे शरणापन्न हो जाओ'—जो कहा गया, उसमें 'मैं' कौन है ?

'अहं बीजप्रदः पिता'—'बीजं मां सर्वभूतानां'
'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

इसके द्वारा स्पष्टतः बतलाया गया कि आत्मा ही नित्य सत्य और सर्वथा भजनीय है। क्योंकि 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'— मुझसे अन्य कुछ नहीं है। परमार्थतः 'मैं' ही एकमात्र सत्य वस्तु है। पहले कह चुका हूँ कि श्रीकृष्ण ही जीवकी आत्मा हैं—जो मेरे भीतर वास्तविक 'मैं' हैं। इस आत्माके शरणापन्न हुए बिना मुक्तिकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। आत्माके सिवा सबकी सब वस्तुएँ परमार्थतः असत्य हैं। इस असत्यका सेवन ही पाप है। साधारणतः जो पाप-पुण्यकी बातें हम सुनते हैं, आत्माकी तुलनामें वे सभी अपवित्रतर और अवस्तु हैं। अतएव सारे व्यावहारिक धर्माधर्मका त्याग करना होगा। इसमें देह, इन्द्रिय, मन आदिके सारे धर्म उपलक्षित हुए हैं। अन्यान्य शास्त्रोंमें नाना प्रकारके कर्म और उपासनाकी पद्धतियोंका विधान किया गया है तथा उनके फल भी बतलाए गये हैं। यहाँ उन पुण्य कर्मोंके विषयमें कुछ नहीं कहा गया है, केवल यही कहा गया है कि हमारे शरणापन्न हो जाओ। किसी ओर मत ताको, केवल आत्मामें मन रखकर गुरु-वाक्यके अनुसार साधन करते चलो, इससे परम सत्य क्या है, तुम क्या हो, इत्यादि सारे रहस्योंको समझ सकोगे। सारे संस्कार ही बन्धनके हेतु हैं। इसके द्वारा तुम कर्म-संस्कार, धर्म-संस्कार, द्वैत-संस्कार आदिका त्याग कर सारे अनात्म-धर्मोंसे परित्राण प्राप्त करोगे। अनात्म धर्मोंका परित्याग करने पर एकमात्र आत्मामें ही स्थिति प्राप्त होगी। इस प्रकार एक अद्वितीय आत्माके शरणापन्न होने पर ज्ञान स्वतः ही स्फुरित होगा। मनुष्य उनका शरणापन्न तभी हो सकता है जब पहले फलाकांक्षा और कर्तृत्व-बोधका अभाव हो जाय। क्रिया-साधनके द्वारा क्रियाकी परावस्थामें ही यह अवस्था प्राप्त होती है। भागवतमें भगवान्‌ने उद्धवसे कहा है—

तस्मात्त्वं उद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्याह्यकुतोभयः ॥

—भागवत ११ वां स्कन्ध।

अतएव हे उद्धव, कर्मात्मक श्रुति-स्मृतिका त्याग कर, प्रवृत्ति-निवृत्ति, श्रोतव्य और श्रुत सबका उत्सर्ग कर सर्व देही के 'आत्मा' मुझमें सर्वात्मभावसे शरण ग्रहण करो, इससे अकुतोभय हो जाओगे।

गीतोक्त आत्मशरणागति ही गीतामन्त्रकी शक्ति है। यह शक्ति प्राप्त किए बिना आत्मदर्शन नहीं होता और न कोई अभय प्राप्त कर सकता है।

कीलक—'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' मेरे प्रति दृढ़ विश्वास रखने पर मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम शोक न करो, यह मन्त्र-मालाका कीलक या आश्रय है। इस आश्रयको जाने बिना जीवके प्राणको शान्ति नहीं मिलती। 'शोक मत करना'—ऐसा क्यों कहा? अर्थात् जो आत्माके शरणापन्न होता है उसको आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार होता है। 'नाशयाम्यात्म-भावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता'—वह शरणागतको ज्ञान प्रदानकर उसके अविद्याकृत संसारका नाश करते हैं। 'उनकी बुद्धिवृत्तिमें अवस्थित होकर तत्त्वज्ञानरूपी समुज्ज्वल प्रदीपके द्वारा उनके अज्ञानजनित अन्धकारको मैं नष्ट कर देता हूँ'—यह उनका प्रतिज्ञा-वाक्य है। तब जीवको भय क्या है? श्रीमुखसे यह अभयवाणी सुनते ही जीवका भय चिरदिनके लिए नष्ट हो जाता है। ऐसा आश्रय मुझे और कहाँ मिलेगा? वह धर्मस्वरूप हैं, सब धर्मोंकी अधिष्ठानभूमि हैं। फिर पृथक् धर्मके आचरणसे लाभ ही क्या है? एक आत्माका आश्रय लेनेसे सर्वधर्मस्वरूप उनको मैं प्राप्त करूँगा। शास्त्रमें तीन प्रकारकी शरणागति कही गयी है—(१) वह मैं हूँ, (२) वह मेरे हैं, (३) उनका मैं हूँ।

स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त ब्रह्माण्ड—मैं, तुम, और सब—वासुदेवरूप हैं; वह एक और अद्वितीय हैं; जिनकी यह धारणा दृढ़ है, वही प्रथम श्रेणीके शरणागत हैं। 'वह मेरे हैं'—यह द्वितीय शरणागति है अर्थात् उनकी सत्ता मुझसे भिन्न नहीं है। मैं जहाँ हूँ वह भी वहाँ हैं। उनसे बढ़कर मेरा निकटतर, मेरा प्रियबन्धु और कोई नहीं है। व्रजगोपिकाओंकी शरणागति इसी प्रकारकी थी। उन्होंने कहा था—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात् कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

—श्रीकृष्णकर्णामृत।

हमारा हाथ छुड़ाकर बलपूर्वक भागते हो, इसमें आश्चर्यकी बात क्या है? यदि हमारे हृदयसे भाग सको तो तुम्हारे पौरुषको हम मानें।

'उनका मैं हूँ'—यह तृतीय शरणागति है। प्रह्लाद आदि भक्त इसी श्रेणीके थे। भगवान्‌को समस्त ऐश्वर्य, समस्त ब्रह्माण्डका अधिपति, प्रभुके रूपमें, हृदयमें चिन्तन करने पर भक्त समझता है कि यद्यपि तत्त्वतः उनमें और मुझमें कोई भेद नहीं है, परन्तु उनके विराट् ऐश्वर्यको देखकर मनमें आता है कि हम कितने क्षुद्र, कितने तुच्छ हैं, यह इस अवस्थाकी ही शरणागति है। 'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः

शरणं सुहृत्'—इस रूपमें साधक भगवान्को देखनेका अभ्यास करता है। जब यह भाव स्थायी हो जाता है तब साधक भगवान्के अन्तःपुरमें प्रवेश करता है और उनका अन्तरङ्ग बन जाता है। यही भगवदाश्रय या कीलक कहलाता है। प्राणका पूर्ण अवरोध हुए बिना यह संभव नहीं। जब तक प्राणका स्पन्दन विद्यमान है तब तक वासना का अन्त नहीं होता, त्रितापका शमन भी नहीं होता और न भगवद्-आश्रय प्राप्त होता है। इसलिए प्राणावरोध आवश्यक है। अनन्त चंचल प्राण जब गुरुकी कृपासे असीम स्थिरतामें प्रवेश करता है तभी वस्तुतः प्रभुके पादपद्मोंमें आत्मसमर्पण होता है।

श्रीकृष्णप्रीत्यर्थपाठे विनियोगः—भगवान् श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए गीता-पाठ किया जाता है। गीताका पाठ करना चाहिए, प्रतिदिन करना चाहिए, अत्यन्त श्रद्धाके साथ, भक्तिके साथ, प्राण और मनको एक करके पाठ करना चाहिए। तभी गीता प्रसन्न होकर तुम्हारे भव-बन्धनको छुड़ायेगी। गीता वस्तुतः सुगीता है। सुन्दर गान सुनने पर जिस प्रकार प्राण मुग्ध हो जाता है उसी प्रकार भक्तिभावसे गीताका पाठ करते रहो, तुम्हारा विषयासक्त मन फिर विषयोंमें मुग्ध न होगा, गीता-पाठ करते करते तुम तन्मय हो जाओगे। उसमें जो एक प्रकारकी सुरोंकी एकतानता ध्वनित होती है, वह तुम्हारे कानोंके द्वारा हृदयमें पैठ जायगी। भगवान् कहते हैं—'गीता मे हृदयं पार्थ'—गीता उनका हृदय है। अतएव गीताके भीतर प्रवेश करने पर श्रीभगवान्के हृदयमें प्रवेश कर सकोगे। 'सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते'—गीताकी अपेक्षा सार वस्तु और कुछ नहीं है, इतनी विशुद्ध और कोई वस्तु नहीं हो सकती—प्रभुके हृदयसे भी अधिक विशुद्धतर वस्तुका होना क्या कभी संभव है? गीता का पाठ करनेसे महापाप, अतिपाप भी समूल विध्वंस होते हैं।

महापापातिपापानि गीताध्यायी करोति चेत्।
न किञ्चित् स्पृश्यते तस्य नलिनीदलमम्भसा॥

इसलिए जो लोग महापुरुष हैं, वे गीताको हृदयका सर्वश्रेष्ठ रत्न जानकर बहुत ही आदर करते हैं। मैं मूर्ख पतित गीताका मूल्य क्या समझ सकता हूँ? गीता जिनके मुखारविन्दसे निकली है, उस श्रीकृष्णकी कृपा बिना, उस जगद्गुरुकी दयाके बिना, ऐसी शक्ति कहाँ कि मैं गीताको समझ सकूँ? पर गीताको समझनेकी बड़ी इच्छा होती है, और गीताको समझानेकी भी बड़ी ही इच्छा होती है। मेरे मस्तकके मुकुटमणि सहस्रदलकमलके शिखर पर सदा आरूढ़, मेरे सदाशिव श्रीगुरुदेव क्या मेरे ऊपर दया करेंगे? क्या वे कृपा कर गीताका रहस्य मेरे हृदयमें प्रकट कर देंगे? बारम्बार उनके चरणकमलमें प्रणाम कर गीताकी आलोचना आरम्भ कर रहा हूँ। इस अहंकारविमूढ़ात्माका पद-पदपर कितना ही पदस्खलन होगा, कितना ही प्रमाद-पुञ्ज आकर उपस्थित होगा। इसीसे कहता हूँ कि मेरे करुणार्णव—श्रीगुरुदेव, मेरे जीवन-सर्वस्व, मेरे प्रभु, मेरे आत्मदेव, क्या तुम पापपङ्कमें फँसे

हुए इस दीन-हीनका उद्धार न करोगे ? इसके पाप-तापसे दग्ध प्राण क्या तुम्हारे करकमलके स्पर्शसे स्निग्ध-शीतल न होंगे ?

मुझे जो कुछ कहना था, कह चुका। तुम तो अन्तर्यामी हो। मेरे भीतर रहकर मेरे समस्त मनोभावोंको तुम जानते हो, इसलिए और मैं क्या कहूँ प्रभु ! केवल बारंबार तुमको नमस्कार करता हूँ।

अच्छा भाई, गीताका पाठ तो करोगे, पर जानते हो कि पाठ क्यों करोगे ? अपनी प्रीतिके लिए नहीं, केवल अपनी भलाईके लिए नहीं, श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए गीता-पाठ करना होगा। अब बतलाओ कि श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए पाठ क्यों करोगे ? श्रीकृष्ण तो जगत्‌के प्राण हैं, यदि वह तुष्ट हो गये तो जगत् तुष्ट हो जायगा। तुम जगत्‌के कितने जीवोंको तुष्ट कर सकते हो ? वह जो विश्व ब्रह्माण्डके घट-घटमें विराजमान हैं, तुम्हारे देह-घटमें भी रहते हैं। उनको तुष्ट कर लिया तो जगत् तुष्ट हो जायगा। इसलिए एक बार अपने प्राण श्रीकृष्णको तुष्ट करनेकी चेष्टा करो, गुरुप्रदत्त साधनकी साधना करनेके लिए इस विषयमें तल्लीन हो जाओ। जो तुम्हारे भीतर हैं वही सबके भीतर हैं। एक बार उनको जानकर अपनी भ्रान्तिको दूर करो। वह तुम्हारे भीतर हैं इतना ही नहीं है, सभीमें वही एक विश्वव्यापी हैं, और वही हमारे वासुदेव हैं। उनकी प्रीतिके लिए, विश्वके कल्याणके लिए गीता-पाठ करो। हे दुर्भाग्य, अल्पज्ञ, अनधिकारी जीव, तुम गीता-पाठके द्वारा केवल अपनी कल्याण-कामना न करो। उच्च स्वरसे बोलो, मधुर स्वरसे बोलो—इस गीता-पाठसे विश्वका सारा पाप नष्ट हो जाय, सारी दुर्गति भाग जाय। विश्वके प्राणियोंके कामदग्ध, सन्तप्त प्राण शीतल हों, गीता-पाठके द्वारा हम वही कल्याण प्राप्त करें जो समस्त जगत्‌का कल्याण है। जगत्‌के कल्याणमें ही तुम्हारा कल्याण है, इस परमभावको जब तुम हृदयमें धारण करोगे तभी श्रीकृष्ण की प्रीति प्राप्त होगी। उनके मधुर मुखारविन्दसे एक सुमधुर प्रसन्नता फूट उठेगी ! तुम उनके प्रसन्न मुखकी प्राण-विमोहिनी सुन्दर मुसकान देखकर धन्य हो जाओगे।

गीता-मन्त्रमाला-जपका क्रम—जिस प्रकार एक नन्हेंसे अश्वत्थ बीजके भीतर एक सावयव बृहत् अश्वत्थ वृक्ष विद्यमान रहता है, उसी प्रकार मन्त्र-बीजमें भी अलौकिकशक्ति-सम्पन्न देवता विद्यमान रहते हैं। बीजको मिट्टीसे ढँककर यत्न करनेसे बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होता है और समय पाकर वही अङ्कुर महान् वृक्षके रूपमें परिणत हो जाता है, उसी प्रकार शास्त्रोपदिष्ट तथा गुरुमुखसे सुने हुए साधनकी सहायतासे यत्न करने पर तुम एक न एक दिन सफल-मनोरथ हो सकोगे, मन्त्र-देवताको प्रत्यक्ष जान सकोगे, और जान लोगे कि वही तुम्हारे सर्वस्व हैं, वही तुम्हारे इष्ट देवता हैं, वही तुम्हारे वास्तविक चिद्गुरु हैं। जब तक उन्हें जानते नहीं हो, जब तक सन्देह नहीं मिटता, जब तक विषयोंके संस्पर्शसे चित्तकी आकुलता नहीं हटती, जब तक मन स्वस्थ और बलपूर्वक यह कह नहीं उठता कि 'मुझे कुछ नहीं चाहिए', जब तक काम-ग्रन्थिको छिन्न-भिन्न करके अकामके आनन्दमें डुबकी नहीं लगाते—तब तक गुरु-प्रदत्त साधनाको कण्ठका हार बनाकर रक्खो। प्रपन्न

होकर उनका ही आश्रय लिए रहो, देखना तुम्हें कोई बिचलित न करे। परन्तु सुनो, इसके लिए तुम्हें क्या करना होगा, जगद्गुरु शिवजी कहते हैं—

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः।
न सिद्धन्ति वरारोहे कल्पकोटिशतैरपि॥

अर्थात् साधनके समय मन एक ओर जाता है, शिव (आत्मा) अन्यत्र लोट पोट कर रहे हैं, शक्ति (महाप्राण) और किसी स्थानमें है—उसका कोई पता नहीं है, और प्राण-वायु अन्य स्थानमें चल रही है, उसमें तुम्हारा लक्ष्य नहीं है—ऐसी स्थितिमें शतकोटि कल्पमें भी कोई सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। उपनिषद्में लिखा है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

बिल्कुल तन्मय हो जानेकी आवश्यकता है, इसके लिए अप्रमत्त भावसे अर्थात् कहीं इधर उधर लक्ष्य न रखकर एकमात्र आत्मलक्ष्यकी ओर मनको लगाना पड़ेगा। लक्ष्य है वह परमानन्द श्रीगोविन्द, आनन्दघन-विग्रह परमात्मा, और मन ही तुम्हारा शर है। आत्माको लक्ष्यकर इस शरको बलपूर्वक चलाना होगा—उस समय मनका कोई दूसरा लक्ष्य न होगा। तभी मन परम लक्ष्यको विद्ध कर सकेगा—उनके साथ मिल जायगा। प्रणव मन्त्र है, प्रणवको धनुष बनाकर उसमें मन रूपी वाणको लगाना पड़ेगा। तभी मन ठीक परमात्मामें जाकर प्रवेश कर सकेगा। तुम सदाके लिए निश्चिन्त हो जाओगे। परन्तु साधक!

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः।
शतकोटिजपेनापि तस्य विद्या न सिद्धति॥

मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योनिमुद्राको जाने बिना शतकोटि जप करने पर भी मन्त्रसिद्धि नहीं होती।

करन्यास :—'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' इति अंगुष्ठाभ्यां नमः। इस मन्त्रका उच्चारण कर दोनों हाथोंकी तर्जनी द्वारा दोनों हाथोंके अङ्गुष्ठका स्पर्श किया जाता है। 'न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः' इति तर्जनीभ्यां नमः। इस मन्त्रसे दोनों हाथोंके अङ्गुष्ठके द्वारा दोनों हाथोंकी तर्जनीका स्पर्श किया जाता है। 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च' इति मध्यमाभ्यां नमः। इस मन्त्रसे दोनों हाथोंके अङ्गुष्ठके द्वारा दोनों हाथोंकी मध्यमा अङ्गुलीको स्पर्श किया जाता है। 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इति अनामिकाभ्यां नमः। इस मन्त्रसे दोनों अंगुष्ठोंके द्वारा दोनों हाथोंकी अनामिका अंगुलियोंको स्पर्श किया जाता है। 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः' इति कनिष्ठाभ्यां नमः।' इस मन्त्रसे अंगुष्ठद्वयके द्वारा दोनों कनिष्ठिका अंगुलियोंको स्पर्श किया जाता है। 'नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च' इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। इस मन्त्रके द्वारा पहले

बायाँ हाथ चित्त करके उसके ऊपर दाहिना हाथ रक्खे, फिर दक्षिण हाथके पृष्ठ पर बायाँ हाथ चित्त करके रक्खे, उसके बाद दाहिने हाथ की मध्यमा और तर्जनीके द्वारा बाम करतल पर आघात करे। इति करन्यासः। इसको करन्यास कहते हैं।

अङ्गन्यास—'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' इति हृदयाय नमः। इस मन्त्रसे दाहिने हाथकी तर्जनी, मध्यमा और अनामिकाके अग्रभागद्वारा हृदयस्पर्श करे। 'न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः', इति शिरसे स्वाहा। इस मन्त्रसे दाहिने हाथकी मध्यमा और तर्जनीके द्वारा मस्तक स्पर्श करे। 'अच्छेद्यो-ऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च', इति शिखायै वषट्, इस मन्त्रसे अंगुष्ठ-द्वारा शिखा स्पर्श करे। 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इति कवचाय हुँ, इस मन्त्रसे बायें हाथके ऊपर दाहिना हाथ रखकर, दाहिने हाथके द्वारा बायाँ बाहुमूल और बायें हाथके द्वारा दाहिना बाहुमूल स्पर्श करे। 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः' इति नेत्रत्रयाय वौषट्। इस मन्त्रसे दाहिने हाथकी तर्जनी, मध्यमा और अनामिकाके द्वारा क्रमशः दक्षिण नेत्र, ललाटका मध्यभाग और वामनेत्र स्पर्श करे। 'नाना-विधानि दिव्यानि ननावर्णाकृतीनि च' इति अस्त्राय फट्। (करन्यासके समान)।

प्रत्येक पूजाके पहले ही हमको प्राणायाम, करन्यास और अङ्गन्यास करना पड़ता है। अवश्य ही इसमें कोई गूढ़ अभिप्राय निहित है। अन्यथा यह समझना दुःसाहस मात्र है कि ऋषि लोग पूजारम्भके पूर्व लड़कोंके खेलके समान यह सब न्यासादि करते थे। फिर करादि अङ्गन्यासका अभिप्राय क्या है? हमारी प्राणशक्ति नाड़ियों के द्वारा प्रवाहित होकर देहमें निरन्तर सञ्चरण कर रही है तथा इसके द्वारा हस्त-पादादि तथा चक्षुरादि इन्द्रियोंका काम ठीक तौर पर चलता है। परन्तु यह सब प्राणकी बहिर्मुखी क्रियाएँ हैं। प्राणकी बहिर्मुखी क्रियाके कारण ही मन इतना चञ्चल और विषयासक्त होता है। परन्तु जब हम भगवत्-उपासना करनेके लिए बैठते हैं, तब भी अभ्यासवश मन चञ्चल और शतधा विभक्त होकर हमको लक्ष्य-की ओर जानेमें बाधा डालता है। जब तक मन स्थिर नहीं होता तब तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म शुद्धबुद्धिका प्रकाश होना संभव नहीं है। अतएव पुजारी आत्माके अन्तःपुरमें प्रवेश नहीं प्राप्तकर सकता। मनको उस सूक्ष्म बिन्दुरूपी महाशक्तिमें अथवा महाशून्यपथमें प्रेरणा करनेके लिए पहले नाड़ीको शुद्ध करना पड़ता है। क्रिया-योगके अनुष्ठानके बिना सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियोंमें स्थिर वायुका प्रवेश नहीं होता, अत-एव नाड़ी या प्राणका शोधन नहीं होता—इस बातको प्राचीनकालके ऋषियोंने ज्ञान-नेत्रसे देखा था। यह करन्यास, अङ्गन्यास, उस अध्यात्म क्रियायोगका फल है। प्राणको जिस केन्द्रसे हटकर जिस केन्द्रमें रखनेसे उस सूक्ष्मतम मार्गका अनु-सन्धान पाया जाता है, उसीकी विवृति न्यास-मन्त्रोंमें हुई है। चक्षु, कर्ण, नासिका, सिर, शिखा, हृदय, नाभि, बाहुमूल, मेरुदण्ड—ये सारे मर्मस्थान हैं तथा अध्यात्म शक्तिके विशेष विकास स्थान हैं। जब तक प्राणशक्ति सुषुम्नाको भेदकर समस्त केन्द्र-स्थानोंको स्पर्श करती हुई मस्तकमें स्थित सहस्रार-दलमें प्रवेश नहीं करती, तब तक किसीको दिव्यज्ञानका उन्मेष नहीं होता। जिस साधकका प्राण सुषुम्नाका

भेद कर सकता है, उसीके सामने अन्तर्जगत्का सारा रहस्य उद्घाटित होता है। पहले सभीके ये द्वार बन्द होते हैं। इन द्वारोंको खोलनेकी साधना ही प्रकृत साधना है। मनुष्यके अवयव-संस्थानमें मस्तिष्क और मेरुदण्ड ही मुख्य प्रयोजनीय अङ्ग हैं। हममें जो कुछ मनुष्यत्वके लक्षण हैं वे मस्तिष्ककी शक्तिसे हैं। हमारी जाग्रत, स्वप्न आदि सब अवस्थाओंमें मस्तिष्क-यन्त्रके विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न क्रियाएँ होती रहती हैं। मस्तिष्कके विश्रामके समय भी उसके सारे अंश एकसाथ विश्राम नहीं करते। इसी कारण हमारी स्मृति एकबारगी लुप्त नहीं होती। साधारणतः हम जो कुछ सोचते या करते हैं उसके लिए मस्तिष्कके विशेष अनुशीलनकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। उनमेंसे कितने ही स्वतः (automatically) स्फुरित होते हैं अर्थात् इन सब कार्योंके संस्कार मनुष्यमें स्वतः ही उद्बुद्ध होते हैं—जैसे भोजन-पान शयनादि। परन्तु मस्तिष्कमें ऐसे अनेक केन्द्र-स्थान (cells) हैं जिनसे आध्यात्मिक वृत्तियोंका उन्मेष होता है। अधिकांश लोगोंके ये केन्द्र प्रायः रुद्ध या मुँदे होते हैं और किसी किसीमें आंशिक भावसे उद्बोधित पाये जाते हैं। परन्तु इन केन्द्रोंके पूर्ण विकसित हुए बिना हमें दैव शक्ति या ईश्वरीय धारणा नहीं प्राप्त हो सकती। साधनाके द्वारा इनको जाग्रत करना ही योगाभ्यासका मुख्य उद्देश्य है। इसी कारण प्रत्येक पूजामें हमको न्यासादि करने पड़ते हैं। सारे ही केन्द्र-द्वार पहले अवरुद्ध रहते हैं, न्यास उनको खोलनेकी प्रक्रिया-विशेष है। परन्तु आज हम लोगोंमेंसे किसीका लक्ष्य उधर नहीं है, केवल सुग्गेकी रटके समान हम मन्त्रोच्चारण किये जा रहे हैं। कुछ न करनेकी अपेक्षा तो यह निश्चय ही अच्छा है, इतना कह सकते हैं। परन्तु इससे वास्तविक उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। द्वार-मुक्त होने पर मानव अतिमानव हो सकता है। श्रुति कहती है कि जो कुछ है सब 'प्राण एजति निःसृतम्'—प्राणसे ही उत्पन्न है। उच्चसे उच्च कोटिका जीव तथा निम्नसे निम्न कोटिका जीव—सभी प्राणसे निकले हैं। यह समस्त विश्वलीला केवल प्राणकी ही लीला है। प्राण ही सर्वशक्तिसमन्वित महाशक्ति है, प्राण ही लीला-द्वारा सारे पदार्थोंको विकसित करता है। इस प्राणको ही पहचानना है, जानना है; प्राणमें प्रवेशकर प्राणमें ही स्थिति-लाभ करना है, जिससे अखिल विश्वका समस्त ज्ञान तुम्हारे सामने हस्तामलकवत् जान पड़ेगा। शास्त्र कहते हैं—'प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत्'—यह जगत् प्राणके द्वारा धृत है, सारा जगत् ही प्राणमय है।

इस विश्वव्यापी प्राणको हम सब अनुभव तो कर सकते हैं, पर उसमें प्रवेश करनेका कौशल नहीं जानते। उसमें प्रवेश करनेका भी कौशल या साधना है। मकड़ेके जालके समान इस प्राणशक्तिके द्वारा स्वर्ग, मर्त्य, अन्तरिक्ष आदि लोक जड़ित या परिव्याप्त हैं। अतएव प्राणको वशीभूत करने पर त्रिलोकमें कुछ अविदित नहीं रह जाता। इस प्राणसूत्रका अवलम्बन कर हम ब्रह्मलोक पर्यन्त सब स्थानोंमें गमनागमन कर सकते हैं। 'प्राणो हि भगवान् ईशः प्राणो विष्णुः पितामहः'। समस्त देवता प्राणके विभिन्न शक्ति मात्र हैं। यदि प्राण न होता तो किसी जीव या किसी वस्तुका प्रकाश हम नहीं देख पाते। अतएव हम चाहे जिस किसी देवताकी पूजा क्यों न करें,

वस्तुतः हम प्राणशक्तिकी ही उपासना करते हैं। परमात्मा ब्रह्म, मन-वाणीसे अगोचर हैं, परन्तु उनकी मुख्य शक्ति यह प्राण हम सबके ज्ञान-गोचर है। वही 'परा पराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी'—समस्त जगत्की महद् योनि या जगदम्बा हैं। वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरकी भी जननी हैं। वही जीवकी उपास्या हैं। उनकी ही महिमा देवीसूक्तमें वर्णित है—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञीयानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥

मैं इस ब्रह्माण्डकी एकमात्र सृष्टि, स्थिति और लयकारिणी हूँ। मैं पार्थिव और अपार्थिव सब प्रकारका धन जीवको देती हूँ। मैं ही ज्ञान-स्वरूपा हूँ, जिसके द्वारा जीव मुक्ति प्राप्त करता है। 'यज्ञीयानां प्रथमा' समस्त यज्ञों या कर्मोंका मैं ही आदि हूँ। यह कर्म, उपासना तथा उसका फलज्ञान कुछभी नहीं हो सकता, यदि जगद्धात्री-रूपी प्राण न हो। वह मन्त्ररूपसे श्वास-प्रश्वासमें प्रविष्ट होकर यज्ञका शाश्वत फल, शान्ति प्रदान करता है। दूसरे सारे कर्मानुष्ठान आनुषङ्गिक मात्र हैं। प्राण ही प्रथम उन्मेष प्राप्त करता है, प्राणसे ज्ञान और विविध कर्म तथा उनके फल उत्पन्न होते हैं। इसी कारण वह सबका आदि है। वही 'भूरिस्थात्रां भूरि आवेशयन्तीं'—नाना भावसे अवस्थित है। एक प्राण इतना रूप धारण किये हुए है कि उसका अन्त नहीं है। देवतासे लेकर मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष, लता, प्रस्तर आदि सारे ही प्राणके विभिन्न प्रकाश या रूप हैं। इस प्रकार प्राण नाना रूपमें नाना भावमें प्रतिष्ठित है। 'तां मा देवा व्यदधुः'—देव-स्वभाव या दैवीगुण-सम्पन्न जीव इसी कारण मेरी उपासना करते हैं।

प्राणकी उपासना ही वस्तुतः ब्रह्मशक्तिकी उपासना है, इसे ईश्वरोपासनाभी कह सकते हैं। देहाभिमान रहते निर्गुण ब्रह्मकी उपासना नहीं होती, वह इन्द्रियोंके लिए अगम्य है, मनभी उसके पास नहीं पहुँच सकता। ब्रह्मके सम्बन्धमें श्रुति कहती है—'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृश्यमव्यव-हार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यम्। अव्यपदेश्यं एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा, स विज्ञेयः।' आत्मा अन्तःप्रज्ञ अर्थात् तैजस नहीं है, बहिःप्रज्ञ या वैश्वानर नहीं है, उभयतःप्रज्ञ अर्थात् जाग्रत्-स्वप्नके ज्ञानमें मध्यवर्ती नहीं है, वह प्रज्ञानघन या सुषुप्तिका अधिष्ठाता प्राज्ञ नहीं है, न प्रज्ञं अर्थात् द्वैतभावका ज्ञाता नहीं है, न अप्रज्ञं अर्थात् अचेतन भी नहीं है। ज्ञानी लोग उनको चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियोंका अविषय, अव्यवहार्य अर्थात् पृथक् विषयरूपसे व्यवहारके परे, अग्राह्य अर्थात् कर्मेन्द्रियद्वारा ग्रहणके अयोग्य, अलक्षण अर्थात् लिङ्गरहित होनेके कारण अनुमानके विषयके परे, अव्यपदेश्य—अनिर्वचनीय, एकान्तप्रत्ययसार—आत्मारूपमें मैं ही एकमात्र हूँ इस प्रकारके ज्ञानका विषय, प्रपञ्चोपशम अर्थात् जगत्के विकासकी निवृत्तिरूप जाग्रत-स्वप्नादि सम्बन्धसे शून्य, शान्तं—निर्विकार, शिवं—परम कल्याणमय, अद्वैतं—मनके सङ्कल्प-विकल्पके परे,

चतुर्थं—जाग्रदादि त्रिविध अवस्थाओंके परे चतुर्थ या तुरीय, मन्यन्ते—जानते हैं, सः आत्मा—वह आत्मा विशुद्ध चैतन्यमात्र है, सः विज्ञेयः—वही विशेषरूपसे जानने योग्य है।

अतएव वह अव्यवहार्य, लक्षणशून्य और चिन्तनके परे हैं, ऐसी स्थितिमें हम उनको कैसे जानेंगे ? ब्रह्मको जो जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है और कुछ बोल नहीं सकता। परन्तु ब्रह्मकी मुख्य शक्ति जो प्राणरूपमें जगत्को धारण किये हैं, जिसके न रहने पर कुछ नहीं रहता, वही जीवका उपास्य है। 'सैषा सर्वेश्वरेश्वरी'। जीवका नखसे शिख तक सब कुछ प्राणसे परिव्याप्त है। प्राण नाड़ीजालके भीतर नाना केन्द्रोंमें सञ्चरण करता हुआ जीवकी जगत्-लीलाको सम्पन्न करता है। 'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये'—वह प्रसन्न होकर वरदा रूपमें जीवकी मुक्तिका कारण बनती हैं। इस प्राणके अन्तर्मुख होने पर ही शिव-शक्तिका सम्मिलन होता है। तभी तत्त्वज्ञानका उदय होता है और जीवको मुक्ति प्राप्त होती है। इसी कारण प्राणकी उपासनाके बिना अन्य उपासना सफल नहीं होती।

न्यासके एक मन्त्रके विषयमें यहाँ संक्षेपमें विचार किया जाता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। इति हृदयाय नमः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः। इति शिरसे स्वाहा।

शस्त्र-समूह इस आत्माको छेदन नहीं कर सकते, अग्नि इसे दग्ध नहीं कर सकती, जल आत्माको आर्द्र नहीं कर सकता और वायु इसको शुष्क नहीं कर सकती।

आत्मा अविनाशी है, इस बातका इस श्लोक द्वारा श्रीभगवान्‌ने स्पष्ट रूपसे निर्देश किया है। देहके समान आत्मा पञ्चभूतोंसे निर्मित नहीं है, और जिस प्रकार पञ्चभूतात्मक वस्तुएँ विकारको प्राप्त होती हैं उस प्रकार आत्मामें विकार संभव नहीं। शस्त्रादि छेदन नहीं कर सकते, शस्त्रादि मृत्तिकाके ही विकार हैं, इससे यह ध्वनित होता है कि मृत्तिकाका अधिकार आत्मामें नहीं है। अग्नि, जल और वायुका उल्लेख करते हुए बतला रहे हैं कि इनमेंसे कोई भी आत्माको हनन करनेमें समर्थ नहीं है। पञ्चभूतोंमें आकाशका उल्लेख नहीं किया, इसका कारण यह है कि आकाशके द्वारा आहत होनेकी किसीको आशङ्का ही नहीं होती। यह सब तो ठीक है पर हमारे हृदयसे संशय जायगा कैसे ? मस्तिष्कमें बाह्य विषयोंके ज्ञानका संस्कार और हृदयस्थ संशय, ये दो आत्मदर्शनके प्रबल विघ्न हैं। हृदय-ग्रन्थिके छिन्न हुए बिना, सिरके सहस्रारमें स्थित आत्मारूपी शिवका ज्ञान प्रस्फुटित नहीं होता। इसी कारण पहले हृदयन्यास द्वारा हृदयग्रन्थि छिन्न करनी पड़ती है। हृदयग्रन्थिके छिन्न हुए बिना किसीका सन्देह नहीं मिटता। हृदयग्रन्थिके छिन्न होने पर ही आत्मसाक्षात्कार होता है। आत्मसाक्षात्कारके द्वारा परतत्त्वका बोध होने पर निम्नकोटिका बोध निर्मूल हो जाता है, तभी साधक यथार्थ चिन्तनातीत अवस्थाको प्राप्त करता है। इस प्रकार निश्चिन्तता प्राप्त हुए बिना कोई योगकी प्राप्ति नहीं कर सकता। इस ग्रन्थिभेदकी भी साधन-प्रणाली है। जो लोग इस साधन को जानते हैं, वे उसके द्वारा साधन करके कृतकार्य

होने पर यह धारणा कर सकते हैं कि आत्मा पञ्चभूतादिसे पृथक् है, वह पञ्चभूतोंका प्रभु है। उस समयकी धारणा ग्रन्थिहीन हृदयका निर्मल बोध है। उस समय होने वाला बोध या आत्मज्ञान ही ठीक है। मौखिक ज्ञान या ग्रन्थज्ञानके द्वारा हृदय-ग्रन्थि नहीं कटती। ग्रन्थि-नाशके बाद जो ज्ञानोदय होता है, उसके द्वारा ही प्रपञ्च-ज्ञान विलुप्त हो जाता है और ब्रह्मज्ञानका विकास होता है।

अथ ध्यानम्।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारते।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीं
अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥१॥

अम्ब भगवद्गीते (हे जननि भगवद्गीते) मध्ये महाभारते (महाभारत के बीच) पुराणमुनिना व्यासेन ग्रथितां (प्राचीन मुनि व्यासके द्वारा ग्रथित) स्वयं भगवता नारायणेन (साक्षात् भगवत्-अवतार श्रीकृष्णके द्वारा) पार्थाय प्रतिबोधितां (श्रीमान् अर्जुनको मोहनिद्रासे जगानेके लिए, उनके मोहको पूर्णतः नष्ट कर, उनको दिया गया जो ज्ञान) [वह] अद्वैतामृतवर्षिणीं (अद्वैतामृतकी वर्षा करनेवाली) भवद्वेषिणीं (पुनर्जन्मका नाश करनेवाली) अष्टादशाध्यायिनीं भगवतीं (अष्टादश अध्यायरूपी षड़ैश्वर्यसे युक्त) त्वां अनुसन्दधामि (इस रूपमें तुमको मैं मन ही मन चिन्तन करता हूँ)।

श्रद्धा-आकर्षणके लिए भगवद्गीता-ध्यान करनेको कहते हैं। क्योंकि जो ग्रन्थ हम पढ़ते हैं उस पर श्रद्धा न हो तो उसके पढ़नेसे कोई फल प्राप्त न होगा। इस-लिए शास्त्र पढ़ना हो तो श्रद्धापूर्वक पढ़ना चाहिए, भक्तिपूर्वक पाठ करने पर ग्रन्थकी अन्तर्निहित शक्ति पाठकके अन्तःकरणमें आबद्ध हो जाती है। सभी ग्रन्थोंमें शक्ति नहीं होती, शक्तिमान् लेखकके ग्रन्थमें ही उसकी अन्तरङ्ग शक्ति ग्रन्थके प्रत्येक पद और वाक्यमें शक्तियुक्त होकर प्रस्फुटित होती है। ग्रन्थको शक्तियुक्त करनेके लिए ग्रन्थकारको पहले अपने हृदयको ज्ञानशक्तिसे पूर्ण करना पड़ता है, तथा साधन-द्वारा दिव्यशक्ति प्राप्त करनेकी आवश्यकता होती है। गीता उस कोटिका ग्रन्थ है या नहीं, और उसके पाठसे गीताकी शक्ति हमारे हृदयमें स्फुरित होती है या नहीं, पाठकके इस सन्देहको दूर करनेके लिए ऋषि पूछते हैं कि यह गीतामृत-उपदेश किसके मुँहसे निकला है जानते हो? स्वयं नारायण श्रीकृष्ण इसके उपदेष्टा हैं। और उपदेश किसको किया है? श्रीमान् पार्थको। पार्थ सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। तृतीय पाण्डव पार्थ तपस्या, बल और वीर्यके प्रभावसे उस युगके भारतीय राजाओंके मुकुटमणि थे। अर्जुनके अनेक नाम होते हुए यहाँ उनको पार्थ क्यों कहा गया है? उनकी माता पृथा असामान्य तपःशक्तिसे सम्पन्न थीं, उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर प्रदान किये गये देवताके तेजसे जिनका जन्म हुआ था उस मनस्वी पुरुषके सिवा गीताको सुननेका उपयुक्त पात्र और कौन हो सकता है? उस पार्थको

समझानेके लिए जो उपदेश दिया गया है वह निश्चय ही एक असाधारण शास्त्र है। यदि अबभी सन्देह करते हो कि गीताका उपदेश श्रीभगवान्ने पार्थको दिया है, इसका प्रमाण क्या है ? उस समरभूमिमें खड़ा होकर यह अद्भुत् वार्तालाप सुनने कौन गया था ?—तो कहते हैं 'पुराणमुनिना व्यासेन ग्रथितां'। जैसे तैसे लोगोंने इस उपाख्यानकी रचना नहीं की है। जो साक्षात् भगवदंश है उसी अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न महर्षि व्यासने योगस्थ होकर इस उपदेश-मालाको—कृष्णार्जुनके समस्त प्रश्नोत्तरको जाना था। उन्होंने ही भगवद्गीतारूपी पुष्पमालाको ग्रथित किया है। व्यासने ही गीता सुनकर लिखी है, इसका प्रमाण महाभारतमें है। भारतके अद्वितीय ग्रन्थ महाभारतमें गीता सन्निविष्ट है। अष्टादश अध्यायोंमें गीता पूर्ण हुई है। सारे अध्याय योगके तत्त्वोंसे परिपूर्ण हैं। इससे सदा अद्वैतामृत बरसता रहता है। यह अमृत अद्वैतज्ञानमय क्यों है ?—क्योंकि यह प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिवात्मबोधके द्वारा परिपूर्ण है। द्वैतभावके रहते प्रकृत अभय-पदकी प्राप्ति नहीं होती। 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्'—दूसरेका अभिनिवेश या चिन्ता रहते वस्तुतः कोई निर्भय नहीं होता। भय रहते प्रकृत प्रेम उत्पन्न नहीं होता। 'वह मैं हूँ' या 'उनका मैं हूँ' इस भावमें जब तक प्रतिष्ठित न हो, जब तक तादात्म्य-भावके द्वारा अपनी अहमिकाको न डुबा दें, तब तक प्रेम कहाँ ? अपने आत्माके ऊपर ही जीवका सर्वापेक्षा अधिक प्रेम होता है, और आत्माके साथ जिसका जितना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है वह उतना उसके समीप पहुँचता है तथा उसके साथ ही प्रेमका तद्रूप तारतम्य भी लक्षित होता है। जो जीव आत्माके जितना सन्निकट होता है वह उतना ही उनका भक्त है। सर्वापेक्षा जीवात्मा ही आत्माके अधिक सन्निकट होता है, अतएव आत्माके साथ जिसका जितना अधिक तादात्म्य होता है वह उतना ही अधिक उनका भक्त होता है। और जब जीवात्मा परमात्माके साथ एक हो जाता है तो उससे बढ़कर प्रेमका अधिक उत्कर्ष अन्य किसी प्रकार संभव नहीं। विचार करनेसे जान पड़ता है कि 'मैं' को छोड़कर कोई भी दूसरा हो तो उसके निकट भय-सङ्कोच होता है। अपने सामने अपनेसे भय-सङ्कोच नहीं होता। अब देखो कि आत्माके सिवा जगत्में और कुछ नहीं है। मैं, तुम और सब ही आत्मा है। जगत् आत्ममय है, अतएव जगत्में सर्वत्र सब वस्तु आत्माका ही प्रकाश अथवा 'मैं' ही है। इस भावमें भय पूर्णतः नष्ट हो जाता है, इसीलिए इस अवस्थाको अभय परमपद कहते हैं। आत्माके इस अमृत भावको प्राप्त कर लेनेपर ही मुक्ति प्राप्त होती है, नहीं तो 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।'

वस्तुतः आत्मासे पृथक् जगत्की कोई सत्ता नहीं है। यह परिदृश्यमान जगत् आत्मासे पृथक् नहीं है। यही बात बतलानेके लिए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहते हैं—

भ्रातर्यदिदं परिदृश्यते जगन्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः सुखी भवानन्दमयो निरामयः॥

हे भाई लक्ष्मण, यद्यपि यह जगत् स्पष्टतः दृष्ट होकर सत्यवत् प्रतीत होता है तथापि इन सारी वस्तुओंको मायामय, मिथ्या जानकर मन द्वारा उनका त्याग कर परमात्मास्वरूप मेरी सत्तामें निमग्न और विशुद्धचित्त होकर सुखी बनो, तथा पुनः पुनः जन्म-मृत्यु रूपी व्याधिसे रहित होकर सच्चिदानन्द-स्वरूपमें विराजमान हो जाओ। यह अवस्था कैसे प्राप्त हो सकती है, संसार या नानात्व कैसे निवृत्त हो सकता है, इसका उपाय बतलाते हुए कहते हैं—

नेति प्रमाणेन निराकृताखिलो हृदा समास्वादितचिद्घनामृतः।
त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं पीत्वा यथाम्भः प्रजहाति तत्फलम्॥

जगत्की कोई वस्तु आत्मा नहीं है (क्योंकि क्रियाकी परावस्थामें किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं रहता), जिस प्रकार नारिकेलादि फलका रसपान करके उसका असार भाग लोग फेंक देते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध अन्तःकरणके द्वारा आत्माके चिद्घनरूप अमृतका आस्वादन करके नामरूप-विशिष्ट इस संसारको मिथ्या और असार समझकर परित्याग करो। अर्थात् आत्मा ही सब कुछ है, यह परिदृश्यमान जगत् कुछ भी नहीं है—इस बोधमें साधककी स्थिति प्राप्त होती है।

अतएव जब तक जगत् आत्मासे अभिन्न नहीं दीख पड़ता तब तक क्या करना चाहिए, इसका उपदेश देते हुए कहते हैं—

यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं तावन्मदाराधनतत्परो भवेत्।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि॥

जब तक इस निखिल जगत्को मेरे अधिष्ठानरूपमें (अर्थात् आत्म-स्वरूपमें) देखनेमें समर्थ नहीं होते हो, तब तक मेरी आराधनामें तत्पर रहो। दृढ़ विश्वासके साथ साधन आदि करते करते भगवान्के प्रति अतिशय पूज्य बुद्धिरूप भक्तिके लक्षणोंकी वृद्धि होती है, मैं भी इस प्रकारके साधकके हृदयमें अहर्निश प्रकाशित होता हूँ।

आशा है अब यह समझमें आ गया होगा कि अद्वैतभावको अमृत क्यों कहा गया है। ध्यानमन्त्रमें भी कहा है कि गीता 'भवद्वेषिणी' अर्थात् संसारभावका नाश करनेवाली है। पुनः पुनः जन्म, आवागमन ही संसारबन्धन है। उस भवबन्धनको गीता नष्ट कर देती है। इसीलिए गीताका बारंबार चिन्तन करना आवश्यक है। 'अनुसन्दधामि'—इस भवबन्धनके नाशके लिए बारम्बार तुम्हारा चिन्तन करता हूँ। माता जैसे स्तनपायी शिशुको अपने स्तनसे निकले हुए दुग्धके द्वारा सञ्जीवित रखती है, उसी प्रकार हे गीता-माता, तुमभी अपने वाक्यामृतरूप स्तनपीयूषके द्वारा भवबन्धनरूपी जन्म-मरणके दौरात्म्यसे हमको मुक्त करो।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः॥२॥

(हे) फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र (विकसितपद्मपत्रके समान नेत्रवाले), विशालबुद्धे

(परमार्थविलोकिनी सारग्राहिणी मतियुक्त) व्यास ! ते (तुमको) नमोऽस्तु (नमस्कार हो); येन त्वया (क्योंकि तुमने ही) भारततैलपूर्णः (महाभारतके समान तैल द्वारा परिपूर्ण) ज्ञानमयः प्रदीपः प्रज्वालितः (ज्ञानमय प्रदीप प्रज्वालित किया है।)

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।

ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥३॥

प्रपन्नपारिजाताय (शरणागतके लिए कल्पवृक्ष-सदृश) तोत्रवेत्रैकपाणये (शिष्यके सन्ताड़नके लिए वेत्रदण्डसे सुशोभित हाथवाले) ज्ञानमुद्राय (शिष्य अर्जुनको ज्ञानोपदेश करनेके लिए ज्ञानमुद्रासे युक्त) गीतामृतदुहे (गीतामृतरूपी दुग्धको दुहनेवाले) कृष्णाय नमः (श्रीकृष्णको नमस्कार) ।

भगवान् श्रीकृष्ण शरणागतके कल्पवृक्ष हैं, फिर हमको भय कैसा ? एक बार प्रपन्न होकर उनके शरणमें जाओ, इससे भवभय-खण्डन हो जायगा। जैसे कल्पवृक्ष प्रार्थना पूरा किये बिना प्रार्थीको नहीं लौटाता, वैसे ही श्रीभगवान् भी कल्पवृक्षरूप हैं। हम यदि उनको अपने हृदयकी व्यथा सुना सकें तो उसे दूर किये बिना वह नहीं रहेंगे। वह ज्ञानमुद्रायुक्त तथा वेत्रपाणि होकर हमारे अज्ञान-अविद्याका नाश कर देते हैं। यदि हम पशुओंके समान अज्ञानवश उनके उपदेशके अनुसार नहीं चलते तो जिस प्रकार गुरु शिष्यको दण्ड देते हैं, उसी प्रकार वह हमको दण्ड देंगे। परन्तु उनको वेत्रहस्त देखकर—'महद्भयं वज्रमुद्यतं' देखकर मत डरना। वह कितनी ही ताड़ना क्यों न करें हम नहीं डरेंगे। माता जिस प्रकार उद्दण्ड शिशुको ताड़ना करने पर भी उसके भूख लगनेके समय हाथमें दूध लेकर उसका रास्ता देखती है, उसी प्रकार वह भी हमको विपदमें पड़ा हुआ देखकर निश्चिन्त नहीं रह सकते। माँ जिस प्रकार दूध पिलाकर शिशुकी रक्षा करती है, उसी प्रकार वह भी दीन, आर्त, भीत और व्यथित मनुष्यको ज्ञानामृत के द्वारा अमृत-प्राप्तिका मार्ग दिखला देते हैं। हम उसी ज्ञानमुद्रायुक्त कृपालु जगद्गुरुकी वन्दना करते हैं।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥४॥

सर्वोपनिषदः (सारे उपनिषत्) गावः (गायके समान हैं) गोपालनन्दनः (भगवान् श्रीकृष्ण) दोग्धा (दुहनेवाले), [और] पार्थः (अर्जुन) वत्सः (बछड़ेके समान हैं), सुधीः (पण्डित लोग) भोक्ता (दुग्ध पान करनेवाले हैं), गीतामृतं (गीतारूपी अमृत) महत् दुग्धं (वह महान् दूध है)। उपनिषद्=(उप+नि+ सद् धातु क्विप्), 'सद्' धातुका अर्थ है गमन, 'उप' समीप तथा पश्चात्का बोधक है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या है जिसके द्वारा परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, तथा परब्रह्मके समीप पहुँचा जाता है, अथवा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदिका नियम पालन करनेके बाद जिस विद्याका आरम्भ किया जाता है, एवं जिसके लिए ब्राह्मण-क्षत्रिय वाणप्रस्थ और संन्यासका अवलम्बन करते थे। वर्णाश्रम-विहित कर्मोंका अनुष्ठान किये बिना कोई इस विद्यामें पूर्ण मनोयोग नहीं दे सकता। क्योंकि

विहित कर्मोंको समाप्त किये बिना कोई ज्ञानाधिकारी नहीं हो सकता। परन्तु जो उत्तम अधिकारी हैं उनकी और ही बात है। वे अल्पावस्थासे ही ब्रह्मनिष्ठ होकर ब्रह्म-विचारमें मनोनिवेश करते थे, तथा शम-दमादिसाधन-सम्पन्न होकर ज्ञान-परिपाकके लिए तपस्यामें लग जाते थे। स्वभावसे ही विषयोंके प्रति उनका आकर्षण न होनेके कारण उनका चित्त वैराग्ययुक्त होता था, अतएव थोड़े ही परिश्रमसे उपराम प्राप्त कर वे योगारूढ़ होकर सर्वकर्म ब्रह्मार्पण करते हुए जीवन्मुक्त अवस्थामें जगत्में विचरण करते थे। परन्तु इस प्रकारके अधिकारी सदा ही कम होते हैं। इसी कारण साधारण मनुष्यके लिए यह नियम था कि वे वर्णाश्रम-विहित नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासनादि कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए उनके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध कर अर्थात् शम-दमादिसाधन-सम्पन्न होकर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुका आश्रय ग्रहण करते थे। रामगीतामें भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं—

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये॥

वेदोंमें विविध कर्मकाण्ड तथा याग-यज्ञोंकी व्यवस्था कर, वेदोंके उत्तर भागमें भगवत्प्राप्तिकी विधि-व्यवस्था वर्णित है। वेदोंका यह उत्तरभाग ही उपनिषद् है। ब्रह्मज्ञान और साधनादिके विषयोंसे उपनिषद् परिपूर्ण हैं। ऐसे सुन्दर भावसे, सहज ढङ्गसे इनमें ब्रह्मविज्ञानकी विवेचना की गयी है कि उसे देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता है। ये उपनिषद् ही ऋषियोंके ब्रह्मज्ञानका अतुल भण्डार हैं। इनका अध्ययन करने या इनमें प्रवेश करनेसे जीवन कृतार्थ और धन्य हो जाता है। इन ब्रह्मतत्त्वसे परिपूर्ण उपनिषदोंकी गौरूपमें कल्पना की गयी है। इन गौवोंको दोहन किया है गोपालनन्दन अर्थात् ग्वालेके पुत्रने। गाय खूब दुधार हो तथापि जो अच्छी तरह दुहना नहीं जानता, उसको वह प्रचुर दूध नहीं देती। क्योंकि जो दोहन-क्रियाको नहीं जानता वह अमृत-प्राप्तिके उपयुक्त नहीं होता। इसीसे गोपालनन्दन श्रीकृष्ण इनके दोग्धा बने हैं। वह ग्वाल-पुत्र हैं, वह निश्चय ही भलीभाँति दूध दुह सकेंगे। 'गोपालनन्दन' का एक और अर्थ खूब सुन्दर और सङ्गत है। गोका अर्थ है इन्द्रिय, उसका जो पालन करते हैं। सारी इन्द्रियोंका पालन कौन करता है? हमारा मन। इस मनको जो आनन्द प्रदान करता है वह है नित्य चैतन्य आनन्दघन आत्मा। पहले भी हम यह कह चुके हैं कि आनन्द ही जीवका एकमात्र उपसेव्य है। यथार्थ आनन्द को न पाकर, या आनन्द-प्राप्तिकी आशासे ही जीव विषयोंको ग्रहण करनेके लिए दौड़ता है। वह आनन्द आत्मा ही है—'ब्रह्मानन्दरूपममृतं यद्विभाति'—आत्माको देख लेने पर ही मनका विषयभ्रमण समाप्त हो जाता है। जो आत्मा को जानता है वह आत्मानन्दमें मग्न होकर आत्मस्वरूप हो जाता है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। वह आत्मानन्दमें मग्न ब्रह्मवित् पुरुष ही उपनिषद्के मर्मको जानता है, क्योंकि वही उपनिषद्रूपी गौसे ज्ञानामृत दुग्ध निकाल कर जीवोंका

कल्याण साधन कर सकते हैं। इसी कारण गोपालनन्दनने उपनिषदोंसे यह गीतामृत दुग्ध दुहकर निकाला है। परन्तु गाय दुधार हो, और उपयुक्त दुहनेवाला भी दूध दुहनेके लिए उपस्थित हो, किन्तु गायका बछड़ा न हो तो क्या गाय अच्छी तरह दूध देगी? इसीलिए बछड़ेकी जरूरत होती है। उपयुक्त शिष्यके बिना क्या गुरु रहस्यकी बात प्रकट कर सकते हैं? इस प्रकार रहस्यकी बात प्रकट करनेका शास्त्रोंमें निषेध भी है। इसीसे भागवतमें ऋषियोंने सूतसे कहा है—'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।'

बछड़ेको देखकर गायके स्तनसे जिस प्रकार दूधकी धार स्वतः बहती है उसी प्रकार उपयुक्त शिष्यको देखकर करुणार्द्रचित्त गुरुके अन्तःकरणसे अमृतका प्रवाह फूट पड़ता है, गुरु शिष्यके त्रिविध तापोंको हरनेके लिए उसे इस अमृतरूपी पीयूषको पान कराकर सदाके लिए तृप्त कर देते हैं।

महाधनुर्धर, इन्द्रियविजयी श्रीमान् अर्जुन, श्रीकृष्णके उपयुक्त शिष्य थे। वह यहाँ वत्सका काम कर रहे हैं। आज हमारा यह सौभाग्य है, हमारे देशका सौभाग्य है, समस्त मानव समाजका परम सौभाग्य है कि हमने उपनिषद्रूपी गौसे गीतामृत-दुग्धको दुहनेके लिए पार्थको वत्स-रूपमें पाया है। परम भक्त महानुभव अर्जुनकी कृपासे आज जगत्को गीतामृत-दुग्धका सन्धान प्राप्त हुआ। भक्तोंके भगवान्, अर्जुनके प्राण-सखा श्रीकृष्णने अर्जुनके अज्ञानजनित मोहको नष्ट करनेके लिए ही तो इस गीतामृत-दुग्धका दोहन किया था। हे मेरे प्रिय बन्धुजन, आओ और देखो आज यह अमृत-दुग्ध परोसा जा रहा है। तुम्हारे पास जैसा जैसा पात्र हो उसके अनुसार इस गीतामृत-दुग्धको भर ले जाओ और उसका पान करके जीवनको धन्य बनाओ। क्योंकि इस दुग्धका पान करनेवाले 'सुधी' हैं, जिनकी उत्तम (सु+धी) बुद्धि है, अर्थात् जो बुद्धि विषयाभिमुख जानेवाली नहीं, बल्कि परमार्थको दिखलानेवाली है। यह बुद्धि जिनके पास है, वही इस दुग्धका पान कर सकेंगे। और हम? हम तो कुधी हैं, हमारी बुद्धि विषयानुगामिनी है, केवल विषयोंकी ओर दौड़ती है। हमारे पास उस दुग्ध, उस अमृतको पान करनेका सामर्थ्य कहाँ है? तब हम क्या करें? हम दर्शक बनकर उस दुग्धको आँखें भरकर देखें और यदि भाग्योदय हो तो, हम सुधी भक्तोंके पीनेसे बचा-खुचा घट-संलग्न थोड़ा-बहुत दूध भी पा जायँ—इस आशासे साधु महानुभव, सुधी सज्जनोंके द्वार पर खड़े रहेंगे। क्या वे हमारे ऊपर करुणापूर्ण दृष्टिसे एक बार नहीं देखेंगे?

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानंदं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥५॥

वसुदेवसुतं (वसुदेवके पुत्र), कंसचाणूरमर्दनं (कंस और चाणूर नामक दैत्यों का नाश करनेवाले), देवकीपरमानन्दं (देवकीको परम आनन्द देनेवाले) जगद्गुरुं (जगत्के गुरु या ज्ञानदाता) कृष्णं देवं (कृष्णरूपी परम देवताको) वन्दे (प्रणाम करता हूँ)।

शब्दमें बड़ी मोहिनी शक्ति है। शब्दके द्वारा जीवका मन मुग्ध हो जाता है। सर्प, जो इतना क्रोधी स्वभावका होता है, वह भी बाँसुरीकी ध्वनिसे मोहित होकर उसे स्थिरतापूर्वक सुनने लगता है। शब्दके द्वारा ही मनुष्य प्रिय या अप्रिय बनता है। मनुष्य सुस्वर या सुन्दर शब्दका बड़ा प्रेमी होता है। यही कारण है कि सुमधुर कण्ठवाली कोकिलको हम इतना चाहते हैं और कर्कश स्वर वाले कौएको फूटी आँखों नहीं देखते। रूपसे मनुष्य तो मुग्ध होता ही है, पर शब्दसे मनुष्य क्या, मनुष्येतर प्राणी भी मुग्ध हो जाते हैं। शिशुकी मधुर तुतलाहट मनुष्यको कितना विमोहित करती है! शब्दके सुनते ही मानो हमारे मनोवेगमें बाढ़ आ जाती है! शब्दके द्वारा ही हम जटिल बन्धनमें आबद्ध हो जाते हैं। यह शब्द ही प्रथम तत्त्व आकाश का गुण है। जिस प्रकार शब्द हमारी मानस वृत्तिको निम्नसे निम्न स्तरकी ओर ले जाता है उसी प्रकार शब्द ही हमको उच्चतम आध्यात्मिक सोपानमें भी ले जा सकता है। जो शब्द चित्तमें इन्द्रियभोगके लिए उत्तेजना उत्पन्न कर मनुष्यको निम्न स्तरमें डाल देता है, वह आसुरी शब्द है। चाणूर भी वही है। 'चण्' धातुका अर्थ है शब्द करना, और कंस 'कम्' धातुसे बना है जिसका अर्थ है वाञ्छा करना। कामना ही तो जीवके बन्धनका मुख्य पाश है। कामना-पाशमें बँधकर जीव असंख्यों वार जन्म-मृत्युका अभिनय करता हुआ भरमता है। जैसे जीवकी कामनाका अन्त नहीं है उसी प्रकार उसके दुःख और दुर्गतिका भी अन्त नहीं है। इसीलिए भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि, 'कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्'। परन्तु क्या यह कामना सहज ही जा सकती है? ज्ञानके बिना कामनाका नाश नहीं होता। सत्त्वशुद्धिके बिना ज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता। तब इस भयङ्कर, ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले दुष्पूरणीय कामको किस प्रकार जय किया जाय? इसीके लिए जगद्गुरुके चरणोंका आश्रय लेनेकी आवश्यकता है। आओ, हम उसी परमानन्द-स्वरूप साक्षात् ज्ञानरूपी परमात्माके शरणापन्न होवें और उनको प्रणाम करें। इस महामोहमय संसार-स्थितिके प्रधान सहायक कामनारूपी कंसासुरका, तथा कामनाके प्रधान सहायक ध्वनिरूपी चाणूर दैत्यका संहार करने वाले वही हैं। वही वसुदेवसुत वासुदेव हैं। वसुदेवका अर्थ है विशुद्ध सत्त्व। 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवसंज्ञितं'—इस विशुद्ध सत्त्वसे अद्वयज्ञानरूपी परमात्माकी उपलब्धि होती है। अद्वयज्ञान-स्वरूपका बोध होने पर सारी वासनायें मिट जाती हैं। शब्दसे मोहित होकर जीव चाहे जितना अपकर्म करता हो, ज्ञानका उदय होने पर शब्दका वह आकर्षण समाप्त हो जाता है। तब एक अनादि अव्यय आत्मा और एक अनादि अनाहत शब्द अवशिष्ट रहता है। जिसकी कृपासे जीव संसार-समुद्रको पार कर सकता है वह देवकीके परमानन्द भी हैं। क्योंकि देवभावापन्न बुद्धिमें ही भगवान् आनन्दमय-रूपमें प्रकाशित होते हैं। सब लोग उनका आश्रय नहीं कर सकते। जिनके रजस्तमोभाव अथवा काम-लोभादि दूर हो गये हैं, उन्हींको भगवान् प्रिय लगते हैं। देवभावापन्न, सत्त्वगुण-सम्पन्न साधुजनोंके लिए, यह आत्मा या भगवान् कितने मधुर, कितने सुन्दर, कितने प्रिय होते हैं! 'प्रेयः पुत्रात् श्रेयो वित्तात्'—पुत्रकी अपेक्षा वह प्रिय हैं, वित्तकी

अपेक्षा भी वह श्रेय हैं। इस प्रेय और श्रेय आत्माको पाकर देवभावापन्न साधुजनोंके आनन्दकी सीमा नहीं रहती। वे मुग्ध होकर, व्याकुल होकर उनकी ओर दौड़े बिना नहीं रह सकते। भगवान्‌की बाँसुरीकी ध्वनि अथवा अनादि अनाहत शब्द जीवके हृदयमें निरन्तर ध्वनित होने पर भी विषयासक्त जीव उसे नहीं सुन पाता। परन्तु सत्त्वगुणयुक्त दैवी-प्रकृति-सम्पन्न साधक उनकी अनादि वंशीकी ध्वनिको अपने हृदयकुञ्जमें बजते हुए सुनते हैं। इसीलिए वे सब कुछ छोड़कर उनकी ओर अभिसरण करनेमें क्षणभर भी नहीं रुकते। यह ज्ञानस्वरूप, परम प्रेमास्पद आत्मा सबके हृदयके हृदयवल्लभ अभीष्ट देवता हैं।

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्त्तकः केशवः ॥६॥

भीष्मद्रोणतटा (भीष्म और द्रोण जिस युद्धरूपी नदीके तट हैं), जयद्रथ-जला (जयद्रथ जल रूप हैं), गान्धारनीलोत्पला (गान्धार अर्थात् शकुनि नीलकमल रूप हैं), शल्यग्राहवती (शल्य जिसके ग्राहरूप हैं), कृपेण वहनी (कृपाचार्य जिसके प्रवाह या स्रोत हैं), कर्णेन वेलाकुला (कर्ण जिसकी वेलाभूमि हैं) अश्वत्थामविकर्ण-घोरमकरा (अश्वत्थामा और विकर्ण जिस नदीके घोर मकररूप हैं) दुर्योधनावर्त्तिनी (दुर्योधन जिसका आवर्त्त या भँवर है) सा रण-नदी (वह कुरुक्षेत्रकी युद्धरूपी नदी) खलु (निश्चय ही) पाण्डवैः (पाण्डवोंके द्वारा) उत्तीर्णा (पार की गयी)। [क्योंकि] केशवः कैवर्त्तकः (श्रीकृष्ण उसके कैवर्त्तक यानी पार करने वाले नाविक हैं।)

कुरुक्षेत्रकी युद्ध-नदी कैसे सुन्दर भावसे सज्जित है! नदीमें जिस प्रकार अगाध जल है उसी प्रकार प्रवाह भी तेज है। वह भयानक आवर्त्तोंसे युक्त, बहुतेरे ग्राहोंसे परिपूर्ण होकर और भी भयानक हो रही है। नदी चाहे जैसी हो, यदि उसकी वेलाभूमि विशाल है तो वह नदीको बड़ा भयङ्कर बना देती है। हम सभी पारके यात्री हैं, नदीके तटपर आकर बैठे हैं। बैठे बैठे सोच रहे हैं कि इस अपार स्रोतस्विनीको पार कैसे करें? भीषण जलजन्तुओंसे भरे, घोर आवर्त्तमय, अगाध जलराशिको पार करनेके लिए उत्तम तरणी और सुदक्ष कर्णधारकी आवश्यकता है।

अपारसंसारसमुद्रमध्ये सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति?
गुरो कृपालो कृपया वदैतत् विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका।

अपार संसार-सागरमें डूब रहा हूँ, क्या मेरे लिए कोई आश्रय है? हे कृपालु गुरुदेव, कृपा करके मुझे वह उपाय बतलाइये। गुरुने कहा—विश्वेश्वर भगवान्‌के चरण-कमल ही उस महासमुद्रको पार करनेके लिए सुदीर्घ नौका है। भगवान् श्रीकृष्ण जिस नदीके पारावारके नाविक हैं, उस श्रीकृष्ण या आत्माके शरणापन्न

हुए बिना इस संसार-सरिताको हम कैसे पार करेंगे ? भवका अर्थ है जन्मना। हम जगत्‌में निरन्तर आते-जाते हैं। नदीकी तरङ्गके समान इस आने-जानेका अवसान नहीं है। हमारे इस जन्म-मरणका कारण है अनादि अविद्या। इस अज्ञान, अविद्याका पारावार नहीं है। किस अतीतकालसे संसारका यह आवागमन चल रहा है इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। इसीसे अत्यन्त कातर होकर नदीके किनारे बैठकर रो रहा हूँ। कौन मुझे पार करेगा ? दयालु गुरुने दया कर संसार-मग्न जीवको बतला दिया कि तुम शरणापन्न होकर व्याकुल चित्तसे श्रीकृष्णके चरण-कमलका ध्यान करो और उनसे कहो, 'भगवान्, मेरी नैया पार लगाओ।' हे पारके जानेवालो, क्या भवनदीको देखकर तुम सचमुच ही भयभीत हो रहे हो ? घोर अन्धकारसे दिशाओंको आच्छन्न देखकर तुम्हारे प्राण क्या निराश होकर रो रहे हैं ? 'नाविक, तुम कौन ? कहाँ ?'—यह कहकर तुम भवसिन्धुके किनारे क्या उच्चस्वरसे क्रन्दन करके किसीको पुकार रहे हो ? यदि इस प्रकार त्रस्त और व्याकुल चित्तसे पुकार सको तो पुकारो, बारम्बार पुकारो, तुम्हारी पुकार सुनकर, जिनका पादपद्म इस भवसागरको पार करनेवाली नौका है, वह प्रभु तुरन्त आ पहुँचेंगे। और तुमको अपनी नौकामें (चरण-सरोजमें) स्थान भी देंगे। इसलिए एक बार इस तरह पुकारो जिस तरह मृत्युको निकट आते देखकर भक्त प्रह्लादने आर्त्तभावसे पुकारा था, जिस प्रकार हिंस्र जन्तुओंसे संकुल निर्जन वनमें भयसे विह्वलचित्त होकर ध्रुवने पद्मपत्रलोचन कहकर प्रभुको पुकारा था, जिस प्रकार सभामें विवसना करनेके लिए दुःशासनको उद्यत देखकर द्रौपदीने प्राण खोलकर हृदयसे उनको पुकारा था और जिस प्रकार गजने ग्राहके भयसे हताश होकर व्याकुल चित्तसे उनको पुकारा था। एक बार भी यदि इस प्रकार तुम पुकार सको या अनन्यचित्तसे उनको स्मरण कर सको तो वह अवश्य पास आकर उपस्थित हो जायँगे, तथा अपने करकमलोंसे अभय प्रदान करके हमारेचिरकालके अशान्त हृदयमें शान्ति स्थापित करेंगे।

जिस प्रकार भीष्म और द्रोण इस रणनदीके दो तट हैं, उसी प्रकार हमारे भय और विक्षेप संसारनदीके दो तट हैं। विविध कामनाएँ इस नदीका जल हैं। जयद्रथका अर्थ है जयशील रथ। हमारी असंख्य कामनाएँ ही अध्यात्ममार्गके विरोधीपक्षका विजयशील रथ है। जब तक कामनाएँ हैं, उतने दिनों तक अध्यात्मका मार्ग बन्द समझो। सब प्रकारके दुष्कर्मोंमें दुःसाहसका ही नाम जयद्रथ है। शल्य अर्थात् नाना प्रकारके दुर्वचन संसारनदीके ग्राह हैं। जिनकी सदा निन्दित कर्मोंमें रुचि होती है, जिनके साथ युद्ध करके विजयी होना सहज नहीं, वह दुर्योधन या दुर्मति ही संसार प्रवाहके घोर आवर्त्तरूप हैं। इस आवर्त्तमें पड़ जाने पर उठनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं होती। गान्धार अर्थात् शकुनि इस संसारनदीके घोर दुर्निमित्तस्वरूप दुर्लक्षण हैं। कृपाचार्य अर्थात् कृपा या ममता, जो संसारनदीका प्रवाह है, यदि नहीं होती तो वह नदी सूख जाती। जिस संसारका न आदि है और न अन्त 'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा' उस संसारको भी ममताके द्वारा ही हम जकड़े हुए हैं। इसी कारण कृपाचार्य

भ्रमर हैं। कर्ण—यानी अन्धविश्वास, इस नदीकी वेलाभूमि है। अन्धविश्वासके वशवर्ती होकर ही लोग संसारमें आसक्त होते हैं। अन्धविश्वासकी सहायतासे ही दुर्मति अनर्थ उत्पन्न करती है। इस अन्धविश्वासके कारण ही अभिमान और अपनी शक्तिके ऊपर असीम विश्वास होता है। वेलाभूमिके कारण ही एक नदी बीसों कोस विस्तृत जान पड़ती है। वेला देखकर मनमें लगता है कि नदी पार होना शायद सम्भव नहीं है। विकर्ण—जिनको कान नहीं हैं, जो सदुपदेश सुनकर भी नहीं सुनते, सभी बातोंमें जिनका विश्वास उठ गया है। अश्वत्थामा—जो सत्य नहीं है, मन मानो कल्पवृक्ष है, मनमें दिनरात कितनी ही कल्पनाएँ उठा करती है, तथापि सारे मनोवेगोंमें कुछ स्थायीपन नहीं होता—ये विकर्ण और अश्वत्थामा, संसारनदीके मकर हैं। ये ही पार जानेवाले यात्रियोंके तीन भाग खा जाते हैं। इस अनन्त वासना-वेगमयी रणनदीसे जो हमको पार लगावेंगे, वह ब्रह्मादि देवताओंके भी अनुग्राहक केशव हैं। केशवका अर्थ है जो क्षयोदयरूपी विकार या अस्थिरता को दूर करते हैं। वह कूटस्थ चैतन्य-स्वरूप हैं, सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे अवस्थित हैं। मनको स्थिर करने पर ही चित्तका चाञ्चल्य दूर होता है। मनका यह शान्त और शिवभाव ही केशव है। वही केशव हमको संसाररूपी भीषण युद्धमें बल और साहस देते हैं।

पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेशरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम्।
लोके सज्जन-षट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥७॥

कलिमलप्रध्वंसि (कलिमलके नाशक—अहङ्कार, अविश्वास, कपट, परद्रोह, व्यभिचार आदि सब कलिमल हैं) गीतार्थगन्धोत्कटं (श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेशरूपी सुगन्ध) नानाख्यानककेशरं (विविध सत्कथारूपी केशरसे युक्त) हरिकथासम्बोधनाबोधितं (हरिकथारूपी ज्ञानोपदेशके द्वारा प्रबोधित) लोके (संसारमें) अहरहः (प्रतिदिन) सज्जनषट्पदैः (सज्जनरूपी भ्रमरोंके द्वारा) मुदा (आनन्दके साथ) पेपीयमानं (पुनः पुनः पीयमान) पाराशर्यवचःसरोजं (पराशरपुत्र वेदव्यासके मुखसरोवरमें उत्पन्न) अमलं (निर्मल, शुद्ध) भारतपङ्कजं (महाभारतरूपी कमल) नः (हमारे) श्रेयसे (कल्याणार्थ) भूयात् (होवे)।

इस महाभारतरूपी कमलपुष्पका गीता ही मनोहर तीव्र गन्ध है—जिस गन्धसे मुग्ध होकर सज्जनरूपी भ्रमरगण उसका मधु प्राप्त करनेके लिए व्याकुल रहते हैं। उस मधुर गन्धसे लुब्ध होकर हमारे सद्विवेकशील बुद्धिरूपी भ्रमर क्या अन्य विषयरूपी फूलोंके आस्वादकी मधुरताको ग्रहण करनेसे न रुकेंगे ? अनेक बार जन्म हुए हैं, अनेक बार इस संसारमें हम आये हैं, शब्द-स्पर्श-रूप-रस आदि विषयोंके मदिर गन्धसे अन्धे होकर उनके पीछे अनेक जन्म खो डाले हैं। अहंकार, अविश्वास, परपीड़न, लम्पटता, कपट, अनृत और अभिमान रूपी कलिमलमें सारा

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पङ्किल हो उठे हैं। उससे एक वमनकारी दुर्गन्ध निरन्तर बह रही है। आज हम अपने अन्तःकरणकी भीषण दुर्गन्धसे स्वयं व्याकुल हो रहे हैं। क्रमशः दुर्गन्ध असह्य होती जा रही है। मेरे इस शरीर और मनसे निरन्तर उठने वाली यह पूतिगन्ध किस प्रकार दूर होगी, यह भीषण कलिमल कैसे मिटेगा, क्या कोई बतला सकता है? हे सज्जनो, उदार हृदय साधुजन! क्या आप लोगोंके पास इसकी कोई औषधि है? सुनो, परम कारुणिक शास्त्रकार ऋषिगण हमारे दुःखसे व्यथित होकर हमको पुकारकर उच्च स्वरसे कह रहे हैं, "हे चिररोगी, हृत-स्वास्थ्य, रास्ता भूले हुए थके पथिक, तुम्हारे सारे अङ्ग जिन व्रणोंसे भरे हैं, उनसे बड़ी विकट दुर्गन्ध निकल रही है। क्या तुमको इसका भान हो रहा है? अब तक तुमने रोगको रोग नहीं समझा, केवल उदासीन बने बैठे रहे, अब तो उस रोगके कीटाणु सारे शरीर और मनको दूषित करके जीर्णशीर्ण बना रहे हैं। यदि अपनी दुर्दशाको इस बार तुमने समझा हो, यदि अपनी दुर्गन्धसे अस्थिर हो रहे हो, तो एक बार हृदयको जुड़ा देनेवाले, तथा नेत्रोंको लुभानेवाले उस ज्ञान सरोवरको देखो, एक बार उसमें अवगाहन करो, एक बार उसमें अपनेको निमज्जित कर दो तो तुम देह और मनके त्रिविध व्रणों और अजस्र दुर्गन्धयुक्त पूयराशि तथा उससे उठनेवाली वृश्चिक-दंश जैसी जलनसे मुक्त हो जाओगे। एक बार सब कुछ भूलकर इस स्वच्छ नीरमें उतर पड़ो और मुँहसे बोलते जाओ—'हरे मुरारे मधुकैटभारे'। और एक बार इधर देखो, ज्ञान-सरोवरके बीचमें उसके अथाह जलको भेदते हुए कैसा सुन्दर, शोभामय, अपरूप, कमल फूट निकला है, उसे जरा आँखें खोलकर देखो तो! तुमको दीख पड़ेगा कि उसकी अपूर्व सुषमासे, अनन्त सौरभसे, उसके स्निग्ध किरणोंसे दिग्दिगन्त भर उठे हैं। भक्तिके मृदु पवनकी हिलोरसे प्रवाहित होकर उसकी अपूर्व सुगन्ध तुम्हारी देह और मनमें पवित्रताकी अमोघ औषधिका अनुलेपन कर रही है। वह देखो तुम्हारे सारे व्रण सूख गये, उसकी सारी दुर्गन्ध दूर हो गई। तुम अब कितने सुन्दर और मनोहर दीख रहे हो! तुम्हारी देह, प्राण और मनको मानो नये ढङ्गसे गढ़ दिया है! वह देखो जलमें कितने फूल खिले हैं! उनके बीचमें देखो एक अपूर्व सुरभिमोदित कमलिनी! उसकी कितनी सुन्दर और स्निग्ध गन्ध है। वही गीता है। जब गीताको समझ सकोगे तो उसकी अपूर्व सुषमासे तुम मुग्ध हो जाओगे, तब तुम्हारा जीवन भी एक सुन्दर पद्ममें परिणत हो जायगा। तब तुम उस शोभा-भरे, गन्धसे पूरित हृदय-कमलको श्रीगुरुके चरणोंमें अञ्जलि प्रदान करना। कृतार्थ हो जाओगे। वह गुरु श्रीकृष्ण हैं। सभी गुरु श्रीकृष्ण हैं। उनके द्वारा आकर्षित न होने पर क्या कोई उस देशमें पहुँच सकता है?"

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥८॥

यत्कृपा (जिसकी दया) मूकं (वाक्शक्तिविहीन मनुष्यको) वाचालं (केवल वाक् शक्ति विशिष्ट ही नहीं, बल्कि अत्यन्त मधुर भाषामें मधुर भावमें बोलनेकी शक्तिसे युक्त) करोति (करती है), पङ्गुं (गतिशक्तिविहीन लंगड़ेको) गिरिं (पर्वत)

लङ्घयते (लाँघनेकी शक्ति प्रदान करती है) तं (उस) परमानन्दमाधवं (परमानन्द-विग्रह कमलापति श्रीकृष्णको) वन्दे (अभिवादन करता हूँ)।

कमला निरन्तर जिनकी चरण-सेवा कर रही हैं उस षड्-ऐश्वर्यसम्पन्न रमापति भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना करनेसे सारे अभीष्ट सिद्ध होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। जो मनके द्वारा निरन्तर उनके शरणापन्न होते हैं, और साष्टाङ्ग प्रणामकर उनके चरणोंमें प्रणत होते हैं वे पङ्गु, वाक्शक्तिविहीन अथवा बधिर ही क्यों न हों, उनसे बढ़कर सौभाग्यशाली और कोई नहीं हो सकता। निश्चय ही उस समय सारे दुर्भाग्योंके दूर होनेमें पल मारनेकी भी देर नहीं लगती। परन्तु इस भूतल पर न जाने कितने भक्त, कितने ज्ञानी अजस्र कष्ट पा रहे हैं, उनका दुःख तो दूर होते नहीं देखा जाता। इसका कारण यह नहीं कि भगवान्में सामर्थ्यकी कमी है। यथार्थ भक्त-साधक कभी इस प्रकारकी दयाकी भिक्षा ही नहीं माँगते। वह केवल इनके स्मरणके आनन्दमें डूबे रहना चाहते हैं। अन्न जुटा या नहीं, दुःख मिटा या नहीं—इसकी उनको तिल मात्रभी चिन्ता नहीं होती। इसीलिए भक्त कबीरने कहा है—

भक्ति भेख बड़ अन्तरा जैसे धरनि अकास।
भक्त जो सुमिरे रामको भेख जगतकी आस॥

वास्तविक भक्ति और भेखमें बड़ा अन्तर होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे पृथ्वी और आकाशमें अन्तर होता है। जो भक्त हैं वह और किसीकी अपेक्षा नहीं करते। आत्मारामकी शरणमें जाकर वह केवल उनका ही स्मरण करते हैं; और जो भक्तका साज बनाए फिरते हैं, वह केवल जगत्‌की ओर देखते हैं।

वस्तुतः जिस पर रामकी कृपा है, उसे सांसारिक ऐश्वर्यकी आवश्यकता ही क्या है? उनके भजनके आनन्दका स्वाद जिसको एक बार मिल गया है वह इन्द्रत्व की भी कामना नहीं करेगा। तुलसीदासने कहा है—

तीन टूक कौपीनको अरु भाजी बिन लोन।
तुलसी रघुबर उर बसे, इन्द्र बापुरो कोन॥

यदि राम हृदयमें वास करते हैं, और तीन टूक कोपीन पहनने को तथा बिना लवण साग खानेको मिल जाता है, तो फिर इन्द्रकी परवाह कौन करे?

जीवनमें सबसे बढ़कर दुर्भाग्य और सबसे बढ़कर पराजय है भजनमें आनन्द न पाना। भजन करनेमें जिसका मन लगता है, वह तो राजाओंका भी राजा है।

कबीर कहते हैं—राम भजे दारिद भला टूटी घरकी छान।
राम भजे कोढ़ी भला चू चू गिरता चाम॥

जिसके घरकी छान चलनी हो गयी है, ऐसा दरिद्र भी यदि रामका भजन करता है तो उसकी वह दरिद्रता ही ठीक है। यदि कोई रामका भजन करता है और उसे गलितकुष्ठ हो गया है तो वह भजनहीन सुन्दर लावण्ययुक्त शरीरवालेसे श्रेष्ठ है।

अतएव जो चतुर पुरुष हैं, वह भगवान्‌की उपासनाके द्वारा जीवनको कृतार्थ करनेकी चेष्टा करते हैं।

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥८॥

ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः (ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और वायु देवता) दिव्यैः स्तवैः (सुन्दर पदयुक्त स्तवनोंके द्वारा) यं (जिसको) स्तुन्वन्ति (स्तुति करते हैं), सामगाः (श्रुतिमधुर सामगान करनेवाले) साङ्गपदक्रमोपनिषदैः वेदैः (अङ्ग पदक्रम, और उपनिषदोंके साथ वेदोंके द्वारा) यं (जिसको) गायन्ति (गान करते हैं), योगिनः (योगीजन) ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा (ध्यानमें अवस्थित उसमें ही मन लगाकर) यं (जिसको) पश्यन्ति (देखते हैं), सुरासुरगणाः (देवता और असुर लोग) यस्य (जिसका) अन्तं (सीमा) न विदुः (नहीं जानते) तस्मै देवाय नमः (उस परम देवताको नमस्कार हो)।

सारी वस्तुएँ स्वप्नके समान क्षणभङ्गुर, उत्पत्ति-विनाशस्वभाववाली तथा अनित्य हैं। ज्ञानी लोग नित्यानित्यका विचार करके दुःखशोकप्रद विषयोंमें लुब्ध नहीं होते। वे उस वस्तुकी खोज करते हैं जो ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा पूजित है। नित्य योगमें मग्न रहनेवाले पुरुष ध्यानावस्थित-चित्तसे उनको देखते हैं। वेदादि शास्त्रोंमें उन्हींकी महिमा कीर्तित हुई है। वह अनित्य वस्तुओंके समान इन्द्रिय-गोचर नहीं है। तथापि देवता और असुर, मनुष्य और पशु-पक्षी तथा कीट सबके ही वह प्रिय और बन्धु हैं, क्योंकि वह आत्मा हैं। उनका अन्त कोई नहीं जानता, समस्त देवताओंके भी देवता उन महामहेश्वरको बारंबार नमस्कार हो।

अस्तु, जब देवता लोग ही उनका अन्त नहीं पाते, तो असुरगण उनका अन्त कैसे पा सकते हैं? यहाँ असुरका नाम लेनेकी क्या आवश्यकता थी? असुरभी देवताओंके समान शक्तिशाली और बुद्धिमान जीव हैं। वे भी घोरतर तपस्या करनेके लिए सदा ही तत्पर रहते हैं। देवताओंके साथ उनकी पृथकता इतनी ही है कि देवता लोग सामान्यतः सात्त्विक भावसे युक्त और ध्यानशील होते हैं, उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है, तथा वे सभी ज्ञानी होते हैं, अतएव भगवान्के प्रिय हैं। और असुर लोग दम्भ तथा अहङ्कारसे युक्त और बड़े ही दर्पवाले होते हैं। वे भी असाध्य-साधन करते हैं, परन्तु वे देह-इन्द्रिय आदि आत्मशक्तिपर ही अधिक निर्भर करते हैं, अतएव भजनशील होते हुए भी वे ज्ञानी नहीं हैं। अतएव वे विषयादिकोंसे निःस्पृह न होकर प्रधानतः कामोपभोगमें रत रहते हैं। वे भी घोर उत्कट तप करके बहुत शक्ति प्राप्त करते हैं। परन्तु उनकी चित्तवृत्ति बहिर्मुख होती है, अतएव अन्यान्य विषयोंमें बहुत ज्ञान प्राप्त करने तथा नानाप्रकारके ऐश्वर्यका अधिकारी होने पर भी आत्मतत्त्वके विषयमें अथवा आध्यात्मिक सम्पद्में उतना

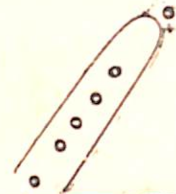
सम्पन्न नहीं होते। वे भगवान्‌को अपना मानकर भजन नहीं कर सकते। अतएव आत्मज्ञानकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जाते हैं।

ब्रह्मादि देवता विभु और भगवान् होते हुए भी सर्वदा आत्माकी उपासना करते हैं। 'सो नहिं जानत मर्म तुम्हारा'—वे भी परमात्माकी महिमा पूर्णरूपसे नहीं जान सकते। फिर दूसरा कोई उसे कैसे जान सकेगा? वे भी सदा ही आत्माके सुविमल यश और महिमाका कीर्तन करनेकी कामना करते हैं। ऐसी अवस्थामें हम सामान्य मनुष्य यदि प्राण भरकर उनकी महिमाका गान नहीं करते, उत्तम पदोंके द्वारा उनका स्तवन नहीं करते तो फिर हमारी चरित्र-शुद्धि कैसे होगी? उनकी महिमाका कीर्तन करनेसे हृदय भक्तिरससे आप्लुत होता है, भला इसके बिना चित्त भजनानन्दमें प्रवृत्त क्योंकर होगा? योगीलोग तद्गतचित्त होकर, मनमें मनको डुबाकर उनके स्वरूपका दर्शन करते हैं। हम भी यदि उनको देखनेकी इच्छा करते हैं तो अपने चित्तको तद्गत करना पड़ेगा। यदि अपने भीतर कुछ भी अभिमान है तो हम उनमें पूर्णतः मग्न नहीं हो सकते। अतएव सब भूलकर, सब छोड़कर अनन्य चित्तसे उनका आश्रय ग्रहण करना चाहिए। हमारे नेत्र, मन और बुद्धिके लिए अगोचर होते हुए भी वह प्रत्येक हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान हैं। अतएव यदि हम उनके लिए कातर होकर उन्हें पुकारें, तो हमारे कातर क्रन्दनको सुनकर वह दयालु प्रभु निश्चय ही रुक न सकेंगे। वह हमारे आत्मीय हैं, निज जन हैं, वह हमारे 'मैं' हैं, वह सबके सर्वस्व प्रियतम आत्मा हैं। हमारा आह्वान सुनकर वह हमारे सम्मुख निश्चय ही आवेंगे। जड़ताके महाव्यूहको भेदकर वह जड़ातीत चैतन्य प्रभु हमारे नेत्र और मनके भ्रमको मिटाकर हमारे सामने अवश्य प्रकट होंगे। तब हम उन भुवनमोहन श्यामसुन्दरको देखकर अर्जुनके समान कह सकेंगे कि—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

———

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।



इस शरीरमें ॐकार रूप

ब्रह्म	कूटस्थ (परशिव)	आज्ञा	निरंजन	परव्योम
ँ	सदाशिव	विशुद्धाख्य	व्योम	आकाश
म	ईश्वर रुद्र	अनाहत	मरुत्	वायु
उ	रुद्र	मणिपूर	तेज	अग्नि
अ	विष्णु	स्वाधिष्ठान	अप्	मूत्र
	ब्रह्मा	मूलाधार	क्षिति	विष्ठा

ब्रह्मरन्ध्र	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म
कण्ठ	ए	उन्मनी	पुण्यद्रविण्
हृदय	इ	अगोचरी	औटपिटक्
नाभि	म	खेचरी	गोहाट्
लिङ्गमूल	उ	चाँचरी	त्रिहट
गुह्यद्वार	म	भूचरी	त्रिकूट

निःशब्द	अवाच्य	विदेह
परापरावाक	कैवल्यावस्था	कैवल्यज्ञान देह
परावाक	तूर्यावस्था	महाकारण देह
पश्यन्ती	सुषुप्तावस्था	कारण देह
मध्यवाक	स्वप्न	लिङ्ग देद
वाक वैखरी अवस्था	जाग्रत	स्थूल देह

अगोचर	अवरुद्ध रूप	अनुभव बिन्दु
सूक्ष्मवेद	अमात्रा	बिन्दु
अथर्ववेद	पुण्य गिर्यार्द्धमात्रा	अर्द्धचन्द्र
सामवेद	प्लुतमात्रा	कुण्डली
यजुर्वेद	दीर्घ मात्रा	दन्तक
ऋग्वेद	ह्रस्व मात्रा	तारक

सहस्रार	परमात्मा	दिशास्वरूप
पीत पङ्कज	चन्द्र	ऊर्ध्व
नील-पीतादि पङ्कज	सूर्य	उत्तर
श्याम पङ्कज	मृत्यु	दक्षिण
श्वेत पङ्कज	स्थिति	पश्चिम
रक्त पङ्कज	सृजन	पूर्व

निराकार	सर्वशुद्धातीत	सोऽहं ब्रह्म
अघोर	अगोचर शून्य	दीपकं
ईश	हृदयाकाश	मसूर मात्र
तत्पुरुष	मध्यशून्य	पूर्वार्द्ध
वामदेव	ऊर्ध्वशून्य	अङ्गुष्ठमात्र
सद्योजात	अधःशून्य	स्थूल शरीर ३½ हाथ

आकाश	वायु	अग्नि	आप	पृथिवी
पूर्ण	अज	अदाह्य	अक्लिन्धत	अशोष
असङ्ग	अच्छिद्र	ऊर्ध्वपाद	जीवन	पवन
व्यापक	परापर	प्रकाश	ज्योति	कारण
जीव	निर्मल	चैतन्य	अमृत	समृद्ध
अखण्ड	नित्य	अनघ	कारण	आधार

	निर्गन्ध	ब्रह्मरन्ध्र	
	गन्ध	नासा	
	रस	जिह्वा	
	रूप	चक्षु	
	स्पर्श	त्वचा	
	शब्द	कर्ण	

| ७ |

उपक्रमणिका

दुर्योधनादि सौ कौरवोंके नामका आध्यात्मिक अर्थ

१—पूर्व दिशामें दस प्रवृत्तियाँ मन्दकर्ममें एक कर्मेन्द्रियोंके कर्म तथा दूसरे ज्ञानेन्द्रियोंके कर्म।

२—पश्चिम दिशामें दस निवृत्तियाँ अच्छे कर्ममें।

३—दक्षिण दिशामें प्रमाद कर्ममें

५. चित्राक्ष—भ्रमदृष्टि रजोगुण और क्रोधान्वित होकर १३ अहंस्वरूप धारण करना
६. चारुचित्र—सुभ्रमदृष्टि क्रोधेच्छारूप १३
७. शरासन—चंचल चित्र—जिह्वाका भोग १४ सत्कारपूर्वक
८. दुर्मद—प्रमाद बलपूर्वक रसास्वाद १४ " "
९. दुर्विगाह—कुटिल मानके मोहसे मनही मन दम्भ रखना १५ मानपूर्वक
१०. विवित्सु—कपटता – मनका मोह प्रकाशित करना १५

४— उत्तर दिशामें दस मोहसे कर्म करना

१. विकटानन—प्रमाथी कानसे सुनकर मदमत्त होना १६ पूजार्थ कर्म करना
२. ऊर्णनाभ—माया सुनकर अहंकार दूसरोंको कार्यमें दिखाना १६
३. सुनाभ—अनावश्यक इच्छा जिसके न होनेसे भी चलता है उसमें अन्धा होकर त्वचाके द्वारा दुःख देना १७
४. नन्द—यथेष्टाचार स्पर्शसे तृष्णातुर होकर १७
५. उपनन्द—उन्मत्त रजोगुणसे आवृत्त होकर क्रोधान्ध होकर १८ देश न देखना
६. चित्रबाण—भ्रमविशिष्ट रूप देखना १८ " "
७. चित्रवर्मा—अमंगलमें मंगल ज्ञान—बहुत खानेसे बल होगा १९ असमय में
८. सुवर्मा—अत्यन्त अमंगलमें मंगल ज्ञान—रसास्वादन बलपूर्वक १९ " "
९. दुर्विलोचन—आँख रहते अन्धा—दम्भ मोहित होकर दान २० अपात्र को दान
१०. अयोबाहु—अभिमान मनके दम्भमें प्रकट करना २० " "

५—अग्निकोणमें दस अशुचिमें कर्म करना

१. महाबाहु—अति अभिमानी मदान्ध हो कानसे सुनना २१ अनादर पूर्वक दान
२. चित्राङ्ग—भ्रमान्ध अहंकारके साथ बातमें प्रकट करना २१ " "
३. चित्रकुण्डल—भ्रममें स्थिति कामरूप तममें त्वचा द्वारा रहना २२ अश्रद्धापूर्वक
४. भीमवेग—असम साहस कामतृष्णा का स्पर्श............२२ अश्रद्धापूर्वक
५. भीमबल—निष्ठुर रजोगुणमें क्रोधान्ध होकर देखना २३ अभिमानसे
६. बलाकी—कृत्रिम इच्छापूर्वक रूपान्तर करना २३ "
७. बलवर्द्धन—श्लाघा अपने भोगमें अपनी तृप्ति २४ पारुष्य
८. उग्रायुध—गँवार (अत्यन्त) बलपूर्वक रसास्वादन २४ "
९. भीमकर्मा—कुकर्म दम्भमें मोहित होकर करना............२५ चिन्तापूर्वक
१०. कनकायुः—भोगी अन्यको दर्प द्वारा और चिन्ता-द्वारा कुकर्म अनुभव कराना २५

६—नैऋतकोणमें दस अनाचारमें कर्म करना।

१. दृढ़ायुध—दृढ़प्रतिज्ञ (जिद्दी) कानसे सुनकर मदान्ध होकर रहना २६ प्रत्युपकार न करना
२. दृढ़वर्मा—उग्रकर्मा—सुनकर अहंकारके साथ........२६ "

३. दृढ़क्षत्र—अज्ञान त्वचाके द्वारा बोधकर कामान्ध होना २७ काय क्लेशसे दान करना
४. सोमकीर्त्ति—चिन्तान्वित स्पर्शके द्वारा कामकी इच्छा २७ " " "
५, अनुदर—छिद्रान्वेषण रजोगुणसे इच्छानुसार छिद्र देखना २८ दम्भके साथ
६. दृढ़सन्ध—तुष्टि क्रोधमें किसी कर्मकी इच्छा २८ " "
७. जरासन्ध—चिरवासना—अनवरत जिह्वाके भोगकी इच्छा २९ अनुरागपूर्वक
८. सत्यसन्ध—अतिलोभ—रसास्वादन करते हुए बलपूर्वक भोजन करना २९ "
९. सदःसुवाक्—चापलूसीकी बात, ऐसी बात जिसके द्वारा मन अहंकार-क्रोधसे मोहित होता है ३० क्रोध पूर्वक
१०. उग्रश्रवा—कामुक—दर्पके साथ कामका भोग करना ३० "

७—वायव्य कोणमें दस असत्यसे कर्म करना।

१. उग्रसेन—अतिनिन्दा, मदान्ध सुनकर भी नहीं सुनना ३१ इच्छा
२. सेनानी—चपल, सुनकर अहंकारसे चंचलचित्त होना ३१ "
३. दुष्पराजय—लम्पट, त्वचाके द्वारा कामान्ध होकर रहना ३२ कटुमें मीठा ज्ञान
४. अपराजित—आसव स्पर्शके द्वारा कामकी तृष्णा ३२ कटु
५. कुण्डशायी—कुमन्त्रणाकारी, रजोगुणमें क्रोधान्ध होकर बुरेमें भली दृष्टि करना ३३ लवण
६. विशालाक्ष—दूसरोंका दोष देखना, क्रोधेच्छारूपमें अच्छेमें बुरा देखना ३३ लवण
७. दुराधर—अधैर्य्य, जिह्वा खाये बिना नहीं रह सकती ३४ उष्ण
८. दृढ़हस्त—कृपण, बलपूर्वक अच्छेरूपमें वस्तुओंका सत्तधारण ३४ "
९. सुहस्त—अपव्यय, दम्भपूर्वक मोहसे खर्च करना ३५ तीक्ष्ण
१०. वातवेग—वातुल, दर्प करके पागल-सा हो जाना ३५ "

८—ईशानकोणमें दस अनीश्वर ज्ञानमें कर्म करना

१. सुवर्चन—वाचाल—कानसे सुनकर मदान्ध होकर अधिक बोलना ३६ रुक्ष
२. आदित्यकेतु—अज्ञान—अहंकारके साथ न जानकर बात बोलना ३६ "
३. बह्वाशी—आगे-पीछेकी विवेचनासे शून्य—कामान्ध होकर त्वचा द्वारा कर्म करना ३७ लोभसे
४. नागदत्त—मूर्खता, स्पर्शके द्वारा काममें तृष्णा ३७ "
५. अग्रजाइ—दुर्म्मति, रजोगुणमें क्रोधान्ध होकर कुदृष्टिसे देखना ३८ प्रवृत्ति
६. कवची—गल्पप्रिय, झूठी बातको बलात् मानकर बोध करना ३८ "

७. निषङ्गी—यथेच्छाचारी—जिह्वा की जो भोग इच्छा वही करना ३९ फलाकांक्षा
८. कुण्डी—पापी—जिह्वा द्वारा रसास्वादन करते हुए पीड़ित होना ३९ ”
९. कुण्डधार—कुमन्त्रणाका आधार, दम्भ और मोह ४० दुःख
१०. धनुर्धर—दुराचारी—दर्प करनेसे होता है ४० ”

९—ऊर्ध्वदिशामें दस ऊर्ध्वमें बुरी इच्छासे कर्म करना ।

१. उग्र—मदान्ध, कानके द्वारा सुनकर मदसे अन्धा ४१ जनरक्षाका यत्न करना
२. भीमरथ—भीत, अहंकार के शब्दकी कमी न होने की प्रार्थना ४१ ” ”
३. वीरबाहु—कुप्रवृत्ति, त्वचाके द्वारा कामान्ध होकर कुदिशामें मन देना ४२ शोक
४. आलोलुप—निष्ठुर, स्पर्शके द्वारा कामतृष्णासे अकर्म करना ४२
५. अभय—मत्त, रजोगुणमें क्रोधान्ध बने रहना...........४३ तृष्णा से
६. रौद्रकर्मा—ब्रह्महन्ता, क्रोधरूपसे स्वेच्छाचारसे कर्म करना ४३ ”
७. दृढ़हस्त—पाखण्डी, जिह्वाके द्वारा अखाद्य भोग करना ४४ विषादसे
८. अनाधृष्य—मन्दबुद्धि, बलपूर्वक रस बुरे कर्ममें समझना ४४ ”
९. कुण्डभेदी—नारकी—दम्भ-मोहसे आवृत होकर सर्वदा दुःखी रहना ४५ दीर्घ सूत्री
१०. वीरवी—मृत्यु, सुकर्मके दर्पसे मरे जाना ४५ ”

१०—अधोदेशमें दस द्वेषकर्म करना ।

१. दीर्घलोचन—भयानक—सुनकर अहंकार-प्रयुक्त भय.........४६ असुख
२. प्रमथ—वलि—अहंकारके द्वारा शब्दके साथ बल दिखाने में ४६ ”
३. प्रमाथी—दृढ़, त्वचाके द्वारा कामान्ध होकर लगे रहना ४७ हतस्वभाव
४. दीर्घरोमा—बड़ा जिद्दी—स्पर्श द्वारा कामतृष्णा परित्याग करनेकीक्षमता न होना ४७ ”
५. दीर्घबाहु—दुराशा—क्रोधान्ध होकर अनहोनी की आशा करना ४८ विषमय
६. महाबाहु—महालोभी, इच्छारूपमें अत्यन्त आग्रह ४८ ”
७. व्यूढ़ोरु—पारुष्य, जिह्वाके द्वारा अत्यन्त भोगेच्छा ४९ क्षुद्र
८. कनकध्वज—मात्सर्य, मनहीमन बलपूर्वक रसास्वादन करना ४९ ”
९. कुण्डाशी—महापापी, दम्भ मोहसे असत् कर्म करके ५० हर्ष होना
१०. विरजा—घमण्डी—दर्पके साथ काम करके ५० ”

आदि पर्वमें ये नाम हैं ।

—

गीता का रूपक

गंगा—सुषुम्ना।
कुरु—विषयकर्म इच्छाके साथ।
भीष्म—धर्मकर्म करनेमें भय।
पाण्डु—पृथ्वीमें पञ्चतत्त्व।
कुन्ती—शक्ति।
युधिष्ठिर—व्योम अर्थात् युद्धमें स्थिरचित्त।
भीम—वायु, प्राण।
अर्जुन—जठराग्नि।
नकुल—जल, रक्त।
सहदेव—मृत्तिका, मांस।
कौरव—फलाकांक्षाके साथ सारे विषय-कर्म।
दुर्योधन—दुर्मति।
दुःशासन—दुर्मेधा।
धृतराष्ट्र—अहङ्काररूपी मन।
सञ्जय—उस मनकी सम्यग्दृष्टि।
द्रुपद—शीघ्र गति अर्थात् अन्तर्यामित्व।
धृष्टद्युम्न—कूटस्थमें चित्रविचित्र।
महेष्वासा—बड़ा धनुर्धर, अच्छा विश्वासी।
सात्यकी—सुमति।
विराट्—जो इच्छा करता है वह समस्त कूटस्थके सामने दिखलाता है।
धृष्टकेतु—स्वप्रकाश अनुभव।
चेकितान—ॐकार ध्वनि।
काशीराज—महज्ज्योति।
शिखण्डी—शक्तिका कर्तृत्व पद-ज्ञान।
पुरुजित्—अवरोध।
कुन्तिभोज—आनन्द।
शैव्य—ब्रह्मज्ञ।
युधामन्यु—कान्ति।
उत्तमौजा—आद्याशक्ति।
सुभद्रा—कल्याणप्रदा।
अभिमन्यु—मनोकामना करनेके परे होना।
द्रोणाचार्य—मजबूत प्रहार (टेक या जिद)।
कर्ण और विकर्ण—विश्वास और अविश्वास।
कृप—कृपा।
अश्वत्थामा—कल्पवृक्ष।
सोमदत्त—श्रम।
भूरिश्रवा—संशय-समूह।
जयद्रथ—दुःसाहस।
श्रीकृष्ण—कूटस्थ।
श्वेताश्वयुक्त रथ—श्वेतवर्ण पहले दिखाई पड़ता है।
पाञ्चजन्य—भृङ्ग, वेणु, बीन, घंटा, मेघके शब्द।
देवदत्त—दीर्घघण्टाका नाद।
पौण्ड्र—सिंहनाद।
अनन्तविजय—अनवच्छिन्न प्रणवध्वनि।
सुघोष—सुन्दर नाद।
मणिपुष्पक—विमल शब्द।
गाण्डीव धनु—सुषुम्नाका उत्थान, मेरुदण्डसे गलेके पिछले भाग तक।
जितनिद्र—चैतन्य।

समस्त गीताके भाव

सांख्ययोग—प्राणायाम करके स्थिर होने पर बैठकर निराकारकी भावना करे—यही स्थिति है। इसी क्रियाको बढ़ाते हुए, सारे कर्मोंमें फलाकांक्षा-रहित होकर, स्थिरतापूर्वक योनिमुद्रामें सबको देखकर, समस्त काम्य कर्मोंका नाश करके वर्तमान अवस्थामें किसी इच्छाको न होने देना, इच्छा होते ही स्वभावतः उसका त्याग करना, अपने आप किसी प्रकारकी चिन्तामें न पड़कर, चिन्ताशून्य ब्रह्मरूपमें ध्यानयोगरत होकर, विशेषरूपमें उस स्थानमें पहुँचना जहाँ चन्द्र, सूर्य, अग्निकी ज्योति नहीं है तथापि सब कुछ देखनेमें आता है। तत्पश्चात् अनुभव-स्वरूप नक्षत्र, ब्रह्मयोग द्वारा अत्यन्त गुप्त, अव्यक्त योगसे (योगोद्भव) आविर्भूत समस्त विषयोंका दर्शन होता है। उनमें समस्त विषयोंके जितने श्रेष्ठ रूप होते हैं, सब दिखलायी देते हैं। तदनन्तर जिसके मनमें जो रूप रहता है वह समुदय रूप कूटस्थके आगे दिखलायी देता है। उसके द्वारा गुरु-वाक्यमें विश्वास करके पञ्चतत्त्व, मन, बुद्धि, अहङ्कार और उत्तम पुरुषको देखकर किसी ओर विशेष इच्छा नहीं होती। अतएव विभक्त गुणत्रय एकत्र होकर, सुषुम्नाके अन्तर्गत पुरुषोत्तमरूपका दर्शन करते हुए, शुभाशुभ विचार होनेके कारण उत्तम श्रद्धापूर्वक श्वास स्थिर होनेसे ही मोक्षपदकी प्राप्ति होती है।

१—प्राणायाम, २—आँखसे देखी गयी योनिमुद्रा, ३—जिह्वाको सिरके भीतर ले जाना, ४—विन्दुमें रहना और नाद सुनना, ५—कण्ठसे ललाटमें तारा रखना।

गीताके आध्यात्मिक रूपककी सूचना

सर्वसाधारणके लिए वेदादि शास्त्रोंका पाठ निषिद्ध है। इसका कारण यह है कि ब्रह्मज्ञान-सम्पन्न ब्राह्मणके सिवा शास्त्रोंका मर्म निर्धारण करनेमें सर्वसाधारण समर्थ नहीं होते। ऐसी बात नहीं है कि ज्ञानको छिपा रखनेके उद्देश्यसे सर्वसाधारणको शास्त्र-पाठसे वञ्चित किया गया है। जो लोग वास्तविक ज्ञानी नहीं हैं केवल उनसे ज्ञानको गोपन किया गया है। अज्ञानीके हाथमें पड़कर कहीं ज्ञानकी विशुद्धि नष्ट न हो, इस आशङ्कासे जहाँ-तहाँ ज्ञानकी आलोचना करनेका निषेध किया गया है। उपयुक्त पात्रके सामने ज्ञानको कभी भी छिपाकर नहीं रक्खा जाता। साधारणतः ज्ञान दो प्रकारके होते हैं, बाह्य और आन्तर। बाह्य ज्ञानकी प्राप्तिका अधिकार प्रायः सबको होता है। आन्तर या अध्यात्मज्ञान ही गोपनीय है। हम देखते हैं कि यमराज जिज्ञासु नचिकेताको यह गोपनीय अध्यात्मज्ञान बतलानेमें सहज ही तैयार नहीं हुए। सब शास्त्रोंमें सामाजिक, व्यावहारिक और धार्मिक विषयोंका यथेष्ट उपदेश रहने परभी उनका एक निगूढ़ तात्पर्य है जो अन्तर्लक्ष्यके बिना प्रकट नहीं होता। यह असमय किसीको समझाने पर भी उसकी समझमें नहीं आता। इसलिए उस निगूढ़ विषयको जिससे सब लोग समझ सकें, तदनुरूप सामर्थ्य जिस प्रकार प्राप्त हो सके, उस ओर भी प्राचीन ज्ञानियोंका ध्यान था। हम उनकी उस जीवहितैषिणी वृत्तिके गंभीर मर्मस्थलको न समझ सकनेके कारण उन पर गालियोंकी वर्षा करते हैं और अपनी-अपनी रुचिके अनु-

सार उनके प्रति कटाक्ष करनेसे भी नहीं चूकते। श्रुतिका अत्यन्त गम्भीर मर्म सबको समझानेके लिए जैसे उन्होंने पुराणादि अनेक शास्त्रोंकी रचना की थी, उसी प्रकार वेदोंके निगूढ़ साधन-रहस्य, दर्शन और मन्त्रशास्त्र—तन्त्रोंमें लिपि-बद्ध किया था। परन्तु वर्त्तमानकालमें वे सारे रहस्यपूर्ण शास्त्रग्रन्थ पाठकोंके मनमें कौतूहल उत्पन्न करके ही निवृत्त हो जाते हैं, कौतूहलको शमन नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि आजकल हमारे देशमें उन सारी रहस्यकी बातोंके श्रोताभी अधिक नहीं रहे, और उनको ठीक ठीक समझा सकें, इस प्रकारके वक्ताभी अधिक नहीं हैं। गीताभी एक गुह्यतम अध्यात्मशास्त्र है। गीताके १८वें अध्यायके ६३-६४वें श्लोकोंमें इसका उल्लेख किया गया है। और जहाँ यह उल्लेख है वहाँ गुरुसेवाविहीन, अथवा सुननेकी इच्छा न रखनेवाले मनुष्यको इसका गूढ़ तात्पर्य बतलानेका निषेधभी कर दिया गया है। इसी कारण जान पड़ता है कि शङ्कराचार्य, रामानुज, आनन्दगिरि, श्रीधर, मधुसूदन आदि महानुभवी मनीषी व्याख्यातागणभी इस रहस्य-ग्रन्थकी व्याख्या करते समय सर्वसाधारणके लिए उपयोगी व्याख्या ही लिख गये हैं, सबके समक्ष उसके रहस्यका उद्घाटन नहीं किया है। इस प्रकार रहस्य-ज्ञानका अल्प प्रचार होनेके कारण तथा कुछ कालप्रभावसे भी शास्त्रके रहस्यकी सारी मार्मिक बातें लुप्तप्राय हो गयी हैं। इस युगमें जिस महानुभवी पुरुषने सर्वप्रथम इस ओर हमारी चेतनाको जागृत किया है, उनकी ही गीता-व्याख्या तथा अन्यान्य ग्रन्थोंसे गीताके मर्मको खोलकर उसके रहस्यको सर्वसाधारणमें प्रचार करनेका मैंने यत्न किया है। मैंने अच्छा किया है या नहीं, इसको वही बतला सकते हैं जो सबके हृदयमें अन्तर्यामी और प्रियतम बन्धुरूपसे रहते हैं। मैं उनका स्मरण कर अपने समस्त कर्मोंको उनके चरणोंमें समर्पण करता हूँ।

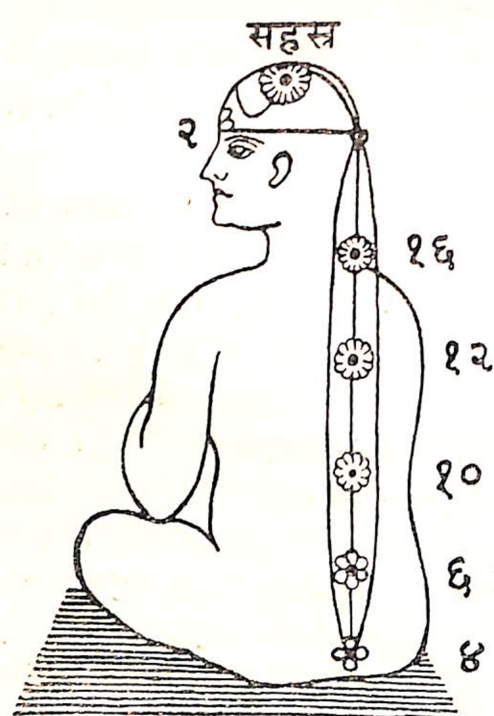
जब यह रहस्य पुस्तकाकारमें प्रकाशित हो रहा है त कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि सर्वसाधारणसे इनको छिपा रखनेकी हमारी इच्छा नहीं। तथापि मैं यह भी विनीतभावसे स्वीकार करता हूँ कि यह सर्वसाधारणके लिए नहीं है। यदि कोई इस रहस्य-व्याख्याको पढ़कर रहस्यको जाननेके लिए उत्सुक होता है और प्रयत्न करता है तो उससे मुझे यथेष्ट आनन्द होगा, और मैं समझूँगा कि मेरा प्रयास विफल नहीं हुआ। अवश्य ही सर्वसाधारणके लिए गीताके प्रत्येक श्लोकका अन्वय और प्रत्येक संस्कृत शब्दका अर्थ यथासंभव सरलतापूर्वक लिख दिया गया है। गीताके जनप्रिय व्याख्याता पूज्यपाद मनस्वी श्रीधर स्वामीकी टीका और अनुवाद यथास्थान सन्निविष्ट किया गया है, और उसके बाद यथास्थान गीताकी रहस्य-व्याख्या और आध्यात्मिक व्याख्या दी गयी है। इस आध्यात्मिक व्याख्याके सम्बन्धमें यहाँ कुछ कहता हूँ। साथ ही साथ महाभारतके कुछ चरित्रोंके रहस्यका विश्लेषण करना आवश्यक होगा। निश्चय ही इसे पढ़कर कोई यह न मान ले कि श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, धृतराष्ट्र, दुर्योधन केवल कल्पनामात्र हैं। इनका जीवन पहले था ही नहीं, ऐसी बात नहीं। ये लोग किसी युगमें इस भूतल पर उसी प्रकार वर्तमान

थे जैसे कि आज हम लोग हैं। परन्तु इनके नामके साथ रूपक कैसे मिल गया, यह बात समझाना अभी संभव नहीं, और इसके लिए यहाँ स्थान भी नहीं है। परन्तु यह न कोई आकस्मिक व्यापार है और न किसीकी कष्ट-कल्पना—यह मैं निःसङ्कोच कह सकता हूँ। गीता इतिहासमूलक होते हुए भी आध्यात्मिक ग्रन्थ है, यह वस्तुतः योगशास्त्र है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्माके रूपमें सब जीवोंके हृदयमें अधिष्ठित हैं। विषयोंमें घूमनेवाले मनको भी समय समय पर ज्ञान प्राप्त करनेकी स्पृहा होती है। परन्तु उसका पूर्वाभ्यास और संस्कार उसके मार्गमें विरोधी बन कर खड़ा हो जाता है। कुरुक्षेत्रमें कौरव-पाण्डवके युद्धके समान प्रकृति-क्षेत्रमें प्रवृत्ति और निवृत्तिके द्वन्द्व भी निरन्तर चलते रहते हैं। अतएव कुरुक्षेत्रके सारे बाह्य व्यापारोंसे यदि हमारे सामने आध्यात्मिक सत्यका रहस्य उद्घाटित होता है, तो इसमें विस्मित होनेका कारण क्या है ? 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'—उस परमात्माके द्वारा यह त्रिभुवन परिव्याप्त है, तथापि यह आश्चर्यकी बात है कि हम अन्य सब विषयोंको इन्द्रिय द्वारा जानते हैं, परन्तु आत्माको जाननेके लिए हमारे पास कोई इन्द्रिय नहीं है। परन्तु वह सब कारणोंके कारण और सबके आश्रय हैं। उस आश्रय वस्तुके कारण ही सब वस्तुओंके अस्तित्वका हमें बोध होता है। 'चेतनश्चेतनानाम्' चेतनायुक्त सारे प्राणियोंको वही चेतन बनाते हैं। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं'—उस प्रकाशमान आत्माका अनुसरण कर सारे प्रकाशमय पदार्थ प्रकाशित होते हैं। 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम्।' बुद्धिमें प्रतिबिम्बित उस आत्माका जो धीर पुरुष साक्षात्कार करते हैं, उनको नित्य शान्ति प्राप्त होती है, विषयासक्त व्यक्तिको वह शान्ति नहीं मिलती।

इसी कारण योगी लोग मनको आत्मस्थ करनेके लिए सदा योगाभ्यासमें रत रहा करते हैं। परमात्मा सर्वव्यापी हैं, अतएव वह इस शरीरमें भी वर्तमान हैं, इसमें सन्देहकी गुञ्जाइश नहीं।

'सबके घटमें हरी बिराजें ज्यों गिरिसुतमें ज्योति।' प्रत्येक शिलाखण्डमें जैसे ज्योति या प्रकाश है उसी प्रकार प्रत्येक घटमें परमात्मा, हरि विराजते हैं। परन्तु इस देहमें उनको किस स्थानमें खोजा जाय ? योगीन्द्र पुरुषोंने देखा है कि मस्तिष्कमें जो ब्रह्मरन्ध्र है उसीमें चैतन्यका विशिष्ट प्रकाश विद्यमान है। उस प्रकाशके द्वारा प्राणशक्ति अनुरञ्जित होती है, और वह प्राण-प्रवाह सहस्रों नाड़ियोंके से प्रवाहित होता हुआ सारी देह और इन्द्रियोंको चेतनायुक्त कर देता है। जिस प्रकार विद्युत् शक्ति-प्रवाहकी एक प्रधान धारा (Main Current) होती है उसी प्रकार इस प्राणशक्तिका भी एक प्रधान प्रवाह है, और वह मेरुदण्डके मध्यमें विद्यमान है। उसके भीतर सुषुम्ना ही इस प्राणशक्तिका आधार है। सुषुम्नासे यह प्राणशक्ति सर्वत्र सञ्चालित होती है। पहले यह प्राणशक्ति सुषुम्नासे अन्य दो नाड़ियोंके भीतर प्रवाहित होती है, उनमें एकका नाम इड़ा और दूसरीका नाम पिङ्गला है। इन दो नाड़ियोंमें जब प्राण-प्रवाह चलता है, तब सुषुम्नाका मार्ग एक प्रकारसे अवरुद्ध हो जाता है। यह सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्डके भीतर गुह्यदेशसे मस्तिष्क तक

फैली है। इड़ा और पिङ्गला दोनों नाड़ियाँ क्रमशः मूलाधारस्थ सुषुम्नाके मुखके वाम और दक्षिणकी ओर उठकर फिर दोनों भ्रुवोंके बीच आज्ञाचक्रमें सुषुम्नासे मिल जाती हैं। इन इड़ा और पिङ्गला नाड़ियोंके द्वारा ही प्राण-प्रवाहके साथ ज्ञान सारी देहमें प्रसारित होता है। तभी हमारी मनोवृत्ति बहिर्मुखी होती है तथा संसार-लीलाका अभिनय होता रहता है और तभी 'देहोऽहं' इस बुद्धिका उदय होता है। परन्तु प्राण-प्रवाह जब सुषुम्ना-मुखी होता है तो फिर दिव्य ज्ञान लौट आता है। इसीलिए प्राण मेरुदण्डके मध्यमें सुषुम्नामें प्रवेश कर सके, इसके लिए योगी लोग साधना करते हैं और उसको ही योगाभ्यास कहते हैं। गर्भस्थ शिशुकी इड़ा और पिङ्गलामें प्राण-प्रवाह नहीं होता, उसकी सुषुम्ना खुली रहती है। भूमिष्ठ होनेके समय प्राणधारा इड़ा-पिङ्गलामें आकर पड़ती है और सुषुम्नाका मार्ग रुद्ध हो जाता है। इसीसे साधक रामप्रसादने गाया है, 'गर्भे यखन योगी तखन, भूमे पड़े खेलाम माटी' यानी जब मैं गर्भमें था तब योगी था, पृथ्वी पर गिरा तो मिट्टी खायी। यह बात हमारे योगशास्त्र तथा दूसरे शास्त्रीय ग्रन्थोंमें पायी जाती है। अष्टाङ्ग योग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और मुद्रादिके साधन-कौशलके द्वारा योगी लोग प्राणको सुषुम्नामें सञ्चालित करनेकी चेष्टा करते हैं, फलस्वरूप उनका प्राण तथा उसके साथ मन सुषुम्नाको भेदकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। प्राणके सुषुम्नामें प्रवेश करते ही प्राणकी चञ्चलता घटने और स्थिरता प्राप्त होने लगती है और ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करते ही वह अवरुद्ध हो जाता है। परन्तु वह श्वास-प्रश्वासके बाह्य अवरोधके समान कष्टदायक नहीं होता। उस समय मन परमानन्दमें डूब जाता है। यह भी भगवान्का एक अन्यतम रूप है। भागवतमें लिखा है—'अवरुद्ध-रूपोऽहं'। इस अवस्थामें योगीके जन्म-मृत्युका सब खेल रुक जाता है। ईश्वरके समान योगीकोभी उस समय अणिमादि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। पश्चात् परवैराग्य-प्राप्त योगीकी निर्विकल्प समाधिमें अचल स्थिति प्राप्त होती है। यही जीवन्मुक्ति या कैवल्यावस्था है। मेरुदण्डके भीतर बहुतसी नाड़ियाँ एकत्रित होकर कुछ विभिन्न केन्द्रोंमें मिलती हैं। इस प्रकारके छः विशिष्ट केन्द्र हैं। सुषुम्ना नाड़ी इन केन्द्रोंको भेद करती हुई जाती है। इन केन्द्रोंको चक्र या पद्म कहते हैं। गुह्यद्वारके



ऊपर जो चारदल-विशिष्ट पद्म है उसको मूलाधार कहते हैं। लिङ्गमूलके पीछे मेरुदण्डमें षड्दल-विशिष्ट एक पद्म है, उसे स्वाधिष्ठान कहते हैं। नाभिके पीछे

मेरुदण्डमें दशदल-विशिष्ट एक पद्म है, उसका नाम मणिपुर है। हृदयके पीछे मेरुदण्डमें जो द्वादशदल-पद्म है, उसका नाम अनाहत चक्र है। कण्ठमूलके पीछे षोड़शदल-विशिष्ट विशुद्धाख्य पद्म है। दोनों भ्रुवोंके बीच आज्ञा नामका द्विदल पद्म है। इसके ऊपर मस्तिष्कमें सहस्रदलकमल विराजित है। वही परब्रह्म या सद्गुरुका स्थान है। सुषुम्ना इन सप्त पद्मोंको भेदन कर गयी है। सुषुम्नाके भीतर एक और अतिसूक्ष्म नाड़ी है, उसे ब्रह्म-नाड़ी कहते हैं। ब्रह्मनाड़ीमें प्राणकी स्थिति होने पर जीवका अज्ञान नष्ट हो जाता है और ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। सुषुम्नाके भीतर होनेके कारण उसको भी साधारणतः सुषुम्ना ही कहा जाता है। चित्रा और वज्रा नाड़ी ब्रह्मनाड़ीके अन्तर्गत हैं। स्वाधिष्ठानसे वज्रा और मणिपुरसे चित्रा उठती है। उपर्युक्त सप्त पद्म ही सप्त लोक हैं, ये ही गायत्रीकी सप्त व्याहृतियाँ हैं। इन सप्त लोकों तक प्राणका ही प्रसार है। साधनाके द्वारा इन सप्त स्थानोंसे प्राणको आहरण करके ऊर्ध्व दिशामें ले जाकर प्रतिष्ठित करने पर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। वहाँ योगी तद्विष्णुके परम पदको देखकर जीवनको कृतकृत्य बनाता है। इन सप्त स्थानोंमें नाना प्रकारकी दैवी शक्तियाँ प्रकट होती हैं। साधकको इन सब स्थानोंमें तत्तत् शक्तिके प्रकाशका अनुभव होता है। योग-दर्शनमें लिखा है कि अविद्या-संस्कार द्वारा ये सारे प्रकाश-शक्ति आवृत रहते हैं। प्राणयाम द्वारा—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' इन सारे प्रकाशोंका आवरण क्षीण हो जाता है। जो कुछ प्रकाश जहाँ है वह आत्माका ही है, आवरण क्षीण होने पर सर्वत्र आत्माके अस्तित्वकी उपलब्धि होती है। प्राण ही आत्माकी प्रकाश-शक्ति है, वही जब बहिर्मुख होता है तो आत्माका आवरण बन जाता है। प्राणा-यामके द्वारा जब प्राणको शुद्ध या स्थिर किया जाता है तब आत्माका आवरण दूर हो जाता है। प्राणशक्ति ही जगत्के आकारमें परिणत होती है। जगदादि समस्त व्यापार प्राणके ही विकार हैं। प्राणायामकी साधनाके द्वारा प्राणकी स्थिरता आने पर प्राणकी अपूर्व अन्तःशक्तिका विकास होता है। उसके द्वारा, प्राण जिस आत्मासे निःसृत हुआ है, प्राणके उस आश्रय, द्रष्टा पुरुष या आत्माका सन्धान मिलता है, तब प्राण भी आत्माके साथ एक हो जाता है। यही शिवशक्तिका सम्मिलन या समरस भाव कहलाता है। शिवशक्ति सम्मिलनसे ही सोऽहं या शिवोऽहं वाक्य के यथार्थ तत्त्वका बोध होता है। अन्यथा सहस्रों वर्ष शास्त्रानुशीलन करनेसे यथार्थ तत्त्वज्ञानका उदय नहीं होता। हमारे 'अहं' या 'मैं' के आश्रयसे ही हमारे सारे ज्ञान उत्पन्न होते हैं। अतएव 'मैं' और 'ज्ञान' एक ही वस्तु या तत्त्व हैं। यह आत्म-तत्त्व या अद्वयज्ञान अन्य समस्त तत्त्वोंका मूल तत्त्व है। यह मूल तत्त्व चिर निर्विकार परमानन्द-स्वरूप सबका आत्मा है। उस आत्माके ही अवलम्बनसे चराचर ब्रह्माण्ड विकसित हो उठता है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'।

महाभारतमें स्थूल रूपमें इस आत्माको ही शान्तनु राजा कहा गया है। 'शान्तनु' शब्दका अर्थ है—'शमं विकारशून्यं तनुर्यस्य'। यह विकार-शून्य पुरुष ही ब्रह्मचैतन्य है। ब्रह्मचैतन्यका जो विभाव हमारे मन-बुद्धिके परे है वही 'पुरुष'

भाव है, और जो व्यक्त इन्द्रियगम्य है वह 'प्रकृति' है। यही द्विविध प्रकृति—परा और अपरा कहलाती है। गीतामें लिखा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

परा प्रकृति क्षेत्रज्ञ या जीवरूपा चेतनामयी श्रेष्ठ शक्ति है। और पृथ्वी, अप्, तेज, मरुत्, व्योम, मनः, बुद्धि और अहङ्कार—ये आठ अपरा प्रकृति हैं, ये जीवके बन्धनका कारण होनेसे निकृष्ट हैं।

शान्तनुकी दो स्त्रियाँ थीं, गङ्गा और सत्यवती। गङ्गा ही चेतनामयी शक्तिका आधार सुषुम्ना है। यह चेतन प्रकृति ही जगत्का मूल उपादान या प्रधान कारण है। इसका प्रथम विकास महत्तत्त्व है, और महत्तत्त्व ही हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा कहलाता है। महत्तत्त्वसे अहङ्कार, और अहङ्कारसे पञ्च तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। गङ्गाके ये आठ पुत्र हैं, और ये ही अष्ट वसु हैं। अष्ट वसुओंके नाम क्रमशः भव, ध्रुव, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभव हैं। इनमें सातको गङ्गा अपने जलमें डुबा देती हैं अर्थात् सुषुम्नाके अन्तर्गत ये अतीन्द्रिय शक्तियाँ विलीन रहती हैं, बाहर व्यक्त नहीं हो सकतीं। केवल अष्टम अर्थात् प्रभव ही जीवित रहते हैं। प्रभवका अर्थ है प्रकाशस्थान अर्थात् आभास चैतन्य। इनके अवलम्बनसे ही संसार-लीला चलती है। इनका नाम सत्यव्रत या भीष्म है। यह कुरुवंशको जीवित रखते हैं। कुरु है कार्यशक्ति, आभास चैतन्यके बिना कुरुवंश या कार्यप्रवाह टिक नहीं सकता। यही कारण है कि कौरवोंका कोई काम इनके बिना नहीं चलता। परन्तु यह स्वयं पुत्रहीन हैं अर्थात् आभास चैतन्य यद्यपि जगत् आदिके व्यापारमें प्रधान अवलम्बन है, परन्तु स्वयं असत् होनेके कारण उसका वंश स्थायी नहीं रह सकता। आभास चैतन्यके अन्तरालमें (यह जिसका आभास या प्रतिबिम्ब है) जो सद्वस्तु नित्य विद्यमान है, वही कूटस्थ चैतन्य या श्रीकृष्ण हैं। इस शुद्ध चैतन्यका ही अवलम्बन करके आभास चैतन्यकी सत्ता या अस्तित्व है, इसीलिए इसका नाम 'सत्यव्रत' है। 'व्रत' शब्द गमनार्थक व्रज् धातुसे उत्पन्न हुआ है। जो रहता नहीं, चला जाता है, अर्थात् सत्यसे जिसका अस्तित्व है तथापि जो सत्य नहीं है यानी सत्यसे दूर चला जाता है। यह भीष्म भी हैं—जो पुनः पुनः जगत्में जन्म-मृत्यु, आवागमनका कारण है, जिसे कदापि रोका या पराजित नहीं किया जा सकता, जो अद्भुतकर्मा है, इसी कारण इसे भीष्म कहते हैं। जगत्का स्थायित्व इसीके ऊपर अवलम्बित है। इसी कारण मुमुक्षु साधकोंके लिए यह भयप्रद है। साधन करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है, यह भी भय है, और साधनाके द्वारा शरीर के नष्ट होनेकी भी आशङ्का है। यह सत्य है या असत्य—यह शंका भी सर्वदा रहती है। आभास चैतन्य यद्यपि एक प्रकारका चैतन्य ही है, परन्तु वह देह-सम्बन्धी संसाराभिमुखी चेतना है। इसमें आत्माभिमुखी भावके अनेक आडम्बर हैं, पर यथार्थ आत्माभिमुखी भाव उसमें नहीं है। पञ्चतत्त्व भी इसके आत्मीय हैं, तथा विषय-वासनाएँ जो मनकी सन्ततियाँ हैं वे भी इसके आत्मीय हैं। ज्ञानोन्मुखता और विषय-प्रवणता दोनों ही इसके आश्रयसे लालित होती हैं। यह

मनकी दुर्वासनाओं (दुर्योधनादि) के बीच रहते हुए भी निवृत्ति पक्षवालोंसे स्नेह करता है। आभास चैतन्यके बिना निवृत्ति पक्षवाले भी जीवित नहीं रह सकते। यह संग्राममें अजेय है, इसीसे इसको जीत न सकनेके कारण निवृत्तिपक्षवाले जयी होकर अपना स्थान नहीं बना सकते। निवृत्ति पक्षवालोंका भी इसी कारण यह श्रद्धा-भाजन है क्योंकि आभास चैतन्यके अभावमें उनको भी कोई अवलम्ब नहीं रह जाता। आभास चैतन्यके कारण ही यह संसारमें कुरुवृद्ध है और पितामह भी है। ज्ञान और अज्ञान, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही पक्षका यह परम आत्मीय है। दोनों ही पक्ष उसके अपने हैं, इसलिए दोनों पक्षको वह सन्तुष्ट करना चाहता है। बहुतेरे सोचते हैं कि भीष्मने दुर्योधनका पक्ष क्यों लिया, बहुतोंको यह ठीक नहीं जँचता। परन्तु यह आभास चैतन्य तो वास्तविक आत्मचैतन्य नहीं है, यह तो जीव चैतन्य या प्रतिबिम्बित चैतन्यमात्र है। अतएव वह निवृत्ति-पक्षमें स्थायी भावसे नहीं रह सकता। अतएव अन्ततक उसे प्रवृत्ति पक्षमें ही मिलना पड़ता है—नहीं तो संसार नहीं चल सकता। संसार या देहाभिमान आभास चैतन्यका असल आश्रय है। प्रवृत्ति-पक्षवालोंका देहाभिमानके बिना काम नहीं चल सकता, परन्तु निवृत्तिपक्षवाले देहाभिमानके त्याग की चेष्टा करते रहते हैं। जब निवृत्तिपक्षवाले बलवान् और विजयी होते हैं तो आभास चैतन्य टिक नहीं पाता, वह विलयको प्राप्त हो जाता है। जीव-चैतन्य या आभास चैतन्यके विलुप्त हुए बिना शुद्ध चैतन्यका प्राकट्य या नित्यस्थिति संभव नहीं है।

द्वितीय स्त्री सत्यवती (अविद्या) है अर्थात् सत्य न होते हुए भी जो सत्यवत् प्रतीत होती है। वह रूपवती अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धमयी होते हुए भी प्रथम मत्स्यगन्धा थी। संसारमें काम-क्रोध-लोभके वशीभूत होकर जीव जिन कर्मोंको करता है वह पहले भला दीख पड़ने पर भी भीतरसे अतिशय दुर्गन्धमय होते हैं। साधु लोग आपात-मनोरम रूप पर मोहित नहीं होते, अतएव वे इस दुर्गन्ध और घृणासे पूर्ण अविद्यारूपिणी कन्याको ग्रहण करना नहीं चाहते। यह अविद्याशक्ति ही जगत्‌की बन्धनकारिणी शक्ति है, परन्तु सद्‌गुरुकी कृपासे जीव जब साधुजीवन यापनके लिए कृतसङ्कल्प होता है, तब वह अविद्या विद्यारूपिणी बनकर जीवकी मुक्तिका कारण बनती है—"सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये"। यह अविद्या ही शरीर या क्षेत्र है। इसकी उपासना करनेसे ही जीव उन्मत्त होता है, उसकी दुर्गतिकी सीमा नहीं रहती। मत्स्य शब्द मद् धातुसे निकला है। पुनः सद्‌गुरुके उपदेशसे इस शरीरके संस्थानसे अवगत होकर उसमें ध्यानादि साधन रूप गुरुप्रदत्त शक्तिका प्रयोग करने पर वह मोक्षके सोपानके रूपमें गण्य हो जाती है, 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्।' यही पराशरके वरके प्रभावसे मत्स्यगन्धाके पद्मगन्ध होनेका रहस्य है। तब इस शरीरके भीतरसे 'कृष्णद्वैपायन' जन्म लेते हैं—अर्थात् सद्‌गुरु-प्रदर्शित साधनकी सहायतासे ज्योतिर्मय मण्डल और उसके भीतर कृष्णवर्ण कूटस्थकी उपलब्धि होती है।

सत्यवती या अपरा प्रकृतिकी दो सन्तानें हैं—चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य।

(१) चित्राङ्गद हैं—पञ्चभूतात्मक जड़ दृश्य तथा विचित्र अवयवयुक्त यह शोभन शरीर और वाह्य प्रकृति। (२) विचित्रवीर्य (विस्मयजनक है जिनका वीर्य) नाना प्रकारके वर्णोंसे युक्त अर्थात् सुखदुःखादि अनुभव करनेके लिए जिसके पास नाना प्रकारकी शक्तियाँ हैं वह विचित्रवीर्य अर्थात् ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति है।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

क्षिति, अप्, तेज, मरुत् व्योम—ये पञ्च महाभूत, इसके कारण-स्वरूप अहङ्कार, बुद्धि (महतत्त्व), अव्यक्त (मूल प्रकृति), दश इन्द्रियाँ, मन तथा इन्द्रियगोचर पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना (ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति) और धैर्य—यह इन्द्रियादि विकारोंके साथ क्षेत्रको संक्षेपमें बतलाया है।

इस ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिरूप विचित्रवीर्यसे (१) सङ्कल्पात्मक मन (धृतराष्ट्र) और (२) मनकी निश्चयात्मिका बुद्धि (पाण्डु) उत्पन्न होते हैं। धृतराष्ट्र = धृतं राष्ट्रं येन – प्रकृतिके राज्यको जो पकड़े हुए है वह मन। मन ही इस देह-राज्यका राजा है, परन्तु इसे सदसद्-विचारकी शक्ति नहीं है, इसी कारण जन्मान्ध है। संशयात्मिका वृत्तिके कारण मन अत्यन्त चञ्चल है।

विचित्रवीर्यके द्वितीय पुत्र पाण्डु हैं। 'पण्ड्' धातुसे पाण्डु शब्द बना है। इसका अर्थ है वेदोज्ज्वला बुद्धि। अतएव वह वर्णहीन होनेके कारण निर्मल हैं। शरीरका रंग पाण्डु होनेके कारण उनका नाम पाण्डु है। बुद्धि प्रवृत्तिमुखी और निवृत्तिमुखी दोनों होती है, इससे पाण्डुकी दो स्त्रियाँ हैं—कुन्ती और माद्री। कुन्ती शब्द कुन् धातुसे और माद्री शब्द मद् धातुसे बना है। कुन् धातुका अर्थ है आह्वान करना, जिस आह्वान या साधन-शक्तिके प्रभावसे देवता या दिव्यभावको स्वाधीन किया जाता है। और मद् धातुका अर्थ है बुद्धिको मत्त करना, विषय-भोगमें लगाना। सुषुम्ना ही बुद्धिका क्षेत्र या स्त्री है, उसकी ऊपर और नीचे दो प्रकारकी गतियाँ दीख पड़ती हैं। नाभिसे ऊपरके स्थान देवशक्तिके केन्द्र हैं; इसी कारण दैवशक्ति पहले जागृत होकर कण्ठके विशुद्धाख्य चक्रमें स्थित शक्ति व्योम-तत्त्व या युधिष्ठिर (युधिष्ठिर—युद्धमें जो स्थिर है—मनका स्थिर सङ्कल्प) को प्रकट करती है; उसके बाद हृदयमें अनाहत चक्रमें वायुतत्त्व या भीमको, तथा उसके पश्चात् नाभिदेशमें मणिपुर चक्रमें तेजस्तत्त्व अर्जुनको प्रकट करती है। इस तेज, वायु और आकाशको लेकर ही अध्यात्म-युद्धका खेल आरम्भ होता है। फिर पाण्डुके अनुरोधसे कुन्ती इस दैवी शक्तिको माद्रीको देती है, अर्थात् बुद्धिके द्वारा यह शक्ति नाभिके अधोभागमें (नीचेकी गति) संचालित होकर लिङ्गदेशस्थ स्वाधिष्ठानचक्रमें जलतत्त्व या नकुलको तथा गुह्यदेशस्थ मूलाधारचक्रमें पृथ्वीतत्त्व या सहदेवको प्रकाशित करती है। पाण्डुके मदोन्मत्त होने पर अर्थात् माद्रीमें आसक्त होकर उसका अनुगमन करने पर निर्मल बुद्धि या पाण्डुका विनाश हो जाता है।

पञ्चतत्त्व, पञ्चचक्रोंमें अधिष्ठित शक्ति, साधनके बलसे एकत्र मिल जाती हैं, तब उनकी ऊर्ध्वदिशाकी ओर गति होती है। ये निवृत्तिपक्षीय हैं, इसलिए ये सब देहके पृष्ठ भागमें हैं। साधनके द्वारा पञ्चतत्त्वकी शक्तिके एकत्र और शक्तिसम्पन्न होते ही, देहके सम्मुखकी ओर मनकी प्रवृत्तिपक्षीय वृत्तियाँ घोरतर बाधा देनेका आयोजन करती हैं—यही कुरुक्षेत्रका युद्ध है। धृतराष्ट्र मन विषयोंके प्रति लुब्ध होकर दशों दिशाओंमें दौड़ता है, प्रत्येक दिशामें दस प्रकारकी गतियाँ होती हैं, सब एकत्र मिल कर एक सौ होती हैं। ये ही षट्चक्रों में स्थित पचास दलोंमें पचास प्रकारकी वायु हैं, अन्तः और बहिः स्थितिमें ये ही एक सौ हो जाती हैं। सहस्रदलकमलमें एकत्व भावमें ५० वायु और उससे बाहर मस्तकमें ५० वायु—कुल सौ होती हैं, और इनके दसों दिशाओंमें दौड़नेके कारण सहस्रदल-कमल बनता है। ये षट्चक्रमें स्थित वायु विषयमें विक्षिप्त होकर विकारको प्राप्त होती हैं, प्राणायामके द्वारा इसके विकृत भावको शोधन करना साधनाका लक्ष्य है। निरन्तर प्राणायामके पश्चात् ध्यान करनेसे विचित्र सामर्थ्य प्राप्त होती है, मन तब इच्छारहित होकर निरालम्बमें स्थिति लाभ करता है। इसे ही राजाधिराज-योग कहते हैं।

प्रवृत्तिपक्षीय मनके ये समस्त वेगसमूह अन्धे मन यानी धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि सौ पुत्र हैं। (दुर्योधनादिका आध्यात्मिक अर्थ द्रष्टव्य है)।

पाण्डव निवृत्तिपक्षके हैं, इसी कारण ज्ञानतत्त्व परमात्मा या कूटस्थ चैतन्य पाण्डव पक्षके सारथी या सहायक हो जाते हैं।

पुनः एक बार संक्षेपमें इन सारी बातोंकी आलोचना की जाती है। युद्ध-स्थान कुरुक्षेत्र यह शरीर है—'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'—जहाँ सदा ही कर्म करना पड़ता है। इस क्षेत्रमें दो पक्षोंका युद्ध चल रहा है। शरीरके चार भाग हैं—ऊपर, नीचे, सम्मुख और पीछे। ऊपरी भागमें मस्तक उत्तर भाग है, यह देव-स्थान या दैव शक्तिका प्रकाशक है। नाभिके नीचे अधः दिशामें दक्षिण भाग या मृत्युकी दिशा है। यहाँ उन्मत्त करनेवाला कामभाव विद्यमान रहता है, जो अतिमृत्युका कारण है। देहके सम्मुख भोग या दृश्य राज्य है। समस्त रूप-रसादि सम्मुख हैं, इसी ओर मनकी अधिक आसक्ति होती है। देहका पिछला भाग मेरुदण्डकी ओर है, वही निवृत्तिकी दिशा है। वहाँ चित्तको रख सकने पर विषयवासनाकी निवृत्ति होती है, इसी कारण निवृत्ति-पक्षीय पाण्डवगण, सुषुम्नाके बीच चक्रोंके अधिष्ठाता या वहाँकी दैव शक्ति हैं।

यद्यपि संक्षेपमें यहाँ परिचय दिया गया तथापि इसे बिना जाने गीताकी आध्यात्मिक व्याख्या समझनेमें सुविधा न होगी। इसी कारण मुझे इतना लिखनेके लिए बाध्य होना पड़ा है।

———

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

(विषादयोगः)

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

अन्वय—धृतराष्ट्रः उवाच (धृतराष्ट्र बोले)—सञ्जय (हे सञ्जय !) धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे (धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें) युयुत्सवः (युद्धाभिलाषी) मामकाः (मेरे पक्षके दुर्योधनादि मेरे पुत्रगण) च (तथा) पाण्डवाः (पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिरादि तथा उनके पक्षके लोगोंने) समवेता (इकट्ठे होकर) किम् अकुर्वत (क्या किया ?) ॥१॥

श्रीधर स्वामीकृत टीका—धृतराष्ट्र उवाचेति। धर्मक्षेत्र इति। भो सञ्जय ! धर्मक्षेत्रे धर्मभूमौ कुरुक्षेत्रे। धर्मक्षेत्र इति कुरुक्षेत्रविशेषणम्। एषामादिपुरुषः कश्चित् कुरुनामा बभूव। तस्य कुरोर्धर्मस्थाने। मामका मत्पुत्राः। पाण्डुपुत्राश्च। युयुत्सवो योद्धुमिच्छन्तः। समवेताः मिलिताः सन्तः। किमकुर्वत किं कृतवन्तः ॥ १ ॥

अनुवाद—धृतराष्ट्र बोले—हे सञ्जय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें (धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रका विशेषण है। उनके कुरु नामके कोई आदिपुरुष थे, उन्हीं कुरुके धर्मस्थानमें) मेरे पुत्रों तथा पाण्डुके पुत्रोंने युद्ध करनेकी अभिलाषासे इकट्ठे होकर क्या किया ? ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—धर्मक्षेत्रे—धर्म अर्थात् भूतोंके प्रति दया, जिससे जीवकी रक्षा होती है, इस प्रकारके कर्म अकर्म कर्म कहलाते हैं। इसका प्रमाण गीतामें है—"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म-कृत्" अर्थात् जो कर्म फलाकाङ्क्षारहित हैं तथा गुरुके द्वारा प्राप्त हैं, उनसे आयुवृद्धि होती है, अतएव शरीरकी रक्षा होती है—इसका नाम दया है। पहले अपने शरीरकी रक्षा करके पश्चात् दूसरेकी शरीर-रक्षा करनेकी चेष्टा प्राप्त होती है। इस प्रकारका धर्मक्षेत्र है। क्षेत्र माने शरीर, इसका प्रमाण गीतामें है—'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते' अर्थात् क्रिया करनेका शरीर। इसमें परमात्मा, जीवात्मारूप होकर विद्यमान हैं। एक ओर पञ्चतत्व है अर्थात् पञ्च पाण्डव—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव यानी आकाश, वायु, अग्नि, जल, मिट्टी। युधिष्ठिर आकाश-स्वरूप हैं, तभी तो व्योम परव्योममें मिल गया, अर्थात् अपने शरीरसे ही स्वर्ग चले गये। भीम वायुस्वरूप हैं, इसका प्रमाण

महाभारतमें है—'खचरस्य सुतस्य सुतः खचरः,'''खचरी परिरोदिति हा खचर'। अर्जुन इन्द्रके पुत्र हैं—इ (शक्ति), न्द्र (वह्नि) वह्निके समान जिसकी शक्ति है। इसी कारण वज्रको इन्द्रायुध कहते हैं। नकुल = न + कुल, जिसका कुल नहीं अर्थात् जल जिसका किनारा नहीं मिलता। सहदेव मृत्तिकाके पुत्र हैं, इसी कारण वह वैद्यक शास्त्रमें प्रवीण थे, यह महाभारतमें लिखा है। कुरुक्षेत्रे—क्षेत्रमें अर्थात् इस शरीरमें। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, कुल दस इन्द्रियाँ दसों दिशाओंमें धावमान हैं, ये ही मन रूप धृतराष्ट्रके सौ पुत्र हैं, उनके नाम आदि-पर्वमें विस्तारपूर्वक लिखे हैं। इन्हीं नामोंके रूपक-अर्थ तथा तदनुसार सारे कर्म जो कुप्रवृत्तिके अनुगामी हैं उपक्रमणिकामें वर्णित हैं। नाभिके नीचेसे मूलाधार पर्यन्त अधोगमन या पारतन्त्र्यमूलक कुरु है अर्थात् फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म करनेके लिए कहता है—इसको कुरुक्षेत्र कहते हैं। ये दो दल युद्धकी इच्छा कर रहे हैं। 'अहं' इत्याकार-युक्त मनका यह प्रश्न है कि कुदिशामें हमारा दल, पाण्डव पञ्चतत्त्वोंके सहित क्या कर रहे हैं? संजय शब्दका अर्थ है दिव्य दृष्टि, अर्थात् ब्रह्ममें ध्यानरत होने पर कैसा अनुभव होता है, मन यह जानना चाहता है। दिव्य दृष्टिके द्वारा जो प्रकाश होता है वह स्थिर होकर कहते हैं—धर्म क्या है? सब भूतोंके प्रति दया ही धर्म है—यानी ऐसे कर्म जिनसे सब जीवोंकी रक्षा होती है— उसे अकर्म भी कहते हैं, अर्थात् जिस कर्मके करनेसे कर्मफल या कर्मबन्धन नहीं होता, वही यथार्थ कर्म है। वस्तुतः फलाकाङ्क्षारहित कर्म भी वही है। उसे गुरुके समीप सीखना पड़ता है। हमारी सारी इन्द्रियाँ किसी न किसी उद्देश्यको लेकर कर्ममें प्रवृत्त होती हैं, परन्तु अनवरत होने वाले प्राणके श्वासोच्छ्वास रूपी कर्म किसी कामना या सङ्कल्पसे नहीं होते। यह प्राण-कर्म फल-कामनासे रहित है, अतएव जो साधक गुरुके उपदेशानुसार मनको प्राणके साथ मिलानेकी चेष्टा करेगा, उसका मन भी अन्तमें प्राणके समान ही फलाकाङ्क्षासे शून्य हो जायगा। प्राण-कर्मके विषयमें उपदेश प्रदान करना ही वास्तविक जीवदया है। निश्चय ही अन्नादिका दान भी दया ही है, परन्तु उस दयामें दुःख सदाके लिए दूर नहीं होता। भूखेको अन्न देनेसे कुछ कालके लिए उसकी भूख अवश्य दूर हो जाती है, परन्तु उसे फिर भूख लगती है और वह फिर दुःख पाता है। अतएव ज्ञानदान ही यथार्थ दया है, जिसके द्वारा जीवकी काम-क्षुधा सदाके लिए नष्ट हो जाती है। वासनाकी भूख ही जीवका भवरोग है और ज्ञान उस रोगकी परम औषधि है। मन और बुद्धिको निश्चल करने पर यह ज्ञान आविर्भूत होता है। मनमें निरन्तर वासनाओंके वेग उठकर उसे सदा जीर्ण करते रहते हैं। मनका यह रोग नष्ट न हुआ तो कदापि उसे शान्ति नहीं मिल सकती। अब देखना है कि मन कैसे शान्त होता है।

योगशास्त्रमें लिखा है—'चले वाते चलचित्तम्'—प्राणवायुके चञ्चल होनेके कारण हमारा चित्त भी चञ्चल होता है। अतएव साधनाके द्वारा प्राणको स्थिर करने पर अनायास ही मन और बुद्धिकी चंचलता मिट जाती है। परन्तु प्राणकी साधनाके लिए शरीरका होना भी आवश्यक है। तभी यथार्थ धर्म-पालनकी क्षमता प्राप्त होती है। शरीरको भगवान्‌ने बड़े ही अपूर्व कौशलसे रचा है, इस शरीरमें ही नित्य शुद्ध

परमात्मा विराजते हैं और उनको जानकर जीव कृतार्थ हो जाता है। उनको जाननेकी व्यवस्था भी इस शरीरमें उन्होंने ही कर दी है। इसी कारण शरीरका इतना आदर होता है। मनुष्य-देहकी प्राप्तिकी कामना बहुधा देवता लोग भी करते हैं। अवश्य ही देह-द्वारा बहुतसे कुकर्म भी होते हैं, परन्तु जब गुरुकी कृपासे इसी शरीरमें मनुष्यको साधनाका दीप हाथ लग जाता है तो उसका जन्म-जीवन सफल हो जाता है। धर्म-साधनके लिए ही हमको यह शरीर मिला है, परन्तु यदि साधनाकी उपेक्षा करके हम पशुके समान केवल भोग-वासनामें ही इस शरीरको लगा देते हैं तो इसे परम दुर्भाग्य ही मानना पड़ेगा।

'अहं' का अवलम्बन करके ही हमारे सारे ज्ञानका—आत्मबोध या अनात्म-बोधका उदय होता है। अतएव हमारा 'अहं' ज्ञान भी दो प्रकारका हो जाता है—देहोऽहं और शिवोऽहं। 'देहोऽहं इति या बुद्धिः अविद्या सा प्रकीर्तिता'—यह देहोऽहं बुद्धि ही अविद्या है। और 'नाहं देहः चिदात्मेति' अर्थात् मैं देह नहीं चिदात्मा हूँ—यही विद्या या ज्ञान है। परन्तु हमको पहले देहज्ञान ही होता है और हम इस देह-ज्ञान-युक्त 'अहं'के साथ ही परिचित हैं। यही आत्माका बद्धभाव है। और दूसरा 'अहं' है, सोऽहं या शिवोऽहं—उसके साथ हमारा वैसा परिचय नहीं है—परन्तु वही 'अहं'—'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'—हमारा आत्मा है, वही चिरमुक्त ईश्वरस्वभाव है। परन्तु वह इन्द्रियोंके अगोचर है, अतएव उसे 'सः' शब्दके द्वारा उपलक्षित किया गया है। हम सर्वदा 'मैं' 'मैं' कहते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि हमारा 'मैं' क्या वस्तु है। इसीलिए उसका परिचय दिया गया कि, मैं ही वह 'सः' हूँ या वह 'सः' ही मैं हूँ। यह देहाभिमान-युक्त 'मैं' जब उस 'मैं' को ढूँढ़ निकालता है, तब वह उसमें निमग्न हो जाता है। तभी ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और जीवलीलाका अवसान हो जाता है। इन दोनोंका मिलन ही साधनाका लक्ष्य है, उस लक्ष्य तक पहुँचनेके लिए अनेक साधनाएँ करनी पड़ती हैं। इसीलिए इस कुरुक्षेत्रके युद्धका आयोजन होता है। कुरुक्षेत्र-युद्धके दो पक्ष हैं—एक धर्म या निवृत्तिका पक्ष और दूसरा अधर्म या प्रवृत्तिका पक्ष। धर्मके साथ अधर्म अथवा प्रवृत्तिके साथ निवृत्तिके युद्धका इतिहास ही मानव-जीवन है। दुर्गा-सप्तशती आदि अनेक शास्त्रोंमें इसकी विवृति प्राप्त होती है। महाभारतमें उसे इस प्रकार विवृत किया है—

ॐ दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखा
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रो मनीषी॥
ॐ युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥

दुर्योधन पापमय महावृक्ष है, कर्ण उस वृक्षका स्कन्ध, शकुनि शाखा, दुःशासन समृद्ध पुष्पफल, तथा मनीषी राजा धृतराष्ट्र उस वृक्षके मूल हैं। युधिष्ठिर धर्ममय महाद्रुम हैं, अर्जुन उसके स्कन्ध, भीमसेन शाखा हैं, माद्रीके दोनों पुत्र नकुल

और सहदेव उसके समृद्ध पुष्प-फल हैं, और उस वृक्षके मूल स्वयं श्रीकृष्ण, वेद और ब्राह्मण हैं ॥१॥

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (संजय बोले)—तदा (उस समय) पाण्डवानीकं (पाण्डव-सेनाको) व्यूढं (व्यूह-रचनामें व्यवस्थित) दृष्ट्वा तु (देखकर) राजा दुर्योधनः (राजा दुर्योधन) आचार्यम् उपसंगम्य (आचार्य द्रोणके पास जाकर) वचनं (यह बात) अब्रवीत् (बोले) ॥२॥

श्रीधर—संजय उवाच । दृष्ट्वा त्वादि । पाण्डवानामनीकं सैन्यम् व्यूढं व्यूहरचनया व्यवस्थितं दृष्ट्वा द्रोणाचार्यसमीपं गत्वा राजा दुर्योधनो वक्ष्यमाणं वचनमुवाच ॥ २ ॥

अनुवाद—सञ्जयने कहा—पाण्डवोंकी सेनाको व्यूह-रचनामें व्यवस्थित देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास जाकर इस प्रकार बोले ॥ २ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस शरीरकी सेना—ललाट, चन्द्र, स्तन, अङ्गुलि, त्रिवली, श्रुति, उरु, केश, पार्श्व, मुख, ग्रीवा, नाभि, नयन, बाहु, नख, नितम्ब, पृष्ठ, नासिका, कुक्षि, उदर, पद, योनि, चिबुक, श्वास, जानु, जङ्घा, भ्रू, भ्रूमध्यस्थान, गुल्फ, मस्तक, कर, कण्ठ, वाक्, दन्त, मांस, त्वक्, अस्थि, शिर और नाड़ी हैं। नाड़ीसमूहमें बारह मुख्य नाड़ियाँ हैं—दक्षिण कर्णमें हस्तिनी, वाम कर्णमें गान्धारी, दक्षिण चक्षुमें अलम्बुषा, वाम चक्षुमें पुष्पनासा, मेरुदण्डके दक्षिणमें पिङ्गला, मध्यमें सुषुम्ना, वामभागमें इड़ा, जिह्वामें सरस्वती, लिङ्गमें—मूलाधारमें वारुणी और गुह्यद्वारमें कुहू है—इन सब नाड़ियोंकी प्रवाहरूपी सेना—परन्तु नदीके बिना प्रवाह कहाँसे आ सकता है? अतएव इनका शास्त्रोक्त नाम क्रमशः लिखा जाता है—(१) इड़ा—गङ्गा, (२) पिङ्गला—यमुना, (३) गान्धारी—कावेरी, (४) हस्तिनी—सिन्धु, (५) पुषा—ताम्रपर्णी, (६) अलम्बुषा—गोमती, (७, ८) सुषुम्ना—सरस्वती, (९) कुहू—नर्मदा, (१०, ११) वारुणी—गोमती, (१२) पयस्विनी—पुनपुना। इन सबको देखकर दुर्योधन, जिसकी क्रियामें इच्छा नहीं, जो अज्ञानके वश कानसे सुनता है, स्वयं श्रेष्ठ समझकर—आचार्य यानी द्रोणाचार्य, जिसकी एक ओर दृष्टि रहती है—अर्थात् एकमात्र परम्परासे जो आ रहा है वही करूँगा—इस प्रकारकी बुद्धिके पास मन ही मन जाकर, जानकारी प्राप्तकर बोले।—देहके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग मानो संसार-संग्रामके सैनिक हैं। ये ही तो नाना प्रकारके विषय-संग्रहके लिए चेष्टा करते हैं, अवश्य ही मूलमें मन रहता है और वही इनका राजा है। मनके राजा होनेपर भी मानसिक वृत्तियोंमें कामरूपी दुर्मति सारे कर्मोंका अधिनायक है। यही दुर्द्धर्ष कामरूपी दुर्मति समस्त भोग-तृष्णाका हेतु है। काम सर्वदा निवृत्तिपक्षवालों से वैर साधता है, और उनको पराभूत करनेकी चेष्टा करता है। पहले सारे जीवोंमें भोगकी ओर आसक्ति होती है, पश्चात् जब सद्विचार-बुद्धि प्रतिष्ठित होती है तो जीव भोगकी असारताको समझ पाता है और तब भोगसे

निवृत्त होना चाहता है। भोगसे निवृत्तिकी चाह होनेपर शमदमादिकी साधनाके लिए बुद्धि चेष्टा करती है, तभी प्रवृत्तिपक्षवालोंके मनमें खलबली मच जाती है। उनमें विशेषत: जब दुर्मति देखती है कि निवृत्तपक्षवाले युद्ध करेंगे ही, तब उसका यह प्रधान लक्ष्य हो जाता है कि किस प्रकार साधन-समरमें उनको पराजितकर अपना स्वराज्य स्थापित किया जाय। जब दुर्मति देखती है कि निवृत्तिपक्षवाले कमर कसकर खड़े हैं, युद्ध करनेके लिए व्यूह रचना की गयी है, तब वह वाध्य होकर जीवके भीतर जो धर्मविरुद्ध संस्कार है उसका आश्रय ग्रहण करती है। यही द्रोणके समीप दुर्योधनका आगमन है। आचार्य द्रोण दोनों पक्षोंके गुरु हैं। क्योंकि संस्कार और तज्जनित आग्रह हुए बिना कोई न तो किसी मार्गमें जा सकता है और न प्रबल हो सकता है। 'द्रु' धातुसे द्रोण शब्द बनता है। 'द्रु' धातुका अर्थ है गमन करना, जो साथ साथ गमन करता है। कर्मके संस्कार ही साथ साथ गमन करते हैं। इसी कारण संस्कार बड़े ही आग्रही और जिद्दी होते हैं। कोई भी आदमी अपने आग्रह या संस्कारको सहज ही छोड़ना नहीं चाहता। दुर्योधन तो दुर्मति है, भोगसुखमें आसक्त होना ही उसका स्वभाव है। साधन करनेकी उसकी इच्छा नहीं होती, बल्कि साधन न हो और संसार-प्रवाहमें अमुमुक्षु रहकर प्रवाहित होते रहें, यही दुर्मतिकी चिरकालकी साध है। साधनकी अनिच्छा ही सबसे बड़ी दुर्मति है। यह दुर्मति जिसमें होती है, वह तह तक जाकर किसी बातको समझना नहीं चाहता, क्योंकि समझ पड़ने पर उसकी बुद्धि बिगड़ न जाय! गलत-सही कानसे सुनकर कार्य करता है। उसे अपनेमें इतना अभिमान होता है कि अपनी बुद्धिको ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ समझता है, और किसीके सामने नतसिर नहीं होना चाहता। इस प्रकारकी दुर्मति जब देखती है कि यह शरीर अब उसका ही राज्य है और सब कुछ अब उसके अधिकारमें है, तथा निर्वासित पददलित सुबुद्धि अकस्मात् फिर राज्यका भाग चाहती है, मनमें सुशोभित होकर आसीन होना चाहती है, तब दुर्मतिको यह असह्य हो उठता है और वह उसे सूचीके अग्रभाग-परिमाणमें भी स्थान देनेके लिए सम्मत नहीं होती— अर्थात् विषयासक्त मन दो घड़ीके लिए भी सुबुद्धिका आश्रय लेकर भजन-साधनमें लगे, यह सब दुर्बुद्धिको रंच भी सह्य नहीं होता। लड़ाईसे हो या जिस प्रकार हो, सुबुद्धिको वह देह-मनोराज्यसे बाहर निकालना चाहती है। इसी कारण इस कुरुक्षेत्र-युद्धका आयोजन होता है। जब दुर्मतिने देखा कि सचमुच ही निवृत्ति-पक्षके सद्बुद्धि-वालों ने व्यूह रचना की है, तब वह सारी बातें आचार्य द्रोणसे कहनेके लिए जाती है। कहती है, देखिये ये लोग हमारे साथ युद्ध करेंगे। आप ही संस्कार हैं, आपकी कृपासे ही ये इतने बड़े वीर हो गये हैं। इस समय आप (दुष्ट संस्कार) हमारे दलमें हैं। आपके विरुद्ध ही लड़ाई करेंगे, इनकी इतनी बड़ी स्पर्धा! तब दुष्ट संस्कार और आग्रहके द्वारा बलवती दुर्मतिका जिद बढ़ जाता है और वह निश्चित कर लेती है कि निवृत्ति-पक्षवालोंको पराजित करके भोगराज्यको स्वायत्त करना होगा। द्रोणाचार्य दुर्योधनके दलके एक प्रधान नेता हैं। यह आग्रही हैं, अतएव उनकी एक ओर ही दृष्टि रहती है। उसी संस्कार-वश प्रतीत होता है कि ये विपत्तियाँ (निवृति

पक्षीयभाव) कहाँ से आ गईं, शम दम वैराग्य साधन-भजन आदि का प्रयोजन क्या, परम्परा से जो चला आ रहा है, वही करना होगा। मनमें ये भाव उदय होते हैं। यही है दुर्मतिका उभय पक्षके गुरु—संस्कार या आग्रहके समीप गमन ॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

अन्वय – आचार्य (हे आचार्य!) तव (आपके) धीमता शिष्येण द्रुपदपुत्रेण (बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्रके द्वारा) व्यूढां (व्यूह रची) पाण्डुपुत्राणां (पाण्डुपुत्रोंकी) एतां (इस) महतीं चूमं (विशाल सेनाको) पश्य (देखिये) ॥३॥

श्रीधर—तदेव वचनमाह पश्यैतामित्यादिभिः श्लोकैः। पश्येत्यादि। हे आचार्य पाण्डवानां महतीं विततां चमूं सेनां पश्य। तव शिष्येण द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन व्यूढां व्यूहरचनयाधिष्ठिताम् ॥३॥

अनुवाद—हे आचार्य! पाण्डवोंकी विशाल सेनाको अवलोकन कीजिये। आपके ही बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा इसकी व्यूहरचना हुई है ॥३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पञ्चतत्त्वके महान् दलको देखिये—अन्तर्यामीकी अन्तर्गति बुद्धि वह भी एकरुख या हठका शिष्य।—द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्न कूटस्थमें चित्र-विचित्र रूप हैं। कूटस्थके मण्डलमें विचित्र ज्योतिका प्रकाश है। इस ज्योतिके सहारे ही साधनानुकूल वृत्तियोंकी रक्षा होती है। अर्थात् जिसे जिस प्रकारकी ज्योतिका दर्शन होता है, उसकी साधनाके प्रति मनकी गति भी तदनुरूप ही होती है। उस ज्योतिमें मनको लगाकर अनुसन्धान करनेसे अनेक प्रकारकी घटनाओंका पता लगता है। वही द्रुपद-पुत्र हैं। द्रुपद—अन्तर्यामिस्वरूप मनकी द्रुत गति अर्थात् जिसके द्वारा अनेक घटनाओंका अल्पकालमें बोध हो जाता है। परन्तु इसको दिव्यदृष्टि नहीं कहते। यह एक प्रकारकी आध्यात्मिक शक्ति है। इस तेजके द्वारा ही पञ्चतत्त्वकी रक्षा होती है। यह भी एक-रुख अर्थात् द्रोणके शिष्य हैं। एकरुख होकर साधन किये बिना भला साधन-संस्कार जमेगा कैसे? अथवा साधन-शक्ति स्फुरित ही कैसे होगी? यही पञ्चतत्त्व-दलके मुखपात या सेनापति हैं। पहले कूटस्थमें चित्र-विचित्र ही दीख पड़ेगा। उसे देखकर साधकके मनमें कुछ आशाका सञ्चार होगा कि जब पहले ही क्रिया करते-करते इतने चित्र-विचित्र दृश्य दिखायी देते हैं तो आगे न जाने क्या क्या मिले, अतएव साधनमें लगे रहना ही ठीक है। इसी कारण दुर्मति (दुर्योधन) को खूब भय है, कि शायद साधन करते-करते नाना प्रकारके विचित्र दृश्य कूटस्थमें देखकर साधनमें कहीं वे जम न जायँ। धृष्टका अर्थ प्रगल्भ और द्युम्नका अर्थ बल भी होता है—जो किसी विषयमें हताश नहीं होता, बलपूर्वक साधनमें लग जाता है। यह भी हठके शिष्य हैं। द्रोणाचार्यरूपी संस्कार इनके भी गुरु हैं। एक बार रुख चढ़ जाने पर साधनका यथार्थ तत्त्व समझमें आवे या न आवे साधनमें यह कमर कसकर लग जाते हैं। साधनाकी प्रथमावस्थामें इसकी आवश्यकता होती है। इसी कारण यह धृष्टद्युम्न पञ्चतत्त्व-दलके सेनापति या मुखपात हैं ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

अन्वय—अत्र (यहाँ) महेष्वासः (महाधनुर्धर) शूराः (शूरवीर) युधि (युद्धमें) भीमार्जुनसमाः (भीम और अर्जुनके समान) महारथः (महारथी) युयुधानः (सात्यकि), विराटश्च (तथा विराट्) द्रुपदश्च (तथा द्रुपद), धृष्टकेतुः (धृष्टकेतु), चेकितानः (चेकितान), वीर्यवान् काशिराजः च (पराक्रमशाली काशीका राजा), पुरुजित् कुन्तिभोजः च (पुरुजित तथा कुन्तीभोज), नरपुङ्गवः (नरश्रेष्ठ,) शैब्यः च (और शैब्य), विक्रान्तः युधामन्युः च (तथा विक्रमशाली युधामन्यु), वीर्यवान् उत्तमौजाः च (और बलवान् उत्तमौजा), सौभद्रः (सुभद्राके पुत्र अभिमन्यु), द्रौपदेयाः च (तथा द्रौपदीके पुत्रगण), सर्व एव (सबके सब) महारथाः (महारथी हैं)। ४, ५, ६।

श्रीधर—अत्रेत्यादि। अत्रास्यां चम्वां। इषवो बाणा अस्यन्ते क्षिप्यन्ते एभिरितीष्वासा धनूंषि। महान्त इष्वासा येषां ते महेष्वासाः। भीमार्जुनौ तावदत्रातिप्रसिद्धौ योद्धारौ। ताभ्यां समाः शूराः सन्ति। तानेव नामभिर्निर्दिशति—युयुधान इति। युयुधानः सात्यकिः ॥४॥

किञ्च—धृष्टकेतुरिति। चेकितानो नामैको राजा। नरपुङ्गवो नरश्रेष्ठः शैब्यः ॥५॥ युधामन्युरिति। विक्रान्तो युधामन्युर्नामैकः। सौभद्रोऽभिमन्युः। द्रौपदेयाः द्रौपद्याः पञ्चभ्यो युधिष्ठिरादिभ्यो जाताः पुत्राः प्रतिविन्ध्यादयः पञ्च। महारथादीनां लक्षणम्—

एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्।
अस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥
अमितान् योधयेद् यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः।
रथी चैकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्द्धरथो मतः॥ इति ६॥

अनुवाद—इस सेनामें भीम, अर्जुनके समान अति प्रसिद्ध योद्धा महाधनुर्धर शूरवीर हैं। उनका नाम निर्देश करता हूँ। सात्यकि, विराट, महारथ द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य, विक्रान्त युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रातनय अभिमन्यु, तथा युधिष्ठिरादिसे उत्पन्न द्रौपदीके प्रतिविन्ध्यादि पाँच पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४, ५, ६ ॥

जो अकेले दस सहस्र धनुर्धारियों से युद्ध करते हैं तथा युद्ध-शास्त्रमें प्रवीण हैं वही महारथी हैं, जो अकेले अगणित सैनिकों से युद्ध करते हैं वह अतिरथी हैं, जो अकेले एक रथी से लड़ते हैं वह रथी हैं, और जो अपने से हीनबल योद्धा से लड़ते हैं वह अर्धरथी हैं।

आध्यात्मिक व्याख्या—यहाँ अच्छे विश्वासकारक शूर—वायु (प्राण), अग्नि (जठराग्नि) के समान युद्ध करनेवाले, जो इच्छा करते हैं उसकी सिद्धि होती है, अन्तर्यामित्वके समान शीघ्रगति वाले महारथी हैं ॥ ४ ॥ किसीको स्वप्रकाशका अनुभव होता है, कोई ओँकार ध्वनि सुनते हैं, किसीको महान् ज्योतिका प्रकाश होता है, कोई क्रिया करके बैठे हैं, कोई अपने आनन्दमें आप मग्न होकर बैठे हैं, कोई ब्रह्ममें मनको स्थिर करके सब कुछ देख रहे हैं—ये सभी नरोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ५ ॥ किसीको विशेष भ्रान्ति है। कोई आद्या शक्तिकी उपासना करते हैं, कोई मङ्गल करनेकी सामर्थ्य रखते हैं, सभी महारथी हैं ॥६॥—पहले ही पाण्डव-सैनिकोंके नामका उल्लेख किया गया है, क्योंकि ये सभी साधनके सहायक हैं। इनके बलसे बलवान् होकर ही इस साधन-समरका आयोजन होता है। इनमें भी सभी अन्त तक युद्धमें टिके रहेंगे, ऐसी बात नहीं है। एक-एक करके प्रायः सभी विलुप्त हो जायँगे, परन्तु साधनके प्रारम्भमें इन सबके रहने पर साधनामें उत्साह आता है, इसी कारण साधनकी प्रारम्भिक दशामें इनकी आवश्यकता है। इनमें प्रथम भूमिका सात्यकि या सुमति हैं। सुमतिके बिना साधनामें प्रथम प्रवृत्ति कैसे होगी ? दुर्मतिका प्रधान प्रतिपक्षी है सुमति। विराट्—जिसकी इच्छा की जाती है उसको जाना जाता है—कूटस्थके सामने आकर उपस्थित होता है—यह एक प्रकारकी योगज सिद्धि है। द्रुपद—शीघ्रगति अर्थात् अन्तर्यामित्व-शक्ति, अन्तर्यामित्वके समान शीघ्रगति और कुछ नहीं हो सकती। धृष्टकेतु—स्वप्रकाशका अनुभव, 'धृष्यते केतवः येन'—जिसके द्वारा पाप नष्ट होता है अर्थात् चाञ्चल्य या विषयासक्तिरूपी पाप स्वप्रकाशके अनुभवसे नष्ट हो जाता है। चेकितान—प्रणवध्वनि, परन्तु यह प्रणवध्वनि सुस्पष्ट नहीं है, साधककी साधनाकी प्रथमावस्थामें झिल्लीरव-जैसी तान होती है। काशिराज—काश्यते प्रकाश्यते (काशी सर्वप्रकाशिका) जो सबको प्रकाशित कर दे अर्थात् महत् ज्योति या ज्ञान। पुरुजित्—पौरान् जयति इति पुरुजित् अर्थात् अवरोध। इन्द्रियादि पुरवासियोंका निरोधभाव न होने पर साधना नहीं होती। चित्तवृत्तिके निरोधके बिना यथार्थ अवरोध या समाधि लाभ नहीं होता। कुन्तिभोज—देवाराधनशक्ति जिसके द्वारा पालित होती है अर्थात् आनन्द। साधनमें आनन्द मिलने पर ही साधन-शक्ति स्फुरित होती है। तथा अनेक दैवी सम्पदकी प्राप्ति होती है। यह भी योगियोंकी एक योगविभूति है। शैब्य—शिवसे शैब्य अर्थात् जो परम मङ्गल है। ब्रह्मज्ञानसे बढ़कर कल्याणप्रद और कुछ नहीं है। अतएव ब्रह्मज्ञ पुरुष ही शैब्य है। इन सब शक्तियोंके एकत्रित होने पर ही साधक नरश्रेष्ठ हो सकता है। युधामन्यु—जिनको युद्धमें मन्यु अर्थात् दैन्य होता है। वे साधन तो करते हैं, परन्तु साधनामें उनको दैन्य या भ्रान्ति बनी हुई है। यह भ्रान्ति पहले-पहल सभी साधकोंको होती है। वह विक्रान्त होती है अर्थात् उसमें अनेक बाधाएँ उपस्थित करनेकी योग्यता होती है। साधनामें पहले अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं, उन सबको जो अतिक्रम कर सकते हैं वे ही वीर हैं। उत्तमौजा—उत्तम ओज या वीर्य है जिसका—वह आद्या शक्ति है, उनके जो उपासक हैं अर्थात् कुण्डलिनि-शक्तिको जाग्रत करनेके लिए जो सचेष्ट हैं। सौभद्र—अभिमन्यु, मनोरथ-मात्रसे प्राप्त

होना, अर्थात् सङ्कल्प-सिद्धि। इससे जीव और जगत्का मङ्गल करनेकी क्षमता प्राप्त होती है। द्रौपदेय—द्रौपदीके पुत्र। द्रौपदी—जो द्रुत स्वस्थान पर ले आती है अर्थात् साधना। द्रौपदी के पुत्रगण अर्थात् साधनालब्ध विविध शक्तियाँ। साधन करते-करते साधकको जो क्षिति आदि पञ्च महाभूतोंसे उत्पन्न दिव्य गन्ध, रस, रूप प्रभृतिका स्वतः अनुभव होता है वह भी चित्तकी स्थिरता या समाधिलाभका कारण बनता है। योगदर्शनमें लिखा है—'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-निबन्धिनी।' (समाधिपाद ३५ सूत्र)। नासिकाके अग्रभागमें संयम (चित्तकी धारणा, ध्यान और समाधि) करनेसे दिव्य गन्धका ज्ञान होता है, जिह्वाग्रमें संयम करनेसे दिव्य रसका ज्ञान, तथा तालुमें चित्तका संयम करनेसे रसका ज्ञान होता है। इस प्रकार साक्षात्कार होने पर साधनसे मोक्षविषयक दृढ़ बुद्धि उत्पन्न होती है। रूपरसादि विषयोंका अवलम्बन करके ही इन सब प्रवृत्तियोंका उदय होता है, अतएव ये विषयवती प्रवृत्तियाँ हैं, परन्तु जब तक इस प्रकारका कोई एक विषय इन्द्रियगोचर नहीं होता, तब तक साधना और उसके फलके प्रति दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। इसीलिए इनकी भी आवश्यकता है।

कुण्डलिनी-शक्ति पञ्चतत्त्वोंमें मिलकर पञ्च बिन्दुओंको उत्पन्न करती है—उससे चित्त लय होता है तथा समाधि सिद्ध होती है। ये सारी अत्यन्त पराक्रमशाली शक्तियाँ निवृत्ति-पक्षमें रहती हैं। इनको सहज ही साधना से हटाना कठिन है। इसी कारण दुर्मतिने अपने दलके एक विशिष्ट नेताको सावधान करनेके उद्देश्यसे विपक्षी दलकी शक्तिके विषयमें सूचित किया है। हाय रे दुर्मति, हाय रे विषयस्पृहा, साधनाकी इतनी शक्ति देखकर भी साधनाकी इच्छा नहीं होती! स्वयं तो तू साधन करती नहीं, दूसरे भी जिससे न कर सकें, ऐसा उद्देश्य रखकर अपना मतलब गाँठनेके लिए परामर्श चला रही है।

साधकोंमें साधना करते समय जो विभूतियाँ प्रकट होती हैं, उन्हींका यहाँ उल्लेख करते हैं। सभी साधकोंको एकसाथ ही ये विभूतियाँ प्रकट हों ऐसी बात नहीं। साधनमें जिनका जैसा अध्यवसाय होता है, तथा जैसा पूर्व जन्मका अभ्यास और संस्कार होता है उसके अनुसार ही शक्ति या विभूति प्रकट होती है। यहाँ एकसाथ ही सारे विषयोंका उल्लेख किया गया है, परन्तु अधिकांश साधकोंमें एकसाथ सारी विभूतियाँ स्फुटित नहीं होतीं। और भी स्पष्ट भावसे इनके बारेमें लिख रहा हूँ।

साधकको पहले कूटस्थमें नाना प्रकारके चित्र-विचित्र तथा रंग-विरङ्गके चित्रोंके समान दृश्य दिखलायी देते हैं, इससे प्रथमाभ्यासी साधकको उत्साह मिलता है, इसी कारण यह निवृत्ति-मार्गके प्रथम सेनापति हैं। परन्तु असलमें इस दलके सेनापति हैं भीम और अर्जुन—प्राणवायु और जठराग्नि, अर्थात् प्राणकी क्रिया बलपूर्वक करते-करते उधर प्रवृत्ति-पक्षकी सेना रणमें भग्न हो जाती है, और इधर प्राण और मन स्थिर हो जाते हैं, और मुख्यतः साधकका यही प्रयोजन है। परन्तु और भी बहुत सी बातें हैं, जिनका अनुभव होने पर साधनावस्थामें प्राण और मनमें स्थिरता

आती है। उनमें कुछ मुख्य-मुख्य ये हैं—(१) सुमति (सात्यकि), (२) जो इच्छा हो वह कूटस्थके सम्मुख देखना (विराट्), (३) अन्तर्यामित्व (द्रुपद), (४) स्वप्रकाश अनुभव—सुस्पष्ट अनुभव (धृष्टकेतु), (५) ॐकार ध्वनि (चेकितान), (६) महत् ज्योति (काशिराज), (७) अवरोध अर्थात् साधना करते-करते प्राणमें इतनी स्थिरता आती है कि श्वास बाहर नहीं आता, मन स्तब्ध और निस्पन्द हो जाता है—यही साधनाका अन्तिम फल है (पुरुजित्), (८) साधनाकी परावस्थामें प्रवेश करते समय, तथा प्रविष्ट होने पर आनन्द-पुलकित होना (कुन्तिभोज), (९) ब्रह्मानुभव या ब्रह्मज्ञान (यही साधनका अन्तिम फल अर्थात् शैव्य हैं), (१०) क्रान्ति अर्थात् भ्रान्तिदर्शन (साधनाका यह एक प्रकार विघ्नस्वरूप है—यही युधामन्यु हैं), (११) आद्या शक्ति, जो सहज ही कुलकुण्डलिनीको साधन द्वारा जाग्रत करनेकी सामर्थ्य रखती हैं (यही है उत्तमौजा) और (१२) मनोरथ करनेके बाद जो साधकको प्राप्त होता है अर्थात् सिद्धिशक्ति (यही अभिमन्यु है, जो परम कल्याणरूपिणी सुभद्राके पुत्र हैं)। साधनाके ये सारे महारथी सिद्धिकी अवस्था प्राप्त करते हैं। इनमेंसे दो-तीन या सबका कुछ-कुछ प्राकट्य होने पर यह ज्ञात होने लगता है कि साधक साधनामें कितना अग्रसर हो रहा है ॥ ४–६ ॥

अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अन्वय—द्विजोत्तम (हे द्विजश्रेष्ठ!) तु (किन्तु) अस्माकं (हमारे) ये विशिष्टाः (जो प्रधान) मम (मेरी) सैन्यस्य (सेनाके) नायकाः (सेनापति हैं) तान् (उनको) निबोध (जान लीजिये)। ते (आपके) संज्ञार्थं (सम्यक् जानकारीके लिए) तान् (उनको) ब्रवीमि (कहता हूँ अर्थात् उनके नामका परिचय देता हूँ) ॥७॥

श्रीधर—अस्माकमिति। निबोध बुध्यस्व। नायका नेतारः। संज्ञार्थं सम्यग्-ज्ञानार्थमित्यर्थः ॥ ७ ॥

अनुवाद—हे द्विजोत्तम! हमारे पक्षके, हमारी सेनाके जो प्रधान नेता हैं, उनको जान लीजिये। आपके सम्यग् ज्ञानके लिए उनका परिचय देता हूँ ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—हमारे मतके श्रेष्ठ, जो परम्परासे आ रहे हैं उनकी विवेचना करके नाम लेता हूँ।—मनमें हो सकता है कि जब दुर्मतिने निवृत्तिपक्षकी इतनी प्रशंसा की, तब संभव है कि युद्ध करनेमें उसकी आस्था या साहस न हो। परन्तु ऐसी बात नहीं है। विपक्षीके बलको जानकर भी दुर्मतिको अपने पक्षके प्रति अटूट विश्वास रहता है। चाहने पर निवृत्तिपक्षवालोंको वे अनायास ही पराभूत कर सकते हैं, यह विश्वास उनके मनसे नष्ट नहीं होता ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥ ८ ॥

अन्वय—समितिञ्जयः (समरविजयी) भवान् (आप), भीष्मः च (और

भीष्म), कर्णः च (तथा कर्ण), कृपः (कृपाचार्य), अश्वत्थामा च (और द्रोणके पुत्र अश्वत्थामा), विकर्णः (विकर्ण) तथा सौमदत्तिः (तथा सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा) जयद्रथः (और जयद्रथ) ॥ ८ ॥

श्रीधर—तानेवाह—भवानिति द्वाभ्याम् । भवान् द्रोणः, समितिं संग्रामं जयतीति समितिञ्जयः । सौमदत्तिः सोमदत्तपुत्रो भूरिश्रवाः ॥ ८ ॥

अनुवाद—आप, भीष्म, कर्ण, समरविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ [समितिंजय या समरविजयी प्रत्येक पदका विशेषण हो सकता है] ॥ ८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अपने धरण धर्म अर्थात् क्रिया करनेसे भय, विश्वास मान लेना, कृपा करना, कल्पवृक्षके समान इच्छा, सबमें अविश्वास, भ्रमसमूह, सब कामोंमें दुःसाहस ।—दुर्मतिपक्षके प्रधान नायकोंका नाम कहते हैं—आप द्रोण—संस्कार और तज्जनित कुकार्य-सुकार्यमें दुराग्रह—यह दोनों पक्षके गुरु होकर भी इस समय अधर्मके पक्षका समर्थन कर रहे हैं। भीष्म—साधारणतः धर्मकार्य करनेकी इच्छा होनेपर भी क्रिया करनेसे जो भय होता है, सत्पथमें जीवके प्रवृत्त होनेमें यही प्रधान बाधक है। कौन जाने योगाभ्यास करनेपर पीछे कहीं रोग न हो जाय या मर न जायँ—इस प्रकारके संस्कार। यही इस पक्षके सर्वप्रधान नेता हैं। यही दुर्मतिके सर्वप्रथम और प्रधान सेनापति हैं—यदि भयसे बुद्धि बिगड़ जाय तो फिर साधन-पथ पर कोई अग्रसर न होगा, इसलिए यह पहली चौकी (बाधा) हैं। इनको जीतना बड़ा ही कठिन है। इसके पश्चात् कर्ण और विकर्ण यानी कानसे सुनने पर विश्वास या अविश्वास। सङ्कल्पित विषयके सत्यासत्य पर लक्ष्य न रखकर अन्धेके समान विश्वास कर बैठना, अथवा सत्यको न समझकर, यह कुछ भी नहीं—ऐसा अविश्वास करना ही विकर्ण है। यद्यपि इस प्रकारके विश्वास या अविश्वासका कोई मूल्य साधनपथमें नहीं हो सकता, तथापि साधन-पथमें बाधा उत्पन्न करनेमें ये भी बड़े नेता हैं। अमुक पुरुष कहता है कि क्रिया करना अच्छा नहीं, यह सुनकर साधन-क्षेत्रसे मुँह मोड़ना। तत्पश्चात् अविश्वास—योगसाधन करके खाक-पत्थर कुछ भी नहीं होता, केवल परिश्रम ही हाथ लगता है, उसकी अपेक्षा ढोल पीटकर नाचना-गाना अच्छा है। आनन्दका फल नृत्य है, परन्तु आनन्द नहीं है—यह देखकर भी बलपूर्वक कमर हिलाकर नाचना—मानो कितने भावापन्न हो रहे हैं! योगाभ्यास छोड़कर हरिनाम कीर्तन करनेको करते हैं, परन्तु उसमें भी विशेष श्रद्धा नहीं होती। कृपाचार्य—कृपा। जीवनके प्रति तामसिक अनुरागके कारण उसकी रक्षाके लिए दया। विशुद्ध दयाके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव जिससे भवयन्त्रणासे त्राण पावे, इस ओर इसका लक्ष्य नहीं। केवल भवान्ध जीवको कहती है—'भाई! तुमको वह सब कठोर तपःसाधन करनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल खाओ-पीओ-मौज करो। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनेके लिए उपवास करके देह सुखाना अच्छा नहीं है। उसकी अपेक्षा खाते-पीते आनन्द करते घूमना अच्छा है। इन सब साधनाओंमें लगनेसे

यह शरीर दो दिनोंमें नष्ट हो जायगा। तुम्हारा स्वर्ण-संसार खाकमें मिल जायगा, और तुम इसे सहन न कर सकोगे।' यह भी सुमतिके पक्षमें एकसमय गुरु थे। यह कृपा कभी नष्ट नहीं होती, ज्ञानी और सिद्ध पुरुष स्वयं सिद्ध होकर भी दूसरोंके प्रति कृपा करनेके लिए सतत उद्यत रहते हैं। इसी कारण कृपाचार्यकी कुरुक्षेत्रके युद्धमें मृत्यु नहीं हुई। वह अमर हैं, क्योंकि साधन-सिद्ध पुरुषोंमें मोहजनित दया तो नहीं होती, पर जीवोद्धारके लिए सात्त्विक कृपा कभी नष्ट नहीं होती। अश्वत्थामा—कल्पवृक्ष-स्वरूप। वासनाका कोई अन्त नहीं है, कल्पवृक्षके समान निरन्तर काम-सङ्कल्प उठते रहते हैं। अतएव जीवके कर्मभोगका भी कोई अन्त नहीं है। संकल्परूपी कल्पवृक्षका कभी पतन नहीं होता, इसी कारण अश्वत्थामा अमर हैं। यह योगादि साधनके अत्यन्त ही विघ्न-स्वरूप हैं। परम योगीश्वर पुरुषको भी कर्म-संस्कारका फल भोगना पड़ता है। भूरिश्रवा—भूरिश्रवणके कारण अविरत संशय। इसी कारण नाना प्रकारके लोगोंके पास बैठकर भाँति भाँतिकी बातें सुननेसे साधनपथमें संशय उत्पन्न होता है। संशयके समान योग-विघ्नकारी और कुछ नहीं है। जयद्रथ—दुःसाहस। इधर-उधरकी बातें कहकर जीवको भड़काना। ऐसा दुःसाहस और कुछ नहीं हो सकता तथा प्रवृत्तिपक्षका यह विजयी रथ भी है। इधर-उधरकी बातें करके अज्ञ और अल्पज्ञ पुरुषोंको सन्मार्गसे विचलित करना—यह सारी दुष्प्रवृत्तियोंमें अतिरिक्त साहसरूप होनेके कारण प्रवृत्तिपक्षका जयशील रथ है। यही साधन-शक्तिरूपी द्रौपदीको हरण करनेकी चेष्टा करता है। ये सारे दुर्मतिके सेनापति हैं। अपने भीतर मिलाकर देखने पर इन सबका दर्शन हो सकता है। साधन-पथमें विघ्न उत्पन्न करने तथा मनुष्यको साधनहीन पशुतुल्य बना देनेमें इनकी बराबरीका वीर और कौन है? श्रीमत् शङ्करा-चार्य कहते हैं—'के शत्रवः सन्ति, निजेन्द्रियाणि'—वास्तविक शत्रु कौन हैं?—हमारी अजित इन्द्रियाँ ही हमारे सर्व प्रधान शत्रु हैं। इनकी इच्छाके अनुसार काम करते रहने पर साधनपथमें अग्रसर होना एकबारगी असम्भव है ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

अन्वय—अन्ये च (एवं अन्य) बहवः (अनेक) शूराः (वीरगण) मदर्थे (मेरे लिए) सर्वे (सभी) त्यक्तजीविताः (प्राण त्याग करनेके लिए प्रस्तुत) (वे) नानाशस्त्र-प्रहरणाः (नाना प्रकारके शस्त्र चलानेमें पटु) युद्धविशारदाः (युद्धविद्यामें अत्यन्त निपुण हैं) ॥९॥

श्रीधर—अन्ये चेति। मदर्थे मत्प्रयोजनार्थं जीवितं त्यक्तुमध्यवसिता इत्यर्थः। नानानेकानि शस्त्राणि प्रहरणसाधनानि येषां ते। युद्धे विशारदाः निपुणाः ॥९॥

अनुवाद—और भी अनेक वीर हैं जो मेरे लिए जीवन अर्पण करनेको युद्ध-कृतसङ्कल्प हैं। वे सभी नाना प्रकारके शस्त्र-प्रहारमें पटु और युद्ध-विशारद हैं ॥९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अन्य अनेक शूर अज्ञानवश क्रियामें अनिच्छा केवल कानसे सुनते हैं, प्राणपर्यन्त त्याग करनेकी इच्छा। नाना प्रकारके तर्क-अस्त्रके द्वारा युद्धमें विशारद।—पूर्वोक्त प्रवृत्तिपक्षीय सारे सेनापति दुर्मतिके पक्षसमर्थनमें प्रस्तुत हैं, और इसके लिए उनमें सामर्थ्य भी है। वे साधन-पथके कण्टक हैं, और जीवको संसार-पङ्कमें फँसाकर उसकी मुक्तिके मार्गको बन्द करनेमें समर्थ हैं। कोई साधन न करे, इसके लिए अपने अस्तित्व तकको विलुप्त करनेके लिए प्रस्तुत रहते हैं। क्योंकि अजित इन्द्रियोंके अविरत भोगमें इन्द्रियशक्ति क्षीण हो जाती है, तथापि विषयासक्तिका अन्त नहीं होता। बहुतेरे तो साधकोंको सन्मार्गसे हटानेके लिए नानाप्रकारके तर्कास्त्र द्वारा वाग्युद्धमें विशारद होते हैं। वे समय-समय पर शास्त्रोंसे नानाप्रकारकी बातें उद्धृतकर अपने पक्षका समर्थन करते हैं। वे नहीं जानते कि केवल शास्त्रके वाक्यार्थको लेकर विवाद करनेसे सदा वास्तविक सत्य जाना नहीं जाता। कारण यह है कि शास्त्रोंका गूढ़ मर्म बहुत कम लोग समझ पाते हैं। केवल मनोविनोदके द्वारा समय काटकर कोई साधन-धन प्रभुको नहीं पा सकता। कबीरने ठीक ही कहा है—'हँसी खेलमें पिया मिले तो कौन दुहागिन होय।' दुःख उठाये बिना क्या कोई सुखका मुँह देख सकता है? योगदर्शनमें लिखा है कि तपस्याके क्लेशसे आवरण क्षीण होने पर ही आत्मदर्शन सुलभ होता है। व्यासजी कहते हैं—'न तपः परं प्राणायामात्'—प्राणायामसे बढ़कर कोई दूसरी तपस्या नहीं है। अतएव इतने बड़े साधनपथको अवज्ञाकी दृष्टिसे देखना केवल दुर्बुद्धिका परिचय देना है ॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अन्वय—भीष्माभिरक्षितं (भीष्मके द्वारा रक्षित) अस्माकं (हमारी) तद् (वह) बलं (सेना) अपर्याप्तं (अपरिमित है); एतेषां तु (परन्तु इनकी) भीमाभिरक्षितं (भीमके द्वारा रक्षित) इदं (यह) बलं (सेना) पर्याप्तम् (परिमित है)।

श्रीधर—ततः किम्? अत आह—अपर्याप्तमित्यादि। तत्तथाभूतैर्वीरैर्युक्तमपि भीष्मेणाभिरक्षितमपि अस्माकं बलं सैन्यमपर्याप्तम्। तैः यह योद्धुमसमर्थं भाति। इदमेतेषां पाण्डवानां बलं भीमाभिरक्षितं सत् पर्याप्तं समर्थं भाति। भीष्मस्योभयपक्षपातित्वादस्मद्बलं पाण्डवसैन्यं प्रत्यसमर्थम्। भीमस्यैकपक्षपातित्वादेतद्बलमस्मद्बलं प्रति समर्थं भाति ॥१०॥

अनुवाद—ऐसे वीरोंसे युक्त तथा भीष्मके द्वारा अभिरक्षित होने पर भी हमारी सेना अपर्याप्त है, पाण्डवोंके साथ युद्धके लिए समर्थ नहीं जान पड़ती। पाण्डवोंकी सेना भीमके द्वारा अभिरक्षित होनेके कारण पर्याप्त है अर्थात् समर्थ जान पड़ती है। क्योंकि भीष्म उभयदलके पक्षपाती हैं, इसलिए हमारी सेना पाण्डव-सेनाके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ है; तथा भीम एक ही दलके पक्षपाती हैं इसलिए पाण्डवसेना हमारी सेनाके साथ युद्धमें समर्थ जान पड़ती है ॥१०॥

[दुर्योधन बड़ा अभिमानी था, किसीके समीप छोटा होना उसकी प्रकृतिके

प्रतिकूल था, अतएव यह कम संभव है कि वह अपने सैन्यबलको असमर्थ समझे। बल्कि वह अपनी सेनाको अपरिमित और भुवन-विजयी समझता था। महाकुशल योद्धा भीष्म जब मेरे सेनापति हैं तब मैं विजयी हूँगा ही—इस प्रकारका मनोभाव प्रकट करना ही संभवतः उसके पक्षमें ठीक है। श्रीमद् आनन्दगिरिने भी यही बात कही है—"अस्माकं एकादशसंख्यकाक्षौहिणी परिगणितमपरिमितं बलं भीष्मेण च प्रथितमहामहिम्ना सूक्ष्मबुद्धिना सर्वतोरक्षितं पर्याप्तं परेषां परिभवे समर्थं; एतेषां पुनस्तदल्पं सप्तसंख्यकाक्षौहिणी परिमितं बलं भीमेन च चपलबुद्धिना कौशलविरहितेन परिपालितमपर्याप्तमस्मानभिभवितुमसमर्थमित्यर्थः"—हमारा एकादश अक्षौहिणी-संख्यक अपरिमित सैन्यबल तथा महा बुद्धिमान् रणपण्डित भीष्मपितामहके द्वारा परिरक्षित सैनिक, शत्रुसेनाको पराजित करनेमें सर्वथा समर्थ है। दूसरी ओर पाण्डवोंकी सेना केवल सात अक्षौहिणी मात्र है, तथा चपलमति, युद्धमें अकुशल भीमके द्वारा परिरक्षित है; अतएव हमको पराजित करनेमें असमर्थ जान पड़ती है। परन्तु रामानुज और श्रीधर आदि मनीषी टीकाकार 'पर्याप्तं' और 'अपर्याप्तं' इन दोनों शब्दोंका अन्य अर्थ लेते हैं। श्रीधर लिखते हैं,—'तैः सह योद्धुमसमर्थं भाति।" विपक्षकी सेनाके साथ युद्धमें असमर्थ जान पड़ती है। श्रीरामानुज कहते हैं—'दुर्योधनो भीमाभिरक्षितं पाण्डवानां बलं अवलोक्य आत्मविजये अस्य बलस्य पर्याप्ततां आत्मीयबलस्य तद्विजये च अपर्याप्ततां आचार्ये निवेद्य अन्तरे विषण्णोऽभवत्'। अवश्य ही दुर्योधनका ऐसा मनोभाव होना आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि वह मन ही मन जानता था कि उसने अधर्म करके पाण्डवोंको उनके प्राप्य राज्यसे वञ्चित कर दिया है और युद्धक्षेत्रमें उतरनेके पहले ही अपनी मातासे उसने सुन रक्खा था कि—'यतो धर्मस्ततो जयः'। अतएव दुराकांक्षी दुर्योधन कानसे चाहे जो कुछ सुनता हो उसकी अन्तरात्मा मानो कह रही थी कि, 'देख दुर्योधन, तूने धर्मका उल्लंघन किया है, तुम्हारे विजयकी आशा नहीं है।' यही कारण है कि अठारह अक्षौहिणीमें उसके पास ग्यारह अक्षौहिणी सेना रहने तथा भीष्म-द्रोणादिके समान रणकुशल सेनापतियोंके नायकत्व स्वीकार करने पर भी उसका मन कभी-कभी विषादसे भर जाता था, और अपनी सैन्यशक्ति उसे असमर्थ और उद्यमहीन जान पड़ती थी—इसी कारण भयभीत और व्याकुल चित्तसे गुरुके समीप जाकर इच्छा होते हुए भी अपने मनोभावको नहीं छिपा सका]॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—हमारी प्रभूत सेना भयसे रक्षित है, विपक्षका दल कम है, और प्राणवायुके द्वारा रक्षित है।—दुर्मति अपने संस्कारको (अर्थात् गुरुको, जिसके कहनेसे सब काम होता है) बतला रही है कि हमारा प्रधान भरोसा है साधनके प्रति भय। भयके उद्रिक्त होने पर सभी साधन-पथसे भाग जायँगे। साधन करनेसे शरीरकी हानि तथा सुखकी हानि होती है—इस प्रकारकी आशङ्का उठने पर कोई साधनाके पास नहीं फटकेगा। अतएव जब हमारा बल भयके द्वारा ही रक्षित है, तो विपक्षको पराजित करनेमें समर्थ है। जिन्होंने केवल थोड़े ही दिन साधना की है उनके सेनापति वायु चपलमति अर्थात् चंचल हैं, इसलिए विपक्षके दलमें असमर्थ हैं।

विपक्षका दल कम तो है, परन्तु प्राणवायुके द्वारा रक्षित है। इसीसे दुर्मतिके मनमें भय घुस गया है कि पीछे प्राणका साधन करके मतिगति बदल सकती है। बात भी सत्य है, काम-क्रोधादि रिपु चाहे कितना ही भयङ्कर क्यों न हों, मन लगाकर कुछ देर प्राणायाम करने पर प्राण, मन और इन्द्रियाँ—सब शान्त हो जाती हैं ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अन्वय—भवन्तः (आप लोग) सर्वं एव हि (सब के सब) सर्वेषु च अयनेषु (व्यूहके सारे प्रवेशमार्गों पर) यथाभागं (अपने अपने विभागके अनुसार) अवस्थिताः (अवस्थित होकर) भीष्ममेव (भीष्मको ही) अभिरक्षन्तु (चारों ओरसे रक्षा करें) ॥११॥

श्रीधर—तस्माद्भवद्भिरेवं वर्तितव्यमित्याह—अयनेष्विति। अयनेषु व्यूहप्रवेशमार्गेषु। यथाभागं विभक्तां स्वां स्वां रणभूमिमपरित्यज्यावस्थिताः सन्तो भीष्ममेवाभितो रक्षन्तु भवन्तः। यथान्यैर्युध्यमानः पृष्ठतः कैश्चिद् न हन्येत तथा रक्षन्तु। भीष्मबलेनैवास्माकं जीवनमिति भावः ॥११॥

अनुवाद—अब आप सब लोग व्यूहके प्रवेश-मार्ग पर अपने अपने विभागके अनुसार अवस्थित होकर भीष्मकी ही रक्षा करें। क्योंकि भीष्मका बल ही हमारा जीवन है, अतएव आप लोग अपने अपने स्थान पर डटे रह कर सेनापति भीष्मकी रक्षा करें, जिससे गुप्त भावसे या पृष्ठ-देशसे कोई आकर उन पर आक्रमण न कर सके ॥ ११ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—भयसे अपनी चाल सब चलें।—सारी इन्द्रियाँ भयसे व्याकुल हों, ऐसा भाव दिखाए बिना विपक्षको पराभूत नहीं कर सकते। जैसे हो वैसे भयको सामने खड़ा रखना पड़ेगा। भयके नष्ट होने पर ही संकट उपस्थित हो जायगा, इसलिए वही करना होगा जिससे वे भयको नष्ट न कर पावें। अस्मिताका कार्य ही है भय पाना—भय चिदाभासको घेर कर ही अपना कार्य करता है। हम सदा भयसे विपद्ग्रस्त होते हैं। कभी लोकभय, कभी सुख-त्यागका भय, कभी शरीर नष्ट होनेका भय—इत्यादि सब प्रकारके भयको दूर हटाकर साधनामें जुट जाने पर ही इस मार्गका रसास्वादन हो सकता है ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

अन्वय—प्रतापवान् (प्रतापशाली) कुरुवृद्धः पितामहः (भीष्म पितामह जो कुरु लोगोंमें सबसे वृद्ध हैं) तस्य (उस दुर्योधनका) हर्षं (आनन्द) संजनयन् (उत्पन्न करते हुए) उच्चैः (महान्) सिंहनादं विनद्य (सिंहनाद करके) शङ्खं दध्मौ (शंख बजाने लगे) ॥ १२ ॥

श्रीधर—तदेवं बहुमानयुक्तं राजवाक्यं श्रुत्वा भीष्मः किं कृतवान्? तदाह—तस्येत्यादि। तस्य राज्ञो हर्षं संजनयन् कुर्वन् पितामहो भीष्म उच्चैर्महान्तं सिंहनादं कृत्वा शङ्खं दध्मौ वादितवान् ॥ १२ ॥

अनुवाद—राजाकी सम्मानपूर्ण बात सुनकर भीष्मने क्या किया? वही कह रहे हैं—दुर्योधनका हर्ष उत्पादन करनेके लिए कुरुवृद्ध पितामह भीष्मने महान् सिंहनाद करके शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस सारे सैन्यके हर्षके लिए सबको ध्वंस करूँगा ऐसा शब्द किया।—भय यदि पीछे लग जाय तो साधकके लिए साधना करना ही कठिन है। दुर्मतिको साहस देनेके लिए उन्होंने शङ्ख बजाया। भयने अपनी विजय-घोषणा की, कि कोई चिन्ता नहीं, मैं अकेले ही साधनाभिलाषी दुर्बल चित्तवालोंको विमुख कर दूँगा ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

अन्वय—ततः (पश्चात्) शंखाः च (सारे शंख), भेर्यः च (और सारी भेरियाँ) पणवानकगोमुखाः (पणव = मृदंग, आनक = ढाक, गोमुखा = रण-सिंगा) सहसा एव (उसी क्षण) अभ्यहन्यन्त (बज उठे)। स शब्दः (वह शब्द) तुमुलः अभवत् (तुमुल हो उठा) ॥ १३ ॥

श्रीधर—तदेवं सेनापतेर्भीष्मस्य युद्धोत्सवमालोक्य युद्धोत्सवः प्रवृत्त इत्याह—तत इत्यादि। पणवा मर्द्दलाः। आनका गोमुखाश्च वाद्यविशेषाः। सहसा तत्क्षणमेवाभ्यहन्यन्त वादिताः। स शब्दः शङ्खादिशब्दस्तुमुलो महानभूत् ॥ १३ ॥

अनुवाद—सेनापति भीष्मके युद्धोत्सवको देखकर, कौरव सेनामें युद्धोत्सव शुरू हो गया। पश्चात् शङ्ख, भेरी, मृदंग, ढाक और रणसिंगा प्रभृति पृथक् पृथक् रणवाद्य उसी समय बज उठे। शङ्खादिकी वह ध्वनि तुमुल हो उठी ॥ १३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पश्चात् तुमुल शब्द होने लगा, तुरी-भेरीका।—भय प्रवृत्तिपक्षका सेनापति है, और वह प्राचीन भी है। यह हौएका भय चिर पुरातन कालसे चला आ रहा है। उस भयने जब तुमुल उत्साह दिखलाया, तब सबने सोचा कि अब डर क्या है। भीष्म (भय) सहज ही किसीके आयत्तमें नहीं आ सकते और यदि भय बना रहा तो प्रतिपक्ष सुमतिके दलकी क्या परवाह? इसलिए सभी उत्साह युक्त होकर तथा अपने अपने ढंगसे सज्जित होकर कोलाहल करने लगे। अर्थात् चित्त चञ्चल हुआ और दीर्घश्वास, कम्पन आदिके साथ शरीरमें एक विकट गड़बड़ी मच गयी ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

अन्वय—ततः (तत्पश्चात्) श्वेतैः हयैः युक्ते (श्वेत अश्वोंसे युक्त) महति स्यन्दने (विशाल रथपर) स्थितौ (अवस्थित) माधवः पाण्डवः च (श्रीकृष्ण तथा अर्जुनने) दिव्यौ शङ्खौ (दिव्य शङ्खोंको) प्रदध्मतुः (बजाया) ॥ १४ ॥

श्रीधर—ततः पाण्डव-सैन्ये प्रवृत्तं युद्धोत्सवमाह—तत इत्यादिभिः पञ्चभिः। ततः पूर्वसैन्यवाद्यकोलाहलानन्तरं स्यन्दने रथे स्थितौ सन्तौ श्रीकृष्णार्जुनौ दिव्यौ शङ्खौ प्रकर्षेण दध्मतुर्वादयामासतुः ॥ १४॥

अनुवाद—तत्पश्चात् पाण्डव-सेनामें युद्धोत्सव शुरू हो गया। श्वेत अश्वोंसे युक्त विशाल रथपर अवस्थित भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनने अपने अपने दिव्य शङ्खोंको प्रकृष्ट रूपसे बजाया ॥ १४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पञ्चतत्त्वके द्वारा दिव्य शंखध्वनि होने लगी।—दुर्मतिकी प्रवृत्तिपक्षकी सेनाने जो शङ्ख बजाया, वह ढक्का मात्र था अर्थात् वह केवल चीत्कार मात्र था। परन्तु निवृत्तिपक्षकी जो शङ्खध्वनि हुई, वह शङ्ख (शं = शान्त होना) शान्तिके चिह्नरूपमें प्रकट हुआ। यह वही शंख है जो भीतर बजता है, उस शंखके बजनेसे ही चित्तवेग शान्त हो जाता है। प्राणवायु यदि किसी प्रकार वेगशून्य शान्तिभावापन्न हो तो साधक उस शंखकी ध्वनि सुन सकता है। श्वेत अश्वयुक्त रथ, अर्थात् श्वेत वर्णकी ज्योति पहले दीख पड़ती है। इस देहरूपी रथ पर जो बैठे हैं, उनकी ही यह ज्योति है। पहले सुन्दर ज्योति है और उसके बीच शालग्राम शिलाके समान कृष्णवर्ण मण्डलाकार माधव हैं। मा शब्दसे लक्ष्मी या प्रकृतिका बोध होता है, वही ज्योतिके आकारमें प्रकाशित होती है। उस ज्योतिके वक्षःस्थल पर बैठकर जगत्-पति श्रीकृष्ण प्रकाशित होते हैं। उस ज्योतिर्मय मण्डल और मण्डलके मध्य श्यामसुन्दरको देखते ही प्राण आनन्दसे भर जाता है। मनकी उस प्रसन्न और शान्त अवस्थामें भीतर जो ध्वनि उठती है, उसीको अगले श्लोकोंमें कहते हैं ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अन्वय—(हृषीकेशः श्रीकृष्णने) पाञ्चजन्यं (पाञ्चजन्य नामक शंखको), धनञ्जयः (अर्जुनने) देवदत्तं (देवदत्त नामक शंखको), भीमकर्मा वृकोदरः (भयंकर कर्मवाले वृकोदर भीमने) महाशंखं पौण्ड्रं (पौण्ड्र नामक महाशंखको) दध्मौ (बजाया) ॥१५॥

श्रीधर—तदेव विभागेन दर्शयन्नाह—पाञ्चजन्यमिति। पाञ्चजन्यादीनि नामानि श्रीकृष्णादिशङ्खानाम्। भीमं घोरं कर्म यस्य सः ॥१५॥

अनुवाद—[किसने कौन शंख बजाया, यह पृथक् पृथक् दिखलानेके लिए कहते हैं] श्रीकृष्णने 'पाञ्चजन्य' नामक शंख, धनञ्जयने 'देवदत्त' नामक शंख, घोरकर्मा वृकोदरने 'पौण्ड्र' नामक महाशंख बजाया ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—भृङ्ग, वेणु, वीणा, घंटा और मेघके शब्द कूटस्थसे निकलने लगे। शरीरकी गरमीसे दीर्घघंटाके समान शब्द, वायुद्वारा सिंहनाद—हृषीकेश—हृषीकका अर्थ है इन्द्रिय, ईशका अर्थ है नियोग-कर्त्ता, अर्थात् जिसके बलसे इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य करती हैं वही हृषीकेश अर्थात् कूटस्थ चैतन्य श्रीकृष्ण हैं। उनका स्थान है आज्ञाचक्र। पाञ्चजन्य—पञ्चजनसे उत्पन्न, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान वायु मिलकर ही इस शब्दको उत्पन्न करते हैं। सब वायु स्थिर होकर प्राण वायुमें मिल जाती है, प्राणके स्थिर होने पर वे सारी अद्भुत् ध्वनियाँ—भृङ्ग, वेणु, वीणा, घण्टा और मेघगर्जनके समान शब्द प्रकट करती हैं। धनञ्जय—धनको जो जीत लेता है। धनके द्वारा ही जीव मुग्ध होता है। यह योगविभूति है, इसको जीतना ही चाहिए। इसको जीत लेने पर जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, क्षुधा-तृष्णा आदि जीते जाते हैं और तब वह धनञ्जय होता है। इस तेजके बिना कोई साधन-क्रिया नहीं कर सकता। यही मणिपूरचक्र-स्थित तेज है। यही वैश्वानर, जीवकी जीवनी-शक्ति है। अग्नि ही देवताओंका मुख है। अतएव मणिपूरसे जो ध्वनि उठती है वही देवदत्त शंख है। ठीक वीणाके समान वह शब्द है। वृकोदर—वृकका अर्थ है अग्नि। उदरमें जिसके अग्नि है वही वृकोदर है। वायुसे अग्निकी उत्पत्ति होती है और वायुमें ही उसका लय होता है। इसलिए वायु तत्त्वको वृकोदर कहते हैं। अनाहतचक्र ही वायुका स्थान है। इस स्थानसे दीर्घ घंटा-निनादके समान शंखध्वनि होती है, बहुतेरे साधक इसे सुनते हैं। भीमके शंखका नाम है पौण्ड्र। पौण्ड्र पुण्ड शब्दसे निकला है, उसका अर्थ है पीड़न करना। प्राणायाम और अन्य साधन विशेषके द्वारा प्राणवायुको पीड़न करनेसे यह भीम प्राणवायु—महाशंखनाद साधकको श्रुतिगोचर होता है। 'बलात्कारेण गृह्णीयात्' बलपूर्वक वायुको पीड़न किए बिना अर्थात् जोरसे प्राणायाम किए बिना वायु स्थिर नहीं होती। मस्तिष्कका केन्द्र स्थान ही सुमेरुका शिखर है। साधनके द्वारा प्राणवायु सुमेरुको भेदकर सहस्रारमें प्रवेश करती है। मस्तिष्कमें जिस अस्थिभागसे सुमेरु संयुक्त है, उस अस्थिखण्डका नाम तन्त्रमें महाशंख दिया है। इस महाशंखके नादसे साधकका प्राण स्थिर हो जाता है, साधकके मनमें अनेक आशाओं-का सञ्चार होता है। यह शंखनाद रिपुओंके लिए भयप्रद होता है। इसके ध्वनित होने पर अपने आप मनसे विषयवासना निवृत्त हो जाती है। युधिष्ठिर—युद्धमें जो स्थिर है, वह आकाशतत्त्व है, उसे कोई सहज ही चंचल नहीं कर सकता। उनका स्थान है कण्ठस्थित विशुद्धचक्र। उनके शंखका नाम है 'अनन्तविजय'। प्राणवायुके स्थिर होने पर, मेघगर्जनके समान एक प्रकारका नाद उपस्थित होता है। उसके द्वारा ही प्राण पर विजय प्राप्त की जाती है। वह स्थिर वायु जब पराकाष्ठाको प्राप्त होती है, तब सिंहनादके समान महानाद सुननेमें आता है। जब सिंहनाद सुन पड़े तो जानना चाहिए कि समाधि आसन्न है। यही साधनासमरकी विजय भेरी है।

मैंने पहले ही हृषीकेश श्रीकृष्णको कूटस्थ चैतन्य कहा है। वह कूटस्थ चैतन्य

सर्वव्यापी, निखिल ब्रह्माण्डका चैतन्य स्वरूप है। वही सब जीवोंका आत्मा, परब्रह्म है। पहले कहा जा चुका है कि—हृषीकाणां इन्द्रियाणां ईशः अर्थात् नियन्ता—जो इन्द्रियोंको अपने अपने कार्यमें नियुक्त रखते हैं। इन्द्रियाँ उन्हींकी सत्तासे सत्तावान् होकर अपने अपने कार्यमें नियुक्त होती हैं। वही नियोगकर्त्ता हम सबके भीतर अन्तर्यामीरूपसे विराजमान है। हृषीकेशको कूटस्थ क्यों कहा गया? श्रीधर स्वामी कहते हैं—'कूटे मायाप्रपञ्चेऽधिष्ठानत्वेन अवस्थितम्' अर्थात् जो माया-प्रपञ्चके अधिष्ठान हैं। शङ्कर कहते हैं—"दृश्यमानगुणकमन्तर्दोषं वस्तु कूटम्। कूटरूपं कूटसाक्ष्यं इत्यादौ कूटशब्दा प्रसिद्धो लोके। तथा चाविद्याद्यनेकसंसारबीजमन्तर्दोषवन् मायाव्याकृतादिशब्दवाच्यतया—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनंतु महेश्वरम्, मम माया दुरत्ययेत्यादौ प्रसिद्धं यत्तत् कूटम्। तस्मिन् कूटे स्थितं कूटस्थं तदध्यक्षतया।" अर्थात् जिसके बाहर गुण देखा जाय, परन्तु भीतर दोषसे परिपूर्ण हो—उसमें ही कूट शब्दका प्रयोग लोकमें किया जाता है। प्रकृत स्थलमें जो अविद्या आदि अनर्थमय संसार-बीज है, जो भीतर दोषसे भरा हुआ है—'प्रकृतिको माया समझना चाहिए, और महेश्वरको मायी जानना चाहिए'—'मेरी माया अपरिहार्य है'—ये सारे शास्त्रीय वाक्य जिसका मायाशब्दके द्वारा परिचय देते हैं, तथा अव्याकृतादि शब्दके द्वारा भी जिसका निर्देश होता है, उस जगत्‌के कारण वस्तुको कूट कहते हैं। उस कूटमें जो अवस्थित हैं अर्थात् जो मायाका अधिष्ठाता या अध्यक्ष है, उसे ही कूटस्थ कहते हैं। जो मिथ्या होते हुए भी सत्यवत् प्रतीत हो वही कूट या माया है, उसमें जो साक्षीरूपसे विद्यमान है वही कूटस्थ है। भागवत्‌में लिखा है—'यत्र त्रिसर्गोऽमृषा'—यत्र त्रिसर्ग अमृषा इव प्रतीयते अर्थात् गुणत्रयद्वारा सृष्ट विश्व अवास्तव और नश्वर होते हुए भी, जिसके अस्तित्वके कारण अनश्वर और वास्तव सा प्रतीत होता है उसको कूटस्थ कहते हैं। अज्ञानरूपी कूटका अधिष्ठान आत्मा चिर निर्विकार है, वही हम सबके हृदयमें हृदयेश्वर रूपमें विराजमान है। उसके न रहनेसे कुछ भी नहीं रह सकता। सारी इन्द्रियाँ निरन्तर उसका अनुसन्धान करती हैं। वही सब भूतोंमें सत्तारूपमें, आनन्दरूपमें विराज रहा है, इसीसे इन्द्रियाँ विषयोंके ग्रहण करनेके लिए उन्मत्त होती हैं। आत्माकी आनन्दकिरणमें उद्भासित यह विश्व कितना आनन्दमय लगता है! शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी आनन्दतरङ्गें अनवरत आत्मासे निकलकर जीवको मुग्ध कर रही हैं। इस आनन्दके आकर्षणसे जीव अविश्रान्त भटक रहा है—उस आनन्दमयमें इतना आकर्षण होनेके कारण उसको 'कृष्ण' कहते हैं। यह 'कृष्ण' ही निखिल विश्वका अन्तरात्मा है। यद्यपि वह इन्द्रिय और मनके लिए अगम्य हैं, तथापि हम उनको बुद्धिस्थ होनेके कारण जान सकते हैं। वह यदि हमारी बुद्धिमें अवस्थित न होते तो हमको किसी विषयका ज्ञान नहीं होता। वह सारे इन्द्रियोंके अधीश्वर हैं, यही कारण है कि इन्द्रियोंके बहुविधि उत्पीड़नसे व्यथित होकर जब हम व्याकुल चित्तसे उनके शरणापन्न होते हैं, अर्थात् मन लगाकर साधन करते हैं, तब वह हमारे बुद्धिगम्य होकर हमको अभयदान करते हैं। आत्मा ही परमज्ञान या दिव्यज्योति है। 'तत् शुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः।' वह नित्य अपरि-

वर्तनशील, सदा एकरूप रहनेवाली वस्तु ही आत्मा है। वह सब जीवोंके द्विदल पद्ममें ज्योतिर्मय मण्डलके मध्य अपरूप श्याम शोभासे निखिल जगत्को मुग्ध कर रहे हैं। यद्यपि वह नित्य सत्य, सदा विद्यमान हैं, तथापि कोई भाग्यवान् ही उसको देख पाता है। उनको देखने पर ही अन्तर्ग्लानि धुल जाती है। वही वह वरणीय भर्ग हैं, जिनकी उपासना विश्वके सारे देवता करते हैं। ब्राह्मण उस परम सत्यको सदा आकाशस्थ सूर्यके समान अपने अपने हृदयमें प्रकाशित देखते हैं। उस परम ज्योतिमें चित्तको समाधान करने पर दिव्य दृष्टिकी प्राप्ति होती है, जीवन कृतकृत्य हो जाता है ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

अन्वय—कुन्तीपुत्रः (कुन्तीके पुत्र) राजा युधिष्ठिरः (राजा युधिष्ठिरने) अनन्तविजयं (अनन्त विजय नामक) नकुलः सहदेवः च (नकुल और सहदेवने) सुघोषमणिपुष्पकौ (सुघोष और मणिपुष्पक) [नामक शंखको बजाया] ॥१६॥

श्रीधर—अनन्तेति। नकुलः सुघोषं नाम शङ्खं दध्मौ। सहदेवो मणिपुष्पकं नाम ॥१६॥

अनुवाद—कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शंखको, नकुलने सुघोष नामक शंखको तथा सहदेवने मणिपुष्पक नामक शंखको बजाया ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—व्योमसे अनवच्छिन्न प्रणवध्वनि, रक्तमांसमें वायु जाकर सुन्दर और विषम शब्द।—नकुल है जलतत्त्व। लिङ्गमूलमें स्वाधिष्ठान चक्र ही इसका स्थान है। नकुलके शंखका नाम सुघोष है, वह सुननेमें बड़ा मधुर है, उसकी ध्वनि वेणु-वाद्यके समान है। स्वाधिष्ठान ही नारायण या श्रीकृष्णका स्थान है। इसी कारण श्रीकृष्ण वेणु बजाते हैं। सहदेव पृथ्वीतत्त्व हैं। मूलाधार ही इसका स्थान है। कुण्डलिनी तथा प्राणशक्तिका स्थान भी यही है। इसलिए पूजाका उद्बोधन इसी स्थानसे किया जाता है। सहदेवके शंखका नाम मणिपुष्पक है, मत्तभृङ्गके समान ध्वनि इसी स्थानसे उठती है। इन सब चक्रोंमें वायुका आना जाना होता है, तथा सबके भीतर आकाश वर्तमान है। देहस्थ पञ्च प्राण ही पञ्च शङ्ख हैं। प्राणायामके द्वारा वायुकी समता होने पर ये शब्द सुननेमें आते हैं। नादके व्यक्त होने पर चित्त सहज ही स्थिर हो जाता है, मनका सङ्कल्प-विकल्प बन्द हो जाता है। चार तत्त्व पर्यन्त मन स्थिर रहने पर भी सजग रहता है, परन्तु अन्तिम तत्त्व व्योमतत्त्वकी ध्वनिमें मन लय हो जाता है। यह अन्तिम तत्त्व ही युधिष्ठिर अर्थात् युद्धमें स्थिर है। तब सब कुछ रहते हुए भी मानो कुछ नहीं रहता। परन्तु यह स्थिरता ही अन्तिम अवस्था नहीं है, साधकको व्योमतत्त्वके ऊपर उठना होगा और तत्त्वातीत परव्योममें पहुँचना होगा। परन्तु प्रथम व्योमतत्त्वको ही परमात्माका पादपीठ

कहते हैं। इस व्योमतत्त्वकी स्थिरता ही सविकल्प समाधि है, परव्योम या निर्विकल्प समाधि इन सब तत्त्वोंके परे है। वह एक और अद्वितीय है, वहाँ द्वैतका भान भी नहीं होता। साधनके द्वारा इस व्योमतत्त्वका ही संधान करना होगा। नहीं तो परव्योममें प्रवेश न हो सकेगा। परव्योम ही है तत्त्वातीत निरञ्जन। क्षितितत्त्व आदि सब पञ्चतत्त्व व्योमके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। इसी कारण व्योमतत्त्व या आकाश पाँच प्रकारका होता है—

आकाशन्तु महाकाशं पराकाशं परात्परम्।
तत्त्वाकाशं सूर्याकाशं आकाशं पञ्चलक्षणम्॥

आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश, ये पञ्च आकाश हैं। पञ्चप्राणका पञ्चाकाश ही प्रथम व्योमतत्त्व है।

पञ्चशून्ये स्थिता तारा सर्वान्ते कालिका स्थिता।

यही व्योमतत्त्व (पञ्चाकाश) तन्त्रोक्त द्वितीय महाविद्या 'तारा' है। वैष्णवोंका यही संकर्षण व्यूह है। कूटस्थके भीतर यह अत्यन्त छोटे नक्षत्रके समान दीख पड़ता है। इसका प्रकाश होते ही मन बहिर्विषयोंमें विचरण करनेमें असमर्थ हो जाता है। इसी कारण इसका नाम संकर्षण है, अर्थात् मनको सम्यक् प्रकारसे आकर्षण करते हैं, खींच लेते हैं। तथापि इन सबआकाशोंमें नाना प्रकारके दृश्य रहते हैं, परन्तु पञ्चाकाश रूप व्योमतत्त्वका जो अन्तिम आकाश है, वह निरवच्छिन्न आकाश है। वहाँ सब शून्य है, वही महाप्रकृति या आद्या शक्ति है—'सर्वान्ते कालिका स्थिता'। यह अन्तिम आकाश ही हृदयाकाश है, कूटस्थकी ज्योतिके भीतर वही कृष्णवर्ण शून्यमण्डल है। उसके आगे जाने पर व्योमातीत अवस्था परव्योम है। वही चिदाकाश या महामहेश्वर शिवरूप है। 'तं देवतानां परमं च दैवतम्'। वहाँ ही अनन्त-प्रसारिणी प्रकृतिके सहस्र मुख या फण मिलकर एक हो जाते हैं। यही 'बिन्दुनादं कलातीतं, सर्वदा साक्षीभूतं, भावातीतं, त्रिगुणरहितं' रूपी सद्गुरुका स्वरूप है॥ १६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक्॥१८॥

अन्वय—पृथिवीपते (हे राजन्!) परमेष्वासः (महाधनुर्धर) काश्यः च (काशिराज) महारथः शिखण्डी च (तथा महारथी शिखण्डी) धृष्टद्युम्नः (राजा द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्न) विराटः च (और राजा विराट) अपराजितः सात्यकिः च (तथा अजेय सात्यकि) द्रुपदः द्रौपदेयाः च (राजा द्रुपद और द्रौपदीके पुत्र) महाबाहुः सौभद्रः च (तथा सुभद्राके पुत्र महापराक्रमी अभिमन्यु) सर्वशः (चारों ओरसे) पृथक् पृथक् (पृथक् पृथक् रूपसे) शंखान् (शंखोंको) दध्मुः (बजाने लगे)॥१७-१८॥

श्रीधर—काश्यश्चेति । काश्यः काशिराजः । कथंभूतः ? परमः श्रेष्ठ इष्वासो धनुर्यस्य सः ॥१७॥ द्रुपद इति । हे पृथिवीपते धृतराष्ट्र ॥१८॥

अनुवाद—हे राजन् ! महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट् नरेश, अजेय सात्यकि, द्रुपद, और द्रौपदीके पुत्र, सुभद्राका पुत्र महापराक्रमी अभिमन्यु आदि सब पृथक् पृथक् शंख बजाने लगे ॥१७-१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—महत् ज्योतिमें बहुत दूर भीतर ज्योतिकी शक्तिके कर्त्तृत्वपदज्ञानस्वरूप महारथी, कूटस्थमें चित्र-विचित्र, कूटस्थमें समुत्थान देखना और सुमति ये सब अपराजित हैं। अन्तर्यामी और बीच-बीचमें निर्मल अन्तःकरण सब, ये मूलाधारमें धारण किये हुए हैं, जिन्होंने मस्तिष्कमें श्वासकी रक्षा की है उनके शब्द, इस प्रकार पृथक् पृथक् दश प्रकारके अनाहत शब्द होने लगे।—सुमति वस्तुतः अजेय है, जिनको सद्-बुद्धि प्राप्त है उनकी अन्त तक विजय होगी ही। पहले सामान्यरूपसे ज्योति दीख पड़ती है। और उसके भीतर चित्र विचित्र अनेक ज्योतिरेखा-सी दीख पड़ती हैं। उसके आगे उस ज्योतिके भीतर एक प्रकारकी ज्योति दीख पड़ती है—वही 'तत् शुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' है। उस निर्मल ज्योतिमें दृढ़ स्थिति होने पर उसके मध्यगत शक्तिका परिचय मिलता है। पहले हम जो ज्योति देखते हैं, वह देखनेमें सुन्दर होने पर भी पहले मानो जड़वत् जान पड़ती है अर्थात् यह धारणा नहीं होती है कि उसमें चैतन्य शक्तिका स्फुरण होगा। परन्तु उस ज्योतिके अन्तर्गत परम ज्योतिको देखने पर उसकी असाधारण शक्तिका परिचय साथ साथ साधकको मिल जाता है। शिखण्डी है शक्तिका कर्त्तृत्वपदज्ञान, इसी कारण उसको महारथी कहा गया है। ज्योतिमें शक्तिके कर्त्तृत्वपदज्ञानका परिचय मिलने पर समझमें आ जाता है कि यह अवस्था सहज ही नष्ट होनेवाली या अन्तर्हित होने वाली नहीं है। परन्तु सावधान! कहीं उस शक्तिमें अभिमानयुक्त अपना कर्त्तृत्वज्ञान न होने पाये। नहीं तो सब मिट्टीमें मिल जायगा। यह शक्ति उस अन्तर्यामी प्रभुकी, आत्माकी या गुरुदेवकी है। भलीभाँति साधन करने पर साधकका अन्तर्यामित्व, और निर्मल अन्तःकरणके सारे लक्षण दीख पड़ते हैं। ये सारी शक्तियाँ मूलाधारमें इकट्ठी रहती हैं। क्रिया करते करते मूलाधारकी ये सारी शक्तियाँ चैतन्य होकर साधकके ज्ञानगोचर हो जाती हैं। परन्तु ये मूलाधारस्थ शक्तियाँ तभी स्थायीभावसे चैतन्य होंगी, जब मूलाधारस्थ जीवचैतन्य सहस्रारमें जा बैठेगा। अर्थात् जो श्वासको मस्तिष्कमें ले जाकर रख सकते हैं, वे अनाहतस्थ दश प्रकारके शब्दोंको जो पृथक् पृथक् होते रहते हैं, सुन सकते हैं।

देहमें जहाँ कूटस्थका चिन्तन करना होता है, वहीं प्रकृत काशी-क्षेत्र है। —'काशी सर्वप्रकाशिका।' जहाँ मनको रखनेसे सब वस्तुओंका ज्ञान अपने आप होता है। वही महत् ज्योति या शिखण्डी है। तब साधक इस शक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान समझ लेता है; और तेजः इस ज्ञानसे ही मनकी नित्य आशङ्कारूपी भीष्मको बध करनेमें समर्थ होता है। यह ज्ञानावस्था प्राप्त होनेपर साधक फिर व्यर्थकी आशङ्कासे शङ्कित नहीं होता ॥१७-१८॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥१९॥

अन्वय—सः (वह) तुमुलः (तुमुल) घोषः (शब्द) नभः (आकाशको) पृथिवीञ्च (और पृथिवीको) अभ्यनुनादयन् (प्रतिध्वनित करके) धार्त्तराष्ट्राणां (धृतराष्ट्रके पुत्रोंके) हृदयानि (हृदयोंको) व्यदारयत् एव (मानो विदीर्ण करने लगा) ॥१९॥

श्रीधर—स च शंखानां नादस्त्वदीयानां महाभयं जनयामासेत्याह—स घोष इत्यादि । धार्त्तराष्ट्राणां त्वदीयानां हृदयानि विदारितवान् । किं कुर्वन् ? नभश्च पृथिवीञ्चाभ्यनुनादयन् प्रतिध्वनिभिरापूरयन् ॥१९॥

अनुवाद—[उस शङ्खनादने धृतराष्ट्रके पुत्रों और उनके पक्षवालोंको महाभयमें डाल दिया । यही बतलाते हैं]—उस शङ्खनादका तुमुल शब्द आकाश और पृथ्वीको प्रतिध्वनित कर धृतराष्ट्रके पुत्रों और उनके पक्षवालोंका हृदय विदीर्ण करने लगा ॥१९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसके शब्दसे हृदय विदीर्ण होता है, मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त तुमुल शब्द होने लगा ।—पृथिवी-मूलाधार और आकाश-ब्रह्मरन्ध्र तक सभी स्थान नादसे परिपूर्ण होते हैं । इस शब्दसे ही प्रवृत्तिपक्षवाले काम-क्रोधादि अत्यन्त भयभीत होते हैं । इस प्रकारकी ध्वनि जब स्फुटित होती है, तब विवश होकर मन उस ध्वनिसे आत्मसंयोग करता है । तब चित्त मानो निस्तरङ्ग हो जाता है और जान पड़ता है कि हृदयग्रन्थि भेद हो गयी है । परन्तु वस्तुतः तब भी हृदयग्रन्थिभेद नहीं होता । इस अवस्थाको प्राप्त करके भी साधक योगभ्रष्ट हो सकता है ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥२०॥

अन्वय—महीपते (हे राजन्) अथ (पश्चात्) धार्त्तराष्ट्रान् (धृतराष्ट्रके पुत्रोंको) व्यवस्थितान् (युद्धके लिए व्यवस्थित) शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते (शस्त्र चलानेमें प्रवृत्त) दृष्ट्वा (देखकर) कपिध्वजः पाण्डवः (कपिध्वज अर्जुन) धनुः (धनुषको) उद्यम्य (उठाकर) हृषीकेशं (श्रीकृष्णको) तदा (तब) इदं वाक्यं (यह बात) आह (बोले) ॥२०॥

श्रीधर—एतस्मिन्समये श्रीकृष्णमर्जुनो विज्ञापयामासेत्याह—अथेत्यादिभिश्चतुर्भिः श्लोकैः । अथेति । अथानन्तरं व्यवस्थितान् युद्धोद्योगेनावस्थितान् । कपिध्वजोऽर्जुनः ॥२०॥

अनुवाद—[तब अर्जुनने श्रीकृष्णसे निवेदन किया] महाशब्दके पश्चात् धृतराष्ट्रके पुत्रोंको युद्धोद्योगमें लगे हुए तथा शस्त्र चलानेमें प्रवृत्त देखकर कपिध्वज अर्जुनने धनुष उठाकर हृषीकेशसे यह बात कही—॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरका तेज जिसके ऊपर वायु रहती है। क्रिया करूँगा, इस विचारसे वायुको खींचनेका उपक्रम करनेके पहले कूटस्थको मनके द्वारा व्यक्त किया।—साधन करनेके लिए साधक जब उद्योग करता है, आसन लगाकर बैठता है, मेरुदण्डको सीधा करता है, तब दोनों पक्ष थोड़ा शान्त रहते हैं, परस्पर मौका देखते हैं। प्रवृत्तिकी चेष्टा होगी विषयकी ओर और निवृत्तिकी आत्माकी ओर—यही अवस्था उभय पक्षका शस्त्रसम्पात में उद्योग है।

धनु—मेरुदण्ड है। मेरुदण्डसे गलेके पिछले भाग तक सुषुम्नाको सीधा करके रखना ही गाण्डीव-उत्तोलन या सुषुम्नाका उत्थान है। गाण्डी—गाल। गालके समानान्तर दोनों भ्रुवोंके पीछे तक इस धनुषके गुणके रूपमें सुषुम्ना अवस्थित है। यह मेरुदण्ड ही जीवके शरीरका अवलम्बन है। मेरुदण्डके भीतर स्थित सुषुम्ना ही उसकी शक्ति है। यह शरीर ॐकार—रूप है। यह बात इस गीताकी उपक्रमणिकामें दिखला दी गयी है। उपनिषद् कहते हैं—'प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'। जिस प्रकार गुणको धनुषके दोनों छोर पर अच्छी तरह बाँध देने पर खूब टान होता है, और उससे वाण चलानेमें सुविधा होती है, उसी प्रकार साधनके द्वारा सुषुम्ना चैतन्ययुक्त होने पर साधक मेरुदण्डके भीतर एक अच्छे टानका अनुभव करता है। मेरुदण्ड सीधाकर साधनके लिए बैठने पर, साधकके मन और शरीरमें एक अच्छे बलका अनुभव होता है, यही गाण्डीव-उत्तोलन है। इस प्रकारसे साधन करते रहने पर प्राणवायु सहज ही सुषुम्नामें प्रविष्ट हो सकता है। साधन करनेका या क्रिया करनेका यही उद्योग है। इस धनुषके द्वारा ही प्रायः सारे कुरुवीर (प्रवृत्ति पक्षवाले) नष्ट होते हैं ॥२०॥

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

अन्वय—अच्युत (हे अच्युत !) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) मे (मेरे) रथं स्थापय (रथको स्थापन करो) ॥२१॥

श्रीधर—तदेव वाक्यमाह—सेनयोरित्यादि ॥२१॥

अनुवाद—हे अच्युत ! दोनों सेनाओंके बीचमें मेरे रथको स्थापित करो ॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तेजके द्वारा मनमें प्रकाश होता है, दोनों दलोंमें क्रिया रहित करके देखता हूँ।—अच्युत, जो अपने स्वभावसे कभी स्खलित नहीं होता। जिस स्थानसे जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती, वही चरम मुक्तिपद है। वह अच्युत ही कूटस्थ हैं, वही इस देहरथके सारथी हैं। जगत्में जो कुछ होता है, सब उन्हींकी शक्तिसे होता है, तथापि वह स्वयं निर्विकार हैं। इस देहरथके सारथी हमारे सारे उत्पातोंको सहते हैं, इसमें उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं होता। तथापि सबके सारे प्रयोजनोंका सदाके लिए वही विधान करते हैं। हम उनके ऊपर भी हुकूमत करना चाहते हैं।

यह हमारा दर्प है, परन्तु भक्तके अधीन रहनेवाले भगवान् भक्तके ऊपर कदापि क्रोध नहीं करते। भगवान् आत्माके रूपमें सबके हृदयमें विराजमान हैं, वह सदासे ही भक्तके भले-बुरे सारे अनुरोधोंकी रक्षा करते आ रहे हैं, इसी कारण हमारे दर्पका कभी अन्त नहीं होता। साधन करते-करते साधककी इच्छा हुई कि साधनाको बन्द करें। वह इसमें भी असम्मत नहीं हुए। जीवका मन इतना सन्दिग्ध है कि साधन करते-करते साधकको जब कुछ अनुभूति होने लगी, तब उसके मनमें सन्देह होने लगा कि जो कुछ अनुभव हो रहा है वह वस्तुतः क्रियासाधनका फल है या ऐसा ही बीचबीचमें सबको हुआ करता है? मनमें जब ऐसी इच्छा हुई, तो जो सारी इच्छाएँ पूरी करते हैं तथापि जिनको निजकी कोई इच्छा नहीं है, उस परमात्माको एकबार निवेदन करके यह देखनेकी इच्छा हुई कि क्रियारहित होकर कैसे रहा जाता है, प्रवृत्तियाँ इस अवस्थामें जोर कर सकती हैं या नहीं? ॥ २१ ॥

यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

अन्वय—यावत् (जब तक) अहं (मैं) एतान् (इन सब) योद्धुकामान् (युद्धकी कामना वाले) अवस्थितान् (अवस्थित वीरोंको) निरीक्षे (निरीक्षण करता हूँ), अस्मिन् (इस) रणसमुद्यमे (युद्धारम्भमें) कैः सह (किनके साथ) मया योद्धव्यम् (मुझे युद्ध करना होगा) ॥ २२ ॥

श्रीधर—यावदिति। ननु त्वं योद्धा, न तु युद्धप्रेक्षकः तत्राह—कैर्मयेत्यादि। कैः सह मया योद्धव्यम् ॥ २२ ॥

अनुवाद—[तुम तो योद्धा हो, दर्शक नहीं हो, फिर देखना क्यों चाहते हो?—इसका उत्तर देते हुए अर्जुन कहते हैं] तब तक मैं युद्धकी कामनासे अवस्थित वीरोंको देखता हूँ। युद्धके आरम्भ होने पर मुझे किनके साथ युद्ध करना होगा, इसीलिए मैं एक बार सारे युद्ध क्षेत्र और योद्धाओंको देख लेना चाहता हूँ ॥ २२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो युद्ध करनेके लिए उद्यत हैं, उनमेंसे किसके साथ युद्ध करूँगा?—अर्थात् किन किन प्रवृत्तियोंके साथ युद्ध करना पड़ेगा, एक बार उनको देख लेने की इच्छा साधकके मनमें होना स्वाभाविक है। परन्तु क्रिया बन्द करके उनको देखने की चेष्टा करने पर उलटा ही असर होता है, प्रवृत्तियाँ मौका पाकर कन्धे पर सवार हो जाती हैं। साधक संभवतः सोचता है कि जब इन्द्रियभोग्य विषय उसे अच्छे ही नहीं लगते, तो उनको एक बार सोचकर देखने पर वे क्या बिगाड़ेंगे? परन्तु वस्तुतः विषय-चिन्तन करनेसे अनजाने ही विषयोंके प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। तब फिर बचना मुश्किल हो जाता है। पहले जो इतने साधन किये गये थे, और उनका फल भी देखनेमें आया था, वे सब अब मनमें नहीं रहे। विषयका स्वाद मिलने लगा और साधन-भजन मिट्टीमें मिल गया। एक बार साधनको बन्द कर देनेके बाद पुनः साधना शुरू करनेमें मानो भय लगने लगा। यह

जीवका परम दुर्भाग्य है। तथापि जिन्होंने कभी साधनमें प्रयत्न किया है, और साधन उनको अच्छा भी लगा है, उनके जीवनको भगवान् एकवारगी नष्ट नहीं होने देते। वह अपने भक्तोंको महाविनाशसे खींच लेते हैं, इसी कारण उनके 'अच्युत' नामकी सार्थकता है। वह भक्त पर सदा ऐसी कृपा रखते हैं कि भक्त साधक उनके चरणकमलसे छूटकर कहीं बाहर न चला जाय ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

अन्वय—युद्धे (इस युद्धमें) दुर्बुद्धेः धार्त्तराष्ट्रस्य (दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रके पुत्रका) प्रियचिकीर्षवः (प्रिय या हितकार्य करनेके अभिलाषी) ये एते (जो ये राजा) अत्र समागताः (यहाँ इकट्ठे हुए हैं) योत्स्यमानान् (उन सब योद्धाओंको) अहं (मैं) अवेक्षे (देख लूँ) ॥ २३ ॥

श्रीधर—योत्स्यमानानिति। धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य प्रियं कर्त्तुमिच्छन्तो य इह समागतास्तानहं द्रक्ष्यामि यावत् तावदुभयोः सेनयोर्मध्ये मे रथं स्थापयेत्यन्वयः ॥ २३ ॥

अनुवाद—दुर्बुद्धि दुर्योधनकी हितकामनासे जो युद्धार्थी राजा इस युद्धमें इकट्ठे हुए हैं, उन सब योद्धाओंको मैं एकबार भलीभाँति देख लूँ ॥ २३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिनके साथ युद्ध करूँगा, वे मनके चञ्चल होनेके कारण कोई भी स्थिर नहीं हैं, अतएव युद्ध करनेके लिए प्रिय और इच्छुक हैं।—मुझको साधनामें बाधा देनेके लिए प्रवृत्तिपक्षकी कौन-कौन मनोवृत्तियाँ प्रबल हैं। उनको मैं एक बार देखूँ। दुर्मतिके पक्षके साथ युद्ध करके उनको जीते बिना शान्ति नहीं मिलेगी। परन्तु दुर्मतिके दलके सबके सब चञ्चल हैं, वे जब तक स्थिर नहीं होते, तब तक विषय-कामना करेंगे ही। वे युद्धके इच्छुक भी हैं, वे चुप होकर रहनेवाले पात्र नहीं हैं। जब तक वे जीते न जायँगे, तब तक वे मनको विषयोंकी ओर लुभानेकी अनेक चेष्टाएँ करते रहेंगे। साधकको एक बार अपने भीतर विपक्षीदलके बलको देख लेनेकी इच्छा होती है, इस भावनासे कि हमारी कौन प्रवृत्तियाँ प्रबल हैं, तथा किस उपायसे उनका शमन हो सकता है ॥ २३ ॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

अन्वय—संजय उवाच (संजय बोले)—भारत (हे भारत!) गुड़ाकेशेन (अर्जुनके द्वारा) एवं उक्तः (इस प्रकार कहने पर) हृषीकेशः (श्रीकृष्णने) उभयोः

सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीच) भीष्मद्रोणप्रमुखतः (भीष्म और द्रोणके सामने) सर्वेषां च (और सब) महीक्षिताम् (राजाओंके सामने) रथोत्तमं (उत्तम रथको) स्थापयित्वा (रखकर) पार्थ (हे अर्जुन !) एतान् समवेतान् (इन इकट्ठे हुए) कुरून् (कुरुलोगोंको) पश्य (देखो) इति उवाच (ऐसा कहा) ॥२४-२५॥

श्रीधर—ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायां सञ्जय उवाच—एवमुक्त इत्यादि। गुडाका निद्रा, तस्या ईशेन जितनिद्रेणार्जुनेन। एवमुक्तः सन्। हे भारत, हे धृतराष्ट्र ॥२४॥

भीष्मेति। महीक्षितां राज्ञां च प्रमुखतः सम्मुखे रथं स्थापयित्वा हे पार्थ एतान् समवेतान् कुरून् पश्येति श्रीभगवानुवाच ॥२५॥

अनुवाद—संजयने कहा—हे भारत धृतराष्ट्र ! निद्रापर विजय प्राप्त करनेवाले अर्जुनने जब इस प्रकार कहा, तो श्रीभगवान् हृषीकेशने दोनों सेनाओं के बीचमें भीष्म, द्रोण तथा इकट्ठे हुए राजाओंके सामने श्रेष्ठ रथको स्थापन करके कहा—हे पार्थ ! इकट्ठे हुए इन कुरुगणको देखो ॥२४-२५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दिव्य दृष्टि-द्वारा प्रकाश हो रहा है, इस प्रकार शरीरके तेजके द्वारा कूटस्थमें प्रकाश करते हुए ऐसी जो उत्तम क्रिया है उसको स्थगित कर दिया, दोनों दलोंके बीच जाकर ॥२४॥ अपना दुराग्रह और भय—ये सामने ही हैं। युद्धार्थी होकर बहुदर्शी हो रहे हैं ॥२५॥—किसके साथ तुम्हें युद्ध करना है, यह तुम देख लो। दो दलोंके बीच मनका आकर्षण बारी बारीसे होने पर कभी मन प्रवृत्ति-पक्षमें और कभी निवृत्ति-पक्षमें जा बसता है, यही स्वाभाविक नियम है, हम सब इसे प्रत्यक्ष देखते हैं। साधनमें लगे रहने पर भी साधकको दुर्मतिका सामना करना पड़ता है, और कभी यह दल और कभी वह दल करते रहें तो क्रिया करना ही कठिन हो जायगा। अर्थात् मैं अपनेको समर्थ नहीं पाता, क्या करूँ, क्या न करूँ—इस प्रकारका भाव आ जायगा। दिव्य दृष्टि द्वारा अपना दुराग्रह और भय अनुभव हो रहा है—ये ही तो उस दलके प्रधान हैं। वे जो कुछ ढूँढ़ रहे थे उसका सुयोग उनको मिल गया। साधनके सम्बन्धमें मनमें टालमटोल शुरू हो गया ॥२४-२५॥

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥२६॥

अन्वय—अथ (अनन्तर) पार्थः (अर्जुनने) तत्र (वहाँ) उभयोः सेनयोः अपि (दोनों ही सेनाओंमें) स्थितान् (अवस्थित) पितॄन् (पितृव्योंको) पितामहान् (पितामह लोगोंको) आचार्यान् (आचार्योंको) मातुलान् (मामा लोगोंको) भ्रातॄन् (भाइयोंको) पुत्रान् (पुत्रोंको) पौत्रान् (पौत्रोंको) सखीन् (सगे साथियोंको) श्वशुरान् (श्वशुरोंको) सुहृदश्च एव (तथा मित्र लोगोंको) अपश्यत् (देखा) ॥२६॥

श्रीधर—ततः किं वृत्तमिति ? अत्र आह—तत्रेत्यादि। पितॄन् पितृव्यानित्यर्थः

पुत्रान् पौत्रानिति दुर्योधनादीनां ये पुत्राः पौत्राश्च तानित्यर्थः। सखीन् मित्राणि। श्वशुरानित्यादि। सुहृदः कृतोपकारांश्चापश्यत् ॥२६॥

अनुवाद—पश्चात् अर्जुनने वहाँ युद्धक्षेत्रमें दोनों पक्ष की सेनाओंके बीच पितृव्य, पितामह, आचार्य, मातुल, भ्राता, पुत्र, पौत्र, मित्रगण, श्वशुर तथा सुहृदोंको देखा ॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरका तेज देखते हैं अल्प भय और अधिक भय, परम्परासे आयी हुई रीति, सबकी चाह, दूसरोंके प्रति द्वेष, सब विषयोंमें ही पहले कल्पना करना, सङ्कल्पके साथ मायासे अभिभूत रहना, मिथ्याके ऊपर मिथ्या, कुप्रवृत्ति, परिहासादि, इनके विपरीत उल्टी दिशामें—ये दो दल हैं।—दोनों दलोंमें कोई कोई प्रवृत्ति-निवृत्ति उभय पक्षके आत्मीय हैं। इन्द्रियाँ और उनके कार्य—काम-क्रोधादि सभीका देहके साथ सम्बन्ध है, पञ्चतत्त्वोंके बारेमें भी यही बात है, अतएव इन सबका परस्पर सम्पर्क है। जब तक देह-बोध है, तब तक ये दोनों पक्ष रहेंगे। जब तक द्वन्द्वातीत अवस्था नहीं प्राप्त होती, तब तक ये सारी शक्तियाँ दोनों ओर खेल करती हैं, पर परस्पर विपरीत भावसे। भयको ही लीजिए। धर्म-कार्य करनेमें भय होता है, अधर्म-कार्य करनेमें भी भय होता है। दुराग्रह—अच्छे काममें दुराग्रह होता है, बुरे काममें भी दुराग्रह होता है। विषय ग्रहण करनेकी इच्छा होती है, और विषय-त्यागकी भी इच्छा होती है। सद् विषयक कल्पना होती है, और असद् विषयक कल्पना भी होती है। स्थूल विचारसे निवृत्तिपक्षके भाव आपाततः भले लगने पर भी अन्ततोगत्वा उनका त्याग करना पड़ता है। अन्यथा सुख-दुःखमें समभावकी प्राप्ति कैसे होगी? यद्यपि सत्त्वगुण सब गुणोंमें प्रकाश धर्मवाला होनेके कारण उत्कृष्ट है, तथापि वह है तो गुण ही, परन्तु जब गुणातीत हुए बिना यथार्थ उपराम नहीं मिलता, तब सत्त्वगुणको भी बन्धन ही मानना होगा। अतएव उसका भी त्याग करना पड़ेगा। परन्तु जब तक हम गुणोंमें पड़े हैं तब तक जहाँ तक हो सके वही करना होगा, जिससे सत्त्वगुण विकाशको प्राप्त हो ॥२६॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥२७॥

अन्वय—सः कौन्तेयः (वह अर्जुन) अवस्थितान् तान् सर्वान् बन्धून् (अवस्थित उन सब बन्धुओंको) समीक्ष्य (देखकर) परया कृपया आविष्टः (अत्यन्त कृपा-परवश होकर) [अतएव] विषीदन् (विषादयुक्त होकर) इदम् (यह) अब्रवीत् (बोले) ॥२७॥

श्रीधर—ततः किं कृतवान् इति? अत आह—तानीति। सेनयोरुभयोरेवं समीक्ष्य कृपया महत्याविष्टो विषण्णः सन्निदमर्जुनोऽब्रवीदित्युत्तरस्थार्द्धश्लोकस्य वाक्यार्थः। आविष्टो व्याप्तः ॥२७॥

अनुवाद—दोनों सेनाओंमें उन सब बन्धु-बान्धवोंको अवस्थित देखकर अर्जुन अत्यन्त द्रवित-हृदय होकर विषाद-युक्त चित्तसे यह बोले—॥२७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब देखते हैं कि जो अपने लोग हैं वे लिपटे ही हैं मायावृत होकर और विस्मयापन्न होकर—यह भाव प्रकट हुआ।—पहले उमङ्गमें आकर अनेक साधक साधन करना शुरू कर देते हैं, पश्चात् जब देखते हैं कि जीवनके चिराभ्यस्त अनेक सुखोंको काटना-छाँटना पड़ेगा, तब कुछ विस्मित और विषराण होकर वे जो भाव प्रकट करते हैं, उसीका विवरण दे रहे हैं। साधन करके कुछ अग्रसर होने पर भी सन्देह नहीं मिटता। मनमें आता है कि जो कुछ कर रहा हूँ, जो कुछ देख रहा हूँ, वह ठीक है या नहीं ? इसी प्रकारके विघ्न उपस्थित होने लगते हैं। तब ऐसा भी लगता है कि सारे भोगोंको छोड़कर क्रियामें लग जाने पर मन और सारी इन्द्रियाँ स्तब्ध हो जायँगी, परन्तु पूर्व संस्कारके वश इन्द्रियाँ और उसके भोग्य विषयोंके लिए मन छटपट करता है। इतना साधन करने पर भी जीवन अकृतार्थ जान पड़ता है। यही विषाद-योग है। साधकको जब तक यह विषाद-योग एक बार उदित नहीं होता, तब तक वह साधनमें पक्का होकर, दृढ़ होकर जम नहीं सकता। इसीलिए अग्रसर होकर भी साधकके जीवनमें विषाद आ उपस्थित होता है। इस विषादके आने पर साधक जो सोचता है, बोलता है, और ज्ञानस्वरूप आत्मा गुरु जो उपदेश देता है, या मनमें ज्ञान देकर जो व्यक्त करता है, वह सब बातें अब प्रारम्भ होंगी। यही गीता है। इस गीताका उपदेश साधक अपने भीतर जब तक अनुभव नहीं करता, तब तक सन्देह है कि उसका साधन ठीक रास्तेसे चल रहा है या नहीं ॥२७॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति ॥ २८ ॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुन बोले)—कृष्ण (हे कृष्ण!) युयुत्सून् (युद्धार्थी) इमान् (इन सब) स्वजनान् (आत्मीय जनोंको) समवस्थितान् (सम्यक् रूपसे अवस्थित) दृष्ट्वा (देखकर) मम (मेरा) गात्राणि (सारा शरीर) सीदन्ति (अवसन्न हो रहा है) मुखं च (और मुँह) परिशुष्यति (अत्यन्त सूख रहा है) ॥२८॥

श्रीधर—किमब्रवीदित्यपेक्षायामाह दृष्ट्वेमानित्यादि यावदध्यायसमाप्तिम्। हे कृष्ण! योद्धुमिच्छतः पुरतः सम्यगवस्थितान् स्वजनान् बन्धुजनान् दृष्ट्वा मदीयानि गात्राणि कर-चरणादीनि सीदन्ति विशीर्यन्ते ॥२८॥

अनुवाद—[अर्जुनने जो कुछ कहा उसे इस श्लोकसे अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त कह रहे हैं] हे कृष्ण! युद्धके अभिलाषी इन स्वजनोंको सामने अवस्थित देखकर मेरे हाथ-पैर आदि सारे अंग अवसन्न हो रहे हैं और मुँह सूख रहा है ॥२८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तेजके द्वारा प्रकाश हो रहा है कि जो लोग युद्धमें उपस्थित हैं वे सभी तो अपने ही लोग दीख रहे हैं। मेरा शरीर विषादको प्राप्त हो रहा है और इस कारणसे मुख भी सूखता जाता है।—पहले साधनाके लिए उद्यत होकर मन खूब उत्साहित हो रहा था। पश्चात् मन-ही-मन विचार कर जब भोगादिक त्यागकी बात मनमें आयी, तब मनका वह तेज टिक न सका। मन विषादसे भर गया। किसी प्रकारका विषाद उपस्थित होने पर शरीर अवसन्न हो जाता है, और मुँह सूख जाता है। मनमें दुश्चिन्ता होने लगती है कि यह मैं क्या कर रहा हूँ। साधन करके क्या मिलेगा, यह मैं नहीं जानता, परन्तु आपाततः अनेक आराम छोड़ने ही पड़ेंगे, यह तो देखता हूँ। इस प्रकार साधनादि क्या अन्त तक कठोरतापूर्वक चला सकूँगा? यदि नहीं चला सका तो यह सब परिश्रम व्यर्थ ही हो रहा है। इन सब दुर्भावनाओंसे शरीर अवसन्न और मुँह शुष्क होने लगता है। वस्तुतः जब तक इन्द्रियपरायणता है, तब तक ये सब भय आवेंगे ही। यदि विचार करके देखा जाय तो आत्मा ही हमारा सर्वस्व है, उस आत्माके दर्शनके लिए यदि सब सुखोंका त्याग करना पड़ता है, या यह शरीर भी नष्ट हो जाता है तो उसे भी स्वीकार कर कमर कस कर साधनामें लग जाना ही यथार्थ मनुष्यत्व है, नहीं तो भोजन-पानके लिए जीना पशुजीवन-यापनके तुल्य है॥२८॥

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते॥२९॥

अन्वय—मे (मेरे) शरीरे (शरीरमें) वेपथुः (कम्प) रोमहर्षः च (तथा रोमाञ्च) जायते (हो रहा है), हस्तात् (हाथसे) गाण्डीवं (गाण्डीव धनुष) स्रंसते (स्खलित हो रहा है) त्वक् च (और चर्म) परिदह्यते एवं (मानो दग्ध हो रहा है)॥२९॥

श्रीधर—किञ्च—वेपथुश्चेत्यादि। वेपथुः कम्पः। रोमहर्षः रोमाञ्चः। स्रंसते निपतति। परिदह्यते सर्वतः सन्तप्यते॥२९॥

अनुवाद—मेरे शरीरमें कम्प और रोमाञ्च हो रहा है, गाण्डीव हाथसे सरक रहा है, और त्वचा मानो सर्वत्र जल रही है॥२९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—देख रहा हूँ मेरा शरीर विपथगामी हो रहा है, इस कारण भयसे प्रयुक्त रोमाञ्च हो रहा है, श्वास शिथिल हो रहा है, शरीरमें आग सी लग रही है।—मनमें दुश्चिन्ताजनित उद्वेग रहने पर शरीर भी मानो शिथिल हो जाता है। मन अच्छी तरह न रहे तो शरीर भी दृढ़तापूर्वक सीधा बैठ नहीं सकता। मेरुदण्ड जो गाण्डीव है, तब सीधा नहीं रह सकता—संकुचित और शिथिल हो पड़ता है। ऐसी अवस्थामें क्रिया भी ठीक नहीं होती॥२९॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥३०॥

अन्वय—केशव (हे केशव !) अवस्थातुं (अवस्थान करनेमें) न च शक्नोमि (मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ) मे मनः च (और मेरा मन) भ्रमति इव (मानो घूम रहा है) विपरीतानि निमित्तानि च (और अनिष्टसूचक सारे लक्षण) पश्यामि (मैं देख रहा हूँ) ॥३०॥

श्रीधर—अपि च—न च शक्नोमीत्यादि। विपरीतानि निमित्तानि अनिष्टसूचकानि शकुनादीनि पश्यामि ॥३०॥

अनुवाद—हे केशव, मैं स्थिर होकर रहनेमें असमर्थ हो रहा हूँ, मेरा मन मानो घूम रहा है, और अनिष्टसूचक बुरे लक्षण दिखलाई दे रहे हैं ॥३०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं स्थिरतापूर्वक रहनेमें असमर्थ हो रहा हूँ, मेरा मन भ्रमयुक्त हो रहा है, सारे विपरीत कारणोंको देख रहा हूँ।—मनका तेज घटनेपर चित्त जिस प्रकार विभ्रान्त होता है, दृढ़ भाव जिस प्रकार विचलित हो उठता है, उसका ही वर्णन कर रहे हैं। उस समय साधनामें अग्रसर होना मानो असम्भव जान पड़ता है। चित्तके भययुक्त होनेपर क्या स्थिरतापूर्वक बैठना संभव है? उस समय मन और सिर दोनों घूमने लगते हैं। जिस साधनाका अनुसरण कर प्राचीन ऋषिगण परम उच्च अवस्थाको प्राप्त करते थे, महानन्दमें मग्न हो जाते थे, अत्यन्त शान्ति प्राप्त करते थे, उसी साधनाके प्रति कामदूषित चित्तमें इतना भय उत्पन्न होता है कि मनमें आता है मानो साधना छोड़ देनेसे ही प्राण बचेगा। यहाँ तक कि जो लोग इन गुह्य तत्त्वोंकी आलोचना करते हैं उनके पास बैठनेमें भी भय लगता है। ऐसा दुर्भाग्य आ उपस्थित होता है! ॥३०॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

अन्वय—आहवे (युद्धमें) स्वजनं (आत्मीय लोगोंको) हत्वा (मारकर) श्रेयः च (मंगल भी) न अनुपश्यामि (नहीं देख रहा हूँ), कृष्ण (हे कृष्ण !) विजयं (जय) राज्यं च सुखानि च (राज्य और सुखकी भी) न काङ्क्षे (मैं कामना नहीं करता) ॥३१॥

श्रीधर—किञ्च न चेत्यादि। आहवे युद्धे स्वजनं हत्वा श्रेयः फलं न पश्यामि। विजयादिकं फलं किं न पश्यसीति चेत्? तत्राह—न काङ्क्षे इति ॥३१॥

अनुवाद—युद्धमें आत्मीयजनोंको मारकर कोई कल्याण नहीं देख रहा हूँ। यदि कहो कि विजय प्राप्तिरूपी फल तो मिलेगा ही, उसे क्यों नहीं देखते? तो इसके उत्तरमें अर्जुन कहते हैं कि मैं विजय नहीं चाहता, राज्य और सुख कुछ भी नहीं चाहता ॥३१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो लोग बहुत दिनोंके अपने जन हैं उन सबको मारकर मैं कोई श्रेय नहीं देख पाता, सबको विशेषरूपसे जीतना नहीं चाहता। तथा सबको वशमें रखकर राज्यसुखका अनुभव भी नहीं करना चाहता।—मनुष्य सदा ही शरीर और इन्द्रियोंका भोग चाहता है। परन्तु साधन करते समय इन सारी सुख-स्पृहाओंको मनसे कुछ कुछ कम करना आवश्यक हो जाता है। परन्तु आशंका और दुर्बुद्धि इतनी पीछे पड़ी रहती हैं कि मनमें आता है कि साधना करना हो तो शायद सारे सुखभोगोंकी तिलाञ्जलि देनी होगी। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। भोग त्याग करनेकी बात तो नहीं है, पर भोगमें संयम लाना आवश्यक है। थोड़ा सा विचार करनेपर अच्छी तरह समझमें आ जायगा कि विशेष असंयमी होनेपर मनुष्यके लिए सुखभोग भी संभव नहीं। असंयमी लोग सुख-भोगसे भी वञ्चित होते हैं। तथापि यह भी ठीक है कि निरन्तर इन्द्रिय-सुखभोगकी ओर दृष्टि रखने पर साधन-भजन नहीं हो सकता। यदि कोई असंयत रहकर साधन भी करता रहे तो उसे साधनाका सम्यक् फल नहीं प्राप्त हो सकता। इसीलिए गुरु लोग शिष्योंको सतर्क कर देते हैं कि परिश्रम करके साधन करना और उपयुक्त फल प्राप्त न होना असंगत है। इसी कारण वे आहार-विहारमें संयमका अभ्यास करनेकी बात कहते हैं। संयमकी बात सुनकर पहले पहल भय होता है, पर संयम तो इन्द्रियादिका एकबारगी उपवास नहीं है। इन्द्रियोंको विषयग्रहण करनेमें यथोचित नियमित रखना ही संयम है। इस प्रकार प्रतिदिन नियमित रूपसे संयमका अभ्यास करते रहनेसे मनुष्य देवता बन जा सकता है। और साथ ही इसमें कोई विशेष क्लेश होनेकी संभावना भी नहीं रहती। 'विजय' शब्दका अर्थ है संयम या इन्द्रियजय और राज्यसुखका अर्थ है सिद्धि। यह सब साधना द्वारा हो सकता है, पर अनिश्चित है। अनिश्चित सुखके लिए वर्तमान विषय-भोगके त्यागसे कोई मंगल या शान्तिकी प्राप्ति होगी, यह बात साधारणतः समझमें नहीं आती ॥३१॥

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥३२॥

अन्वय—गोविन्द (हे गोविन्द!) नः (हमको) राज्येन किं (राज्यसे क्या मतलब?) भोगैः जीवितेन वा किम् (भोग या जीवनसे क्या प्रयोजन?) येषाम् अर्थे (जिनके लिए) नः (हमको) राज्यं, भोगाः सुखानि च (राज्य, भोग और सुख) कांक्षितम् (आकांक्षित हैं) ॥३२॥

श्रीधर—एतदेव प्रपञ्चयति—किं नो राज्येनेत्यादि सार्द्धश्लोकद्वयेन ॥ ३२ ॥

अनुवाद—हे गोविन्द! और हमें राज्यसे क्या मतलब, भोगसे क्या मतलब, तथा जीवन धारणसे ही क्या मतलब? जिनके लिए राज्य, भोग और सुख प्रभृतिकी आकांक्षा की जाती है ॥३२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—राज्यसे मेरा क्या प्रयोजन, या भोगसे ही क्या काम, तथा जीते रहनेसे ही क्या लाभ ? जिनके लिए राज्य, भोग और सुख उनको मार डालने से ?—साधन करके वासना-जय तथा इन्द्रियजय करनेसे क्या फल मिलेगा ? सुख भोगके लिए ही तो जीवन धारण किया जाता है, फिर साधन करके अन्धा, बहरा और गूँगा बननेसे क्या फायदा ? ऐसा जीवन ही व्यर्थ है, इस प्रकार जीनेसे तो कोई लाभ समझमें नहीं आता ।।३२।।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।।३३।।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाःसम्बन्धिनस्तथा ।
एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।।३४।।

अन्वय—ते (वे) इमे (ये सारे) आचार्याः (आचार्य लोग) पितरः (पितृव्य लोग), पुत्राः च (तथा पुत्रगण), एव च (और) पितामहाः, मातुलाः, श्वशुराः, पौत्राः, श्यालाः (पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, और साले) तथा सम्बन्धिनः (तथा सम्बन्ध रखनेवाले आत्मीयजन) प्राणान् धनानि च (प्राण और धनको) त्यक्त्वा (त्यागकर) युद्धे अवस्थिताः (युद्धमें अवस्थित हो रहे हैं) मधुसूदन (हे मधुसूदन !) घ्नतः अपि (इनके द्वारा हत होने पर भी) एतान् (इनको) हन्तुं (नाश करना) न इच्छामि (नहीं चाहता) ।।३३-३४।।

श्रीधर—त इम इति । यदर्थमस्माकं राज्यादिकमपेक्षितं ते एते प्राणधनादित्यागं अङ्गीकृत्य युद्धार्थमवस्थिताः । अतः किमस्माकं राज्यादिभिः कृत्यमित्यर्थः ।।३३।। ननु यदि कृपया त्वमेतान्न हंसि तर्हि त्वामेते राज्यलोभेन हनिष्यन्त्येव । अतस्त्वमेवैतान् हत्वा राज्यं भुंक्ष्वेति । तत्राह सार्द्धेन एतानित्यादि । घ्नतोऽप्यस्मान् मारयतोऽप्येतान् ।।३४।।

अनुवाद—जिनके लिए राज्य, भोग और सुख आदिकी आकांक्षा की जाती है, वे ही सब आचार्य, पितृव्य, पुत्र, पितामह, मातुल, श्वशुर, पौत्र, श्याले तथा सम्बन्धी आत्मीयजन प्राण और धनादिका मोह त्यागकर युद्धके लिए अवस्थित हैं, अतएव हमको अब राज्य आदिसे क्या प्रयोजन ? यदि कहते हो कि कृपा-परवश होकर तुम उनकी हत्या नहीं करते, तो भी वे राज्यके लोभसे तुम्हारी हत्या निश्चय ही करेंगे, अतएव उनको मारकर राज्य भोग करो. तो इसका उत्तर अर्जुन देते हैं, हे मधुसूदन ! वे लोग मुझको मार भी डालें तो मैं उनको मारनेकी इच्छा नहीं करता ।।३३-३४।।

आध्यात्मिक व्याख्या—धन अर्थात् इन्द्रिय-सुख, प्राण इन्द्रियोंकी सुखेच्छा—दोनों ही त्याग करके युद्धेच्छा कर रहे हैं—चिरकालके ढंग, चञ्चल स्वभाव, द्वेष और हिंसा, धर्म-कर्ममें भय ।।३३।। सब में इच्छा, कुमति, अधिक भय, परिहास, मान, इनके कारण यदि मेरी मृत्यु भी हो जाय तो भी मैं इनका त्याग करना या मार डालना नहीं

चाहता ॥३४॥—योगसाधन करनेसे अनेक विभूतियाँ प्राप्त होंगी, अनेक दर्शन-श्रवणादि होंगे, अनभिज्ञ व्यक्ति इन्हीं लोभोंसे, साधन शुरू करता है, परन्तु पश्चात् जब समझमें आता है कि देखना, सुनना या कोई शक्ति प्राप्त करना योग-साधनका मुख्य उद्देश्य नहीं बल्कि इन्द्रियों की वृत्तियों तथा सब प्रकारकी चित्त-वृत्तियोंका निरोध ही वस्तुतः योग है, तो वह हताश हो जाता है, और सकाम साधककी साधनामें फिर आस्था नहीं रहती। मनमें आता है कि इतना परिश्रम और साधना करके अन्तमें बहरा, गूँगा और अन्धा बनकर रहना पड़ेगा। तब इस प्रकारकी साधनामें परिश्रम करना केवल व्यर्थ समय नष्ट करना है। पहले सुना था कि साधन करनेसे अनेक प्रकारकी बातें देखने और सुननेमें आती हैं, परन्तु अब देखता हूँ कि वह ठीक नहीं है। जो इन सब चीजोंको देखेंगे या देख-सुनकर जिन्हें सुख मिलेगा, वे सारी इन्द्रियाँ और मन सबके सब इस युद्धमें मरनेके लिये तैयार हैं। यदि वे ही मर गयीं तो यह दर्शन-श्रवण करेगा कौन ? अब सोचता हूँ कि वैसा न करके युद्ध न करना ही ठीक है। वे यदि हमको मार भी डालें तो ठीक है। अर्थात् इन्द्रियोंके हाथ आत्म-समर्पण कर देने पर वे सब मिलकर मार डालेंगी, क्योंकि भोगमें डूब जाने पर फिर आत्मचैतन्यका विकास न हो पायगा। वह हो या न हो, गुमसुम होकर निर्जनमें बैठे रहना, इन्द्रियोंको भोग-सुखसे वञ्चित करके दुःख देना—आदिकी अपेक्षा भोगमें डूब कर मर जाना भी अच्छा है। अज्ञानवश तथा यथार्थ चिन्तनके अभावमें ऐसी बातें वास्तविक जान पड़ने पर भी सत्य नहीं हैं। साधन करनेसे इन्द्रियोंका तेज बढ़ता है, ह्रास नहीं होता; और विष्ठाकृमिके समान भोगमें इन्द्रिय-मन लीन भी नहीं होते। विघ्नसे भरे हुए इस जटिल संसार-पथमें सुपथ पाकर संयमशील साधक कृतार्थ हो जाते हैं और उनकी कोई हानि नहीं होती ॥३३-३४॥

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते।
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥३५॥

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन !) महीकृते किं नु (पृथ्वीके राज्यके लिए तो क्या) त्रैलोक्यराज्यस्य (तीनों लोकोंके राज्यके) हेतोः अपि (निमित्त भी) धार्त्तराष्ट्रान् (दुर्योधनादिको) निहत्य (मार कर) नः (हमको) का प्रीतिः (कौन सा सुख) स्यात् (होगा ?) ॥३५॥

श्रीधर—अपीति। त्रैलोक्यराजस्यापि हेतोः—तत्प्राप्त्यर्थमपि—हन्तुं नेच्छामि। किं पुनर्महीमात्रप्राप्तय इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अनुवाद—त्रैलोक्यके राज्यकी प्राप्तिके लिए भी मैं जब इनको मारना नहीं चाहता तो सामान्य इस पृथ्वीके राज्यके लिए इनको क्यों मारूँ ? हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर ही हमें क्या सुख मिलेगा ? ॥३५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—त्रिलोकका राजत्व भी मिले तो मनके सौ पुत्रोंको मारनेसे क्या लाभ और सन्तोष मिल सकता है?—सुख शब्दसे हमें इन्द्रियोंके भोग-सुखके अतिरिक्त और किसी वस्तुका बोध नहीं है। इसी कारण इतना भय होता है। त्रिलोकका राजत्व यानी मूलाधार-ग्रन्थि, हृदय-ग्रन्थि, जिह्वा-ग्रन्थि—इनका यदि भेद भी हो जाय तो क्या तुम कह सकते हो कि उसमें इन्द्रियोंके भोगजनित सुखकी अपेक्षा अधिक सुख मिलेगा? यदि नहीं मिलता तो इन्द्रिय-सुखको नष्ट करनेसे क्या लाभ ?॥ ३५॥

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतान् आततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् सबान्धवान् ॥
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३६॥

अन्वय—एतान् (इन सब) आततायिनः (आततायियोंको) हत्वा (मारकर) अस्मान् (हमको) पापं एव (पाप ही) आश्रयेत् (आश्रय करेगा)। तस्मात् (इसलिए) सबान्धवान् (बान्धवों सहित) धार्त्तराष्ट्रान् (धृतराष्ट्रके पुत्रोंको) वयं (हम) हन्तुं (मारना) न अर्हाः (नहीं चाहते)। हि (क्योंकि) माधव (हे माधव !) स्वजनं (अपने आत्मीय जनोंको) हत्वा (मारकर) कथं सुखिनः (कैसे सुखी) स्याम (होंगे)॥ ३६॥

श्रीधर—ननु च—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः क्षेत्रदारापहारी च षड़ेते ह्याततायिनः।" इति स्मरणादग्निदत्वादिभिः षड्भिर्हेतुभिरेते तावदाततायिनः। आततायिनां च वधोयुक्त एव "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥" (मनु) इति वचनात्। तत्राह—पापमेवेत्यादि सार्द्धेन। आततायिनमायान्तमित्यादिकमर्थशास्त्रम्। तच्च धर्मशास्त्रात्तु दुर्बलम्। यथोक्तं याज्ञवल्क्येन—"स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति-स्थितिः।" (याज्ञवल्क्य) इति। तस्मादाततायिनामप्येतेषामाचार्यादीनां वधेऽस्माकं पापमेव भवेत्, अन्याय्यत्वादधर्मत्वाच्चैतद्वधस्य अमुत्र चेह वा न सुखं स्यादित्या—स्वजनं हीति॥ ३६॥

अनुवाद—जो आदमी घरमें आग लगाता है, जो विष देता है, जो शस्त्रके द्वारा प्राण लेनेके लिए उद्यत है, जो धनापहरण करता है, जो भूमि और स्त्रीका अपहरण करता है—ऐसे छः प्रकारके आदमी आततायी कहलाते हैं। जतुगृह-दाह, भीमको विष-प्रयोग, कपट द्यूतमें धन और भूमिका अपरहण प्रभृति छः प्रकारके दोषोंके द्वारा कौरव लोगोंने वस्तुतः आततायीका कार्य किया था। इस प्रकारके आततायीका वध करना ही समुचित है। मनु कहते हैं कि जो आततायी बनकर आता हो उसे बिना विचारे (गुरुजन या ब्राह्मणादि हों तो भी) मार डाले, क्योंकि

आततायीको मारनेसे कोई दोष नहीं होता। आततायीको मारनेसे दोष नहीं होता, यह शास्त्रविधि तो है, परन्तु अर्थशास्त्रकी विधि है, धर्मशास्त्र इसका समर्थन नहीं करता। आचार्य, गुरु अवध्य हैं। इस प्रकारका काम करना धर्मशास्त्रमें निषिद्ध है, और धर्मशास्त्रसे अर्थशास्त्र दुर्बल होता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् है। अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रमें विरोध होने पर धर्मशास्त्रका ही प्रामाण्य स्वीकार करना होगा। यद्यपि यह सच है कि वे आततायी हैं, तथापि उनको एवं आचार्य गुरुजनोंको मारनेसे हमको पापका ही भागी बनना पड़ेगा। क्योंकि उनको मारना अन्याय और अधर्म है। अन्याय और अधर्म करनेसे इह लोक एवं परलोकमें सुख नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या——मेरी आत्मामें जो पाप जान पड़ता है, उसके लिए मनके स्वजन-बान्धवको मैं मारनेकी इच्छा नहीं करता, अपने जनको मारकर मैं कैसे सुखी हो सकता हूँ।—मनके स्वजन हैं इन्द्रियाँ, जो मनको विषयभोग कराती हैं। ये सब धर्म और साधन-पथके विरोधी तो हैं, परन्तु उनको मार डालनेसे क्या धर्मरक्षा हो सकती है? बल्कि मैं तो देखता हूँ इनके नष्ट होने पर अधर्म ही होगा, और हम सुखी भी न हो सकेंगे। क्योंकि योगाभ्यासके द्वारा तथा नाना प्रकारके अलौकिक दर्शन और श्रवणके द्वारा इन्द्रियाँ ही सुखी होती हैं। वह इन्द्रिय और मन ही यदि न रहे तो साधनादि करके उसके फलका भोग कौन करेगा? अतएव इन्द्रिय और मनको बचाये रखना ही आवश्यक है। उनका नाश करके हमको सुख मिलेगा—इसकी हम आशा नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३७ ॥

अन्वय——यद्यपि (यद्यपि) लोभोपहतचेतसः (लोभसे अभिभूतचित्त) एते (ये लोग) कुलक्षयकृतं (कुलके नाशसे उत्पन्न) दोषं (दोषको) च (तथा) मित्रद्रोहे (मित्रके साथ द्रोह करनेमें) पातकं (पापको) न पश्यन्ति (नहीं देखते हैं) ॥ ३७ ॥

श्रीधर——ननु चैवतेषामपि बन्धुवधे दोषे समाने यथैवैते बन्धुवधमङ्गीकृत्यापि युद्धे प्रवर्त्तन्ते तथैव भवानपि प्रवर्त्तताम्। किमनेन विषादेनेत्याह यद्यपीति द्वाभ्याम्। राज्य-लोभेनोपहतं भ्रष्टविवेकं चेतो येषां ते एते दुर्योधनादयो यद्यपि दोषं न पश्यन्ति ॥ ३७ ॥

अनुवाद——यद्यपि राज्यके लोभसे इनका विवेक भ्रष्ट हो गया है, तथा कुलके नाशसे उत्पन्न दोषोंको और मित्रद्रोहसे होनेवाले पापको ये नहीं देखते ॥ ३७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या——लोभमें हतचित्त होकर ये देख नहीं रहे हैं— कुलका क्षय और मित्रद्रोहका पाप।—हम मनके आवेगसे जो कुछ करेंगे उसमें शरीर और इन्द्रिय क्षय कुछ न कुछ होगा ही, अन्ततः व्यर्थके कामोंमें आयुक्षय और श्वास नष्ट

होंगे। प्राणायाम आदि क्रियायोगके द्वारा श्वासक्षयका निवारण होता है, और भला-बुरा जो कर्म हम करते हैं उसमें आयुक्षय होता ही है। दुर्मति आदि भोगकी लालसामें हतचित्त होकर इन्द्रियशक्तिका लोप तक कर सकते हैं, अधिक भोग-लालसामें इन्द्रियशक्तिका क्षय होने पर अपनी शक्तिका ही क्षय होता है, इस बातको वे नहीं समझते। प्रवृत्तिके वश आयुक्षय होने पर देह-इन्द्रिय आदिका पतन होता है। परन्तु विषयलोभमें मत्त, प्रवृत्तिके ये दास बिल्कुल ही इसको देख नहीं पाते हैं। क्या यह कम परितापका विषय है ? शुद्ध वासना और अशुद्ध वासना दोनों एक ही कुलसे उत्पन्न होती हैं। क्योंकि वे दोनों मन-बुद्धिसे ही उत्पन्न होती हैं। इनमें एकका दल संसार बसाकर रहता है, और दूसरेका दल संसारसे मुक्त होना चाहता है ॥३७॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३८॥

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन !) [किन्तु] कुलक्षयकृतं (कुलक्षयसे उत्पन्न) दोषं (दोष) प्रपश्यद्भिः अस्माभिः (देखते हुए हम) अस्मात् पापात् (इस पापसे) निवर्तितुं (बचनेके लिए) कथं (क्यों) न ज्ञेयं (न परिज्ञात हों) ? ॥३८॥

श्रीधर—कथमिति। तथाप्यस्माभिर्दोषं प्रपश्यद्भिरस्मात् पापान्निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम् ? निवृत्तावेव बुद्धिः कर्त्तव्येत्यर्थः ॥३८॥

अनुवाद—किन्तु हे जनार्दन ! कुलक्षयसे उत्पन्न दोषको देखकर भी इस पापसे बचनेके लिए (उपाय) क्यों न हम जान लें ? अर्थात् युद्धनिवृत्तिके लिए सोचना ही हमारा कर्त्तव्य है ॥३८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इसमें कुलके क्षयहेतुक दोष देखता हूँ।—शरीरकी सेना जिसकी द्वितीय श्लोकमें व्याख्या हुई है, योगाभ्यासके द्वारा यदि उन सबका क्षय होता है, तब तो कहना पड़ेगा कि यह बहुत दोषयुक्त बात है। किन्तु साधनासे वस्तुतः इन्द्रियाँ या देह दुर्बल नहीं होतीं, बल्कि भोगसे ही उनका क्षय होता है। यद्यपि शरीर देखनेमें कुछ कृश दीख पड़ता है, पर उसमें तेजका ह्रास नहीं होता, बल्कि साधनाके द्वारा शरीर और इन्द्रियकी तेजवृद्धि होती है। जो लोग यथार्थ तत्त्व नहीं जानते, वे ही भय खाते हैं। साधारणतः संयमकी उपेक्षा करके दुष्कार्यमें प्रवृत्त होने पर शरीर विशेष क्षयको प्राप्त होता है। साधनावस्थामें वह क्षय दुःसह हो जाता है। इसी कारण साधनके समय संयमकी इतनी प्रयोजनशीलता है। "योगिनस्तस्य सिद्धिः स्यात् सततं बिन्दुधारणात्"। संयम साधनके बिना शरीरकी रक्षा नहीं होती, शरीरकी रक्षा हुए बिना साधन नहीं होता। इसी कारण योगशास्त्रमें लिखा है—"धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः।" इसीकारण योगियोंको आहार-शुद्धि पर विशेष ध्यान देनेका नियम है तथा साथ-साथ चित्तमें नाना प्रकारके सङ्कल्प-

विकल्पका कूड़ाकरकट इकट्ठा करना भी ठीक नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

अन्वय—कुलक्षये (कुलका क्षय होने पर) सनातनाः (सदासे आये हुए) कुलधर्माः (कुलधर्म) प्रणश्यन्ति (नष्ट हो जाते हैं) धर्मे नष्टे (धर्मके नष्ट होने पर) अधर्मः (अनाचार) कृत्स्नं (समस्त) कुलं (कुलको) उत (निश्चय ही) अभिभवति (अभिभूत करता है) ॥३९॥

श्रीधर—तमेव दोषं दर्शयति—कुलक्षय इत्यादि। सनातनाः परम्पराप्राप्ताः। उत अपि। अवशिष्टं कृत्स्नमपि कुलम् अधर्मोऽभिभवति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥३९॥

अनुवाद—[कुलक्षयके दोष दिखलाते हैं] कुलका क्षय होने पर कुलपरम्परा से प्राप्त धर्म भी नष्ट हो जाता है। कुलधर्मके नष्ट होने पर शेष सारा कुल अधर्मसे अभिभूत हो जाता है ॥३९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कुलका क्षय होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जायगा, और अधर्मसे अभिभूत हो जायगा।— परम्पराप्राप्त आचारको प्रायः हम सभी मानते हैं। परन्तु उस आचारका उद्देश्य हम नहीं समझते। वे कुलपरम्परागत कर्म भी ठीक तौरसे नहीं होते, तथापि अन्धविश्वासने इतनी जड़ जमा ली है कि उन कर्मोंके न करनेसे कुलधर्म नष्ट हो जायगा, ऐसा हम सोचा करते हैं। परन्तु हम पहले यही नहीं जानते कि कुलधर्म है क्या वस्तु, और उसे कैसे करना चाहिये? इसी कारण जीवभावापन्न अर्जुनके मनमें उठ रहा है कि धर्म-साधन करनेके लिए इन्द्रियोंके भोगको बन्द करना आवश्यक है। पर कौन कह सकता है कि भोगको बन्द कर देने पर इन्द्रियाँ विकारको प्राप्त न होंगी? यदि इन्द्रियाँ विकृत हुईं तो उसका उपाय क्या होगा? हम विषय-भोग ही करें या साधन-भजन ही करें, दोनों अवस्थाओंमें सप्तदश अवयवात्मक सूक्ष्म देह (दस इन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि) के बिना कुछ होनेका नहीं। इन सबकी सामूहिक शक्तिको कुल कहते हैं। यह शक्ति मेरुदण्ड और मस्तिष्कमें सन्निविष्ट रहती है, इसीकारण तन्त्रमें मेरुदण्डको कुलवृक्ष कहा है। प्रवृत्ति-निवृत्तिके पारस्परिक युद्धमें इस कुलशक्तिका क्षय होता है। कुलशक्तिके नष्ट होने पर जीवके प्राण, मन और इन्द्रियाँ सभी अधर्मके द्वारा अभिभूत हो जाते हैं। अर्थात् दुर्बल होकर जिसकी जो शक्ति या धर्म है, वह नष्टप्राय हो जाता है ॥३९॥

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४० ॥

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) अधर्माभिभवात् (अधर्मद्वारा अभिभूत होने पर) कुलस्त्रियः (कुलकी स्त्रियाँ) प्रदुष्यन्ति (अत्यन्त दुष्टा हो जाती हैं)। वार्ष्णेय (हे वृष्णिवंशावतंस!) स्त्रीषु दुष्टासु (स्त्रियोंके दुष्टा होने पर) वर्णसङ्करः (वर्णसङ्कर) जायते (उत्पन्न होता है) ॥ ४० ॥

श्रीधर—ततश्च—अधर्माभिभवादित्यादि ॥ ४० ॥

अनुवाद—हे कृष्ण! कुल अधर्म (अनाचार) के द्वारा अभिभूत हो जाता है तो कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दुष्टा हो जाती हैं। हे वृष्णिवंशावतंस, कुलस्त्रियोंके दुष्टा या व्यभिचारिणी होनेपर वर्णसङ्कर जन्म लेते हैं ॥ ४० ॥

[किसी अभिभावकके न रहनेपर प्रायः कुल-स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी होकर अनाचार और कदाचारमें लिप्त हो जाती हैं। आजकल अनेक स्त्रियाँ अधर्माचरण करनेवाले पतिके असत् दृष्टान्तसे आचारभ्रष्ट हो जाती हैं। आहार-व्यवहारमें सर्वत्र धर्मका उल्लङ्घन किया जाता है। इन सब असंयमोंके फलस्वरूप उनकी सन्तान और सन्तति भी भ्रष्टबुद्धि लेकर जन्म ग्रहण करती हैं। और उन भ्रष्टबुद्धिवाली सन्तानके द्वारा कोई अधर्म किये बिना बाकी नहीं रहता। इसलिए कुलधर्मकी रक्षाके बारेमें सबको ही सतर्क रहना आवश्यक है]

आध्यात्मिक व्याख्या—कुलस्त्रियाँ अधर्ममें रत होंगी, अधर्ममें रत रहने पर वर्णसङ्कर होंगे।—वर्णसङ्कर जैसे पूर्वकालमें समाजकी दृष्टिमें निन्दनीय था, आजकल युगकी महिमासे वैसा निन्दनीय नहीं समझा जाता। आजकलके समाजमें इसका बहुत चलन हो गया है, भविष्यमें और भी हो सकता है, नहीं तो कलिका पूर्ण प्रादुर्भाव कैसे होगा? प्राचीन कालसे ही वर्णसङ्करको क्यों घृणाकी दृष्टिसे देखते आ रहे हैं, यह विचारणीय विषय है। मैं समझता हूँ कि मिश्रण सदा खराब नहीं होता, और मिश्रणके बिना हमारा खाना-पीना आदि कोई काम नहीं चल सकता। परन्तु जो मिश्रण अनिष्टकारी होता है, वही निन्दनीय है। खाद्योंमें देखा जाता है कि ऐसे अनेक मिश्रित खाद्य हैं जो खानेमें भी अच्छे और उपकारी भी होते हैं, परन्तु इस प्रकारके भी मिश्रित खाद्य हैं जो ग्रहणयोग्य नहीं होते। उनको ग्रहण करनेपर शरीरमें व्याधि और मनमें पीड़ा होती है। आजकल इस प्रकारके मिश्रणका चलन अति द्रुत वेगसे समाजमें चल रहा है। घृतमें, तेलमें, दूधमें तथा नाना प्रकारके खाद्यमें अपवित्र वस्तुका मिश्रण होनेके कारण वह सारे पदार्थ खाने योग्य नहीं रह गये हैं तथा उनको खानेसे मनुष्यका शरीर नाना प्रकारके रोगोंका आश्रयस्थान बन जाता

है। इससे संभवतः कुछ लोगोंका द्रव्योपार्जन होता होगा, परन्तु उस उपार्जनमें इतना घोरतर अधर्मका आश्रय लेना पड़ता है, कि किसी भले आदमीके लिए वह कदापि ग्रहणीय नहीं हो सकता। जब द्रव्यका सङ्करत्व इतना दोषयुक्त है तब शरीरादि धातुओंमें यह सङ्करत्व महान् अनिष्टका उत्पादक होगा, आजकलके मनुष्य-समाजपर दृष्टिपात करनेसे ही यह भलीभाँति समझमें आ सकता है। आजकल साधनमें, वैराग्यमें, भक्तिमें, भावमें, ज्ञानमें इस धर्म-भ्रष्टकारी संकरत्वके प्रचार को देखकर स्तम्भित हो जाना पड़ता है। शिक्षाके व्यभिचारसे स्त्रियाँ पुरुष-भावापन्न तथा पुरुष स्त्रीभावापन्न होते जा रहे हैं। साधनमें भी लोग अपने इच्छानुसार कभी इस साधुके पास, तो कभी उस साधुके पास दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं, धर्मका ढोंग लोगोंमें यथेष्ट है, पर धर्मानुष्ठानके प्रति किसीमें वैसी श्रद्धा नहीं ।।४०।।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।४१।।

अन्वय—सङ्करः (वर्णसङ्कर) कुलघ्नानां (कुलनाश करनेवालोंको) कुलस्य च (और कुलको) नरकाय एव (नरक भेजनेके लिए ही होता है), हि (क्योंकि) एषां (इनके) पितरः (पितृगण) लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (पिण्ड और तर्पणादिका लोप होने पर) पतन्ति (पतित होते हैं) ।।४१।।

श्रीधर—एवं सति सङ्कर इत्यादि। एषां कुलघ्नानां पितरः पतन्ति। हि यस्माल्लुप्ताः पिण्डोदकक्रियाः येषां ते तथा ।।४१।।

अनुवाद—वर्णसङ्कर कुलका नाश करनेवालोंके लिए तथा कुलके लिए नरकका कारण बनता है। उन कुलका नाश करनेवालोंके पितरोंकी श्राद्ध और तर्पण-क्रिया लुप्त हो जाती है। पिण्डतर्पणादिके लोप होनेपर प्रेतत्व दूर न होनेके कारण वे नरकमें गिरते हैं ।।४१।।

आध्यात्मिक व्याख्या—वर्णसङ्कर होने पर नरकमें जायँगे, जिसने कुलको नष्ट किया है वह भी नरकमें जायगा, और उनके पितरोंके तर्पण और पिण्ड लुप्त हो जायँगे।

—शरीर और मन यदि व्याधिग्रस्त या दुश्चिन्ताग्रस्त हों तो कुलकुण्डलिनी शक्ति या ब्रह्मज्योति (पिण्ड) का प्रकाश लुप्त हो जाता है, तथा सहस्रदलकमलसे सुधा-क्षरण भी बन्द हो जाता है। अतएव सारे अनुभव जो साधनके द्वारा हो रहे थे, वे सब एकसाथ लुप्त हो जाते हैं। जिनसे शरीर-मनका पालन हो रहा था, उनमें सद्भाव भरा जा रहा था, उन सारी आध्यात्मिक शक्तियोंका पतन हो जाता है, अर्थात् वे क्षीण होते होते लोपको प्राप्त होती हैं।

शास्त्रविधिके अनुसार पिता-पितामह आदिको जो उदक-पिण्ड आदि दिया जाता है, वह आवश्यक कर्त्तव्य है। क्योंकि साधनके द्वारा ज्ञानप्राप्ति हुए बिना जीव ऊर्ध्वगति नहीं प्राप्त कर सकता। प्रेतलोकमें उसे संभवतः बहुत दिनों तक प्रेतयोनिमें रहना पड़ता है। मृत्युके पश्चात् ही तुरन्त जीव उच्च लोकोंमें नहीं

जा सकता। हमारा यह स्थूल शरीर दो प्रकारका होता है, एक मातृज या भाण्डदेह, और दूसरा पितृज या पिण्डदेह। मृत्युके समय यह मातृजदेह नष्ट होता है, परन्तु पितृदेह कुछ और समय तक रहता है। यह देह स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होने पर भी एकबारगी सूक्ष्म नहीं होता, क्योंकि कभी कभी वह इन नेत्रोंसे भी देखा जाता है। भाण्डदेहके बिना पिण्डदेहका रहना जीवके लिए वैसा सुखदायी नहीं होता। मरण-मूर्च्छा दूर होनेके बाद ही प्रेत पूर्वसंस्कारके अनुसार भूख-प्यासका अनुभव करने लगता है, आत्मीयस्वजनको देखनेकी इच्छा करता है, और उनको रोते-कलपते देखकर उसे भी बहुत दुःख-सन्ताप होता है। प्रकृतिके नियमके अनुसार इस देहको नाना प्रकारके कष्ट भी भोगने पड़ते हैं। इसी कारण इस देहको नष्ट कर देनेके लिए शास्त्रमें तरह तरहके उपायोंका अवलम्बन करनेका उपदेश दिया गया है। यह शरीर प्रायः एक वर्ष तक रहता है, कभी कभी प्रेतको इस शरीरमें बहुत दिनों तक भी रहना पड़ता है। पिण्डोदकके बिना यह शरीर नष्ट नहीं होता। माता-पिताके लिए पुत्र ही सबसे अधिक प्रिय होता है, तथा पुत्रके साथ देह और मनका निकट सम्बन्ध होनेके कारण पुत्रके द्वारा दिया गया पिण्डोदक प्रेतके लिए विशेष उपकारी होता है। यदि मृतात्मा यह पिण्डोदक नहीं पाते, तो उनको न जाने कितने वर्ष प्रेतयोनिमें रहना पड़ता है, इसकी कोई अवधि नहीं। यदि कोई पिण्ड देनेवाला न रहे तो मृतात्मा बहुत समयके बाद स्वभावके नियमानुसार प्रेतदेहसे मुक्ति प्राप्त करता है, परन्तु पुत्रवान्को इस प्रकार घोर नरकमें दीर्घकाल तक नहीं रहना पड़ता। जो लोग शास्त्र मानते हैं और उसके रहस्यसे अवगत हैं, उनको इन विषयोंमें विशेष समझानेकी आवश्यकता नहीं है। जीवका प्रेतशरीर पाना अविश्वसनीय नहीं है, सब देशोंके लोग थोड़ा-बहुत इस विषयमें अवगत हैं, और इस विषयके कुछ न कुछ तथ्य सब देशोंसे ही संग्रह किये जा सकते हैं। पिण्डदेहके नष्ट होने पर मृतात्माके अपने अपने कर्मके अनुसार भोग-देह प्राप्त होता है, और उस देहसे विशाल स्वर्गलोक या नरकका भोग करनेके बाद जीव फिर कर्मक्षेत्र मर्त्यलोकमें जन्म लेता है। इसके लिए भी बहुतेरे नियम हैं, जिनके अनुसार जीव जगत्में पुनः आता है। परन्तु जो ब्रह्मविचारशील हैं, साधनशील हैं, ब्रह्मचर्य-व्रत-परायण हैं, तथा शास्त्र-विहित कर्मानुष्ठान करनेवाले सद्गृहस्थ हैं, उनको कदापि दीर्घकाल तक नरक नहीं देखना पड़ता। जो गुरुद्रोही, धर्मद्रोही, मातृपितृद्रोही और कपटाचारी हैं, वे साधनशील होने पर भी मृत्युके बाद अन्धतामिस्र नरकमें वास करते हैं। परन्तु इन भोगोंके समाप्त हो जाने पर, वे जब फिर इस लोकमें जन्म ग्रहण करते हैं तो उनको मनुष्य देहकी ही प्राप्ति होती है। और पूर्वजन्ममें साधनमें यत्नशील रहने पर वे अपनी वर्तमान देहमें पुनः साधन-संयोगको प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु जो पशुवत् जीवन यापन करके अन्य जीवोंके लिए उद्वेगका कारण बनते हैं, उन तामसी जीवोंको लोकान्तरसे जगत्में आने पर मूढ़योनि प्राप्त होती है।

इसमें एक और सत्य है, वह बिलकुल आध्यात्मिक है, यहाँ उसके सम्बन्धमें

भी कुछ विचार किया जाता है। जो साधनशील या यति हैं, वे अपना पिण्ड आप दे सकते हैं, अतएव उनको पुत्रपौत्रादि या अन्य किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती। यह प्रथा आज भी वर्तमान है। संन्यास ग्रहणके समय संन्यासीको यह अनुष्ठान करना ही पड़ता है। परन्तु यह श्राद्ध—उदक और पिण्डके द्वारा नहीं होता। यह पिण्ड साधनाके द्वारा दिया जाता है। गुरुगीतामें लिखा है, 'पिण्डं कुंडलिनी-शक्तिः'—कुण्डलिनी शक्तिका नाम ही पिण्ड है—यही मूलाधार-स्थित जीवसञ्ज्ञित चैतन्यशक्ति है। योगाभ्यासके द्वारा मूलाधारस्थ इस शक्तिको चैतन्ययुक्त करना पड़ता है। चैतन्ययुक्त होनेपर ही वह सुषुम्नाको भेदकर आज्ञाचक्रमें, और पश्चात् आज्ञाचक्रको भेदकर सहस्रारमें स्थित होती है। आज्ञाचक्रमें स्थित कूटस्थ ही विष्णुपाद है, यहाँ कुण्डलिनीके स्थित होनेपर पिण्डदान-क्रिया सम्पन्न हो जाती है। तभी जीवको परम ज्ञानकी प्राप्ति होती है, और उसके द्वारा साधक जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करते हैं। वस्तुतः इस प्रकारकी पिण्डदान-क्रिया किये बिना वासनाके द्वारा प्रज्वलित घोर नरकसे जीवके उद्धार पानेकी कोई संभावना नहीं है। अतएव जिस प्रकार यह स्थिति प्राप्त हो, उसके लिए योगीको प्राणपनसे प्रयत्न करना आवश्यक है। जो इस विषयमें उदासीन रहकर कालक्षेप करते हैं, उनको बारम्बार जन्म-मृत्युरूपी घोर अज्ञान-निरयमें पड़ना ही पड़ेगा ॥४१॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४२॥

अन्वय—कुलघ्नानां (कुलका नाश करनेवालोंके) एतैः (इन) वर्णसंकरकारकैः (वर्णसंकर बनानेवाले) दोषैः (दोषोंके द्वारा) शाश्वताः (चिरन्तन) जातिधर्माः (जातिधर्म, वर्णविहित शास्त्रीय आचार) कुलधर्माः च (और कुलधर्म) उत्साद्यन्ते (लुप्त हो जाते हैं) ॥४२॥

श्रीधर—उक्तदोषमुपसंहरति – दोषैरित्यादिभ्यां द्वाभ्याम्। उत्साद्यन्ते लुप्यन्ते। जातिधर्मा वर्णधर्माः। कुलधर्माश्चेति चकारादाश्रमधर्मादयोऽपि गृह्यन्ते ॥४२॥

अनुवाद—कुलघ्न लोगोंके इन सारे वर्णसंकर बनानेवाले दोषोंसे सनातन वर्णधर्म, कुलधर्म, और उसके साथ आश्रमधर्म भी लुप्त हो जाते हैं ॥४२॥

[ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रजातिके शास्त्रविहित आचार ही जातिधर्म है, कुलके विशेष आचार, जो वंशपरम्परागत चले आ रहे हैं, कुलधर्म कहलाते हैं। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, और संन्यास, इन चारों आश्रमोंके लिए विहित कर्म आश्रमधर्म हैं]

आध्यात्मिक व्याख्या – इस वर्णसंकर बनानेके दोषसे जाति, कुल, धर्म सब चला जायगा।

—वस्तुतः संकरत्वसे जातीयता नष्ट हो जाती है। घोड़े और गधेसे खच्चर जातिके जानवर पैदा होते हैं, परन्तु वे न घोड़ा होते हैं और न गधा। एक एक जातिकी अपनी

विशेषता होती है। संकरत्वसे इस प्रकारका विशेषत्व नष्ट हो जाता है। अतएव जातिके स्थायित्वकी ओर देखने पर यह मंगलजनक नहीं। इससे उच्च वर्ण और उच्च वंशके लोग अपना-अपना विशेषत्व खोकर अधम बन जाते हैं। उच्च, नीचके साथ सम्मिलित होकर जीवनके उच्चभाव और लक्ष्यसे परिभ्रष्ट हो जाता है। इस बातपर आजकल लोग विश्वास नहीं करते हैं। दूषित आहारके फलस्वरूप, और स्वधर्मका अनुष्ठान न करनेके कारण आज सारा देश संकरत्वसे परिव्याप्त हो गया है। अतएव अन्तर्लक्ष्यकी बात छोड़ देनेपर भी अच्छी तरह यह समझमें आ सकता है कि समाजकी कल्याण-कामना करनेवाले विवेकशील अर्जुनके मनमें क्यों इस प्रकारके विचार उत्पन्न हुए थे। साधनाके राज्यमें भी संकरत्वके द्वारा विशेष हानि देखनेमें आती है। जैसे ज्ञान-प्राप्तिके लिए या भगवान्‌को पानेके लिए तो साधन प्रारम्भ किया और कुछ दूर आगे जाकर अन्तमें सामान्य विभूति प्राप्त कर वास्तविक लक्ष्यको भूल गये। जिसके लिए साधन प्रारम्भ किया था, वह न होकर कुछ और ही हो गया, भाव ही विकृत हो गया। इसके बाद जो विरोधीभाव उत्पन्न होते हैं वे सभी व्यभिचार-दोषसे दूषित हो जाते हैं, तथा समस्त जीवनको व्याप्त कर जन्मान्तरमें भी जीवको इस कुक्रियाका फल भोगाते हैं ॥४२॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन!) उत्सन्नकुलधर्माणां (जिनके कुलधर्मादि विनष्ट हो गये हैं) मनुष्याणां (उन मनुष्योंके) नियतं (नियत) नरके वासः (नरकमें वास) भवति (होता है) इति (ऐसा) अनुशुश्रुम (मैंने सुना है) ॥४३॥

श्रीधर—उत्सन्नेति। उत्सन्नाः कुलधर्मा येषामिति तेषाम्। उत्सन्नजातिधर्मा-दीनामप्युपलक्षणम्। अनुशुश्रुम श्रुतवन्तो वयम्। "प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेष्वभिरता नराः। अपश्चात्तापिनः पापा निरयान् यान्ति दारुणान्' इत्यादि वचनेभ्यः ॥४३॥

अनुवाद—हे जनार्दन! मैंने सुना है, जिसका कुलधर्म नष्ट हो गया, ऐसे मनुष्यको नियत रूपसे नरकमें वास करना पड़ता है। [जो लोग पापमें रत रहते हैं, वे यदि पापका प्रायश्चित्त नहीं करते, और पापके लिए पश्चात्ताप नहीं करते तो वे घोर नरकमें जाते हैं] ॥४३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कुलधर्मके नाशसे नरकमें नियत वास होगा।

—कुलधर्म शब्दसे हम जो समझते हैं, वह बाह्य कुलधर्म है। साधनमें जो योगी सदा अभ्यास-रत रहता है, उसके लिए आत्मामें स्थिरा स्थितिके सिवा दूसरा कोई धर्म नहीं। उनके द्वारा बाह्य धर्माचरण सदा ठीक तौरपर अनुष्ठित होना भी दुष्कर है। परन्तु यथार्थ कुलधर्मको न जाननेके कारण ही जीवको इस प्रकारकी आशङ्का होती है। साधन करते हुए उसके ही नशेमें मस्त रहनेसे संसारधर्म, जीवधर्म, लोकधर्म, सामाजिकधर्म—कुछ भी ठीक तौरसे नहीं होता। वे जान-बूझकर अश्रद्धासे

इनकी अवहेलना करते हों, ऐसी बात नहीं। वे जिस स्थितिमें होते हैं, उसमें इन सबका अनुष्ठान करते नहीं बनता। इसी कारण उनको दोष भी नहीं लगता। गीतामें ही लिखा है "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन"। कर्मका अनुष्ठान करने, न करनेसे ज्ञानी पुरुषको पुण्य या प्रत्यवाय कुछ भी नहीं होता। परन्तु जीवभावको ऐसा लगता है कि प्रचलित धर्म और व्यक्तिगत नाना प्रकारके कर्त्तव्य, इन्द्रियादिका दमन करके क्रियामें डूब कर बैठनेसे नहीं होंगे। उससे तो उन अनुष्ठानोंमें अधर्म आश्रय करेगा, अतएव बाबा! उस साधन-भजनसे क्या मतलब, जिससे सनातनसे आचरित प्रथा नष्ट हो जाती है। अर्जुनने जो कुलधर्म कहा वह बाह्य दृष्टिसे उसी प्रकारका ही है, परन्तु योगी लोग अपने अनुकूल कुलधर्मकी भी बात करते हैं।

गोमांसं भोजयेन्नित्यं पिबेत् चामरवारुणीम्।
स एव कुलीनं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥

गोमांसका अर्थ है जिह्वा, जो जिह्वाको तालुकुहरमें ले जा सकते हैं, उनको थोड़ी सी चेष्टा करनेपर भी वाक्-संयम हो जाता है। वाक्संयम होनेसे इच्छाका नाश होता है। और इस प्रकार मुनिभावापन्न साधक भूख-प्यासपर विजय प्राप्त करते हैं। वे तब अमर-वाञ्छित सुरा अर्थात् सहस्रदलकमलसे क्षरित् सुधाका आस्वाद पाकर अमृतत्वकी प्राप्तिके योग्य बन जाते हैं। वे ही वस्तुतः कुलीन या कुलसमन्वित हैं, अन्य सब लोग तो कुल-घातक हैं। योगीलोग मेरुदण्डमें स्थित सुषुम्नाको ही कुलवृक्ष कहते हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। यह कुलशक्ति या कुण्डलिनी मूलाधारमें सुषुम्नाके मुखको अवरुद्ध करके जड़के समान निश्चेष्ट बैठी है। प्राणायामके द्वारा नाड़ीचक्र विशुद्ध होनेपर सुषुम्नाका मुख खुल जाता है। और उसके भीतरसे प्राणवायु सहज ही आने जाने लगती है। जब प्राण सुषुम्नाके भीतर संचरित होने लगता है तो मनको स्थिरता प्राप्त होती है। मनकी इस निश्चल अवस्थाको योगी लोग 'उन्मनी' अवस्था कहते हैं।

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाड़ीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः॥
मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।

उपनिषद्में लिखा है- यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

जिस अवस्थामें पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मनके साथ अवस्थान करती हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ बहिर्विचरण न करके अन्तर्मुखी हो जाती हैं, और बुद्धिकी भी कोई विचेष्टा नहीं रहती, अर्थात् विषयादि ग्रहण या विषयचिन्तन नहीं रहता, योगी लोग उस अवस्थाको परमगति कहा करते हैं॥ ४३॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥

अन्वय—अहो बत ! (हाय !) वयं (हम) महत्पापं (महा पाप) कर्तुं (करनेके लिए) व्यवसिताः (उद्यत हो गये हैं), यत् (क्योंकि) राज्यसुखलोभेन (राज्य और सुखके लोभसे) स्वजनम् (आत्मीयजनोंको) हन्तुं (मारनेके लिए) उद्यताः (तैयार हुए हैं) ॥४४॥

श्रीधर—बन्धुवधाध्यवसायेन सन्तप्यमान आह—अहो बतेत्यादि । स्वजनं हन्तुमुद्यता इति यदेतन्महत्पापं कर्त्तुमध्यवसायं कृतवन्तो वयम् । अहो बत महत् कष्टमित्यर्थः ॥४४॥

अनुवाद—[बन्धु-वधके अध्यवसायमें सन्तप्त होकर अर्जुन कहते हैं] हाय ! हम महापाप करनेके लिए उद्यत हुए हैं । क्योंकि सामान्य राज्यसुखके लोभसे हम आत्मीयजनोंका विनाश करनेके लिए तैयार हुए हैं ॥४४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—राज्यसुखके लोभसे ऐसा महापाप करना उचित नहीं, स्वजन-बान्धवोंकी हत्या ।

—जीवभावमें ऐसा लगता है कि—यद्यपि साधन करनेसे विविध योगविभूतियाँ, स्थिरता, चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त होती है, यह ठीक है—परन्तु सारी इन्द्रियाँ, देहके सारे भोग, सारी पार्थिव सम्पत्ति देखता हूँ बीचमें ही मारी जायँगी । हमें क्रिया करनेकी आवश्यकता नहीं, योगकी मायामें पड़कर क्रियाओंको करते रहनेसे हमारे सब स्वजन—देह, इन्द्रियादि जिनको लेकर हमारा संसार और सुख है—सब ध्वंस प्राप्त हो जायँगे, यह तो अच्छी बात नहीं है । साधु और सद्गुरुके बतलाये हुए मार्गपर जानेकी आवश्यकता नहीं । उनके दिखलाये मार्गपर चलनेसे सुखके सारे द्वार बन्द हो जायँगे । गुरु महाराजको प्रणाम, अब मैं उस ओर भटकनेवाला नहीं । इन्द्रियभोगमें मुग्ध होकर ऐसी बुद्धि आ उपस्थित होती है ॥४४॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४५ ॥

अन्वय—यदि (यदि) शस्त्रपाणयः (शस्त्रधारी) धार्त्तराष्ट्राः (धृतराष्ट्रके पुत्र) अशस्त्रं (शस्त्रहीन) अप्रतीकारं (प्रतीकार न करते हुए) मां (मुझको) रणे (युद्धमें) हन्युः (मारें) तत् मे (तो मेरे लिए) क्षेमतरं (अधिकतर कल्याणप्रद) भवेत् (होगा) ॥४५॥

श्रीधर—एवं सन्तप्तः सन् मृत्युमेवाशंसमान आह—यदि मामित्यादि । अकृतप्रतीकारं तूष्णीमुपविष्टं मां यदि हनिष्यन्ति तर्हि तद्धननं मम क्षेमतरमत्यन्तं हितं भवेत् । पापानिष्पत्तेः ॥४५॥

अनुवाद—[इस प्रकार सन्तप्त होकर मृत्युको निश्चय समझ कर कहते हैं] यदि शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र प्रतीकार न करते हुए और शस्त्रहीन मुझको मारते हैं, तो मेरे लिए वह अधिकतर कल्याणजनक जान पड़ता है ।।४५।।

आध्यात्मिक व्याख्या—यद्यपि मैं शस्त्रहीन हूँ, और यदि मुझे शस्त्रके द्वारा मार भी डालें, तो वह भी मेरे लिए मङ्गल समझो।

—इन्द्रिय-धर्ममें अत्यन्त आसक्त जीवकी यह अन्तिम बात है। मनकी विविध वासनाओंकी दासता करनेमें ऐसी ही बात अच्छी लगती है। प्रवृत्तिपक्षके शस्त्र तो विविध प्रकारके लोभ, एवं विविध प्रकारके कामभाव हैं—मन जब इन सब भावोंमें मँज जाता है, तब इनके हाथों आत्मसमर्पण करना ही अच्छा मालूम पड़ता है। अध्यात्म-जीवन भले ही मर जाय। साधन करके थोड़ा बहुत जो प्राप्त हुआ है वह सब भले ही चला जाय, तथापि इन्द्रियसुखोंका त्याग नहीं किया जायगा। यही उस समय मुग्ध जीवको परम हितकर जान पड़ता है। सत्यपथमें चलनेके लिए जो एक-आध चेष्टाएँ की जाती थीं, उनको भी छोड़नेके लिए उद्यत हो जाता है। यही इन्द्रियासक्तिकी महिमा है ।।४५।।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४६।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे अर्जुन-विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।

अन्वय—सञ्जय उवाच (सञ्जय बोले)। अर्जुनः (अर्जुन) एवं (इस प्रकार) उक्त्वा (कह कर) संख्ये (युद्धक्षेत्रमें) सशरं चापं (शरसहित धनुषको) विसृज्य (त्यागकर) शोकसंविग्नमानसः [सन्] (शोकाकुलचित्त होकर) रथोपस्थे (रथके ऊपर) उपाविशत् (बैठ गये) ।।४६।।

श्रीधर—ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायां सञ्जय उवाच—एवमुक्त्वेत्यादि। संख्ये संग्रामे। रथोपस्थे रथस्योपरि। उपाविशत् उपविवेश। शोकेन संविग्नं प्रकम्पितं मानसं चित्तं यस्य स तथा ।।४६।।

अनुवाद—सञ्जयने कहा—अर्जुन इतनी बात कहकर युद्धक्षेत्रमें शरसहित धनुषका त्यागकर प्रकम्पित चित्तसे रथके ऊपर बैठ गये ।।४६।।

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार चिन्तासे शिथिल होकर शोकसे सम्यक् प्रकारसे उद्विग्नचित्त हो गये।

—मनके इस प्रकार उद्विग्न होने पर साधन नहीं किया जा सकता। उस समय मेरुदगड शिथिल हो जाता है। जिस उत्साह और बलके साथ साधन चल रहा था, मन विक्षिप्त और मेरुदगड शिथिल होने पर शर अर्थात् प्राणको ठीक मार्ग पर उस प्रकार चलाना संभव नहीं होता। यही शरसहित धनुषका त्याग है। क्रियामें अनिच्छा होना ही सर्वापेक्षा भारी सङ्कट और घोर व्याधि है। यह संकट उपस्थित होने पर यदि जड़से प्रतीकार न किया जाय तो उससे साधन चलाना कठिन हो जाता है। शोक तमोगुणका कार्य है, तमोगुणकी वृद्धिसे आलस्य, निद्रा, प्रमाद, शोक आदि तमोभाव चित्तको आवृत कर लेते हैं। तब साधक गुरु-कृपासे आत्मशक्ति प्रबुद्ध न होने के कारण अज्ञानके गंभीर अन्धकारमें डूब जाता है ॥४६॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिक-दीपिका नामक गीताके प्रथम अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

(सांख्ययोगः)

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अन्वय—सञ्जय उवाच (सञ्जयने कहा)। मधुसूदनः (मधुसूदन) तथा (इस प्रकार) कृपया आविष्टं (कृपाविष्ट) अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं (अश्रुपूर्ण आकुल नेत्र वाले) विषीदन्तं (विषादयुक्त) तं (उसको—अर्जुनको) इदं वाक्यं (यह वचन) उवाच (बोले) ॥ १ ॥

श्रीधर—द्वितीये शोकसन्तप्तमर्जुनं ब्रह्मविद्यया ।
प्रतिबोध्य हरिश्चक्रे स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् ॥
ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायां सञ्जय उवाच तं तथेत्यादि। अश्रुभिः पूर्णे आकुले ईक्षणे यस्य तम्। तथोक्तप्रकारेण विषीदन्तमर्जुनं प्रति मधुसूदन इदं वाक्यमुवाच ॥ १ ॥

अनुवाद—[द्वितीय अध्यायमें शोक-सन्तप्त अर्जुनको भगवान् ब्रह्मविद्या द्वारा प्रवुद्ध करनेके लिए स्थितप्रज्ञका लक्षण कह रहे हैं]—मधुसूदन इस प्रकार कृपाविष्ट, अश्रुपूर्ण आकुल नेत्रवाले विषाद-ग्रस्त अर्जुनसे यह बात बोले ॥ १ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दिव्यदृष्टि द्वारा अनुभव होने लगा—तब शरीरका तेज अपने ऊपर दया प्रकट कर मन ही मन अटकते हुए विवेचना करने लगा कि बहुत दिनोंके आत्मीय स्वजन इन्द्रियादि, जिनके द्वारा पूर्णतः अनेक सुख-भोग किये हैं, उनको मारूँगा ? इस कारण मन ही मन दुःखित होकर, नयनोंमें अश्रु भरकर, तथा दुःखसे जर्जर होकर इस प्रकार मायारूपी असुरका विनाश करनेवाले कूटस्थ ब्रह्मको मन ही मन अपना भाव प्रकट करने लगा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले) अर्जुन (हे अर्जुन !) विषमे (इस सङ्कट कालमें) कुतः (कहाँसे) इदं (यह) अनार्यजुष्टम् (अनार्य-

सेवित) अस्वर्ग्यम् (स्वर्गविरोधी) अकीर्त्तिकरं (कीर्तिनाशक) कश्मलं (मोह) त्वा (तुमको) समुपस्थितम् (प्राप्त हो गया) ॥ २ ॥

श्रीधर—तदेव वाक्यमाह—कुत इति । कुतो हेतोस्त्वा त्वां विषमे सङ्कटे इदं कश्मलं समुपस्थितम् अयं मोहः प्राप्तः । यत आर्य्यैरसेवितम् । अस्वर्ग्यम् अधर्म्यम् अयशस्करं च ॥ २ ॥

अनुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन! विषम संकट-कालमें यह अनार्यसेवित, अधर्मजनक और अयशकारक मोह कहाँसे तुमको प्राप्त हुआ ? ॥ २ ॥

आध्यात्मिक-व्याख्या – कूटस्थके द्वारा प्रकाश होता है—अन्य दिशामें आसक्ति-पूर्वक दृष्टि डालते हुए इस प्रकारका जो असाधारण पाप तुमको लग रहा है, वह ब्रह्ममें स्थित पुरुषका कर्म नहीं, और इसमें कोई सुख भी नहीं है। कूटस्थमें न रहनेके कारण जो हीनपद है, वह प्राप्त होगा।

—साधन करते-करते भी बहुधा चित्त विषयोंकी ओर दौड़ता है। ब्रह्मचिन्ता छोड़कर विषयकी चाहनासे मनका दौड़ना ही तो पाप है। और पाप चाहे जो हो, असल पाप यही है। उसका अर्थ यह है कि जो ब्रह्ममें लक्ष्यको स्थिर किये हुए हैं, उनके लिए दूसरी ओर दौड़ना असंभव है। जो ब्रह्ममें लक्ष्यको स्थिर नहीं रख सकते, उनके ही मनमें अनेक विकट चिन्ताएँ उठा करती हैं। तथापि इस प्रकारकी चिन्तासे जीवको सुख ही मिलता हो, ऐसी बात नहीं है; परन्तु पूर्वाभ्यासके वश वह चिन्ता किए बिना रह भी नहीं सकता। विषयोंमें भ्रमण करनेवाला चित्त कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता! चित्तकी समता ही अभय परमपद है। विषयाकृष्ट चित्त जब उस समताको खो देता है, तभी उसको लक्ष्य-भ्रष्ट या पथभ्रष्ट कहते हैं। यही त्रितापयुक्त हेय अवस्था है। इस अवस्थामें जो रहेगा वह क्रमशः हीन और मलिन हो जायगा ॥ २ ॥

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) क्लैब्यं (कातर भावको) मास्म गमः (प्राप्त न हो) एतत् (यह) त्वयि (तुममें) न उपपद्यते (शोभा नहीं देता); परन्तप (हे शत्रुतापन!) क्षुद्रं (तुच्छ) हृदयदौर्बल्यं (हृदयकी दुर्बलता अर्थात् मोह) त्यक्त्वा (त्याग कर) उत्तिष्ठ (युद्धार्थ खड़े हो जाओ) ॥ ३ ॥

श्रीधर—तस्मात्क्लैब्यमिति । हे पार्थ क्लैब्यं कातर्यं मास्म गमो न प्राप्नुहि । यतस्त्वय्येतन्नोपपद्यते योग्यं न भवति । क्षुद्रं तुच्छं हृदयदौर्बल्यं कातर्यं त्यक्त्वा युद्धायोत्तिष्ठ । हे परन्तप शत्रुतापन ॥ ३ ॥

अनुवाद—हे शत्रुतापन कौन्तेय! कायरताको प्राप्त न हो। इस प्रकारकी कायरता तुम्हारे जैसे वीरके लिए योग्य या शोभादायक नहीं है। अति क्षुद्र इस हृदय-दौर्बल्य (कायरता) का त्याग कर युद्धार्थ खड़े हो जाओ ॥ ३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—नपुंसकके समान न इधर न उधर, अर्थात् केवल संसारमें आवृत भी नहीं रहना,—क्योंकि बीच-बीचमें भगवच्चिन्ता अत्यन्त दुष्कर्मी भी करते हैं, और सदा आत्मामें भी नहीं रहना, क्योंकि बीच-बीचमें विषयोंकी ओर आसक्तिपूर्वक देखता है। यह तुम्हारे उपयुक्त कर्म नहीं, जो लोग तुच्छ हैं और जिनको कोई अच्छा काम करनेकी इच्छा नहीं होती, वे ही ऐसा करते हैं, अतएव इसका त्याग करो, त्याग करके ऊर्ध्वमें रहो, तुम इससे सदा कूटस्थमें रहोगे।

—मनोबलके अभावमें ही हम हवामें पड़े हुए पत्तेके समान कभी इधर और कभी उधर भटकते हैं। न तो विषयोंका भोग कर पाते हैं और न उनका त्याग कर सकते हैं। इसीलिए पहले विचारपूर्वक किसी कर्ममें प्रवृत्त होना पड़ता है, और यदि सत्पथको ग्रहण करना है तो उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ रखना ही ठीक है। नहीं तो जब विषय अच्छा नहीं लगा तो उसे छोड़कर भगवान्‌को खोजने लगे, और कुछ क्षणों या दिनोंके बाद मनको जब विषय पसन्द आया तो भगवान्‌को छोड़कर विषयकी ओर टूट पड़े, इस प्रकार दो नावों पर पैर रखने से दोनों ओर ही खोना पड़ता है। चिन्तनशील साधकको तो यह जानना ही चाहिए कि विषयोंका बारम्बार ध्यान करने पर मनमें विषय-भोगकी स्पृहा बढ़ेगी, और मन उधर दौड़ जायगा। अवश्य ही विषयमें जैसा स्वाद मिलता है, भगवान्‌में पहले पहल वैसा स्वाद नहीं मिलता, इसीलिए हम भगवान्‌के प्रति उतना आकृष्ट नहीं हो पाते। परन्तु विषय भोगके बाद जो क्लेश अनुभव होता है, उसका अनुभव कर विषयरत चित्तको सावधानीसे विषयोंसे खींचकर भगवान्‌की ओर लाना आवश्यक है। यह पहले अच्छा न लगेगा तथापि कटु औषधके समान सेव्य समझकर भगवत्-साधनामें बलपूर्वक चित्तको लगाना आवश्यक है। इस प्रकार कुछ दिन चेष्टा करते रहनेसे साधनामें रस मिलने लगेगा, तब विषय त्यागकर भगवत्-साधनामें आनेका कोई क्षोभ मनमें नहीं रह जायगा। बारम्बार विषयचिन्तन और विषय-भोग करके हमने हृदयको दुर्बल बना डाला है, परन्तु विषयोंके भोगसे कोई भला आदमी नहीं बनता। अतएव इनका त्याग कर साधना करनेके लिए अपनेको प्रस्तुत करना ही ठीक है। बलपूर्वक साधनाका अभ्यास करने पर प्राणवायु स्थिर होकर ऊर्ध्व अर्थात् मस्तकमें जा चढ़ेगा, तब इससे बढ़कर अच्छी वस्तु और कुछ न जान पड़ेगी। तुम परन्तप हो, अर्थात् कामादि मनोवेगको विषयोंसे किस प्रकार निवृत्त किया जाता है, तुम अच्छी तरह जानते हो, फिर इस रोने-गानेमें समय काटनेसे क्या लाभ? ॥३॥

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)—अरिसूदन मधुसूदन (हे शत्रुविमर्दन मधुसूदन!) अहं (मैं) संख्ये (युद्धमें) पूजार्हौ (पूजाके योग्य) भीष्मं

द्रोणं च (भीष्म और द्रोणके साथ) इषुभिः (बाणोंके द्वारा) कथं (किस प्रकार) प्रतियोत्स्यामि (प्रतियुद्ध करूँगा) ? ॥४॥

श्रीधर—नाहं कातरत्वेन युद्धादुपरतोऽस्मि। किन्तु युद्धस्यान्याय्यत्वादधर्मत्वाच्च—अर्जुन उवाच कथमिति। भीष्मद्रोणौ पूजार्हौ पूजायोग्यौ। तौ प्रति कथमहं योत्स्यामि। तत्रापीषुभिः। यत्र वाचापि योत्स्यामीति वक्तुमनुचितं तत्र बाणैः कथं योत्स्यामीत्यर्थः। हे अरिसूदन शत्रुविमर्दन ॥४॥

अनुवाद—[मैं कातर होकर युद्धसे उपरत नहीं हो रहा हूँ। परन्तु युद्धका अन्याय और अधर्म देखकर निवृत्त हो रहा हूँ।] अर्जुन बोले—हे अरिसूदन मधुसूदन, पूजाके योग्य जिन भीष्म और द्रोणके साथ वाग्युद्ध करना भी अनुचित है, उनके साथ बाणोंके द्वारा किस प्रकार प्रतियुद्ध करूँगा यानी उनके विरुद्ध कैसे लड़ूँगा ? ॥ ४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरका तेज कह रहा है—अपने आप किस प्रकारसे, चिरकालके इस भयको, कि योग करनेसे मनुष्य मारा जाता है, तथा पिता पितामह जो करते आ रहे हैं वही एक रास्ता है, उसे छोड़कर (कैसे) रह सकते हैं; जिनको बराबर मान्य समझते आ रहे हैं। परन्तु तुम वास्तविक इन्द्रियादि शत्रुओंके नाशक हो।

—चिरकालसे चले हुए मार्ग पर चलना ही जीवका स्वभाव है। अब साधन-भजन करनेके समय, उन नियमोंमें कुछ न कुछ व्यतिक्रम करना पड़ता है। परन्तु इसके लिए जीव सहज ही राजी नहीं होता। चिरकाल तक दूसरेके लिखे अनुसार घोटना पड़े, ऐसी बात तो नहीं है। परन्तु पहले घोटना ही पड़ता है, पश्चात् कुछ हाथमें कर लेनेके बाद अभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं होती। तब वह अपने आप चलता रहता है, और वह स्वच्छन्द गति पूर्व अभ्यस्त विषयोंका विपरीत भाव भी नहीं होता, परन्तु मनमें लगता है कि चिरकालसे चले हुए मार्ग को छोड़कर चलना पड़ेगा। कूटस्थके दर्शनसे अन्तःशत्रुका पराजय होता है अर्थात् उस समय काम-क्रोध आदिका वेग नहीं रहता। अतएव अर्जुनका परन्तप नाम सार्थक है ॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामाँस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

अन्वय—हि (क्योंकि) महानुभावान् गुरून् (महानुभाव गुरुजनोंको) अहत्वा (न मारकर) इह (इस लोकमें) भैक्ष्यम् अपि (भिक्षान्न भी) भोक्तुं (खाना) श्रेयः (उचित या कल्याणकर है), तु (परन्तु) गुरून् हत्वा (गुरुजनोंको मारकर) इह एव (इसलोकमें ही) रुधिरप्रदिग्धान् (रक्तसे लिपे हुए) अर्थकामान् (अर्थ और विषयोंको) भुञ्जीय (मैं भोगूँगा) ॥५॥

श्रीधर—तर्हि तानहत्वा तव देहयात्रापि न स्यादिति चेत् ? तत्राह— गुरूनिति। गुरून् द्रोणाचार्यादीन्। अहत्वा परलोकविरुद्धं गुरुवधमकृत्वेह लोके भिक्षान्नमपि भोक्तुं श्रेय उचितम्। विपद्दे तु न केवलं परत्र दुःखम्। किन्त्विहैव च नरकदुःखमनुभवेयमित्याह— हत्वेति। गुरून् हत्वेहैव रुधिरेण प्रदिग्धान् प्रकर्षेण लिप्तानर्थकामात्मकान् भोगानहं भुञ्जीयाश्नीयाम्। यद्वा—अर्थकामानिति गुरूणां विशेषणम्। अर्थतृष्णाकुलत्वादेते तावद् युद्धान्न निवर्तेरन्। तस्मादेतद्वधः प्रसज्येतैवेत्यर्थः। तथा च युधिष्ठिरं प्रति भीष्मेणोक्तम्— अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥ इति (महा०, भीष्मपर्व)॥ ५॥

अनुवाद—[यदि उनको न मारकर देह-यात्रा अचल हो तथापि] महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर संसारमें भिक्षान्न खाकर जीना भी कल्याणकर है। [परलोकमें इसके लिए दुःख भोगना पड़ेगा, इस पर ध्यान न भी दें तो] इनको मारने पर इस लोकमें ही उनके रुधिरसे लिप्त अर्थ-कामसम्बन्धी भोगोंको भोगना पड़ेगा॥५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिनको अच्छा समझता आ रहा हूँ, उनको मार डालना—किसी भावी सुखके उदयके निमित्त मेरे विचारसे उचित कर्म नहीं है।

—क्रिया करने पर यथार्थ शान्ति मिलेगी या नहीं, यह निश्चय पूर्वक ज्ञात नहीं है। अतएव क्रियाजनित फल अनिश्चित है। तथापि अनिश्चित फलकी आशासे, जिनसे सुख मिल रहा है, उन इन्द्रियोंको मार डालना मेरे विचारसे अच्छा नहीं। भय और दुराग्रह ही तो संसारके गुरुस्थानीय हैं, क्योंकि इनके ही मतसे सब लोग सांसारिक कर्त्तव्योंका पालन करते हैं, परन्तु साधनके क्षेत्रमें मान, लज्जा, भय, ये तीनों नहीं रहने चाहिये, क्योंकि लज्जा, भय आदिके रहते साधन नहीं हो सकता॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः॥६॥

अन्वय—यद्वा (चाहे) जयेम (हम जीतें), यदि वा (अथवा) नः (हमको) जयेयुः (वे जीतें) कतरत् (इन दोनोंमें कौन सा) नः (हमारे लिए) गरीयः (अधिक श्रेय है) एतत् च न विद्मः (यह भी मैं नहीं जानता)। यान् एव (जिनको) हत्वा (मार कर) न जिजीविषामः (हम जीना नहीं चाहते) ते (वे) धार्तराष्ट्राः (धृतराष्ट्रके पुत्र) प्रमुखे (सम्मुख) अवस्थिताः (अवस्थित हैं)॥६॥

श्रीधर—किञ्च यद्यधर्ममङ्गीकरिष्यामस्तथापि किमस्माकं जयः पराजयो वा गरीयान् भवेदिति न ज्ञायत इत्याह—न चैतदित्यादि। एतयोर्मध्ये नोऽस्माकं कतरत् किं नाम गरीयोऽधिकतरं भविष्यतीति न विद्मः। तदेव द्वयं दर्शयति—यद्वेति। यद्वै तान् वयं

जयेम जेष्यामः। यदि वा नोऽस्मानेते जयेयुः जेष्यन्तीति। किञ्चास्माकं जयोऽपि फलतः पराजय एवेत्याह—यानिति। यानेव हत्वा जीवितुं नेच्छामस्त एवैते सम्मुखेऽवस्थिताः॥ ६॥

अनुवाद—[परन्तु यदि अधर्म पर उतारू हो जायँ, तो भी युद्धमें जय अच्छा है या पराजय—यह समझमें नहीं आता, इसे ही कहते हैं] हम जीत जायँ या वे हमको जीतें, इन दोनोंमें कौनसा अधिक श्रेय है, यह मैं नहीं समझ पाता, [फलतः यदि हम जीत जायँ, तो वह भी पराजय ही समझी जायगी, क्योंकि] जिनको मार कर हम जीना नहीं चाहते, वे धृतराष्ट्रके पुत्र और उनके पक्षके लोग हमारे सामने खड़े हैं॥ ६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जय और पराजय दोनोंमें ही कल्याण नहीं देखता हूँ, सब सामने जी रहे हैं, उनको मार कर मैं जीनेकी इच्छा नहीं करता। धार्तराष्ट्राः अर्थात् इन्द्रियाँ (१० इन्द्रियाँ १० दिशाओंमें दौड़ती हुई, १० × १० = १०० पुत्र, रूपक-व्याख्या देखिए)।

—जयमें कल्याण नहीं है, यह पूर्व श्लोकमें ही कहा जा चुका है, अब कह रहे हैं कि पराजयमें भी कल्याण नहीं है। पराजयमें कल्याण नहीं है, यह समझ लेना भी शुभ लक्षण है। क्योंकि मन एकबारगी निवृत्ति-पक्षको छोड़नेके लिए लगता भी नहीं। तथापि मन यह भी प्रकट करता है कि सारी मनोवृत्तियोंको मारकर मैं जीना नहीं चाहता। कारण यह है कि इस समय मनकी विविध वृत्तियोंमें, मानों मैं अपनेको वर्तमान पाता हूँ। मनोवृत्तियोंका अवरोध होनेपर भी 'मैं'-का वाचक 'अहं या आत्मा' बचा रहता है, यह विषय-भोग-लम्पट मन किसी प्रकार भी धारणा नहीं कर पाता। विषयोंके न रहनेपर मनके साथ आत्मा भी नहीं रहेगा—यही उसकी धारणा है, परन्तु यह कैसी भ्रामक धारणा है, इसे समाधिसिद्ध साधक भलीभाँति समझते हैं॥ ६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

अन्वय—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (कृपणताके दोषसे अर्थात् इनको मारकर कैसे जीऊँगा, इस प्रकारकी चिन्तासे अभिभूत-स्वभाव) धर्मसंमूढचेताः (धर्मके विषयमें विमूढचित्त) [अतएव] त्वां (तुमको) पृच्छामि (पूछता हूँ) यत् (जो) श्रेयः स्यात् (कल्याणकारक हो) तत् (वह) मे (मुझे) निश्चितं (निश्चय करके) ब्रूहि (बोलो) अहं (मैं) ते (तुम्हारा) शिष्यः (शिष्य हूँ) त्वां प्रपन्नम् (तुम्हारे शरणागत हूँ) मां (मुझको) शाधि (उपदेश दो)॥ ७॥

श्रीधर—तस्मात्—कार्पण्येत्यादि। एतान् हत्वा कथं जीविष्याम इति कार्पण्यं दोषश्च कुलक्षयकृतः। ताभ्यामुपहतोऽभिभूतः स्वभावः शौर्यादिलक्षणो यस्य सोऽहं त्वां पृच्छामि। तथा धर्मे संमूढं चेतो यस्य सः। युद्धं त्यक्त्वा भिक्षाटनमपि क्षत्रियस्य धर्मोऽधर्मो वेति सन्दिग्धचित्तः सन्नित्यर्थः। अतो मे यन्निश्चितं श्रेयः स्यात्तद् ब्रूहि। किञ्च तेऽहं शिष्यः शासनार्हः। अतस्त्वां प्रपन्नं शरणं गतं मां शाधि शिक्षय॥ ७॥

अनुवाद—इनको मारकर कैसे जीऊँगा, यह कार्पण्य अर्थात् कायरता और कुलक्षयजनित दोषकी चिन्ता—इन दोनों दुश्चिन्ताओंसे मेरा स्वाभाविक शौर्य प्रतिहत हो गया है। और युद्धका त्यागकर भिक्षान्न खाना क्षत्रियके लिए धर्म है या अधर्म—इस प्रकार धर्मके विषय में भी (क्या कर्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है) सन्दिग्ध-चित्त हो रहा हूँ! इसी कारण तुमसे पूछता हूँ, मेरे लिए जो यथार्थ कल्याणप्रद हो, वही मुझको निश्चयपूर्वक बोलो। मैं तुम्हारा शिष्य और शरणागत हूँ, तुम मुझको उपदेश दो॥ ७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं बड़ा कृपण हूँ, क्योंकि सब कर्मोंके फलकी आकांक्षा करता हूँ। किसीको भी फलके उद्देश्यके बिना एक पैसा भी नहीं देता, अतएव फलकी आकांक्षा-स्वरूप अन्य दृष्टिमें मन होनेके कारण अपने अर्थात् आत्मामें भाव यानी स्थितिको नष्ट कर चुका हूँ, अतएव धर्म क्या है—यह नहीं जान पाता हूँ; इसीसे पूछता हूँ—सम्यक् प्रकार मूर्खके समान—मूर्ख इस कारण कि चित्में मनको स्थिर नहीं रख पाता हूँ; इनमें जो अच्छा अर्थात् इन्द्रियोंमें रहना या दमन करना, जो अच्छा हो वह बत-लाइये अर्थात् अनुभव करा दीजिए, क्योंकि मैं शिष्य हूँ अर्थात् सर्वदा ही क्रिया करता हूँ और आपके चरण अर्थात् क्रियामें ही पड़ा हूँ।

—जीवाभिमानवश अर्जुन अब तक यही कह रहे थे कि उनको क्या अच्छा लगता है, क्या अच्छा नहीं लगता। यद्यपि अपनेको जीव भूल नहीं सकता, इसी कारण स्पर्द्धा प्रकट करता है परन्तु जब उसमें भी आर-पार नहीं दीख पड़ता तब अनन्योपाय होकर गुरुके शरणागत होता है। गुरुमें आत्मसमर्पण किए बिना कुछ समझमें नहीं आता। इसी कारण शास्त्र कहते हैं—'यथा देवे तथा गुरौ' गुरुको प्रत्यक्ष देवता माने बिना ज्ञानकी स्फुरणा कदापि नहीं हो सकती। अर्जुन जब अपने दैन्यको हृदयङ्गम करने लगा तो वह चतुर्दिक् अन्धकार देख कर आकुल हो उठा, और उसको कहना पड़ा कि वह शिष्य है अर्थात् वह अपने अभिमान या ख्यालके वशीभूत होकर नहीं चलेगा। इस प्रकार लाखों जन्म जिसने काटे हैं, वह जीव संकटमें पड़ा है, इसी कारण उसे कहना पड़ रहा है—"हे प्रभु, अब मैं अपनी इच्छासे कुछ न करूँगा, अबसे तुम जो कुछ कहोगे वही करूँगा, तुम्हारे द्वारा शासित हूँगा।" जब तक गुरुके शासनको वरण नहीं करोगे, तब तक जगद्गुरुकी कृपाका आकर्षण नहीं कर सकते। परन्तु ब्रह्मविद्याके ज्ञाता पुरुष तब तक ब्रह्म-विद्याका उपदेश नहीं करेंगे, जब तक शिष्य बनकर जिज्ञासा न करो। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'—यही शास्त्रसम्मत नियम है। अर्जुनने 'श्रेयः'

उपदेशकी प्रार्थना की। श्रेय दो प्रकारका होता है। जो भोग्य वस्तु प्रदान करके जीवको सुख उत्पन्न करता है वह भी श्रेय है, परन्तु वह आत्यन्तिक श्रेय नहीं है, परम श्रेय वह है जो जीवको निजधाममें प्रवेशका मार्ग दिखा देता है। जो कभी नष्ट होनेवाला नहीं है। अर्जुन उसी मोक्षप्रदायक कल्याणके लिए प्रार्थी होकर गुरुके सन्निधानमें समुपस्थित है। गुरु भी तब—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥

(प्र० मुण्डक, द्वि० खण्ड)

उस विद्वान् ने ब्रह्मविद् गुरुके समीपमें आये हुए (अर्थात् शरणागत), सम्यक् प्रशान्त-चित्त (अर्थात् जिसका चित्त विषयके लिए व्याकुल नहीं), गुरु और शास्त्रके वचनमें श्रद्धावान्, तथा 'शमान्विताय' अर्थात् मनःसंयममें और बाह्य इन्द्रियोंके दमनमें समर्थ, तस्मै—उस मुमुक्षु शिष्यको, येन—जिस ब्रह्मविद्या (अन्तर्मुखी साधना) द्वारा, सत्यम् अक्षरं पुरुषं—नित्य अविनाशी और हृदयपुरमें चैतन्यरूपसे प्रकाशित परमात्माको, वेद—जाना जाता है, तत्त्वतः—यथावत् अर्थात् उन-उन अनुष्ठान और साधनकौशलादि उपायोंके साथ, तां ब्रह्मविद्यां—उस ब्रह्मविद्याको, प्रोवाच—शरणागत शिष्यको विशेष रूपसे कहा। अर्जुन जो ज्ञानलाभ करेंगे, उसकी यह मूल आधारशिला हुई ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

अन्वय—भूमौ (पृथ्वीमें) असपत्नम् (निष्कण्टक) ऋद्धं (समृद्ध) राज्यं (राज्यको), सुराणामपि च (और देवताओंके भी) आधिपत्यं (आधिपत्यको) अवाप्य (प्राप्त करके भी) यत् (जो) मम (मेरी) इन्द्रियाणां (इन्द्रियोंके) उच्छोषणं (शोषणकर्ता) शोकं (शोकको) अपनुद्यात् (अपनोदन या निवारण करे) न हि प्रपश्यामि (ऐसा उपाय मैं नहीं देखता हूँ) ॥८॥

श्रीधर—त्वमेव विचार्य यत् युक्तं तत् कुर्विति चेत्। तत्राह—न हि प्रपश्यामीति। इन्द्रियाणामुच्छोषणमतिशोषणकरं मदीयं शोकं यत् कर्मापनुद्यादपनयेत् तदहं न प्रपश्यामीति। यद्यपि भूमौ निष्कण्टकं समृद्धं राज्यं प्राप्स्यामि तथा सुरेन्द्रत्वमपि यदि प्राप्स्याम्येवमभीष्टं तत्तत् सर्वमवाप्यापि शोकापनोदनोपायं न प्रपश्यामीत्यन्वयः ॥८॥

अनुवाद—[यदि कहते हो कि तुम्हीं विचार कर के जो उचित हो उसे करो— तो इसका उत्तर देते हैं] पृथिवीमें निष्कण्टक समृद्ध राज्य अथवा देवताओंका आधिपत्य प्राप्त होनेपर भी, मेरी इन्द्रियोंका शोषण करनेवाले शोकको दूर करनेका कोई उपाय नहीं देखता हूँ।

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं समस्त विषयोंसे आसक्तिरहित होकर भी पहले पहल कुछ कल्याणका अनुभव नहीं कर पाता हूँ।

—क्रिया करनेसे योगैश्वर्यकी प्राप्ति होगी, तथा मूलाधार-ग्रन्थिपर विजय प्राप्त कर सकनेसे सिद्धि, अर्थात् विषयासक्तिसे रहित अवस्था भी प्राप्त हो सकती है, परन्तु इससे इन्द्रियोंके आराम अथवा बाह्य सुखसे वञ्चित होना पड़ेगा। तब फिर सुख क्या मिला? जब तक प्रकृत अवस्थाकी प्राप्ति नहीं होती, जीव कल्पनाके द्वारा इस सुखका अनुभव नहीं कर सकता ॥८॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

अन्वय—सञ्जय उवाच (सञ्जय बोले)। परन्तपः (शत्रुसन्तापन) गुडाकेशः (जितनिद्र अर्जुन) हृषीकेशं (सर्वेन्द्रिय-प्रवर्तक अर्थात् अन्तर्यामी) गोविन्दं (गोविन्दको) एवम् उक्त्वा (इस प्रकार कहकर) न योत्स्ये (युद्ध नहीं करूँगा) इति (यह) उक्त्वा (कहकर) तूष्णीं बभूव (चुप हो गये) ॥९॥

श्रीधर—एवमुक्त्वार्जुनः किं कृतवानित्यपेक्षायां—सञ्जय उवाच। एवमित्यादि ॥९॥

अनुवाद—सञ्जय बोले—शत्रुओंको सन्तप्त तथा निद्राको वशीभूत करनेवाला अर्जुन हृषीकेश गोविन्दसे इतना कहकर—'न योत्स्ये' मैं युद्ध नहीं करूँगा, यह कहता हुआ चुप हो गये ॥९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दिव्यदृष्टि द्वारा अनुभव हो रहा है—शरीरका तेज कूटस्थको इस प्रकार भाव प्रकट कर, कि 'क्रिया नहीं करूँगा' कहता हुआ बैठ गया।

—सब शिष्योंके लिए यह दुरवस्था आती है, जब वे डाँड़-पतवार छोड़कर बैठ जाना चाहते हैं। 'न योत्स्ये' यह तो एकस्वरमें हम सभी कहते हैं। परन्तु गुरु पतवारको नहीं छोड़ते। वह अन्तर्यामी गोविन्द हमारी सारी इन्द्रियोंके प्रकाशक हैं। हमको क्या करना है यह उनकी इच्छाके अधीन है, परन्तु दर्पान्वित चित्त श्रीगुरुदेवके स्वाधिकारको पहले पहल कहाँ मानना चाहता है? ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अन्वय—भारत (हे धृतराष्ट्र !) हृषीकेशः (सर्वेन्द्रियनियामक श्रीकृष्ण) प्रहसन् इव (प्रसन्न मुखसे हँसते-हँसते) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) विषीदन्तं (विषादग्रस्त) तं (उस अर्जुनको) इदं वचः (यह वचन) उवाच (बोले) ॥ १० ॥

श्रीधर—ततः किं वृत्तमित्याह—तमुवाचेति । प्रहसन्निवेति प्रसन्नमुखः सन्नित्यर्थः ॥ १० ॥

अनुवाद—हे भारत धृतराष्ट्र ! हृषीकेश प्रसन्न मुखसे हँसते-हँसते दोनों सेनाओंके बीच विषादग्रस्त अर्जुनसे यह वचन बोले—॥ १० ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थने उल्लासपूर्वक कहा—क्रिया करनेके पहले जब करूँ या न करूँ—इन दोनों दलोंके बीचमें दोनों जने थे ।

—ऐसी अवस्थामें जीव तब कहाँ खड़ा होगा ? दोनों दलोंके मध्यमें न ? अर्थात् क्रिया करूँ या न करूँ ? जो जीव कहता है क्रिया करूँगा, वही कहता है क्रिया नहीं करूँगा । शरीरका तेज न हो तो इन दोनोंमेंसे कोई बात कहते न बनेगी । और इन दोनों भावों या दलोंमें एक जने और खड़े हैं । वह हैं निरन्तर जागरूक, अन्तर्यामी, सर्वेश्वर आत्मा । वह सदा ही प्रसन्न दृष्टिसे जीवका मुँह ताका करते हैं । नहीं तो यह भवबन्धन क्या कभी कट सकता था ? कुछ परिश्रम-पूर्वक साधना करनेसे जीवका भवबन्धन छूट जाता है, परन्तु जीव कदापि साधना न करेगा । जीवको इतना दर्प है, उसके भाव इतने मोहाभिभूत हैं ! इससे क्या जीवके चिरसखा भगवान् रुष्ट हो गये या विरक्ति प्रकाश करने लगे ?—नहीं । उन्होंने ऐसा नहीं किया । अथवा उसको भवबन्धनमें इस प्रकार आनन्दित देखकर उसकी बुद्धिकी विकलताको सोचकर क्या उसकी हँसी उड़ाने लगे ?—उन्होंने यह भी नहीं किया । वह जीवके भीतर निवास करते हैं । अतएव उस समय भी जीवके ऊपर वह प्रसन्न दृष्टिपात करके उसके कल्याणके लिए उसके अन्तःकरणको जागृत करनेकी चेष्टा करने लगे । वह इतने दयालु हैं, इसी कारण भक्त उनको करुणासिन्धु कहा करते हैं ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले) । त्वं (तुम) अशोच्यान् (अशोच्य लोगोंके लिए) अन्वशोचः (शोक करते हो) च (और) प्रज्ञावादान् (पण्डितोंके समान बातें) भाषसे (बोलते हो) । पण्डिताः (पण्डित लोग) गतासून् (विगतप्राण) अगतासून् च (और जीवित लोगोंके लिए) न अनुशोचन्ति (शोक नहीं करते) ॥ ११ ॥

श्रीधर—देहात्मनोरविवेकादस्यैवं शोको भवतीति तद्विवेकप्रदर्शनार्थं—श्रीभगवानुवाच—अशोच्यानित्यादि। शोकस्याविषयीभूतानेव बन्धूँस्त्वमन्वशोचोऽनुशोचितवानसि—दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्णेत्यादिना। अत्र कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितमित्यादिना मया बोधितोऽपि पुनश्च प्रज्ञावतां पण्डितानां वादाञ्छब्दान् कथं भीष्ममहं संख्ये—इत्यादीन् केवलं भाषसे। न तु पण्डितोऽसि। यतः पण्डिता विवेकिनो गतासून् गतप्राणान् बन्धून् अगतासूंश्च जीवतोऽपि बन्धुहीना एते कथं जीविष्यन्तीति—नानुशोचन्ति ॥ ११ ॥

अनुवाद—[देहात्मबोधरूपी अविवेकके कारण ही जीवको शोक होता है, अतएव अर्जुनके आत्मज्ञानको जागृत करनेके लिए, भगवान् 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' आदि कहकर अर्जुनमें विवेक उत्पन्न करनेके लिए उपदेश देते हैं]—बन्धुवर्ग जो शोकके विषय नहीं हैं, उनके लिए 'दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण' कहकर शोक करते हो और प्रज्ञावान्के समान बातें भी बोलते हो। परन्तु तुम पण्डित नहीं हो। क्योंकि पण्डित लोग अशोच्य (जो शोकके विषय नहीं हैं उन) के लिए शोक नहीं करते। 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं' कहकर प्रबोधित करनेपर भी, तुम 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि कहकर मानो यह भाव दिखला रहे हो कि तुम कितने बड़े पण्डित हो। परन्तु प्रकृत पण्डित अर्थात् विवेकी पुरुष 'गतासु' अर्थात् निर्गतप्राण बन्धुगण तथा 'अगतासु' अर्थात् जीवित बन्धुगण किसीके लिए भी शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो विषय शोक करने योग्य नहीं है, उसके लिए शोक करना उचित नहीं है, यही प्राज्ञ लोगोंने कहा है। जो गत हो गया है उसके विषयमें पण्डित लोग अनुशोचना नहीं करते, समदर्शी लोग भी ऐसा नहीं करते।

—पण्डितोंकी बातें कण्ठस्थ करके सबको कहते फिरनेसे ही कोई पण्डित नहीं हो जाता। पण्डित होना बहुत कठिन है। समदर्शी हुए बिना कोई पण्डित नहीं हो सकता। समदर्शी कौन हो सकता है? साधनाके द्वारा जिसमें प्रकृत विवेक उत्पन्न हो गया है, वही समदर्शी है। इडा-पिङ्गलामें जब तक श्वास चल रहा है, तब तक प्रकृत ज्ञान प्रलापमात्र है। साधनकी सहायतासे जब श्वास सुषुम्नामें बहने लगेगा, तब शुद्ध सत्त्वभावका उदय होगा और तभी प्रज्ञा उत्पन्न होगी। हम जो कभी-कभी ज्ञानीके समान बातें करते हैं, वह सामयिक सत्त्वकी स्फुरणाके कारण होता है, पर वह स्थायीरूपसे नहीं रहता। और बहुधा जो हम ज्ञानकी बातें बघारते हैं, वह केवल कपटाचारमात्र है, क्योंकि कार्यकालमें उससे विपरीत ही भाव देखनेमें आता है। केवल मन ही मन 'सब एक है, यह सब कुछ नहीं' ऐसी कल्पना करनेसे काम न चलेगा। ज्ञानदृष्टि बिल्कुल भिन्न वस्तु है। समाधिसागरमें डूबने पर जब एकमात्र ब्रह्मसत्ताकी अनुभूति होती है, तब बुद्धिमें वर्तमान सहस्रों भेद तिरोहित हो जाते हैं। जब सब कुछ चला जाता है, कुछ रहता नहीं, तब फिर शोकका स्थान ही कहाँ है? यह सारा जगत् ब्रह्मासे लेकर स्तम्भ पर्यन्त सब ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण है। दूसरी वस्तुके रूपमें या भावके रूपमें न दिखलाई देकर जब केवल स्थिरतामें आनन्द चलता रहता है, तभी सत्य ज्ञान होता है। उस अवस्थामें मृत

था जीवित नामसे कुछ नहीं रह सकता। अनन्त विक्षुब्ध तरङ्गें जिस प्रकार महा प्रशान्त सागरमें विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार कार्य-कारणमय जगत् उस महाशून्य या महास्थिरतामें डूबकर एक हो जाता है। वहाँ रहकर प्राज्ञ पुरुष जगत्में यह शुभ संवाद लाये हैं कि, हे जीव! तुम अजर, अमर और शाश्वत हो, तुम क्यों शोक करोगे? भलीभाँति देख लो कौन था और वह कहाँ गया? तरङ्गें समुद्रमें ही थीं, और समुद्रमें ही विलीन हो गयीं। फिर 'वह नहीं है' कहकर क्यों शोकसे मोहित हो रहे हो? तुम भी जिस प्रकार नित्य विद्यमान हो, उसी प्रकार सब हैं। 'तुम', 'मैं', 'यह' 'वह'—ये सब केवल सामयिक उपाधिमात्र हैं। सोनेका हार चूर चूर होने पर भी जैसे सोना ही रहता है, उसी प्रकार 'तुम मैं' आदि सैकड़ों भेद आत्माकी उपाधिमात्र हैं, इनके न रहने पर भी आत्मा ही रहेगा। 'तुम' और 'मैं' के नष्ट होने पर भी, जिस सत्तामें सत्तावान् होकर 'तुम' 'मैं' सागरमें बुद्बुदके समान फूट उठते हैं, वह कभी नष्ट होनेवाली वस्तु नहीं है। अतएव विवेकदृष्टि युक्त बनो, क्रिया करके प्राणको स्थिर करो, इससे इन सारे असंख्य तरङ्गोंको देखकर फिर विस्मित नहीं होना पड़ेगा ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

अन्वय—अहं (मैं) जातु (कदाचित्) न आसम् (नहीं था) [इति] तु न (यह बात नहीं है); त्वं न (तुम नहीं थे), इमे जनाधिपाः (ये राजा) न (नहीं थे) [इति] न (यह बात भी नहीं है)। अतः परं (इसके बाद) सर्वे वयं (हम सब) न भविष्यामः (न रहेंगे) [इति] न च एव (यह बात भी नहीं है) ॥१२॥

श्रीधर—अशोच्यत्वे हेतुमाह न त्वेवाहमिति। यथाहं परमेश्वरो जातु कदाचित् लीलाविग्रहस्याविर्भावतिरोभावतो नासमिति तु नैव। अपि त्वासमेव। अनादित्वात्। न च त्वं नासीर्नाभूः। अपि त्वासीरेव। इमे वा जनाधिपा नृपा नासन्निति न। अपि त्वासन्नेव मदंशत्वात्। तथाऽतः परमित उपर्यपि भविष्यामो न स्थास्याम इति च नैव। अपि त्वेवं स्थास्याम एवेति। जन्ममरणशून्यत्वादशोच्या इत्यर्थः ॥१२॥

अनुवाद—(अशोच्यत्वका कारण कह रहे हैं)—मैं परमेश्वर हूँ, अपने ही लीला-विग्रहके आविर्भाव और तिरोभावके कारणरूपमें मैं पहले कभी नहीं था, ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार तुम भी नहीं थे, ऐसा भी नहीं है। ये सारे राजा नहीं थे, यह भी नहीं है। क्योंकि तुम सभी मेरे अंश हो। इसके बाद देहनाश होनेपर हम सब नहीं रहेंगे, यह भी नहीं है। अतएव जन्ममरणसे रहित होनेके कारण हम सभी नित्य हैं, अतएव अशोच्य हैं ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—न तुम्हारा जन्म-नाश है, न हमारा जन्म-नाश है अर्थात् कूटस्थ जैसेका तैसा रहता है, क्योंकि वह नित्य है। प्रकृत तत्त्व वही है और वही ब्रह्मस्वरूप है, उसका जन्म-मृत्यु नहीं है। अतएव इन सब राजाओं (इन्द्रियादि) को देख रहे हो, ये भी जन्म-मृत्यु रहित ब्रह्म हैं। जो देख रहे हो वह वैसा नहीं है, यह केवल जलके

बुद्‌बुदके समान है। जल जिस प्रकार ब्रह्म है, बुद्‌बुद भी उस जलका ही एक भिन्न विकार है, वायुके गुणके कारण हुआ है। इसी प्रकार सब आदमियोंको जानो। कुछ है नहीं। इसके बाद जो कुछ वस्तु है वही ब्रह्म है।

—मनुष्यका नाम-रूप अनित्य है, परन्तु जिस वस्तुका यह नाम-रूप है वह नित्य सत्य है, उसका नाश कैसे होगा? स्वर्णवलयका वलयत्व तो कुछ है नहीं, स्वर्ण ही असल वस्तु है, वलयके नष्ट-भ्रष्ट होने पर भी वह रह जाता है। इसी प्रकार जीव या वस्तुमात्रका नाम-रूप, जो कुछ भी नहीं है, उसको बाद देनेपर जो सत्तामात्र अवशिष्ट रहता है, वह अविनाशी है। इस अविनाशी सत्तामें डूबकर उसके साथ एक हो सकनेपर वस्तुतः ही हमारी जन्म-मृत्यु नहीं है। शङ्कराचार्य कहते हैं—"अतीतेषु देहोत्पत्तिविनाशेषु घटादिषु वियदिव नित्य एवाहमासमित्यभिप्रायः" अर्थात्—घटादिकी उत्पत्ति और विनाशसे जिस प्रकार आकाशकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, क्योंकि आकाश नित्य है, उसी प्रकार देहकी उत्पत्ति और विनाश होनेपर भी हम सब आत्मस्वरूप होनेके कारण सदा ही वर्तमान रहेंगे। इसके द्वारा भगवान्‌ने यह दिखलाया कि आत्मा इस देहधारणके पूर्व कूटस्थरूपमें अन्य शरीरमें वर्तमान था, और इस समय है तथा आगे भी रहेगा। अतएव जो तीनों कालोंमें विद्यमान है, उसके लिए फिर क्या चिन्ता? शरीरकी ओर देखनेसे भी जान पड़ता है कि सब स्थूल देहकी प्राप्तिके पहले सूक्ष्म देहमें रहते हैं, और इस देहके नाशके पश्चात् सूक्ष्म देहसे लोक-लोकान्तरमें वर्तमान रहते हैं। प्रिय वस्तुके चले जानेके कारण ही मन शोकाभिभूत होता है। परन्तु विचार करके देखनेपर शोकका स्थान नहीं। इसी कारण अशोच्य विषयके लिए अर्जुनको शोक करते देखकर भगवान्‌ने दिखला दिया है कि उसकी विचारहीनता कहाँ है। पूर्व और पर श्लोकमें यह समझाया कि बतलाओ तो मरता कौन है। तुम और मैं क्या पहले नहीं थे? अथवा ये सारे युद्धार्थी आत्मीयजन क्या पहले नहीं थे? जैसे हम सब पूर्वमें थे, वैसे ही आगे भी रहेंगे। किसकी मृत्युकी चिन्ता करके शोक करते हो! जिसको तुमने मृत्यु समझ रक्खा है, वह तो देहका परिवर्तनमात्र है। देहका परिवर्तन तो देहके रहते ही अनेक बार होता है, जिस प्रकार बाल्यकालसे किशोर, किशोरसे युवा देह, उसके बाद वार्द्धक्य, जरा आदि देहके परिवर्तनमात्र हैं, उसी प्रकार जिसको मृत्यु कहते हो वह भी देहका परिवर्तन मात्र है, और कुछ नहीं। जब तुम देह नहीं हो तो देहान्तरप्राप्तिके भयसे इतना व्याकुल क्यों हो रहे हो? देहके परिवर्तनमें कुछ कष्ट होता है, यह सत्य है, पर वह कष्ट क्यों होता है, जानते हो? यह बात भगवान् आगे कहेंगे ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

अन्वय—देहिनः (देहीका) अस्मिन् देहे (इस देहमें) यथा (जिस प्रकार) कौमारं यौवनं जरा (कुमार, युवा तथा वृद्धावस्था) [होती है] तथा (उसी प्रकार)

देहान्तरप्राप्तिः (देहत्यागके पश्चात् अन्य देहकी प्राप्ति होती है) तत्र (उसमें) धीरः (धीर पुरुष) न मुह्यति (मोहको प्राप्त नहीं होते) ॥१३॥

श्रीधर—नन्वीश्वरस्य तव जन्मादिशून्यत्वं सत्यमेव। जीवानान्तु जन्ममरणे प्रसिद्धे। तत्राह—देहिन इत्यादि। देहिनो देहाभिमानिनो जीवस्य यथाऽस्मिन् स्थूलदेहे कौमाराद्यवस्थास्तद्देहनिबन्धना एव। न तु स्वतः। पूर्वावस्थानाशेऽवस्थान्तरोत्पत्तावपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञानात्। तथैवैतद्देहनाशे देहान्तरप्राप्तिरपि लिङ्गदेहनिबन्धनैव। न तावदात्मनो नाशः, जातमात्रस्य पूर्वसंस्कारेण स्तनपानादौ प्रवृत्तिदर्शनात्। अतो धीरो धीमांस्तत्र तयोर्देहनाशोत्पत्त्योर्न मुह्यति। आत्मैव मृतो जातश्चेति न मन्यते ॥१३॥

अनुवाद—[तुम ईश्वर हो, तुम्हारा जन्म-मरण नहीं, यह बात ठीक है। परन्तु जीवका जन्म-मरण तो अति प्रसिद्ध है। इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं] देहाभिमानी जीवकी स्थूलदेहमें कौमार, यौवन और जरा, ये तीन अवस्थाएँ देखी जाती हैं। वे स्थूल देहके कारण होती हैं, स्वतःसिद्ध नहीं हैं। क्योंकि पूर्व अवस्थाके नाशके बाद जब अवस्थान्तरकी प्राप्ति होती है, तब यह अवस्थाएँ हमारी (देहीकी) ही हैं, यह प्रत्यभिज्ञा नष्ट नहीं होती। अर्थात् जो 'मैं' कौमारमें था, वही 'मैं' यौवनमें रहा, और वही 'मैं' वार्द्धक्यमें हूँ—किसी भी अवस्थामें 'मैं' ज्ञानका व्यभिचार नहीं दीखता। परन्तु ये सभी स्थूल देहके कारण अवस्थाका परिवर्तनमात्र है। उसमें 'मैं' का कुछ परिवर्तन नहीं होता। 'मैं' ज्योंका त्यों रहता है। इसी प्रकार देहनाशके बाद देहान्तरप्राप्ति भी लिङ्गदेहके कारण हुआ करती है। उसमें आत्माका नाश नहीं होता। कारण यह है कि पूर्वसंस्कार-वश प्राणिमात्रमें उत्पन्न होते ही स्तनपान आदिकी प्रवृत्ति देखी जाती है। पूर्वाभ्यासके बिना यह संस्कार स्वतः उदय नहीं हो सकता। इसके द्वारा जातकके पूर्वजन्मका संस्कार तथा अभ्यास सूचित होता है। इसी कारण बुद्धिमान् पुरुष देहके नाश और उत्पत्तिसे मुग्ध नहीं होते। आत्मा जन्मता और मरता है—यह वे नहीं मानते ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—देही तो कूटस्थ ब्रह्म है। जो कूटस्थ ब्रह्म है, वह वही रहता है। देह कौमार, यौवन और जरा अवस्थाको प्राप्त होती है। जिस प्रकार जलबिम्बकी प्रथम अवस्था, मध्यावस्था और अन्तिम अवस्थामें नाश है। उस जलस्वरूप ब्रह्ममें बुद्धिसे जो स्थिर रहते हैं, वे इस विकारको देखकर मोहित नहीं होते।

—जिन्होंने स्थिरत्व प्राप्त किया है, वे इस विकारको देखकर भी नहीं देखते। जो कूटस्थ हो गये हैं, उनमें देहात्मबोध नहीं रहता। फिर उस अवस्थामें उन्हें देहके विकार जन्म-जरा मरण आदि कैसे मुग्ध कर सकते हैं ? जलबिम्ब (बुद्बुद) जलमें ही फूटा, क्षण भरके लिए रहकर वह जलका जल हो गया। तब सब एकमय हो गया। जब पृथक् किसी वस्तुका अनुभव ही नहीं हो रहा है तो मरेगा कौन और जियेगा कौन ? "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।" यह आत्मारूपी देवता सब प्राणियोंमें परिव्याप्त है, सब भूतोंमें वही एक अन्तरात्मा है। अतएव जन्म-मरण

आदिका भय तभी होता है, जब स्थूल देहादिमें आसक्ति होती है। गम्भीर ध्यानावस्थामें जब मन स्थूल देहसे हट जाता है, तब स्थूल देह है या नहीं—यह बोध नहीं होता। आत्माकार वृत्तिमें जिनकी स्मृति भी लुप्त हो जाती है, उनको बाह्य अवस्थामें स्मृति होनेपर भी विचारके द्वारा उसमें निरभिमान होना पड़ेगा। इस प्रकार अभिमानशून्य होनेपर देहबन्धन उनको नहीं जकड़ सकेगा। परन्तु मूढ़ आदमी इस बातको नहीं समझ सकता। धीमान् पुरुष जिसका मन बुद्धि-तत्त्वमें प्रतिष्ठित है, उसके लिए यह समझना, कठिन नहीं है। आत्मा जब अविच्छिन्न है तो उसमें नानात्वकी कल्पना करना ही मूढ़ता है। परन्तु यह मूढ़ता बातसे नहीं जा सकती। प्राणके स्थिर होनेपर मन स्थिर होगा और मनके स्थिर होनेपर बुद्धि स्थिर होगी, तभी यह आत्मज्ञान, सूर्यके स्वाभाविक प्रकाशके समान प्रकाशित हो उठेगा। यह आत्मज्ञान-सम्पन्न पुरुष आत्माको जात या मृत रूपमें नहीं मान सकते। अतएव उनको शोक नहीं होता। क्या बाल्यावस्थाके बीत जानेपर यौवनावस्थामें हम बाल्यावस्थाके लिए शोक करते हैं? ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्रः) मात्रास्पर्शाः (इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संयोग) तु (किन्तु) शीतोष्णसुखदुःखदाः (शीतोष्णादि सुख-दुःख प्रदान करनेवाले) आगमापायिनः (उत्पत्तिविनाशशील हैं) [अतएव] अनित्याः (अनित्य हैं अर्थात् चिरकाल तक रहनेवाले नहीं), भारत (हे भारत!) तान् (उन सारे अनित्य भावों-को) तितिक्षस्व (सहन करो) ॥१४॥

श्रीधर—ननु तानहं न शोचामि। किन्तु तद्वियोगादिदुःखभाजं मामेवेति चेत्? तत्राह—मात्रास्पर्शा इति। मीयन्ते ज्ञायन्ते विषया आभिरिति मात्रा इन्द्रियवृत्तयः। तासां स्पर्शा विषयैः सह सम्बन्धाः। ते शीतोष्णादिप्रदा भवन्ति। ते त्वागमापायवत्त्वादनित्या अस्थिराः। अतस्तांस्तितिक्षस्व सहस्व। यथा जलातपादिसंसर्गास्तत्तत्कालकृताः स्वभावतः शीतोष्णादि प्रयच्छन्ति। एवमिष्टसंयोगवियोगा अपि सुखदुःखादि प्रयच्छन्ति। तेषां चास्थिरत्वात् सहनं तव धीरस्योचितं न तु तन्निमित्तहर्षविषादपारवश्यमित्यर्थः ॥१४॥

अनुवाद—[मैं उनकी मृत्युके लिए तो शोक नहीं करता, परन्तु उनके वियोगादिजनित दुःखका भोग तो अवश्य करना पड़ेगा?—इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—जिनके द्वारा विषयज्ञान होता है उनको मात्रा अर्थात् इन्द्रियवृत्ति कहते हैं। उनके स्पर्श अर्थात् इन्द्रियोंके साथ विषयका सम्बन्ध ही शीतोष्णादिप्रद है अर्थात् सुख-दुःखादि बोधका कारण है। परन्तु ये सम्बन्ध आगमापायी हैं अर्थात् उत्पत्तिविनाशशील हैं, अतएव अनित्य हैं, चिरकाल तक नहीं ठहरेंगे। अतएव इनको सहन करो। जैसे जल या आतपका संसर्ग केवल उसी कालमें शीतोष्णादि प्रदान करता है, उसी प्रकार इष्टवस्तुका संयोग-वियोग भी उस उस कालमें ही

सुखदुःखादिका कारण बनता है। ये सारे सुख-दुःखादि जब अस्थिर हैं अर्थात् चिरकाल तक नहीं रहेंगे, तब तुम्हारे जैसे धीर पुरुषके लिए इनको सहन करना ही ठीक है। हर्ष-विषाद आदिके वशीभूत होना ठीक नहीं है। [जान लो कि 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।' जो आदिमें नहीं था और अन्तमें भी नहीं रहेगा, उसका वर्तमानमें भी होना सिद्ध नहीं होता] ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पञ्चतन्मात्र शरीर अर्थात् क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम; मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपुर, अनाहत, विशुद्धाख्य; अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु। स्पर्श अर्थात् वायुके द्वारा इनका अनुभव और स्थिति तथा प्रलय। इसके परे कूटस्थ ब्रह्म आज्ञाचक्र है—जहाँ वायुके स्थिर होनेपर अमात्र, शब्दरहित, बिन्दु, नाद, कला तथा उससे भी परेका ज्ञान हो सकता है, उसका ही वेदादिशास्त्र वर्णन करते हैं। वहाँ एक प्रकारका आनन्द है, जिसे परमानन्द कहते हैं। उसमें मत्त होकर मस्ती आती है। अतएव मात्रास्पर्शसे वर्जित होनेपर ही सुख-दुःखरहित तथा मात्रास्पर्शके रहनेपर ही सुख-दुःख सहित—उस स्पर्शके द्वारा ही अनुभव होता है, इसे लक्ष्य करो (तितिक्षु—देखो)।

—साधक कूटस्थ (आज्ञाचक्र) में वायु स्थिर करनेसे ही पञ्चतत्त्वोंसे अतीत हो सकता है। उस समय मन स्वस्थान अर्थात् आज्ञाचक्रमें स्थिर हो जायगा और उसमें फिर सङ्कल्प-विकल्प नहीं उठेंगे। तब मन 'अमन' हो जायगा। यह अमनीभाव ही आत्मभाव है, इसके विपरीत होता है संसार। श्रुति कहती है—"कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एवेति"—बृह० उप०। कामना, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय—यह सब मन ही है। अर्थात् मनमें ही ये सब होते हैं। उस मनके 'अमन' होनेपर ये सब नहीं रहते, और यदि सुखदुःखादिका स्पर्श न हुआ तो फिर इनका बोध होगा कैसे? इस पञ्चतन्मात्र शरीरादिमें ही जन्म, स्थिति और प्रलयका अनुभव होता है। जो लोग साधनाके द्वारा आज्ञाचक्रमें स्थिति प्राप्त करते हैं वे बिन्दुनादकलासे परे जाकर परमानन्द-स्वरूप हो जाते हैं। अतएव उनको इन्द्रियादिजनित सुख-दुःखभाव स्पर्श नहीं कर सकते ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

अन्वय—पुरुषर्षभ (हे पुरुषश्रेष्ठ!) एते (ये शीतोष्णादि) यं समदुःखसुखं धीरं पुरुषं (जिस दुःख और सुखमें समभाव धीर पुरुषको) न व्यथयन्ति (व्यथित नहीं करते) सः हि (वही) अमृतत्वाय (अमृतप्राप्तिके लिए) कल्पते (समर्थ होता है) ॥१५॥

श्रीधर—तत्प्रतीकारप्रयत्नादपि तत्सहनमेवोचितं महाफलत्वादित्याह—यं हीत्यादि। एते मात्रास्पर्शा यं पुरुषं न व्यथयन्ति नाभिभवन्ति। समे दुःखसुखे यस्य स तम् सः तैरविक्षिप्यमाणो धर्मज्ञानद्वाराऽमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते योग्यो भवति ॥१५॥

अनुवाद—[उनके प्रतीकारके प्रयत्नकी अपेक्षा शीतोष्णादिको सहन करना ही ठीक है। इससे महाफलकी प्राप्ति होती है—इसी उद्देश्यसे कहते हैं]—यह मात्रास्पर्श (इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संयोग होनेपर जो सुखदु:खादि उत्पन्न होते हैं) जिस पुरुषको अभिभूत नहीं कर सकते, वह सुख-दु:खमें समभाव धीर पुरुष इनके सहयोगसे विक्षिप्तचित्त न होकर धर्मज्ञानके द्वारा मोक्षप्राप्तिकी क्षमता प्राप्त करता है। [(१) कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पायु, पाद और उपस्थ) (२) ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, चक्षु, नासिका, जिह्वा और त्वक्) (३) अन्त:करण (मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार) (४) प्राण (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान) (५) भूत (क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम) (६) काम (७) कर्म (८) तम या अविद्या—इन अष्ट पुरोंमें जो निवास करता है, वही पुरुष है। "स वा अयं पुरुष: सर्वासु पूर्षु पुरिशय:"—बृहदारण्यक)। यह आत्मा शरीरादिरूपी पुरमें निवास करनेके कारण 'पुरुष' संज्ञाको प्राप्त हुआ है] ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो ऋषि अर्थात् उत्तम पुरुष ब्रह्म हैं, वह सबके परे हैं। वायु वहाँ स्थिर है। जिसकी वायु स्थिर हो गयी है अर्थात् देह मृत है, उसमें कोई व्यथा नहीं होती। उसी प्रकार कूटस्थमें भी कोई व्यथा नहीं है। जिस प्रकार मृतदेहमें सुख-दु:ख नहीं होता, स्थिर पड़ा रहता है, वैसे ही कूटस्थमें सुख-दु:ख नहीं, वह स्थिर है! अथच अमर है! इस पदको जो प्राप्त करते हैं वे देवता कहलाते हैं। इसी कारण देवता अमर हैं। जिनका तृतीय चक्षु अर्थात् दिव्य चक्षु कूटस्थमें लय हो गया है, वे ही जीवन्मुक्त हैं। सुतरां यह शरीरी अमर है।

—देहमें आत्मबोध रहनेपर सुख-दु:खादिका अनुभव भी अनिवार्य है। परन्तु जो चैतन्य देहातीत है, वही उत्तम पुरुष है और वह देहातीतसे पृथक् है। मृतदेहमें जिस प्रकार व्यथा नहीं होती, उसी प्रकार कूटस्थमें भी कोई व्यथा नहीं होती। वायुकी चञ्चलावस्थासे नाना प्रकारकी सुख-दु:खमयी अवस्थाओंका अनुभव होता है, वायुके स्थिर होनेपर ये अनुभूत नहीं होते। साधनके द्वारा यह स्थिरत्वपद प्राप्त किया जाता है। परन्तु यह स्थिरत्वभाव पत्थरके समान जड़ नहीं हैं, इसमें चैतन्य है, पर इस चेतनभावमें सुखदु:खका उदय नहीं होता। यही अमृतपद परमानन्द-स्वरूप है। तुम्हारी आत्माका स्वरूप भी ठीक ऐसा ही है। तुम आत्मामें नहीं रहते, इसी कारण मनका चाञ्चल्य-विक्षेप तुम्हारे ज्ञानको घेरे रहता है। तुम अपने आपको देख नहीं पाते। तुम्हारा 'मैं' जब आत्मामें रमण करेगा, तब तुम्हारा जगत् भ्रम और उसके साथ सुख-दु:खका बोध छूट जायगा। तब तुम मात्रास्पर्शबोधसे रहित होकर सुख-दु:खके परे हो जाओगे। साधनके द्वारा इसे समझनेकी चेष्टा करो। ये जगदादि दृश्य आत्मामें नहीं रहते। तुम अज्ञानमें मग्न रहते हो, इसी कारण इनका बोधमात्र होता है। यथार्थमें ये नहीं हैं ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि: ॥ १६ ॥

अन्वय—असतः (असत् पदार्थका) भावः (उत्पत्ति या अस्तित्व) न विद्यते (नहीं है) सतः (सत् पदार्थका) अभावः (नाश) न विद्यते (नहीं है), तत्त्वदर्शिभिः तु (परन्तु तत्त्वदर्शी लोगोंने) अनयोः उभयोः अपि (इन दोनों ही का) अन्तः (स्वरूप) दृष्टः (देखा है) ॥ १६ ॥

श्रीधर—ननु तथापि शीतोष्णादिकं अतिदुःसहं कथं सोढव्यम् ? अत्यन्तं तत्सहने च कदाचिदात्मनो नाशः स्यादित्याशङ्क्य तत्त्वविचारतः सर्वं सोढुं शक्यमित्याशयेनाह—नासतो विद्यत इति। असतोऽनात्मधर्मत्वादविद्यमानस्य शीतोष्णादेरात्मनि भावः सत्ता न विद्यते। तथा सतः सत्स्वभावस्यात्मनोऽभावो नाशो न विद्यते। एवमुभयोः सदसतोरन्तो निर्णयो दृष्टः। कैः ? तत्त्वदर्शिभिः वस्तुयाथार्थ्यवेदिभिः। एवं भूतविवेकेन सहस्वेत्यर्थः ॥ १६ ॥

अनुवाद—[आपकी बात मान भी लें, तथापि दुःसह शीतोष्णादि कैसे सहे जायँगे ? अत्यन्त सहनमें तो आत्मनाश होता है—इस शंकाका निवारण करते हुए भगवान् कहते हैं कि तत्त्वविचारके द्वारा इनको सभी सहन कर सकते हैं]—असत् अनात्म-धर्म है, अतएव अविद्यमान है। शीतोष्णादि भी इसी प्रकार असत् पदार्थ हैं, अतएव इनकी सत्ता या अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार सद्वस्तु आत्माका अभाव या नाश नहीं है। इस प्रकार सत् और असत्का अन्त देखा गया है। किसने देखा है ?—जो तत्त्वदर्शी पुरुष हैं। इस प्रकार आत्म-अनात्म-विवेकके द्वारा इन सबको सहन करो ॥ १६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो ॐकाररूप शरीरमें प्रच्छर्दन-विधारण नहीं करता, वह स्व-भावरूप स्थिर पदको नहीं जान पाता। जिसका यह भाव नहीं है वह अपने शरीरमें नहीं रहता, अतएव घरके बाहर जानेपर ही क्लेश है (देखते ही हो), इन दोनोंके परे जो अवस्था है, उसकी तो कोई बात ही नहीं है—तत्त्वातीत होकर मनुष्य परमतत्त्वदर्शी या ब्रह्मज्ञ बनता है।

—["ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० उप०)। यह सारा जगत् आत्ममय है, आत्मा ही सत्यस्वरूप है। हे श्वेतकेतो ! वही सत्स्वरूप आत्मा तुम हो]—यदि सभी आत्मा है तो जगत्-प्रपञ्च इतना भिन्न-भिन्न क्यों बोध होता है ? इस भिन्नत्वका कारण ईश्वरीय माया है। मायाके द्वारा ही ये सारे दृश्य देश-कालादि द्वारा परिच्छिन्न बोध होते हैं। मन-बुद्धि न रहें तो देश-काल आदिका अस्तित्व न रहेगा और उसके साथ-साथ नाम-रूप भी मिट जायगा। अन्तः-करणका प्रवाह रुद्ध होनेपर देशकालका ज्ञान नहीं होता, परन्तु स्वयंप्रकाश आत्म-शक्तिको वह विलुप्त नहीं कर सकता। बल्कि अन्तःकरणका प्रवाह जब तक रहता है, तब तक आत्माका पृथक् अस्तित्व समझमें नहीं आता। अन्तःकरणके प्रवाहके निरुद्ध होनेपर ही वह स्वयं प्रकाशित होता है। आत्मस्वरूपका ज्ञान तभी परिस्फुट जान पड़ेगा जब मन, बुद्धि, अहङ्कार कुछ भी नहीं रहेगा। अतएव जगद्-बोध भी न होगा। लौकिक दृष्टिसे जगत्का सत्यरूपमें बोध होनेपर भी युक्ति द्वारा

समझते समय नहीं जान पड़ता कि यह सत् है या असत्, इसलिए इसको अनिर्वचनीय भी कहते हैं। परन्तु ज्ञानदृष्टिसम्पन्न योगीके सामने यह निश्चयपूर्वक जान पड़ता है कि जगत्के अस्तित्वका जो बोध होता है, वह निराधार है। छान्दोग्य श्रुति कहती है—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"—हे सौम्य ! दृश्यमान् जगत्-प्रपञ्च उत्पत्तिके पूर्व सत्स्वरूपमें ही विद्यमान था, वह सद्वस्तु एक और अद्वितीय है। यदि सद्वस्तु एक और अद्वितीय है तो जगत् आता कहाँ से है ? अतएव जगत्का अस्तित्व रज्जुमें सर्प-बोधके समान भ्रमज्ञान है। जिस प्रकार सत्यज्ञानका उदय होनेपर भ्रमज्ञान विलुप्त हो जाता है, उसी प्रकार एक अखण्ड आत्मसत्ताका बोध होनेपर यह नानात्वज्ञानरूपी जगद्-भ्रम विलीन हो जाता है। गुणमयी बुद्धि भी इस सत्स्वरूपकी धारणा नहीं कर सकती। क्योंकि बुद्धि देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न है। केवल एकमात्र आत्मा ही देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है। इसी कारण क्रियाकी परावस्थामें जब प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सब लुप्त हो जाते हैं, तब आत्माके स्वरूपका ज्ञान शुद्ध बुद्धिमें आभासित होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि असद्वस्तुका अस्तित्व नहीं है। क्योंकि वह त्रिकालमें विद्यमान नहीं, और जब परावस्थामें सारी वस्तुओंका अभाव हो जाता है, तब भी सत्तामात्र सद्वस्तुका अभाव नहीं होता। अतएव जो क्रिया नहीं करते, वे आत्मभावरूपी स्थिर पदको नहीं जान सकते। इसी कारण उनका जगद्-भ्रम कभी नहीं मिटता। अतएव इसके लिए एकमात्र चित्तवृत्तिनिरोधकी ही आवश्यकता है। प्राणायामके अभ्यासके द्वारा ही चित्तवृत्तिकी निरोधावस्था प्राप्त होगी। "चले वाते चलच्चित्तं निश्चले निश्चलो भवेत्"। योगदर्शनमें लिखा है—'प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।' प्राणके प्रच्छर्दन-विधारण अर्थात् खींचने और फेंकनेका अभ्यास करनेसे अपने आप ही स्थिरता आयेगी। यह स्थिरत्वपद पाकर जीव तत्त्वातीत हो जाता है। तत्त्वातीत पुरुष ही ब्रह्मज्ञ हो सकता है ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अन्वय—येन (जिसके द्वारा) इदं सर्वं (यह सब) ततं (व्याप्त है) तत् तु (उसको ही) अविनाशी (विनाशरहित) विद्धि (जानो)। अस्य अव्ययस्य (इस अव्यय अर्थात् उत्पत्ति-नाशहीन सद्वस्तुका) कश्चित् (कोई) विनाशं कर्तुं (विनाश करनेमें) न अर्हति (समर्थ नहीं होता) ॥ १७ ॥

श्रीधर—तत्र सत्स्वभावं अविनाशि वस्तु सामान्येनोक्तं विशेषतो दर्शयति—अविनाशि त्विति। येन सर्वमिदमागमापायधर्मकं देहादि ततं तत्साक्षित्वेन व्याप्तम्। तत्तु आत्मस्वरूपमविनाशि विनाशशून्यं विद्धि जानीहि। अत्र हेतुमाह —विनाशमिति ॥ १७ ॥

अनुवाद—[सद्वस्तु अविनाशी है, इसे साधारणतः कहकर अब विशेष रूपसे कहते हैं]। देहादि सब कुछ आगमापायी हैं, इन आगमापायी धर्मवाली वस्तुओंमें

जो साक्षीरूपसे व्याप्त है, उस आत्माको स्वरूपतः अविनाशी जानो। क्योंकि क्षय-वृद्धिहीन सद्वस्तुका कोई विनाश नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तत्—यानी कूटस्थ। वह अविनाशी है, उसका नाश करनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं, क्योंकि वह सर्वव्यापी है। कौन किसका नाश करेगा, जिसके द्वारा यह समुदाय संसार है।

—आत्मा सर्वव्यापी है, अतएव यह 'सर्व' अन्यवस्तुनिर्देशक नहीं है। यह जो नाम-रूपमय पृथक् पृथक् वस्तुएँ दीख पड़ती हैं, वह पृथक् नहीं हैं—वह आत्मा ही हैं। 'सर्व' में अन्य कोई सत्ता नहीं है। एक आत्मसत्ता ही नानारूपमें, सबमें स्फुरित हो रही है—जैसे समुद्रमें असंख्य तरंगें दिखलाई देनेपर भी तरङ्गसमूह समुद्रके साथ एकाकारमें ही अवस्थित है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि जगत्-प्रपञ्च सत्का ही स्फुरण है, तथा प्रपञ्चका नाश भी देखा जाता है, ऐसी स्थितिमें 'सद्वस्तु भी नाशशील नहीं है,' इसका प्रमाण क्या है? इसीको भलीभाँति समझानेके लिए इस श्लोकमें कहते हैं—"अविनाशि तु तद्विद्धि।" सुषुप्तिकालमें आत्मामें द्वैत-प्रपञ्च नहीं दीखता। अतएव उस समय आत्मस्फुरण न रहनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय आत्मा नहीं रहता। क्योंकि साक्षीस्वरूप आत्माके न रहनेपर 'मैं सुषुप्तिमें था'—इस ज्ञानका स्मरण जाग्रत अवस्थामें होना संभव नहीं था। सुषुप्तिके पहले 'मैं था' जाग्रत होकर वही 'मैं हूँ'—यह समझना भी संभव नहीं होता। अतएव उत्पत्ति और विनाश आत्माके धर्म नहीं हो सकते। जो आत्मा है, वह सत्य और नित्य है तथा अविनाशी है ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अन्वय—नित्यस्य (नित्य) अनाशिनः (अविनाशी) अप्रमेयस्य (अप्रमेय) शरीरिणः (देही अथवा आत्माके) इमे देहाः (ये सारे शरीर) अन्तवन्तः (मरणधर्मशील) उक्ताः (कहे गये हैं) तस्मात् (इस कारणसे) भारत (हे भारत !) युध्यस्व (युद्ध करो) ॥ १८ ॥

श्रीधर—आगमापायधर्मकं सन्दर्शयति—अन्तवन्त इति। अन्तो नाशो विद्यते येषां ते अन्तवन्तः। नित्यस्य सर्वदैकरूपस्य शरीरिणः शरीरवतः। अतएवानाशिनो विनाशरहितस्य। अप्रमेयस्यापरिच्छिन्नस्यात्मनः। इमे सुखदुःखादिधर्मका देहा उक्तास्तत्त्वदर्शिभिः। यस्मादेवात्मनो न विनाशः। न च सुख-दुःखादि-सम्बन्धः। तस्मान्मोहजं शोकं त्यक्त्वा युध्यस्व। स्वधर्मं मा त्याक्षीरित्यर्थः ॥ १८ ॥

अनुवाद—[देहादिका 'आगमापाय' धर्म दिखलाते हैं]—नित्य अर्थात् सदा एकरूप, अविनाशी और अप्रमेय अर्थात् देश, काल और वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न आत्माके सुख-दुःखादि-धर्मविशिष्ट सारे शरीरोंको तत्त्वदर्शी लोग नश्वर कहते हैं। अतएव हे भारत ! जब आत्माका नाश नहीं है तथा सुख-दुःखसम्बन्ध भी

नहीं है, तो तुम मोहजनित शोकको त्यागकर युद्ध करो, स्वधर्मका त्याग न करो। [श्रीमत्शङ्कराचार्य अपने भाष्यमें कहते हैं—'यस्मादेवं नित्योऽविक्रियश्चात्मा तस्माद् युध्यस्व युद्धादुपरमं मा कार्षीरित्यर्थः। न ह्यत्र युद्धकर्त्तव्यता विधीयते। युद्ध प्रवृत्त एव ह्यसौ शोकमोहप्रतिबद्धस्तूष्णीमास्ते। अतस्तस्य कर्त्तव्यप्रतिबन्धापनयनमात्रं भगवता क्रियते। तस्माद्युध्यस्वेत्यनुवादमात्रं न विधिः।' जब आत्मा नित्य और अविक्रिय है, तब तुम अपने धर्मसे स्खलित क्यों होते हो—अतएव युद्ध करो—यह अर्जुनसे कहा। इसके द्वारा युद्धकी कर्त्तव्यताका विधान नहीं किया गया। अर्जुन तो युद्धमें प्रवृत्त होकर ही युद्धक्षेत्रमें आये थे। शोक और मोहके वश होकर तूष्णीम्भावका अवलम्बन किया था। अतएव भगवान् केवल अर्जुनके कर्त्तव्यके प्रतिबन्धको दूर कर रहे हैं। इसलिए 'युध्यस्व' यह वाक्य विधिवाक्यके रूपमें नहीं कहा गया है, इसमें उनके पूर्व आरम्भ किये हुए कार्यका अनुवादमात्र किया गया है]॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरका नाश उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार बुद्बुदका नाश। जब तक हवा रहेगी तब तक स्थिति है, बादको नाश। परन्तु जलस्वरूप ब्रह्मका नाश नहीं। क्योंकि वह अविनाशी है, और उसकी तुलना भी नहीं है। ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी वस्तु होती, तब तो तुलना होती? उसके लिए तुम्हारा कर्म—क्रिया करना है, सो किये जाओ।

—शरीरका नाश हो जायगा, इसी भयसे तो तुम क्रिया करना नहीं चाहते, परन्तु क्या यह शरीर चिरकाल तक रहेगा? यह शरीर तो बुद्बुद है, जलमें वायु प्रवेश कर गया है। वायुके बाहर निकलते ही यह शरीर न रहेगा। तो क्या शरीरका नाश होनेपर हमें मुक्ति मिल जायगी? यदि ऐसा है तब तो हमें मुक्तिकी प्रतीक्षामें पड़े रहना ही ठीक होगा, व्यर्थ ही साधनादि करनेसे क्या लाभ? इसीलिए भगवान्‌ने 'इमे देहाः'—इस बहुवचनात्मक पदका प्रयोग किया है। हमारे जो तीन शरीर और पञ्च कोष हैं, वह सब देहके अन्तर्गत हैं। अन्नमय कोष या स्थूल शरीरके नष्ट होने पर तो शरीर-बन्धन छूटता नहीं। और भी दो शरीर हैं—सूक्ष्म शरीर या प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष, एवं कारण शरीर या आनन्दमय कोष। इस कारण शरीरके रहते जीवकी मुक्ति कहाँ? जब तक आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं होता, तब तक कारण शरीर रहेगा ही। और अनादिवासनामय कारणशरीरके रहनेपर, वह स्वयं सूक्ष्म शरीरको तैयार करेगा, और सूक्ष्मशरीर कर्मोपयोगी स्थूल-भूतात्मक भौतिक शरीरका गठन कर लेगा। यह ईश्वरीय नियम है। जैसे सूर्य, चन्द्र, देवता, ऋतु, पक्ष आदि उसके द्वारा आदिष्ट होकर अपने-अपने कार्यमें नियुक्त हैं, उसी प्रकार ईश्वरीय नियमसे बाध्य होकर अपने-अपने कर्मोंके अनुसार सूक्ष्म-शरीरस्थ देही स्थूल भूतोंको आकर्षित करके कर्मानुसार देह गठन कर लेता है।

अतएव देहनाशसे मुक्ति होगी, इस प्रतीक्षामें मत बैठो। अपनी कर्मसाधना करो, उसमें उपेक्षा दिखलाना ठीक नहीं। "ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय कल्पते।"—ब्राह्मणका शरीर क्लेश भोगनेके लिए है, कामोपभोगके लिए नहीं।

तपस्याके द्वारा देहान्त होनेपर ब्राह्मणको अनुपम सुखकी प्राप्ति होती है। प्राणायाम आदि नाना प्रकारकी साधना ही परम तपस्या है। इसका सम्यक् अनुष्ठान करने-पर ही ब्राह्मणदेह सार्थक होती है। इसी प्रकार क्षत्रियका भी भीतर और बाहरके शत्रुओंको संताड़ित करना तथा ब्राह्मणका पालन करना धर्म है। तुम अभी ब्राह्मण नहीं हो सकते तुम क्षत्रिय हो—देहेन्द्रिय आदि क्षोभ उत्पन्न करनेवाले नाना प्रकारके साधन-विघ्नरूपी शत्रुओंको अपने वशमें करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। 'मैं नहीं कर सकूँगा' कहकर चुप बैठनेसे काम नहीं चलेगा। तुम सोचते हो कि देहादिके सुखभोगके लिए प्रवृत्तियोंका रहना उचित ही है, परन्तु तुम नहीं जानते कि "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्"—आत्मवश या आत्मस्थ हुए बिना प्रकृत सुख कभी प्राप्त हो सकेगा, इसकी आशा भी मत करना। शत्रुके वशमें रहकर आपाततः मन को हर लेनेवाला इन्द्रियसुख तो मिलेगा, परन्तु उसका परिणाम कैसा शोकजनक है, इसका वर्णन नहीं हो सकता। चित्तविक्षेपके कारण तुम सुखमय तथा अमृत आत्माको नहीं जान पाते। इसी कारण इतना सन्देह होता है। चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर समझमें आ जायगा कि 'सुख क्या है' और 'आत्मा क्या है'। तब 'यह न रहेगा', 'वह न रहेगा' कहकर हाय हाय न करना पड़ेगा। आत्माके प्रकाश, आनन्द और नित्य विद्यमानताको देखकर सारा क्षोभ मिट जायगा। तुमको सावधान करनेके लिए ही इतनी आलोचना करनेकी आवश्यकता पड़ी है॥ १८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

अन्वय—यः (जो) एनं (इस आत्माको) हन्तारं (हन्ता, मारनेवाला) वेत्ति (जानता है) यश्च (और जो) एनं (इसको) हतं (मारा गया) मन्यते (समझता है) तौ उभौ (वे दोनों) न विजानीतः (नहीं जानते)। अयं (यह आत्मा) न हन्ति (न मारता है) न हन्यते (न मारा जाता है)॥ १९॥

श्रीधर—तदेवं भीष्मादिमृत्युनिमित्तः शोको निवारितः। यच्चात्मनो हन्तृत्वनिमित्तं दुःखमुक्तम्—एतान्न हन्तुमिच्छामीत्यादिना—तदपि तद्वदेव निर्निमित्तमित्याह—य एनमिति। एनमात्मानम्। आत्मनो हननक्रियायाः कर्मत्ववत् कर्त्तृत्वमपि नास्तीत्यर्थः। तत्र हेतुः नायमिति॥ १९॥

अनुवाद—[इस प्रकार भीष्मादिके मृत्युनिमित्त शोकका निवारण किया गया, तुम उनके हन्ता होनेका जो दुःख प्रकट कर रहे हो "एतान्न हन्तुमिच्छामि" यह भी अकारण है। इसी विषयमें कहते हैं] जो आदमी आत्माको हन्ता मानता है, तथा जो इसको हत (मारा गया) समझता है, वे दोनों ही आत्माके सम्बन्धमें कुछ समझते बूझते नहीं। क्योंकि जिस प्रकार आत्मा हननक्रियाका कर्म नहीं बनता, उसी प्रकार हनन क्रियाका कर्त्ता भी नहीं होता॥ १९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसको तुम हननकर्त्ता समझते हो, वह तो कूटस्थ ब्रह्म

है। जिसको सोचते हो कि हत हो रहा है, वह भी तो ब्रह्म है। इन दोनोंको तुम नहीं जानते— न तो कोई हनन करता है, न कोई हत ही होता है।

—स्वरूपमें तुम कूटस्थ ही हो। तुम शरीर तो हो नहीं, तुम्हारे शरीरका नाश होनेपर तुम्हारा वास्तविक 'मैं' यह शरीरमें रहनेवाला कूटस्थ नष्ट नहीं होगा। इसी प्रकार युद्धार्थ जो लोग उपस्थित हैं—समस्त प्राणिमात्र वही कूटस्थ हैं। उनकी देहके नष्ट होनेपर शरीरमें रहनेवाला कूटस्थ नष्ट न होगा। यह कूटस्थ एक ही वस्तु है, पृथक् पृथक् नहीं। सब घटोंका आकाश भी वही एक आकाश है। घटके नष्ट होनेपर जिस प्रकार घटस्थ आकाश ज्योंका त्यों रहता है। अतएव जो लोग आत्माको हननकर्त्ता या हत समझते हैं, उनको कूटस्थके विषयमें कोई ज्ञान नहीं। प्राणवायु मनको और मन बुद्धिको अनवरत चञ्चल बनाए रहते हैं। इसी कारण बुद्धिमें प्रतिबिम्बित आत्माको बुद्धिके द्वारा कल्पित जन्म-मरणादि सैकड़ों व्यापारोंमें जन्ममरणयुक्त या शोक-मोहग्रस्त समझते हो, परन्तु उसको जिसने साक्षीरूपमें अनुभव किया है, उसको यह बुद्धि-भ्रम नहीं होता।

हस्तामलकस्तोत्रमें लिखा है—

य एको विभाति स्वतः शुद्धचेताः, प्रकाशस्वरूपोऽपि नानेव धीषु।
शरावोदकस्थो यथा भानुरेकः, स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥
घनाच्छन्नदृष्टिर्घनाच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः, स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥

नाना पात्रोंमें स्थित जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान जो प्रकाशस्वरूप पदार्थ नाना बुद्धिमें नाना रूपमें प्रतीयमान होनेपर भी एक अद्वितीय भावसे प्रकाशित होता है, वही नित्यबोधस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ। मेघके द्वारा दृष्टिके आच्छन्न होनेपर अतिमूढ़ व्यक्ति जिस प्रकार सूर्यको ही मेघाच्छन्न या प्रभाहीन समझता है, उसी प्रकार मूढ़दृष्टि अविवेकी पुरुष उनको बद्धवत् समझते हैं। जिस प्रकार विशुद्ध स्फटिकादि मणि निकटस्थ भिन्न वर्णोंकी आभासे अनुरञ्जित जान पड़ता है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न बुद्धिके द्वारा तुम्हारा भी भेद कल्पित होता है।

उपाधौ यथा भेदता सन्मणीनां तथा भेदता बुद्धिभेदेषु तेऽपि।
यथा चन्द्रिकाणां जले चञ्चलत्वं तथा चञ्चलत्वं तवापीह विष्णोः॥

जैसे चञ्चल जलमें चन्द्रबिम्ब चञ्चल जान पड़ता है, उसी प्रकार बुद्धिभेदसे हे विष्णो! तुम्हारा चाञ्चल्य केवल प्रतीयमान होता है, वस्तुतः तुममें चञ्चलता नहीं है। तुम एक अद्वितीय, नित्य स्थिर तथा सदा एकरूप हो॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

अन्वय—अयं (यह आत्मा) कदाचित् (किसी समय) न जायते (उत्पन्न नहीं होता) न म्रियते वा (अथवा मरता नहीं), अयं भूत्वा वा (यह उत्पन्न होकर) भूयः (पुनः) न भविता (विद्यमान नहीं रहता) [यस्मात् अयं—क्योंकि यह आत्मा]

अजः (जन्म-रहित), नित्य (सर्वदा एकरूप) शाश्वतः (अपक्षयशून्य, सदा विद्यमान तथा भविष्यमें भी एकरूप), पुराणः (परिणामहीन, परिणामको प्राप्त न होनेके कारण नित्य नवीन) शरीरे हन्यमाने (शरीरके नष्ट हो जाने पर भी) न हन्यते (मारा नहीं जाता) ॥२०॥

श्रीधर—न हन्यत इत्येतदेव षड्भावविकारशून्यत्वेन द्रढ़यति—नेति। न जायत इति जन्मप्रतिषेधः। न म्रियत इति विनाशप्रतिषेधः। वा शब्दश्चार्थे। न चायं भूत्वोत्पद्य भविता भवत्यस्तित्वं भजते। किन्तु प्रागेव स्वतः सद्रूप इति जन्मानन्तरास्तित्वलक्षण-द्वितीय-विकारप्रतिषेधः। तत्र हेतुः—यस्मादजः। यो हि जायते स हि जन्मानन्तरमस्तित्वं भजते। न तु यः स्वत एवास्ति स भूयोऽप्यन्यदस्तित्वं भजत इत्यर्थः। नित्यः सर्वदैकरूप इति वृद्धि-प्रतिषेधः। शाश्वतः शश्वद्भव इत्यपक्षयप्रतिषेधः। पुराण इति विपरिणामप्रतिषेधः। पुरापि नव एव। न तु परिणामतो रूपान्तरं प्राप्य नवो भवतीत्यर्थः। यद्वा न भवितेत्यस्यानुषङ्गं कृत्वा भूयोऽधिकं यथा भवति तथा न भवितेति वृद्धिप्रतिषेधः। अजो नित्य इति चोभयं वृद्ध्यभावे हेतुरित्यपौनरुक्त्यम्। तदेवं जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीत्येवं यास्कादिभिरुक्ताः षड्भावविकाराः निरस्ताः। यदर्थमेते विकारा निरस्तास्तं प्रस्तुतं विनाशा-भावमुपसंहरति—न हन्यते हन्यमाने शरीर इति ॥२०॥

अनुवाद—[आत्मा हत नहीं होता, आत्माके षड्विकारोंसे वर्जित भावके द्वारा इसका ही समर्थन करते हैं] (१) यह आत्मा कभी जन्मता नहीं [उत्पत्ति या जन्म का निषेध] (२) यह कभी मरता नहीं [मृत्युरूप विकारका निषेध] (३) यह उत्पन्न होकर फिर अस्तित्वको प्राप्त हो, ऐसी बात नहीं। परन्तु आत्मा पहलेसे ही स्वतः सत्स्वरूप है [जन्मान्तरके द्वारा अस्तित्वकी प्राप्तिरूप द्वितीय विकारका निषेध] क्योंकि आत्मा अज है—और जो जन्मग्रहण करता है वही जन्मान्तरमें अस्तित्व प्राप्त करता है अर्थात् जन्म लेकर विद्यमान रहता है, परंतु जो स्वतः विद्यमान है वह पुनर्वार दूसरा अस्तित्व नहीं प्राप्त करता। (४) जो नित्य अर्थात् एकरूप है [वृद्धिका निषेध] (५) वह शाश्वत है अर्थात् सदासे है [अर्थात् क्षयरहित है, अपक्षय-का निषेध] (६) यह पुराण अर्थात् परिणाम-विहीन है, अतएव रूपान्तरको प्राप्त होकर नया नहीं बनता [विपरिणाम या परिवर्तन का निषेध]। अतएव सांख्य-शास्त्रोक्त जन्म, अस्तित्व, परिणति, अपक्षय, विपरिणाम और नाश—इन षड्विकारोंसे शून्य आत्माके भावको दिखलाकर अब प्रस्तुत विषयका विनाशाभाव दिखाते हुए उपसंहार कर रहे हैं कि शरीरके विनाशसे यह आत्मा हत नहीं होता ॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उसका जन्म नहीं है क्योंकि वह नित्य है, सर्वव्यापक है, जन्मानेका स्थान कहाँ है?—नित्य वस्तुकी मृत्यु कहाँ है? सभी ब्रह्म हैं। फिर एक वस्तुसे अन्य वस्तुका परिवर्तन कैसे होगा? यह कभी नहीं हो सकता। जो देखते हो कि हो रहा है वह दृष्टिस्वरूप आकार है जो मिथ्या है वह भी ब्रह्ममें लीन हो जायगा। उसका होना न होना एकसा है। जब होना न होना समान है और हुआ भी नहीं तो वह होगा किस प्रकार? कोई किसीसे नहीं होता। क्योंकि स्वयंभू ब्रह्म नित्यपुराण पुरुष है, वह

हनन नहीं करता, क्योंकि किसके द्वारा हनन करेगा ? जिसके द्वारा हनन करेगा वह भी ब्रह्म है और जिसको हनन करेगा वह भी ब्रह्म है, अतएव ब्रह्म ब्रह्मको कैसे हनन करेगा ? और इस शरीरका हनन तो सदा ही हो रहा है, तब हननविशिष्ट वस्तु अहन्य वस्तुको कैसे हनन करेगी ?

—इस शरीरका विनाश कोई न भी करे तो भी इसकी हनन-क्रिया सदा चलती रहती है। प्रत्येक श्वासके साथ यह देह विनाशकी ओर दौड़ रही है। कोई इसका विनाश न भी करे तो श्वासका अवसान हो जाने पर यह शरीर क्षणभरके लिए भी नहीं रहेगा। और जो आत्मा है, उसका न जन्म है न मरण। जो सारे विकारों से रहित तथा सर्वव्यापी है, उसमें कर्तृत्व या कर्मत्व आरोपित कैसे होगा ? वहाँ होना न होना दोनों जब समान हैं, तब कुछ हुआ तो क्या, और न हुआ तो क्या ? होने पर भी वह न होने के समान है। स्वप्नदृष्ट वस्तुके समान वह सत्य होते हुए भी असत्य है या असत्य होते हुए भी सत्यसा भासता है। आत्मा सत्तामात्र, केवल ज्ञान-स्वरूप है। यह ज्ञान चिर सत्य और चिर स्थिर है, क्रियाकी परावस्थामें इसकी उपलब्धि हो सकती है। फिर उसका विकार कैसे होगा ? अवश्य ही देह जन्मता है और बढ़ता है तथा नाना प्रकारके परिणामको प्राप्त होता है, और अन्त तक रहता भी नहीं। परन्तु यह समुद्रमें फेनके समान है। आँखसे उसे देखा, कुछ दृश्यवत् दीख पड़ा, परन्तु क्या वह टिका ? दूसरे ही क्षण वह मिल गया, कहाँ मिल गया ? जहाँसे हम उसको उत्पन्न हुआ मानते थे वहाँ ही नामरूप-रहित होकर उसके साथ मिलकर वह एक हो गया। तब फिर फेन या बुद्बुद कहकर चिल्लानेसे क्या फायदा ? जो कुछ है सब 'अहं' या 'मैं' का 'दृश्य' है। 'मैं' इन सारे दृश्योंका भोग करने दौड़ता है, जैसे हम समुद्रमें फेन या तरङ्ग देखकर आनन्दित होते हैं। फेन या तरंग जिस प्रकार देखते ही देखते समुद्रमें लय हो जाती है अथवा समुद्र हो जाती है, उसी प्रकार हमारे सारे भोग्य द्रव्यों का, विचार करके देखने पर उनका वस्तुत्व लुप्त हो जाता है। जो दौड़ रहा था भोगके लिए, वह तब देखता है कि स्वयं वह भोग्यवस्तुके रूपमें सुशोभित हो रहा है। दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बको देखकर जिस प्रकार बालक प्रफुल्लित होता है, परन्तु जानता नहीं कि वह प्रतिबिम्ब उसका अपना ही है। उसकी अपनी ही सत्ता आत्मामें स्फुटित या प्रतिबिम्बित होकर जगत्-रूपमें सुशोभित हो रही है। यह बात बालक जब समझता है तब उसको लज्जा होती है और वह प्रतिबिम्ब देखनेके लिए नहीं दौड़ता। अपने ही में अपने आप स्तम्भित होकर, अवाक् होकर, अचपल होकर स्थित होता है। आत्मासे पृथक् भाव मायासमुद्रमें तरङ्गवत् है। आत्मासे किसी वस्तुको पृथक् मत समझो। इस प्रकार भावयुक्त होने पर फिर वस्तुदृष्टि नहीं रहेगी, सर्वत्र आत्मा ही दीख पड़ेगा। इसी कारण तत्त्वज्ञानी लोग उपदेश देते हैं कि "यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र चिन्तनात्" यही मायानाश करनेका उपाय है। यदि यह भी नहीं कर सकते, तो भगवान्की मायाशक्ति ही प्राण है, जो कुछ है सब "प्राण एजति निःसृतम्"—इस प्राणकी ही उपासना करो। जब प्राण की उपासना होगी तो वह शुद्ध और स्थिर हो जायगा।

इस शुद्ध और स्थिर प्राणके भीतर ही जगत्-प्राण आत्माको देख सकोगे। उसकी अपेक्षा प्रियतम और लोभनीय वस्तु इस जगत्में दूसरी कुछ नहीं हो सकती। २०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

अन्वय—यः (जो) एनं (इसको) अविनाशिनं (अविनाशी) नित्यं (नित्य) अजं (जन्मरहित) अव्ययं वेद (और क्षयरहित जानता है) पार्थ (हे पार्थ!) स पुरुषः (वह पुरुष) कथं (किस प्रकार) कं घातयति (किसको मरवाता है) [वा] कं (किसको) हन्ति (मारता है)? ॥२१॥

श्रीधर—अतएव हन्तृत्वाभावोऽपि पूर्वोक्तः सिद्ध इत्याह—वेदाविनाशिनमित्यादि। नित्यं वृद्धिशून्यं। अव्ययमपक्षयशून्यं। अजमविनाशिनं च। यो वेद स पुरुषः कं हन्ति? कथं वा हन्ति? एवंभूतस्य वधे साधनाभावात्। तथा स्वयं प्रयोजको भूत्वान्येन कं घातयति? कथं वा घातयति? न किञ्चिदपि। न कथञ्चिदपीत्यर्थः। अनेन मय्यपि प्रयोजकत्वाद्दोषदृष्टिं मा कार्षीरित्युक्तं भवति ॥२१॥

अनुवाद—[अतएव आत्मामें हन्तृत्वका अभाव उपर्युक्त वाक्यसे भी सिद्ध हुआ—इसीलिए कहते हैं]—जो इस आत्माको नित्य अर्थात् वृद्धिशून्य, अव्यय अर्थात् अपक्षयशून्य, अज और अविनाशी समझता है, हे पार्थ! वह पुरुष किस प्रकार किसीका बध करेगा, क्योंकि इस प्रकारके आत्माका बध संभव नहीं, तथा प्रयोजक बनकर वह अन्य किसके द्वारा कैसे बध करायेगा? इस प्रकार मुझमेंभी प्रयो-जकत्व-दोषदृष्टि न करो ॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वेद अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाय, वह कहते हैं, अविनाशी अर्थात् जिसने जाना है उसने अविनाशीको जाना है और वह नित्य वस्तु ब्रह्ममें गया है। उसका जन्म नहीं, विनाश भी नहीं है, उसको 'मारूँगा' कहते हो तो कैसे मारोगे?

—आत्माको जिसने नित्य वस्तु या अविनाशी के रूपमें जाना है, वह अवश्य ही किसीको मार नहीं सकता, और न मरवा सकता है। मारेगा किसको? अन्य कोई होगा तब न? परन्तु जिसको आत्मबोध नहीं हुआ, संभव है, उसने आत्माके अविनाशी होनेके बारेमें दो बातें सुनी हों, परन्तु इससे मनका क्षोभ नहीं मिटता। "यत्र तस्य सर्वमात्मैवाभूत्" सर्वत्र आत्मदर्शन होने पर द्वैत प्रपञ्च नहीं रहता।

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ बृ० उ० ॥

जो विद्वान् पुरुष अपनेको जानता है कि 'मैं' ही वह अद्वितीय आत्मा हूँ, तो वह किसकी कामनाके लिए किस चीजकी इच्छासे शरीरको क्लेश देगा? परन्तु यह तो आत्मज्ञानीकी बात है, जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ उसके लिए क्या उपाय है? जब तक 'इतरं पश्यति' अन्य सब वस्तुओंको देखता है तब तक अज्ञानावस्था

है। इस अवस्थामें मनकी क्रिया नष्ट नहीं होती। हे अर्जुन! तुम्हारा जब द्वैतभाव नहीं मिटता, देहातिरिक्त आत्माको तुम अनुभव नहीं कर पाते, तब तक व्यर्थका ज्ञानी बनकर अलसभावसे दिन मत काटो। खूब अधिक और मन लगाकर क्रिया करते जाओ, क्रिया करते-करते जब क्रियाकी परावस्थामें आनन्दस्वरूप ब्रह्मको जानोगे, तब फिर विषयानन्द-वर्जित जीवन क्लेशकर न जान पड़ेगा। विषयमें आनन्द नहीं है, आत्माका आनन्द ही विषयमें विकीर्ण हो रहा है। क्रिया द्वारा क्रियाकी परावस्था-में जब आत्मस्थ हो सकोगे तब आनन्दसागरमें डूबकर अपनेमें अपने आप सन्तुष्ट हो जाओगे, तब फिर द्वैतप्रपञ्च न रहेगा, उस समय कर्त्ता भी न रहेगा और क्रिया भी न रहेगी। इसी कारण ज्ञानीके पाप-पुण्य नहीं रहते। जब तक यह अवस्था नहीं मिलती, अपनी इच्छाके अनुसार मत चलो, कष्ट पाओगे। अपनेको गुरुके यन्त्रके समान समझो, वह जो करावें वही करो ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) नरः (मनुष्य) जीर्णानि वासांसि (जीर्ण वस्त्र) विहाय (त्यागकर) अपराणि (अन्य) नवानि (नये) गृह्णाति (वस्त्र ग्रहण करता है) तथा (उसी प्रकार) देही (जीवात्मा) जीर्णानि शरीराणि (जीर्ण शरीरों-को) विहाय (त्यागकर) अन्यानि (दूसरे) नवानि (नये) संयाति (शरीर प्राप्त करता है) ॥२२॥

श्रीधर—नन्वात्मनोऽविनाशेऽपि तदीयशरीरनाशं पर्य्यालोच्य शोचामीति चेत्? तत्राह—वासांसीत्यादि। कर्मनिबन्धनानां नूतनानां देहानामवश्यम्भावित्वान्न तज्जीर्णदेहनाशे शोकावकाश इत्यर्थः ॥२२॥

अनुवाद—[आत्मा अविनाशी है, पर मैं तो उसके शरीरनाशकी पर्या-लोचना करके शोक करता हूँ। यदि ऐसा कहो तो उसके उत्तरमें कहते हैं]—कर्म-निबन्धन शरीरका नया होना अवश्यम्भावी है। अतएव जीर्ण शरीरका नाश होने पर शोकका अवसर ही कहाँ है? जीर्ण वस्त्रका त्याग करके मनुष्य जैसे नया वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार देही जीर्ण शरीरका त्याग करके दूसरे नये शरीरको प्राप्त करता है। [अतएव तुम्हारा शोक करना ठीक नहीं] ॥२२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उत्तम पुरुष शरीर रूपी पुराने वस्त्रको छोड़कर नये वस्त्र रूपी शरीरको धारण करते हैं।

—अज्ञानीके लिए शरीर नाश ही कष्टकर है। वह आत्माके मर्मको नहीं समझता। परन्तु आत्माको एक प्रकारसे स्वीकार करता है। पूर्वपुण्यके वश भारत-

वर्षमें जिन्होंने जन्मग्रहण किया है, वे अनेक शास्त्रों द्वारा और साधुओंके द्वारा अवगत हैं कि 'आत्माकी मृत्यु नहीं होती, इस देहके नष्ट हो जाने पर भी आत्मा रहती है।' और लोकमें भी इसका कुछ प्रमाण न मिलता हो, ऐसी बात भी नहीं है। आत्माके अविनाशित्वके सम्बन्धमें भगवान्ने अर्जुनसे अनेक बातें कहीं, और एक निगूढ़ बात इस श्लोकमें कह रहे हैं। उत्तम पुरुष तो देहको छोड़ते हैं, पर उसके बाद कहाँ जाते हैं, और कहाँ रहते हैं ? अर्जुन यदि मुक्त पुरुष होते तो उनको शोक नहीं होता। परन्तु वह मुक्त नहीं हैं, देह-बन्धनमें बद्ध होनेके कारण ही उनको इतना शोक हो रहा है। इसीसे भगवान् यहाँ नये और पुराने कपड़ेकी तुलनासे अर्जुनको समझा रहे हैं कि, हे अर्जुन ! देखो—लोगोंको विशेषतः बालकोंको और अज्ञानियोंको नयी वस्तु ही प्रिय होती है। पुराने वस्त्रको बदलकर यदि नया वस्त्र प्राप्त करते हैं तो इसमें दुःखका कोई कारण नहीं है। वस्त्र पुराना होने पर जीर्ण हो जाता है, पहननेके योग्य नहीं रहता, तब उसको छोड़ सकनेसे ही अच्छा मालूम होता है। इसी प्रकार भूतमय शरीर भी पृथ्वी पर कुछ दिन रहने पर पुराना हो जाता है, कामके योग्य नहीं रहता। उसके बदलेमें यदि नया शरीर मिलता है तो उसमें दुःख करना ठीक नहीं, बल्कि उससे हमारा उत्साह वर्धित होना चाहिये, क्योंकि नये शरीरके द्वारा अनेक कार्य होंगे। इस पर विचार करके देखनेसे इस अपदार्थ शरीरके लिए फिर हमको शोक नहीं हो सकता। तत्पश्चात् यह भी विचार करो कि यह नवीन वस्त्र कैसा अद्भुत है। श्रुति कहती है—

'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वा'—बृ० उ०। जीव पूर्व देहका त्याग करके पितृलोकमें, गन्धर्व लोकमें, देवलोकमें, या प्रजापति-लोकमें अथवा ब्रह्मलोकमें उत्कृष्ट नयेसे नया कल्याणतर देवशरीरको प्राप्त करता है।

अतएव इस आनन्द-व्यापारमें फिर शोक किस बातका ? यदि कहते हो कि इतना होने परभी देहकी माया कहाँ कटती है ? तो इसका कारण यह है कि तुम अन्धवत् हो, देहको छोड़कर और कुछ तुम्हें नहीं सूझता। तथापि जरा विचार करके देखो। जिस समय तुम निद्रित होते हो उस समयभी देह रहती है, पर देहज्ञान नहीं रहता। देहको 'मैं' कहनेवाला व्यक्ति उस स्थितिमें भी रहता है परन्तु उस समय देहको 'मैं' रूपमें वह स्वीकार नहीं करता। इसी कारण देह जड़ वस्तुके समान पड़ी रहती है। तब तो यह प्रमाण मिल गया कि देह 'मैं' नहीं हूँ ? और देखो, जब निद्रा टूटती है तो हम फिर 'मैं, मैं' कहने लगते हैं। परन्तु देह छोड़कर क्या और कुछ हम देखते हैं ? न देखने पर भी उस समय देहको 'मैं' कहनेकी इच्छा नहीं होती। अतएव जो देखनेमें नहीं आता, तथापि है, वही आत्मा है। वह आत्मा यदि देह नहीं है और वही यदि मेरा वास्तविक 'मैं' है तो देहनाशके बाद उस 'मैं' का नाश कैसे होगा ? असली वस्तु 'मैं' यदि बची रह गयी तो फिर रोवेंगे किस लिए ? राजपुत्र एक प्रकारकी पोशाक पहनकर अन्तःपुरसे बाहर आया, और फिर भीतर जाकर अपनी पोशाक बदल कर आया, इससे

अज्ञानी, अविवेकीको दुःख हो सकता है, परन्तु अभिज्ञ पुरुषके मनमें इससे विपरीत भाव क्योंकर आ सकता है ? परन्तु इतनी बातोंसे भी मनुष्यका शोक नहीं दूर होता, अतएव आत्मदर्शनकी चेष्टा करना आवश्यक है। साधनाके द्वारा योगस्थ होने पर ही आत्मके स्वच्छ आकाशवत् स्वरूपकी प्रतीति होती है। उसे केवल एक बार देख लेनेसे काम न चलेगा, आकाश स्वरूप बनना पड़ेगा। तब फिर शोक नहीं होगा ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अन्वय—शस्त्राणि (शस्त्र समूह) एनं (इस आत्माको) न छिन्दन्ति (नहीं छेदन कर सकते) पावक (अग्नि) एनं (इसको) न दहति (दग्ध नहीं कर सकता) आपः (जल) एनं (इसको) न क्लेदयन्ति (नहीं भिगो सकता) मारुतः च (और वायु) न शोषयति (इसको नहीं सुखा सकता) ॥२३॥

श्रीधर—कथं हन्तीत्यनेनोक्तं वधसाधनाभावं दर्शयन्नविनाशित्वमात्मनः स्फुटीकरोति—नैनमित्यादि। आपो नैनं क्लेदयन्ति। मृदुकरणेन शिथिलं न कुर्वन्ति। मारुतोऽप्येनं न शोषयति ॥२३॥

अनुवाद—[आत्माके वधसाधनका अभाव दिखलाते हुए आत्माके अविनाशित्वका स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं]—शस्त्रोंके द्वारा आत्माका छेदन नहीं हो सकता, अग्नि आत्माको दग्ध नहीं कर सकती, जल इसको मृदु बनाकर ढीला नहीं कर सकता अथवा सड़ा नहीं सकता तथा वायु भी इसे शोषण या शुष्क नहीं कर सकती ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थको अस्त्रके द्वारा काटनेका कोई उपाय नहीं है, क्योंकि उससे उत्पन्न शून्य पर भी तलवार चलानेसे कुछ कटता नहीं, इसी प्रकार वायु जो कूटस्थ रूपमें शरीरमें स्थित है उसे कोई कैसे काट सकता ? अग्निके द्वारा वह कूटस्थ दग्ध नहीं होता, पानीसे भीगता नहीं, वायुके द्वारा शुष्क नहीं होता। क्रियाका उपदेश लेने पर इसकी स्पष्ट प्रतीति हो सकती है (गुरु-कृपासे यह जाना जाता है)।

—इस शून्यको साधनके द्वारा समझना पड़ेगा। 'मैं' शून्य हूँ, यह शरीरादि उस शून्यके ही उपाधिमात्र हैं। इस शून्यात्माको समझ लेने पर शरीरादि उपाधिके प्रति फिर वैसा आग्रह नहीं रहता। जो आकाशके समान अवयव-रहित है उसका फिर अग्नि, जल, वायु क्या करेंगे ? इस प्राणवायुको साधनाके द्वारा स्थिर कर सकने पर जीव अपने आपको आकाशवत् मालूम करता है, यह कोरा गल्प नहीं है। साधन करके देखने पर सबकी समझमें यह बात आ जायगी। आत्मा अवयव-रहित तथा निराकार है, इसी कारण शून्य कहा गया है। शून्य कहनेसे 'कुछ भी नहीं' इस प्रकारका अर्थ यहाँ नहीं है। आत्मा गुणयुक्त होने पर ही जीव होता है, और गुण-शून्य होने पर शिव हो जाता है। यह शिवभाव प्राप्त हुए बिना कोई मुक्त नहीं हो सकता। शिवका एक नाम व्योम है। हमारे मनके नाना प्रकारके सङ्कल्प ही

आत्माको संसारमें बाँधनेके रज्जु हैं। सङ्कल्प क्षीण हो जानेके बाद संसारके साथ इसका सम्बन्ध नहीं रहता, उस समय सम्बन्धरहित आत्मा 'मुक्त' नामसे पुकारा जाता है, और उससे विच्युत होते ही मन आदि सारे सम्बन्ध, गुण या उपाधि तिरोहित हो जाते हैं॥ २३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

अन्वय—अयं (यह आत्मा) अच्छेद्यः (छिन्न होने योग्य नहीं) अयं (यह) अदाह्यः (दग्ध होने योग्य नहीं) अक्लेद्यः (क्लिन्न या आर्द्र होने योग्य नहीं) अशोष्यः एव च (तथा शुष्क होनेवाला भी नहीं है)। अयं (यह आत्मा) नित्यः (नित्य अर्थात् अविनाशी) सर्वगतः (सर्वव्यापी) स्थाणुः (स्थिर) अचलः (अपरिवर्तनशील) सनातनः (तथा अनादि है)॥ २४॥

श्रीधर—तत्र हेतूनाह—अच्छेद्य इति सार्धेन। निरवयवत्वादच्छेद्योऽयमक्लेद्यश्च। अमूर्त्तत्वाददाह्यः। द्रवत्वाभावादशोष्य इति भावः। इतश्च छेदादियोग्यो न भवति। यतो नित्योऽविनाशी। सर्वगतः सर्वत्र गतः। स्थाणुः स्थिरस्वभावो रूपान्तरापत्तिशून्यः। अचलः पूर्वरूपापरित्यागी। सनातनोऽनादिः॥ २४॥

अनुवाद—[अविनाशित्वका क्या कारण है सो कहते हैं]—आत्मा 'अच्छेद्य' और 'अक्लेद्य' है क्योंकि वह निरवयव है; आत्मा 'अदाह्य' है क्योंकि वह अमूर्त्त है। द्रवत्वके अभावके कारण आत्मा 'अशोष्य' है। अतएव वह 'नित्य' अर्थात् अविनाशी, 'सर्वगत' अर्थात् सर्वव्यापी, 'स्थाणु' अर्थात् स्थिर-स्वभाव, रूपान्तर-शून्य, 'अचल' अर्थात् पूर्वरूप अपरित्यागी एवं 'सनातन' अर्थात् अनादि है॥ २४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस कारण अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सबमें गत अर्थात् रहता है अणुस्वरूपमें अचल होकर, सनातन-स्वरूप।

—आत्मा तो भौतिक पदार्थ नहीं है। भौतिक पदार्थ होने पर अवश्य ही अग्निद्वारा दग्ध, वायुद्वारा शुष्क तथा जलद्वारा क्लिन्न हो जाता। वह अवयवशून्य और अमूर्त है, इसी कारण उसे अन्यान्य वस्तुओंके समान किसी द्रव्यके वशमें लानेका कोई उपाय नहीं है। किन्तु सर्वव्यापी "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यो वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः"—श्वेता० उ०। आत्मा आकाशके समान सर्वव्यापी नित्य, महान् वृक्षके समान स्तब्ध है। सर्वव्यापी होनेके कारण सारी वस्तुएँ उसीका रूप मानी जा सकती हैं, तथा वह वस्तु रूप बन गये हैं, ऐसी शङ्का यदि कोई करे तो श्रुति कहती है—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यान्तरः," "योऽप्सु तिष्ठन् अद्भ्योऽन्तरः" "यस्तेजसि तिष्ठँस्तेजसोऽन्तरः," "यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरः" बृह० उ०। जो पृथिवीमें रहकर भी पृथिवीसे भिन्न है, जलमें रहता हुआ जलसे भिन्न है, अग्निमें रहता हुआ अग्निसे पृथक् है, वायुमें रहता हुआ वायुसे स्वतन्त्र है; उसके इतने विभिन्न रूप हैं, ऐसा जान पड़ता है, तथापि सब रूपोंमें वह एक आत्मा ही अणु

स्वरूप होकर विराजमान हो रहा है। वह अणु रूप इन्द्रियगम्य न होने पर भी साधकके लिए साधन-बोधगम्य है। सबके भीतर वही एक अणु है! यही महान् आश्चर्य है !!

आत्माके सम्बन्धमें एक ही बात घुमा फिरा कर अर्जुनसे कह रहे हैं, इसमें पुनरुक्ति दोषकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'आत्मा' बड़ा ही दुर्बोध्य विषय है, इसी कारण भगवान् वासुदेव बारबार इसका प्रसङ्ग उठाकर विभिन्न शब्दोंके द्वारा तरह तरहसे आत्माको समझानेका प्रयास करते हैं। श्रीमदाचार्य शङ्कर कहते हैं—"यत एकेनैव श्लोकेनात्मनो नित्यत्वमविक्रियत्वं चोक्तं—न जायते म्रियते वा इत्यादिना। नैतेषां श्लोकानां पौनरुक्त्यं चोदनीयम्। × × ×। दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसङ्गमापाद्य शब्दान्तरेण तदेव वस्तु निरूपयति भगवान् वासुदेवः—कथं नु नाम संसारिणां असंसारित्वं बुद्धिगोचरतामापन्नं सदव्यक्तं तत्त्वं संसारनिवृत्तये स्यादिति।" आत्मवस्तु अत्यन्त दुर्बोध्य है, इसी कारण पुनः पुनः प्रसङ्ग उठाकर शब्दान्तर द्वारा भगवान् वासुदेव उस आत्मवस्तुका निरूपण कर रहे हैं, क्योंकि वह सद्वस्तु यदि किसी प्रकार सांसारिक जीवके लिए बुद्धिगोचर हो जाय तो उसकी संसार-निवृत्ति हो जा सकती है ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अन्वय—अयं (यह) अव्यक्तः (चक्षु आदि इन्द्रियोंका अगोचर) अयं (यह) अचिन्त्यः (चिन्ताके परे, मनके लिए अगोचर) अयं (यह) अविकार्यः (कर्मेन्द्रियोंके लिए भी अगोचर) उच्यते (कहा गया है)। तस्मात् (इस कारण) एनं (इस आत्माको) एवं (इस प्रकार) विदित्वा (जानकर) अनुशोचितुं न अर्हसि (तुम शोक नहीं कर सकते हो) ॥ २५ ॥

श्रीधर—किञ्च—अव्यक्त इति। अव्यक्तश्चक्षुराद्यविषयः। अचिन्त्यः मनसोऽप्यविषयः। अविकार्यः कर्मेन्द्रियाणामप्यगोचर इत्यर्थः। उच्यत इति नित्यत्वादावभियुक्तोक्तिं प्रमाणयति। उपसंहरति—तस्मादेवमित्यादि। तदेवमात्मनो जन्मविनाशाभावान्न शोकः कार्य इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

अनुवाद—आत्मा 'अव्यक्त' अर्थात् चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियोंका विषय नहीं है। 'अचिन्त्य' अर्थात् मनका भी अविषय या अगोचर है, तथा 'अविकार्य' अर्थात् कर्मेन्द्रियोंके लिए भी अगोचर कहा गया है। अतएव आत्मामें इस प्रकारसे जन्म और विनाशका अभाव देखकर शोक करना उचित नहीं ॥ २५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उसको मुँहसे व्यक्त करनेका कोई उपाय नहीं है। वह केवल निज-बोध स्वरूप है। चिन्तन करनेका उपाय नहीं है क्योंकि इससे वह दो हो जायगा। विकार होनेका उपाय नहीं है, क्योंकि वह सभीमें ही है, यह जान लेने पर किसी विषयमें शोक करनेकी आवश्यकता नहीं।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस देव कहते थे कि सब कुछ उच्छिष्ट हो गया है, केवल ब्रह्म ही उच्छिष्ट नहीं हुआ। क्योंकि मुँहसे बोलकर उसको प्रकट करनेका कोई उपाय नहीं है, "वाचो यत्र निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह"—वाणी उसका पता न पाकर मनके साथ लौट आती है। कितना ही वाणीके द्वारा उसको क्यों न समझाया जाय वह अप्रकाश्यके अप्रकाश्य ही बना रह जाता है। केवल क्रियाकी परावस्थामें निज-बोध-स्वरूप जान पड़ता है। चिन्ताके द्वारा भी वह जाना नहीं जाता, जितना ही चिन्तन करो उतनी ही चिन्ता बढ़ती जाती है। क्रियाकी परावस्थामें निश्चिन्त होने पर वह कुछ समझमें आता है। वह कर्मेन्द्रियोंका अविषय है, अतएव कोई वस्तु नहीं, इसी कारण विकृत नहीं हो सकता। विकृत होने पर ही एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त होगा। एक अवस्थाको यदि हम अच्छा समझें तो दूसरी अवस्था दुःखका कारण बन जायगी। परन्तु इस आत्माको जो लोग जानते हैं वे शोकसे पार हो जाते हैं। श्रुति कहती है—"तरति शोकमात्मवित्" छान्दो०। अतएव इसका अवस्थान्तर संभव नहीं ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अन्वय—अथ च (इसके बाद यदि) एनं (इसको) नित्यजातं (नित्य जन्म-ग्रहण-शील) वा नित्यं मृतं (अथवा नित्य मरणशील) मन्यसे (मानते हो) तथापि (तोभी) महाबाहो (हे महाबाहो!) त्वं (तुम) एनं शोचितुं नार्हसि (इसके लिए शोक नहीं कर सकते) ॥ २६ ॥

श्रीधर—इदानीं देहेन सहात्मनो जन्म तद्विनाशेन च विनाशमङ्गीकृत्यापि शोको न कार्य इत्याह—अथ चैनमित्यादि। अथ च यद्यप्येनमात्मानं नित्यं सर्वदा तत्तद्देहे जाते जातं मन्यसे। तथा तत्तद्देहे मृते च मृतं मन्यसे। पुण्यपापयोस्तत्फलभूतयोश्च जन्ममरणयोरात्म-गामित्वात्। तथापि त्वं शोचितुं नार्हसि ॥ २६ ॥

अनुवाद—[अब यदि देहके साथ आत्माका जन्म, तथा देहके नाशके साथ आत्माका विनाश स्वीकार करते हो, तो भी तुम्हें शोक करना उचित नहीं है। इस प्रसङ्गमें कहते हैं]—और यदि मानते हो कि आत्मा देहके साथ उत्पन्न होता है, (देहके जन्मसे आत्माका जन्म है तथा देहके नाशके साथ आत्माकी मृत्यु होती है, तो भी, हे महाबाहो! इसके लिए तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ॥ २६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यदि कदाचित् तुम यह समझते हो कि नित्य जन्म और नित्य मृत्यु है, तब भी शोककी आवश्यकता नहीं है।

—[देहके जन्मके साथ आत्माका जन्म, तथा देहकी मृत्युके साथ आत्माकी मृत्यु होती है, अतएव आत्मा देहके समान अनित्य है, यह चार्वाकका मत है] आत्माका नित्यत्व तो नाना प्रकारसे समझाया गया, तथापि यदि तुमको नास्तिकोंके

समान सन्देह होता है, तो भी तुमको शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है। [क्यों नहीं है, यह अगले श्लोकमें कहेंगे]॥ २६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

अन्वय—हि (क्योंकि) जातस्य (जन्मशीलकी) मृत्युः (मौत) ध्रुवः (निश्चित है) मृतस्य च (मृतका भी) जन्म ध्रुवं (जन्म निश्चित है); तस्मात् (अतएव) अपरिहार्ये अर्थे (अवश्यम्भावी विषयमें) त्वं (तुम) शोचितुं न अर्हसि (शोक नहीं कर सकते)॥ २७॥

श्रीधर—कुत इति? अत आह—जातस्येत्यादि। हि यस्मात् जातस्य स्वारम्भक-कर्मक्षये मृत्युर्ध्रुवो निश्चितः। मृतस्य च तद्देहकृतेन कर्मणा जन्मापि ध्रुवमेव। तस्मादेवम-परिहार्येऽर्थेऽवश्यम्भाविनि जन्ममरणलक्षणेऽर्थे त्वं विद्वान् शोचितुं नार्हसि योग्यो न भवसि॥ २७॥

अनुवाद—[क्यों शोक करना उचित नहीं है, बतलाते हैं]—क्योंकि उत्पन्न हुए मनुष्यका प्रारब्ध कर्मके क्षय होने पर मृत्यु निश्चित है, तथा मृत पुरुषका तद्देहकृत कर्मोंके द्वारा जन्म भी निश्चित है। अतएव जन्ममरण-लक्षणरूपी अवश्यम्भावी विषयमें, तुम विद्वान्का शोक करना उचित नहीं॥ २७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जन्म होने पर ही मृत्यु, और मृत्यु होने पर ही जन्म होता है, इसके लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

—कर्म-बन्धनमें पड़े हुए जीवका जन्म-मरण अपरिहार्य है। जब तक कर्मक्षय नहीं होता, पुनः जन्म लेना ही पड़ेगा। प्रारब्ध कर्मके क्षय होने पर उसी प्रकार मृत्यु भी निश्चित है। अतएव ये अवश्यम्भावी विषय हैं। इनसे बचनेका कोई उपाय नहीं है, फिर शोक करनेसे क्या लाभ? जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक जीव का शरीर मरने पर भी पूर्वदेहकृत कर्मोंके द्वारा या कर्मफल भोगनेके लिए फिर उत्पन्न होता है। तथा जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक जानना चाहिए कि उसकी कर्ममें आसक्ति बनी है। कर्मासक्तिके रहते देह-प्राप्ति या पुनर्जन्म अनिवार्य है। आत्मा सर्वदा आत्माही रहता है, तथापि प्रारब्ध कर्मोंके वश आत्माके साथ शरीर और इन्द्रियोंका जो योग होता है उसका नाम जन्म है, आत्मासे शरीर और इन्द्रियोंका वियोग ही मृत्यु है। जब जीव के कर्म हैं तो उनके फलाफल भोगके लिए जन्म-मृत्यु अनिवार्य हैं। इस बारम्बार जन्म-मृत्युके हाथसे बचनेके लिए ऐसी चेष्टा करनी पड़ेगी जिससे कर्म कर्त्तृत्वाभिनिवेश-शून्य हो जाय। कर्त्तृत्वाभिनिवेश-शून्य कैसे हो सकते हैं? भगवान्को मन ही मन कर्मफल अर्पण करो, 'तुम अपने लिए कुछ नहीं करते, उनके द्वारा आदिष्ट होकर भृत्यके समान काम करते हो'—इस प्रकारका अभ्यास करना होगा। यदि इसमें समर्थ नहीं होते हो तो कर्त्तृत्वाभिनिवेश-शून्य जो प्राण है उसके साथ मनको निरन्तर युक्त रक्खो।

इससे मन प्राणके साथ मिल जायगा। इस 'उन्मनी' अवस्थामें अपने आप ही कर्म ब्रह्मार्पित हो जाते हैं। आत्मा देह नहीं है, और न देह आत्मा है, इसे सैकड़ों बार चिन्तन करने पर भी कोई विशेष लाभ न होगा। तालावमें सेवार हटानेसे हट जाता है, और फिर कुछ देरमें आ जाता है। यह अविद्याकी प्रचण्ड शक्ति है। ऐसा उपाय करना होगा जिससे सेवार पैदा ही न हो। देह-ज्ञानके रहते हुए तुम जन्म-मृत्युको नहीं भूल सकते। ऐसी चेष्टा करो जिससे देहज्ञान नष्ट करके तुम आत्मस्थ हो सको, तब देखोगे कि, यह, वह, देह, मन, बुद्धि आदि सैकड़ों भेद—नानात्व—न जाने कहाँ चला गया! वह एक ऐसी स्थिति है जिसमें ये सब जाकर एकाकार हो जाते हैं। जब तक एकाकार नहीं हो जाता, तब तक साधनादिके लिए सारी चेष्टाएँ देह और मनका व्यायाममात्र हैं। परन्तु पहले-पहल इन साधनाओंके किये विना कुछ नहीं होता ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) भूतानि (सारे भूत) अव्यक्तादीनि (आदिमें अव्यक्त) व्यक्तमध्यानि (मध्यमें व्यक्त) एव अव्यक्त-निधनानि (मृत्युके बाद अव्यक्त हैं)। तत्र (इसमें) का परिदेवना? (शोककी बात क्या है?) ॥२८॥

श्रीधर—किञ्च देहानां स्वभावं पर्यालोच्य तदुपाधिक आत्मनो जन्ममरणे शोको न कार्य इति। तत्र आह—अव्यक्तादीनीत्यादि। अव्यक्तं प्रधानं, तदेवमादिरुत्पत्तेः पूर्वरूपं येषां तान्यव्यक्तादीनि। भूतानि शरीराणि। कारणात्मना स्थितानामेवोत्पत्तेः। तथा व्यक्तमभिव्यक्तं मध्यं जन्ममरणान्तरालस्थितिलक्षणं येषां तानि व्यक्तमध्यानि। अव्यक्ते निधनं लयो येषां तानीमान्येवंभूतान्येव। तत्र तेषु का परिदेवना? कः शोकनिमित्तो विलापः? प्रतिबुद्धस्य स्वप्नदृष्टवस्तुष्विव शोको न युज्यते इत्यर्थः ॥२८॥

अनुवाद—[परन्तु देहादिके स्वभावकी पर्यालोचना करके तदुपाधिक आत्माके जन्म-मरणमें शोक करना ठीक नहीं—इस लिए कहते हैं]—हे भारत! 'अव्यक्त' (जगत्का मूलकारण) प्रधान जिसका आदि अर्थात् उत्पत्तिका पूर्वरूप है। प्राणीगण उत्पत्तिके पूर्व अव्यक्त अर्थात् सबके कारण रूप अव्यक्तमें रहते हैं। 'व्यक्तमध्य' अर्थात् वे स्थितिलक्षण रूपी जन्ममरणकी मध्यावस्थामें व्यक्त अर्थात् प्रकाशित होते हैं। पुनः "अव्यक्तनिधन" अव्यक्तमें जिनका लय है अर्थात् जो अपने कारणरूप प्रकृतिमें लीन होते हैं। इस प्रकारके जो भूतगण हैं, उनके लिए फिर परिदेवना या शोक-विलाप क्यों करना? जागे हुए व्यक्तिके लिए स्वप्नदृष्ट वस्तुके हेतु जैसे शोक करना उचित नहीं होता, उसी प्रकार इन भूतोंके लिए भी शोक करना ठीक नहीं ॥२८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अव्यक्त जो शरीर है, उसमें व्यक्त हैं ईश्वर। परन्तु शरीर नष्ट होने पर ईश्वर नष्ट नहीं होते, इसके लिए चिन्ता क्या?

—आत्माके लिए दुःख नहीं हो सकता, पर शरीरके लिए तो दुःख हो सकता है इसी लिए कहते हैं - यह शरीर जन्मके पूर्व अव्यक्त था, अर्थात् इसका नाम-रूप कुछ नहीं था, मृत्युके बाद भी इसकी तद्रूप ही अवस्था होगी। अतएव शरीरसे तुम्हारा क्या नाता, जिसके लिए तुम शोक करो ? यह शरीर या जगत्‌का जो कुछ बोध हो रहा है वह अज्ञान-जनित मायाका फल है। परन्तु शुद्ध स्वरूपमें माया नहीं है "धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि"—उस परम सत्य वरणीय भर्गके प्रकाशमें यह मिथ्याका शरीर चैतन्यवत् प्रतीत होता है। यह मध्यका व्यक्त भाव ही ईश्वरीय भाव है, अर्थात् भगवान् प्रकाशित है इसी कारण इस नाम-रूपमय मिथ्या देहका भी एक प्रकाश अनुभवमें आता है। यह प्रकाश ही सत्य है, और आदि-अन्तमें जो अव्यक्त या अप्रकाश है वह कुछ नहीं है। यह आदि-अन्त वाली मिथ्या वस्तु सत्यवत् क्यों प्रतीत होती है ? क्यों उसका प्रकाश हमारे देखनेमें आता है। इसका कारण यह है कि कूटस्थ ईश्वर इस अवस्थामें व्यक्त होते हैं। अतएव इस शरीरको हम देख पाते हैं। यदि कूटस्थ न रहता तो इस शरीरका प्रकाश ही न होता। स्वर्णके न रहने पर क्या कोई स्वर्णकी मालाका कभी अनुभव कर सकता है ? स्वर्णकी मालाका नामरूप जैसे कुछ नहीं, केवल स्वर्ण ही सत्य है, उसी प्रकार शरीरका प्रकाशक शरीरस्थ कूटस्थ सत्य है, शरीर कुछ भी नहीं है। अतएव इस शरीरके न रहने पर भी जब ईश्वर रहते हैं तो फिर इस मिथ्या शरीरके लिए शोक करनेसे लाभ क्या ?

"मायया कल्पितं विश्वं परमात्मनि केवले।
रज्जौ भुजङ्गवत् भ्रान्त्या विचारे नास्ति किञ्चन॥"

मायाके द्वारा ही शुद्ध परमात्मामें विश्व कल्पित होता है, वस्तुतः विश्व है ही नहीं। जिस प्रकार भ्रान्तिवश रज्जुमें सर्प कल्पित होता है। भ्रान्त द्रष्टा यदि कुछ ध्यान-पूर्वक देखे तो उसकी समझमें आ जायगा कि वह सर्प नहीं है, उसी प्रकार विचारदृष्टि द्वारा देखने पर द्रष्टाकी समझमें आ जायगा कि यह दृश्यमान् जगत् केवल द्रष्टाकी कल्पनामें विद्यमान है, स्वरूपतः इसका कोई अस्तित्व नहीं है। जीवकी निद्रितावस्थामें नामरूप सब अव्यक्त परमात्मामें लीन हो जाता है, और जब जीव जागता है तो उस आत्मासे प्राण, तथा प्राणसे इन्द्रियादि और सारा जगत् व्यक्त हो उठता है ॥२८॥

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

अन्वय—कश्चित् (कोई) एनं (इसको) आश्चर्यवत् (आश्चर्यके समान) पश्यति (देखता है) तथा एव च (और उसी प्रकार) अन्यः (दूसरा कोई) आश्चर्यवत् (आश्चर्य होकर) वदति (बोलता है) अन्यः च (अन्य कोई) एनं

(इसको) आश्चर्यवत् (आश्चर्य होकर) शृणोति (सुनता है) कश्चित् च (और कोई) श्रुत्वा अपि (सुन करके भी) एनं (इसको) नैव वेद (नहीं जानता) ॥२६॥

श्रीधर—कुतस्तर्हि विद्वांसोऽपि लोके शोचन्ति ? आत्माज्ञानादेवेत्याशयेनात्मनो दुर्विज्ञेयतामाह—आश्चर्यवदित्यादि । कश्चिदेनमात्मानं शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां पश्यन्नाश्चर्यवत् पश्यति । सर्वगतस्य नित्यज्ञानानन्दस्वभावस्यात्मनोऽलौकिकत्वादैन्द्रजालिकवद् घटमानं पश्यन्निव विस्मयेन पश्यति असम्भावनाभिभूतत्वात् । तथा—आश्चर्यवदेवान्यो वदति च । शृणोति चान्यः । कश्चित् पुनर्विपरीतभावनाभिभूतः श्रुत्वापि नैव वेद । च शब्दादुक्त्वापि न दृष्ट्वापि न सम्यग्वेदेति द्रष्टव्यम् ॥२६॥

अनुवाद—[विद्वान् लोग भी क्यों शोक करते हैं ? आत्मज्ञान होने पर फिर शोक नहीं होता, परन्तु आत्मा अत्यन्त दुर्विज्ञेय है, इसीसे कहते हैं]—कुछ लोग शास्त्रों और आचार्य लोगोंके उपदेशानुसार देखते हुए इस आत्माको आश्चर्यवत् देखते हैं। सर्वगत नित्य ज्ञानानन्द-स्वभाव आत्माको ऐन्द्रजालिककी अलौकिक घटनाके समान इस विश्वरूपमें, असम्भावनाको सम्भावनारूपमें देखकर विस्मयसे अभिभूत हो जाते हैं। कुछ लोग इसको आश्चर्यवत् कहते हैं, कुछ आश्चर्यवत् इसको सुनते हैं। कुछ लोग सुनकर भी इसे यथार्थरूपसे नहीं जानते। आत्माके सम्बन्धमें लोग अनेक बातें बोलते हैं, अनेक बातें सुनते हैं, परन्तु आत्मसाक्षात्कारके बिना आत्माके सम्बन्धमें यथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं होता ॥ २६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस बातको कोई आश्चर्यके समान देखता है, बोलता है, सुनता है। सुन करके भी जाननेकी इच्छा कोई नहीं करता।

—साधारणतः देहसे पृथक् आत्माको कोई नहीं देख पाता। देखनेकी इच्छा करके उद्योग करने पर भी यह देह ही दिखलायी देती है, चिन्तन और विचार द्वारा वह केवल चैतन्य-मिश्रित-सी जान पड़ती है। इस देहके साथ उसका सम्बन्ध ऐसा ही है जैसे कि मकड़ी या रेशमका कीड़ा अपने ही भीतरसे जाल या तन्तु बाहर निकालता है, और यद्यपि उनको किसीने जाल या तन्तुके बीच बाँधा नहीं है, तथापि वह अपनेको बन्धन-युक्त समझते हैं, और कुछ दिनोंके बाद उनके मनमें क्या आता है कि सारे जालको छिन्न-भिन्न करके उससे बाहर निकलकर स्वाधीनता-पूर्वक विचरण करते हैं। अतएव मकड़ी और रेशमकीटका जालके भीतर बन्धन केवल सामयिक मात्र है, अतएव इस जाल और बन्धनको हम कुछ मिथ्या ही समझ सकते हैं। बाहरसे पकड़कर तो कोई उनको उसके भीतर नहीं डालता। जाल तो उनके अपनी देहसे ही उत्पन्न होता है, और स्वयं ही वे एक दिन अपनेको बन्धनमें डालनेके लिए कितनी जल्दीबाजी करते हैं ! और फिर किसी समय जल्दी-जल्दी बन्धन काटकर स्वयं बाहर निकल पड़ते हैं। यह क्यों होता है कहा नहीं जा सकता, यह बहुत कुछ अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार यह देह भी सामयिक है, अतएव मिथ्या है, और इस मिथ्या देहके साथ जो जीवका सम्बन्ध है वह भी मिथ्या है, तथा इस संयोगका हेतु जो कर्म है, वह भी मिथ्या है। इतना बड़ा असत्य व्यापार कैसा सत्यवत् प्रतिभात हो रहा है !

नित्य सर्वगत ज्ञानानन्द-स्वभाव आत्माका यह जो सामयिक बन्धन है सो एक अद्भुत इन्द्रजाल है। जो दूसरे क्षण कुछ भी न रहेगा, वह कैसे दुर्भेद्य पाषाण-दुर्गके समान दृढ़ मालूम हो रहा है! मुमुक्षु साधक इन सारे व्यापारोंको समझते समय जब इनके कार्य-कारणरूप भेदका अन्त नहीं पाता तो इसे 'महदद्भुतम्' महान् आश्चर्यरूपमें देखता है। आत्माके सम्बन्धमें नाना मुनियोंके नाना मत हैं, परन्तु उनका कथन भी कैसा आश्चर्यमय है! क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (श्रुति)—वाणी जिसे न पाकर मनके साथ वापस आती है, उसके सम्बन्धमें फिर कहना ही क्या है? परन्तु वह वाणी एक अत्यद्भुत वाणी है। वह हमारी मौखिक बात या विचारकी बात नहीं है। वाणी उसका अन्त पाये कैसे? तब एक प्रकारकी और वाणी है जिसे 'पश्यन्ती वाक्' कहते हैं, वही समाधि समयकी भाषा है, वह वाक् वैखरी नहीं है। क्रिया करते-करते जब गुरु कृपासे क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है, तब कभी-कभी इस भाषामें बात कही और सुनी जाती है। इसकी अन्तिम अवस्था यद्यपि निर्वाक है, वहाँ बोलनेके लिए भी कुछ नहीं रहता, और न सुननेके लिए ही कुछ रहता है। इसीकी पूर्वावस्था 'पश्यन्ती वाक्' है। उस समय जो भावमय सत्य वस्तु जमकर वाणीरूपमें प्रकट होती है, उसमें मिथ्याका लेश भी नहीं रहता। वह बाह्य ध्वनि नहीं है, किन्तु वह अशब्दका शब्द, परापश्यन्ती वाक् है। उसमें कुछभी इन्द्रिय-संश्रव नहीं रहता। वह सूक्ष्मभावमय भाषा जब इस ओष्ठ, कण्ठ, तालुसे प्रवाहित होती है तो वही वेदवाणी या वेदकी भाषा कहलाती है। इसी कारण इस वेदवाणीको आप्तवाक्य कहते हैं। आप्तवाक्य ही अभ्रान्त या अपौरुषेय वाणी है। यह पुरुष-प्रयत्नके बिना ही स्वयं प्रकाशित होती है। अतएव इस भाषामें जो लोग उस परम सत्य तत्त्वका जगत्में प्रचार करते हैं, वह बड़ा ही विमुग्धकारी तथा परम आश्चर्यरूप है! कोई इसे आश्चर्यवत् सुनता है—पहले जो कहा गया है उससे इस प्रकारका श्रवण भी आश्चर्यजनक व्यापार जान पड़ता है। कहीं कुछ नहीं है, अशरीरिणी वाणी है, फिर भी मानो कानमें प्रवेश कर रही है। श्रीमद्भागवतमें वर्णित है कि नारदजी इस वाणीको सुनकर विमुग्ध हो गये थे—

एवं यतन्तं विजने मामाहगोचरोगिराम्।
गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव॥

(भा० प्र० स्क०)

जो वाणीके परे हैं उस भगवान्के दर्शनकी प्राप्तिके लिए चेष्टा करनेवाले मुझको गम्भीर और स्नेहपूर्ण वाक्यमें मेरी मनःपीड़ाको मानो दूर करने के लिए बातें बोले—

हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मा द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥

हे नारद, जो कच्चे योगी हैं, अतएव जिनके चित्तमें काम-क्रोधादि कषाय रस विद्यमान है, वे कुयोगी मेरा दर्शन पानेके अधिकारी नहीं हैं।

इस प्रकार देख सुनकर भी कोई आत्माको नहीं जान सकता। क्यों ? क्योंकि इस प्रकारके द्रष्टा या श्रोता यदि कुशली नहीं है, अर्थात् साधनामें वैसे पटु नहीं हैं तो वे भी उसको नहीं जान पायँगे। कुछ दिन साधना करने पर अनेक अद्भुत दर्शन, अद्भुत श्रवण हुए, साधनाके उच्च सोपान पर भी खूब आरोहण किया, परन्तु प्रारब्ध-कर्मकी दुर्बलताके कारण साधनामें प्रयत्न कम होने लगा, और आत्माकी सम्यक् उपलब्धिमें समर्थ न हुए। जैसा होने पर ठीक आत्मदर्शन होता या स्वरूपमें स्थिति होती, वैसा न हो पाया।

निश्चय ही आत्मा इतना दुर्विज्ञेय है कि बारम्बार उसकी बात सुनने पर भी मन पर उसकी कोई छाप नहीं पड़ती। अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण ही ऐसा होता है। इसके लिए अन्तःकरणकी शुद्धि आवश्यक है। अन्तःकरणमें जब नाना प्रकारकी वासनाएँ उठती हैं तब वह अशुद्ध हो जाता है। उसको शुद्ध करनेका यही तरीका है कि मनको वासना या विकल्पसे शून्य कर दिया जाय। यह विकल्प-शून्य अवस्था क्रियाकी परावस्था है। इस अवस्थाको प्राप्त किए बिना केवल श्रवण-मननसे भी कुछ विशेष लाभ नहीं होता। "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥" कठ० उ०। इस आत्मतत्त्वका साधनोपाय पहले तो बहुतोंको श्रवण-गोचर ही नहीं होता। बहुतेरे सुनकर भी उसको ठीक-ठीक नहीं जान पाते। आत्मतत्त्वका वक्ता अत्यन्त दुर्लभ है, उसके अभिज्ञ श्रोता भी दुर्लभ हैं। और इस प्रकारके आत्म-साक्षात्कारवान् पुरुषके द्वारा उपदेश प्राप्त कर जो आत्माको जान लेता है वह भी आश्चर्यवत् अर्थात् बड़ा दुर्लभ है। यह जगद्-व्यापार और इसके तत्त्व कैसे महान् आश्चर्यवत् हैं! जो जगत् दीख पड़ता है वह है नहीं, और जो आत्मा देखनेमें नहीं आता है, वह आत्मा ही विद्यमान है! इस प्रकारके अतीन्द्रिय आत्माके ज्ञाता तथा इस आत्म-ज्ञानका मार्ग, तथा विशेषतः यह आत्मा किस प्रकार महान् आश्चर्य रूप हैं, यह कहनेमें नहीं आ सकता। इस आत्माका द्रष्टा आत्मा ही है, उसे छोड़ कर और कौन इसे देखेगा ? जब आत्माके सिवा कुछ भी नहीं है, तब जो कुछ है सब आत्मा ही है। वह क्रियाकी परावस्थामें निज-बोध-स्वरूप है॥ २९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

अन्वय—भारत (हे अर्जुन!) सर्वस्य (सबके) देहे (देहमें) अयं (यह) देही (आत्मा) नित्यं अवध्यः (नित्य अवध्य है), तस्मात् (इसलिए) त्वं (तुम) सर्वाणि भूतानि (सारे प्राणियोंको उद्देश्य करके) शोचितुं न अर्हसि (शोक नहीं कर सकते)॥३०॥

श्रीधर—तदेवमवध्यत्वमात्मनः संक्षेपेणोपदिशन्नशोच्यत्वमुपसंहरति—देहीत्यादि। स्पष्टोऽर्थः॥३०॥

अनुवाद—[आत्मा अवध्य है, अतएव संक्षेपमें कहकर आत्माके अशोच्यत्व का उपसंहार करते हैं] हे भारत ! सबके देहोंमें जो देहधारी आत्मा है वह नित्य अवध्य है, तथा देहमें चिरकाल तक रहनेवाला नहीं है, अतएव भूतोंके लिए तुम्हें शोक करना उचित नहीं ॥३०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—देही कूटस्थ है, नित्य और अवध्य है, और इस देहके भीतर ही सब कुछ (ब्रह्माण्ड) है, यह जानकर कुछ भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है।

—आत्मा ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है, इसलिए यह सदा ही अशोच्य है। ज्ञान और आनन्द तो दृश्य या जड़ पदार्थ नहीं हैं जो नष्ट होंगे। तुम्हें इतना भय किस कारण हो रहा है ? तुम तो आकाशके समान सर्वव्यापी और असीम हो, फिर तुम्हें शोक कैसा ? देहके लिए शोक तो विचार करने पर बहुत कुछ नष्ट हो जाता है। निश्चय ही यदि आत्माको जाननेके लिए प्रयास नहीं करोगे तो इसे जान नहीं सकोगे, और आत्मविनाशके भयसे कभी निस्तार न मिलेगा। अज्ञान ज्ञानके द्वारा नष्ट होता है। देहमें आत्म-बोध होता है अज्ञानके कारण, वह अज्ञान जब तक है, तब तक देहात्मबोध नष्ट नहीं होगा। इस अज्ञानका नाश करनेके लिए शरीरमें जो कूटस्थ रहता है उसको देखना होगा, जानना होगा। कूटस्थका ज्ञान होने पर ही इस देहमें ब्रह्माण्डको देख सकोगे। "देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।" यह देह और ब्रह्माण्ड एक ही है। ब्रह्माण्डमें ये सारे देह हैं, और देहमें सारा ब्रह्माण्ड भरा है ! कैसे, जानते हो ? क्योंकि इसके भीतर कूटस्थ रहता है। कूटस्थ जहाँ है वहाँ सब कुछ रहेगा। देखनेमें एक बिन्दु है, पर उस बिन्दुमें ब्रह्माण्ड है !! बाह्य विचारसे देह जड़ भले ही हो, परन्तु ज्ञानदृष्टिमें देह जड़ नहीं है—जब देह ही नहीं है तो फिर उसमें जड़-अजड़का प्रश्न कैसा ? जैसे सूर्यसे उसकी आभा पृथक् नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मसे ब्रह्माण्ड या देहीसे देह भी पृथक् नहीं है। निश्चय ही यह दृष्टि और ही है। विपरीत-रतिमें आतुर जगन्माताकी यह अद्भुत् लीला है !

बिराटे, व्यष्टिते किंबा अणुते स्थूलेते तार।
सेइ एक चिद्रूप अखण्ड-मण्डलाकार ॥
सकल इन्द्रिय-द्वारे या किछु बोधित हय।
से ये गो प्रकाश तारइ, जड़ नहे से चिन्मय ॥
चित् जड़वत् भासे बासनार बशे।
बासना बिशुद्ध करो प्रबल अभ्यासे ॥

"विराटमें, व्यष्टिमें अथवा अणुमें, स्थूलमें उस आत्माका ही एक अखण्ड मण्डलाकार चिद्रूप है। सारी इन्द्रियोंके द्वारसे जो कुछ जान पड़ता है वह सब उसका ही प्रकाश है, वह जड़ नहीं है चिन्मय है। वासनाके कारण चित् जड़के समान भासित होता है, इसलिए प्रबल अभ्यासके द्वारा वासनाको शुद्ध करो।"

जिस प्रकार अनेक घटोंके जलमें एक ही चन्द्रका प्रतिबिम्ब पड़कर अनेक चन्द्रसी प्रतीति होती है, और जलके आधार रूप घटके नष्ट होने पर वह प्रतिबिम्ब नहीं रहता,

उसी प्रकार आत्माकार भावनामें देह रूपी घट विलीन हो जाता है अर्थात् घट नामसे किसी वस्तुका बोध नहीं होता। जब घट ही नहीं रहा तो घटाकाश-उपाधि कैसे रहेगी ?

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

अन्वय—स्वधर्मं अपि च (और अपने धर्मकी ओर भी) अवेक्ष्य (देखकर) विकम्पितुं (विकम्पित हो) न अर्हसि (नहीं सकते) हि (क्योंकि) धर्म्यात् युद्धात् (धर्मयुद्धसे) क्षत्रियस्य (क्षत्रियका) अन्यत् (और कुछ) श्रेयः (कल्याणकर) न विद्यते (नहीं है) ॥३१॥

श्रीधर—यच्चोक्तमर्जुनेन वेपथुश्च शरीरे में इत्यादि तदप्ययुक्तमित्याह—स्वधर्ममपीति। आत्मनो नाशाभावादेवैतेषां हननेऽपि विकम्पितुं नार्हसि। किञ्च स्वधर्ममप्यवेक्ष्य विकम्पितुं नार्हसीति सम्बन्धः। यच्चोक्तं—न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे इति तत्राह—धर्म्यादिति। धर्मादनपेतान्न्याय्याद् युद्धादन्यत् ॥३१॥

अनुवाद—[अर्जुनने जो कहा है कि 'वेपथुश्च शरीरे मे'—मेरे शरीरमें कम्प हो रहा है—यह भी युक्तिहीन है, यह भगवान् कहते हैं] -आत्मा अविनाशी है, यह बात छोड़ भी दें तो भी इनको मारनेमें विकम्पित होना तुम्हें उचित नहीं है। क्योंकि अपने स्वधर्मकी आलोचना करने पर भी इस प्रकार कम्पित होना ठीक नहीं। तुम जो कहते हो कि युद्धमें स्वजनोंको मारनेमें श्रेय नहीं देखता, परन्तु न्याय्य युद्धके सिवा, क्षत्रियके लिये, और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं है ॥३१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अपना धर्म अर्थात् क्रिया, स्थिरतापूर्वक उसीकी ओर लक्ष्य करो। क्योंकि क्षत्रियको क्रियाके सिवा और कोई धर्म नहीं है।

—ब्रह्मको जिसने जान लिया है वह ब्राह्मण है, और जो ब्राह्मणके वीर्यसे उत्पन्न हुआ है वह भी ब्राह्मण है। ब्राह्मणके कुछ साधारण कर्म हैं, वे कर्म उसको स्वभावसे ही प्राप्त हैं—गीतामें इसका उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार क्षत्रियके भी कुछ स्वाभाविक धर्म-कर्म हैं। जैसे 'न निवर्त्तेत संग्रामात्' धर्मयुद्धसे निवृत्त न होना। धर्मयुद्ध है क्या ? धर्मरक्षाके लिए लोगोंको मारना बाह्य धर्म है। असल धर्म वह नहीं है। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' किसी जीवकी हिंसा न करो। यह भी श्रुति-वाक्य है। हिंसाकी भावनाही सबसे बढ़कर अधर्म है। जहाँ हिंसा है वहाँ आत्मदृष्टिका अभाव ही सूचित होता है। हम किसीकी हिंसा क्यों करते हैं ? इसीलिए कि हम उसको अपने अनुसार नहीं देखते। तथापि विपद्ग्रस्तको विपद्से उद्धार करनेके लिए यदि कहीं हिंसा करना आवश्यक हो तो वह हिंसा उतनी दूषित नहीं है। क्षतसे परित्राण करना और युद्धसे न भागना ही क्षत्रियोंका प्रधान धर्म है। तुम्हारा अपना निजी कितना दारुण क्षत है, क्या उस पर तुमने कभी ध्यान दिया है ? बारम्बार जन्ममरण, और इस संसारके अभाव-अभियोग, तथा निरन्तर किस प्रकार शत-शत

मनोव्यथासे जीव व्याकुल है, क्या उसकी ओर एक बार भी देखनेका अवसर तुम्हें मिला है ? शरीरमें साधारण फोड़ा होने पर कितना कष्ट पाते हो ? और उस कष्टसे छुटकारा पानेके लिए डाक्टर-वैद्योंके यहाँ कितनी दौड़-धूप करते हो ? और ये जो लाखों लाखों जन्म भवव्याधिके सन्ताड़नसे क्षत-विक्षत हो रहे हैं, ज्वाला असह्य हो रही है, कितने लोगोंके प्रति दया दिखलाते हो ? पर इस दुर्भाग्य जीवके प्रति क्यों नहीं दया हो रही है, बतलाओ तो ? जीवनके लिए सबसे बढ़कर दुःख-दुर्भाग्य क्या है ? धनका अभाव, विषयादिका अभाव, स्त्री-पुत्रका अभाव, स्वस्थ शरीरका अभाव—ये सारे ही दुर्भाग्य हैं, परन्तु सबसे बड़ा दुर्भाग्य है आत्माको न जानना, ईश्वरको न पहचानना और उसका भजन न करना। इसी तापसे मानव-जीवन निरन्तर हाहाकार कर रहा है, दारुण ज्वालासे छटपटा रहा है, क्षणभरके लिए भी उसको शान्ति नहीं है !! परन्तु दुर्भाग्यके ऊपर दुर्भाग्य यह है कि हमारी इस सन्तापमय अवस्थाका कारण हमारे सामने उपलब्ध नहीं होता। अतएव सौभाग्यसे जिन्होंने अपने इस दुःख-दौर्भाग्यको उपलब्ध किया है वे लोग इस दुःखसे निस्तार पानेके हेतु साधु-सन्त, सद्गुरुके द्वारा प्रदर्शित मार्गमें चलनेके लिए प्राणपनसे चेष्टा करते हैं। पश्चात् स्वयं कुछ सफल होकर जो आत्मरक्षा और दूसरोंको दुःखसे परित्राण करनेकी चेष्टा करते हैं वे ही असल क्षत्रिय हैं। क्षत्रियका युद्धसे न भागना एक विशेषधर्म है। साधनका मार्ग अत्यन्त नीरस हो, या विघ्नोंसे भरपूर हो तथापि क्षत्रियभावापन्न पुरुष किसी भी प्रकार युद्ध करने या साधनाभ्यासके प्रयत्नसे पराङ्मुख न होगा। क्योंकि साधकके लिए इस धर्मयुद्धकी अपेक्षा अधिक कल्याणप्रद और कौन वस्तु हो सकती है ? अतएव कुछ आपात-रमणीय सुखोंका अभाव होता देखकर साधनक्षेत्रसे मुँह मोड़ना किसी भी साधकके लिए समुचित नहीं ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) यदृच्छया च (अनायास ही—अयाचित भावसे) उपपन्नं (उपस्थित) अपावृतं (उन्मुक्त) स्वर्गद्वारं (स्वर्गके द्वारके समान) ईदृशं युद्धं (इस प्रकारका युद्ध) सुखिनः (सौभाग्यवान्) क्षत्रियाः (क्षत्रियगण) लभन्ते (प्राप्त करते हैं) ॥ ३२ ॥

श्रीधर—किञ्च महति श्रेयसि स्वयमेवोपागते सति कुतो विकम्पसे इति आह—यदृच्छयेति। यदृच्छयाऽप्रार्थितमेवोपपन्नं प्राप्तमीदृशं युद्धं सुखिनः सुभाग्या एव लभन्ते। यतो निरावरणं स्वर्गद्वारमेवैतत्। यद्वा य एवंविधं युद्धं लभन्ते त एव सुखिन इत्यर्थः। एतेन—स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधवेति युदुक्तं तन्निरस्तं भवति ॥ ३२ ॥

अनुवाद—[परन्तु यह महा श्रेय स्वयं उपस्थित है, अतएव तुम कम्पित क्यों हो रहे हो ? इसी अभिप्रायसे कहते हैं] हे पार्थ, अप्रार्थित वस्तु स्वयं उपस्थित है, मुक्त स्वर्गद्वारके समान ऐसा युद्ध सौभाग्यवान् क्षत्रियको ही प्राप्त होता है।

[स्वजनोंको मारकर मैं किस प्रकार सुखी हूँगा, अर्जुनकी इस बातको यहाँ निरस्त किया गया] ॥ ३२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया करके परमानन्द प्राप्त करता है, जो क्षेत्री सुखी हैं वे इस प्रकार क्रियाको प्राप्त करते हैं ।

—अनायास ही साधन प्राप्त करना सौभाग्यकी बात है, और जो मन लगाकर साधन करते हैं उनके भाग्यका क्या पूछना ? इस साधनाके द्वारा ही स्वर्गद्वार मुक्त होता है। सुषुम्नाका मुँह बन्द रहनेके कारण ही तो जीवकी यह दुर्गति है, इसी कारणसे तो संसार-प्रवाह चल रहा है ! इस साधनाके द्वारा वह सुषुम्नाका द्वार खुल जायगा। इससे बढ़कर और सौभाग्यकी बात क्या हो सकती है ? प्रकृत स्वर्गका द्वार इस साधन-युद्धके द्वारा ही उन्मुक्त होता है।

विधिवत् प्राणसंयामैर्नाड़ीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ।
तथा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥
ऊर्ध्वे निलीनप्राणस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगेन सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥

विधिवत् प्राणसंयमके द्वारा नाड़ीचक्र विशुद्ध होने पर सुषुम्नाका मुँह खुल जाता है, और उसके भीतर प्राणवायुका सहज संचार होने लगता है। मध्यनाड़ी अर्थात् सुषुम्नाके बीच वायु-संचार होने पर मनकी स्थिरता प्राप्त होती है। मनके इस निश्चल भावको ही 'उन्मनी' कहते हैं। सुषुम्नाके भीतर प्राणवेग संचालित होने पर मन शून्यमें प्रविष्ट होता है अर्थात् निरालम्बमें स्थिर होता है, तब योगविद् पुरुषके समस्त कर्म निर्मूल हो जाते हैं। जिन्होंने ऊर्ध्वमें अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रमें प्राणको लय किया है, तथा उससे उनके सारे कर्म निःशेषरूपसे परित्यक्त हो गये हैं, इस प्रकारके योगीकी सहजावस्था या जीवन्मुक्त अवस्था योगाभ्यासके द्वारा अपने आप उत्पन्न होती है ॥३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अन्वय—अथ (इसके बाद) चेत् (यदि) त्वं (तुम) इमं (इस) धर्म्यं संग्रामं (धर्मयुद्धको) न करिष्यसि (न करोगे) ततः (तो इससे) स्वधर्मं कीर्तिं च (स्वधर्म और कीर्तिको) हित्वा (त्याग करके) पापं अवाप्स्यसि (पापको प्राप्त होगे) ॥३३॥

श्रीधर—विपर्यये दोषमाह—अथ चेदित्यादि ॥३३॥

अनुवाद—[इससे विपरीत आचरणमें दोष दिखला रहे हैं] इसके बाद भी

यदि तुम धर्मयुद्ध नहीं करते हो तो इससे स्वधर्म और कीर्तिका त्यागकर पापको प्राप्त होगे ॥३३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यदि कदाचित् इस प्रकारकी क्रिया नहीं करते हो, तो कूटस्थ ब्रह्ममें स्थित न होनेसे पाप लगेगा।

—जिस पापसे तुम डर रहे हो, वह पाप, क्रिया न करनेसे और भी अधिक होगा। क्रिया किये बिना कूटस्थमें स्थित नहीं हो सकोगे, कूटस्थमें स्थिर न होनेसे मन विषय-भोगकी ओर दौड़ेगा। मनकी यह विषयासक्ति ही पाप है। इस पापसे बचनेका तब दूसरा उपाय क्या है? स्वधर्म—आत्मभावमें रहना अर्थात् क्रियाकी परावस्था। कीर्ति—साधन करते-करते जो योग-लक्षण परिस्फुट होते हैं। कूटस्थमें रहना, कूटस्थमें देखना, क्रिया छोड़ देने पर यह सब कुछ भी न रहेगा ॥३३॥

अकीर्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अन्वय—अपि च (और भी) भूतानि (सारे लोग) ते (तुम्हारी) अव्ययां (चिरकाल व्यापिनी) अकीर्तिं (अकीर्ति, अपयश) कथयिष्यन्ति (कहते फिरेंगे)। सम्भावितस्य (सम्मान-प्राप्त पुरुषकी) अकीर्तिः (अपयश) च मरणात् (मृत्युसे भी) अतिरिच्यते (बढ़कर होता है) ॥३४॥

श्रीधर—किञ्च—अकीर्तिमित्यादि। अव्ययां शाश्वतीम्। सम्भावितस्य बहुमानितस्य। अतिरिच्यते अधिकतरा भवति ॥३४॥

अनुवाद—औरभी देखो, सब लोग चिरकाल तक तुम्हारा अपयश कहते फिरेंगे। सम्मान-प्राप्त पुरुषको अपयश मृत्युसे भी बढ़कर होता है ॥३४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब कहेंगे कि ब्रह्ममें नहीं हैं, इससे तो कहीं मर जाना अच्छा होगा—अकीर्ति अर्थात् कूटस्थमें न रहना।

—अर्जुनके कारण ही भगवान्ने यह बात कही, क्योंकि अर्जुनने तो अभी प्रथम साधन प्रारम्भ नहीं किया, वह सम्भावित पुरुष हैं अर्थात् उनमें साधन-सिद्धि प्राप्त करनेकी सम्भावना है, ऐसा आदमी भी यदि साधन-त्याग करना चाहे, तो उसको अन्य साधकोंके सामने लघु होना पड़ेगा। जिस साहस और तेजके कारण उसका इतना सुनाम है, उसका वह सुनाम फिर न रहेगा। क्रिया न करने पर कूटस्थमें स्थितिभी कैसे होगी? निश्चय ही सिद्ध पुरुषके साधन करनेका और कोई प्रयोजन न भी हो। परन्तु जिनको अभी साधनमें सिद्धि नहीं प्राप्त हुई है, उनका काम साधनके बिना कैसे चलेगा? ॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अन्वय—महारथाः (महारथी लोग) त्वां (तुमको) भयात् (डरके कारण) रणात् (युद्धसे) उपरतं (निवृत्त) मंस्यन्ते (समझेंगे) येषां च त्वं (और जिनके सामने तुम) बहुमतं भूत्वा (बहु मानका पात्र होकर) लाघवं (लघुताको) यास्यसि (प्राप्त होगे) ॥३५॥

श्रीधर—किञ्च भयादिति। येषां बहुगुणत्वेन त्वं पूर्वं सम्मतोऽभूस्त एव भयात् संग्रामान्निवृत्तं त्वां मन्येरन्। ततश्च पूर्वं बहुमतो भूत्वा लाघवं लघुतां यास्यसि ॥३५॥

अनुवाद—महारथी लोग समझेंगे कि तुम भयके कारण रणसे निवृत्त हो रहे हो, जिनके सामने तुम्हारा बड़ा मान-सम्मान था उनके सामने तुम लघुताको प्राप्त होगे ॥३५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यदि कदाचित् क्रिया नहीं करते हो, तो जिसके मनमें जो आवेगा वह बोलेगा, अतएव छोटे हो जाओगे।

—साधन छोड़ देने पर रिपु जो हुक्म देंगे वही करना पड़ेगा। तुम्हारी कितनी अल्प शक्ति है, यह इन्द्रियोंके समझनेमें बाकी न रहेगा ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—तव (तुम्हारे) अहिताः च (शत्रु लोग भी) तव (तुम्हारी) सामर्थ्यं (सामर्थ्यकी) निन्दन्तः (निन्दा करते हुए) बहून् (अनेक) अवाच्यवादान् (न बोलने योग्य बातें) वदिष्यन्ति (बोलेंगे), ततः (इससे) दुःखतरं (अधिक दुःखप्रद) किं नु (और क्या हो सकता है ?) ॥ ३६ ॥

श्रीधर—किञ्च—अवाच्यवादानित्यादि। अवाच्यान् वादान् वचनानर्हान् शब्दांस्तवाहितास्त्वच्छत्रवो वदिष्यन्ति ॥३६॥

अनुवाद—तुम्हारे शत्रु अनेक प्रकारकी न कहने योग्य बातें कहेंगे, निवातकवच आदिके साथ युद्धमें तुमने जो यश प्राप्त किया था, तुम्हारी उन सारी सामर्थ्योंकी वे निन्दा करेंगे। इससे बढ़कर कष्टप्रद वस्तु और क्या है ? ॥ ३६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अवाच्य, कुवचन तुम्हारे विषयमें बोलेंगे जो अहितकारी हैं अर्थात् इन्द्रियादि। अर्थात् कहेंगे कि कैसे चला गया था हमने लौटा लिया न ? तुम्हारे सामर्थ्यकी निन्दा करेंगे, इससे बढ़कर दुःख और कुछ नहीं है।

— तुम चाहे साधन न करो, इन्द्रियपरायण होकर रहो, इससे यह न सोचो कि इन्द्रियाँ तुम्हारा आदर करेंगी। बल्कि वे तुमको कायर समझेंगी, और सारी इन्द्रियाँ एक स्वरसे कह उठेंगी, "हमारे विरुद्ध युद्ध करना चाहता था, अब तो तुझे मालूम हो गया कि तू कितनी सामर्थ्य रखता है ? सोचा था कि मानो इधर मुड़ेगा ही नहीं, कैसे घसीट कर अपनी ओर हमने खींच लिया है" ? ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय !) हतः वा (यदि मारे गये) स्वर्गं प्राप्स्यसि (स्वर्ग प्राप्त करोगे) जित्वा वा (यदि जीतते हो) महीं (पृथिवीको) भोक्ष्यसे (भोगोगे) तस्मात् (अतएव) युद्धाय (युद्धके लिए) कृतनिश्चयः (कृतनिश्चय हो कर) उत्तिष्ठ (उठो) ॥ ३७ ॥

श्रीधर—यदुक्तं—न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीय इति तत्राह—हतो वेत्यादि । पक्षद्वयेऽपि तव लाभ एवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अनुवाद—हे कौन्तेय, यदि तुम युद्धमें मारे जाते हो तो स्वर्ग प्राप्त करोगे और यदि जीतते हो तो पृथिवीका भोग करोगे। तुम्हारे लिए दोनों प्रकारसे ही लाभ है, अतएव युद्धार्थ कृतनिश्चय होकर उठो ॥ ३७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—निश्चयपूर्वक क्रिया करो, सिद्ध होते हो तो अच्छा ही है, यदि सिद्ध नहीं हुए, आगे सुख मिलेगा।

—अर्जुनने कहा था "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः" जय और पराजयमें कौन सा हमारे लिए कल्याणकर है, यह समझ नहीं पाता हूँ, यहाँ श्रीभगवान्‌ने उस विषयमें ही समझाया है कि यदि साधन करके सिद्धि प्राप्त करते हो तो अच्छा है, और यदि सिद्धि प्राप्त नहीं करते हो तो भी स्वर्गकी प्राप्ति अवश्य होगी। षष्ठ अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है "पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते"। यदि क्रिया करते करते सौभाग्यवश विजय प्राप्त करते हो अर्थात् साधन समाप्त कर सिद्धि प्राप्त करते हो तो पृथिवी—अर्थात् मूलाधार-ग्रन्थि और हृदयग्रन्थि छिन्न हो जायगी, परमा सिद्धि प्राप्त करके मुक्त हो जाओगे, इच्छारहित अवस्था प्राप्त होगी। और यदि सिद्धि प्राप्त नहीं होती है, तो क्रिया करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति हो सकेगी, अर्थात् बीच बीचमें उच्चावस्था तथा आज्ञाचक्रमें स्थिति प्राप्त होगी। शरीर-त्याग के बाद भी उच्च लोकमें गति होगी ॥३७॥

सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

अन्वय—सुख-दुःखे (सुख और दुःखको) लाभालाभौ (लाभ और हानिको) जयाजयौ (जय और पराजयको) समे कृत्वा (समान समझकर) युद्धाय (युद्धके लिए) युज्यस्व (लग जाओ) ततः (ऐसा करने पर) एवं (इस प्रकार) पापं (पापको) न अवाप्स्यसि (प्राप्त न होगे) ॥३८॥

श्रीधर—यदप्युक्तं पापमेवाश्रयेदस्मानिति तत्राह—सुखदुःखे इत्यादि। सुख-दुःखे समे कृत्वा। तथा तयोः कारणभूतौ लाभालाभावपि। तयोरपि कारणभूतौ जयाजयावपि

समौ कृत्वा। एतेषां समत्वे कारणं हर्षविषादराहित्यम्। युज्यस्व सन्नद्धो भव। सुखाद्यभिलाषं हित्वा स्वधर्मबुद्ध्या युध्यमानः पापं न प्राप्स्यसि इत्यर्थः ॥३८॥

अनुवाद—[तुमने कहा था, 'पापमेवाश्रयेदस्मान्' इनको मारनेसे हम पापग्रस्त होंगे—इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—सुख दुःख, लाभालाभ और जय-पराजयको तुल्य जानकर युद्धमें लग जाओ। सुखदुःखकी अभिलाषा त्यागकर स्वधर्म-बुद्धिसे युद्ध करने पर पापको प्राप्त न होगे ॥३८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सुख-दुःख, लाभ और अलाभको समान करके क्रियाका अनुष्ठान करो, इससे ब्रह्ममें रहोगे।

—ब्रह्ममें न रहना ही पाप है, और जब तक चित्तमें समता न आयेगी यह पाप होगा ही। क्रियाकी परावस्थामें ही चित्तकी समता होती है। यह क्रियाकी परावस्था क्रिया किये बिना न पाओगे। पहलेसे ही यदि सोचते हो योगाभ्यास करनेसे कितनी शक्ति मिलेगी, क्या क्या देख सकूँगा और इसी आशासे यदि क्रिया करते हो तो अच्छी बात नहीं। क्योंकि क्रिया करना तो तुम्हारा कर्त्तव्य है, तथा यह सबका स्वधर्म भी है। अपने प्रति आप दया किये बिना धर्म न होगा, कुछ भी न होगा। इस बुद्धिसे क्रिया आरम्भ करो, यदि कुछ साधन-सिद्धि हुई तो ठीक है, न हुई तो भी क्या? परन्तु भगवत्स्मरण जो जीवका ऐकान्तिक कर्त्तव्य है वह करना ही होगा। यदि हम भगवत्स्मरण करेंगे तो हमें सारी सांसारिक सुविधाएँ प्राप्त होंगी या अभी समाधि लाभ होगा या अभी कामक्रोधादि सब मिट जायँगे—ऐसा सोचकर भजन करने पर भजनका प्रकृत फल जो समता है वह प्राप्त न होगी। समता या शान्तिकी कामना करके भी चित्तको विक्षिप्त करना ठीक नहीं है, इससे तुम्हें शान्ति न मिलेगी। भगवद्-भजनका फल ही शान्ति है, वह भजन करनेसे ही प्राप्त होगी, इसके लिए व्याकुल होनेकी आवश्यकता नहीं है। 'मालिक ना रक्खे हक'—वह मालिक हैं, किसीका पावना कौड़ी भी बाकी नहीं रखते।

श्रीमद्भागवतमें है—

नष्टप्रायेस्वभद्रेषु नित्यं भागवत्-सेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥

सुख-दुःखादि सभी अवस्थाओंमें, भक्तोंकी सेवा या भगवत्-शरणागतिके द्वारा अपने अन्तःकरणके समस्त मलोंके नष्ट होने पर उत्तम-श्लोक श्रीभगवान्में (जिसकी कीर्ति जीवके अविद्यान्धकारको नष्ट करती है) निश्चला भक्ति होती है। और तभी रजोगुणसे उत्पन्न काम तथा तमोगुणसे उत्पन्न लोभ चित्तको विद्ध नहीं कर सकते, उस समय चित्त सत्त्वगुणमें अवस्थित होकर ब्रह्मचिन्तनमें निरत होनेमें समर्थ होता

है। भक्तिपूर्वक भगवान्‌का भजन करने पर ही उनके साथ योगयुक्त हुआ जा सकता है तथा चित्त आनन्दसे भर जाता है। तथा इसके साथ और दो वस्तुओंका संयोग होता है। सारी वस्तुओंकी आसक्ति दूर हो जाती है अर्थात् वैराग्य उपस्थित होता है और तभी यथार्थ 'भगवत्तत्त्वविज्ञान' अर्थात् ज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) सांख्ये (परमार्थ तत्त्वविज्ञान-विषयमें) एषा (यह) बुद्धिः (ज्ञान) ते (तुमसे) अभिहिता (कहा गया), योगे तु (उक्त तत्त्वज्ञानका उपायभूत निष्काम कर्मयोग विषयमें) इमां (अगला उपदेश) शृणु (सुनो), यया बुद्धया (जिस ज्ञानके द्वारा) युक्तः (युक्त होने पर) कर्मबन्धं (कर्मबन्धनको) प्रहास्यसि (त्याग करनेमें समर्थ होगे) ॥३९॥

श्रीधर—उपदिष्टं ज्ञानयोगमुपसंहरंस्तत्साधनं कर्मयोगं प्रस्तौति एषेत्यादि। सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनयेति संख्या सम्यग् ज्ञानं, तस्यां प्रकाश मानमात्मतत्त्वं सांख्यम्। तस्मिन् करणीया बुद्धिरेषा तवाभिहिता। एवमभिहितायामपि तव चेदात्मतत्त्वमपरोक्षं न भवति तर्ह्यन्तःकरणशुद्धिद्वारात्मतत्त्वापरोक्षार्थं कर्मयोगे त्विमां बुद्धिं शृणु। यया बुद्ध्या युक्तः परमेश्वरार्पितकर्मयोगेन शुद्धान्तःकरणः संस्तत्प्रसादलब्धापरोक्षज्ञानेन कर्मात्मकं बन्धं प्रकर्षेण हास्यसि त्यक्ष्यसि ॥३९॥

अनुवाद—[उपदिष्ट ज्ञानयोगका उपसंहार करते हुए तत्त्वज्ञानके उपायस्वरूप कर्मके विषयमें कहते हैं]—जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व सम्यक् रूपसे प्रकाशित होता है उसका नाम है संख्या या सम्यग् ज्ञान। उस सम्यग् ज्ञानमें जो आत्मतत्त्व प्रकाशित होता है उसे सांख्य कहते हैं। आत्मतत्त्वके विषयमें जो बुद्धि, ज्ञान या उपदेश तुमको बतलाया गया उससे भी यदि तुमको आत्मतत्त्वके विषयमें अपरोक्ष ज्ञान (सत्य ज्ञान) नहीं होता है, तो अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा आत्मतत्त्वका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करनेके लिए कर्मयोग विषयक जो बुद्धि अर्थात् ज्ञान है, उसे श्रवण करो। जिस बुद्धिसे युक्त होने पर हे पार्थ, परमेश्वरार्पित कर्मयोगके द्वारा अन्तःकरणके शुद्ध होने पर उनके प्रसादसे अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त कर कर्म-जनित बन्धनको प्रकृष्ट रूपसे त्याग सकोगे ॥३९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—स्थिर करके ब्रह्ममें लगकर फलाकाङ्क्षाके साथ कर्मपाशसे मुक्त होगे।

—पूर्व ही कह चुका हूँ कि ब्रह्ममें न रहना ही पाप है। ब्रह्ममें न रहना कैसा ? 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'—ब्रह्म निर्दोष है अर्थात् वहाँ किसी गुणका खेल नहीं है, इसीलिए उसे त्रिगुणातीत भाव कहते हैं। यह त्रिगुणातीत भाव ही वस्तुतः सम कहलाता है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना में रहने पर त्रिगुणमय भावसे भावित रहना पड़ता है। अतएव इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नासे अतीत अवस्था प्राप्त करनी

पड़ेगी। यही वस्तुतः 'सम' या ब्रह्मभाव है। यह समभाव जब तक नहीं होता, संसार भाव तब तक बना रहेगा। संसारका जो भाव है वह ब्रह्मका उलटा भाव है, इसीसे पाप कहलाता है। ब्रह्म निष्पाप है। श्रुति कहती है—'धर्मेण पापमपनुददित', धर्मके द्वारा मनकी मलिनता या विषय-भ्रमणरूप पाप नष्ट हो जाता है। यह कल्मषशून्य ब्रह्म ही धर्मकी मूर्ति है। मनकी चञ्चलता और विक्षेप ही सब पापका मूल है। यह मन जब स्थिर होकर अमन होता है तो ब्रह्म हो जाता है, वह चिर स्थिर होने पर चिदाकाश रूप रहता है। इस स्थिरतामें जब मन अटक जाता है अर्थात् बाहर निकलनेका मार्ग नहीं पाता तो उस अवस्थाको ही सम्यग् ज्ञान या सांख्य नाम देते हैं—यही जीवन्मुक्तिकी अवस्था है। यह अवस्था, तथा इसमें रहनेसे क्या होता है, इत्यादि बातें कही जा चुकी हैं। अब इस अवस्थामें स्थिर होकर कैसे रह सकोगे, इसका उपाय सुनो। इसका उपाय है कर्मयोग या क्रिया। इसके द्वारा ही चित्तशुद्धि होती है अर्थात् चित्तमें जो केवल 'विषय-मल' भरा हुआ है उसके दूर हो जाने पर ही चित्त शून्य हो जायगा। उस शून्यमें जाकर समझ सकोगे कि तुम स्वयं क्या हो, और ये सब दृश्य पदार्थ क्या हैं?

"शून्य नहीं शून्यमात्र ब्रह्माण्डका मूलाधार।"

यों ही ज्ञान-भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती, प्राणायामके द्वारा प्राण शुद्ध करने पर ही मन-बुद्धि सब शुद्ध हो जाते हैं। तभी चित्तमें एकाग्रता या ध्याननिष्ठा आती है। तब रजस्तमोगुणके खेल एकदम नहीं होते। तब मन प्रसन्न होकर तद्गत हो जाता है—इस अवस्थामें ही विषय-विरति ज्ञान या भगवत्साक्षात्कार होता है ॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

अन्वय—इह (इस निष्काम कर्मयोगमें) अभिक्रमनाशः (प्रारम्भकी विफलता) न अस्ति (नहीं होती) प्रत्यवायः (प्रत्यवाय या पाप) न विद्यते (नहीं होता)। अस्य धर्मस्य (इस धर्मका) स्वल्पम् अपि (बहुत थोड़ा भी) महतः भयात् (महा-भयसे) त्रायते (त्राण करता है) ॥४०॥

श्रीधर—ननु कृष्यादिवत् कर्मणां कदाचिद्विघ्नबाहुल्येन फले व्यभिचारात् मन्त्राद्यङ्ग-वैगुण्येन च प्रत्यवायसम्भवात् कुतः कर्मयोगेन कर्मबन्धप्रहाणम्? तत्राह—नेहेत्यादि। इह निष्काम कर्मयोगेऽभिक्रमस्य प्रारम्भस्य नाशो निष्फलत्वं नास्ति, प्रत्यवायश्च न विद्यते। ईश्वरोद्देशेनैव विघ्नवैगुण्याद्यसम्भवात्। किञ्चास्य धर्मस्येश्वराराधनार्थकर्मयोगस्य स्वल्पमप्युपक्रम-मात्रमपि कृतं महतो भयात् संसारलक्षणात् त्रायते रक्षति। न तु काम्यकर्मवत् किञ्चिदङ्ग-वैगुण्यादिना नैष्फल्यमस्येत्यर्थः ॥४०॥

अनुवाद—[यदि कहो कि कृषि आदिके समान फल-प्राप्तिमें विघ्नबाहुल्यके कारण व्यभिचार आता है, तथा मन्त्रादिके अङ्ग-वैगुण्यके कारण प्रत्यवायकी भी संभावना है, अतएव कर्मयोगके द्वारा कर्मबन्धन कैसे छूट सकता है? इसके उत्तरमें

कहते हैं] इस निष्काम कर्मयोगमें प्रारम्भकी विफलता नहीं होती। अर्थात् आरम्भ करके यदि विघ्नोंके कारण पूरा न कर सको, तब भी वह निष्फल न होगा। ठीक ठीक न कर सकनेके कारण यदि अङ्ग-वैगुण्य होता है तब भी उसमें प्रत्यवाय या पाप नहीं लगता। क्योंकि ईश्वरोद्देश्यसे किये जाने वाले कार्यमें बाधा आदि भी संभव नहीं है। बल्कि इस धर्मका अर्थात् ईश्वराराधनाके लिए कर्मयोगका थोड़ा भी अनुष्ठान संसारात्मक महाभयसे रक्षा करता है। काम्यकर्मका थोड़ा सा अङ्ग-वैगुण्य होने पर जैसे वह कर्म निष्फल हो जाता है उस प्रकार इसमें नहीं होता ॥४०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अल्प क्रिया करने पर भी महान् भयसे परित्राण पा जाओगे।

—जिस क्रियायोगकी बात कही गयी है, उसे करते करते यदि विघ्न उपस्थित होता है और वह पूरा नहीं होता। मान लो क्रियाकी समाप्ति नहीं हुई और मृत्यु आ उपस्थित हो गई या शरीरका कोई अंश नष्ट हो गया, या देहमें रोगादि उत्पन्न हो गया जिससे क्रिया करना बन्द हो गया, ऐसी स्थितिमें वह असमाप्त साधन व्यर्थ हो जायगा, अथवा जिस प्रकार करना उचित है यानी आहार, विहार, निद्रा आदिमें संयम साधन करना—वह किसी कारणवश न हो सका या वैसी श्रद्धा न होनेके कारण क्रिया उस प्रकार उत्साहसे न हो सकी—ये सब प्रत्यवाय यदि उपस्थित होते हैं, तब तो सारा परिश्रम व्यर्थ गया! इसका उत्तर यह है कि वह वृथा नहीं होता, यदि नियमादिकी रक्षा करते हुए साधन कर सको तो बहुत अच्छा, अथवा प्राणपनसे चेष्टा करते हुए दीर्घकाल तक प्रतिदिन नियमित रूपसे साधन कर सको तो और अच्छा—क्योंकि इस प्रकार करनेसे फल शीघ्र ही प्रत्यक्ष होता है। योगदर्शनमें लिखा है—'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमिः।' वह अभ्यास दीर्घकाल तक अर्थात् बहुत दिनों तक तथा निरन्तर अर्थात् बहुत देर तक बैठकर खूब श्रद्धापूर्वक आसेवित होने पर दृढ़भूमि लाभ करता है। परन्तु यदि ऐसा न हो, नियमकी भी रक्षा ठीक प्रकारसे न कर सको, बहुत देर तक साधनमें न बैठ सको, तो इससे फलकी मात्रामें अधिकता न होने पर भी वह एकबारगी बेकाम न हो जायगा। प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा अभ्यास करनेसे जो संस्कार उत्पन्न होगा वह दूसरे जन्ममें उसको साधनकी इच्छा और अनुकूल अवस्था प्रदान करेगा। इस प्रकार जन्म-मरणके महाभयसे उसे शीघ्र ही—दो-तीन जन्मोंमें ही परित्राण कर देगा। यदि सौभाग्यवश साधनामें और गुरुमें प्रबल श्रद्धा है तो स्वल्प साधनके द्वारा भी वह इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त कर सकता है ॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

अन्वय—कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन अर्जुन!) इह (इस निष्काम कर्मयोगमें) व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धिः (ज्ञान) एका (एकमात्र—एकमात्र लक्ष्यमें स्थित है)। अव्यवसायिनां (ईश्वर-विमुखोंकी—निश्चयात्मिका बुद्धिशून्य लोगोंकी) बुद्धयः (बुद्धि) बहुशाखाः (बहु शाखाविशिष्ट अर्थात् बहुभेदयुक्त) अनन्ताः च

(और अनन्त अर्थात् कितनी दिशाओंमें वह धावित होती है उसकी सीमा नहीं है) ॥४१॥

श्रीधर—कुत इत्यपेक्षायामुभयोर्वैषम्यमाह—व्यवसायात्मिकेत्यादि। इहेश्वराराधनलक्षणे कर्मयोगे व्यवसायात्मिका परमेश्वरभक्त्यैव ध्रुवं तरिष्यामीति निश्चयात्मिकैकैवैकनिष्ठैव बुद्धिर्भवति। अव्यवसायिनां त्वीश्वराराधनबहिर्मुखानां कामिनां—कामानामानन्त्यात् अनन्ताः। तत्रापि हि कर्मफलगुणफलत्वादि-प्रकारभेदाद्बहुशाखाश्च बुद्धयो भवन्ति। ईश्वराराधनार्थे हि नित्यं नैमित्तिकं च कर्म किञ्चिदङ्गवैगुण्येऽपि न नश्यति। यथा शक्नुयात् तथा कुर्यादिति हि तद्विधीयते। न च वैगुण्यमपि। ईश्वरोद्देशेनैव वैगुण्योपशमात् न तु तथा काम्यं कर्म। अतो महद्वैषम्यमिति भावः ॥४१॥

अनुवाद—[यह कैसे संभव है ? इस आशङ्काके उत्तरमें दोनोंमें जो वैषम्य है उसे बतलाते हैं]—हे कुरुनन्दन ! इस ईश्वराराधनरूप कर्मयोगमें 'परमेश्वरमें भक्ति द्वारा निश्चय ही उद्धार होगा'—इस प्रकारकी निश्चयात्मिका एकनिष्ठ बुद्धि होती है। (निष्काम कर्मयोगी एकमात्र ईश्वरकी ओर लक्ष्य करके कर्म करता है, उसका लक्ष्य एक ईश्वर है अतएव उसकी चिन्ता चारों ओर नहीं दौड़ती) और ईश्वरविमुख लोगोंकी कामनाएँ अनेक होती हैं; इस कारण उनकी बुद्धि भी बहुविषयिणी बहुशाखा-युक्त और अनन्त होती है। ईश्वराराधनके लिए किये गये नित्यनैमित्तिक कर्ममें किञ्चित् अङ्गवैगुण्य होनेपर भी वे नष्ट नहीं होते। शास्त्र कहते हैं कि "जो जैसा सक्षम होता है वैसा ही कार्य करता है।" इसमें वैगुण्य भी नहीं होता। क्योंकि ईश्वरोद्देशसे जो कर्म किये जाते हैं उनमें वैगुण्यका उपशम हो जाता है। परन्तु काम्यकर्म वैसे नहीं होते, अतएव काम्य कर्म और निष्काम कर्मकी बुद्धिमें महान् वैषम्य रहता है ॥४१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म करनेसे बन्धन होगा।

—श्वास-प्रश्वास त्याग और ग्रहण करनेके समय हम कोई फलाकाङ्क्षा नहीं करते, यही एकमात्र निष्काम कर्म है। इस श्वास-प्रश्वासकी ओर यदि लक्ष्य रक्खा जाय तो मन अपने आप स्थिर हो जायगा। मनकी एकाग्रता या स्थिरता ही निष्काम है। मन चञ्चल हो तो कामना-शून्य होनेका कोई उपाय नहीं है। और उस अवस्थामें मन सैकड़ों विषयोंमें दौड़ेगा। चित्तकी वृत्ति निरुद्ध हो तो उसे योग कहेंगे 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—योगदर्शन। महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है—"योग और सांख्य इन दोनोंकी साधनासे सन्देह-विहीन निर्मल सूक्ष्म ज्ञानका उदय होता है।" वास्तविक ज्ञानप्राप्तिका प्रधान उपाय योग है। इससे चित्त एक-मुखी या ईश्वरमुखी होता है। यह योगाभ्यास ही वस्तुतः ईश्वराराधनरूप कर्मयोग है। और जितने प्रकारके कर्म हैं, उनमें ईश्वराराधन होने पर भी मनके विक्षेपके कारण वह निष्काम भावसे ईश्वरमुखी नहीं हो सकते। योगके द्वारा चित्त एकाग्र होकर जब ईश्वरमुखी होता है तब उसको भक्तियोग कहते हैं, इस भक्तिके उदय हुए बिना कोई ज्ञानी नहीं हो सकता ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) वेदवादरताः (वेदके कर्मकाण्डीय अर्थवादमें आसक्त पुरुष) अन्यत् न अस्ति (स्वर्गफल-प्रापक कर्मके सिवा और कुछ नहीं है) इति वादिनः (इस प्रकारके मतवादी) अविपश्चितः (मूढ़ लोग) कामात्मानः (कामाकुलित) स्वर्गपराः (स्वर्ग-प्राप्ति ही जिनका पुरुषार्थ है) जन्मकर्मफलप्रदां (जन्म-कर्मरूप फलको देनेवाली) भोगैश्वर्यगतिं प्रति (भोगैश्वर्य-गति की प्राप्ति स्वरूप) क्रियाविशेषबहुलां (तत्साधनभूत नाना प्रकारकी क्रियाओंसे युक्त) याम् (जिस) इमां पुष्पितां (पुष्पिता विषलताके समान आपातरमणीय) वाचं (स्वर्गादिफल-श्रुतिको) प्रवदन्ति (कहा करते हैं) ॥४२-४३॥

श्रीधर—ननु कामिनोऽपि कष्टान् कामान् विहाय व्यवसायात्मिकामेव बुद्धिं किमिति न कुर्वन्ति ? तत्राह—यामिमामित्यादि । यामिमां पुष्पितां विषलतावदापातरमणीयां प्रकृष्टां परमार्थफलपरामेव वदन्ति वाचं स्वर्गादि-फलश्रुतिं । तेषां तया वाचाऽपहृतचेतसां व्यवसायात्मिका बुद्धिः न समाधौ विधीयते इति तृतीयेनान्वयः । किमिति तथा वदन्ति ? यतोऽविपश्चितो मूढाः । तत्र हेतुः—वेदवादरता इति । वेदे ये वादा अर्थवादाः । "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ।" तथा "अपाम सोममृता अभूम" इत्याद्याः । तेष्वेव रताः प्रीताः । अतएवातःपरमन्यदीश्वरतत्त्वं प्राप्यं नास्तीतिवदनशीलाः ॥४२-४३॥

अतएव—कामात्मान इति । कामात्मानः कामाकुलितचित्ताः । अतः स्वर्ग एव परः पुरुषार्थो येषां ते । जन्म च तत्र कर्माणि च तत्फलानि च प्रददातीति तथा तां भोगैश्वर्य-योर्गतिं प्राप्तिं प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषास्ते बहुला यस्यां तां प्रवदन्तीत्यनुषङ्गः ॥४३॥

अनुवाद—[यदि कहो कि कामी लोग कष्टप्रद कामनाका त्याग करके व्यवसायात्मिका बुद्धिका अवलम्बन क्यों नहीं करते ? इसके उत्तरमें कहते हैं] —हे पार्थ ! वेदके कर्मकाण्डीय अर्थवादमें आसक्त पुरुष 'इससे अन्य कोई ईश्वर-तत्त्व या प्राप्य वस्तु कुछ नहीं है' इस प्रकार विषलताके समान आपात-रमणीय स्वर्गादि फल-श्रुति कहा करते हैं। वे कामाकुलित-चित्त होते हैं तथा स्वर्गको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं । वे मूढ़ लोग भोगैश्वर्यकी प्राप्तिके मूल, स्वर्गकी प्राप्तिके साधन-स्वरूप, क्रिया-विशेषकी बहुलतासे युक्त, जन्म-कर्मफलको प्रदान करने वाली, विषलताके समान आपातरमणीय स्वर्गादि फलश्रुतिकी व्याख्या किया करते हैं। वेदमें अर्थवाद है। जैसे 'चातुर्मास्ययाजीको अक्षय सुकृति प्राप्त होती है।' 'मैंने सोमपान करके अमृत प्राप्त किया'—इत्यादि ॥४२-४३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पण्डितोंके खुशामदी और सन्तुष्टकारक वाक्यों द्वारा असल कर्म ब्रह्मचिन्ता फलाकाङ्क्षारहित होकर नहीं होती, और वेदकी बात लेकर झगड़ा

करते हैं, असली बात कुछ नहीं है। केवल इच्छा, फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म है, भोग ऐश्वर्यमें (सुखके निमित्त) गतिके लिए।

—आजकल शास्त्रोक्त साधना कोई करना नहीं चाहता, पण्डित लोग केवल 'यह करो, वह करो' कहा करते हैं, परन्तु क्या करनेसे यथार्थ शान्ति प्राप्त होती है, इसका कोई उपाय नहीं बतलाते। स्वर्ग-प्राप्ति या ऐश्वर्य-प्राप्ति जीवका परम पुरुषार्थ नहीं है। जो परम पुरुषार्थकी प्राप्ति करना चाहते हैं उन्हें तुच्छ बातोंको छोड़कर, कामनाकी कठिन शृङ्खलाको विच्छिन्न करके कठोर साधनके अभ्यासमें मन लगाना पड़ेगा। तभी वे ब्रह्मानन्दके महासिन्धुमें निमग्न हो सकेंगे। नाना प्रकारकी वासनाओंके रहते कदापि उस महा स्थिरतामें प्रवेश लाभ नहीं हो सकता। बाह्य अनुष्ठानादिमें जो पारलौकिक सुखभोग आदिकी बात कही जाती है, उससे मुग्ध होकर जो कतिपय काम्य कर्मोंका अनुष्ठान करके यह समझते हैं कि उनका कर्त्तव्य पूरा हो गया वे भ्रान्तिमें हैं। केवल वैदिक कर्मानुष्ठानकी प्रशंसासूचक वाणी सुनकर इन सारी बाह्य क्रियाओंको करनेसे ही काम न चलेगा। इन सबके आध्यात्मिक उद्देश्य हैं, उनको न जानकर केवल बाह्य आचरणसे शान्ति न मिलेगी। यही यमराजने नचिकेतासे कहा है—

"जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्"

अर्थात् कर्मफलरूप स्वर्गादि सम्पत्ति अनित्य है, अतएव नित्य सत्य ब्रह्म अनित्य द्रव्यमय यज्ञादिके द्वारा प्राप्त नहीं होता। तब वह कैसे प्राप्त किया जायगा, इसका उपाय यमराज नचिकेतासे कहते हैं कि, "तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥"

—कठ० उप०।

वीर पुरुष आत्मामें चित्त समाधानरूप योगाभ्यासके द्वारा दुर्विज्ञेय अव्यक्त स्वरूप, सब भूतोंके भीतर प्रविष्ट और देहरूपी गह्वरमें तथा बुद्धिके अभ्यन्तर नित्य वर्तमान उस परमात्मदेवको जानकर विषय सुख-दुःखादिको अतिक्रम कर जाते हैं ॥४२-४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अन्वय—तथा (उस पुष्पित वाक्यके द्वारा) अपहृतचेतसाम् (अपहृत चित्त वालेकी) भोगैश्वर्यप्रसक्तानां (भोगैश्वर्यमें आसक्त पुरुषोंकी) व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धिः (बुद्धि) समाधौ (समाधिके लिए) न विधीयते (उपयुक्त नहीं होती) ॥४४॥

श्रीधर—ततश्च—भोगैश्वर्यप्रसक्तानामित्यादि। भोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानामभिनिविष्टानां तया पुष्पितया वाचाऽपहृतमाकृष्टं चेतो येषां तेषाम्। समाधिश्चित्तैकाग्र्यं परमेश्वराभिमुखत्वमिति यावत्। तस्मिन्निश्चयात्मिका बुद्धिस्तु न विधीयते। कर्मकर्तरि प्रयोगः। सा नोत्पद्यत इति भावः ॥४४॥

अनुवाद——वे भोगैश्वर्यसे अभिनिविष्ट होते हैं और उनका चित्त उसी प्रकार पुष्पित वाक्योंसे समाकृष्ट होता है। ऐसे लोगोंकी समाधिमें अर्थात् परमेश्वराभिमुखत्व-प्राप्तिकी निष्ठामें निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। अर्थात् उनकी बुद्धि चित्तकी एकाग्रतामें निविष्ट नहीं होती। [सांख्ययोग या ज्ञानमें उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती—शङ्कर] ॥४४॥

आध्यात्मिक व्याख्या——जिनकी भोगैश्वर्यकी इच्छामें चिद्रूप ब्रह्म नहीं रहता, इस प्रकारके व्यवसाय जिस आत्माके हैं उस आत्मामें रहकर बीस हजार सातसौ छत्तीस बार प्राणायाम किस प्रकार करें ? यह विशेष रूपसे उनके मनमें धारणा नहीं होती।

—वासना ही मनका समल भाव है। वह जब तक मनमें विराजती है, तब तक चित्तका स्थिर होना असंभव है। कामनाकुलित-चित्तके लोग सर्वदा विषयानुसन्धानमें व्याप्त रहते हैं, उनके मनमें मुक्तिकी अभिलाषा भी उदय नहीं होती। उनके सामने विषय-भोग ही परम पुरुषार्थ है। विषय-भोग करते करते यदि कभी वैराग्य आता है तो वह श्मशानवैराग्यके समान अधिक देर नहीं टिकता। शास्त्रोंमें जीवोंके लिए कल्याणप्रद अनेक बातें कही गयी हैं, परन्तु शास्त्र-श्रवण जिनके पास रहकर किया जाता है वे पण्डित होने पर भी यथार्थ विवेक-वैराग्य-सम्पन्न नहीं होते, अतएव वे जो कुछ कहते हैं उससे प्राण नहीं भरता। असली कामकी बात छोड़कर उसमें वितण्डा मात्र सार होता है। जब तक भोगेच्छा है, तब तक ब्रह्ममें स्थिति नहीं होती। नित्यानित्य-विवेक-शून्य पुरुषकी भोगेच्छा निवृत्त नहीं हो सकती, क्योंकि जितना साधन (जैसे २०७३६ बार अथवा १७२८ बार प्राणायाम) करने पर मनकी निवृत्तिभावकी ओर गति होती है उतना परिश्रम करनेकी मनमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। विषयाभिमुख प्रवृत्ति होनेके कारण ही मनकी इधर चेष्टा नहीं होती। यही मनका वासना-मल है, इसको दूर करने के लिए चित्तको शुद्ध करनेकी चेष्टा करनी पड़ेगी। प्राणसंयमके बिना प्राणकी चञ्चलता दूर न होगी, मन भी एकाग्र न होगा। मनकी एकाग्रता या आत्ममुखी भाव ही शुद्ध अन्तःकरणका लक्ष्य है। प्राणके चाञ्चल्यको दूर करनेके लिए बहुदिन व्यापी और बहुत समय स्थायी प्राणसंयम-साधनका अभ्यास करना चाहिए। योगी लोग कहते हैं कि भलीभाँति १२ प्राणायाम करनेसे प्रत्याहार होता है, १४४ प्राणायाम करने पर धारणा, अर्थात् चित्त एकमुखी हो सकता है, १७२८ बार प्राणायाम करने पर उत्तम ध्यान होता है, एकासन पर मन निविष्ट करने पर चित्त मग्न होकर शून्यवत् अवस्थान करता है, तथा २०७३६ बार प्राणायाम करने पर इन्द्रिय और प्राणके समस्त कार्य निरुद्ध हो जाते हैं और समाधिकी प्राप्ति होती है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि मनको जब तक इस निरुद्धभूमिकी प्राप्ति नहीं होती, अशान्ति और अज्ञान दूर नहीं होते। जिनका मन विषयोंकी ओर है, वे इतना परिश्रम क्यों करने लगें ? ॥४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

अन्वय--अर्जुन (हे अर्जुन !) वेदाः (सारे वेद) त्रैगुण्यविषयाः (त्रिगुण-विषयक हैं अर्थात् उनमें त्रिगुणात्मक सकाम अधिकारियोंके लिए कर्मफल-सम्बन्धी संसारका ही प्रतिपादन है) त्वं (तुम) निस्त्रैगुण्यः (निष्काम अर्थात् ईश्वरपरायण) भव (हो) [इसका उपाय] निर्द्वन्द्वः (सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित) नित्यसत्त्वस्थः (प्रवृद्ध सत्त्वशाली—सत्त्वगुणकी वृद्धि होने पर ही काम-क्रोधादिमें धैर्य धारणकी शक्ति आयगी) निर्योगक्षेमः (योगक्षेमरहित अर्थात् अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति तथा प्राप्त वस्तुकी रक्षामें प्रयत्नहीन बनो) आत्मवान् [भव] (अप्रमत्त बनो अर्थात् भगवान्को मत भूलो) ॥४५॥

श्रीधर—ननु स्वर्गादिकं परमं फलं यदि न भवति, तर्हि किमिति वेदैस्तत्साधनतया कर्माणि विधीयन्ते ? तत्राह—त्रैगुण्यविषया इति। त्रिगुणात्मकाः सकामाः येऽधिकारिणस्त-द्विषयास्तेषां कर्मफलसम्बन्ध-प्रतिपादकाः वेदाः। त्वं तु निस्त्रैगुण्यो निष्कामो भव। तत्रो-पायमाह—निर्द्वन्द्वः। सुखदुःखशीतोष्णादियुगलानि द्वन्द्वानि। तद्रहितो भव। तानि सहस्वेत्यर्थः। कथमिति ? अत आह—नित्यसत्त्वस्थः सन्। धैर्यमवलम्ब्येत्यर्थः। तथा निर्योगक्षेमः। अप्राप्तस्वीकारो योगः। प्राप्तपालनं क्षेमः। तद्रहितः। आत्मवान-प्रमत्तः। न हि द्वन्द्वाकुलस्य योगक्षेमव्यापृतस्य च प्रमादिनस्त्रैगुण्यातिक्रमः सम्भवतीति ॥४५॥

अनुवाद—[यदि कहो कि, स्वर्गादि परम फल नहीं है तो वेदोंमें उनके साधनभूत कर्मोंका विधान क्यों किया गया ? इसीके बारेमें कहते हैं]—हे अर्जुन ! सारे वेद त्रिगुणात्मक हैं अर्थात् जो सकाम अधिकारी हैं उनके कर्मफल-सम्बन्ध उनमें प्रतिपादित हैं। परन्तु तुम त्रिगुणके अतीत अर्थात् निष्काम (ईश्वराभिमुख) बनो। (निष्काम होनेका उपाय भी बतलाते हैं)—निर्द्वन्द्व बनो, सुख-दुःख-शीतोष्णादि द्वन्द्वभावसे रहित हो जाओ। द्वन्द्वातीत कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् धैर्य अवलम्बन करके नित्य-प्रवृद्ध-सत्त्वगुणशाली बनो। योगक्षेमरहित बनो अर्थात् यदि कोई वस्तु प्राप्त नहीं है, तो उसे भगवत्-इच्छा समझकर उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न न करो, तथा जो प्राप्त वस्तु है वह बनी रहे, इस दृष्टिसे उसकी रक्षामें भी यत्नशील न बनो। तुम आत्मवान् अर्थात् अप्रमत्त बनो, प्रमादरहित हो। द्वन्द्वाकुल और योगक्षेमरत प्रमादी मनुष्यके लिए त्रिगुणका अतिक्रमण करना असंभव है, अर्थात् उसके लिए ईश्वर-परायण होना संभव नहीं ॥४५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्नाके चलते रहने पर ही विषयोंमें और वेदोंमें रति होती है। निस्त्रैगुण्य होने पर अर्थात् स्थिर होने पर ऐसा नहीं होता, अतएव इन तीनों गुणोंके परे जो भाव है, उसी भावको प्राप्त करो—अर्थात् क्रियाकी परावस्था।

—हमारा श्वास जब स्थिर होता है, तब मन भी स्थिर और शान्त होता है। साधारणतः श्वास एक बार इड़ाके मुखसे, और एक बार, पिङ्गलाके मुखसे चलता है। कभी कभी श्वास सुषुम्नामें भी प्रवाहित होता है। तब मन बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होता है और श्वास कुछ स्थिर और मृदु हो जाता है। उसके बाद फिर इड़ा और पिंगलामें आता है। इड़ा-पिङ्गलामें जब श्वास बहता है तभी चित्त-स्पन्दनकी वृद्धि होती है (रजः-तमोभावसे अभिभूत होता है, स्पन्दनकी वृद्धि ही रजोभाव है, और वह बढ़ते बढ़ते जब क्लान्त होकर स्तब्ध होता है, तभी तमोभावका आविर्भाव हो जाता है), उससे ही अनेक वासनाएँ चित्तभूमिमें उद्वेलित होती हैं। जागतिक सुखोंकी इच्छा तथा पारलौकिक सुखाभिलाषा बढ़ती है तथा उनके साधनरूपी कार्योंके करनेके लिए आग्रह उत्पन्न होता है। इस प्रकारकी साधना वेदमें कही गयी है। वेद ज्ञानको कहते हैं। जिस प्रकार वेद चार हैं, वैसे ही ज्ञानभी चार प्रकारके हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे एक ही प्रकाश नाना रंगके काँचके भीतर नाना रूपोंमें भासित होता है। 'देहोऽहं, शून्योऽहं, सर्वोऽहं, सर्वातीतोऽहं' —चारों वेदोंके ये चार प्राधान बातें हैं। जब इड़ामें श्वास चलता है—रजोगुण, तब सर्वोऽहं भाव होता है, अर्थात् सब कुछ हमारे ही भोगके लिए है, हमें सब कुछ चाहिए। उसके बाद जब पिङ्गलामें श्वास चलता है—तमोगुण, तब देहोऽहं भाव होता है। इस देहका ही केवल सुख, देहाभिमान, मैं बड़ा, मैं ज्ञानी, मैं धनी, ये सब भाव आते हैं, देहको ही अवलम्बन करके ये सारे भाव उत्पन्न होते हैं। उसके बाद सुषुम्नामें जब श्वास चलता है—सत्त्वगुण, तब ज्ञानका प्रकाश होता है, मनमें आता है मैं कौन हूँ—शून्योऽहं—शून्यमात्र हूँ, मेरे साथ मानो किसीका कोई सम्बन्ध नहीं है, यह अहं या आत्मा ही जान पड़ता है कि जगद्-व्याप्त है, तब ब्रह्माण्डकी सब वस्तुओंके साथ संयोग टूट जाता है, मालूम होता है कि जागतिक वस्तु कुछ है ही नहीं। यही वैष्णवोंका—'आपनार नाम मोर नाहि पड़े मने, अर्थात् अपना नाम भी मुझे याद नहीं आता। 'मैं'का ज्ञान रहता है, परन्तु उस 'मैं' के साथ अन्य जागतिक सम्बन्ध मिला नहीं रहता। मानो सब कुछ भूल जाता है, जैसा कि गम्भीर ध्यानावस्थामें होता है। इसके बाद इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाकी अतीतावस्था आती है—यही 'सर्वातीतोऽहं' है। इसमें एकमात्र अखण्ड सत्ताका ही स्फुरण होता है, और कोई भाव नहीं रहता। केवलं ज्ञानमूर्तिं, द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं—वहाँ इस अव्यक्त निर्मल भावका ज्ञाता भी कोई नहीं रहता। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तीनों मिलकर एक हो जाते हैं प्रतिदिन अनेक बार और बहुत देर तक प्राणायामादि साधन करते करते जब श्वास आज्ञाचक्रको भेदकर सहस्रारमें चढ़ता है, और सुषुम्नाका भी भेद हो जाता है—तभी त्रिगुणातीत अवस्था आती है।

निर्वाच्यो निर्गुणो वापि सत्त्वेन परिवर्जितः।
परपौरुषमाप्नोति यावत्त्वं मस्तकोपरि॥
सृष्टेरादौ त्वमेवासीस्त्वमेवान्तेऽवशिष्यसे॥

यह प्राणवायु जब स्थिर होकर सुषुम्नाको भेद करता है, शीर्षमें जा बैठता

है तभी जीवको परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, और वह अवस्था वाणीसे परे है, सत्त्वादिगुणवर्जित अर्थात् निर्गुण है। जो सृष्टिके आदि-अन्तमें है, वह महाप्रलय-कालकी एकाकार अवस्था है। यही निस्त्रैगुण्य या गुणातीतभावमें है। यह निस्त्रैगुण्य भाव जिसको प्राप्त होता है, उसके शीतोष्ण-सुखदुःखादि सारे द्वन्द्वभाव तिरोहित हो जाते हैं।

सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्॥ भाग० ११ स्क०

आत्मासे जो सुख उत्थित होता है वह सात्त्विक है, विषयोंसे जो सुख प्राप्त होता है वह राजस है, मोह और दैन्यसे जो सुख उत्पन्न होता है वह तामस है तथा भगवदाश्रयसे जो ज्ञान भक्ति और प्रेमका उदय होता है वह आत्माश्रित निर्गुण भाव है।

जहाँ मन नहीं रहता, वही विष्णुका परम पद है, 'तन्मनः विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।' यही निस्त्रैगुण्य अथवा इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाकी अतीतावस्था है। आत्मवान्—इस स्थिरत्वमें प्रतिष्ठित होना, आकाशवत् हो जाना। निर्योगक्षेम—जब मेरा कुछ है या नहीं, यह कुछ भी मनमें नहीं रहता। नित्यसत्त्वस्थ—सत्त्वगुण सुषुम्ना है। सुषुम्नामें अवस्थित होने पर नित्यसत्त्व अवस्था समझमें आती है। निर्द्वन्द्व अवस्था—जो गुणातीत अवस्थामें रहते हैं उनको फिर शीतोष्णादि द्वन्द्वभाव नहीं होते। यही 'मदपाश्रयम्' यानी उनका आश्रय करके उनका ही स्वरूप हो जाना कहलाता है॥ ४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥

अन्वय—उदपाने (क्षुद्र जलाशयमें) यावान् (जितना) अर्थः (प्रयोजन—सिद्ध होता है) सर्वतः (सर्वत्र) सम्प्लुतोदके (जल द्वारा संप्लावित बृहत् जलाशयमें) तावान् (उतना ही) अर्थः (प्रयोजन—सिद्ध होता है) [इसी प्रकार] सर्वेषु वेदेषु (सब वेदोंमें) विजानतः ब्राह्मणस्य (ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणको) तावान् अर्थः (वेही सब प्रयोजन—सिद्ध होते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणका वेदमें भी उतना ही प्रयोजन रहता है)॥४६॥

श्रीधर—ननु वेदोक्तनानाफलत्यागेन निष्कामतयेश्वराराधनविषया व्यवसायात्मिका बुद्धिः कुबुद्धिरेवेत्याशङ्क्याह—यावानिति। उदकं पीयते यस्मिन् तत् उदपानं वापीकूपतड़ागादि तस्मिन् स्वल्पोदक एकत्र कृत्स्नस्यार्थस्य असम्भवात्तत्र तत्र परिभ्रमणेन यावान् स्नानपानादिरर्थः प्रयोजनं भवति तावान् सर्वोऽप्यर्थः सर्वतः सम्प्लुतोदके महाह्रद एकत्रैव यथा भवति। एवं यावान् सर्वेषु वेदेषु तत्तत्कर्मफलरूपोऽर्थस्तावान् सर्वोऽपि विजानतः व्यवसायात्मकबुद्धियुक्तस्य ब्राह्मणस्य ब्रह्मनिष्ठस्य भवत्येव। ब्रह्मानन्दे क्षुद्रानन्दानामन्तर्भावात्। "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति श्रुतेः। तस्मादियमेव बुद्धिः सुबुद्धिरित्यर्थः॥४६॥

अनुवाद—[तब तो वेदोक्त नाना प्रकारके फलोंका त्यागकर निष्काम भावसे ईश्वराराधन-विषयक व्यवसायात्मिका बुद्धि कुबुद्धि है, क्योंकि इससे अनेक सुखोंसे वञ्चित होना पड़ता है। यदि कोई ऐसी आशङ्का करे तो उसका उत्तर देते हुए कहते हैं] जिसमें जलपान किया जाता है ऐसे वापी, कूप, तड़ागादि क्षुद्र जलाशयोंमें एकसाथ स्नानपानादि व्यवहार नहीं हो सकते, वहाँ विभिन्न स्थानोंमें परिभ्रमण करके स्नानपानादि प्रयोजन सिद्ध करना होता है। परन्तु महाह्रद (झील)में वे सारे व्यवहार एकत्र हो सकते हैं, उसी प्रकार सब वेदोंमें नाना प्रकारके कर्म और उसके अनेकों फलस्वरूप प्रयोजन वर्तमान रहते हैं। परन्तु इन सब फलोंकी प्राप्ति के लिए ईश्वर-परायण ब्रह्मनिष्ठको वेदोंके नाना कर्मोंमें प्रवेशका प्रयोजन नहीं होता। वेदोक्त अनेक फल उनको एक ईश्वरोपासनाके द्वारा ही हो सकते हैं। क्योंकि ब्रह्मानन्दमें अन्य सभी क्षुद्र आनन्दोंका अन्तर्भाव हो जाता है। श्रुतिमें लिखा है—"एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।" इस ब्रह्मानन्दका कणमात्र प्राप्तकर भूतगण जीवित रहते हैं ॥४६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्म सर्वत्र ही है। इस ब्रह्मानन्दका कणमात्र प्राप्तकर हमसब जीवित रहते हैं। अतएव यह आनन्द ही हमारा जीवन है। मेरा 'मैं पन' ही मेरा जीवन है। इसी कारण यह 'मैं' आनन्द-स्वरूप है। ऐसा न होता तो वह आत्मा कैसे होता? यह 'मैं' ही सर्वत्र है। 'मैं' का ज्ञान होने पर ही सब दुःखोंका नाश होता है। यदि इस आत्मज्ञानमें ही सब दुःखोंका नाश होता है, तथा आनन्दका अक्षय निर्झर प्राप्त होता है, तो हम अन्यत्र आनन्द खोजनेके लिए क्यों जायँ? अतएव अनेक कर्मोंसे जो भोग्यवस्तुकी प्राप्ति होती है उसमें कुछ कुछ आनन्द हमें मिलता है इसी कारण हम उसके अन्वेषणमें लगते हैं। परन्तु आत्मा जो आनन्द-रसका सिन्धु है उसको यदि हम प्राप्त कर लेते हैं तो फिर अन्यत्र आनन्द खोजनेका प्रयोजन क्या है? वह आत्मा ही हमारा सर्वस्व है, उस सर्वेश्वरको छोड़कर अन्य किसी वस्तुके लिए दौड़ते रहने से केवल क्लान्ति ही हाथ लगेगी। अतएव आत्माका अनुसन्धान कर आत्मवान् बनो। आत्मस्थ होने पर सुखदुःखादिके द्वन्द्व स्वयं ही मिट जायँगे। प्राणके चञ्चल होनेके कारण ही संसार नानारूपोंमें प्रतिभात होता है।

जब तक नानात्व है, चञ्चल मन नानात्वकी ओर दौड़ता रहेगा। प्राण ही आद्याशक्ति है, प्राणका चाञ्चल्य ही जगत् को नाना रूपोंमें दिखलाता है। परन्तु प्राणके स्थिर होने पर इस नानात्वका विकास नहीं होता, नानात्वका विकास न होने पर मन भी बहुमुखी होकर नहीं भटकता। स्थिर प्राण ही वह आद्याशक्ति भगवती हैं, उनका नृत्यारम्भ होने पर ही अनन्त अनन्त ब्रह्माण्ड विकसित हो उठते हैं। इस नानात्वको देखकर भयभीत मत होना। यह नाना एक का ही प्रकाश है। 'एकैवाहं जगत्त्र द्वितीया का ममापरा।' समस्त जगत् व्याप्त होकर एक मैं ही वर्तमान हूँ, मेरे सिवा दूसरा कुछ जगत्में नहीं है। वह नाना एकके भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं, तब हमारी नृत्यकाली माँ अचञ्चला होकर स्थिर समुद्रके समान कारणवारिके रूपमें वर्त्तमान होती है। उस सत्तामात्र भावमें चित्तका अनन्त स्फुरण विलीन हो जाता है।

अतएव प्राणको स्थिर करनेकी साधना ही सबसे बड़ी साधना है। "एक साधे सब सधत है सब साधे सब जाय।"—एकके ही साधनमें सब साधन होते हैं, और सबकी साध मिटानेकी चेष्टा करने पर सब नष्ट हो जाता है ॥४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

अन्वय—कर्मणि एव (कर्ममें ही) ते (तुम्हारा) अधिकारः (अधिकार है), फलेषु (कर्मफलमें) कदाचन (कदापि) मा (अधिकार नहीं है)। कर्मफलहेतुः (कर्मफलके कारण जिनकी कर्ममें प्रवृत्ति है) मा भूः (उनके समान मत बनो)। अकर्मणि (कर्मत्यागमें भी) ते (तुम्हारा) सङ्गः (प्रवृत्ति) मा अस्तु (न हो) ॥४७॥

श्रीधर—तर्हि सर्वाणि कर्मफलानि परमेश्वराराधनादेव भविष्यन्तीत्यभिसन्धाय प्रवर्त्तेत। किं कर्मणा? इत्याशङ्क्य तद्वारयन्नाह—कर्मण्येवेति। ते तव तत्त्वज्ञानार्थिनः कर्मण्येवाधिकारः। तत्फलेषु बन्धहेतुष्वधिकारः कामो माऽस्तु। ननु कर्मणि कृते तत्फलं स्यादेव, भोजने कृते तृप्तिवत्। इत्याशङ्क्याह—मेति। मा कर्मफलहेतुर्भूः। कर्मफलं प्रवृत्तिहेतुर्यस्य स तथाभूतो मा भूः। काम्यमानस्यैव स्वर्गादेर्नियोज्यविशेषणत्वेन फलत्वादकामितं फलं न स्यादिति भावः। अतएव फलं बन्धकं भविष्यतीति भयादकर्मणि कर्माकरणेऽपि तव सङ्गो निष्ठा माऽस्तु ॥४७॥

अनुवाद—[यदि सब कर्मोंका फल परमेश्वरकी आराधनाके द्वारा ही पाया जाता है, तब फिर अन्य कर्मोंका प्रयोजन क्या? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—तुम तत्त्वज्ञानार्थी हो, तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है। कर्मफलमें तुम्हारी कामना नहीं होनी चाहिए। यदि कहो कि कर्म करनेसे उसका फल अवश्य ही होगा, जैसे भोजन करने पर भोजनकारीको तृप्ति होती है, तो इस आशङ्का पर कहते हैं—कर्मफल ही जिनकी कर्म-प्रवृत्तिका हेतु होता है उनके समान तुम मत बनना। क्योंकि स्वर्गादि फलकी प्राप्ति जिनके कर्मोंका नियोजक होता है उनके कर्म अवश्य ही फल उत्पन्न करते हैं। अकामी पुरुषके कर्म फल उत्पन्न नहीं करते अर्थात् बन्धनका कारण नहीं बनते। फल उत्पन्न होने पर कर्म बन्धनकारक बनेगा, इस भयसे कदापि तुम्हारी कर्म न करनेमें प्रवृत्ति न होनी चाहिए ॥४७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब कर्म करो, परन्तु फलकी इच्छा न करो।

—कर्म सकामभावसे हो तो उससे चित्तशुद्धि नहीं होती। तुम यदि क्रिया करते हो और उसके साथ साथ इधर-उधरकी अनेक चिन्ताएँ करते हो तो इससे चित्त शीघ्र स्थिर न होगा। चित्तकी स्थिरता ही चित्तशुद्धि है, चित्तशुद्धिके बिना आत्मबोध नहीं होता और परमानन्दकी प्राप्तिसे वञ्चित होना पड़ता है। यदि अर्जुनके मनमें आया हो कि यदि स्थिरत्वकी प्राप्ति ही जीवनका लक्ष्य है तो प्राणायामादि साधन करनेसे क्या लाभ? इसमें मनको अनेक स्थानोंमें रखकर साधन करना पड़ता है,

इससे स्थिरता कैसे आयेगी, बल्कि मन और भी चञ्चल हो जायगा। इस प्रकारका कार्य मनके अनुकूल न होनेके कारण इससे वह विद्रोही भी हो सकता है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि स्थिरता सर्वापेक्षा अच्छी वस्तु है और वह प्राप्त होनी चाहिए। परन्तु यदि इस बातको सोचते रहो और क्रिया न करो तो इससे स्थिरता न आयगी। स्थिरता क्रियाकी परावस्था है। क्रिया करनेमें पहले जो कष्ट और मनकी चञ्चलता होती है, कुछ और देर तक मन लगाकर क्रिया करनेसे वह चञ्चलता नहीं रहती। अतएव जब तुमने क्रिया प्राप्त की है तो क्रियाको करते रहना ही कर्त्तव्य है। क्रिया करनेसे क्या होगा, या जिन्होंने क्रिया की उनमें किसने क्या प्राप्त कर लिया—इत्यादि बातोंमें माथापच्ची करना ठीक नहीं। गुरुने साधना दी है, उस साधनाको करते चलो, उससे क्या होगा या न होगा, यह सब सोचकर दिमाग खराब करनेसे तुम्हें स्थिरतारूपी ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति न होगी। जिससे कर्मफल उत्पन्न हो वह काम मत करना। मनको लक्ष्यमें नहीं लगानेसे सहस्रों चिन्ताएँ या कामनाएँ उठेंगी, उसका फल और कुछ हो या न हो, मन आत्मामें प्रविष्ट न हो सकेगा, यह निश्चय जानो। कहीं यह सोचकर साधनामें तुम्हारी अप्रवृत्ति न हो कि कर्म (साधन) करने से क्या खाक होगा ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) योगस्थः [सन्] (योगस्थ होकर) सङ्गं (कर्तृत्वाभिनिवेश या आसक्ति) त्यक्त्वा (त्यागकर) सिद्ध्यसिद्ध्योः (सिद्धि और असिद्धिमें) समः भूत्वा (समभावमें रहकर) कर्माणि (कर्म) कुरु (करो)। समत्वं (समता ही) योगः उच्यते (योग कहलाता है) ॥४८॥

श्रीधर—किं तर्हि ?—योगस्थ इति। योगः परमेश्वरैकपरता। तत्र स्थितः कर्माणि कुरु। तथा सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं त्यक्त्वा केवलमीश्वराश्रयेणैव कुरु। तत्फलस्य ज्ञानस्यापि सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा केवलमीश्वरार्पणेनैव कुरु। यत एवंभूतं समत्वमेव योग उच्यते सद्भिः चित्तसमाधानरूपत्वात् ॥४८॥

अनुवाद—[फिर कर्त्तव्य क्या है ? यही बतलाते हैं]—हे धनञ्जय! एक मात्र परमेश्वरपरता ही योग है। उस योगमें अवस्थित होकर कर्म करो। और कर्तृत्वाभिनिवेश (मैं करता हूँ या मेरा काम ऐसा भाव) त्याग करके केवल भगवदाश्रय होकर कर्म करो। इस प्रकार कर्मका फल जो ज्ञान या सत्त्वशुद्धि है—उसकी प्राप्ति या अप्राप्तिमें सम भाव रखकर केवल ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करो। सज्जन लोग इस प्रकारके समत्वको 'योग' कहते हैं। इस प्रकारका समत्व ही चित्त-समाधान कहलाता है। हर्ष-विषाद इन दोनों अवस्थाओंका अभाव ही योग है ॥४८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहकर सब कर्म करो, सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें समबुद्धि करो, इसीका नाम योग है।

—चित्तकी विक्षेपहीनता या चित्तकी निवृत्ति ही चित्तशुद्धि है। जब तक चित्तके विक्षिप्तभाव दूर न होंगे, सत्यज्ञानका उदय न होगा। जो लोग साधना करते हैं, और लाभालाभकी ओर लक्ष्य रखते हैं, उनकी साधनाकी परावस्था या योग सहज ही प्राप्त नहीं होता। मनमें मस्ती ही नहीं आती। जिनकी संसारमें खूब आसक्ति है, वे यह सोचे बिना नहीं रह सकते कि किस कर्मका क्या फल है। इस फलासक्तिके रहते स्थिरता नहीं आ सकती। तथापि कर्म तो करना ही पड़ेगा, कर्म किये बिना कोई चारा नहीं है। परन्तु कर्म करने पर कर्मफलसे बँध जाना पड़ेगा, इसकी पूरी आशङ्का है, इसीलिए कहते हैं कि ब्रह्ममें मन लगा कर कर्म करो, क्योंकि इस प्रकारके कर्मसे फिर बन्धन न होगा। अब यदि ब्रह्ममें मनको लगाना है तो प्राणको स्थिर करना पड़ेगा। प्राणकी स्थिरताके द्वारा ईश्वर-प्रणिधान रूप योगकी सिद्धि होती है। तब जितना ही कर्म करो, उसमें मन आसक्त न होगा। तब एक ऐसा स्थिर भाव आयेगा जिसमें सारे कर्मोंके साथ मनका बन्धन छिन्न-भिन्न हो जायगा। जितनी ही श्वास-प्रश्वासकी स्थिरता होगी उतना ही ब्रह्माकाशमें चित्त विलीन होता जायगा। तब सभी कर्मादि तो होंगे, परन्तु कौन कर्म करता है और किसका कर्म होता है तथा उस कर्मका फलाफल क्या है—इन सबका कुछ अनुसन्धान न रहेगा ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४६॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) हि (क्योंकि) कर्म (काम्य कर्म) बुद्धियोगात् (भगवद्-मुखी बुद्धि द्वारा कृत कर्मसे) दूरेण (अत्यन्त) अवरं (निकृष्ट है); बुद्धौ (परमात्मविषयक ज्ञानमें) शरणं (आश्रय) अन्विच्छ (इच्छा करो)। फलहेतवः (सकाम या फलाकांक्षी लोग) कृपणाः (दीन हैं)॥४६॥

श्रीधर—काम्यं तु कर्मातिनिकृष्टमित्याह—दूरेणेति। बुद्ध्या व्यवसायात्मिकया कृतः कर्मयोगो बुद्धिसाधनभूतो वा। तस्मात् सकामादन्यत् साधनभूतं काम्यं कर्म दूरेणावरं अत्यन्तमपकृष्टम्। हि यस्मादेवं तस्मात् बुद्धौ ज्ञाने शरणमाश्रयं कर्मयोगमन्विच्छानुतिष्ठ। यद्वा बुद्धौ शरणं त्रातारमीश्वरमाश्रयेत्यर्थः। फलहेतवस्तु सकामा नराः कृपणा दीनाः। "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" इति श्रुतेः ॥४६॥

अनुवाद—[काम्य कर्मकी अति निकृष्टता कह रहे हैं]—हे धनञ्जय! भगवद् मुखी बुद्धिके द्वारा कृत कर्म से अन्य काम्य कर्म अत्यन्त अपकृष्ट होते हैं। अतएव तुम ज्ञान-साधनका आश्रय कर्मयोग, अथवा योगस्थ होकर परित्राता ईश्वरका आश्रय लो। सकाम मनुष्य ही दीन होते हैं। श्रुतिमें लिखा है—"हे गार्गी! जो आदमी इह लोकमें अक्षर परमात्मा को न जानकर लोकान्तरमें गमन करता है वह कृपण या कृपाका पात्र है ॥४६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—स्थिर बुद्धि करके जो बनना पड़ता है वह बन जाओ, जो कृपण हैं वह फलकी आकांक्षा करते हैं।

—ज्ञानोत्पत्तिके लिए योग ही अवलम्बन करने योग्य है। उससे ही जीव परम ज्ञान या अभय-पदको प्राप्त होता है। जो कुछ होना हो होवे मन कदापि न हटेगा, न चञ्चल होगा—यह स्थिर बुद्धिका लक्षण है। क्रियाकी परावस्थामें बुद्धि स्थिर हो जाती है। उस समय कुछ नहीं रहता, उसके बाद क्रियाकी परावस्थाकी परावस्था में भी मन नशेबाजके मनके समान मस्त हो जाता है, उस समय कामना या सङ्कल्प कुछ भी नहीं उठता। यही परमानन्दकी अवस्था है। इस अवस्थामें ही शरण लो अर्थात् ऐसी चेष्टा करो कि यह अवस्था प्राप्त हो। ऐसा न करने पर फिर मृत्युका वह कष्ट, पुनः जन्म और मृत्यु क्लेश। इसी कारण श्रुति कहती है कि जो लोग उस अक्षर पुरुषको या कूटस्थको न जानकर मरते हैं वे बड़े ही कृपाके पात्र हैं! केवल मुँहसे 'त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' कहनेसे काम न चलेगा। उस अक्षर पुरुषको पहचानना होगा। जो हमारे इस देहराज्यके राजा हैं, जो हमारे प्राणोंके अधीश्वर हैं, जो हमारे सर्वस्व हैं—उस आत्माके पास ही हम हैं, हमारा चैतन्य उनके ही चैतन्यमें है। तथापि हम उनको नहीं जानते, इससे बढ़कर कष्टप्रद और क्या हो सकता है? यदि उनको हम नहीं जान लेते हैं, तो फिर किसका शरण लेंगे? इसलिए अब कृपण होकर जीवनको व्यर्थ न करो, उनके चरणोंमें आत्मनिवेदन करो। उनको प्राण अर्पण किये बिना ठीक आत्मनिवेदन न होगा। यह प्राण अर्पणका काम क्रियाके द्वारा होगा। मनमें आत्माके प्रति विश्वास करके प्रणवधनु पर बाण लगाकर उस आत्माको लक्ष्य करके छोड़ने का अभ्यास करो, एक दिन 'शरवत्तन्मयो भवेत्'—जैसे बाण लक्ष्यको बेधकर उसमें प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार तुम्हारा मन आत्माका लक्ष्य करते करते उसके भीतर एकदिन प्रविष्ट हो जायगा ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

अन्वय—बुद्धियुक्तः (उपर्युक्त प्रकारसे बुद्धियोगयुक्त पुरुष) इह (इस लोकमें) उभे (दोनों ही) सुकृतदुष्कृते (पुण्य और पापको) जहाति (त्याग करते हैं); तस्मात् (इसलिए) योगाय (समत्व-बुद्धि या योगके लिए) युज्यस्व (प्रयत्न करो) कर्मसु कौशलम् (ईश्वरार्पित चित्तसे कर्म करनेका कौशल ही) योगः (योग है) ॥५०॥

श्रीधर—बुद्धियोगयुक्तस्तु श्रेष्ठ इत्याह—बुद्धियुक्त इति। सुकृतं स्वर्गादिप्रापकम्। दुष्कृतं निरयादिप्रापकम्। ते उभे इहैव जन्मनि परमेश्वरप्रसादेन त्यजति तस्मात् योगाय तदर्थाय कर्मयोगाय युज्यस्व। यतकर्मसु यत् कौशलं—बन्धकानामपि तेषामीश्वराराधनेन मोक्षपरत्वसम्पादकचातुर्यं – स एव योगः ॥५०॥

अनुवाद—[बुद्धियोगयुक्तको श्रेष्ठ बतलाते हैं]—स्वर्गादि प्रदान करने वाला सुकृत् तथा नरकादिमें ले जाने वाला दुष्कृत—इन दोनों प्रकारके फलोंको बुद्धियोगयुक्त

(ईश्वरार्पितचित्त) पुरुष परमेश्वरके प्रसादसे इस जन्ममें ही त्याग करते हैं। अतएव ईश्वरार्थ कर्मयोगमें लग जाओ। क्योंकि कर्मोंमें कौशल (कर्म बन्धनका कारण होते हुए भी ईश्वराराधनरूपी कर्मके द्वारा कर्मसे मुक्ति प्राप्त करने की चातुरी) ही योग है ॥५०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहकर अच्छे बुरे कर्मोंकी इच्छा छोड़ दो। इसके लिए क्रियाकी परावस्थामें रहो और सब कर्म करो, क्योंकि योगकर्म अत्यन्त सुकौशल पूर्ण है, अर्थात् चक्षुको मस्तकमें रखकर, श्वासको वक्षःस्थलमें स्थिर करके समस्त कर्म करना।

—कर्म तो सभी करते हैं, परन्तु बुद्धियुक्त होकर नहीं करते। मनकी एकाग्रता ही बुद्धि है। प्राण-क्रिया दिनरात अपने आप हो रही है। यह प्राण क्रिया न चले तो मन-इन्द्रिय किसीमें भी कोई काम करनेकी शक्ति न रहेगी। सारे कर्मोंमें प्राणकी शक्ति लगती है, हम व्यर्थके कामोंमें प्राणशक्तिका व्यय करके मनको निरन्तर चञ्चल करते रहते हैं। इसी कारण मनको भी विश्राम नहीं है। परन्तु कौशल द्वारा जो प्राणको स्थिर करते हैं उनका मन एकाग्र हो जाता है। जिनका मन एकाग्र हो गया है अर्थात् आत्ममुखी हो गया है उनकी सुकृति दुष्कृति नहीं रहती। पाप पुण्यात्मक कर्म शरीर और मनके द्वारा ही निष्पाद्य होते हैं। वह मन जब एकाग्र होकर आत्ममुखी होता है तब देह पृथक् पड़ जाता है, उसके साथ पाप-पुण्य भी वहीं पड़े रहते हैं। आत्मामें पाप-पुण्य कुछ नहीं है, मन जब आत्मामें लग जाता है तब उसमें भी फिर पापपुण्य नहीं रहते। मनको आत्मामें लगानेका कौशल ही योग है। पहले कह चुका हूँ कि मन और इन्द्रिय जो काम करते हैं वह प्राणकी शक्तिसे होता है। उस प्राणकी साधना करके जब श्वास वक्षःस्थलमें स्थिर हो जाता है और चक्षुकी दृष्टि भ्रूमध्यमें निविष्ट होती है—जो अति सुकौशल पूर्ण कर्म है, इस कर्मको जो करते हैं वे ही चतुर व्यक्ति हैं। वे अनायास ही कर्मबन्धनसे मुक्ति प्राप्त करते हैं। बाहर इस प्रकारका कोई कौशल अवलम्बन करना सम्भव नहीं है जिससे चित्तनिरोध हो सके। जो चित्तनिरोधमें अभ्यस्त हैं उनका चित्त निरावलम्बमें स्थिर हो सकता है। अविच्छिन्न धारामें इस प्रकार कुछ दिन चलते रहने पर मनमें ऐसी शक्ति सञ्चित होती है जिसके बलसे बाह्य कर्मोंमें भी उसके चित्तका अटल भाव दूर नहीं होता। तभी उसकी सुख-दुःखमें समता निर्विघ्न बनी रहती है। अतएव यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका अभ्यास हुए बिना मनमें इतनी शक्ति नहीं आ सकती। पाठमें चित्त एकाग्र होता है, कर्म करनेके समय चित्तमें एकाग्रता आती है—परन्तु जो एकाग्रता ईश्वर-प्रणिधानके बिना होती है वह अत्यन्त गम्भीर नहीं हो सकती। उस अगम्भीर स्थैर्यके द्वारा मनका वह द्वार उन्मुक्त नहीं होता जिसके द्वारा चित्त ब्रह्म-ध्यानमें मग्न हो जा सकता है। ब्रह्मध्यानान्वित चित्तमें ध्यानभङ्ग होने पर भी, उसमें जो अस्खलित स्थैर्य रहता है वह इतना स्वाभाविक हो जाता है कि, उस समय योगी नाना प्रकारके कर्मोंमें व्यापृत हो तो भी उसका चित्त योगयुक्त अवस्थासे एकबारगी

विच्युत नहीं होता, उस एकाग्रताके द्वारा जगत्-कर्म करते रहने पर भी उसका चित्त आत्मभावसे विचलित नहीं होता। इसी कारण श्रीधर स्वामी कहते हैं—"यतः कर्मसु यत् कौशलं—बन्धकानामपि तेषामीश्वराराधनेन मोक्षपरत्वसम्पादकं चातुर्यं—स एव योगः।" अतएव परमात्मबुद्धिसे कर्म करने पर किसी प्रकारके भयका कारण नहीं रहता। इस कारण उस समय योगी सारे कर्म ईश्वर प्रीत्यर्थ करता है। साधनके द्वारा यह अवस्था प्राप्त होनेसे पहले चित्तकी समता नहीं आ सकती ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

अन्वय—बुद्धियुक्ताः (बुद्धियोगयुक्त) मनीषिणः (ज्ञानीजन) कर्मजं (कर्मजनित) फलं (फलको) त्यक्त्वा (त्याग करके) जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः (जन्मरूपी बन्धनसे मुक्त होकर) अनामयं पदं (सारे उपद्रवोंसे रहित विष्णुके परम पदको) हि (निश्चय) गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं) ॥५१॥

श्रीधर—कर्मणां मोक्षसाधनत्वप्रकारमाह—कर्मजमिति। कर्मजं फलं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनार्थं कर्म कुर्वाणा मनीषिणो ज्ञानिनो भूत्वा जन्मरूपेण बन्धेन विनिर्मुक्ताः सन्तोऽनामयं सर्वोपद्रवरहितं विष्णोः पदं मोक्षाख्यं गच्छन्ति ॥५१॥

अनुवाद—[कर्मोंके द्वारा मोक्ष-साधनका दूसरा प्रकार बतलाते हैं]—निष्काम कर्म करने वाले अर्थात् ईश्वरपरायण ज्ञानी सारे कर्मज फलोंका परित्याग करके केवल ईश्वराराधनार्थ कर्म करते हुए जन्मरूपी बन्धनसे निर्मुक्त होकर सारे उपद्रवोंसे रहिर मोक्ष नामक विष्णुपदको प्राप्त करते हैं ॥५१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकांक्षा-रहित होकर कर्म करने पर ब्रह्मपद प्राप्त होता है।

—कर्म करना होगा परन्तु फलाकांक्षा नहीं रखनी होगी। पर क्या फलाकांक्षा-रहित होकर कर्म करना संभव है ? जब तक देहात्मबुद्धि है तब तक तो वह संभव नहीं है। देहादिमें जो आत्मबुद्धि है, इसे छोड़ना पड़ेगा। इसे छोड़ने परही फलानुसन्धानरहित होकर कर्म किया जा सकता है। कौन लोग इस प्रकार कर्म कर सकते हैं ? इसीकारण 'मनीषी' शब्दका व्यवहार किया गया है। जिसके पास मनीषा है वही मनीषी कहलाता है। मनीषा किसके पास होती है ? जो लोग आत्ममननशील हैं वे ही ज्ञानी या मनीषी हैं। जब आत्मामें मन लगाते लगाते बाह्य व्यापारमें लक्ष्य नहीं रह जाता, तब साधक आत्माराम हो जाता है। मन जब विक्षेपयुक्त होता है तो विषय-चिन्तन करता है, और सैकड़ों अनर्थ उत्पन्न करता है। इसी कारण शास्त्र कहते हैं "पदं तत् परमं विष्णोः मनो यत्र प्रसीदति।" मनके स्थिर होने पर चित्त एक अपूर्व प्रसन्नतासे भर जाता है, तब फिर इस जागतिक क्लेशका स्मरण नहीं होता। इस ब्रह्मानन्द-मग्न चित्तमें अपूर्व प्रसन्नता प्राप्त होती है—और यही विष्णुका परमपद है। यही मोक्ष है। केवल श्वास क्रिया ही फलाकांक्षारहित कर्म है। श्वासके साथ

मनको लगा देने पर मन-प्राण एक हो जाते हैं। यही सर्व उपद्रवरहित अनामय पद या विष्णुका परम पद है ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

अन्वय—यदा (जब) ते (तुम्हारी) बुद्धिः (बुद्धि) मोहकलिलं (अविवेक रूपी कलुष या मालिन्यको) व्यतितरिष्यति (अतिक्रमण करेगी) तदा (तब) श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च (श्रोतव्य और श्रुत विषयोंमें) निर्वेदं (वैराग्य) गन्तासि (प्राप्त करोगे) ॥५२॥

श्रीधर—कदाहं तत्पदं प्राप्स्यामि इत्यपेक्षायामाह—यदेति द्वाभ्याम्। मोहो देहादिष्वात्मबुद्धिः। तदेव कलिलं गहनम्। "कलिलं गहनं विदु" रित्यभिधानकोशस्मृतेः। ततश्चायमर्थः—एवं परमेश्वराराधने क्रियमाणे यदा तत्प्रसादेन तव बुद्धिर्देहाभिमानलक्षणं मोहमयं गहनं दुर्गं विशेषेणातितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य चार्थस्य निर्वेदं वैराग्यं गन्तासि प्राप्स्यसि। तयोरनुपादेयत्वेन जिज्ञासा न करिष्यसीत्यर्थः ॥५२॥

अनुवाद—[कब मैं उस पदको प्राप्त करूँगा ? इसके उत्तरमें कहते हैं]—मोह अर्थात् देहात्मबुद्धिः, कलिल अर्थात् गहन—परमेश्वरकी आराधना करते करते उनके प्रसादसे जब तुम्हारी बुद्धि मोहमय गहन दुर्ग (देहादिमें आत्म-बुद्धि रूप) को विशेष रूपसे पार हो जायगी तब तुम्हें श्रोतव्य और श्रुत विषयोंमें वैराग्य प्राप्त होगा। उस समय श्रोतव्य और श्रुत विषय अनुपादेय जान पड़ेंगे और उनके लिए तुम जिज्ञासा भी न करोगे। [मोहकलिलं का अर्थ करते हुए श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं, मोहात्मक अविवेकरूपी कालुष्य। तुम्हारी बुद्धि उसको अतिक्रम करेगी तो तुम शुद्ध भावको प्राप्त करोगे, तब श्रोतव्य और श्रुत विषय तुम्हारे सामने निष्फल जान पड़ेंगे] ॥५२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जब तुम मोहसे निर्गत होगे, तब अच्छी बुरी बात सुनने पर कोई वेदना न होगी।

—कब तुम उस परमपदको पाओगे ? जब भगवान्‌को—इस आत्मदेवको, भजन करते करते तुम्हारी देहात्मबुद्धि नष्ट हो जायगी। देहात्मबुद्धि कोई साधारण सी वस्तु नहीं है। क्रिया करते करते जब मन इस बाह्य जड़-जगत्‌को कुछ भूलने लगता है तब भी पूर्ण विस्मृति नहीं आती। तब भी तैजस देह या प्राणमय कोषादिमें अनेक दृश्य वस्तु—शब्द-रूपके खेल—आकर साधनमें विघ्न उत्पन्न करते हैं। सब भूल जानेकी स्थितिमें पहुँचनेके पहले कहीं ये विघ्न हमको रोक न रक्खें। तथापि ये सूक्ष्म वस्तुएँ हैं और सुन्दर भी हैं, मन इनको छोड़कर स्वधाममें जाना नहीं चाहता। यही बुद्धिका मोह है। इसको पार करना पड़ेगा। क्रियाके द्वारा बुद्धिको प्रक्षालित करके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावमें परिणत किये बिना इन स्थूल वस्तुओंके प्रति मोह दूर न होगा। मनमें आयेगा, "वाह ! वाह ! आज कैसा शब्द सुननेमें आया, आज

कैसे उज्ज्वल चित्र देखनेमें आये—अब जान पड़ता है कि मैं पहुँच गया।" परन्तु ऐसी बात नहीं है—"इह बाह्य आगे कह आर" 'यह बाह्य भाव हैं आगे और कहिये'—इन सबको टपक जाना पड़ेगा। जब तक देखने-सुननेकी प्रवृत्ति है तब तक वैराग्य नहीं आता—इसे याद रखना होगा, अतएव शुद्ध बुद्धि बहुत दूरकी वस्तु है। शुद्ध बुद्धिका उदय हुए बिना भला कोई कैसे उसे देख या समझ सकता है? बुद्धिमें जो मोह लगा हुआ है, उसे दूर करना दो-चार घंटों, महीनों या वर्षों की साधनाका काम नहीं है।

"एवं निरन्तरं कृत्वा ब्रह्मैवास्मीति वासना।
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव रसायनम्॥"

वासना तो मनका काम है, जब मन ऐसा हो जाय कि उसमें फिर विषय-वासनाकी तरङ्गे न उठें तो ऐसे मनमें केवल ब्रह्मवासना ही जागृत होगी अर्थात् निरन्तर स्मरण होता रहेगा। रसायन द्वारा जिस प्रकार रोग नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार इस 'राम-रसायन'के द्वारा अविद्या-विक्षेप जड़-मूलसे नष्ट हो जाते हैं। जो राम देहेन्द्रियके भीतर रमण करते हैं उस आत्मारामके पास पहुँचना पड़ेगा! उसे तो यहाँ वहाँ खोजने, इस तीर्थ में उस तीर्थ भटकनेसे काम न चलेगा। एकबार जब ब्रह्मान्वेषणकी दृष्टि प्राप्त होगी, तभी उसके पास पहुँच सकोगे। तभी बुद्धिसे मोह गलकर बाहर निकल जायगा। तब इन शब्दों या दृश्यादिकोंके लिए कोई क्षोभ न रहेगा। श्रुति कहती है—"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्।" मुण्डक उप०। जो लोग ब्रह्मपदको चाहते हैं वे स्वर्गादि सारे सुखोंको तुच्छ समझ कर, उनकी प्राप्तिके लिए आकांक्षा न कर उनमें वीतराग हो जाते हैं। जब तक देह या गुणादिमें मन रमण करता है तब तक ये सब तुच्छ नहीं लगते, परन्तु जो लोग क्रिया करके क्रियाकी परावस्था प्राप्त करते हैं उनका चित्त नशेबाजके समान मस्त हो जाता है, और तब उनका चित्त इस सांसारिक कूड़ा-करकटके लिए बिल्कुल ही व्याकुल नहीं होता॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥५३॥

अन्वय—यदा (जब) श्रुतिविप्रतिपन्ना (श्रुतिसे नाना प्रकारके वैदिक कर्मोंका फल सुननेके कारण पूर्वसे ही विक्षिप्त) ते बुद्धिः (तुम्हारी बुद्धि) समाधौ (समाधिमें या परमेश्वरमें) निश्चला (निश्चला होकर या विषयान्तरमें आकृष्ट न होकर) अचला (स्थिर) स्थास्यति (हो जायगी) तदा (तब) योगं (तत्त्वज्ञान) अवाप्स्यसि (तुम प्राप्त करोगे)॥५३॥

श्रीधर—ततश्च—श्रुतीति। श्रुतिभिर्नानालौकिकवैदिकार्थश्रवणैर्विप्रतिपन्ना। इतः पूर्वं विक्षिप्ता सती तव बुद्धिर्यदा समाधौ स्थास्यति। समाधीयते चित्तमस्मिन्निति समाधिः परमेश्वरः। तस्मिन्निश्चला विषयान्तरैरनाकृष्टा। अतएवाचला। अभ्यासपाटवेन तत्रैव स्थिरा च सती योगं योगफलं तत्त्वज्ञानमवाप्स्यसि॥५३॥

अनुवाद—नाना प्रकारके लौकिक और वैदिक अर्थवाद श्रवणसे तुम्हारी बुद्धि जो पहलेसे विक्षिप्त हो गयी है, वह जब विषयान्तरसे आकृष्ट न होते हुए अभ्यास-पटुताके द्वारा परमेश्वरमें अचल हो जायगी तब योग अर्थात् तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होगी ॥५३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ॐकार-ध्वनिमें सदा सर्वदा रहनेसे अचल होने पर योगकी प्राप्ति होती है, अतएव ॐकार ध्वनि निरन्तर सुनो।

—पहले खूब मन लगाकर क्रिया करते जाओ। मन लगाकर क्रिया करने पर पहले झिल्ली-रवके समान एक प्रकारका शब्द कानमें सुनायी देगा। ऐसा नहीं है कि वह शब्द दूरसे आता सुनाई पड़े, अथवा लोकान्तरमें स्थित जीवादिकी बातचीत या शब्द कानमें पड़ता हो। अधिक प्राणायाम करनेसे वायु स्थिर होती है, उससे उत्पन्न एक शब्द कानमें आता है, पहले झिल्लीरव, उसके बाद दूरसे होने वाली घंटाध्वनिके समान ध्वनि—इनसे चित्तमें पहले पहल एक प्रकारका चाञ्चल्य आता है, परन्तु उसमें और मनोयोग देने पर उस श्रुतिद्वारा निष्पादित एक अचल अवस्था साधकको प्राप्त होती है, तब निरन्तर प्रणवध्वनि सुन पड़ती है—वीणा, वेणु, शङ्खके निर्घोषके समान मधुर और गम्भीर शब्दका अनुभव होता है। कबीर कहते हैं—"रग रग बोले रामजी, रेर रोम् र र रोङ्कार"—यह श्रुति-मधुर अनादि सङ्गीत सुनते सुनते मन स्पन्दन-शून्य, और बुद्धि वेगशून्य हो जाती है। शब्दमें सब कुछ लय होकर क्रियाकी परावस्था या ज्ञानका साक्षात्कार होता है। इसको भी योग, समाधि या आत्म-साक्षात्कार कहा जा सकता है।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

अनाहत शब्दमें मन लगाने पर उस ध्वनिके अन्तर्गत ज्योतिका अनुभव होता है। उस ज्योतिके भीतर मन अचल स्थिर हो जाता है, तब फिर बोध भी नहीं रहता—यही विष्णुका परम पद है ॥५३॥

अर्जुन उवाच।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुन बोले)। केशव (हे केशव!) समाधिस्थ (समाधिमें स्थित) स्थितप्रज्ञस्य (स्थितप्रज्ञका) का भाषा (भाषण क्या है, अर्थात् लोकमें उसके सम्बन्धमें कौनसे लक्षण कहे जाते हैं?) स्थितधीः (स्थितप्रज्ञ) किं प्रभाषेत (क्या कहते हैं?) किं आसीत (किस प्रकारसे अवस्थान करते हैं?) किं व्रजेत (किस प्रकारसे विचरण करते हैं?) ॥५४॥

श्रीधर—पूर्वश्लोकोक्तस्यात्मतत्त्वज्ञस्य लक्षणं जिज्ञासुरर्जुन उवाच—स्थितप्रज्ञस्येति। स्वाभाविके समाधौ स्थितस्य। अतएव स्थिता निश्चला प्रज्ञाबुद्धिर्यस्य तस्य भाषा का। भाष्यतेऽनयेति भाषा। लक्षणमिति यावत्। स केन लक्षणेन स्थितप्रज्ञ उच्यत इत्यर्थः। तथा स्थितधीः किं कथं भाषणमासनं व्रजनं च कुर्यादित्यर्थः ॥५४॥

अनुवाद—[पूर्वोक्त श्लोकमें कहे हुए आत्मतत्त्वज्ञ पुरुषके लक्षणकी जिज्ञासा करते हुए] अर्जुन बोले। हे केशव! स्वाभाविक समाधिमें अवस्थित स्थितप्रज्ञका लक्षण क्या है? अर्थात् उस निश्चलबुद्धि पुरुषके सम्बन्धमें लोग क्या कहते हैं? स्थितधी पुरुषका भाषण, उपवेशन और चलन या गति कैसी होती है? [यहाँ समाधिस्थ पुरुषका, पश्चात् समाधिसे उठे पुरुषका भाषण, उसके आचार व्यवहारके विषयमें जिज्ञासा की गयी है] ॥५४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरका तेज कहता है, स्थितप्रज्ञ, समाधि, स्थितधी, यह सब क्या है?

—साधन करते करते जब प्राणका अवरोध होता है, तब उस स्पन्दन-रहित योगीको किन लक्षणोंसे हम पहचाने? उसके बाद यह अवस्था तो पहले स्थायीभावसे नहीं आती, कुछ क्षणोंके उपरान्त इस अवस्थासे नीचे उतरना पड़ता है, उस समय उनके कौनसे लक्षण स्फुटित होते हैं, क्रियाकी परावस्थामें तो मन निष्क्रिय होता है। परन्तु क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें साधक ठीक जाग्रत भावमें नहीं रहता। एक प्रकारकी मस्ती उसे घेरे रहती है। तत्पश्चात् इस अवस्थामें जो योगी परिपक्व हो गये हैं, वे इस दशामें पान, भोजन, भ्रमण तथा भाषण भी कर सकते हैं, तथापि जगत्का कोई विषय उनको रोक नहीं सकता, ऐसे स्थितधी योगियोंके लक्षणके विषयमें जिज्ञासु होकर अर्जुन भगवान्से प्रश्न करते हैं। इस अवस्थामें मन इतना एकाग्र और सूक्ष्मभावापन्न होता है कि उस समय योगीको शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध किसी प्रकार स्पर्श नहीं कर सकते। छोटा-सा बच्चा सोने पर जब जगाया जाता है तो उस समय वह जागने पर भी वैसा नहीं जागता, तथापि खाने-पीनेका सब काम करता है। दूसरे दिन उस खाने-पीनेके बारेमें पूछने पर ठीक-ठीक कुछ बतला भी नहीं सकता। क्योंकि जिस मनसे वह याद करता वह मन ही उस समय नहीं था, और बुद्धि भी उस समय आत्मभावसे भावित थी। इन्द्रियोंके स्वभाववश क्रियाशील होनेके कारण प्राकृतिक कार्य होते तो हैं, पर उनको संचालन करनेके लिए मन और बुद्धि उस समय ठीक जाग्रत नहीं होते अतएव उनके द्वारा उस प्रकार नपे तुले ढंगसे कार्य नहीं होता। परन्तु इस अवस्थाको बहुत दिन, अनेक बार और बहुत देर तक पकड़े रहने पर क्रमशः योगी एक अद्भुत अवस्थाको प्राप्त होते हैं। उस अवस्थामें वे मानो साधारण लोगोंके समान सारा काम कर सकते हैं, तथापि साधारण लोगोंके साथ स्थितधीका जो पार्थक्य है उसे ही जाननेके लिए अर्जुनके शेष तीन प्रश्न हैं। अवश्य ही यह अवस्था अत्यन्त निगूढ़ और सर्वसाधारणके लिए दुर्ज्ञेय है। क्योंकि योगकी जो सात

भूमिकाएँ हैं उनमें पहली दो बाहरी हैं—शुभेच्छा और विचारणा—साधन-लक्षणमात्र हैं। तृतीय तनुमानसी है—इसमें मनकी क्षीणता होती है अर्थात् मन रहता है परन्तु वह भीतर डूबा रहता है। चतुर्थ सत्त्वापत्ति अवस्था है—इस अवस्थामें जगत् भूल जाता है, अपने आपको योगी भूल जाता है। यही समाधिका आरम्भ है। इसी अवस्थाके स्थायी और स्थिर होने पर साधक कृतार्थ हो जाता है। साधारणतः इस अवस्था तक साधकावस्था शेष हो जाती है। पञ्चम असंसक्ति अवस्था है। इस अवस्थामें योगी समाधिस्थ हो या उससे उठे हों, वह ब्रह्मभावसे कभी विचलित नहीं होते, या संसारके दृश्योंको देखकर विमुग्ध नहीं होते। यही पक्की योगारूढावस्था है। इस अवस्थामें रहकर सब काम किया भी जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता है। साधारणतः महायोगीश्वर पुरुष तथा अवतारी पुरुष इसी अवस्थामें रहते हैं और इसी अवस्थामें रहकर समस्त जगत्-लीलाका सम्पादन करते हैं। षष्ठ अवस्था है पदार्थाभावनी। इस अवस्थासे योगी फिर नहीं उठते। उनके सामने तब सृष्ट-असृष्ट कुछ नहीं रहता। वहाँ कुछ करना या होना नहीं रहता। सुख-दुःख या जन्म-मरणका भ्रमज्ञान वहाँ स्फुटित नहीं हो सकता। यही द्वन्द्वातीत अवस्था या परम प्रज्ञाकी अवस्था है। प्रथम तीन भूमिकाएँ मुमुक्षुके लिए हैं, चौथी भूमिकामें स्थित योगीको ब्रह्मवित् कहा जाता है। असंसक्ति नामक पञ्चम अवस्थामें योगीकी अविद्याके कार्यमें आसक्ति नहीं होती, ये ही योगी ब्रह्मविद्वर कहलाते हैं। पश्चात् पदार्थाभावनी षष्ठ भूमिका आती है, इस अवस्थामें भीतर-बाहर, स्थूल-सूक्ष्म कोई वस्तु नहीं रह जाती, किसी पदार्थके विषयमें कोई ज्ञान नहीं रहता, मैं-तुम रूपमें कोई बोध भी नहीं होता। ऐसे योगी ब्रह्मविद् विविधान कहलाते हैं। इसके बाद सप्तम भूमिका तुर्या-वस्थाका शेषप्रान्त है। यही समाधिकी अन्तिम अवस्था है। यह अवस्था क्या है, इसे मनुष्यकी भाषामें कहना संभव नहीं। "केवलं ज्ञानमूर्ति"—यह साक्षात् शिवरूप या ब्रह्मरूप है। चतुर्थावस्थासे मुक्तिका लक्षण या अपरोक्ष ज्ञानका प्रकाश प्राप्त होता है। आगे क्रमशः एक एक सीढ़ी उच्चसे उच्चतर होते हुए अन्तिम अवस्था चरमप्रज्ञा या जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होती है। यही ब्रह्मविद् वरीयान् कहलाता है ॥५४॥

श्रीभगवान् उवाच।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)। पार्थ (हे पार्थ!) यदा (जब) [योगी] आत्मनि (अपनेमें अथवा आत्मामें) आत्मना (आत्माके द्वारा) तुष्टः (तुष्ट होकर) सर्वान् (सारे) मनोगतान् (मनोगत) कामान् (कामनाओं को) प्रजहाति (त्याग करते हैं) तदा (तब) स्थितप्रज्ञः उच्यते (स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं) ॥५५॥

श्रीधर—अत्र च यानि साधकस्य ज्ञानसाधनानि तान्येव स्वाभाविकानि सिद्धस्य लक्षणानि। अतः सिद्धस्य लक्ष्यस्य लक्षणानि कथयन्नेवान्तरङ्गानि ज्ञानसाधनान्याह यावद-ध्यायसमाप्तिम्। तत्र प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह प्रजहातीति द्वाभ्याम्। मनसि स्थितान् कामान् यदा प्रकर्षेण जहाति। त्यागे हेतुमाह—आत्मनीति। आत्मन्येव स्वस्मिन्नेव परमानन्दरूप आत्मना स्वयमेव तुष्ट इत्यात्मारामः सन् सदा क्षुद्रविषयाभिलाषांस्त्यजति तदा तेन लक्षणेन मुनिः स्थितप्रज्ञ उच्यते ॥५५॥

अनुवाद—[साधकके जो ज्ञानसाधन हैं वही सिद्धके स्वाभाविक लक्षण हैं। इसी कारण सिद्धके लक्षणोंको कहकर उनके अन्तरङ्ग ज्ञानसाधनकी चर्चा अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त करते हैं]—श्री भगवान्ने कहा। (प्रथम प्रश्नका उत्तर)—हे पार्थ, मनमें स्थित सारी कामनाओंको जिन्होंने पूर्णरूपसे त्याग दिया है, वे ही स्थितप्रज्ञ हैं। स्थितप्रज्ञ क्यों त्याग करते हैं, इसका कारण बतलाते हैं, वह केवल आत्माद्वारा आत्मामें तुष्ट रहते हैं। परमानन्दरूप अपने आत्मामें जो स्वयं परितुष्ट हैं अर्थात् आत्माराम होकर क्षुद्र विषयाभिलाषोंका परित्याग कर चुके हैं—इसी लक्षणसे युक्त मुनिको स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥५५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव होता है—मनमें जितनी इच्छाएँ हैं सब अन्याय्य हैं; उनको त्यागकर क्रिया करके स्थिर होनेका नाम स्थितप्रज्ञ है।

—काम-संकल्पके द्वारा मन विषयभोग करता है, और उसमें ही आनन्द प्राप्त करता है। यदि सारी कामनाओंका त्याग हो तो उसको तुष्टि कैसे होगी ? ऐसी अवस्था तो पागलकी ही हो सकती है। ऐसी बात अनभिज्ञ आदमी ही सोच सकता है। परन्तु समाधिकालमें इन बाह्य सुखोंके अनुभवकी वस्तु नहीं रहती, तथापि वह अत्यन्त प्रसन्न जान पड़ता है। इसका कारण क्या है ? आनन्द आत्मामें स्वाभाविक है, वस्तुमें आनन्द नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि यह आनन्दमय आत्मा तो सबके पास सब समय रहता है, तब जगत्में इतना आनन्दका अभाव क्यों है ? इसका कारण यह है कि विषयाभिलाषी मन इन्द्रियोंके द्वारा मधु आहरण करनेके उद्देश्यसे दौड़ा करता है, यदि विषयोंमें आनन्द होता तो वह रसास्वाद कर ही पाता, परन्तु उसमें तो इस प्रकृत आनन्द वस्तुका अभाव रहता है, और रहता है केवल रसाभास, इससे मनकी वासना नहीं मिटती। यही कारण है कि वह अनेक वस्तुओंमें भटकता फिरता है, उसे आशा होती है कि विषयोंमें उसे परमानन्द मिलेगा। परन्तु वहाँ कभी वह परमानन्द नहीं पाता, इसी कारण उसकी दौड़धूप और हायहाय नहीं मिटती। मन जब विषयोंमें दौड़ता है तब वह अपने घरकी खबर भूल जाता है। वह नहीं जानता कि परमानन्दमयी तो (पासमें) "नीच-द्वार" पर ही है। जब गुरुकृपासे उसे रहस्यका सन्धान मिलता है तब वह फिर सुखकी आशासे विषयोंमें नहीं भटकता। तब अपनेको विषयोंसे खींचकर वह गुरुप्रदत्त साधनामें मग्न हो जाता है। प्रतिदिन मनोयोगपूर्वक साधन करते करते उसे अपना सङ्कल्प-विकल्प, मनका टूटना और लगना अच्छा नहीं लगता। तब उसकी समझमें आता है कि

मनका इस प्रकारका विषयचिन्तन अनुचित है, इसमें कोई सुख नहीं है। इसकी अपेक्षा मन लगाकर क्रिया करना ही अच्छा है। इस प्रकार मन लगाकर क्रिया करते करते क्रियाकी परावस्थाका अनुभव होता है। उसमें क्या आनन्द है! उस स्थिरतामें कैसा आराम है !! यह स्थिरता जब स्वाभाविक हो जाती है, उसके लिए जब कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इच्छामात्रसे योगी उसमें प्रविष्ट होकर जगत्‌को भूल जाता है—इस स्थितिमें पहुँचे हुए योगीको ही स्थित प्रज्ञ कहते हैं। मन जब विषयोंमें दौड़ता है तब वह आत्मस्थितिसे विच्युत हो जाता है। तभी उसे दुःखका अनुभव होता है। जो अवस्था आत्मानुभूतिसे शून्य है तथा विषयानुभूतिसे पूर्ण है, उसमें आनन्द नहीं मिलता—केवल निरानन्दमें मनप्राण जलते रहते हैं। जब मन आत्मामें डूब जाता है, तब उसे परमानन्द तो मिलता ही है, साथ ही ये मिथ्या मायाके खेल विषयादि मानो स्वप्नदृष्ट वस्तुके समान न जाने कहाँ अन्तर्हित हो जाते हैं। जैसे हाथमें मणि है, उसे भूलकर 'मणि कहाँ है' पूछता हुआ कोई भटकता-फिरता है, और जब देखता है कि मणि उसके हाथमें ही है खोयी नहीं है, तब उसका मन जैसा प्रसन्न होता है—मनका भार हलका हो जाता है—इसी प्रकार आत्मा सबमें तथा सर्वत्र होने पर भी मनकी क्षिप्तावस्थामें वह अनुभवमें नहीं आता, इसीसे उसका प्राण निरानन्दसे भर जाता है, और जब साधन करके इस अवस्थाका अनुभव करता है अर्थात् क्रियाकी परावस्थाका साक्षात्कार करता है तब विषयोंसे विरहित होने पर भी उसका मन प्रसन्न और अचञ्चल आत्माराम हो जाता है। तब फिर बाह्य वस्तुएँ मिलें या न मिलें, इससे कोई सुखदुःख उसे नहीं होता। आत्माके सन्तोषके लिए फिर उसे बाहरके कंकड़-पत्थर घरमें एकत्र नहीं करने पड़ते। तब वह आत्मक्रिया द्वारा आत्मस्थ होकर परमानन्द प्राप्त करता है। उसके मनमें वासनाके बुदबुद नहीं उठते, वह अपने आपमें स्तब्ध, तथा अपने आनन्दमें आप मग्न होता है। तब अपनी आत्माको छोड़कर, सुखके लिए फिर किसी दूसरी वस्तुकी उसे आवश्यकता भी नहीं होती। इसी कारण कामनाके परित्याग के लिए इतनी चेष्टाकी आवश्यकता है। पर केवल मुँहसे बोलने या कानसे सुननेसे क्या होगा? "नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति सङ्कल्पोपशमादृते"। सङ्कल्पके उपशम बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है। मन लगाकर क्रिया करो, प्राणवायु स्थिर होने पर ही सब सङ्कल्प मिट जायँगे, तभी स्थितप्रज्ञ हो सकोगे। श्रुति कहती है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ कठ० उप०

इसके हृदयस्थित सारे काम-सङ्कल्प जब निवृत्त हो जाते हैं तब मर्त्य अर्थात् जीव अमृतत्व प्राप्त करता है, तथा इस जन्ममें ही ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होती है ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

अन्वय—दुःखेषु (दुःखोंमें) अनुद्विग्नमनाः (उद्वेगरहित चित्त) सुखेषु

(सुखोंमें) विगतस्पृहः (स्पृहारहित) वीतरागभयक्रोधः (अनुराग, भय और क्रोधसे रहित) मुनिः (मुनि) स्थितधीः (स्थितधी) उच्यते (कहलाते हैं) ॥५६॥

श्रीधर—किञ्च—दुःखेष्विति । दुःखेषु प्राप्तेष्वप्यनुद्विग्नमक्षुभितं मनो यस्य सः । सुखेषु विगता स्पृहा यस्य सः । तत्र हेतुः वीता अपगता रागभयक्रोधा यस्मात् । तत्र रागः प्रीतिः । स मुनिः स्थितधीरुच्यते ॥५६॥

अनुवाद—दुःख प्राप्त होने पर भी जिसका मन अनुद्विग्न या अक्षुभित है, सुखमें भी जिसकी स्पृहा दूर हो गयी है, क्योंकि उनके मनसे प्रीति, भय और क्रोध अपगत हो गये हैं। ऐसे मुनिको ही 'स्थितधी' कहते हैं ॥ ५६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहकर दुःखमें अनुद्विग्न मन, सुखकी भी इच्छा नहीं, इच्छारहित, भय-क्रोधरहित होनेका नाम स्थितधी है।

—स्थितप्रज्ञ और स्थितधीमें थोड़ा सा अन्तर है। जिन्होंने क्रियाकी परावस्थामें घनीभूत अवस्था प्राप्त की है, उनके सामने बाह्य दृश्य कुछ नहीं रहता, उनमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व भाव भी नहीं रहता। सारी चेष्टाओंसे रहित, गमन-शयन-भोजन-भ्रमण-शून्य अटल ध्यानस्थ भावमें उनको यह भी नहीं जान पड़ता कि वे जीवित हैं या मृत—यही समाधिस्थ स्थितप्रज्ञका लक्षण है। इस अवस्थामें खूब परिपक्क होने पर जब वह समाधिसे उठते हैं तब उनकी क्या अवस्था होती है ? वह बाह्यज्ञानसम्पन्न होते हैं, उनकी इन्द्रियादिमें बाह्य चेतना लौट आती है। तब वह भी साधारण लोगोंके समान भोजन-पान और कथा-वार्ता भी करते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि जो क्रियाकी घनीभूत परावस्थामें समाधिमग्न हो गये हैं, वह यदि जागकर साधारण पुरुषके समान ही व्यावहारिक जगतमें व्यवहार करते हैं, भोजन-पान करते हैं तो इतना साधन करने पर भी साधारण आदमीसे उनमें विशेष अन्तर क्या हुआ ? अर्जुनने इसी कारण समाधिस्थ स्थितप्रज्ञका लक्षण पूछकर, फिर व्युत्थित अवस्थामें उनके बातचीत करने, चलने-फिरने आदि लोकव्यवहारोंके विषयमें जाननेकी इच्छा प्रकट की। यहाँ बात यह है कि क्रियाकी परावस्थामें अवस्थित ध्यानी पुरुषका भी प्रारब्ध क्षय नहीं होता। प्रारब्ध तो भोगके बिना क्षय हो भी नहीं सकता, अतएव स्थितप्रज्ञ पुरुषके भी व्युत्थित अवस्थामें पूर्वकर्मोंके अनुसार आध्यात्मिक, आधि-भौतिक और आधिदैविक ताप-समूह उसके समीप निश्चय ही आवेंगे। परन्तु साधारण लोग प्रारब्ध भोगके कारण दुःखादिमें जिस प्रकार विकल और उद्भ्रान्त हो उठते हैं, स्त्री-पुत्र-धनादिके संयोगजनित सुखादिकी प्राप्तिके लिए जिस प्रकार उनकी स्पृहा बलवती हो उठती है, समाधिसे उठे हुए पुरुषके लिए वैसा होनेकी संभावना नहीं। क्योंकि सारे सुख-दुःखादि देहाभिमानीके अज्ञानजनित संस्कार हैं। जाग्रत स्थितप्रज्ञमें अज्ञान नहीं रहता, देहादिमें भी अभिमान नहीं रहता, उनको किसी वस्तुके प्रति अनुराग या द्वेष नहीं होता। अतएव तज्जनित सुख-दुःखों और विषयोंके उपस्थित होने पर भी वह विचलित नहीं होते। वह क्रियाकी परावस्थाकी नशामें मस्त होकर जगत्को भूल जाते हैं, क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थासे यदि उनकी बाहरी

चेतनता लौटती है तो भी समाधि-स्मृतिकी डोर उनमें उस समय भी काफी लगी रहती है। इसी कारण दुःख उनको क्षुब्ध नहीं कर सकता, और न नये नये सुखोंकी उनको स्पृहा हो सकती है। यही 'स्थितधी'की अवस्था है॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

अन्वय—यः (जो) सर्वत्र (सब विषयोंमें) अनभिस्नेहः (स्नेह या आसक्तिसे शून्य हैं) तत् तत् (उन उन) शुभाशुभं (शुभ और अशुभको) प्राप्य (प्राप्तकर) न अभिनन्दति (आनन्दित नहीं होते) न द्वेष्टि (द्वेष भी नहीं करते) तस्य (उनका) प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (ज्ञान प्रतिष्ठित हो गया है) ॥५७॥

श्रीधर—कथं भाषेत इत्यस्योत्तरमाह—य इति । यः सर्वत्र पुत्रमित्रादिष्वप्यनभिस्नेहः स्नेहशून्यः । अतएव बाधितानुवृत्त्या तत्तच्छुभमनुकूलं प्राप्य नाभिनन्दति न प्रशंसति । अशुभं प्रतिकूलं प्राप्य न द्वेष्टि न निन्दति, किन्तु केवलमुदासीन एव भाषते । तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेत्यर्थः ॥५७॥

अनुवाद—[स्थितधी किस प्रकार बातें करते हैं—इसका उत्तर]—जो सर्वत्र पुत्रमित्रादिमें स्नेहशून्य हैं अर्थात् आसक्तिसे रहित हैं । अतएव अनुवृत्ति बाधित होनेसे अर्थात् साधारण लोगोंको जैसा होता है वैसा न होकर, वे अनुकूल वस्तु पाने पर अभिनन्दन नहीं करते तथा प्रतिकूल वस्तु पाकर भी द्वेष या निन्दा नहीं करते। बल्कि केवल उदासीनके समान 'भाषते'—बातें करते हैं। उन्हींकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है ॥५७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—भले और बुरे दोनोंमें समान ज्ञान है। उन्हींकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है ।

—समाधिसे उठे हुए स्थितप्रज्ञके लिए ऐसा नहीं हो सकता कि पुत्र-मित्र आत्मीय कहकर किसीके साथ विशेष प्रेम करें या शत्रु कहकर किसीके प्रति द्वेषभाव रक्खें। क्योंकि उनके सामने अच्छे और बुरे सब समान हैं। जब वे बातचीत करते हैं तब भी उनमें सब भाव अन्यथा नहीं दीख पड़ते। जो 'मैं' लोगोंके तथा समस्त वस्तुओंके साथ सम्बन्धयुक्त होकर 'मैं और मेरा' कहता हुआ घूमता है, ब्रह्मभावमग्न योगीका उस प्रकारका 'मैं' लुप्त हो जाता है। इसलिए आत्मीय या उपकारीके रूपमें भला हो, अथवा शत्रु या अपकारीके रूपमें बुरा हो—उसके मनमें बुरे-भलेका भाव नहीं उठता। उसके पास मन नहीं रहता, अतएव जागतिक लाभ-हानिमें उनकी दृष्टि नहीं रहती। जगतकी मूल वस्तुके साथ वह अपनेको एकाकार देखते हैं। उनका चित्त सदा भ्रान्तिशून्य होता है तथा अज्ञान और स्नेह आदि तामसी वृत्तियोंसे शून्य होता है। फिर भाला हर्ष-विषाद उनको कैसे हो सकता है? ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अन्वय—यदा च (और जब) अयं (यह स्थितप्रज्ञ) कूर्मः अङ्गानि इव

(जैसे कच्छप अङ्गोंको समेट लेता है वैसे ही) इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) इन्द्रियार्थेभ्यः (इन्द्रियोंके विषय शब्दादिकोंसे) संहरते (प्रत्याहरण करते हैं) तस्य (तब—उनकी) प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है) ।।५८।।

श्रीधर—किञ्च—यदेति। यदा चायं योगीन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः सकाशादिन्द्रियाणि संहरते प्रत्याहरत्यनायासेन। संहारे दृष्टान्तमाह—कूर्म इति। अङ्गानि करचरणादीनि कूर्मो यथा स्वभावेनैवाकर्षति तद्वत् ।।५८।।

अनुवाद—जब यह योगी शब्दादि विषयोंसे इन्द्रियोंका संहरण अर्थात् अनायास प्रत्याहार करते हैं, उसी प्रकार जैसे कछुआ हाथ-पैर आदि अपने अङ्गोंको स्वभावतः आकर्षण करता है, तभी उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ।।५८।।

आध्यात्मिक व्याख्या—जो देखते हुए भी नहीं देखता उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

—योगीके आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा साधारण मनुष्योंके समान ही देखनेमें आते हैं, परन्तु इनमें किसीकी गति बाहरकी ओर नहीं होती, सबकी अन्तर्मुखी होती है। यही कारण है कि आँख, कान होने पर भी वे बाहरका दृश्य नहीं देखते और न बाहरका शब्द सुनते हैं। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मक सारे व्यापार मायाके खेल हैं। प्राणका कम्पन इड़ा-पिङ्गलामें श्वास-गतिके प्रवाहके कारण अनुभूत होता है, वस्तुतः वह कुछ नहीं है। जब अनन्त शान्तिके निकेतन एक आत्मा ही जगन्मय होकर व्याप्त है, तब फिर ये पञ्चभूतोंके पञ्चतत्त्व कहाँसे आये ? यही भ्रमदृष्टि है, प्रकृतिके भीतरके खेल हैं। जब तक इन्द्रियाँ बहिर्दृष्टिसम्पन्न हैं ये खेल रुकेंगे नहीं। इसी कारण कठोपनिषद्में कहा है कि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

स्वयम्भू भगवान्ने इन्द्रियोंको बहिर्मुख या बाह्य-पदार्थदर्शी बनाकर निर्माण किया है, इसी कारण वे बाह्य विषयों अर्थात् शब्दादिकोंको देखती हैं अन्तरात्माको नहीं देखती। कोई कोई विवेकी पुरुष मुक्तिकी इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियोंको रोककर 'प्रत्यगात्मा' अर्थात् जीवदेहमें प्रकाशमान कूटस्थ या आत्माको देखते हैं।

अतएव 'प्रत्यगात्मा'को देखनेके लिए इन्द्रियोंको कछुएके समान बाहरसे भीतरकी ओर मोड़ना पड़ेगा। जीभको उलटना पड़ेगा, चक्षुको उलटना होगा, मनको उलटना पड़ेगा, श्वास दाहिने बायें न चल सके इस लिए उसको भी उलटना होगा, तभी सब एक स्थानमें एक बिन्दुमें स्थिर होंगे। तब देखोगे—

हृदयाकाशे जगत्बीज ज्योतिरूपेते भाति रे।
प्रति क्षणे क्षणे प्रणव शब्द रोम् रोम् रवे बाजे रे ।।

'हृदयाकाशमें जगतबीज ज्योतिरूपमें भासमान हो रहा है, प्रतिक्षण प्रणव-ध्वनि रोम रोम शब्दसे गुंज रही है।'

प्रज्ञा प्रतिष्ठित पुरुषकी स्थिति इसी प्रकार होती है। क्रियाकी परावस्था या समाधि टूटने पर, क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें योगीकी एक पैर जलमें और दूसरा स्थलमें जैसी स्थिति होती है। यदि बाहर वह कोई गड़बड़ी देखते हैं तो पल मारते ही पुनः आत्मस्थ हो जाते हैं। समाधिसे उठे हुए योगी इसी प्रकार इन्द्रिय-निग्रह करते हैं। इतनी शक्ति होने पर ही उनको स्थितप्रज्ञ कह सकते हैं। समाधिस्थ होने या सुषुप्तिमें रहनेके सिवाय इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर दौड़ेंगी ही। जिस प्रकार कछुआ अपने पैर-मुँह आदिको भीतरकी ओर समेट लेता है, समाधिसे उठे हुए योगी भी उसी प्रकार अपनी इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे खींच लेते हैं ॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

अन्वय—निराहारस्य (अनशनकारी) देहिनः (पुरुषके) विषयाः (सारे विषय—शब्दस्पर्शादि) विनिवर्तन्ते (निवृत्त हो जाते हैं) रसवर्जं (पर वह निवृत्ति तृष्णाविवर्जित नहीं होती) [किन्तु] अस्य (इस स्थितप्रज्ञके) रसः अपि (विषयानुराग भी) परं दृष्ट्वा (परमात्माको साक्षात्कार करके) निवर्तते (निवृत्त हो जाता है) ॥५९॥

श्रीधर—ननु नेन्द्रियाणां विषयेष्वप्रवृत्तिः स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं भवितुमर्हति। जड़ानामातुराणामुपवासपराणां च विषयेष्वप्रवृत्तेरविशेषात्। तत्राह—विषया इति। इन्द्रियैर्विषयाणामाहरणं ग्रहणमाहारः निराहारस्येन्द्रियैर्विषयग्रहणमकुर्वतो देहिनो देहाभिमानिनोऽज्ञस्य विषयाः प्रायशो विनिवर्तन्ते। तदनुभवो निवर्तत इत्यर्थः। किन्तु रसो रागोऽभिलाषः तद्वर्जम्। अभिलाषश्च न निवर्तत इत्यर्थः। रसोऽपि रागोऽपि परं परमात्मानं दृष्ट्वाऽस्य स्थितप्रज्ञस्य स्वतो निवर्तते नश्यतीत्यर्थः। यद्वा निराहारस्योपवासपरस्य विषयाः प्रायशो विनिवर्तन्ते। क्षुधासन्तप्तस्य शब्दस्पर्शाद्यपेक्षाभावात्। किन्तु रसवर्जम्। रसापेक्षा तु न निवर्तत इत्यर्थः। शेषः समानम् ॥५९॥

अनुवाद—[यदि कहो कि इन्द्रियोंकी विषयोंमें अप्रवृत्ति स्थितप्रज्ञका लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर उनके साथ जड़, आतुर तथा उपवासपरायणमें कोई भेद नहीं रहेगा—इसके उत्तरमें कहते हैं] इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण ही आहार है। इस प्रकारके विषय-ग्रहणमें अप्रवृत्त देहाभिमानी अज्ञ पुरुष विषय ग्रहणसे प्रायः निवृत्त होते हैं अर्थात् उनको विषयानुभव नहीं होता। परन्तु रस या विषयाभिलाषाको वर्जित करके, अर्थात् वैसे पुरुषोंकी विषय-वासना निवृत्त नहीं होती। परन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुषकी विषयाभिलाषा भी परमात्माका साक्षात्कार करके स्वतः ही निवृत्त या नष्ट हो जाती है। उपवासपरायण निराहारी पुरुषका केवल विषयग्रहण ही निवृत्त होता है, परन्तु क्षुधार्त पुरुषमें शब्दस्पर्शादिकी अपेक्षा नहीं होती, यद्यपि उनको तत्तत् विषयोंमें अनुराग होता है। परन्तु स्थितप्रज्ञके विषय और आसक्ति दोनों ही निवृत्त होते हैं। अतएव विषयमें केवल अप्रवृत्ति मात्र स्थितप्रज्ञका लक्षण नहीं हो सकता ॥ ५९ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकांक्षारहित कर्म—रसवर्जित आहार करके परब्रह्मको देखकर स्थिर रहना।

—स्थितप्रज्ञका साधारण लोगोंके साथ अन्तर यह है कि वे विषयोंका ग्रहण करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होते। फलाकांक्षारहित कर्म ही उनका रस-वर्जित आहार है। सकाम-पुरुषोंके सारे कर्म फलाकांक्षाके साथ होते हैं, फलाकांक्षाके बिना साधारणतः उनके कर्म होते ही नहीं। परन्तु जो क्रिया करते-करते क्रियाकी परावस्थामें रहते हैं उनके कर्म प्रायः सभी हो जाते हैं, परन्तु किसी कर्ममें उनका प्राण बन्धनमें नहीं पड़ता। उनके चित्ताकाशको विषयरस स्पर्श भा नहीं करते। ब्रह्मानन्दमग्न योगीका रसानुभव विषयानन्द-भोगकी अपेक्षा अनेक गुणा श्रेष्ठ और पवित्र होता है। अतएव जो चित्त ब्रह्मानन्दरसमें मग्न रहता है, उसमें विषय-वासनाका प्रवेश कैसे हो सकता है? क्रियाकी परावस्था जिनके लिए सहजावस्था हो गयी है, उस कृतार्थ-योगीकी सुखाभिलाषाका मूल ही नष्ट हो जाता है। सुख-दुःखकी अनुभूतिका मूल—देहके साथ इन्द्रिय और मनका संयोग—उनमें नहीं होता ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) हि (क्योंकि) यततः (यत्नशील) विपश्चितः (विवेकी) पुरुषस्य अपि (पुरुषके भी) मनः (मनको) प्रमाथिनी (बलवान् या प्रमत्त) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) प्रसभं (बलपूर्वक) हरन्ति (हरण करती हैं) ॥ ६० ॥

श्रीधर—इन्द्रियसंयमं विना स्थितप्रज्ञता न सम्भवति। अतः साधकावस्थायां तत्र महान् प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्याह—यततो ह्यपीति द्वाभ्याम्। यततो मोक्षार्थं प्रयतमानस्य विपश्चितो विवेकिनोऽपि। मन इन्द्रियाणि प्रसभं बलात् हरन्ति। यतः प्रमाथीनि प्रमथन-शीलानि क्षोभकाणि इत्यर्थः ॥ ६० ॥

अनुवाद—[इन्द्रियसंयमके बिना स्थितप्रज्ञता संभव नहीं है, अतएव साधकावस्थामें इसके लिए महान् प्रयत्न करना चाहिए। यह बात दो श्लोकोंमें कह रहे हैं]—हे कौन्तेय, मोक्षके लिए प्रयत्नशील विवेकी पुरुषके मनको भी इन्द्रियाँ बल-पूर्वक हरण करती हैं। क्योंकि इन्द्रियाँ क्षोभ करनेवाली अथवा प्रमत्त हैं ॥ ६० ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—संयम करते रहने पर भी इन्द्रियाँ अच्छे मनको भी हर लेती हैं।

—सचमुच ही भगवान्को प्राप्त करनेके लिए जिनके चित्तमें प्रबल इच्छा होती है, ऐसे साधक इन्द्रिय-भोगमें लोलुप नहीं होते। इच्छा होने पर भी वे इन्द्रियोंके विषयोंसे मनको हटा लेनेके लिए यथेष्ट प्रयत्न करते हैं। यह अच्छा नहीं है, कल्याणजनक नहीं है, बार बार विवेक-विचारके द्वारा स्थिर होने पर भी इन्द्रियाँ पूर्वसंस्कारके वश विषयाभिमुख होती हैं। तब उनको समझा-बुझाकर

रोकना कठिन हो जाता है, रोक रखना भी एक प्रकार से क्लेशजनक जान पड़ता है। फिर क्रमशः वह रोक नहीं मानना चाहतीं, ठीक उसी प्रकार जैसे एक प्रमत्त पुरुष रोक नहीं मानता। इसी कारण इनको प्रमाथी कहा गया है। यदि मन खूब अच्छा, सदसद्-विवेकयुक्त है तो भी विषयोंके प्रबल आकर्षणसे विषयावर्त्त में पड़ना पड़ता है। अतएव साधनाका अभ्यास इतना सुदृढ़ होना चाहिए कि विषयोंके आकर्षणमें पड़ने पर वह वहाँसे पिण्ड छुड़ाकर भाग सके। कछुएके अङ्गोंके समान इन्द्रियोंको भीतरकी ओर खींचना पड़ेगा। परन्तु केवल खींचाखींचीसे रोकना नहीं हो सकता, इसके लिए भगवत्-रसका बोध होना आवश्यक है। सत्सङ्ग और निरन्तर भगवत्-स्मरणके द्वारा इस प्रकारकी मनोवृत्ति निवृत्त हो जाती है, जिन्होंने क्रिया करके क्रियाकी परावस्था प्राप्त की है, उन्होंने रसस्वरूप आत्माका सन्धान पा लिया है। उनको फिर भय नहीं है। परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त असीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अन्वय—तानि सर्वाणि (उन सारी इन्द्रियोंको) संयम्य (संयत करके) मत्परः (मत्परायण होकर) युक्तः (योगयुक्त होकर) आसीत (अवस्थान करें) हि (क्योंकि) यस्य (इस प्रकार जिन योगीकी) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) वशे (अभ्यासके द्वारा वशीभूत हैं) तस्य (उनकी) प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गयी है) ॥६१॥

श्रीधर—यस्मादेवं तस्मात्—तानीति। युक्तो योगी तानीन्द्रियाणि संयम्य मत्परः सन्नासीत। यस्य वशे वशवर्तीनीन्द्रियाणि। एतेन च कथमासीतेतिप्रश्नस्य—वशीकृतेन्द्रियः सन्नासीतेति—उत्तरं भवति ॥६१॥

अनुवाद—[अतएव] योगी उन समस्त इन्द्रियोंको संयत करके मत्परायण अर्थात् मुझमें चित्त समर्पण कर अवस्थान करें। जिनकी इन्द्रियाँ वशमें हैं उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। स्थितप्रज्ञ कैसे अवस्थान करते हैं—इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'स्थितधी' इन्द्रियोंको वशीभूत करके अवस्थान करते हैं ॥६१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सारी इन्द्रियोंको संयत रखकर ब्रह्ममें अटक जाना। जिसकी इन्द्रियाँ इस प्रकार वशीभूत हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

—ब्रह्ममें लगे बिना इन्द्रियसंयम नहीं होता, अर्थात् जैसे ही वह निरोधरूप (क्रियाकी परावस्था) अवस्थासे उतरेगा वैसे ही इन्द्रियाँ अपने अपने विषयके अन्वेषणके लिए व्याकुल हो जायँगी, क्योंकि यही उनका स्वभाव है। परन्तु जिनकी क्रियाकी परावस्थासे डोर लगी हुई है, कभी छूटती नहीं, उनकी इन्द्रियाँ फिर विषय-व्यापृत नहीं हो सकतीं। ऐसी अवस्था हो तो समझना चाहिए कि उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गयी है। यह अवस्था ही 'मत्पर' अवस्था है। मत्पर अवस्थामें मन पर इन्द्रियोंका कोई जोर काम नहीं करता। अतएव वे बल पूर्वक उससे विषय-भोग

नहीं करा सकतीं। इस प्रकारके मत्परायण पुरुष ही उनके शरणागत हैं, इसके सिवा अन्य किसी प्रकारसे बलवान् इद्रियग्रामको विषयविमुख करना कठिन है, और इन्द्रिय-जय हुए बिना आत्मानुभव करनेकी सामर्थ्य भी नहीं आती। अतएव क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्तिके लिए मन लगाकर क्रिया करना परमावश्यक है। इसके सिवा इन्द्रियजयका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

अन्वय—विषयान् (विषयोंका) ध्यायतः (चिन्तन करते करते) पुंसः (पुरुषका) तेषु (उनमें) सङ्गः (अनुराग या आसक्ति) उपजायते (उत्पन्न होती है); सङ्गात् (विषयानुरागसे) कामः (कामना) संजायते (पैदा होती है); कामात् (कामनासे) क्रोधः (क्रोध) अभिजायते (उत्पन्न होता है) ॥६२॥

श्रीधर—बाह्येन्द्रियसंयमाभावे दोषमुक्त्वा मनःसंयमाभावे दोषमाह—ध्यायत इति द्वाभ्याम्। गुणबुद्ध्या विषयान् ध्यायतः (आलोचयतः—शङ्करः) पुंसस्तेषु सङ्ग आसक्तिर्भवति। आसक्त्या च तेष्वधिकः कामो भवति। कामाच्च केनचित् प्रतिहतात् क्रोधो भवति ॥६२॥

अनुवाद—[बाह्येन्द्रियोंका संयम न करनेसे जो दोष होता है उसे कहकर मनःसंयमके अभावसे उत्पन्न दोषोंको इन दो श्लोकों द्वारा कहते हैं]—गुणबुद्धिसे अर्थात् कामना या लोभयुक्त होकर विषयका ध्यान करनेसे पुरुषकी उस विषयमें आसक्ति उत्पन्न होती है; आसक्तिसे उस विषयमें अधिक कामना या लोभ पैदा होता है। किसी कारणसे कामनामें बाधा पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥६२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कामिनीके प्रति इच्छा होने पर कामोत्पत्ति होती है, पश्चात् शरीर गरम हो जाता है, मोहित हो जाता है, मनुष्य अपने आपको भूल जाता है।

— जो जैसी भावना करता है उसको घटता भी वैसा ही है। विषय-चिन्तन करनेसे तद्विषयक भोगेच्छा उत्पन्न होती है। तब वह मनुष्यको पागल बना देती है और दिमागको ठीक नहीं रहने देती। तब आत्मस्वरूपकी बात मनमें नहीं रहती, मनुष्य अपने आपको भूल जाता है। हरित तृणराशि देखकर जैसे गाय, बकरी, भैंस आदि लपक उठती हैं, उसी प्रकार भोग्य वस्तु सामने पड़ने पर मन आनन्दसे नृत्य कर उठता है, उसे न पाने पर फिर क्रोधसे लाल हो जाता है। अतएव जिससे विषय-स्मरण हो, इस प्रकारकी वस्तुके पास नहीं फटकना चाहिए। इसीसे यदि उनका स्मरण अर्थात् भगवत्-कथाकी आलोचनाके सिवा मनको खाली छोड़ा जायगा तो वह अपने अभ्यस्त और आस्वादित वस्तुका स्मरण करेगा ही! स्मरण करने पर उसके प्रति लोभ उत्पन्न होगा। तब उस मनको रोकना कठिन हो जायगा, रोकने पर क्रोध उत्पन्न होगा। तब मनमें यह बात नहीं जागेगी कि वह आत्मा है, आनन्दमय रस-स्वरूप है,—उस समय मनमें केवल यही होगा कि यह

भोग्य वस्तु कैसे प्राप्त की जाय। जो बाधा देने आवेंगे उनको उपकारी बन्धु मानना तो दूरकी बात है उस समय वे महा शत्रु जान पड़ेंगे। आत्मा देहेन्द्रियादिके साथ मिलकर जब जलमें दूधके समान घुलमिल जाता है तब उसको प्राणेन्द्रियकी चेष्टासे पृथक् करके बाहर करना असंभव होता है। इसीकारण चतुर आदमी प्राणायामरूप मन्थन-क्रियाके द्वारा उस (दूध जल एक किए) वस्तुको देहेन्द्रियरूप जलभागसे पृथक् कर डालता है। एकबार पृथक् होकर मक्खन हो जाने पर फिर वह जलमें नहीं मिलता, जलके ऊपर ऊपर तैरता रहता है। ऐसा जब तक नहीं हो जाता तब तक चाहे तुम कितने बड़े पण्डित या संयमी क्यों न हो काम-क्रोध पर हाथ लगाना कठिन है। "अन्त:पूर्णमना मौनी कामपि स्थितिमिच्छति।" जिनका अन्तर पूर्ण हो गया है, चिदाकाशकी ओर देखते देखते जिनका लक्ष्य फिर बाहरकी ओर नहीं आता —वह पूर्णकाम योगी मौनी हो जाते हैं। अर्थात् उनका मन लीन हो जाता है, फिर वह किस विषय या स्थितिकी इच्छा करेंगे? यही कारण है कि साधु लोग विषय-चिन्तनको मृत्यु कहते हैं, तथा परमात्म-भावनाको ही अनर्थ-निवृत्तिका कारण बतलाते हैं। इस आत्मभाव-भावित चित्तमें विषय-चिन्ता फिर क्योंकर अच्छी लग सकती है? उनका मन-भ्रमर तब काली-पद नील कमलके मधुका आस्वादन करनेमें लगा है, तब फिर उनको विषय-रसास्वादन कैसे अच्छा लगेगा? ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

अन्वय—क्रोधात् (क्रोधसे) सम्मोहः (शुभाशुभ विवेकके अभावका कारण अविवेक) भवति (होता है)। सम्मोहात् (संमोहसे) स्मृतिविभ्रमः (स्मृति-भ्रंश हो जाता है) स्मृतिभ्रंशात् (स्मृति-नाशसे) बुद्धिनाशः (बुद्धि या ज्ञानका नाश होता है) बुद्धिनाशात् (बुद्धिके नाशसे) प्रणश्यति (नाशको प्राप्त होता है) ॥६३॥

श्रीधर—किञ्च—क्रोधादिति। क्रोधात् सम्मोहः कार्याकार्यविवेकाभावः। ततः शास्त्राचार्योपदिष्टार्थस्मृतेर्विभ्रमो विचलनं भ्रंशः। ततोबुद्धेश्चेतनाया नाशः। वृक्षादिष्विवाभिभवः। ततः प्रणश्यति मृततुल्यो भवति॥ ६३॥

अनुवाद—क्रोधसे संमोह अर्थात् कार्याकार्यके विषयमें विवेकका अभाव होता है। विवेकके अभावसे शास्त्र और आचार्यके द्वारा उपदिष्ट विषयोंमें स्मृतिका विचलन या भ्रंश हो जाता है, इससे बुद्धि या चेतनाका नाश होता है। वृक्षादिके समान अभिभव अवस्था हो जाती है। बुद्धिका नाश होने पर मनुष्य मृततुल्य हो जाता है ॥६३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, बुद्धि स्थिर न रहनें पर नष्ट हो जाती है।

—नष्ट होनेका अर्थ है इन्द्रियपरायण हो जाना। इन्द्रियोंके विषयोंका सुख तो आत्मसुख नहीं है। बुद्धि ठिकाने न रहने पर वह अपने स्थानसे च्युत होकर मन

और इन्द्रियोंके साथ जुट जाती है। तब जिस प्रकार गृद्ध शव पाकर प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार ये सब एकबारगी एक उत्कट आनन्दमें मत्त हो उठती हैं। तब फिर आत्मा-परमात्माकी खोज-खबर कुछ भी मनमें नहीं रहती, केवल उनका यही भाव रहता है कि क्या खायें, क्या पियें? बुद्धि ठिकानेमें कब रहती है? यस्य त्वं मस्तकोपरि। अर्थात् जब प्राण सिरमें चढ़कर बैठता है, और बुद्धि भी तदभिमुखी होती है। तब मन उसके अनुगत होकर लय हो जाता है। तब फिर विषयाभिनिवेशयुक्त बुद्धि नहीं रहती। उस समय वह एकाग्र होकर तथा एकमुखी होकर ब्रह्मविज्ञानदायिनी बनकर अन्तमें आत्माकारा हो जाती है। यही स्थिर भाव है। इसी भावमें ब्रह्मात्मा प्रकाशित होता है। इस प्रकार ठीक ठिकाने बुद्धि न हो तो सब गोलमाल हो जायगा और इन्द्रियोंकी उद्दण्डताका फिर अन्त न रहेगा। और वस्तुतः यदि उस अपूर्व सुन्दर स्थिरभावसे मन फिर इन्द्रियोंमें लौटकर यथेच्छाचार आरम्भ कर देता है तो इस सदसद्-विवेक-बुद्धिहीन अवस्थाको मृत्यु कहा जायगा। उस अवस्थामें सच्चिदानन्द-स्वरूप 'अहं' का बोध नहीं होता, बल्कि उसके स्थानमें देहात्मबोध होने लगता है। यही अज्ञानका मूल तथा जन्म-मृत्युका अच्छेद्य बन्धन है। क्या करनेके लिए जगत्में आया हूँ तथा गुरुके पास क्या प्रतिज्ञा की है, सब बातें भूल जाती हैं। यह स्मृति-भ्रंशकी अवस्था ही महान् विपद्की अवस्था है। जिससे स्मृतिभ्रंश न हो, इन्द्रियाँ सहज ही विषयमें न कूद पड़ें, उसीके लिए साधना और निरन्तर आलोचना करके विवेकको जगाए रखना ही धर्म-प्राप्तिका प्रकृष्ट उपाय है। एकाकी हुए बिना वासनाका त्याग न हो सकेगा। एकाकीका अर्थ है जनशून्य स्थान। जनशून्य स्थान कहीं बाहर न मिलेगा। बाहरके जनशून्य स्थानमें जाने पर मन थोड़ा स्थिर हो तो जाता है, परन्तु उसमें फिर अनेक विपदाएँ आ सकती हैं जैसे—दंश, मशक, सर्प, व्याघ्रादिका भय, अन्न-जलका अभाव। ऐसी दशामें क्या मन स्थिर हो सकता है? कुछ निर्जनमें, मौनी होकर अर्थात् मनको बाहरके लोगोंके साथ, तथा मनके साथ बातें न करके निरन्तर उस शून्य-मण्डलको लक्ष्य करके वहाँ आत्माका सन्धान करना होगा। तभी क्रियाकी परावस्था रूपी निर्जन, महाशून्यका सन्धान प्राप्त होगा। वह महा-शून्यही महाश्मशान है। वही मेरे सदाशिव महाकाल वास करते हैं। तब—

"हय सहस्रारे दिगम्बरे दिगम्बरी योजना।"

'अर्थात् दिगम्बरके साथ सहस्रारमें दिगम्बरीको योजना होती है।' पुरुष-प्रकृतिके इस समरस या ऐक्यभावको बिना देखे क्या तृष्णार्त्त जीवकी विषय-तृष्णा मिट जायगी? विषयमें रुचि ही काम या मदन है। अतएव मदनमोहन या कामारिका पता लगाना चाहिए। अन्ततः मदनमोहनकी वंशीध्वनि जब सुननेमें आयगी तब कामादि मनोवेग भाग जायँगे॥ ६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४ ॥

अन्वय—रागद्वेषवियुक्तैः (रागद्वेषविवर्जित) आत्मवश्यैः (आत्माके वशीभूत) इन्द्रियैः (इन्द्रियोंके द्वारा) विषयान् (शब्दादि विषयोंको) चरन् (उपभोग करते हुए) विधेयात्मा (विजितान्तःकरण पुरुष) प्रसादं (शान्तिको) अधिगच्छति (प्राप्त होता है) ॥ ६४ ॥

श्रीधर—नन्विन्द्रियाणां विषयप्रवणस्वभावानां निरोद्धुमशक्यत्वात् अयं दोषो दुष्परिहर इति स्थितप्रज्ञत्वं कथं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—रागद्वेष इति द्वाभ्याम् । रागद्वेषरहितैर्विगतदर्पैरिन्द्रियैर्विषयांश्चरन् उपभुञ्जानोऽपि प्रसादं शान्तिं प्राप्नोति । रागद्वेषराहित्यमेवाह—आत्मेति । आत्मनो मनसो वश्यैरिन्द्रियैर्विधेयो वशवर्त्यात्मा मनो यस्येति । अनेनैव कथं व्रजेतेत्यस्य चतुर्थप्रश्नस्य स्वाधीनैरिन्द्रियैर्विषयान् गच्छतीति उत्तरं उक्तं भवति ॥ ६४ ॥

अनुवाद—[यदि कहो कि इन्द्रियोंका स्वभाव विषय-प्रवण होनेके कारण उनका निरोध साध्य नहीं है, इस कारण यह दोष दुष्परिहार्य है, फिर स्थितप्रज्ञ होना कैसे संभव है ? इस आशङ्काका उत्तर देते हुए कहते हैं] रागद्वेषवियुक्त दर्पहीन तथा मनके वशवर्ती इन्द्रियोंके द्वारा विषय (शास्त्रानुकूल अन्नपानादिका) उपभोग करते हुए भी विजितान्तःकरण व्यक्ति शान्ति प्राप्त करता है । 'कथं व्रजेत" इस चतुर्थ प्रश्नका उत्तर इसके द्वारा हो गया । स्थितप्रज्ञ व्यक्ति आत्माके वशीभूत इन्द्रियोंके द्वारा विषयोपभोग करते हैं ॥ ६४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया करनेसे ही मन सन्तुष्ट रहता है ।

—इन्द्रियोंके द्वारा ही मन विषय ग्रहण करता है । चञ्चल मन सदा ही विषयोंके पीछे घूमता है । मनके विषयानुसन्धानमें रत रहने पर इन्द्रियोंको निरोध करना असाध्य है । परन्तु क्रिया करनेसे प्राण शान्त होता है, और प्राणके शान्त रहने पर मन भी सन्तुष्ट रहता है, विषयोंका अन्वेषण नहीं करता । इस प्रकारके मनके द्वारा विषयभोग होते रहने पर भी शान्तिमें बाधा नहीं पड़ती । बाह्येन्द्रियोंके निगृहीत होने पर भी मन यदि विक्षेपशून्य नहीं होता तो वह विषय-स्मरण करेगा ही, इस प्रकारके संयमसे कोई काम नहीं निकलता, और विषय-चिन्तारहित होकर मन जब शुद्ध हो जाता है तो बाह्येन्द्रियके द्वारा विषय-ग्रहण होने पर भी उससे चित्तकी निर्मलतामें कोई अन्तर नहीं आता । जब तक शरीर है तब तक थोड़ा-बहुत विषय-ग्रहण अनिवार्य है, अन्यथा शरीरकी रक्षा नहीं हो सकती । परन्तु विषयमलरहित स्वच्छ अन्तःकरण ही भगवान्‌का पादपीठ है । मन जब उस पदके स्पर्शमें (क्रियाकी परावस्थामें) आत्मानन्दमें मग्न रहता है, तब उसमें तृष्णा या व्याकुलता नहीं रहती । विषय-तृष्णा ही समस्त अनर्थका हेतु है । उसमें अहमिका लगी रहती है । जब

तक अहंकार है तब तक आत्मानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए विचाराग्निको सर्वदा प्रज्वलित रखना आवश्यक है ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

अन्वय—प्रसादे (आत्मप्रसाद लाभ करने पर) अस्य (इनके) सर्वदुःखानां (सारे दुःखोंका) हानिः (विनाश) उपजायते (होता है); हि (क्योंकि) प्रसन्न-चेतसः (प्रसन्न-चित्त व्यक्तिकी) बुद्धिः (बुद्धि) आशु (शीघ्र) पर्यवतिष्ठते (प्रतिष्ठित होती है) ॥ ६५ ॥

श्रीधर—प्रसादे सति किं स्यादिति ? अत्राह—प्रसाद इति। प्रसादे सति सर्वदुःख-नाशः ततश्च प्रसन्नचेतसो बुद्धिः प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः ॥६५॥

अनुवाद—[प्रसादकी प्राप्ति होने पर जो लाभ होता है, उसे ही कहते हैं] प्रसाद प्राप्त करने पर इनके सारे दुःखोंका नाश हो जाता है। प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि या प्रज्ञा शीघ्र प्रतिष्ठित होती है ॥६५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मन सन्तुष्ट रहने पर सब दुःखोंका नाश होता है और बुद्धि स्थिर रहती है।

—मनकी तुष्टि किस प्रकार होती है ? विषय प्राप्त होने पर मन फिर विषयको खोजता है, उससे मनको तुष्टि नहीं होती। परन्तु क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें मन जब आत्माकार हो जाता है तब उसमें तरङ्ग नहीं उठती। मनको इस निस्तरङ्ग भावमें ही यथार्थ सन्तोष प्राप्त होता है। इसमें सारे ही दुःखोंका नाश हो जाता है। मन जब आत्माको छोड़कर इधर उधर भटकता है तब उसके दुःखका अन्त नहीं रहता। अतएव मनकी उस स्वस्थ दशामें बुद्धि विषयानुगामिनी न होकर आत्ममुखी हो जाती है। आत्मगामिनी बुद्धिमें नानात्व या नाना भाव नहीं रहता, यही शान्तिकी अवस्था है। श्रीमान् शङ्कराचार्य कहते हैं कि—प्रसन्नचित्तकी बुद्धि आकाशके समान अवस्थान करती है और आत्मस्वरूपमें निश्चल हो जाती है। जो चित्त निर्मल होता है उसमें एक आत्मबोधके सिवा और कोई विषयास्वादन रुचिकर नहीं होता। निर्मल चित्त ही स्थिर चित्त है। चञ्चल चित्तमें ही विषयोंका अनुभव होता है, तथा घोर अशान्ति उत्पन्न होती है। अज्ञानसे ही चित्त-चाञ्चल्य घटित होता है। विषयको रुचिकर, तथा देहेन्द्रियको अपना समझना ही अज्ञान है। जब तक यह अज्ञान है तब तक चित्तकी प्रसन्नता असम्भव है। चित्तप्रसाद ही यथार्थ ज्ञान है। देहादिमें सर्वदा रहनेके कारण चित्तका देहभ्रम नष्ट नहीं होता। जब सब आकाश हो जायगा और उस आकाशमें चित्त जम जायगा तभी यथार्थमें बुद्धि या ज्ञानकी प्रतिष्ठा होती है। मौखिक ज्ञानसे कोई लाभ नहीं होता, देहबुद्धि छूटती नहीं। "चलच्चित्ते वसेच्छक्तिः स्थिरचित्ते वसेच्छिवः।" अतएव ज्ञानसङ्कलिनी तन्त्रमें

लिखा है कि चञ्चल चित्तमें केवल शक्ति या मायाका खेल होता है, मायाके बैठनेका यही स्थान है, और स्थिर चित्त ही परम व्योम है—वहीं शिव निवास करते हैं ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अन्वय—अयुक्तस्य (अजितेन्द्रिय पुरुषकी) बुद्धिः (बुद्धि) नास्ति (नहीं होती); अयुक्तस्य (अयुक्त पुरुषको) भावना च न (ध्यान नहीं होता); अभावयतः (आत्मध्यानसे शून्य पुरुषको) शान्तिः (शान्ति या चित्तका उपराम) न (नहीं होता); अशान्तस्य (अशान्तचित्त पुरुषको) सुखं कुतः (मोक्षानन्द कहाँ से प्राप्त होगा ?) ॥६६॥

श्रीधर—इन्द्रियनिग्रहस्य स्थितप्रज्ञतासाधनत्वं व्यतिरेकमुखेनोपपादयति—नास्तीति। अयुक्तस्यावशीकृतेन्द्रियस्य नास्ति बुद्धिः। शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां आत्मविषया बुद्धिः प्रज्ञैव नोत्पद्यते। कुतस्तस्याः प्रतिष्ठावार्तेति ? अत्राह—न चेति। न चायुक्तस्य भावना ध्यानम्। भावनया हि बुद्धेरात्मनि प्रतिष्ठा भवति। सा चायुक्तस्य यतो नास्ति। न चाभावयतः आत्मध्यानमकुर्वतः शान्तिरात्मनि चित्तोपरमः। अशान्तस्य कुतः सुखं मोक्षानन्द इत्यर्थः ॥६६॥

अनुवाद—[इन्द्रियनिग्रह स्थितप्रज्ञताका साधन है, इसीको व्यतिरेक द्वारा सिद्ध करते हैं]—जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं ऐसे पुरुषको शास्त्र तथा आचार्यके उपदेशसे आत्मविषयक बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा उत्पन्न नहीं होती। फिर उसकी (बुद्धि या प्रज्ञाकी) प्रतिष्ठा कैसे संभव हो सकती है ? अयुक्त व्यक्तिको भावना या ध्यान नहीं होता। भावनाके द्वारा ही आत्मामें बुद्धिकी प्रतिष्ठा होती है। क्योंकि अयुक्तको वह नहीं होती। जो आत्मध्यान नहीं करता, उसकी आत्मामें शान्ति अर्थात् चित्तको चैन नहीं मिलता। अशान्त पुरुषको सुख अर्थात् मोक्षानन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥६६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थाके बिना बुद्धि होनेका कोई उपाय नहीं; वह बुद्धिमान् नहीं, जिसको क्रियाकी परावस्था नहीं है; उसमें भाव नहीं है, न होनेसे शान्ति भी नहीं, शान्ति नहीं तो सुख कहाँ ?

—क्रियाकी परावस्थाके बिना मनको उपराम नहीं प्राप्त हो सकता, मनोनिवृत्ति हुए बिना विषय-पिपासाका अन्त नहीं होता। इन्द्रियाँ स्वभावसे ही विषय चाहती हैं, चाहे जितना शास्त्रोपदेश दिया जाय, उनका चाञ्चल्य नहीं मिटता। क्रिया करनेसे मन शान्त होता है और उसके साथ इन्द्रियाँ भी शान्त हो जाती हैं। और यदि इन्द्रियाँ खूब अशान्त हैं तो क्रियामें मन नहीं लगेगा। क्रियामें मन न लगनेसे चित्तमें एकाग्रता नहीं आयेगी, और चित्तके एकाग्र हुए बिना क्रियाकी परावस्था नहीं प्राप्त होगी। क्रियाकी परावस्थामें आत्मसाक्षात्कार हुए बिना यथार्थ शान्ति न होगी, अतएव मुक्तिका

आनन्द उसे कैसे मिल सकता है ? अतएव साधकको विशेष ध्यान रखना होगा कि इन्द्रियाँ मनमाना न चलने पायें ।।६६।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

अन्वय—हि (क्योंकि) चरतां (विचरणशील या विक्षिप्त) इन्द्रियाणां (इन्द्रियोंमें) मनः (मन) यत् (जिस इन्द्रियको) अनुविधीयते (अनुसरण करता है) तत् (वह इन्द्रिय) अम्भसि (समुद्रमें) वायुः नावं इव (वायु जैसे नौकाको चलायमान करती है उसी प्रकार) अस्य (इसकी) प्रज्ञां (प्रज्ञाको) हरति (हर लेती है) ।।६७।।

श्रीधर—नास्ति बुद्धिरयुक्तस्येत्यत्र हेतुमाह—इन्द्रियाणामिति । इन्द्रियाणामवशीकृतानां-स्वैरं विषयेषु चरतां मध्ये यदेवैकमिन्द्रियं मनोऽनुविधीयतेऽवशीकृतं सदिन्द्रियेण सह गच्छति । तदेवैकमिन्द्रियमस्य मनसः पुरुषस्य वा प्रज्ञां बुद्धिं हरति विषयविक्षिप्तां करोति । किमुत वक्तव्यं बहूनि प्रज्ञां हरन्तीति । यथा प्रमत्तस्य कर्णधारस्य नावं वायुः समुद्रे सर्वतः परिभ्रामयति तद्वदिति ।।६७।।

अनुवाद—[अयुक्त पुरुषको बुद्धि क्यों नहीं होती इसका कारण दिखलाते हैं] अवशीकृत, स्वेच्छाचारी, विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंमेंसे जब किसी एक इन्द्रियके पीछे मन चलता है, तब वह इन्द्रिय 'अस्य' अर्थात् इस पुरुषकी प्रज्ञाको हरण करती है अर्थात् विषय-विक्षिप्त कर देती है । यदि सारी इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारी हो जायँ, तो उनकी प्रज्ञाके हरणके विषयमें फिर कहना ही क्या ? समुद्रमें प्रमत्त कर्णधारकी नौकाको वायु जिस प्रकार सर्वत्र घुमाती है उसी प्रकार मन वशीभूत न रहने पर इन्द्रियाँ पुरुषकी प्रज्ञाको हर लेती हैं ।।६७।।

आध्यात्मिक व्याख्या—इन्द्रियोंके चलायमान होने पर बुद्धि स्थिर नहीं रहती, तब प्रज्ञाको इन्द्रियरूपी हवासे और जलका स्वरूप प्रज्ञाको उड़ा ले जाता है । गंभीरता नष्ट हो जाती है ।

—इन्द्रियाँ किसके वशवर्ती होंगी ? मनके ही तो होंगी ? मनकी गर्दनको जिस भूतने पकड़ रक्खा है, उसे सबसे पहले छुड़ाना चाहिए। स्थिर बुद्धिही प्रज्ञा कहलाती है । वह जलके समान है और इन्द्रियोंका वेग हवाके समान है। हवा जैसे जलको उड़ा ले जाती है, इन्द्रियोंका वेग उसी प्रकार प्रज्ञाको उड़ा ले जाता है । परन्तु इन्द्रियोंमें ऐसा वेग उत्पन्न ही नहीं हो सकता यदि मन उसमें योग न दे । विचारहीन मन ही अवश होकर कार्य करता है । मनका विचरण या चाञ्चल्य समाप्त नहीं हुआ तो विषयोंमें भ्रमण करना उसका छुटेगा कैसे ? मनको सुस्थिर बनानेके लिए सबसे पहले प्राण-संयम करना आवश्यक है । "इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः"— सारी इन्द्रियोंका राजा मन है, और मनका प्रभु प्राण है । अभ्यासके द्वारा प्राण स्थिर होने पर मन

और उसके साथ सारी इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं। और ऐसा न होने पर वागाडम्बर ही शेष रहता है। ।।६७।।

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६८।।

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) तस्मात् (इसलिए) यस्य (जिनकी) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) इन्द्रियार्थेभ्यः (इन्द्रियोंके विषयोंसे) सर्वशः (सब प्रकारसे) निगृहीतानि (निगृहीत हो गयी हैं) तस्य (उनकी) प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गयी है) ।।६८।।

श्रीधर—इन्द्रियसंयमस्य स्थितप्रज्ञत्वे साधनत्वं लक्षणत्वं चोक्तमुपसंहरति—तस्मादिति। साधनत्वोपसंहारे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः, लक्षणत्वोपसंहारे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ज्ञातव्येत्यर्थः ।। महाबाहो इति संबोधयन् वैरिनिग्रहे समर्थस्य तवात्रापि सामर्थ्यं भवेदिति सूचयति ।।६८।।

अनुवाद—[इन्द्रियोंका संयम ही स्थितप्रज्ञताका साधन है—यह कहकर अपने वक्तव्यका उपसंहार कर रहे हैं]—अतएव हे महाबाहो! जिनकी सारी इन्द्रियाँ सब प्रकार के विषयोंसे निगृहीत हो गयी हैं, उन्हींकी प्रज्ञाको प्रतिष्ठित समझना। तुम महाबाहु हो, अर्थात् वैरीको निगृहीत करनेमें समर्थ हो, अतएव इन्द्रियोंके निग्रहमें भी तुम अवश्य ही समर्थ होगे ।।६८।।

आध्यात्मिक व्याख्या—तन्निमित्त इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं, तुम वशीभूत न होना। ऐसी अवस्था होने पर प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

—यह न सोचना कि प्रज्ञा प्रतिष्ठित होने पर तुम्हारे चक्षु और कर्ण अपना अपना कार्य छोड़कर अन्धे या बहरे हो जायँगे। इन्द्रियाँ जब विषयान्वेषणमें लगती हैं तब प्रज्ञा भी बहिर्मुख हो जाती हैं, उस बुद्धिके द्वारा तब ब्रह्मकी खोज नहीं हो सकती। परन्तु इन्द्रियोंका विषयोंसे स्पर्श होने पर, विषयोंको प्राप्त कर इन्द्रियाँ जब आनन्दमें उछल-कूद न मचावें, विश्वासी भक्त भृत्यके समान केवल प्रभुके वाक्योंका अनुसरण करता रहे, अपनी इच्छा प्रबल होने पर भी कभी प्रभुकी आज्ञाका उल्लङ्घन करने की इच्छा न करे तभी समझना होगा कि प्रज्ञा प्रतिष्ठित अर्थात् बुद्धि स्थिर हो गयी है। यह होगा कैसे? निरन्तर साधनाभ्यास तथा विचारके द्वारा विषयोंका हेयत्व समझते हुए सर्वदा मनको जगाये रखना, जिससे वह विषयोंको प्राप्तकर उनमें कूद न पड़े। संयम साधन बड़ा कठिन कार्य है, परन्तु बिना संयमके आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करना असंभव है। प्राणसंयम अभ्यस्त हो जाने पर इन्द्रियसंयम अनायास ही सिद्ध हो जाता है। अतएव प्राणायामका अभ्यास करके प्राण-संयममें अभ्यस्त होना पड़ता है। इसके अभ्यासमें मनको एक स्थानमें रोक रखना चाहिए। ऐसा लगता है कि इन्द्रियोंके द्वार पर विषयोंका बोध हो रहा है, परन्तु मनका

इस रुद्धावस्थामें मन विषयोंकी उस प्रकार आग्रहपूर्वक आकांक्षा नहीं करता। इस कारण यही शान्तिकी प्राप्तिका सहज उपाय है ॥६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

अन्वय—या (जो) सर्वभूतानां (साधारण मनुष्योंके लिए) निशा (निशास्वरूप है) तस्यां (उस समयमें) संयमी (जितेन्द्रिय व्यक्ति) जागर्ति (जागते रहते हैं) यस्यां (जिस समयमें) भूतानि (साधारण लोग) जाग्रति (जागते हैं अर्थात् आहार-विहारादिकी चेष्टा करते हैं) पश्यतः मुनेः (आत्म-तत्त्वदर्शी मुनिको) सा (वह) निशा (निशाके समान है) ॥ ६९ ॥

श्रीधर—ननु न कश्चिदपि प्रसुप्त इव दर्शनादिव्यापारशून्यः सर्वात्मना निगृहीतेन्द्रियो लोके दृश्यते। अतोऽसम्भावितमिदं लक्षणमित्याशङ्क्याह—या निशेति। सर्वेषां भूतानां या निशा। निशेव निशात्मनिष्ठा। अज्ञानध्वान्तावृतमतीनां तस्यां दर्शनादिव्यापाराभावात्। तस्यां आत्मनिष्ठायां संयमी निगृहीतेन्द्रियो जागर्ति प्रबुध्यते। यस्यां तु विषयनिष्ठायां भूतानि जाग्रति प्रबुध्यन्ते सात्मतत्त्वं पश्यतो मुनेर्निशा। तस्यां दर्शनादिव्यापारस्तस्य नास्तीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—यथा दिवान्धानामुलूकादीनां रात्रावेव दर्शनं न तु दिवसे। एवं ब्रह्मज्ञस्योन्मीलिताक्षस्यापि ब्रह्मण्येव दृष्टिः। न तु विषयेषु। अतो नासम्भावितमिदं लक्षणमिति ॥६९॥

अनुवाद—[यदि कहो कि संसारमें प्रसुप्तके समान दर्शनादि-व्यापारशून्य सर्वतोभावेन निगृहीतेन्द्रिय लोग तो देखनेमें नहीं आते, अतएव स्थितप्रज्ञके ये लक्षण असम्भव हैं, इस आशङ्का पर कहते हैं]—साधारणतः सब प्राणियोंके लिए आत्मनिष्ठा निशास्वरूप है। अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न जीव आत्मनिष्ठाके लिए कोई व्यापार नहीं करते अर्थात् इस विषयमें वे निश्चेष्ट होते हैं; ठीक निद्रितके समान उनका पता नहीं लगता। परन्तु जितेन्द्रिय व्यक्ति उस आत्मनिष्ठाके विषयमें जागृत रहते हैं अर्थात् उस विषयमें उनको कोई प्रमाद उपस्थित न हो, इसलिए वे प्राणपनसे साधन और संयमके विषयमें सचेष्ट होते हैं। जिस विषय-निष्ठामें साधारण लोग जागरित रहते हैं अर्थात् विषयव्यापारमें रत हो जाते हैं, वही विषयनिष्ठा आत्मतत्त्वदर्शी मुनिके लिए निशास्वरूप होती है अर्थात् विषयनिष्ठामें वह दर्शनादि-व्यापारोंसे रहित होते हैं। विषयनिष्ठ व्यापार उनके सामने अन्धकाराच्छन्न रात्रिके समान जान पड़ते हैं। जैसे उलूक रातमें ही देखता है, दिनमें नहीं देख पाता, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञ पुरुष आँखें खुली होने पर भी दृष्टि ब्रह्ममें रखते हैं, विषयोंमें नहीं। अतएव स्थितप्रज्ञका यह लक्षण असम्भव नहीं है ॥६९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहते हैं संयम करके, वह अवस्था जाग्रत-स्वप्नकी अवस्था होती है, इसी कारण योगी ध्यानमें ही रहते हैं—वह अवस्था सब

भूतोंके लिए अन्धकार और निद्राकी अवस्था है, और जिसमें सब लोग आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके जाग्रत अवस्था मानते हैं उसे मुनि लोग अर्थात् जो अपने आप मौनी हो गये हैं—कुछ बोलना नहीं चाहते—वे उनको अन्धकारमें पड़ा हुआ अर्थात् निद्राग्रस्त देखते हैं।

—क्रियाकी परावस्थामें योगी लोग जहाँ जागते हैं—वह 'स्वप्नहीनं यथा निद्रा' है। वह विषय-व्यापार-शून्य होनेके कारण निद्राके समान ही साधारण लोगोंको उपेक्षित होता है। परन्तु साधारण निद्रामें स्वप्नादि होते हैं, वह एकबारगी व्यापार-शून्य नहीं होता। योगियोंकी योगनिद्रामें यह सब व्यापार नहीं रहते, वह तो अपनेमें आप मग्न भाव होता है। इच्छा करके मौनावलम्बन करने पर—बाहरी बात नहीं बोलने पर भी मन व्यापार-शून्य नहीं होता, किन्तु योगसमाधिमें मग्न योगी ताकते रहते हैं, उनके सामने अनेक काण्ड होते रहते हैं, परन्तु उनके मनमें उच्चाटन नहीं उत्पन्न हो सकता। वह अपने घरकी विपद आँखोंसे देखते हैं, तथापि उनका मन अचञ्चल रहता है। योगियोंकी यह अवस्था जैसे साधारण लोगोंके सामने रात्रिके समान है अर्थात् वे इसका रहस्य कुछ भी समझ नहीं सकते, वैसे ही साधारण लोग जब अपने गृहकर्ममें व्यस्त होते हैं, हँसते हैं, रोते हैं, चलते हैं, फिरते हैं, बोलते हैं, परामार्श करते हैं; इन अवस्थाओंको योगी लोग केवल उदासीनवत् देखते हैं। पर गंभीर समाधिमें इनका उन्हें पता भी नहीं रहता। एक आत्माकारभावमें वे मग्न रहते हैं अतएव उनको नानात्वकी उपलब्धि नहीं होती। उपनिषद्में लिखा है—"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्—"बृह० उप०। जब सम्यग् दृष्टिके प्रभावसे समस्त आत्ममय हो जाता है, तब वे किसको देखेंगे और कैसे देखेंगे ? क्रिया करके मन जब निश्चल हो जाता है, तब उसका मनन नहीं होता, आत्मदर्शनकी बाधा दूर हो जाती है, उस समय एक आत्माकारा अवस्थाके सिवा अन्य अवस्थाका उदय नहीं होता। क्रियाकी परावस्थामें प्राथमिक अवस्था तरलभावापन्न और सुषुप्तिकी तरलावस्था स्वप्नके समान होती है। इस अवस्थामें जड़ादि दृश्य न होने पर भी सूक्ष्म दृश्यादि रहते हैं। उसमें अनेक दर्शन श्रवणादि होते हैं। जब क्रियाकी परावस्था गंभीरतर होती है तो वह सुषुप्तिके समान होती है, सुषुप्तिमें जैसे मनका मनन नहीं रहता, सारे अनुभव आच्छन्न हो जाते हैं उसी प्रकार क्रियाकी परावस्था गंभीर गंभीरतर और गंभीरतम होती है, इन अवस्थाओंमें मनका मनन नहीं रहता, परन्तु वह तमसाच्छन्न न होकर ज्ञानाच्छन्न अवस्था होती है। उसमें दृश्यादि कुछ नहीं रहते, परन्तु देहादि उपाधियोंसे शून्य आत्माका अनुभव होता है, पश्चात् वह भी नहीं रहता। इसमें पहली अवस्थाको सविकल्प समाधि और दूसरीको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। स्वप्नमें कितने व्यापार हम देखते हैं, तत्कालमें वे असत्य नहीं जान पड़ते, स्वप्न टूटने पर जब हम जागते हैं, तब वे दृश्य नहीं रहते, मनमें तब कितनी हँसी आती है ? इसी प्रकार जाग्रतमें हम जो देखते हैं तथा विषयादिके भोगमें जो आनन्द उठाते हैं तथा उसको प्राप्त करनेके लिए जो आग्रह हम प्रकट करते हैं, जाग्रत अवस्थाके विषय उसी प्रकार योगनिद्रासे जागे हुए योगीके लिए स्वप्नदृष्ट वस्तुके समान जान

पड़ते हैं। उसके कुछ समय बाद जैसे हम स्वप्नकी बात भूल जाते हैं वे भी इस जगत् के व्यापारको उसी प्रकार भूल जाते हैं। सांसारिक लाभालाभ, प्रियाप्रिय स्थितप्रज्ञके सामने स्वप्न-व्यापारके समान मिथ्या हैं, इसी कारण इनमें वे उदासीनसे रहते हैं। और साधारण लोग जहाँ इन्द्रियचेष्टाविहीन समाधिनिद्राको जड़वत् निश्चेष्ट भाव मानकर उपेक्षा करते हैं, वहाँ स्थितप्रज्ञ पुरुष समाधिप्रज्ञाजनित परमानन्दमें मग्न रहते हैं ॥६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

अन्वय—यद्वत् (जैसे) आपः (जलराशि) आपूर्यमाणंम (परिपूर्ण) अचलप्रतिष्ठं (अचलभावमें स्थित अर्थात् सदा एकरूप) समुद्रं (समुद्रमें) प्रविशन्ति (प्रवेश करती है) तद्वत् (वैसेही) सर्वे कामाः (सारे काम्य विषय) यं (जिनमें) प्रविशन्ति (प्रवेश करते हैं) सः (वह) शान्तिं आप्नोति (शान्ति प्राप्त करते हैं) कामकामी (विषयभोग-कामी पुरुष) न (शान्ति नहीं पाता) ॥७०॥

श्रीधर—ननु विषयेषु दृष्ट्यभावे कथमसौ तान् भुंक्ते इत्यपेक्षायामाह—आपूर्यमाणमिति। नानानदनदीभिरापूर्यमाणमप्यचलप्रतिष्ठमनतिक्रान्तमर्यादमेव समुद्रं पुनरप्यन्या आपो यथा प्रविशन्ति तथा कामा विषया यं मुनिमन्तर्दृष्टिं भोगैरविक्रियमाणमेव प्रारब्धकर्मभिराक्षिप्ताः सन्तः प्रविशन्ति स शान्तिं कैवल्यं प्राप्नोति। न तु कामकामी भोगकामनाशीलः ॥७०॥

अनुवाद—[अच्छा, विषयदृष्टिके अभावमें वह कैसे विषय भोग करते हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—जिस प्रकार नाना नद-नदी द्वारा आपूर्यमाण होने पर भी अनतिक्रान्तमर्याद समुद्रमें पुनः पुनः अन्य जल प्रवेश करता है और समुद्रमें ही मिल जाता है, समुद्रमें कोई विकार पैदा नहीं करता—उसी प्रकार भोगके द्वारा अविक्रियमाण अन्तर्दृष्टिसम्पन्न मुनिके भीतर सारी कामनाएँ प्रारब्धके वश आक्षिप्त होकर प्रवेश करती हैं, अर्थात् उनके भीतर विलीन हो जाती हैं, किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं कर सकतीं, वही मुनि शान्ति या कैवल्य प्राप्त करते हैं। भोगकामनाशील पुरुष शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता ॥७०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छा रहित होने पर हमारा कुछ नहीं है, मैं भी कुछ नहीं, ऐसी अवस्था होने पर शान्तिपद प्राप्त होता है।

—कामना ही अशान्तिका मूल है। छोटे बच्चे जैसे बाजारकी सजी हुई वस्तुओंको देखकर सबको पसन्द करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग्य विषयोंको इन्द्रियोंके द्वारोंसे देखने पर शिशुके समान चञ्चलप्रकृति वाला मन सब कुछ चाहने लगता है। जिनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है उनको इस प्रकारकी विषय-लोलुपता नहीं होती, पाने पर भी ठीक और न पाने पर भी ठीक है—इस प्रकारका उनका भाव होता है। अर्थात् विषय समूह इन्द्रियगोचर होने पर भी ब्रह्मानन्दमग्न योगीके चित्तको

चञ्चल नहीं कर सकते। वे विषयोंको प्राप्त करके भी जैसे अटल होते हैं, न पाने पर भी उसी प्रकार अव्याकुल होते हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती महाशयने इस श्लोककी व्याख्यामें एक जगह कहा है—"यथा अपां प्रवेशे अप्रवेशे वा समुद्रो न कमपि विशेषमापद्यते, एवमेव यः कामानां भोगे अभोगे च क्षोभरहितः एव स्यात् सः स्थितप्रज्ञः।" समुद्रमें जल-प्रवाहके प्रवेश करने पर भी जिस प्रकार उसमें जल-वृद्धि होती नहीं दीख पड़ती, जलप्रवाहके बाहर निकलने पर भी उसमें कमी नहीं दीखती इसी प्रकार काम्य विषयोंके आने या न आने पर स्थितप्रज्ञ पुरुष एकभाव ही हैं, उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। असंख्य नदियाँ समुद्रमें प्रविष्ट होती हैं तो भी समुद्रको क्षुब्ध नहीं कर सकतीं, योगीका चित्त भी इतना स्थिर और गम्भीर होता है कि वह गाम्भीर्य विषयोंके आक्रमणसे भी अव्याहत रहता है। विषय-कामीका चित्त कामना-शून्य नहीं होता, अतएव उसके दुःखकी निवृत्ति नहीं हो सकती। वासना बतला देती है कि यह तुझे भोग करना होगा। जब वासना नहीं रहती उस समय यह पागल 'मैं' भी नहीं रहता, अतएव शान्ति प्राप्त हो जाती है। उसके प्रारब्धका भोग हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध उसे विचलित नहीं कर सकता। जैसे समुद्रमें सैकड़ों नदियोंके जाकर गिरने पर भी वह क्षुब्ध नहीं होता ॥७०॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

अन्वय—यः (जो) पुमान् (पुरुष) सर्वान् कामान् (सारी कामनाओंको) विहाय (त्यागकर) निस्पृहः (स्पृहाशून्य होकर) निर्ममः (ममताविहीन) निरहङ्कारः (और अहङ्कार-रहित होकर) चरति (विचरण करते हैं) सः (वह) शांति (शांतिको) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं) ॥७१॥

श्रीधर—यस्मादेवं तस्मात् विहायेति। प्राप्तान् कामान् विहाय त्यक्त्वोपेक्ष्य अप्राप्तेषु च निस्पृहः। यतो निरहङ्कारोऽतएव तद्भोगसाधनेषु निर्ममः सन्नन्तर्दृष्टिर्भूत्वा यश्चरति प्रारब्धवशेन भोगान् भुङ्क्ते। यत्र कुत्रापि गच्छति वा। स शान्तिं प्राप्नोति ॥७१॥

अनुवाद—वह प्राप्त कामों (हस्तगत काम्य वस्तुओं) की उपेक्षा करके अप्राप्त वस्तुमें भी निस्पृह होते हैं। क्योंकि वह निरहङ्कार ('मैं-मेरा' बोधसे शून्य) होते हैं अतएव भोगसाधन वस्तुमें भी निर्मम अर्थात् ममताशून्य होते हैं। जो अन्तर्दृष्टि होकर प्रारब्धवश सारे भोगोंका उपभोग करते हैं और जहाँ तहाँ भ्रमण करते हैं वही शान्तिको प्राप्त होते हैं ॥ ७१ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कामोपभोगसे ही मनुष्य बन्धनमें पड़ते हैं। आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है। चित्तमें सब प्रकारकी आसक्ति लगी रहती है। क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्था प्राप्त होने पर, नाद-विन्दुके परे निष्कल अवस्था प्राप्त होती है, तब चित्त नहीं रहता, वह भी आकाश स्वरूप हो जाता है। फिर आकाशमें क्या दाग लग सकता है ? अतएव वहाँ आसक्ति या काम कुछ भी नहीं रहता। योगीको जब यह अपूर्व अवस्था

प्राप्त होती है तब वह अपने नामरूपको भूल जाता है, फिर वह अहङ्कार कैसे कर सकता है? अथवा किसके ऊपर उसकी ममता रहेगी ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) एषा (यह) ब्राह्मी स्थितिः (ब्राह्मी स्थिति है) एनां (इसको) प्राप्य (प्राप्तकर) न विमुह्यति (कोई विमुग्ध नहीं होता); अन्तकाले अपि (मृत्युके समय भी) अस्यां (इसमें) स्थित्वा (रहकर) ब्रह्मनिर्वाणं (ब्रह्मनिर्वाणको) ऋच्छति (प्राप्त होता है) ॥७२॥

श्रीधर—उक्तां ज्ञाननिष्ठां स्तुवन्नुपसंहरति—एषेति। ब्राह्मी स्थितिः ब्रह्मज्ञाननिष्ठा। एषैवंविधा। एनां परमेश्वराराधनेन विशुद्धान्तःकरणः पुमान् प्राप्य न विमुह्यति पुनः संसारमोहं न प्राप्नोति। यतोऽन्तकाले मृत्युसमयेऽप्यस्यां क्षणमात्रमपि स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मणि निर्वाणं लयमृच्छति प्राप्नोति। किं पुनर्वक्तव्यं बाल्यमारभ्य स्थित्वा प्राप्नोतीति ॥७२॥

शोकपङ्कनिमग्नं यः सांख्ययोगोपदेशतः ।
उज्जहारार्जुनं भक्तं स कृष्णः शरणं मम ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां द्वितीयोऽध्यायः ।

अनुवाद—[पूर्वोक्त ज्ञाननिष्ठाकी प्रशंसा करके उपसंहार करते हैं]—हे पार्थ, यही 'ब्राह्मी स्थिति' ब्रह्मज्ञाननिष्ठा है। परमेश्वरकी आराधनाके द्वारा अतःकरण विशुद्ध कर जो पुरुष इस ब्रह्मज्ञाननिष्ठाको प्राप्त करता है, वह फिर संसारमें मोहको प्राप्त नहीं होता। क्योंकि मृत्युके समय क्षणमात्र ब्रह्मज्ञानमें अवस्थान करनेसे ब्रह्मनिर्वाण या ब्रह्ममें लयकी प्राप्ति होती है। बाल्याकालसे ही ब्रह्मनिष्ठामें अवस्थान द्वारा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होगी इस विषयमें तो फिर कहना ही क्या?

जिन्होंने सांख्ययोगका उपदेश देकर शोक-पङ्कमें मग्न भक्त अर्जुनका उद्धार किया था वह कृष्ण हमारे चित्तका आश्रयस्थल बनें ॥७२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्ममें रहना ही क्रिया है, इसको प्राप्त किए बिना सभी विशेषरूपसे मुग्ध रहते हैं। जो इसको प्राप्तकर अन्तकाल पर्यन्त रहता है वह ब्रह्ममें मिलकर स्थिर ब्रह्मपदको प्राप्त होता है।

—द्वितीय अध्यायमें भगवान्‌ने अब तक जो कहा उस ज्ञाननिष्ठाका उपसंहार करते हैं। वह क्या है? जो क्रियाके द्वारा होता है ब्रह्ममें रहना, इस स्थितिको प्राप्तकर फिर अज्ञानमें पड़नेकी संभावना नहीं होती, अतएव शोक-मोहादिके पुनः आविर्भावकी आशंका भी नहीं रहती। योगी लोग अन्तकालमें इस स्थितिको प्राप्तकर ब्रह्ममें लीन होकर अनन्त आनन्दसिन्धुमें निमज्जित हो जाते हैं। सदाके लिए उनका द्वैतभाव मिट जाता है। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"। अन्तकालमें ज्ञानी लोगोंका प्राणोत्क्रमण साधारण पुरुषोंके समान नहीं होता। समुद्रकी जो तरङ्ग समुद्रके वक्षःस्थल

पर उत्पन्न होती है, वह फिर समुद्रके जलमें ही विलीन हो जाती है। यही है स्वस्वरूपमें स्थिति। ॐकार क्रिया करके प्राणकी यह स्थिति जब निर्भय निरञ्जन ब्रह्ममें होती है, तब फिर कोई भय नहीं रह जाता। सब लोगोंको मृत्युसे ही भय होता है, परन्तु ब्रह्मकी मृत्यु नहीं होती। अतएव ब्रह्मलीन होकर यदि योगी जीते हैं तो वह मुक्त होकर जीते हैं। यही जीवन्मुक्तकी अवस्था या अभय परमपद है। निरञ्जनही अवरोध रूप बनता है "अवरुद्धरूपोऽहम्'। चञ्चल मन चारों ओरसे स्थिर होकर जब शून्यमें अवस्थित होता है—जो प्राणायामके द्वारा होता है, तब ॐकार-ध्वनि सुननेमें आती है, बाहरके सारे शब्द शून्यमें मिलकर एक हो जाते हैं। तब प्राणभी ठंडा हो जाता है, और किसी प्रकार भी मुग्ध नहीं होता। यही ब्राह्मी स्थिति है। जो बाल्यकालसे ही साधनाभ्यास करके इस स्थितिको प्राप्त करता है, उसकी तो कोई बात ही नहीं है, जीवनके अन्तमें भी जो इस अवस्थाको प्राप्त करता है, वह भी निर्वाणपदको प्राप्त होता है ॥७२॥

ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्त्वशुद्धिश्च तत्फलम्।
तत्फलं ज्ञाननिष्ठैवेत्यध्यायेऽस्मिन् प्रकीर्तितम् ॥

ज्ञानकी प्राप्तिका साधन पहले निष्काम कर्म अर्थात् क्रिया होती है, उससे सत्त्वशुद्धि होती है, और सत्त्वशुद्धिका परिणाम है ज्ञाननिष्ठा—यही द्वितीय अध्यायमें कहा गया है।

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिक दीपिका नामक गीताकी आध्यात्मिक व्याख्याका द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

———

तृतीयोऽध्यायः

(कर्मयोगः)

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुन बोले)—जनार्दन (हे जनार्दन !) चेत् (यदि) कर्मणः (कर्मयोगकी अपेक्षा) बुद्धिः (ज्ञानयोग) ज्यायसी (श्रेष्ठ है) ते (तुम्हारा) मता (अभिप्राय है) तत् किं (तब क्यों) घोरे कर्मणि (युद्धरूप घोर कर्ममें) केशव (हे केशव !) मां (मुझको) नियोजयसि (नियुक्त करते हो ?) ॥१॥

श्रीधर—एवं तावदशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिना प्रथमं मोक्षसाधनत्वेन देहात्मविवेकबुद्धिरुक्ता । तदनन्तरमेषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणित्यादिना कर्म चोक्तम् । न च तयोर्गुणप्रधानभावः स्पष्टं दर्शितः । तत्र बुद्धियुक्तस्य स्थितप्रज्ञस्य निष्कामत्वनियतेन्द्रियत्वनिरहङ्कारत्वाद्यभिधानादेषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थेति सप्रशंसमुपसंहाराच्च बुद्धिकर्मणोर्मध्ये बुद्धेः श्रेष्ठत्वं भगवतोऽभिप्रेतं मन्वानोऽर्जुन उवाच—ज्यायसी चेदिति । कर्मणः सकाशान्मोक्षान्तरङ्गत्वेन बुद्धिर्ज्यायस्यधिकतरा श्रेष्ठा चेत्तव सम्मता तर्हि किमर्थं तस्मात् युध्यस्वेति तस्मादुत्तिष्ठेति च वारं वारं वदन् घोरे हिंसात्मके कर्मणि मां नियोजयसि प्रवर्त्तयसि ? ॥१॥

अनुवाद—[इस प्रकार भगवान्ने 'अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वम्' आदि श्लोकोंमें पहले मोक्ष-साधनका हेतु देहात्म-विवेकबुद्धि अर्थात् तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। उसके बाद 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' आदि श्लोकोंमें कर्मयोगका भी उपदेश दिया। परन्तु इन दोनोंमें कौनसा प्रधान है, यह स्पष्टतः नहीं बतलाया। उसमें बुद्धियुक्त स्थितप्रज्ञका निष्कामत्व, नियतेन्द्रियत्व और निरहंकारत्व आदि लक्षणोंका निर्देश कर प्रशंसापूर्वक यही 'ब्राह्मी स्थिति' है कहकर उपसंहार किया, बुद्धि और कर्ममें मानो बुद्धि ही श्रेष्ठ है यह भगवानका अभिप्राय समझकर] अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! यदि कर्मयोगकी अपेक्षा बुद्धि ही मोक्षका अन्तरङ्ग साधनस्वरूप होनेके कारण अधिकतर श्रेष्ठ है, यह आपका अभिप्राय है, तो क्यों "तस्मात् युद्धस्व, तस्मात् उत्तिष्ठ" इत्यादि बारंबार कहकर घोर हिंसात्मक कर्ममें मुझको प्रवृत्त कर रहे हैं ? ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा अनुभव हो रहा है—यदि क्रियाकी

परावस्थामें रहना ही श्रेष्ठ कर्म है, तो यह क्रिया करना जो घोर कर्म है इसमें क्यों प्रवृत्त किया जाता है ?

—क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति ही साधनाका उद्देश्य है, इससे ही मन शान्त और निश्चिन्त हो जाता है; प्रज्ञा भी प्रतिष्ठित होती है। यदि यही प्रार्थनीय है, तो क्यों नहीं हम निश्चिन्त होकर कूटस्थमें दृष्टि स्थिर करके चुप होकर बैठे रहते हैं ? तब फिर इन सब क्रियाओंका तूफान खड़ा करनेका प्रयोजन क्या ? इन्द्रिय-संयम करो, यह करो, वह करो, बारंबार मूलाधारसे आज्ञाचक्र पर्यन्त प्राणको उठाओ गिराओ, यह सब आसान काम नहीं है, और इन घोर कर्मोंको करते हुए कोई कैसे निश्चिन्त रह सकता है, यह भी ठीक समझमें नहीं आता, इनसे तो जान पड़ता है कि बुद्धिमें विक्षेप और चाञ्चल्यकी और बुद्धि ही होगी ॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अन्वय—व्यामिश्रेण इव (विशेषरूपसे मिश्रितसे) वाक्येन (वाक्यके द्वारा) मे (मेरी) बुद्धिं (बुद्धिको) मोहयसि इव (मानो मोहित कर रहे हो); येन (जिसके द्वारा) अहं (मैं) श्रेयः (कल्याणको) आप्नुयाम् (प्राप्त कर सकूँ) तत् (वह) एकं (एक) निश्चित्य वद (निश्चय करके बोलो) ॥२॥

श्रीधर—ननु धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते इत्यादिना कर्मणोऽपि श्रेष्ठत्वमुक्तं एवेत्याशङ्क्याह—व्यामिश्रेणेति । क्वचित् कर्मप्रशंसा, क्वचित् ज्ञानप्रशंसेत्येवं व्यामिश्रं सन्देहोत्पादकमिव यद्वाक्यं तेन मे मम बुद्धिं मतिमुभयत्र दोलायितां कुर्वन् मोहयसीव । परमकारुणिकस्य तव मोहकत्वं नास्त्येव । तथापि भ्रान्त्या ममैवं भातीतीवशब्देनोक्तम् । अत उभयोर्मध्ये यद्भद्रं तदेकं निश्चित्य वदेति । यद्वा—इदमेव श्रेयःसाधनमिति निश्चित्य येनानुष्ठितेन श्रेयो मोक्षमहमाप्नुयां प्राप्स्यामि तदेवैकं निश्चित्य वदेत्यर्थः ॥२॥

अनुवाद—[फिर क्षत्रियको धर्मयुद्धके सिवा कल्याणकर वस्तु दूसरी नहीं है, इत्यादि वाक्योंमें कर्मका श्रेष्ठत्व कहा गया है, यह आशङ्का करके कहते हैं] कभी तो कर्मकी प्रशंसा, कभी ज्ञानकी प्रशंसा—इस प्रकार 'व्यामिश्र' अर्थात् सन्देहोत्पादक वाक्य बोलकर उसके द्वारा मेरी बुद्धिको दोनों ओर दोलायित करके मानो विमोहित कर रहे हो। तुम तो परम कारुणिक हो, तुममें मोहकत्व तो हो नहीं सकता। तथापि भ्रान्तिवश मुझे ऐसा लग रहा है। 'इव' शब्दके द्वारा मानो यही कहा गया है। अतएव दोनोंमें जो 'भद्र' कल्याणकर हो वही एक मार्ग निश्चय करके बोलो। यही श्रेयःसाधन है, यह निश्चय करके कहो। जिससे उसके अनुष्ठान द्वारा मैं श्रेयः या मोक्षको प्राप्त कर सकूँ ॥२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दोहरी बातोंसे मेरी बुद्धि मोहित हो रही है, अतएव जो एक श्रेष्ठ हो उसे कहो—अर्थात् क्रिया करूँ या क्रियाकी परावस्थामें रहूँ ।

—अर्जुनको ऐसा लगा कि भगवान् एक बार क्रियाकी प्रशंसा, और दूसरी बार क्रियाकी परावस्थाकी प्रशंसा करके दोहरी बात बोल गये। क्रिया करना या क्रियाकी परावस्थामें रहना—मानो दोनों अर्जुनके पसन्दके ऊपर निर्भर करता है, अतएव अपनी इच्छाके अनुसार वह किसी एकको चुन ले सकते हैं। इस समय वह यह निश्चय नहीं कर पाते कि किसको चुने। भगवान् दोनोंकी प्रशंसा करते हैं, अतएव मन दोनों ओर दौड़ रहा है। साधन करना, अभ्यास करना, इन सबकी अपेक्षा अर्जुनको स्थिर होकर चुपचाप बैठे रहनाही अच्छा लग रहा है, अब भगवान्के मुँहसे सुनकर वह क्रिया छोड़कर चुपचाप स्थिर होकर बैठनेका आयोजन कर सकते हैं—यही उनके मनकी बात है। कुछ विचारशील और तत्पर साधकके लिए ऐसा सोचना असंभव नहीं है, जब उनको पानेके दो मार्ग हैं तो जिस मार्गको पकड़नेसे उनके पास शीघ्रातिशीघ्र पहुँचा जाय वही मार्ग पकड़कर चलना ठीक है। "मोक्षस्य कारणं कर्म ज्ञानं वा मोक्षसाधनम्'—वाल्मीकि मुनिके समान महापुरुषने भी प्रश्न किया था कि मोक्षका साधन ज्ञान है या कर्म? मोक्षमार्ग पर चलनेमें ज्ञान और कर्म दोनोंका ही प्रयोजन होता है। अतएव दोनों ही मार्गोंको प्रयोजनीय समझकर भगवान्ने कर्म और ज्ञान दोनोंकी प्रशंसा की है। अर्जुनको मोहकूपमें डालनेके लिए भगवान् दोहरी बात नहीं बोलते, हमारी बुद्धिके दोषसे ऐसी प्रतीति होती है॥२॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥३॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—अनघ (हे अनघ!) अस्मिन् लोके (इस संसारमें) द्विविधा निष्ठा (दो प्रकारकी ब्रह्मनिष्ठा) मया (मेरे द्वारा) पुरा (पूर्वमें) प्रोक्ता (कही गयी है); ज्ञानयोगेन (ज्ञानयोगद्वारा) सांख्यानां (ज्ञानाधिकारी लोगोंका) कर्मयोगेन (निष्काम कर्मयोगके द्वारा) योगिनां (योगियोंकी) [निष्ठा कही गयी है]॥३॥

श्रीधर—अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच—लोकेऽस्मिन्निति। अयमर्थः—यदि मया परस्परनिरपेक्षं मोक्षसाधनत्वेन कर्मज्ञानयोगरूपं निष्ठाद्वयमुक्तं स्यात्तर्हि द्वयोर्मध्ये यद्भद्रं स्यात्तदेकं वदेति त्वदीयः प्रश्नः संगच्छते। न तु मया तथोक्तम्। किन्तु द्वाभ्यामेकैव ब्रह्मनिष्ठोक्ता। गुणप्रधानभूतयोस्तयोः स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः। एकस्या एव तु प्रकारभेदमात्रमधिकारभेदेनोक्तमिति। अस्मिन् शुद्धाशुद्धान्तःकरणतया द्विविधे लोकेऽधिकारिजने—द्वे विधे प्रकारौ यस्याः सा—द्विविधा निष्ठा मोक्षपरता पूर्वाध्याये मया सर्वज्ञेन प्रोक्ता स्पष्टमेवोक्ता। प्रकारद्वयमेव निर्दिशति ज्ञानयोगेनेत्यादि। सांख्यानां शुद्धान्तःकरणानां ज्ञानभूमिकामारूढ़ानां ज्ञानपरिपाकार्थं ज्ञानयोगेन ध्यानादिना निष्ठा ब्रह्मपरतोक्ता तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर इत्यादिना। सांख्यभूमिकामारुरुक्षूणां त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारा तदारोहणार्थं तदुपाय-

भूतकर्मयोगाधिकारिणां योगिनां कर्मयोगेन निष्ठोक्ता--धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यत इत्यादिना। अतएव तव चित्तशुद्ध्यशुद्धिरूपावस्थाभेदेन द्विविधापि निष्ठोक्ता--'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इति ॥३॥

अनुवाद—[इसके उत्तरमें] श्रीभगवान् बोले—हे अनघ ! यदि मैं परस्पर-निरपेक्ष मोक्षसाधक कर्म और ज्ञानयोग रूप दो निष्ठाओंकी बात बोलता तो "दोनोंमें जो भद्र अर्थात् कल्याणकारक हो वह मुझको बतलाओ"—तुम्हारा यह प्रश्न संगत होता। परन्तु मैंने तो वैसा नहीं कहा। मैंने दोनों निष्ठाओं (कर्म और ज्ञान) के द्वारा एक ही ब्रह्मनिष्ठाकी बात कही है। गौण और प्रधान फलदायक होनेके कारण कर्म और ज्ञानयोग पृथक् पृथक् नहीं हैं। अधिकारी-भेदसे एक ही निष्ठाका प्रकार-भेद कहा गया है। शुद्ध और अशुद्ध अन्तःकरणके भेदसे द्विविध अधिकारियोंके लिए दो प्रकारकी निष्ठा या मोक्षपरता मैंने पूर्वाध्यायमें स्पष्टरूपसे कहा है। 'ज्ञानयोगेन' इत्यादि वाक्योंमें एक निष्ठाके ही दो प्रकार निर्दिष्ट हुए हैं। शुद्धान्तःकरण ज्ञानभूमिमें आरूढ़ सांख्य लोगोंके ज्ञानपरिपाकार्थ ध्यानादि ज्ञानयोगके द्वारा "तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः" इत्यादि मोक्ष-परता निष्ठा मैंने कही है। परन्तु सांख्यभूमिमें आरोहण करनेकी इच्छा करनेवाले कर्मयोगाधिकारियोंके लिए उसमें आरोहण करनेके अर्थ अन्तःकरणकी शुद्धिकी आवश्यकता है। उनके लिए उपाय-स्वरूप कर्मयोगनिष्ठा मैंने कही है। जैसे "धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते" इत्यादि। अतएव चित्तशुद्धि और अशुद्धिके अवस्था-भेद से एक ब्रह्मनिष्ठाके ही दो प्रकार-भेद कहे गये हैं, "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" इत्यादि ॥३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव होता है—दो प्रकारकी स्थिति पहले कही जा चुकी है—देख सुनकर निज बोधसे प्राप्त स्थिति, अथवा क्रिया करके अपने आपमें स्थिति।

—दो प्रकारके साधनाभ्यासोंके द्वारा यह स्थिति प्राप्त होती है। ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति ही साधकका लक्ष्य है। इस स्थितिकी प्राप्तिके लिए (१) प्राणायामादि क्रियायोग तथा (२) योनिमुद्रामें दर्शनादि ज्ञानयोग है—दोनों साधनोंके द्वारा यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। पहला साधन कर्मयोग है—प्राणमें मनको रखकर कार्य करना। सद्गुरुके द्वारा उपदिष्ट सुषुम्ना-मार्गमें स्थित षट्चक्रोंमें प्राणको ले जाकर तथा उसमें मनको स्थित करके यह कार्य किया जाता है। इसका अन्तिम फल यह होता है कि प्राणके स्थिर होने पर मन ब्रह्माकाशमें मिलकर ब्रह्मके साथ एक हो जाता है। सुषुम्नाके ठीक हुए बिना इसके लिए दूसरा उपाय नहीं है। प्राणायामादिके द्वारा सुषुम्ना-मार्गमें प्राणके प्रविष्ट होनेसे ही यह कार्य सुसम्पन्न होता है। मद्यपान करने पर मद्यपको जैसे नशा होता है, बाह्य विषयोंका ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार इसमें एक प्रकारकी नशेके समान स्थिति होती है, जगत् भूल जाता है और साधक अपनेको भी भूल जाता है। प्राण मस्तकमें

जाकर स्थिर होता है और वहीं रुक जाता है। तब एक परम निवृत्तिरूप उपशान्ति आकर उपस्थित होती है। साधकके सांसारिक दुःखोंका सदाके लिए अवसान हो जाता है। द्वितीयमें भी सुषुम्नाभेद होता है, उसका भी साधन-कौशल है। उस साधनका अवलम्बन करनेसे साधकको अनेक अभूतपूर्व विषय ज्ञानगोचर होते हैं। अपूर्व ज्योतिका प्रकाश, और उसके भीतर बिन्दु, नाद और कलाका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तथा उस नादबिन्दुको भेद करके पुरुषोत्तमादिके दर्शनके उपरान्त साधकको अनन्त चिदाकाशमें अवस्थानरूप महासिद्धि प्राप्त होती है। इस बीच नाना प्रकारके दर्शन और श्रवण द्वारा साधकका चित्त परमानन्दमें मग्न हो जाता है। ब्रह्माकाशमें मिलनेके ये ही दो मार्ग हैं। परन्तु द्वितीय मार्गमें आनेके लिए कर्मयोगकी सहायता आवश्यक है, प्राणायामके द्वारा प्राणवायु स्थिर न हुई तो मन लंपट होकर बाह्य विषयोंकी ओर दौड़ जायगा, अतएव वह अभ्यन्तर प्रवेश न कर सकेगा। यद्यपि दोनों ही ब्रह्ममें मिल जानेके मार्ग हैं; परन्तु जिनको विषयकामना है अर्थात् मनः प्राण स्थिर नहीं हुए हैं वे मनःप्राणकी गति कुछ स्थिर कर लें तो उसके बाद द्वितीय मार्गके द्वारा ब्रह्ममें प्रवेश करना सहज हो जाता है। प्रथम मार्गके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होता है, और उससे प्राप्त शक्तिके सहयोगसे द्वितीय मार्ग द्वारा आत्मदर्शन या आत्मज्ञान प्रत्यक्ष होता है। नहीं तो, चाहे ईश्वरप्रेम हो या अन्य कुछ हो—बाह्यकर्मद्वारा मनोनिवृत्ति नहीं होती। मनकी इस प्रकारकी निश्चलावस्था आये बिना उसकी अशुद्धि दूर होना भी संभव नहीं। बाहरी वैराग्ये या बनावटी वैराग्यसे कुछ होने वाला नहीं। अगले श्लोकमें इसी बातको भगवान् और भी स्पष्ट रूपसे कहेंगे ॥३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

अन्वय—पुरुषः (मनुष्य) कर्मणां (कर्मोंके) अनारम्भात् (अनुष्ठान किए बिना) नैष्कर्म्यं (निष्क्रिय अवस्थाको) न अश्नुते (प्राप्त नहीं कर सकता); संन्यसनादेव (केवल संन्यासग्रहण या कर्मत्यागसे) सिद्धिं (सिद्धिको) न अधिगच्छति (नहीं प्राप्त कर सकता) ॥४॥

श्रीधर—अतः सम्यक् चित्तशुद्ध्यर्थं ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं वर्णाश्रमोचितानि कर्माणि कर्त्तव्यानि। अन्यथा चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानानुत्पत्तेरित्याह—न कर्मणामिति। कर्मणामनारम्भादननुष्ठानात् नैष्कर्म्यं ज्ञानं नाश्नुते न प्राप्नोति। ननु च 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इति श्रुत्या संन्यासस्य मोक्षाङ्गत्वश्रुतेः संन्यसनादेव मोक्षं भविष्यति। किं कर्मभिः? इत्याशङ्क्योक्तं—न चेति। चित्तशुद्धिं विना कृतात् संन्यसनात् एव ज्ञानशून्यात् सिद्धिं मोक्षं न समधिगच्छति न प्राप्नोति ॥४॥

अनुवाद—[अतएव सम्यक् चित्तशुद्धिके लिए ज्ञानोत्पत्ति पर्यन्त वर्णाश्रमोचित कर्मादि करना चाहिए। अन्यथा चित्तशुद्धिके अभावमें ज्ञानोत्पत्ति न होगी। इसीलिए कहते हैं] कर्मके अननुष्ठानसे नैष्कर्म्य या ज्ञान किसीको भी प्राप्त नहीं होता।

यदि कहो कि वह प्राप्त कैसे होगा, तो इसका कारण श्रुतिमें लिखा है, "प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' परिव्राजकगण ब्रह्मलोककी इच्छा करके प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं—अतएव संन्यास मोक्षके अङ्गके रूपमें, श्रुतिमें होनेके कारण केवल संन्यास द्वारा ही मोक्षप्राप्ति हो जायगी। फिर कर्म करनेसे क्या लाभ?—ऐसी आशङ्का शायद कोई करे तो उसीका उत्तर देते हैं—चित्तशुद्धिके बिना ज्ञानशून्य संन्यासके द्वारा सिद्धि अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पहले क्रिया किये बिना स्थिति अर्थात् क्रिया-रहित उत्तम पुरुषमें स्थिति नहीं होती, उसके बिना अनावश्यक वस्तुमें इच्छारहित भी नहीं होता, और इच्छारहित हुए बिना समस्त विषयोंकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् इच्छारहित होनेसे ही सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सिद्धियाँ होने पर मन तृप्त होता है, अतएव मन इच्छारहित होनेसे ही तृप्त होता है।

—यद्यपि शास्त्रमें ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए संन्यास-ग्रहणकी विधि है, परन्तु चित्तशुद्धिके बिना वैराग्यका उदय नहीं होता और वैराग्यके बिना संन्यास निष्फल है। "दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्'—दण्डग्रहण करनेसे मनुष्य नारायण हो जाता है, यह रोचक वाक्य मात्र है। "त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" त्याग अमृतत्वका कारण तो है, पर कौन सा त्याग? केवल सिर मुड़ाकर गेरुआ वस्त्र पहनकर घरसे बाहर होने पर ही प्रकृत संन्यास नहीं होता। दण्डग्रहण मात्रसे ही नर नारायण हो जाता है, पर वह दण्ड कौन है? वाक्-काय-मनोदण्ड चाहिए अर्थात् वाक्य, शरीर और मनका शासन चाहिए। यह शासन करनेमें जो समर्थ है वही दण्डी है, बाहरी दण्डधारण केवल संन्यासका चिह्न धारण मात्र है। जिन्होंने काय, मन और वाक्यको संयत कर लिया है, ऐसे पुरुष अवश्य नारायण हो जाते हैं। परन्तु पहले साधनके द्वारा प्राण और मनको शुद्ध किए बिना नैष्कर्म्य या संन्यास संभव नहीं है। इसके लिए पहले प्राणायामादि योगक्रिया न करनेसे चित्त स्थिर कैसे होगा? नैष्कर्म्य या ज्ञानकी अवस्था ही है स्थिरचित्तता। यदि पहलेसे ही कार्य छोड़ देते हो तो स्थिरता आयेगी कैसे? मन तो ब्रह्माण्डमें भटका फिरता है, यदि चिन्मात्रमें अवस्थिति न हुई तो यह घोर भव-बन्धन कैसे छूटेगा? मुँहसे ज्ञान-वार्ता सुनकर या शास्त्रावलोकन करके तो किसीकी चिन्मात्रमें अवस्थिति होती नहीं? इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिए प्राणपनसे प्रयत्न करना पड़ेगा। एक-आध कर्म करनेसे काम नहीं चलेगा। कर्ममें चाञ्चल्य और नैष्कर्म्यमें एकबारगी स्थिरता देखकर मनमें लगता है कि मानो ये दोनों पृथक् मार्ग हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है। क्रिया किए बिना अन्तःकरणकी वृत्तियाँ कदापि न रुकेंगी। क्रिया करनेकी पहली अवस्थामें मानो युद्ध करना पड़ता है। तरङ्ग पर तरङ्ग उठती है, विश्रामका नाम भी नहीं रहता, परन्तु अपने ऊपर दया करके यदि कुछ क्षण साधन करते जाओ तो मनकी वृत्तिशून्यता अवश्य प्राप्त होगी। यह अवस्था यों ही नहीं आती। दो-चार वेदान्तके सिद्धान्त या इधर उधरकी बातें कहनेसे प्रकृत ज्ञान

नहीं मिलता। मौखिक ज्ञान पुस्तकोंके द्वारा हो सकता है, परन्तु उसका मूल्य बहुत अधिक नहीं है। वास्तविक सिद्धि है मनकी निवृत्ति। इस सिद्धिके बिना शान्ति नहीं मिलती। क्रिया-साधनके द्वारा मनका सङ्कल्प-विकल्प नष्ट होता है, और जब चित्तमें सङ्कल्प-विकल्पकी तरङ्ग नहीं उठती, तब ज्ञान उत्पन्न होता है। अतएव क्रिया छोड़ देने पर ज्ञानोत्पत्ति नहीं हो सकती। बल्कि क्रिया करने पर जब ज्ञानोदय होता है या स्थिर भाव आता है तब क्रिया अपने आप छूट जाती है।

"ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्त्वशुद्धिश्च तत्फलम्।
तत्फलं ज्ञाननिष्ठैव......।"

आत्मज्ञानकी साधना कर्म है, कर्म करते करते फल-स्वरूप सत्त्वशुद्धि होती है, सत्त्वशुद्धिसे ज्ञान-निष्ठाका उदय होता है। आजकल संसारमें कोई परिश्रमपूर्वक काम करना नहीं चाहता, लोग बिना प्रयत्नके ही ज्ञानी होना चाहते हैं तथा शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं। "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः"—पाप कर्मोंका क्षय होने पर ही मनुष्यको ज्ञान उत्पन्न होता है। विषय-वासना ही पाप है, यह पाप हमारे शरीर और मनके अणु-अणुमें भरा हुआ है। यह पाप दूर न हुआ तो ज्ञान या स्थिर भाव कैसे प्राप्त होगा ? प्राणायामके द्वारा पाप या अशुद्धिका क्षय होता है। इसी कारण प्राणायामकी गणना सर्वश्रेष्ठ तपस्यामें होती है ॥४॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

अन्वय—हि (निश्चय ही) कश्चित् (कोई) जातु (कभी) क्षणम् अपि (क्षणकाल भी) अकर्मकृत् (कर्म न करके) न तिष्ठति (नहीं रह सकता), हि (क्योंकि) प्रकृतिजैः गुणैः (प्रकृतिजात गुणोंके द्वारा) अवशः (अवश होकर) सर्वः (सब लोग) कर्म कार्यते (कर्ममें प्रवर्तित होते हैं) ॥५॥

श्रीधर—कर्मणां च संन्यासस्तेष्वनासक्तिमात्रम्, न तु स्वरूपेण। अशक्यत्वादिति आह—न हि कश्चिदिति। जातु कस्यांचिदप्यवस्थायां क्षणमात्रमपि कश्चिदपि ज्ञान्यज्ञानी वाऽकर्मकृत् कर्माण्यकुर्वाणो न तिष्ठति। तत्र हेतुः—प्रकृतिजैः स्वभावप्रभवैः रागद्वेषादिभिर्गुणैः सर्वोऽपि जनः कर्म कार्यते कर्मणि प्रवर्त्यते। अवशोऽस्वतन्त्रः सन् ॥५॥

अनुवाद—[सारे कर्मोंके संन्यासका अर्थ है केवल कर्ममें अनासक्ति, स्वरूपतः कर्मका त्याग नहीं। क्योंकि इस प्रकारका कर्मत्याग साध्य नहीं है, इसीसे कहते हैं] —कभी किसी भी अवस्थामें, क्षणमात्रके लिए भी, ज्ञानी हो या अज्ञानी, कर्म किये बिना नहीं रह सकता। इसका कारण यह है कि स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादि गुणोंसे अवश (लाचार) होकर सब लोग कर्म करनेमें प्रवर्तित या बाध्य होते हैं ॥ ५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कर्मके बिना कोई भी क्षणमात्र नहीं रहता, कर्त्तव्य-बुद्धिसे सारे कर्म करना, वही कर्म होता है; क्योंकि उसका कर्त्ता ब्रह्मसूत्र सुषुम्ना है,

जिसके भीतर समस्त विश्व है—वह आदि पुरुष सर्वव्यापक हैं। पञ्चतत्त्व मन, बुद्धि और अहङ्कारके वशीभूत होकर सब कर्म करते हैं—सत्त्व, रजः, तमः—इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके गुणोंमें।

—ब्रह्मसूत्र सुषुम्नासे ही पहले प्राणका प्रवाह उत्पन्न होता है, यहींसे इड़ा, पिङ्गलामें उसके प्रवाहित होने पर जगत्के सारे व्यापार चलते रहते हैं, परन्तु इस प्रवाहका असली खूँटा सुषुम्ना है, वही प्रकृतिरूपिणी आद्याशक्ति प्राण है, उसीमें सारा विश्व-संसार है। ब्रह्माण्डके समस्त खेल उसीके हैं। प्राण विश्वका धारक है, इसी कारण वह सर्वव्यापक और जगन्माता है, सबके पहले प्राण ही होता है, अतएव वह आदि पुरुष है। सुषुम्ना न रहे तो जीव जन्मग्रहण नहीं कर सकता। पञ्चतत्त्व, मन, बुद्धि और अहङ्कार सब इसीसे उत्पन्न होते हैं। इस कारण सब इसके वशमें हैं। रजस्तम और सत्त्वगुणके सारे खेल इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके प्राणके खेलसे उत्पन्न होते हैं, परन्तु इनका मूल है ब्रह्मसूत्र सुषुम्ना और सुषुम्नाके अन्तर्गत ब्रह्मनाड़ी। इस ब्रह्मनाड़ीमें सब बँधे हैं, अतएव प्राण-क्रिया करते-करते सबसे प्राणके प्रवाहको समेट कर जब आदि स्थान ब्रह्मनाड़ीमें लाया जाता है तो गुणत्रयकी अतीतावस्था संभव हो जाती है। और वैसा न होकर जब तक गुण-प्रवाह चलेगा, ज्ञानी हो या अज्ञानी, उसके कार्य तदनुरूप ही होंगे, उसमें बाधा देनेकी क्षमता किसीमें भी नहीं है ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

अन्वय—यः (जो) कर्मेन्द्रियाणि (कर्मेन्द्रियोंको) संयम्य (संयत करके) मनसा (मनके द्वारा) इन्द्रियार्थान् (इन्द्रियोंके विषयोंको) स्मरन् (याद करते हुए) आस्ते (रहता है) विमूढ़ात्मा (मूढ़बुद्धि) सः (वह) मिथ्याचारः उच्यते (कपटाचारी कहलाता है) ॥ ६ ॥

श्रीधर—अतोऽज्ञं कर्मत्यागिनं निन्दति—कर्मेन्द्रियाणीति। वाक्पाण्यादीनि कर्मेन्द्रियाणि संयम्य निगृह्य यो मनसा भगवद्ध्यानच्छलेनेन्द्रियार्थान् विषयान् स्मरन्नास्ते। अविशुद्धतया मनसा आत्मनि स्थैर्याभावात्। स मिथ्याचारः कपटाचारो दाम्भिक उच्यते इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अनुवाद—[अतएव अज्ञ कर्मत्यागीकी निन्दा करते हैं]—वाक्, पाणि आदि कर्मेन्द्रियोंको निगृहीत या संयत करके जो भगवद्-ध्यानके बहाने मन द्वारा ऐन्द्रिय विषयोंका स्मरण करता है, मनके विशुद्ध न होनेके कारण उसकी आत्मामें स्थिरताका अभाव रहता है, अतएव वह कपटाचारी दाम्भिक है। [उसकी कर्मेन्द्रियोंका निरोध तो हुआ, परन्तु मनका विषय-स्मरण नहीं छूटा। अतएव उसका यथार्थ कर्म-त्याग नहीं हुआ। बाहरका कर्मत्याग तो उसका केवल दम्भ मात्र है] ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकांक्षासे रहित होकर जो अपने मनमें रहता है वह अच्छा है, और इन्द्रियोंके लिए सुख-सम्पादनार्थ मूर्ख बनकर आत्माके लक्ष्यसे रहित होकर मनुष्यका जो कुछ आचरण होता है अर्थात् अन्य दिशामें मन लगता है, वह सबके सब मिथ्या हैं।

—जो अनात्म वस्तु है वह सब मिथ्या है, उसमें मन लगाना केवल मिथ्याकी उपासना मात्र है। फलाकांक्षा-रहित जो प्राणकर्म है उसमें जो मन लगा सकता है वही अच्छा है, वह शीघ्र ही आत्माराम हो जायगा। और जो इन्द्रियोंके व्यापारमें मत्त हो रहे हैं वे मूर्ख हैं, क्योंकि उनका मन सत्य वस्तुको छोड़कर असत्यमें लगा है। इस प्रकारके आदमीको जो थोड़ा-बहुत सुख मिलता है वह कुछ नहीं है। ऊपरका अंश मीठा लगता है पर भीतर विष भरा है। ऐसे लोग अपनी बुद्धिके गर्वसे क्रिया नहीं करते, केवल शास्त्र-वाक्य रटा करते हैं। ब्रह्म-विषयक बातें करने पर भी उनका मन विषय-लोलुप रहता है, इसीसे उनका ऊपरसे त्यागीका वेष होते हुए भी मन सदा ही विषयोंके लिए अधीर होता रहता है। ये लोग संसारको तो ठगते ही हैं, साथ ही आत्मप्रवञ्चना भी करते हैं। अतएव कर्मेन्द्रियोंका संयम चाहे जितना हो, या न हो, मनःसंयम सबसे पहले आवश्यक है। मनको असंयत रखकर कर्मेन्द्रियको संयत करनेसे उसकी यथार्थ स्थिरता प्राप्त नहीं होती, अतएव आँखें मूँद कर आसन लगाकर जो ध्यान-धारणाका भान करता है वह सब मिथ्या विडम्बनामात्र है॥ ६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) यः तु (परन्तु जो) मनसा (मनके द्वारा) इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) नियम्य (संयत करके) असक्तः (अनासक्त भावसे) कर्मेन्द्रियैः (कर्मेन्द्रियोंके द्वारा) कर्मयोगं (कर्मयोगको) आरभते (अनुष्ठान करते हैं) सः (वह) विशिष्यते (श्रेष्ठ कहलाते हैं)॥ ७॥

श्रीधर—एतद्विपरीतः कर्मकर्त्ता तु श्रेष्ठ इत्याह—यस्त्विन्द्रियाणीति। यस्तु ज्ञानेन्द्रियाणि मनसा नियम्येश्वरपराणि कृत्वा कर्मेन्द्रियैः कर्मरूपं योगमुपायमारभतेऽनुतिष्ठति। असक्तः फलाभिलाषरहितः सन्। स विशिष्यते विशिष्टो भवति। चित्तशुद्ध्या ज्ञानवान् भवतीत्यर्थः॥ ७॥

अनुवाद—[इसके विपरीत कर्म-करनेवाला श्रेष्ठ है, एतदर्थ कहते हैं]—हे अर्जुन! परन्तु जो मनके द्वारा सारी ज्ञानेन्द्रियोंको नियमित और ईश्वर-परायण करके कर्मेन्द्रियोंके द्वारा कर्मरूपी योग या उपायका अनुष्ठान करते हैं फलाभिलाषासे रहित होनेके कारण वे विशिष्ट अर्थात् चित्तशुद्धिके कारण ज्ञानवान् होते हैं॥ ७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो लोग इन्द्रियोंको मनके द्वारा क्रियाकी परावस्थामें रखकर सारे कर्म करते हैं—कर्मेन्द्रियाँ सारे कर्म करती हैं—परन्तु आसक्ति-पूर्वक कुछ नहीं करते, वे ही श्रेष्ठ हैं।

—जो क्रियाकी परावस्थामें रहता है, उसके पास मन कहाँ है कि कर्म करे ? क्रियाकी परावस्थामें मनके स्थिर होकर रहने पर भी बाहरके कुछ कार्य हो सकते हैं—जैसे, जब हम खूब सोये होते हैं और बाहरकी किसी घटनाको नहीं समझ पाते, तब भी कभी-कभी शरीर खुजलाते हैं, ठीक उसी प्रकार मन ब्रह्ममें लगा रहता है और तो भी अभ्यासवश बाहरके काम होते रहते हैं; परन्तु उनमें आसक्ति नहीं होती। कर्मेन्द्रियके द्वारा उनके कर्म होते रहते हैं परन्तु उनका मन भगवच्चरणमें पड़ा रहता है। इस प्रकारके योगीका चित्त शुद्ध हो गया है, यह समझना चाहिए। अतएव उनके कर्मफल-त्याग, अथवा आसक्तिके न होनेमें फिर क्या सन्देह हो सकता है ? अशुद्ध चित्तका लक्षण इसके विपरीत होता है। अर्थात् बाहरका काम करता नहीं, आसन मारकर बैठता है, खटाखट माला भी जपता है, फौंस फौंस श्वास-क्रिया करके प्राणायाम भी करता है, परन्तु साथ ही मनमें विषयचिन्तन भी करता रहता है। हो सकता है कि वह तीन घंटे एक आसन पर बैठे, परन्तु उसका मन तीन मिनटके लिए भी, जान पड़ता है कि, भगवच्चिन्तनमें नहीं लगता। क्या विषय-चिन्तन करनेसे कहीं मन स्थिर होता है ? और जब तक चित्त अशुद्ध है तब तक विषय-चिन्ता जा भी नहीं सकती, तब फिर इसका उपाय क्या है ? इसका उपाय है रोना, और खूब जोरसे अपनेको नियममें रखना। उनको पुकारना और मन ही मन बतलाना कि,

वाचा यच्च प्रतिज्ञातं कर्मणा न कृतं मया।
सोऽहं कर्मदुराचारः त्राहि मां मधुसूदन॥

विषयरस भी तो मधु है, इस मधुके लोभसे सारे मनभ्रमर व्याकुल हैं। इस मधुको वही नष्ट कर देते हैं इसी लिए उनका नाम मधुसूदन है। परन्तु मन लगाकर जो क्रिया करता है उसका मन उनमें ही समर्पित हो जाता है और भगवान् भी उसी मनको ग्रहण करते हैं। अतएव उसका मन भी स्थिर हो जाता है। ऐसा मन या मनका प्रसन्न भाव ही उनका प्रसाद या कृपा है ॥७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥८॥

अन्वय—त्वं (तुम) नियतं (नित्य) कर्म (कार्य) कुरु (करो) हि (क्योंकि) अकर्मणः (कर्म न करनेकी अपेक्षा) कर्म ज्यायः (कर्म करना श्रेष्ठ है); अकर्मणः (कर्म न करने पर) ते (तुम्हारी) शरीरयात्रा अपि च (शरीरयात्रा भी) न प्रसिध्येत् (निर्वाह न होगा) ॥८॥

श्रीधर—नियतमिति। यस्मादेवं तस्मान्नियतं नित्यं कर्म सन्ध्योपासनादि कुरु।

हि यस्मादकर्मणः सर्वकर्मणोऽकरणात् सकाशात् कर्मकरणं ज्यायोऽधिकतरम्। अन्यथाऽकर्मणः सर्वकर्मशून्यस्य तव शरीरयात्रा शरीरनिर्वाहोऽपि न प्रसिध्येन्न भवेत् ॥८॥

अनुवाद—[चित्तशुद्धिके लिए कर्म करना ही ठीक है, इस बातका उपसंहार कर रहे हैं]—जब कर्म किये बिना नहीं चल सकता, तो तुम नित्यकर्म सन्ध्योपासनादि करो। क्योंकि सब कर्मोंके न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही अधिकतर श्रेष्ठ है, सब कर्मोंसे शून्य होने पर तुम्हारी शरीरयात्राका भी निर्वाह न होगा ॥८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—निरन्तर क्रियाकी परावस्थामें रहकर काम करो। फलाकांक्षारहित होकर, इसके बिना शरीरयात्राका निर्वाह न होगा।

—क्रिया किये बिना कोई क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त नहीं कर सकता, अतएव अकर्मा या त्यागीका स्वांग रचनेसे काम न चलेगा। यदि कहते हो कि वेदान्तादि शास्त्रोंकी आलोचना करके तुम पूर्व संस्कारको नष्ट कर डालोगे और उससे स्थिरता प्राप्त करोगे। तो ऐसा सोचना भी मत, क्योंकि केवल ज्ञानालोचना द्वारा पूर्व संस्कारोंको नष्ट करना बड़ा ही कठिन है। इसमें बहुत समय लगेगा, फिर भी ठीक ठीक होगा या नहीं, इसमें सन्देह है। मान लो कि हो ही जायगा, तो भी नये संस्कारको अभ्यस्त करनेमें बहुत दिन लगेंगे, उतने दिनों तक प्राणायामके बिना तुम्हारा शरीर कैसे रहेगा? अतएव तुम्हें प्रतिदिन क्रिया करनी ही पड़ेगी। परन्तु असम्बद्ध तरीकेसे अनियमित ढंगसे करनेसे भी कुछ लाभ न होगा, नियत अर्थात् नियमितरूपसे कार्य करना ही होगा। आहार, बिहार, शयन, भोजन—इन सारे विषयोंमें योगीको खूब नियम पालन करते हुए चलना पड़ता है। कष्टके भयसे यदि नियम नहीं मानते, क्रिया नहीं करते—तो इससे 'शरीरयात्राका' भी निर्वाह न होगा। अर्थात् शरीर रूपी रथपर चढ़कर जो हमने यात्रा प्रारम्भ की है, वह कहाँ जानेके लिए, बतलाओ तो? क्या केवल इन्द्रिय-भोग और कर्मभोग करने के लिए ही?—ऐसी बात नहीं है। यह शरीर हमको मिला है उनका भजन करनेके लिए, उनको पानेके लिए—वही तो जीवनका परम लक्ष्य है उनको पाना—यदि हम क्रिया या उपासना नहीं करते, तो वह नहीं मिल सकेंगे। और जिस उद्देश्यको लेकर हम जगत्में आये हैं वह सिद्ध न हो सकेगा। इसके सिवा यह भी विचारणीय है कि तुम ज्ञानके अधिकारी नहीं हो, कर्मके अधिकारी हो, कर्म किये बिना तुम्हारा काम न चलेगा। तुम चाहते हो मेरा भक्त होना, इसकी भी सिद्धि न होगी। कर्मका अधिकारी होकर जो कर्म नहीं करता, केवल मौखिक ज्ञानकी बात बघारता है उसका इहलोक—परलोक दोनों गये! प्राण-क्रिया करते करते तुम्हारा देहाभिमान चला जायगा। देहाभिमानशून्य पुरुषको सर्वत्र ही आत्मदर्शन होता है उस समय अहङ्कार नहीं रह जाता। उस समय जो कुछ करोगे भगवत्सेवा ही जान पड़ेगी। उस समय तुम्हारा निजी काम कुछ नहीं रह जायगा। इस प्रकार चरम ज्ञान प्राप्तकर परमा शक्तिको प्राप्त करोगे ॥८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

अन्वय—यज्ञार्थात् (ईश्वरकी आराधनाके निमित्त) कर्मणः (कर्मके सिवा) अन्यत्र (अन्य कर्ममें) अयं लोकः (ये लोग) कर्मबन्धनः (कर्ममें आबद्ध हैं) कौन्तेय (हे कौन्तेय !) तदर्थं (ईश्वरप्रीतिके लिए) मुक्तसंगः (निष्काम होकर) कर्म समाचर (कर्मका अनुष्ठान करो) ॥९॥

श्रीधर—सांख्यास्तु सर्वमपि कर्म बन्धकत्वान्न कार्यमित्याहुः । तन्निराकुर्वन्नाह—यज्ञार्थादिति । यज्ञोऽत्र विष्णुः । यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः । तदाराधनार्थात् कर्मणोऽन्यत्र तदेकं विना लोकोऽयं कर्मबन्धनः कर्मभिर्बध्यते । नत्वीश्वराराधनार्थेन कर्मणा । अतस्तदर्थं विष्णुप्रीत्यर्थं मुक्तसंगो निष्कामः सन् कर्म सम्यगाचर ॥९॥

अनुवाद—[सारे कर्म बन्धनके हेतु हैं, इसी कारण सांख्य लोग कहते हैं कि कर्म न करना ही ठीक है । इसका निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं] यज्ञका अर्थ यहाँ विष्णु है। विष्णु ही यज्ञ हैं यह श्रुति कहती है। एकमात्र उनकी आराधनाके सिवा जो अन्य कर्म किया जाता है वह बन्धनका कारण बनता है । ईश्वराराधनके निमित्त किया गया कर्म मनुष्यको बन्धनमें नहीं डालता । अतएव 'तदर्थं' विष्णु-प्रीतिके लिए निष्काम होकर कर्म करो ॥९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छारहित होकर सारे कर्म करो ।

—जब भगवान्‌के लिए काम किया जायगा तो वह काम अपनी निजी इच्छा की पूर्तिका काम न होगा । इसी भावसे सब काम करो । लोग साधारणतः इन्द्रियोंके आरामके लिए ही काम करते हैं, और उससे थोड़ा आराम मिलनेके कारण उसमें आसक्ति बढ़ती है, और इस कारण उसके साथ ही बन्धन भी होता है । अर्थात् उसी प्रकारका आराम बारंबार पानेकी इच्छा होती है । न पाने पर दुःख-अशान्तिके चक्करमें पड़ना पड़ता है । परन्तु भाई, तुम इस जगत्‌में कै दिनके लिए हो, अपने लिए तुम्हें इतने कार्योंकी क्या आवश्यकता है ? जिसके बिना काम नहीं चलता, जीवनयात्रामें बाधा पड़ती है वह कार्य तो अवश्य ही करना पड़ेगा । और ऐसे काम बहुत अधिक भी नहीं हैं । परन्तु हम आसक्तिके कारण ही कर्मके बोझको बढ़ाते हैं, अन्त-काल तक उसे ढोते ढोते गर्दन-पीठ चरचरा उठती हैं । भगवान् सर्वत्र ही व्याप्त हैं । वही विष्णु हैं, उनकी ही आराधनाके लिए काम करना होगा । कौन सबके भीतर प्रविष्ट है ?—प्राण । प्राण सबके भीतर प्रविष्ट है, तभी हम जीते हैं, बातचीत करते हैं, खाते-पीते हैं, घूमते हैं, सारे काम करते हैं । प्राणके न रहने पर देहेन्द्रियादि मर जाते हैं, किसीमें कुछ करनेकी क्षमता नहीं रहती । अतएव देखा जाता है कि प्राण ही सब कुछ है । यही हृदयमें प्राणरूप ब्रह्मा है, इसीसे सब कुछ होता है, यही गुह्य स्थानमें अपानरूप रुद्र होकर सब वस्तुओंको ध्वंस करती है । यही प्राण-शक्ति नाभिमें समानवायुरूप विष्णुशक्ति होकर जगत्‌को धारण करती है । यह प्राण

ही ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मिका शक्ति है। यह विश्वव्यापी, सारे विश्वका महाप्राण है। इसके न रहने पर जगत्की किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं रहेगा। इसी महाप्राणकी प्रीतिके लिए काम करो। आत्मज्ञानकी प्राप्तिका उपायभूत जो प्राणकर्म है, उसे ही करो। इससे यज्ञेश्वर विष्णु प्रसन्न होंगे। उनके सन्तुष्ट होने पर (अर्थात् विक्षेप-युक्त न रहने पर) तुम्हारा धर्म, आयु सब वृद्धिको प्राप्त होंगे। यज्ञेश्वरकी प्रसन्नता इसी कर्मके द्वारा प्राप्त होती है, यह ठीक समझमें आता है। साधककी आयु बढ़ती है, ज्ञान बढ़ता है, लावण्य बढ़ता है और मेधा बढ़ती है। शरीरके भीतर सारी नाड़ियोंमें स्थिर वायु प्रवेश कर साधकको अद्भुत् शक्ति-सम्पन्न कर डालती है। प्राण-शक्तिको इस कार्यमें व्यय न करें तो उसका व्यय दूसरे सैकड़ों असत्कार्योंमें हो जायगा जिससे तुम्हारा बल, आयु और स्वास्थ्य नष्ट हो जायगा और तुम दीन-दरिद्र हो जाओगे। अष्टावक्र कहते हैं—

यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्रास्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि॥

चित्त ही हमारा बन्धन-रज्जु है, चित्त ही चिन्ता द्वारा हमारे लिए इस विशाल कारागार ब्रह्माण्डकी रचना करता है। इस चिन्तास्रोतको यदि रोक सको तो अभी बन्धन-मुक्त होकर सुखी शान्त हो जाओगे। इसके लिए तुम्हें क्या करना होगा? सहस्रों नाड़ियाँ देहके भीतर रहकर कामादिके वेगका सञ्चालन करती हैं, इस चिन्ता-प्रवाहका तभी विराम होता है, जब नाड़ी शुद्ध हो जाती है और उसके भीतर स्थित प्राणशक्ति एकबारगी जोर करके मस्तकमें जाकर स्थिर होकर बैठती है। उस समय देह आत्मासे पृथक् हो जाती है। गंगाका प्रवाह पयःप्रणालीमें प्रवेश न करे तो वह गङ्गामें ही लौट जायगा और क्रमशः प्रणाली शुष्क हो जायगी। इसी प्रकार नाड़ी-प्रवाहिकासे साधन द्वारा प्राणशक्तिको ऊर्ध्व ले जाने पर देहके साथ उसका सम्बन्ध क्षीण हो जाता है। इसका ही नाम देहको पृथक् करना है। और ऐसा करने पर ही चिन्ताका अन्त होगा, प्राण विश्रामलाभ करके बचेगा और परमानन्द प्राप्त करके मुक्त हो जायगा॥९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

अन्वय—पुरा (पहले—सृष्टिके आदिमें) प्रजापतिः (प्रजापतिने) सहयज्ञाः (यज्ञके साथ) प्रजाः (जीवोंकी) सृष्ट्वा (सृष्टि करके) उवाच (कहा था) अनेन (इस यज्ञ के द्वारा) प्रसविष्यध्वं (उत्तरोत्तर सम्वर्द्धित हो); एषः (यह यज्ञ) वः (तुम्हारे लिए) इष्टकामधुक् (अभीष्टफलप्रद) अस्तु (हो)॥१०॥

श्रीधर—प्रजापतिवचनादपि कर्मकर्त्तैव श्रेष्ठ इत्याह—सहयज्ञा इति चतुर्भिः॥ यज्ञेन सह वर्त्तन्त इति सहयज्ञाः यज्ञाधिकृता ब्राह्मणाद्याः प्रजाः पुरा सर्गादौ सृष्ट्वेदमुवाच ब्रह्मा—अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वम्। प्रसवो हि वृद्धिः। उत्तरोत्तराभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः।

तत्र हेतुः—एष यज्ञो वो युष्माकमिष्टकामधुक्। इष्टान् कामान् दोग्धीति तथा। अभीष्ट-भोगप्रदोऽस्त्वित्यर्थः। अत्र च यज्ञग्रहणमावश्यककर्मोपलक्षणार्थम्। काम्यकर्मप्रशंसा तु प्रकरणेऽसङ्गतापि सामान्यतोऽकर्मणः कर्म श्रेष्ठमित्येतदर्थेत्यदोषः ॥१०॥

अनुवाद—[प्रजापतिके वचनके अनुसार भी कर्मकर्त्ता ही श्रेष्ठ है, यह चार श्लोकोंमें कहते हैं]—सृष्टिके आदिमें ब्रह्माने यज्ञाधिकारी ब्राह्मणादि सारी प्रजाकी सृष्टि करके कहा—इस यज्ञके द्वारा तुम लोग उत्तरोत्तर अभिवृद्धि या उन्नति प्राप्त करो। क्योंकि यह यज्ञ तुम्हारे लिए अभीष्ट भोग प्रदान करेगा। यहाँ कर्म शब्दका उपलक्षणार्थ यज्ञ शब्द उपयुक्त हुआ है, इससे काम्यकर्मकी प्रशंसा नहीं की गयी है, बल्कि सामान्यतः अकर्मसे कर्मकी श्रेष्ठता कही गयी है ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्माने सृष्टि करते समय कर्मकी सृष्टि की है।

—ब्रह्माने जीवकी सृष्टि करके उसके साथ श्वास-प्रश्वास रूपी यज्ञ या कर्मको जोड़ दिया और कह दिया कि इस यज्ञके द्वारा तुम लोग उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करो। जीवका अवलम्बन ही है श्वास और प्रश्वास। इस श्वास-प्रश्वासके होनेके कारण ही हम सारे कार्य सम्पादन कर सकते हैं। यही जीवन-दीपकी बाती है, इसके न रहने पर संसार, सुख, आराम आदि सब शून्य हो जाते हैं। यह हुई सांसारिक भोग सम्बन्धी बात। और संसार-सागरको पार करनेकी तरणी भी यही है। श्वास-प्रश्वास ही जीवका मन्त्र है, भवसिन्धुको पार करनेका उपाय है। "निश्वासश्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते प्रिये।" यह श्वास-प्रश्वास ही मन्त्र है। कबीरने कहा है—'बिनु हाथे निसिदिन फिरै ब्रह्म जाप तहँ होय।' इस श्वास-प्रश्वासके द्वारा निरन्तर ब्रह्म-जाप हो रहा है, श्वासकी मालाको हाथसे नहीं फेरना पड़ता। गीताके चतुर्थ अध्यायमें इसी प्राणयज्ञका उल्लेख किया गया है। इस प्राणयज्ञके द्वारा ही यथार्थ उन्नति प्राप्त होती है। सांसारिक उन्नति तो सामान्य उन्नति है, उसके द्वारा केवल शरीरके भोगादि प्राप्त होते हैं। परन्तु कैवल्य लाभ, मुक्तिकी प्राप्ति भी प्राणयज्ञके अनुष्ठान द्वारा ही होती है। अतएव प्राणयज्ञ ही कामधेनुके समान कार्य करता है। इसके ही द्वारा जीवनके परम लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। इस यज्ञके द्वारा ही त्राण मिलता है। 'यज्ञस्तारयति प्रजाः।' यही यज्ञेश्वर हुए विष्णु, और प्राण हुआ यज्ञ और 'मारुतस्य लयो नाथः'—इस प्राणवायुके प्रभु या ईश्वर हुए 'लय' या 'स्थिरता'। असीम स्थिरता ही यज्ञेश्वरका रूप है। इसके द्वारा ही परमात्माके साथ जीवकी एकचित्तता होती है तथा इसीसे ज्ञान या मुक्ति होती है। "योगात् संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता"—योगाभ्यासके द्वारा ही ज्ञान समुत्पन्न होता है। आत्माके साथ चित्तकी एकाग्रताका नाम ही योग है ॥१०॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

अन्वय—अनेन (इस यज्ञके द्वारा) देवान् (देवगणको) भावयत (सम्वर्द्धित

करो) ते देवाः (वे देवगण) वः (तुमको) भावयन्तु (सम्वर्द्धित करें), परस्परं भावयन्तः (पारस्परिक सम्वर्द्धनके द्वारा) परं श्रेयः (परम कल्याण) अवाप्स्यथ (प्राप्त होंगे) ॥११॥

श्रीधर—कथमिष्टकामदोग्धा यज्ञो भवेदिति ? अत्राह—देवानिति। अनेन यज्ञेन यूयं देवान् भावयत हविर्भागैः संवर्द्धयत। ते च देवा वो युष्मान् संवर्द्धयन्तु वृष्ट्यादिनाऽन्नोत्पत्तिद्वारेण। एवमन्योन्यं संवर्द्धयन्तो देवाश्च यूयं च परस्परंश्रेयोऽभीष्टमर्थमवाप्स्यथ प्राप्स्यथ ॥११॥

अनुवाद—[यज्ञ किस प्रकार 'इष्टकामदोग्धा' अर्थात् अभीष्ट फलदाता बनता है, इसका उत्तर देते हैं]—इस यज्ञके द्वारा तुम लोग देवताओंको हविर्भाग अर्थात् घृताहुति देकर संवर्द्धन करो। वे देवगण भी वृष्टि आदिके द्वारा अन्नोत्पत्ति करके तुम्हारा संवर्द्धन करें। इस प्रकार परस्पर संवर्द्धन द्वारा तुम दोनों अभीष्टार्थको प्राप्त करोगे ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो जिस देवताकी भावना करता है वही देवता उसकी भावना करते हैं। इस प्रकार परस्पर भावविशिष्ट होकर कल्याणको प्राप्त करते हैं।

—उपर्युक्त व्याख्यामें हमको एक बड़ी ज्ञानकी बात मिलती है। जिस देवताकी भावना की जाती है, वही देवता फिर हमारी भी भावना करते हैं। सब कुछ देवमय है, हमारी भावनाएँ भी दैवीशक्तिसम्पन्न हैं। इसी कारण जब हम किसीकी शुभकामना करते हैं तो उसका शुभ होगा ही, साथ ही साथ हमारा भी शुभ होगा। क्योंकि शुभकामनामयी दैवीशक्तिको मैंने चिन्तन द्वारा प्रबुद्ध किया है, वह भी शुभ भावापन्न रूपमें मेरी शुभकामना करेगी। इससे मेरी चिन्तनशक्ति पवित्र और शुभशक्ति-सम्पन्न होगी। इसके विपरीत भावना करनेसे वैसा ही अशुभ फल होगा। किसी की अशुभ कामना करनेसे हमारा भी उसके साथ ही अशुभ होगा। हमारे भीतर अशुभकारिणी शक्ति बलवती होकर हमारा अमंगल करेगी। इसी कारण किसीकी अशुभकामना नहीं करनी चाहिए। उससे दूसरोंकी क्षति हो या न हो, अपनी क्षति तो अवश्य होती है। देवताके उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्म ही यज्ञ हैं। इसी कारण भगवान्में चित्तको अर्पित कर सारे कर्म करने पड़ते हैं। सारे यज्ञोंमें जपयज्ञ ही श्रेष्ठ है। और सारे जपयज्ञोंमें अजपा यज्ञ श्रेष्ठतम है। यह अजपाही हमारी आयु है। और श्रुति कहती है—'हविर्वै आयुः'—हमारा हवि ही आयु है। हममेंसे सबको कर्मानुसार निर्दिष्ट अजपा-संख्या या आयु मिली है। इस अजपाके द्वारा होमक्रिया करनी चाहिए। ब्रह्म ही अग्नि, कूटस्थ या परम शिव है। इस कूटस्थको लक्ष्य करके उसमें प्राणको होम करना होगा। प्राणको होम करते करते प्राण स्थिर हो जायगा। स्थिर प्राण ही परम व्योम या निरञ्जन है। तब प्राणशक्ति ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिति प्राप्त करके विदेह मुक्ति प्रदान करेगी। इस क्रियासे सारी दैवी शक्तिको भी पुष्टि प्राप्त होगी। हमारी देहस्थ इन्द्रियाँ ही देवता हैं। इस क्रियाके साधनसे सारी इन्द्रियाँ और उनके भीतरकी सूक्ष्म शक्तियाँ जाग्रत होकर साधकको वरदान या अभीष्ट फलदान करेंगी।

मूलाधारमें शक्तिके चैतन्य होने पर क्षितितत्त्व पर विजय प्राप्त होगी, और सर्वसिद्धि-दाता गणेश सब प्रकारसे अभीष्ट सिद्ध करके साधकको कृतार्थ करेंगे। वही एक शक्ति स्वाधिष्ठानमें विष्णुरूपसे विराजमान है, वैष्णवी शक्तिके जाग्रत होने पर साधक असाध्य साधनमें समर्थ होंगे। इसी प्रकार मणिपूरमें अग्नि या रुद्र, अनाहतमें वायु या ईश्वर, विशुद्धाख्यमें आकाश या सदाशिव साधनाके द्वारा सम्पूजित होकर साधककी जो चिरकालकी वासनाएँ होंगी उन्हें पूर्ण करेंगे। इस प्रकार पञ्च चक्रोंमें क्षर पुरुष या भूतसमूहकी उपासनासे भूतशुद्धि हो जाने पर आज्ञाचक्र या तपोलोकमें अक्षर या कूटस्थ पुरुषकी उपासना होगी, पश्चात् सत्यलोकमें या सहस्रारमें उत्तम पुरुषका साक्षात्कार प्राप्तकर साधक सदसद्, प्रकृति-पुरुषके परे जाकर सर्वज्ञ और सर्वविद् होकर चरम कृतार्थता प्राप्त करते हैं। एक क्रिया द्वारा प्रतिचक्रमें मन लगाने से सर्व देवताकी उपासना हो जाती है। इस उपासनासे जीवन धन्य हो जाता है, यह उपासना न करनेसे जीवन व्यर्थ हो जाता है। प्रकृत पूजाके रहस्यको जानकर पूजा करनेसे मनुष्य देवता हो जाता है। भूतशुद्धिके रहस्यको जानने वाले ही भगवान्के यथार्थ पूजक हो सकते हैं ॥११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

अन्वय—हि (निश्चय ही) यज्ञभाविताः (यज्ञद्वारा संवर्द्धित) देवाः (देवगण) वः (तुमको) इष्टान् (वाञ्छित) भोगान् (भोगोंको) दास्यन्ते (देंगे); तैः (उनके द्वारा) दत्तान् (प्रदत्त भाग) एभ्यः (उनको) अप्रदाय (न देकर) यः भुङ्क्ते (जो भोग करता है) सः (वह) स्तेन एव (निश्चय ही चोर है) ॥१२॥

श्रीधर—एतदेव स्पष्टीकुर्वन् कर्माकरणे दोषमाह—इष्टानिति। यज्ञैर्भाविताः सन्तो देवाः वृष्ट्यादिद्वारेण वो युष्मभ्यं भोगान्दास्यन्ते हि। अतो देवैर्दत्तानन्नादीनेभ्यो देवेभ्यः पञ्चयज्ञादिभिरदत्त्वा यो भुङ्क्ते स तु स्तेनश्चौर एव ज्ञेयः ॥१२॥

अनुवाद—[कर्म न करनेमें क्या दोष है, यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं]—देवता लोग यज्ञभावित या यज्ञद्वारा संवर्द्धित होकर वृष्ट्यादि द्वारा तुम लोगोंको अभीष्ट भोग प्रदान करेंगे। अतएव देवताओंके द्वारा दिये गये अन्नादिको पञ्चयज्ञादि द्वारा देवताओंको न देकर जो भोग करता है, उसको चोर ही समझना चाहिए ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—किसी इष्टदेवको भोग देकर, यदि अपने ही खाता है और सोचता है कि ब्रह्म नहीं खा रहे हैं, तो वह चोर है।

—प्राणायामादि यज्ञके द्वारा शरीर और इन्द्रियोंका तेज, बल, पुष्टि, आयु, आनन्द आदि देवशक्ति संवर्धित होती है। इन शक्तियोंके द्वारा अपना और जगत्का अनेक कल्याण सम्पादित होता है। वस्तुतः शरीरयन्त्रके सारे कर्म अग्नि, वायु, आदित्य प्रभृतिके देवताओंके द्वारा परिचालित होते हैं। हमारे पास अहङ्कार करनेकी कोई वस्तु नहीं है। इन साधनोंके कौशलसे सिद्धि प्राप्त करने पर जगत्का कितना ही

कल्याण हो सकता है, परन्तु उसे न करके इन्द्रिय, मन-बुद्धिके तेज और शरीरका आरोग्य आदि फलोंको प्राप्तकर यदि केवल पार्थिव भोगमें ही इन सब शक्तियोंका क्षय किया जाय, तो यह चोरका कार्य होगा। इसी कारण साधनाके फल स्वरूप विभूति लाभ कर मत्त होने पर साधकका इहलोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। इसकी अपेक्षा सदाके लिए विभूतियोंसे वञ्चित रहना कहीं अच्छा है। बाह्य यज्ञ का उद्देश्य द्रव्यत्याग, व्रतका उद्देश्य भोगत्याग, तपस्याका उद्देश्य सुखत्याग और योगका उद्देश्य सबका त्याग है। सबके त्यागमें ही त्यागकी पराकाष्ठा है (महाभारत, शान्तिपर्व)। जो लोग योगसाधनासे केवल विभूति प्राप्तिकी बात मनमें रक्खे हुए हैं, आशा है इससे उनकी भ्रान्ति दूर हो जायगी ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

अन्वय—यज्ञशिष्टाशिनः (यज्ञावशेष भोजन करने वाले) सन्तः (साधु लोग) सर्वकिल्विषैः (सब पापोंसे) मुच्यन्ते (मुक्त हो जाते हैं); तु (परन्तु) ये पापाः (जो पापात्मा लोग) आत्मकारणात् (अपने ही लिए) पचन्ति (पाक करते हैं) ते (वे) अघं (पापको) भुञ्जते (भोजन करते हैं) ॥१३॥

श्रीधर—अतश्च यजन्त एव श्रेष्ठाः। नेतरा इत्याह - यज्ञशिष्टाशिन इति। वैश्वदेवादियज्ञावशिष्टं येऽश्नन्ति ते पञ्चसूनाकृतैः सर्वैः किल्विषैः मुच्यन्ते। पञ्चसूनाश्च स्मृतावुक्ताः— कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी। पञ्चसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न गच्छति। इति। ये त्वात्मनो भोजनार्थमेव पचन्ति न तु वैश्वदेवाद्यर्थं—ते पापा दुराचारा अघमेव भुञ्जते ॥१३॥

अनुवाद—[अतएव यज्ञकारी ही श्रेष्ठ हैं, अन्य नहीं—इसीसे कहते हैं]—जो लोग वैश्वदेवादि यज्ञका अवशिष्ट भोजन करते हैं, वे पञ्चसूनादिकृत सर्वपापसे मुक्त हो जाते हैं। [स्मृतिशास्त्रमें पञ्चसूना कहे गये हैं; जैसे—ओखल, जाँता, चूल्हा, जलकुम्भ और झाड़ू—गृहस्थके ये पञ्च 'सूना' अर्थात् बधसाधन-स्थान हैं। इन स्थानों पर कीटादि नष्ट होते हैं, इसके कारण गृहस्थ लोग स्वर्ग नहीं जा सकते। पञ्च यज्ञोंके अनुष्ठानके द्वारा इन पाँच पापोंकी निवृत्ति होती है। ["ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्तिर्न हापयेत् ॥" मनु०। वेदाध्ययन और सन्ध्योपासनादि 'ऋषियज्ञ' है। अग्निहोत्रादि 'देवयज्ञ' है। बलिवैश्वदेव 'भूतयज्ञ' है। अन्नादि द्वारा अतिथि-सत्कार 'नृयज्ञ' है। श्राद्धतर्पणादि 'पितृयज्ञ' है। धर्मात्मा शूद्रगण धर्मोपार्जनकी इच्छासे द्विजातियोंके आचार-व्यवहारका अमन्त्रक अनुष्ठान करें तो उसमें कोई दोष न लगेगा, बल्कि उससे प्रशंसा ही होगी। मनु० १० म अ०] जो लोग केवल अपने भोजनके लिए ही पाक करते हैं, वैश्वदेवादिके उद्देश्यसे नहीं करते, वे दुराचारी लोग पाप ही भोजन करते हैं ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहने पर ही सब पापोंसे मुक्त हो

जाता है—जो अपने लिए (अर्थात् शरीर पुष्टिके लिए अहङ्कारके सहित) भक्षण करते हैं, वे पाप भक्षण करते हैं।

—प्राणक्रिया या प्राणायाम ही यज्ञ है। प्राणक्रियाका साधन करते करते जब क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है—तो वहाँ ही यज्ञका अन्त हो जाता है। यज्ञके इस शेष भागको जो भोजन करते हैं या भोग करते हैं, वही हैं यज्ञावशेष-भोजी। जिनको यह प्राप्त है उन्हें पाप नहीं लगता। आत्मामें न रहकर विषयोंमें भ्रमण करनेसे ही मन पापयुक्त होता है। क्रियाकी परावस्थामें विषयभ्रमण नहीं होता, अतएव पाप भी नहीं रहता। निष्पाप होनेका यही उपाय है। यही प्रायश्चित अर्थात् चित्तकी क्षीणता है। अपानमें प्राणवायुका और प्राणमें अपानवायुका हवन ही प्राणायामरूप यज्ञ है। इस प्राणायामके द्वाराही चित्त शासित होता है और इन्द्रियादिकी बहिर्मुख वृत्ति अवरुद्ध होती है। प्राणापानके संघर्षके द्वारा अनवरत अग्नि उद्गारित होती है। ऐसा न होता तो शरीर ठंडा हो कर जीवनका अन्त हो जाता। इसी अग्निकुण्डमें विषयवासनाको होम करना होगा। उसके ही इन्धन स्वरूप अन्नपानादिको उसमें लगा देना होगा। उससे जो बल या पुष्टि होगी, उसके द्वारा ही साधन करनेकी शक्ति मिलेगी। यदि सारे भोगोंका ईंधन देकर प्राणको प्रज्वलित रक्खा जाता है, तथा उससे साधन-कार्यादि द्वारा दैवशक्ति सम्वर्द्धित नहीं की जाती तो अन्नपानादिरूप हवि भोगवासनादिरूप अग्निको प्रज्वलित कर डालेगा, और शरीर-मनको इन्धन बनाकर दग्ध कर डालेगा। इससे आत्मदर्शनकी प्राप्ति तो होगी ही नहीं, भोगका इन्धन प्रचुर परिमाणमें प्राप्त होकर अन्तमें देह, मन, बुद्धिको जलाकर परिशेषमें प्राणाग्निको भी निर्वापितकर देगा। यह भी एक प्रकारका यज्ञ है परन्तु यह अमन्त्रक है, अतएव देवताके उद्देश्यसे यह प्रेरित न होगा, इसके परिणाम स्वरूप आसुरी और राक्षसी शक्ति प्रादुर्भूत होकर नियम-रहित यज्ञ करने वालेको ध्वंस कर देगी। यह पाप है और पापका फल मृत्यु अवश्य ही प्राप्त होगी ॥१३॥

अन्नाद्‌ भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्‌ भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्वय—भूतानि (जीवगण) अन्नाद्‌ (अन्नसे) भवन्ति (उत्पन्न होते हैं) पर्जन्याद्‌ (मेघसे) अन्नसम्भवः (अन्नकी उत्पत्ति होती है); यज्ञात् (यज्ञसे) पर्जन्यः (मेघ या वृष्टि) भवति (होती है), यज्ञः (यज्ञ) कर्मसमुद्भवः (कर्मसे उत्पन्न होता है) ॥१४॥

श्रीधर—जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपि कर्म कर्त्तव्यमित्याह—अन्नादिति त्रिभिः। अन्नाच्छुक्रशोणितरूपेण परिणताद्भूतान्युत्पद्यन्ते। अन्नस्य च सम्भवः पर्जन्याद्वृष्टेः। स च पर्जन्यो यज्ञाद्भवति। स च यज्ञः कर्मसमुद्भवः। कर्मणा यजमानादिव्यापारेण सम्यङ् निष्पद्यत इत्यर्थः। "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" इति स्मृतेः ॥१४॥

अनुवाद—[जगत्-चक्रकी प्रवृत्तिका हेतु होनेके कारण भी कर्म कर्त्तव्य है यह तीन श्लोकोंमें बतलाते हैं]—अन्न शुक्रशोणितरूपमें परिणत होकर भूतगणको उत्पादन करता है। पर्जन्य या वृष्टिसे अन्नकी उत्पत्ति होती है। पर्जन्य होता है यज्ञसे और यज्ञ यजमानादि व्यापार द्वारा कर्मसे सम्पादित होता है। स्मृतिमें लिखा है—वैदिक अग्निमें प्रातः-सायङ्काल जो आहुति डाली जाती है वह आदित्यके समीप जाती है। आदित्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न, और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अन्वय—कर्म (कर्म) ब्रह्मोद्भवं (वेदसे उत्पन्न होता है); ब्रह्म (वेद) अक्षरसमुद्भवं (परमात्मासे उद्भूत) विद्धि (जानो); तस्मात् (अतएव) सर्वगतं ब्रह्म (सर्वत्र अवस्थित या सर्वार्थ-प्रकाशक) ब्रह्म (परब्रह्म) यज्ञे (यज्ञमें) नित्यं (सर्वदा) प्रतिष्ठितम् (प्रतिष्ठित रहते हैं) ॥१५॥

श्रीधर—तथा कर्मेति। तच्च यजमानादि-व्यापाररूपं कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि। ब्रह्म वेदः। तस्मात्प्रवृत्तं जानीहि। तच्च ब्रह्म वेदाख्यं अक्षरात् परब्रह्मणः समुद्भूतं जानीहि। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति श्रुतेः। यतः एवमक्षरादेव यज्ञप्रवृत्तेरत्यन्तमभिप्रेतो यज्ञः—तस्मात् सर्वगतमप्यक्षरं ब्रह्म नित्यं सर्वदा यज्ञे प्रतिष्ठितम्। यज्ञेनोपायभूतेन प्राप्यत इति यज्ञे प्रतिष्ठितमुच्यत इति। उद्यमस्था सदा लक्ष्मीरितिवत्। यद्वा यस्माज्जगचक्रस्य मूलं कर्म तस्मात् सर्वगतं मन्त्रार्थवादैः सर्वेषु सिद्धार्थप्रतिपादकेषु भूतार्थाख्यानादिषु गतं स्थितमपि वेदाख्यं ब्रह्म सर्वदा यज्ञे तात्पर्यरूपेण प्रतिष्ठितम्। अतो यज्ञादि कर्म कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥१५॥

अनुवाद—वह यजमानादि-व्यापाररूप कर्म 'ब्रह्म' अर्थात् वेदसे प्रवृत्त हुआ है। उस वेदाख्य ब्रह्मको अक्षर परब्रह्मसे समुद्भूत जानो। श्रुतिमें लिखा है—इस महत् नित्यसिद्ध परब्रह्मके निःश्वाससे अर्थात् बिना चेष्टाके स्वयमेव ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद निर्गत हुए हैं। यह अक्षर ब्रह्म सर्वगत होते हुए भी सर्वदा यज्ञमें प्रतिष्ठित है। अर्थात् यज्ञरूप उपाय द्वारा प्राप्य है। इसी कारण ब्रह्म यज्ञमें प्रतिष्ठित कहलाता है। जैसे कहा जाता है कि 'लक्ष्मी सदा उद्यममें स्थित है।' अथवा जगत्-चक्रका मूल ही कर्म है, इस कारण। ये यज्ञादि कर्म मन्त्रमूलक हैं। यज्ञादिके द्वारा ही जीवकी सर्वार्थ-सिद्धि होती है। और मन्त्रादि वेदमूलक हैं। वेद परब्रह्मके निःश्वास स्वरूप हैं, अतएव परब्रह्म सर्वगत होने पर भी तात्पर्यरूपसे सर्वदा यज्ञमें प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव यज्ञादि कर्म अवश्य कर्त्तव्य हैं ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्मसे सब भूत हुए हैं—वृष्टिद्वारा अन्न होता है, यज्ञके द्वारा मेघ होता है, यज्ञ कर्मसे होता है—इसलिए सबमें ब्रह्म है। ब्रह्म अक्षरसे हुआ है, इस कारण ब्रह्म यज्ञमें (सब कर्मोंमें) है।

—यह बड़ी ही रहस्यभरी बात है, इसमें समस्त सृष्टितत्त्व व्याख्यात हुआ है। लिङ्गपुराणकी व्याख्यामें लिखा है कि—"क्रियाकी परावस्थाके बिना संसारमें और कुछ हितकारी नहीं है। वह अभयदाता, विभु, पवित्र, महान्, नियत और नियताश्रय हैं। वह अपने आप होते हैं, सब कर्म वही बनते हैं, वह सबके आदि हैं। वही अभिवादन करने योग्य हैं। वह आत्मा ही महत् ब्रह्ममें लीन होकर महत् कर्म करते हैं अर्थात् सारे अलौकिक कर्मोंको करते हैं, इस कारण उनका नाम महाकर्म हुआ है। वह सर्वदा कूटस्थ ब्रह्ममें रहते हैं, वहीं रहनेके कारण सब भूतोंको धारण किये हुए हैं।" ब्रह्मसे यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है और उन्हींकी शक्तिसे इसका धारण हो रहा है और उनमें ही फिर सब लय हो जाता है। अविनाशी कबीरने गीतामें कहा है कि, "कालकी उत्पत्ति ॐकार स्वरूप शरीरसे होती है, तथा काल कालमें ही लय होता है। सब कालोंके काल महाकाल ब्रह्म परव्योम हैं, और वही महाकाश-चिदाकाश बनते हैं क्रियाकी परावस्थामें। वह शून्य महाकाश अनूप ब्रह्ममें रहता है। अनूप ब्रह्म है क्रियाकी परावस्था या चिदाकाश। क्रियाकी परावस्था ही निरञ्जन है, अर्थात् अत्यन्त शुद्ध और निर्मल है, उसमें कोई अंजन या दाग नहीं है। निरञ्जन रहते हैं सुषुम्नाके बीच, निरञ्जनकी उत्पत्ति अनिल या स्थिर वायुसे है।" अव्यक्त कूटस्थ ही अक्षर है। अक्षर ही परब्रह्म है—"अक्षरं ब्रह्म परमम्"—गीता। अविनाशी ब्रह्म चिदाकाश या क्रियाकी परावस्थासे ही कूटस्थ अक्षर होता है, इसका स्थान आज्ञाचक्र है। "तत् शुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तत् यदात्मविदो विदुः" यह आत्म-ज्योति ध्वनिके अन्तर्गत है अर्थात् ध्वनि भेद करनेके बाद ही इस ज्योतिमें पहुँचना होता है। यह ध्वनि ही शब्दब्रह्म, आकाश या व्योमतत्त्व है—इसका स्थान विशुद्ध-चक्र है। इस शब्दसे ही वायुतत्त्व या प्राण है, जो जगत्को धारण करता है—इसका स्थान हृदय या अनाहतचक्र है। यह प्राणवायु जीवके श्वासप्रश्वास रूपमें है, इसी कारण मनके साथ सारी इन्द्रियाँ सब कार्य सम्पादनमें समर्थ होती हैं। अतएव कर्मकी उत्पत्ति प्राणसे है और प्राण शब्दब्रह्म या आकाशसे उत्पन्न हुआ है। इस आकाशमें मनको लगानेसे साधक सर्वज्ञ बनता है। सर्वज्ञत्व ही वेदज्ञान है। इस प्राणकर्मसे शक्ति या तेजका विकास होता है, सारी क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं, यही मणिपूरस्थ तेजतत्त्व है। इसके न रहने पर हम कोई भी कार्य नहीं कर सकते, जड़वत् निश्चेष्ट हो जाते। इसी लिए यह क्रियाशक्ति फलोत्पादन करनेके कारण यज्ञरूपमें अभिहित होती है। इस यज्ञसे समस्त क्रियाशक्तिके परिचालनसे रस या आनन्द उत्पन्न होता है, यही स्वाधिष्ठान या रसतत्त्व है, यही कारणवारि है, इसके भीतर सारी शक्तियाँ निहित रहकर भविष्यमें फलोत्पादन करती हैं। स्थूल रूपमें यही शुक्र या सबका बीज है। कारणवारिमें जिस प्रकार नारायण शयन करते हैं उसी प्रकार शुक्रमें समस्त शक्तिबीजके साथ जीव सुप्त रहता है। रसके कारण इसको पर्जन्य कहते हैं। इस रसतत्त्व या बीजसे क्षितितत्त्व या मूलाधार उत्पन्न होता है। यही अन्नमय कोष या जीवका स्थूल शरीर है। इसको मूलाधार कहनेका कारण यह है कि सारे कर्म इस स्थूल या पिण्डदेहसे ही निष्पन्न होते हैं। जो जैसा

कर्म करता है, तदनुसार जीवके फिर उसी प्रकारके जन्म या भोग होते हैं। यह मूलाधारही मायाचक्र है, इस स्थानमें जगत्‌की प्राणरूपिणी महामाया योगनिद्राका अवलम्बन करके विराजमान हैं। इनके जाग्रत हुए बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसी कारण जब तक मूलाधारचक्र पर विजय नहीं प्राप्त होती तब तक पिण्डका अभिमान छूटने वाला नहीं है। यह स्थूल देह समस्त अज्ञान अथवा संसारका मूल है, तथा सब जीवोंकी उत्पत्ति यहींसे होती है। इस प्रकार अनुलोम-विलोम दृष्टिसे जाना जा सकता है कि एक ब्रह्म ही सर्वगत होकर सब कुछ होकर विराजमान है। परन्तु वह "नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्" क्यों है? यज्ञ है क्रियाशक्ति, इस यज्ञके स्वामी या यज्ञेश्वर हैं विष्णु, जो सबमें प्रविष्ट होकर स्थित हैं। इस प्राणयज्ञके दो भाव हैं—बाह्य और आन्तर। बाह्यभावमें है बाह्यक्रिया, संसार-वासना, जन्म-मृत्यु या सांसारिक लीला। तथा आन्तरभावमें, प्राण जब अन्तर्मुखी होता है तो वह प्राणक्रियाकी सहायतासे ही होता है। तब संसार असंसार हो जाता है, चाञ्चल्य स्थिरतामें मिल जाता है जन्ममृत्युके बदले चिरस्थिर कैवल्यपद उपस्थित हो जाता है। "सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये"। यही प्रसन्न होने पर वरदा होकर जीवकी मुक्तिका कारण बनती है। तब वह फिर महामाया नहीं रहतीं, महाविद्या हो जाती हैं। यह महाविद्या ही उनका अघोर रूप है और महामाया ही उनका घोर रूप है ॥१४-१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) एवं (इस प्रकार) प्रवर्तितं (प्रवर्तित) चक्रं (कर्मचक्रको) यः (जो) इह (इह लोकमें) न अनुवर्तयति (अनुवर्तन नहीं करता) सः (वह) अघायुः (पापायु) इन्द्रियारामः (इन्द्रिय-परायण) मोघं (व्यर्थ) जीवति (जीवन धारण करता है) ॥१६॥

श्रीधर—यस्मादेवं परमेश्वरेणैव भूतानां पुरुषार्थसिद्धये कर्मादिचक्रं प्रवर्तितं तस्मात्तदकुर्वतो वृथैव जीवितमित्याह—एवमिति। परमेश्वरवाक्यभूताद्वेदाख्यात् ब्रह्मणः पुरुषाणां कर्मणि प्रवृत्तिः। ततः कर्मनिष्पत्तिः। ततः पर्जन्यः। ततोऽन्नम्। ततो भूतानि। भूतानां च पुनस्तथैव कर्मप्रवृत्तिरिति। एवं प्रवर्तितं चक्रं यो नानुवर्तयति नानुतिष्ठति सोऽघायुः। अघं पापरूपमायुर्यस्य सः। यतः इन्द्रियैः विषयेष्वेवारमति। न त्वीश्वराराधनार्थे कर्मणि। अतो मोघं व्यर्थं स जीवति ॥१६॥

अनुवाद—[क्योंकि परमेश्वरने ही जीवके पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए कर्मादि चक्रका प्रवर्त्तन किया है, अतएव इस कर्मचक्रका जो अनुवर्तन नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है—इसलिए कहते हैं]—परमेश्वरके वाक्य स्वरूप वेदाख्य ब्रह्मसे पुरुषकी कर्ममें प्रवृत्ति होती है, उससे कर्म निष्पन्न होता है, उससे पर्जन्य, पर्जन्यसे अन्न, अन्नसे भूतगण, भूतगणसे फिर उसी प्रकार कर्मप्रवृत्ति। इस प्रकारके प्रवर्तित

चक्रका जो अनुवर्तन नहीं करता, अर्थात् कर्म नहीं करता वह पापायु और इन्द्रियाराम है अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा विषयोपभोग करता है। परन्तु ईश्वराराधनार्थ कर्म नहीं करता, अतएव वह व्यर्थ जीवन धारण करता है ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकारका चक्र है, इसमें जो नहीं रहता, और इन्द्रियोंके निमित्त सब कर्म करता है उसका जीवन वृथा है।

—पूर्व श्लोकमें इस कर्मचक्रका वर्णन किया गया है। आज्ञाचक्रसे नीचे एक एक सीढ़ी उतरते उतरते मूलाधार पर्यन्त कर्मचक्र छ हैं। विशुद्धसत्त्व परब्रह्म (परावस्था) उतरते उतरते स्थूल होते होते मूलाधारमें आकर एकबारगी स्थूलतम हो गया है (शरीरमें ॐकार रूप देखो)। विदेहसे स्थूल देह, अवाच्य अवस्थासे जाग्रत, निःशब्दसे वाक्वैखरी, कूटस्थ (परशिव) से ब्रह्मा, निरञ्जनसे क्षिति, पर व्योमसे विष्ठा, ब्रह्मरन्ध्रसे गुह्यद्वार, आज्ञासे मूलाधार, "अनुभव विन्दुसे' 'तारक' अवरुद्ध रूपसे ह्रस्व मात्रा, 'निराकार' से 'सद्योजात', 'सोऽहं ब्रह्मसे' स्थूल शरीर साढ़े तीन हाथ—क्रमविकाशको प्राप्त होते होते एकबारगी स्थूल भूतमें पहुँच जाता है। इस समय स्थूल शरीरको छोड़कर और किसी वस्तुका बोध नहीं होता। फिर स्वरूपमें पहुँचनेके लिए मूलको पकड़कर (मूलाधारसे) शीर्ष (आज्ञाचक्र) पर्यन्त जाना पड़ेगा। इस प्रकार बारम्बार अनुलोम-विलोम यातायात करते करते मूलाधार-स्थित सुप्त शक्ति चैतन्य होगी और तब वह पीछेकी ओर अनुवर्तन करके परम शिवके साथ युक्त हो जायगी। इस प्रकार क्रियाकी परावस्था या विदेह मुक्तिकी अवस्था प्राप्त होगी।

"यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वञ्च समाधिरभिधीयते ॥
प्राणवृत्तौ विलीनायां मनोवृत्तिर्विलीयते।
शिवशक्तिसमायोगो हठयोगेन जायते ॥"

प्राणके चाञ्चल्यके दूर होने और मनके प्रलीन होने पर जो समरसभाव होता है, वही समाधि है। हठयोगकी चन्द्र और सूर्य नाड़ीकी क्रिया (श्वास-प्रश्वास क्रिया) द्वारा प्राणवृत्तिके विलीन होने पर मनोवृत्तियाँ (सङ्कल्पविकल्प) विलीन हो जाती हैं, तत्पश्चात् सहस्रारमें स्थित शिवके साथ मूलाधारमें स्थित शक्तिका संयेग सम्पादित होता है।

"अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
तस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥"

अजपा ही मोक्षदायिनी गायत्री है, उसका सङ्कल्प अर्थात् प्रारम्भ करने पर भी सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं।

यह अनुवर्तन जो नहीं करता, वह अघायु है अर्थात् नाना प्रकारके पाप-संकलपमें उसकी आयुका क्षय हो जाता है। मनकी स्थिरताका कौशल जानकर उसमें सचेष्ट न होनेसे इन्द्रियाराम बनना पड़ता है। केवल इन्द्रियभोगके लिए आकुल

होकर जो जीवनमें "आबाद करले फलतो सोना"—अर्थात् शरीर आबाद करनेसे सोना फलता, वह न होकर अनित्य विषयभोगमें जीवन का क्षय हो जाता है। इस प्रकारके जीवन और विषयभोगको धिक्कार है ॥१६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ॥
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

अन्वय—तु (किन्तु) यः (जो) मानवः (मनुष्य) आत्मरतिः एव (आत्मामें रत) आत्मतृप्तः च (और आत्मामें ही तृप्त) आत्मनि एव (एक मात्र आत्मामें ही) च सन्तुष्टः (सन्तुष्ट) स्यात् (रहते हैं) तस्य (उनका) कार्यं (कर्त्तव्य कर्म) न विद्यते (नहीं रहता) ॥१७॥

श्रीधर—तदेवं न कर्मणामनारम्भादित्यादिनाऽज्ञस्यान्तःकरणशुद्ध्यर्थं कर्मयोगमुक्त्वा ज्ञानिनः कर्मानुपयोगमाह—यस्त्विति द्वाभ्याम्। आत्मन्येव रतिः प्रीतिर्यस्य सः। ततश्चात्मन्येव तृप्तः स्वानन्दानुभवेन निर्वृतः। अतएवात्मन्येव सन्तुष्टो भोगापेक्षारहितो यस्तस्य कर्त्तव्यं कर्म नास्तीति ॥१७॥

अनुवाद—[कर्मानुष्ठान किये बिना कोई नैष्कर्म्य या ज्ञानकी प्राप्ति नहीं कर सकता, इसी कारण अज्ञकी चित्तशुद्धिके लिए कर्मयोग कहकर, दो श्लोकोंमें कर्ममें ज्ञानीका अनुपयोग या अप्रयोजन कहते हैं]—जिनकी आत्मामें ही प्रीति है, जो आत्मतृप्त हैं अर्थात् स्वानन्दानुभवके द्वारा प्रसन्न अतएव आत्मामें सन्तुष्ट हैं (सन्तोष प्राप्तिके लिए आत्मासे बहिर्भूत किसी वस्तुका प्रयोजन जिनको नहीं होता) अर्थात् जिनको भोगोंकी अपेक्षा नहीं, उनको फिर कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं रह जाता ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं रह जाता।

—जब तक पुरुषको आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता, तथा उसमें सम्पूर्ण स्थिति नहीं हो जाती, तब तक क्रियाकी आवश्यकता है, और उसको जिस प्रकारके कर्म करनेकी आवश्यकता है उसी प्रकारके कर्मचक्रका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—देखो, कहीं तुम ऐसा मनमें न सोच लेना कि आजीवन तथा जन्मजन्मान्तर तक इस प्रकार क्रिया करना आवश्यक हो जायगा और कर्मका प्रवाह नहीं रुकेगा। क्रिया तभी तक करनी पड़ती है जब तक क्रियाकी परावस्था नहीं प्राप्त हो जाती, तथा उसमें स्थिति-लाभ नहीं होता। जिसकी क्रियाकी परावस्था खूब जम गयी है (ज्ञान या अपरोक्षानुभूति हो गयी है) और उसके भङ्ग होनेकी किसी प्रकारसे कोई संभावना नहीं है, उसको तब क्रिया करनेकी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि जिसके लिए क्रिया की जाती है उसको वह प्राप्त है। मनुष्य-जीवनके लिए जो चरम सार्थकता है वह प्राप्त हो गयी है। उसके प्राणकी गति सुषुम्नावाहिनी हो गयी है और वह आत्माराम हो गया है, उसकी दृष्टि अब विषयोंमें नहीं है, अतएव विषयोंका आहरण करनेवाली इन्द्रियोंके कर्ममें उसका कोई प्रयोजन नहीं। "आत्मक्रीड़ आत्मरतिः

क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" (मुण्डक)। आत्मामें ही जिनकी क्रीड़ा है, आत्मामें ही जिनकी रति है, जिन्होंने साधन-क्रियामें रत होकर साधनाका फल शान्ति प्राप्त की है वही वरिष्ठ ब्रह्मवेत्ता हैं ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

अन्वय—इह (इस लोकमें) तस्य (उसका) कृतेन (कर्मानुष्ठानसे) कश्चित् (कोई) अर्थः (प्रयोजन या पुण्य) न एव (नहीं है), अकृतेन च (कर्म न करनेसे भी) कश्चन (कोई) न (प्रत्यवाय—नहीं है); सर्वभूतेषु (सब प्राणियोंमें) अस्य (इसका) कश्चित् (कोई) अर्थव्यपाश्रयः (प्रयोजन-सम्बन्ध भी) न (नहीं है) ॥१८॥

श्रीधर—अत्र हेतुमाह—नैवेति। कृतेन कर्मणा तस्यार्थः पुण्यं नैवास्ति। न चाकृतेन कश्चन कोऽपि प्रत्यवायोऽस्ति। निरहङ्कारत्वेन विधिनिषेधातीतत्वात्। तथापि—तस्मात्तदेषां न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुरिति श्रुतेर्मोक्षे देवकृतविघ्नसंभवात् तत्परिहारार्थं कर्मभिर्देवाः सेव्या इत्याशङ्क्योक्तं सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु न कश्चिदप्यर्थव्यपाश्रयः। आश्रय एव व्यपाश्रयः अर्थे मोक्षे आश्रयणीयोऽस्य नास्तीत्यर्थः। विघ्नाभावस्य श्रुत्यैवोक्तत्वात्। तथा च श्रुतिः—तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवतीति। हनेत्यव्ययमप्यर्थे। देवा अपि तस्यात्मतत्त्वज्ञस्याभूत्यै ब्रह्मभावप्रतिबन्धाय नेशते न शक्नुवन्तीति श्रुतेरर्थः। देवकृतास्तु विघ्नाः सम्यग् ज्ञानोत्पत्तेः प्रागेव। यदेतद्ब्रह्म मनुष्या विदुस्तदेषां देवानां न प्रियमिति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्यैवाप्रियत्वोक्त्या तत्रैव विघ्नकर्तृत्वस्य सूचितत्वात् ॥१८॥

अनुवाद—[इसके लिए हेतु प्रदान करते हैं]—इस लोकमें कृत कर्म द्वारा उन्हें पुण्य नहीं होता, कर्मके न करनेसे भी कोई प्रत्यवाय नहीं होता। क्योंकि वह निरहङ्कार तथा विधिनिषेधके अतीत हैं। तथापि श्रुतिमें लिखा है कि "मनुष्य ब्रह्मको जाने, यह देवताओंको पसन्द नहीं; अतएव मोक्षविषयमें देवकृत विघ्नकी संभावना होती है, उस विघ्नके परिहारके लिए कर्मद्वारा देवताओंकी सेवा होनी चाहिए—यदि कोई ऐसी आशङ्का करे तो उसको दूर करते हुए कहते हैं—मोक्षके लिए ब्रह्मासे स्थावरपर्यन्त किसीका आश्रय नहीं लेना पड़ता। श्रुतिमें इस प्रकारका विघ्नाभाव कहा गया है। श्रुतिमें है कि आत्मतत्त्वज्ञ पुरुषकी भूति अर्थात् ब्रह्मभावको प्रतिबद्ध करनेमें देवता भी समर्थ नहीं होते। सम्यग् ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व देवकृत विघ्नादि घटित होते हैं ॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वह मन्द कर्म करते हुए या कुछ न करते हुए सब भूतोंमें रहकर कुछ भी नहीं करता है।

—जो आत्माराम या मुक्त पुरुष हैं उन्हें अपने लिए किसी भी (लौकिक या पारलौकिक) क्रियादिका कोई प्रयोजन नहीं होता। जिस प्रकार परमात्मा सब भूतोंमें अवस्थित हैं उसी प्रकार वह भी सब भूतोंमें अवस्थित हैं। परन्तु सारे

भूत तो ब्रह्मध्यानमें मग्न नहीं होते, इसलिए वह जब सब भूतोंमें हैं तो उनके द्वारा कृत शुभाशुभ कर्मोंकी आँच उन्हें लगनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। आकाशके सर्वत्र व्याप्त होने पर भी, जैसे वस्तुके गुण-दोष उसे स्पर्श नहीं करते, उसी प्रकार जो साधक आकाश रूप हो गये हैं उनके सर्वभूतस्थ होने पर भी सब भूतोंके कार्याकार्य उन्हें स्पर्श नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जिनकी बुद्धि ब्रह्मभावमयी है, उनमें फिर अपना अहङ्कार कहाँ से टिकेगा? जिसको अहङ्कार नहीं है उसको कर्मफल कहाँ से होगा? इसके अतिरिक्त अद्वैत ब्रह्मविज्ञानसे आभासित होने पर उसके द्वारा कृतकर्म उसे नहीं लगते, 'मैं' का अभिमान न रहने पर बन्धन किसको लगेगा? क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्मज्ञानमें 'मैंपन' का ज्ञान लुप्त हो जाता है। सप्त ज्ञानभूमिकाओंमें चतुर्थ भूमिकासे साधककी स्वस्वरूपमें स्थिति होती है। वहाँ न तो कुछ प्राप्त करना रहता है, और न कुछ खोना। यही क्रियाकी परावस्थाका निश्चिन्त भाव है। इस अवस्थामें सदा आत्मज्ञान स्फुरित होता है, अतएव इसमें अन्यान्य साधनोंके अङ्गभूत क्रियाओंके करनेकी आवश्यकता नहीं होती। इस अवस्थामें स्थित योगीको किसी दैवी विघ्नादिके होनेकी भी संभावना नहीं रहती; सारे विघ्न क्रियाकी परावस्थाके घनीभूत होनेके पूर्व ही घटते हैं ॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

अन्वय—तस्मात् (इसलिए) असक्तः (आसक्तिशून्य होकर) सततं (सर्वदा) कार्यं (कर्त्तव्य) कर्म (कर्मको) समाचर (सम्पादन करो); हि (क्योंकि) पूरुषः (मनुष्य) असक्तः (आसक्तिशून्य होकर) कर्म आचरन् (कर्म करने पर) परम् आप्नोति (परमपदको पाता है) ॥१९॥

श्रीधर—यस्मादेवंभूतस्य ज्ञानिन एव कर्मानुपयोगो नान्यस्य तस्मात्त्वं कर्म कुर्वित्याह—तस्मादिति। असक्तः फलसङ्गरहितः सन् कार्यमवश्यकर्त्तव्यतया विहितं नित्य-नैमित्तिकं कर्म सम्यगाचर। हि यस्मादसक्तः कर्माचरन् पूरुषः परं मोक्षं चित्तशुद्धिज्ञानद्वारा प्राप्नोति ॥१९॥

अनुवाद—[क्योंकि इस प्रकारके ज्ञानीको कर्मकी आवश्यकता नहीं होती, परन्तु अन्य लोगोंको होती है। (और तुम उस प्रकारके ज्ञानी नहीं हो) अतएव तुम कर्म करो—इसलिए कहते हैं]—फलासक्तिरहित होकर अवश्य कर्त्तव्य विहित नित्यनैमित्तिक कर्मोंका सम्यक् आचरण करो। क्योंकि आसक्तिशून्य होकर कर्म करने पर पुरुष चित्तशुद्धि पूर्वक ज्ञानके द्वारा मोक्षको प्राप्त करता है ॥१९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकाङ्क्षारहित क्रिया करने पर परम पुरुषको पाता है।

—क्रिया करनी पड़ेगी और वह भी फलकांक्षारहित होकर ही करनी होगी। फलाकांक्षा करनेका अभ्यास हम लोगोंको बहुत अधिक है। देहमें अभिमान और विषयोंमें अत्यन्त आसक्तिके कारण ही ऐसा होता है। क्रिया करते हुए भी हममेंसे बहुतेरे फलकी आकांक्षा करते हैं। शरीर ठीक रहेगा, अधिक दिन जियेंगे, इसके सिवा क्रिया करते हुए अनेक अद्भुत् दर्शन-श्रवण होंगे—वे आकांक्षाएँ क्रियावानोंको हुआ करती हैं। इसके लिए यहाँ थोड़ा विचार करना है। शब्द स्पर्श रूप रस गन्धके लोभमें तो अनेक जन्म कट गये, अब भी इन सब वस्तुओंकी मायाके जालको क्या हम नहीं काट सकेंगे? परन्तु जिस प्रकार लाखों लाखों जन्म इन सब विषयोंकी सेवामें अतिवाहित हुए हैं क्या इस बार क्रिया पाकर और क्रिया-साधन करके भी उस गर्भयातनाको मिटानेकी चेष्टा हम नहीं करेंगे? इस बार भी क्या मोहकूपमें पड़े पड़े केवल विषयमल ही हम भक्षण करेंगे? श्येन पक्षीके समान सूखे मांसके लोभमें क्या हम इस अमूल्य जीवनको जाने देंगे? कबीरने कहा है—

"सहकामी सुमिरन करे पावे ऊँचा धाम।
निहकामी सुमिरन करे पावे अविचल राम॥"

सकाम पुरुष भगवद्भजनके द्वारा सारे उच्च धामोंको प्राप्त करते हैं, परन्तु निष्काम पुरुष 'अविचल राम' अर्थात् चिर स्थिर चिर सुन्दर जन्ममरणरहित अव्यय परमात्मामें प्रविष्ट होकर दुःखके आस्पद इस संसारको पार कर जाते हैं। निष्काम भावसे साधना करने पर थोड़े ही प्रयत्नसे क्रियाकी परावस्था प्राप्त हो जाती है, क्रियाकी परावस्था उत्तम होने पर ही परम पुरुषमें प्रवेश प्राप्त होता है। क्रियाकी परावस्था ही परम पद है, मनुष्यजीवन प्राप्त कर सबके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस परम पदकी प्राप्तिके लिए पूर्ण प्रयत्न करे।

गुरु, कृष्ण, साधुर तिनेर दया हइल।
आपनार दया बिना जीव छारे खारे गेल॥

अर्थात् गुरु, कृष्ण और साधु इन तीनोंकी दया तो हुई, परन्तु अपनी दयाके बिना जीव नष्ट-भ्रष्ट हो गया। यह अधःपात जिससे न हो, इसलिए सबको अपने प्रति दया करके क्रिया करनी चाहिए॥१६॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि॥२०॥

अन्वय—हि (क्योंकि) जनकादयः (जनकादि ज्ञानीगण) कर्मणा एव (कर्मके द्वारा ही) संसिद्धिं (सम्यक् सिद्धि या ज्ञानको) आस्थिताः (प्राप्त हुए हैं); लोकसंग्रहम् एव अपि (लोक-संग्रहकी ओर अर्थात् लोगोंको स्वधर्ममें प्रवर्तित करनेके प्रति) संपश्यन् (दृष्टि रखकर) कर्तुम् अर्हसि (कर्म करना तुम्हारा कर्त्तव्य है)॥२०॥

श्रीधर—अत्र सदाचारं प्रमाणयति—कर्मणैवेति। कर्मणैव शुद्धसत्त्वाः सन्तः संसिद्धिं सम्यग्ज्ञानं प्राप्ता इत्यर्थः। यद्यपि त्वं सम्यग्ज्ञानिनमेवात्मानं मन्यसे तथापि कर्माचरणं

भद्रमेवेत्याह—लोकसंग्रहमित्यादि। लोकस्य संग्रहः स्वधर्मे प्रवर्तनं मया कर्मणि कृते जनः सर्वोऽपि करिष्यति। अन्यथा ज्ञानिदृष्टान्तेनाज्ञो निजधर्मे नित्यं कर्म त्यजन् पतेत्। इत्येवं लोकरक्षणमपि तावत् प्रयोजनं संपश्यन् कर्म कर्तुमेवार्हसि। न तु त्यक्तुमित्यर्थः ॥२०॥

अनुवाद—[इस विषयमें साधु लोगोंका सदाचार प्रमाण रूपमें दिखलाते हैं]—जनकादि ज्ञानी लोगोंने कर्मके द्वारा शुद्धसत्त्व होकर सम्यग् ज्ञान प्राप्त किया था। यद्यपि तुम अपनेको सम्यग् ज्ञानी भी समझते हो तथापि कर्माचरण ही मङ्गल-जनक है, इसीसे कहते हैं कि—लोगोंको स्वधर्ममें प्रवर्तित करनेके लिए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए—यह सोचकर कि मेरे कर्म करनेसे सब लोग कर्म करेंगे, नहीं तो ज्ञानीका दृष्टान्त देखकर अज्ञ लोग अपने धर्म नित्यकर्मका त्याग कर पतित हो जायँगे। इस प्रकार लोक-रक्षा प्रयोजन समझकर भी तुम्हें कर्मानुष्ठान करना चाहिए, कर्मत्याग तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है ॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जनकादि ऋषियोंने कर्म किया है—इसलिए लोक-यात्राके निर्वाहके लिए फलाकाङ्क्षारहित होकर सबके लिए कर्म कर्त्तव्य है।

—ज्ञानी पुरुष क्रिया न करें तो भी उनकी कोई क्षति नहीं होती। क्योंकि उन्होंने अचल स्थान प्राप्त किया है। इस प्रकारके आत्माराम मस्त(उन्नत)पुरुषोंको भी क्रिया करनी पड़ती है, परन्तु अपने लिए नहीं—कहीं पीछे अज्ञ देहाभिमानी पुरुष उनका दृष्टान्त देखकर सारे क्रिया-कर्म छोड़कर ज्ञानीका बाना न धारण कर लें। ज्ञानीको तो क्रिया छोड़नेसे कुछ आता-जाता नहीं, परन्तु अज्ञानियोंकी इससे बहुत क्षति होगी। अतएव वे भ्रान्तिमें न पड़ें, अतः उनको लगाये रखनेके लिए भी साधु लोगोंको नित्य नियमित कर्म करना पड़ता है। कर्म करके चित्त शुद्ध होने पर मनमें मैल या विषयासक्ति नहीं जमती, तभी प्रकृत ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानोत्पत्तिके साथ साथ "अहं-ममाकारादि" अज्ञान-तम दूर हो जाता है। अतएव क्रिया करके जिसमें अज्ञ लोगोंका कल्याण हो, ऐसा उपाय ज्ञानी लोगोंको करना चाहिए। इसके अतिरिक्त तुम ब्राह्मण या ब्रह्मज्ञ नहीं हो, तुम क्षत्रिय हो, युद्ध या क्रिया करना, तथा उसके द्वारा काम-क्रोधादि रिपुओंको अपने वशमें लाना ही तुम्हारा स्वधर्म है। जो जनक विदेह मुक्ति प्राप्त करके विदेहराज बने थे उन्हें भी शुद्ध बुद्धरूपा सीता अर्थात् शुभ्र ज्योतिको प्राप्त करना पड़ा था। कहाँ से उन्होंने सीताको प्राप्त किया था? क्षेत्रमें हल चलाकर,—अर्थात् देहरूप भूमिमें प्राणायामादि साधन करके उन्होंने अपनी देहा-तीत 'विदेह' अवस्था प्राप्त की थी। उन्होंने क्रिया करके ही सिद्धि प्राप्त की थी। अतएव तुम्हारे लिए भी कर्म करना आवश्यक है। किस प्रकार कर्म करना होगा? "लोकसंग्रहं संपश्यन्" सारे लोग जिससे संग्रहीत हो। जो लोग क्रिया न करके ज्ञानीका बाना धारण करते हैं और लोगोंको केवल ज्ञानकी बातें सुनाते हैं उनका लोक-संग्रह नहीं होता। लोगोंको शिक्षा देनेके लिए अपनी तैयारी करनी पड़ती है। स्वयं कर्म न करके केवल वचन द्वारा लोक-शिक्षा न होगी। कामसे जी चुराकर कोई काम पूरा नहीं किया जा सकता। अतएव यथार्थ योगी बननेके लिए परिश्रम करना होगा। लोक-संग्रहका

एक और निगूढ़ अर्थ है, वह भी जानना आवश्यक है—भूलोकादि सत्यलोक पर्यन्त सप्त लोकोंको एक कर डालना होगा—मूलाधारसे सहस्रार पर्यन्त एक कर डालना होगा। एक लोकको दूसरे लोकमें मिलाना होगा। एक एक लोक अपने अगले लोकोंमें लय होते होते एकबारगी सहस्रारमें पहुँचेंगे तो पूर्णाहुति हो जायगी। जिन्होंने यह अन्तिम आहुति दी वही तो विदेहराज हैं। ब्रह्मवेधिनी स्वच्छबुद्धि सीता ही तो उनकी कन्या होती है। इसी अवस्थाको लक्ष्यमें रखकर, हे साधक! तुम्हें क्रिया करते जाना है। निदिध्यासन छोड़नेसे काम न चलेगा ॥२०॥

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

अन्वय—श्रेष्ठः जनः (श्रेष्ठ आदमी) यत् यत् (जो जो) आचरति (आचरण करते हैं) इतरः जनः (दूसरे साधारण लोग) तत् तत् एव (उस उस कार्य को ही करते हैं) सः (वह श्रेष्ठ आदमी) यत् (जो) प्रमाणं कुरुते (प्रमाण मानते हैं या निश्चय करते हैं) लोकः (सब लोग) तत् (उसका ही) अनुवर्तते (अनुसरण करते हैं) ॥२१॥

श्रीधर—कर्मकरणे लोकसंग्रहो यथा स्यात्तदाह—यदिति। इतरः प्राकृतोऽपि जनस्तत्तदेवाचरति। स श्रेष्ठो जनः कर्मशास्त्रं तन्निवृत्तिशास्त्रं वा यत् प्रमाणं मन्यते तदेव लोकोऽप्यनुसरति ॥२१॥

अनुवाद—[कर्म करनेसे जिस प्रकार लोकसंग्रह होता है—उसे ही कहते हैं]—श्रेष्ठ आदमी जो जो करते हैं साधारण लोग भी वही करते हैं। श्रेष्ठ आदमी कर्मशास्त्र या निवृत्तिशास्त्र जिसे प्रमाण मानते हैं, लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं ॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अच्छे लोग जिस प्रकार आचरण करते हैं, उसी प्रमाणमें छोटे लोग भी उनके पीछे पीछे चलते हैं।

—एक अच्छे आदमी जो आचरण करते हैं, दूसरे साधारण लोग बिना विचारे उसे ही ग्रहण करते हैं, इसलिए श्रेष्ठ आदमी साधारण पुरुषके लिए दृष्टान्त स्वरूप होते हैं, यह समझकर उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्यमें विशेष सावधानीकी आवश्यकता है। अपने भीतर ही इसका प्रमाण देखो। देहेन्द्रियादिके बीच मन ही सर्वश्रेष्ठ है। ये सभी उत्पन्न होनेके कारण 'जन' कहला सकते हैं। इन सबमें मन ही श्रेष्ठ है। यह मन जिस भावसे चिन्तन करता है, सारी इन्द्रियाँ उसी ओर दौड़ पड़ती हैं। मन यदि भगवान्‌की ओर दौड़ता है तो सारी इन्द्रियाँ उसी समय भगवान्‌के कार्यमें लग जायँगी, मन यदि विषयकी ओर दौड़ेगा तो सारी इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर दौड़ पड़ेंगी। इसलिए मनको यदि ठीक भगवत्स्मरणमें लगा दिया जाय तो इन्द्रियाँ भी उसके पीछे पीछे चल पड़ेंगी। इसलिए क्रियामें मनके लग जाने पर इन्द्रियाँ उपद्रव नहीं कर सकतीं। मन जो राजा है, प्रधान व्यक्ति है, वह यदि

क्रियाकी परावस्थामें स्थिर हो जाता है तो अन्यान्य इन्द्रियाँ भी मनके साथ स्थिर हो जायँगी। योगदर्शनमें मधुमक्षिकाकी रानीके दृष्टान्तसे इसे समझाया गया है॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) त्रिषु लोकेषु (तीनों लोकोंमें) मे (मेरा) किञ्चन (कुछ भी) कर्त्तव्यं (कर्त्तव्य) नास्ति (नहीं है), अनवाप्तम् (अप्राप्त) अवाप्तव्यम् (प्राप्त करने योग्य) न (नहीं है) च अहं (तथापि मैं) कर्मणि (कर्ममें) वर्ते एव (लगा ही रहता हूँ) ॥२२॥

श्रीधर—अत्र चाहमेव दृष्टान्तः इत्याह—न मे इति त्रिभिः। हे पार्थ मे कर्त्तव्यं नास्ति। यतस्त्रिष्वपि लोकेष्वनवाप्तमप्राप्तं सदवाप्तव्यं प्राप्यं नास्ति। तथापि कर्मणि वर्त एव। कर्म करोम्येवेत्यर्थः ॥२२॥

अनुवाद—[इस विषयमें मैं ही दृष्टान्त हूँ, यह तीन श्लोकोंमें कहते हैं]—हे पार्थ! मेरे लिए कर्त्तव्य कुछ नहीं है। क्योंकि तीनों लोकोंमें मेरे लिए अप्राप्त या अप्राप्य कुछ भी नहीं है। तथापि मैं कर्म करता हूँ ॥२२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कुछ भी करना नहीं है। प्राप्ति होने पर प्राप्तिकी इच्छा नहीं रहती, परन्तु कर्म न करके रहनेका उपाय नहीं है।

—क्रियाकी परावस्थामें देखा जाता है कि मनुष्यको कुछ करनेके लिए नहीं रहता। जो स्वयं परावस्था या ज्ञानस्वरूप हैं, जहाँ सारे कर्मोंका प्रविलय हो जाता है वहाँ फिर कर्त्तव्य क्या रहेगा? हम बद्ध जीव हैं, हमको ज्ञान नहीं है, अतएव हमको वही करना आवश्यक है जिससे ज्ञान प्राप्त हो। क्योंकि इसके बिना त्रितापकी ज्वाला दूर न होगी। और जिसने साधनके द्वारा यह अवस्था प्राप्त की है उनकी इच्छारहित अवस्था होती है। अतएव उस समय प्राप्तिकी इच्छा भी मिट जाती है, सुतरां वह मुक्ति भी प्राप्त करना नहीं चाहते। तब चाहेगा कौन? जो कुछ चाहना है वही तो वह हो गये हैं। तुलसीदास कहते हैं—"जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई।" जो तुमको जानता है वह तब तुम ही बन जाता है। परन्तु फिर भी कर्म किये बिना कोई नहीं रह सकता। इसका कारण क्या है? जब तक स्थूल देहमें अभिमान है तब तक चाहे जितने कर्म किये जायँ, न उनका अन्त है न विराम। जब क्रिया करते हुए हम स्थिर होनेकी चेष्टा करते हैं तब बाहरकी क्रिया नहीं रहती, श्वास-प्रश्वासकी गति सूक्ष्म हो जाती है, परन्तु उस समय भी सूक्ष्मभावसे श्वासकी गति रहती है, क्रियाकी परावस्थामें जब प्राण सुषुम्नाके अन्तर्गत होता है, तब भी अति सूक्ष्मभावसे उसकी क्रिया चलती है। देह रहते हुए देहातीत अवस्था प्राप्त करने पर भी इसका कार्य एकबारगी समाप्त नहीं होता। क्योंकि यदि प्राण एकबारगी न रहे, तो यह जगद्-व्यापार कैसे रहे, रह भी नहीं सकता। परन्तु इस अवस्थामें भी सुषुम्ना रहती है, वह नष्ट नहीं होती, इसी कारण बाहर जगद्-व्यापार रहित होने पर भी, प्राण

सूक्ष्मतम भावसे क्रियाशील रहता है। यदि यह क्रियाशीलता न रहे तो कौन जीवन्मुक्त अवस्थामें पहुँचायेगा ? और वहाँ से मुक्तात्मा जगत्का काम करनेके लिए आवेंगे किस प्रकार ? गम्भीर निद्रामें हमारी स्थूल इन्द्रियाँ और सूक्ष्म इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि आदि सभी जब प्रसुप्त हो जाते हैं तब प्राणके रहनेके कारण ही हम पुनः जाग उठते हैं। प्राणके सूक्ष्मतम गतिसूत्रमें उसका कार्य चलेगा ही। प्राण ही परमात्माकी क्रियाशक्ति है। अतएव उनका प्राप्तव्य कुछ न रहने पर भी, उनकी क्रियाशक्तिकी क्रिया बन्द नहीं होती। उनका मनन नहीं रहता, अभिनिवेश नहीं रहता, संस्कार नहीं रहता, तथापि सूक्ष्मभावसे प्राण क्रिया चलती है। प्राण-क्रियाके बन्द होने पर ब्रह्मसे लेकर स्तम्बपर्यन्त सब विलुप्त हो जाता है। लीलाका अवसान हो जाता है ॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) यदि हि अहं (यदि मैं) जातु (कदाचित्) अतन्द्रितः (अनलस होकर) कर्मणि (कर्ममें) न वर्तेयं (प्रवृत्त न हूँ) [तो] मनुष्याः (सारे मनुष्य) मम वर्त्म (मेरा मार्ग) सर्वशः (सब प्रकारसे) अनुवर्तन्ते (अनुवर्तन करेंगे) ॥२३॥

श्रीधर—अकरणे लोकस्य नाशं दर्शयति—यदि ह्यहमिति। जातु कदाचित् अतन्द्रितोऽनलसः सन् यदि कर्मणि न वर्तेयं कर्म नानुतिष्ठेयम्। तर्हि ममैव वर्त्म मार्गं मनुष्या अनुवर्तन्ते अनुवर्तेरन्नित्यर्थः ॥२३॥

अनुवाद—[कर्म न करनेसे लोकनाश होगा, यही दिखलाते हैं]—हे पार्थ ! यदि कदाचित् अनलस होकर मैं कर्मका अनुष्ठान न करूँ, तो लोग निश्चय ही मेरे मार्गका अनुवर्तन या अनुसरण करेंगे ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—चाहे कोई कुछ भी करे, मेरे ही रास्ते चलता है।

—कोई चाहे कुछ भी करे, प्राणशक्तिको अलग करके कोई कुछ कर नहीं सकता। जब इड़ामें श्वास चलता है तब कर्ममें खूब प्रवृत्ति होती है, और पिङ्गलामें श्वास चलनेसे तन्द्रा-आलस्य बढ़ता है। सुषुम्नामें प्राणके चलने पर सात्त्विक भाव, ज्ञानादिकी उत्पत्ति होती है। यह एकही प्राण कभी इड़ा, कभी पिङ्गला और कभी सुषुम्ना वाहिनी बनता है। तदनुसार जीवकी प्रवृत्ति भी होती है। अतएव कोई चाहे जो कुछ करे, भला या बुरा सब कुछ उनकी ही शक्तिके खेल हैं। यदि भगवान्की यह क्रियाशक्ति प्राण-प्रवाह कभी निरुद्ध हो जाय, तो उसके साथ ही सब लोकोंकी कार्यशक्ति लुप्त हो जायगी। कार्यशक्तिके लुप्त होने पर इस जगत्का अस्तित्वभी न रहेगा ॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

अन्वय—चेत् (यदि) अहं (मैं) कर्म न कुर्याम् (कर्म न करूँ) [तो] इमे (ये) लोकाः (सारे लोक) उत्सीदेयुः (उत्सन्न हो जायँगे); [तब मैं] सङ्करस्य (वर्णसङ्करका) कर्त्ता स्याम् (कर्त्ता बन जाऊँगा); इमाः प्रजाः च (और इन सारी प्रजाको) उपहन्याम् (नाश कर दूँगा) ॥२४॥

श्रीधर—ततः किम् ? अत आह—उत्सीदेयुरिति । उत्सीदेयुर्धर्मलोपेन नश्येयुः । ततश्च यो वर्णसङ्करो भवेत्तस्याप्यहमेव कर्त्ता स्यां भवेयम् । एवमहमेव प्रजाः उपहन्याम् मलिनीकुर्यामिति ॥२४॥

अनुवाद—[उससे क्या होगा, यदि पूछते हो तो कहते हैं]—मैं यदि कर्म न करूँ तो धर्मलोप होनेके कारण ये सारे लोक नष्ट हो जायँगे। उससे जो वर्ण-सङ्कर उत्पन्न होगा, उसका कर्त्ता मैं ही बनूँगा। इस प्रकार मैं ही सारी प्रजाको मलिन कर डालूँगा ॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कर्म न करने पर महादेव सारी प्रजाका हनन करेंगे—महादेव अर्थात् श्वास कूटस्थ ब्रह्म ।

—ब्रह्म ही महादेव हैं, वही त्रिभुवनका सब कुछ बनते हैं। उस महादेवके लिङ्गमें सारे सुर लीन हो जाते हैं; सुरका अर्थ है क्रियावान्। "लयनं लिङ्गमित्युक्तं तत्रैव निखिलं सुराः"—यह श्वास और शरीर शिवके उत्तम लिङ्ग हैं। लिङ्गका मूल है अलिङ्ग। अर्थात् कुछ था नहीं, उससे सब कुछ हुआ। श्वास सारे शरीरमें व्यापक है, इसलिए महादेवही सारे शरीरमें और सर्वत्र सर्वव्यापक हो रहे हैं—(लिङ्गपुराण)। यदि क्रिया न की जाय, तो भी प्राणक्रिया बन्द होती नहीं। वह साधनाके द्वारा स्थिर होकर ब्रह्मपुरीमें यदि प्रवेश नहीं करता तो यमपुरीमें तो अवश्य ही जायगा। श्वासरूपी महादेव घटस्थ होकर 'कालस्वरूप' हो रहे हैं, यदि क्रियाके द्वारा इनको स्थिर नहीं करते तो यह घटस्थ काल अनेक व्यर्थके कर्मोंके द्वारा निःशेष हो जायगा। ज्ञानकी प्राप्ति न होगी और आयु समाप्त हो जायगी। सारे दोष मिलकर सारी प्रजाको अर्थात् बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीरको खराब कर देंगे। वे बेताल हो जायँगे और तालको सँभाल न सकेंगे ॥२४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

अन्वय—भारत (हे भारत !) कर्मणि (कर्ममें) सक्ताः (आसक्त) अविद्वांसः (अज्ञानी लोग) यथा (जिस प्रकार) कुर्वन्ति (अनुष्ठान करते हैं), विद्वान् (ज्ञानी) असक्तः (अनासक्त होकर) लोकसंग्रहं चिकीर्षुः (लोक-संग्रहकी इच्छासे) तथा (उसी प्रकार) कुर्यात् (कर्म करें) ॥२५॥

श्रीधर—तस्मादात्मविदापि लोकसंग्रहार्थं तत्कृपया कर्म कार्यमेवेत्युपसंहरति—सक्ता इति । कर्मणि सक्ताः अभिनिविष्टाः सन्तो यथाऽज्ञाः कर्माणि कुर्वन्ति । असक्तः सन् विद्वानपि तथैव कुर्याल्लोकसंग्रहं कर्तुमिच्छुः ॥२५॥

अनुवाद—[अतएव आत्मज्ञको भी लोकसंग्रहके लिए उनके प्रति कृपा करके कर्म करना उचित है—यह बतलाते हुए उपसंहार करते हैं]—हे भारत, कर्ममें अभिनिविष्ट होकर अज्ञानी जैसे कर्म करते हैं, उसी प्रकार विद्वान्‌को भी अनासक्त होकर लोकसंग्रह अर्थात् लोकरक्षा करनेकी इच्छासे कर्म करना चाहिए ॥२५॥

आध्यात्मिक व्याख्या – अनासक्ति पूर्वक लोकयात्रा निर्वाहके लिए फलाकांक्षा-रहित होकर कर्म करना चाहिए ।

—विद्वान् और अविद्वान् सबको कर्म करना होगा । प्रयोजन न होने पर भी विद्वान्‌को अनासक्त भावसे कर्म करना होगा । नहीं तो मूर्ख लोग उनका व्यर्थ अनुकरण करके नष्ट हो जायँगे । शरीर जब तक है तब तक उसको खाना-कपड़ा देना ही पड़ेगा, इसलिए विद्वान् व्यक्तिको भी कर्मकी आवश्यकता है। वह अवश्य ही भगवान्‌के ऊपर भार देकर बैठे रह सकते हैं, समाधिनिष्ठ पुरुष कर्म न करे तो भी कोई उन्हें कुछ नहीं कह सकता—'तस्य कार्यं न विद्यते' 'कर्त्तव्य उनका कुछ नहीं रहता', तथापि अज्ञानी लोगोंके प्रति कृपा करके उन्हें कर्म करना होगा। जिसे देखकर अज्ञानी लोगोंको कर्ममें उत्साह मिलेगा । अज्ञानियोंने अभी कामोंको आरम्भ किया है, परन्तु उनमें अभी उनको रसबोध नहीं हुआ है । वे यदि क्रियाकी परावस्थामें स्थित पुरुषकी निश्चेष्टताको देखेंगे तो उनके मनमें होगा कि मैं ही क्यों क्रिया करनेमें लगा रहूँ ? ऐसा सोचकर यदि वे क्रिया नहीं करते, तो विषयका त्याग मात्र कर देनेसे वे परमानन्द प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे, इसकी संभावना नहीं है। इसलिए विद्वान् लोग अपना कोई प्रयोजन न होने पर भी लोगोंके कल्याणकी इच्छासे नित्य नियम पूर्वक साधनानुष्ठान करें ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
योजयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥

अन्वय—कर्मसङ्गिनाम् (कर्ममें आसक्त) अज्ञानां (अज्ञानियोंका) बुद्धिभेदं (बुद्धिभेद) न जनयेत् (न पैदा करे) [किन्तु] विद्वान् (ज्ञानी पुरुष) युक्तः (योगयुक्त होकर) सर्वकर्माणि (सारे कर्मोंको) समाचरन् (अनुष्ठान करते हुए) योजयेत् (अज्ञानियोंको कर्ममें प्रवृत्त रक्खें) ॥२६॥

श्रीधर—ननु कृपया तत्त्वज्ञानमेवोपदेष्टुं युक्तम् । नेत्याह—न बुद्धिभेदमिति । अज्ञानामत एव कर्मसंगिनाम् कर्मासक्तानामकर्त्रात्मोपदेशेन बुद्धेर्भेदमन्यथात्वं न जनयेत् । कर्मणः सकाशाद् बुद्धिविचालनं न कुर्यात् । अपि तु योजयेत् सेवयेत् । अज्ञान् कर्माणि कारयेदित्यर्थः । कथम् ? युक्तोऽवहितो भूत्वा स्वयमाचरन् सन् । बुद्धिविचालने कृते सति कर्मसु श्रद्धानिवृत्तेर्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेस्तेषामुभयभ्रंशः स्यादिति भावः ॥२६॥

अनुवाद—[तब तो कृपा करके सबको ही तत्त्वज्ञानका उपदेश करना ठीक होगा, इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं ऐसा करना उचित नहीं होगा]—इसलिए अज्ञानी अर्थात् कर्ममें आसक्त पुरुषोंको यह उपदेश देकर कि 'आत्मा अकर्त्ता है' बुद्धिभेद पैदा नहीं करना चाहिए। अर्थात् कर्मसे उनकी बुद्धि चलायमान न करें। बल्कि अज्ञानी पुरुषको कर्ममें लगाकर उससे कर्म कराना चाहिए। किस प्रकार उनको कर्मयुक्त किया जाय? योगयुक्त पुरुष अवहित होकर स्वयं कर्मोंका आचरण करते हुए उनसे कर्म करायें। बुद्धिको चलायमान करने पर कर्मसे उनकी श्रद्धा हट जायगी, और उनको ज्ञानोत्पत्ति न होनेके कारण कर्मत्याग करने से उनके दोनों ही मार्ग नष्ट हो जायँगे ॥ २६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो क्रिया नहीं करता उसको बुद्धिभेद अर्थात् परा-बुद्धि न दिखलाना, क्रियाकी परावस्थामें रहकर सारे कर्मोंको करे।

—अज्ञानी और अप्रबुद्ध आदमीसे ब्रह्मज्ञानकी बात नहीं कहनी चाहिए, उनसे यह सब बातें कहनेसे उनका नरकका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ज्ञानी भी अज्ञानीके समान सब कार्य करते हैं अतएव बहुधा उनको समझना कठिन हो जाता है, यह सत्य है। तथापि उनको न समझ सकनेसे कोई उतनी हानि नहीं होती, जितनी हानि उनकी निश्चेष्टताका अनुकरण करनेसे होती है। इसी लिए ज्ञानी पुरुष स्वयं निश्चेष्ट रहकर अज्ञानी लोगोंके लिए रौरवका कारण नहीं बनते। जिस बुद्धिके द्वारा सबमें एककी ही अनुभूति होती है, वही है 'पराबुद्धि'। क्रिया करते करते जब क्रियाकी परावस्था खूब घनीभूत हो जाती है तो नित्य शुद्ध साक्षी चैतन्य मात्र सत्ताका अवधारण होता है। उसमें 'मैं'—'तुम'—'वह' का कोई अस्तित्व नहीं रहता—यही 'पराबुद्धि' है। इस अवस्थाको केवल वही समझ सकते हैं जो क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें पहुँच चुके हैं। बाह्यदृष्टिसे उस अवस्थाके बारेमें उनको समझाना भी एक प्रकारसे संसारमें विषम अनर्थका सूत्रपात करना है। इसीकारण ज्ञानी लोग अज्ञोंको (जो क्रिया नहीं करते) तथा अर्द्ध प्रबुद्धोंको (जिन्होंने क्रिया आरम्भ तो कर दी है पर अभी भलीभाँति उसमें प्रविष्ट नहीं हुए हैं) ये निगूढ़ तत्त्व नहीं बतलाते; बल्कि उनको दिखलाकर सब कर्म करते हैं। कर्म तो वे करते हैं पर अज्ञानीके समान आसक्त होकर कर्म नहीं करते। वे क्रियाकी परावस्थामें रहते हुए सब काम कर सकते हैं। चतुर्थ या पञ्चम ज्ञान-भूमिकामें रहकर ये सब कर्म किये जा सकते हैं। यह रहस्य योगीश्वरके सिवा और किसीकी समझमें नहीं आ सकता ॥२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढ़ात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥

अन्वय—प्रकृतेः (प्रकृतिके) गुणैः (गुणोंके द्वारा) सर्वशः कर्माणि (सब प्रकारके लौकिक या शास्त्रीय कर्म) क्रियमाणानि (सम्पन्न होते हैं) [किन्तु]

अहंकारविमूढ़ात्मा (अहङ्कारसे विमूढ़चित्त पुरुष) अहं कर्त्ता (मैं कर्त्ता हूँ) इति (ऐसा) मन्यते (मानता है) ॥२७॥

श्रीधर —ननु विदुषाऽपि चेत्कर्म कर्त्तव्यं तर्हि विद्वदविदुषोः को विशेषः ? इत्याशङ्क्य उभयोर्विशेषं दर्शयति—प्रकृतेरिति द्वाभ्याम् । प्रकृतेर्गुणैः प्रकृतिकार्यैरिन्द्रियैः सर्वप्रकारेण क्रियमाणानि कर्माणि । तान्यहमेव कर्त्ता करोमीति मन्यते । अत्र हेतुः—अहङ्कारेति । अहङ्कारेणेन्द्रियादिष्वात्माध्यासेन विमूढ़बुद्धिः सन् ॥२७॥

अनुवाद—[यदि ज्ञानीका भी कर्म कर्त्तव्य है तो विद्वान् और अज्ञमें अन्तर क्या है ? इसके उत्तरमें दो श्लोकों द्वारा इन दोनोंके बीचका पार्थक्य दिखलाते हैं] प्रकृतिके कार्य—इन्द्रियोंके द्वारा ही समस्त कर्म सम्पन्न होते हैं। अज्ञ समझता है कि वह सब कर्म मैं ही करता हूँ। इसका कारण है अहङ्कार। अहङ्कारके द्वारा इन्द्रियोंमें आत्माके अध्यासके कारण विमूढ़चित्त होकर वह ऐसा सोचता है। [इन्द्रियोंका धर्म आत्मामें और आत्माका धर्म इन्द्रियोंमें आरोप करनेको अध्यास कहते हैं] ॥२७॥

आध्यात्मिक व्याख्या— पञ्चतत्त्व मन, बुद्धि, अहङ्कार त्रिगुणात्मक होकर अहङ्कारसे मुग्ध प्रयुक्त आत्मामें न रहकर मूर्खके समान आसक्ति पूर्वक सारे कर्म करते हैं, ये सबके सब मिथ्या हैं।

—वे सबके सब मिथ्या क्यों हैं ? यदि मिट्टीकी पुतली बनायी जाती है तो चाहे उसका नाम-रूप जो हो, वह रहेगी मिट्टी ही। उसका नाम-रूप तो मिथ्या है। इसी प्रकार आत्मा ही सत्य है, और मनः-बुद्धि-अहङ्कार तथा त्रिगुणके सारे खेल सत्य नहीं हैं। त्रिगुण सदा नहीं रहते, उनका अस्तित्व आत्माके अस्तित्वसे है। क्रियाकी परावस्थामें मन, बुद्धि, अहङ्कार सब जुटकर एक आत्माकार अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं, तब उनकी पृथक् सत्ता नहीं रहती। अतएव उन सबकी सामयिक प्रतीति होने पर भी वे सत्य नहीं हैं। जो सत्य नहीं है, उसे सत्य समझकर मुग्ध होना मूर्खता है। मन आत्मामें न रहने से ही ये सब खेल शुरू होते हैं, जब वह आत्मामें डुबकी मारता है तब ये सारे खेल बन्द हो जाते हैं। मनका स्वभाव है सङ्कल्प-विकल्प और अहङ्कारका स्वभाव है कर्त्तृत्वभाव। आत्मा चेतन स्वरूप है। मन-बुद्धि जड़ हैं। इस समय अध्यासके द्वारा जड़ मन-बुद्धि चैतन्ययुक्त जान पड़ते हैं, तथा मनकी मनन-शक्ति और अहङ्कारका कर्त्तृत्वभाव निःसङ्ग आत्मामें आरोपित होता है। इस प्रकार जड़ और चेतनके मिश्रणसे यह अपूर्व संसार-क्रीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। इसीलिए 'आत्मा असङ्ग है'—यह मूढ़बुद्धिवाले कदापि नहीं समझ पाते। क्रियाकी परावस्थामें आत्मस्वरूपमें स्थिति होने पर जब मन-बुद्धि-अहङ्कार वहाँ नहीं रहते तब यह खूब समझमें आ जाता है कि आत्मामें किसी क्रियाकी चेष्टा नहीं होती। सब प्रकारकी कल्पना और मननके तिरोहित होने पर आत्माका अकर्त्तृत्व-भाव क्रियाकी परावस्थामें खूब बोधगम्य होता है। अखण्ड आकाश जिस प्रकार

घटस्थ होकर खण्डित सा हो जाता है और उसको घटाकाश उपाधि प्राप्त होती है, उसी प्रकार अखण्ड आत्मसत्ता देहघटमें खण्डित सी प्रतीत होती है और अहङ्कार उत्पन्न होकर, 'देहादि ही आत्मा है'—यह भ्रम पैदा करता है। देहादिके सुख-दुःख आत्मामें आरोपित होकर 'मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं बालक, मैं वृद्ध हूँ' इस प्रकारका मानो आत्माको अभिमान होता है। क्रियाकी परावस्थामें ये सब अध्यास नहीं रहते। क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें अथवा व्युत्थित योगी—प्रकृतिके साथ आत्माको मिला हुआ देखकर भी प्रकृतिके कार्यको अपना कार्य नहीं स्वीकार करते, इसी कारण वह प्रकृतिके कार्य सुख-दुःखादिमें मुग्ध नहीं होते, अथवा उसे अङ्गीकार नहीं करते। परन्तु मूर्ख ऐसा न समझकर अभिमान करते हैं। इसीसे उनके दुःख-सुखकी सीमा नहीं होती। ज्ञानी जलमें मिली हुई चीनीको चीनीके रूपमें पहचान सकते हैं, मूर्ख जलस्थित चीनीका स्वाद पाकर भी उसे जल समझता है ॥२७॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) गुणकर्मविभागयोः (गुण और कर्मके विभागके) तत्त्ववित् (तत्त्वज्ञ व्यक्ति) तु (किन्तु) गुणाः (इन्द्रियाँ) गुणेषु (विषयोंमें) वर्तन्ते (प्रवृत्त रहती हैं) इति मत्वा (ऐसा मानकर) न सज्जते (कर्त्तृत्वाभिनिवेश नहीं करते) ॥२८॥

श्रीधर—विद्वांस्तु न तथा मन्यत इत्याह—तत्त्वविदिति। नाहं गुणात्मक इति गुणेभ्य आत्मनो विभागः। न मे कर्माणीति कर्मभ्योऽप्यात्मनो विभागः। तयोर्गुणकर्म-विभागयोर्यस्तत्त्वं वेत्ति स तु न सज्जते कर्त्तृत्वाभिनिवेशं न करोति। तत्र हेतुः—गुणा इति। गुणा इन्द्रियाणि गुणेषु विषयेषु वर्तन्ते। नाहमिति मत्वा ॥२८॥

अनुवाद—[परन्तु विद्वान् व्यक्ति ऐसा नहीं समझते, इसलिए कहते हैं]—मैं गुणात्मक नहीं हूँ, इस प्रकार गुणसे आत्माका विभाग होता है, तथा कर्म मेरे नहीं हैं, इस प्रकार कर्मसे आत्माका विभाग होता है—इन दोनों (अर्थात् गुण और कर्मके विभाग) के तत्त्वको जो जानते हैं, वह तत्त्वज्ञानी पुरुष कर्त्तृत्वाभिनिवेश नहीं करते। इसका कारण यह है कि तत्त्वज्ञानी जानते हैं कि इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त हो रही हैं—मैं नहीं होता। यह समझकर उनको कर्त्तृत्वाभिनिवेश नहीं होता ॥२८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो सर्वदा कूटस्थमें रहते हैं वे गुण और कर्मके विभागको समझ सकते हैं, और क्रिया करते हैं, किसी विषयकी चिन्ता नहीं करते।

—कूटस्थमें रहनेका जिनको अभ्यास हो गया है वह गुण और कर्मका विभाग खूब समझते हैं। मैं यदि स्वयं स्थिर हूँ तो दूसरा कौन क्या कर रहा है, यह समझमें आ सकता है; और यदि मैं स्वयं ही सदा अस्थिर रहा तो दूसरा कौन क्या

कर रहा है, यह समझमें कैसे आयेगा ? इसीलिए जो कूटस्थमें रहनेके अभ्यस्त हैं वे अपनेको 'साक्षी' स्वरूप समझ सकते हैं। किसके साक्षी ? सत्त्व, रजः और तमः ये तीन गुण तथा इनके परिणाम मन, बुद्धि, अहङ्कार, देहादि और इनके पृथक् पृथक् कार्योंके साक्षीरूपमें वे सबका कार्य देखते हैं। जैसे दूसरे लोग बकवाद करते हैं, आमोद करते हैं, गाते हैं, शोक करते हैं या रोते हैं—इसे हम देखते हैं और जानते हैं, परन्तु उनके सुख-दुःख और हर्ष-विषाद हमें अभिभूत नहीं करते, क्योंकि हम जानते हैं कि उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार जो जानते हैं कि 'मैं' या 'आत्मा' इस देह-मन-बुद्धिसे पृथक् है, क्योंकि शरीरका ह्रास, वृद्धि, क्षय, मनकी नाना प्रकारकी कल्पनाएँ और बुद्धिकी निश्चयता आदि जो धर्म हैं, आत्मामें वे सब नहीं हैं। कूटस्थमें रहनेके कारण वह स्वयं कूटस्थ हैं यह धारणा जब उनकी बद्धमूल हो जाती है तब वे इस कूटस्थ रूपमें सारे देहेन्द्रियादिके कार्य पृथक्रूपमें देखते हैं तथा यह भी देखते हैं कि प्रकृतिमें किस गुणकी वृद्धि या क्षयसे कौनसी तरङ्ग उठ रही है। परन्तु इनके साथ ममत्वका अभिमान न होनेके कारण वे मौनावलम्बन किये रहते हैं। वे बलात् अभिमान्का त्याग करते हों, ऐसी बात नहीं है, वे सर्वदा क्रिया करते हैं और क्रियाके फलस्वरूप यह समझते हैं कि, "मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है।" उनका कुछ भी नहीं है जब यह धारणा दृढ़ हो जाती है तो किसी वस्तुकी उन्हें चिन्तासी नहीं होती, अतएव वे 'सर्वचिन्तां परित्यज्य' सदा स्वस्थरूपमें रहते हैं। चिन्ताका परित्याग करके निश्चिन्त होने पर भवदुःखसे छुटकारा प्राप्त होता है।

तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या राम सोच्यते।
वासनापदनाम्नीं तां विचारेण विनाशय॥

हे राम ! चित्तकी चञ्चलता ही अविद्या है। अविद्याका ही दूसरा नाम वासना है, इसे विचारके द्वारा नष्ट करो। आत्मामें सदा ही लक्ष्य रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए। इस प्रकारकी चेष्टासे एकाग्रता आयेगी। एकाग्र होने पर मनकी अन्यान्य वृत्तियोंका निरोध होता है। क्रमशः 'मैं'-ज्ञान भी अवरुद्ध हो जाता है। अन्तःकरणसे 'मैं' और 'मेरा' ज्ञान निरुद्ध होने पर किसी विषयकी इच्छा या उनकी प्राप्तिके प्रयत्नसे मन हट जाता है, क्योंकि उन वस्तुओंमें साधकका ममत्व-ज्ञान नहीं रहता। ममत्व-ज्ञानके लुप्त हो जाने पर मन और आत्मामें तादात्म्य-बोधरूपी अध्यास भी नष्ट हो जाता है।

परन्तु क्रिया किये बिना चित्तकी चञ्चलता नहीं जायगी। वासनातरङ्गमयी नाड़ीकी गति जब तक ठीक न की जायगी, वासनाका तरङ्ग उठना बन्द न होगा। क्रिया करके क्रियाकी परावस्था प्राप्त करने पर ही अविद्याकी वासना उन्मूलित हो जाती है। क्रियाके द्वारा सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और उससे रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियाँ क्षीण या अभिभूत हो जाती हैं। सात्त्विकताकी वृद्धिके साथ प्रज्ञा बढ़ती है और ज्ञान-वृद्धिके साथ साथ रजस्तमका अभिनिवेश छूट जाता है। प्राण यदि इड़ा और पिङ्गलामें निरन्तर आता जाता है तो सत्त्वगुण या गुणातीतभाव प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव क्रिया करके प्राणको सुषुम्नावाहिनी बनानेके लिए

सचेष्ट होना ही यथार्थ पुरुषार्थ है। साधक दूसरा पुरुषार्थ नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि वासना या वेग मनसे होता है, और वह मन भी प्राणके वशीभूत है। अतएव प्राणके स्थिर होने पर ही सब स्थिर हो जाता है ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

अन्वय—प्रकृतेः (प्रकृतिके) गुणसंमूढ़ाः (गुणोंसे विमोहित मूढ़ लोग) गुणकर्मसु (गुण और उनके कर्मोंमें) सज्जन्ते (आसक्त होते हैं), कृत्स्नवित् (सर्वज्ञ पुरुष या आत्मवित्) तान् (उन) अकृत्स्नविदः (अल्पज्ञ या कर्मफलमात्रको देखने वाले) मन्दान् (मन्दमति वालोंको) न विचालयेत् (विचलित न करें) ॥२९॥

श्रीधर—न बुद्धिभेदमित्युपसंहरति प्रकृतेरिति। ये प्रकृतेर्गुणैः सत्त्वादिभिः सम्मूढ़ाः सन्तः गुणेष्विन्द्रियेषु तत्कर्मसु च सज्जन्ते। तानकृत्स्नविदो मन्दान् मन्दमतीन् कृत्स्नवित् सर्वज्ञो न विचालयेत् ॥२९॥

अनुवाद—[अज्ञानी लोगोंमें बुद्धिभेद पैदा न करे—इस वाक्यका उपसंहार करते हैं]—जो लोग प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंसे संमूढ़ होकर इन्द्रियोंमें तथा उनके कर्मोंमें आसक्त हो जाते हैं, उन मन्दमति पुरुषोंको सर्वज्ञ लोग विचलित न करें ॥२९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो लोग बुरे हैं वे प्रकृतिके गुणोंसे सम्मोहित होकर सारे कर्म करते हैं।

—मूर्ख होने पर भी यदि साधक गुरुके उपदेशानुसार कार्य करते रहें तो वह इस संसार-सागरको पार कर सकते हैं, परन्तु आलसीके लिए कोई उपाय नहीं है। आलसी मनुष्यको यदि अच्छा मार्ग मिल भी जाय तो उसमें वह परिश्रम नहीं कर पाता, ऐसे उद्यमहीन मूर्खोंको सिद्ध महापुरुष भी कुछ नहीं कर सकते। जो अपना उद्धार करनेके लिए प्रयत्न करता है, भगवान् उसका भार लेकर उसे पथ दिखला देते हैं। जो आराम-तलब होकर पड़ा रहता है, गप्पें हाँकता है और सोता है, ऐसे मूढ़ोंके अज्ञानान्धकारको भगवान् भी दूर नहीं कर सकते। अतएव ज्ञानी जनको चाहिए कि ऐसे आलसी और मूढ़ लोगोंको ज्ञानके रहस्यकी साधनाकी बातें न कहें। ऐसी बातें कहनेसे समाज और धर्म व्यभिचार-दोषसे दूषित हो जायँगे। आलसी आदमी क्रिया नहीं कर सकता, और क्रिया न करने पर चित्तशुद्धिकी संभावना किसी कालमें नहीं रहती। यदि कुछ मौखिक ज्ञान दुहराते हुए वे उपदेष्टाका आसन ग्रहण करें तो उससे जगत्का बड़ा अनिष्ट होगा। इसी कारण आज-कल समाजमें इस प्रकारके आत्मप्रवञ्चकों और ठगोंकी संख्या बढ़ती जा रही है। जो लोग स्वयं कुछ नहीं जानते, वे जब दूसरोंको समझाना चाहते हैं तो अपने अभिप्रायकी सिद्धिके अनुसार ही शास्त्रादिका अर्थ करते हैं। इस श्रेणीके कुछ लोग श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेशके प्रति कटाक्ष करके बहुतेरी अकथ्य बातें भी कहा करते हैं। यह उनका दुःसाहस मात्र है! ॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अन्वय—अध्यात्मचेतसा (अध्यात्मचित्त द्वारा) मयि (मुझमें) सर्वाणि कर्माणि (सारे कर्मोंको) संन्यस्य (समर्पण करके) निराशीः (निष्काम) निर्ममः (ममता-शून्य) विगतज्वरः भूत्वा (त्यक्तशोक होकर) युध्यस्व (युद्ध करो) ॥३०॥

श्रीधर—तदेवं तत्त्वविदाऽपि कर्म कर्त्तव्यम् । त्वं तु नाद्यापि तत्त्ववित् । अतः कर्मैव कुर्वित्याह—मयीति । सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य समर्प्य । अध्यात्मचेतसा अन्तर्याम्यधीनोऽहं कर्म करोमीति दृष्ट्या । निराशीः निष्कामः । अतएव मत्फलसाधनं मदर्थमिदं कर्मेत्येवं ममताशून्यश्च भूत्वा । विगतज्वरस्त्यक्तशोकश्च भूत्वा । युध्यस्व ॥३०॥

अनुवाद—[अतएव यह निश्चय हुआ कि तत्त्वज्ञानियोंको भी कर्म करना चाहिए; परन्तु तुम आज तक तत्त्वज्ञ नहीं हुए, अतएव तुम्हें तो कर्म करना ही ठीक है, इस विषयमें कहते हैं]—कर्म किस प्रकार करनेसे ठीक होगा ?

(१) सारे कर्म मुझमें समर्पण करके कर्म करना चाहिए।

(२) अध्यात्म-चित्त द्वारा कर्म करना चाहिए—अर्थात् मैं अन्तर्यामीके अधीन हूँ और उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करता हूँ, यह दृष्टि रखकर।

(३) निष्काम होकर (अपनी सुखेच्छा उसमें न हो)

(४) यह कर्म मेरे लिए नहीं, भगवान्‌के लिए है—यह कर्म मुझको फल प्रदान करनेके लिए नहीं, यह भगवान्‌का कार्य है, इस प्रकार ममता-रहित होकर कर्म करना चाहिए, अतएव शोक त्याग करके तुम युद्ध करो अर्थात् स्वधर्मका पालन करो ॥३०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मुझमें सब कर्म अर्पण करके क्रिया करता है—आलस्य त्याग करता है।

—मैं अपने लिए यह काम नहीं करता, अन्तर्यामीके द्वारा प्रेरित होकर भृत्यवत् उनके आदेशका पालन करता हूँ—यह भाव मनमें रहने पर कर्मका ताप तुम्हारे शरीरमें नहीं लगेगा। और अपना कर्म न होनेके कारण कर्ममें निरुत्साह भी नहीं आयेगा। क्योंकि हम अपने प्रियतम आत्माका कार्य करते हैं। अध्यात्मचित्त हुए बिना भगवान्‌में इस प्रकार कर्म अर्पण करना नहीं बनता।

अध्यात्मचित्त किसे कहते हैं ? जो चित्त आत्मामें संस्थापित है। चित्तमें न जाने कितने जन्मके कितने संस्कार जमे हुए हैं, बीच बीचमें चित्तका कपाट खुलता है और वे सारे दृश्य प्रगट होने लगते हैं। ये दृश्य या चिन्तन जब चित्तमें आभासित होते हैं तब मन उन उन विषयोंकी चिन्तामें तदाकाराकारित बन जाता है। परन्तु कोई भाव एकसाथ अधिक देर तक नहीं रहता। क्योंकि चित्त स्पन्दित होता और उसमें दृश्य एकके बाद दूसरे आते हैं

और चले जाते हैं। यही चित्त समुद्रकी विक्षुब्ध तरङ्ग है। परन्तु जब चित्त विषयोंमें नहीं जाता, आत्मामें ही विश्राम करता है, आत्माकाराकारित होता है, तब उसमें चाञ्चल्य नहीं रहता। नाना विषयोंमें चित्तका पर्यटन जब बन्द होता है तो चित्त आत्ममुखी होता है। तभी चित्तको एकाग्र भाव प्राप्त होता है। यह एकाग्रता जब बढ़ने लगती है तो विषय विस्मृत हो जाते है, यही चित्तका निरुद्ध भाव है। इस निरुद्ध भावके स्थायी होने पर समाधि या प्रकृत क्रियाकी परावस्थाका उदय होता है। इस अवस्थामें चित्त आत्मसंस्थ हो जाता है। आत्मसंस्थ होनेके लिए जिसका चित्त तत्पर है उसका ही चित्त अध्यात्मचित्त है। इसीसे कर्म ब्रह्मार्पण होता है। क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें—इतना निरुद्ध या आत्मविस्मृत भाव नहीं रहता सही, परन्तु उस समय भी चित्त ब्रह्मार्पित ही है, इसी कारण वह आसक्त होकर कर्म नहीं कर सकता। जितना कर्म करता है उतना मानो उनका आदेश पालनके लिए ही करता है। सारे कर्म तो स्पन्दन मात्र ही है, प्रत्येक स्पन्दनके साथ एक एक ताप अवश्य उठेगा; और जो कर्त्ता है उसको ही ताप लगेगा। ज्ञानीका मन भगवान्में समर्पित होता है, अतएव कर्म करने पर भी उसको ताप नहीं लगता। क्रियासाधनके पाँच हेतु भगवान्ने अष्टादश अध्यायमें बतलाए हैं—(१) शरीर (२) अहङ्कार (३) चक्षु आदि इन्द्रियाँ (४) नाना प्रकारकी प्राण-चेष्टाएँ (५) दैव या अन्तर्यामी। काय, वचन और मनके द्वारा मनुष्य जो कुछ करता है, उसके ये ही पाँच हेतु हैं। भगवत्परायण हुए बिना अध्यात्मचित्त कोई नहीं हो सकता। अतएव 'कर्म हमारे नहीं हैं—भगवान्के हैं'—इस बुद्धिसे युक्त हुए बिना कर्म भी ब्रह्मार्पण नहीं हो सकते। भगवत्परायण होनेके लिए शरीर, अहङ्कार, इन्द्रिय और प्राणको भगवद्मुखी बनाने की आवश्यकता है। यह कैसे होगा? (१) सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य—दहीको मथनेसे जिस प्रकार मक्खन निकलता है उसी प्रकार भगवद्भजन या क्रिया करनेसे—देह, मन और बुद्धिको प्रतिनियेत जाग्रत रखने वाले सविताके वरणीय भर्गके प्रकाशको हम देख सकेंगे और समझ सकेंगे। इस प्रकाशशक्तिसे ही शरीर, मन और बुद्धिको प्रकाश मिलता है। इससे इनके कृत कर्म यथार्थमें इनसे नहीं होते, बल्कि वह सर्वशक्तिमयी प्राणरूपिणी जगन्माताकी शक्तिसे होते हैं। इसलिए जिसके द्वारा कर्म होता है उसे ही कर्मका कर्त्ता मानना होगा, अपनेको कर्त्ता मानना ठीक नहीं। किसके द्वारा प्रेरित होकर कर्म करता हूँ, इसे जान लेने पर अहङ्कारशून्य अवस्था प्राप्त होगी और तब अध्यात्मचित्त होना स्वाभाविक होगा, इसी प्रकार निराशी और निर्मम भी हो सकते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी कुछ कुछ कर्ममें प्रयोजक होती हैं, परन्तु क्रिया साधन करते करते चक्षु आदि इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होकर विषयान्वेषणमें तत्पर न होकर आत्माभिमुखी होकर उसमें आत्मसमर्पण करती हैं, तथा नाना प्रकारकी प्राणचेष्टाएँ जो चित्तस्पन्दनके हेतु तथा शरीरादिके नियामक हैं वह भी क्रिया करते करते निष्पन्द हो जायँगी और प्राण आत्मस्थ होकर स्थिर हो जायगा,

अतएव मन भी शरीरको तब सञ्चालित न करेगा, वह आत्माका अनुगत होकर आत्माकार हो जायगा। इस अवस्थामें जब सब कुछ ब्रह्मार्पण हो जायगा तो बच रहेंगे एकमात्र अन्तर्यामी। अतएव जो यथार्थ कर्त्ता हैं वह यदि कर्त्ता रहेंगे तो इससे किसीको भी सिरमें व्यथा (कुछ हानि) न होगी। इस प्रकार सब निःशेष ब्रह्मसागरमें डूबकर विलीन हो जायगा। और रह जायगा केवल असीम चिदाकाश परमानन्दमय आत्मा। "मेरा" अर्थात् अहङ्कारका तब सिर ही न रहेगा, अतएव उसे सिरदर्द कैसे हो सकता है ? जब उसका अपना कहनेको कुछ नहीं रहा तो किसके ऊपर अधिष्ठित होकर वह 'अहं' अभिमान करेगा ? अतएव जल जैसे वाष्प होकर उड़ जाता है और आकाश बन जाता है, 'अहं' भी उसी प्रकार क्षीणसे क्षीणतर होकर अन्तमें शून्य-मात्र हो जायगा। इसीसे इन सब अवस्थाओंको पानेके लिए कहते हैं—युद्धयस्व विगतज्वरः—प्रमाद या आलस्यवश मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ या इस समय रहने दो आगे देखा जायगा—ऐसा कहकर सोने या गप्प उड़ानेकी आदत छोड़कर अप्रमादी होकर क्रिया करते चलो ॥३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

अन्वय—ये मानवाः (जो लोग) श्रद्धावन्तः (श्रद्धावान्) अनसूयन्तः (दोष दर्शनकी प्रवृत्तिसे शून्य होकर) मे (मेरे) इदं मतं (इस व्यवस्था या अनुशासनका) नित्यं (सर्वदा) अनुतिष्ठन्ति (अनुसरण करते हैं) ते अपि (वे भी) कर्मभिः (कर्मोंसे) मुच्यन्ते (मुक्त हो जाते हैं) ॥३१॥

श्रीधर—एवं कर्मानुष्ठाने गुणमाह—ये मे इति। मद्वाक्ये श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः—दुःखात्मके कर्मणि प्रवर्त्तयतीति—दोषदृष्टिमकुर्वन्तश्च ये मदीयमिदं मतमनुतिष्ठन्ति तेऽपि शनैः कर्म कुर्वाणाः सम्यग्ज्ञानिवत् कर्मभिर्मुच्यन्ते ॥३१॥

अनुवाद—[इस प्रकार कर्मानुष्ठानका गुण बतलाते हैं]—मेरे वाक्यमें श्रद्धावान् तथा असूयारहित होकर—अर्थात् भगवान् मुझको दुःखात्मक कर्ममें प्रवर्तित करते हैं इस प्रकार दोषदृष्टि न करके जो मेरे इस मत (अनुशासन) का पालन करते हैं वे भी कर्मसे मुक्त हो जाते हैं ॥३१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो मेरे इस मतमें रहता है वह ब्रह्ममें रहते हुए सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है।

—आलस्य त्याग कर सब कर्म मुझमें अर्पण करके क्रिया करते जाना ही भगवान्का अभिमत कार्य है, उसका जो फल होता है वह इस श्लोक द्वारा कहते हैं। वह ब्रह्ममें रहनेकी योग्यता प्राप्त करता है, ब्रह्ममें रहता है अतएव पापसे मुक्त हो जाता है। पाप क्या है ? यही न, कि भगवान्के ईश्वरत्व प्रभुत्वको अस्वीकार कर जो अपनेको ही अहंकर्त्ता मानकर अभिमान करता है। वह तो दुःख पाता ही है, क्योंकि विश्वस्रष्टाके आन्तरिक भावको वह नहीं समझ सकता। उसको स्वयं (शरीर आदिको) कष्ट होता है, इसे ही वह बढ़ाकर देखता है, भगवान्के अभि-

प्रायको समझनेमें वह असमर्थ होता है। वह नहीं समझता कि भगवान् किसीका अमंगल नहीं करते। मङ्गल-अमङ्गल सब प्रकृतिके वश होता है। वह प्रकृतिके अधीश्वर हैं। उनको न समझकर उनके खेलको हृदयङ्गम न कर जो अपने ही मापदण्डसे सुख-दुःखादिका विचार करता है, उसके सामने अपना दुःख बहुत बड़ा हो जाता है। और जो इसे समझते हैं वह उनकी क्रीड़ाभूमि इस देह-मन आदि प्रकृति-यंत्रके अधीन न होकर इनके पीछे न दौड़कर दिनरात उनके शरणागत होकर क्रिया करते रहते हैं। वह प्रकृतिके खेलकी ओर दृष्टिपात नहीं करते। उनको शीघ्रही ज्ञानलाभ और मुक्तिलाभ हो जाता है। परन्तु जो इस प्रकार सर्वदा क्रिया नहीं भी कर सकते, परन्तु क्रियामें श्रद्धालु होकर यथासाध्य समयानुसार परिश्रम करते हैं तथा गुरुवाक्यमें दोषदृष्टि न रखकर उनके प्रति श्रद्धा स्थापित कर क्रियामें प्रवृत्त रहते हैं तथा नियमादिके पालनमें प्रयत्नशील होते हैं वह भी क्रमशः मुक्ति प्राप्त करते हैं। साधक कई प्रकारके होते हैं। प्रथम श्रेणीके साधक वह हैं—जो गुरुके उपदेशके अनुसार परम श्रद्धालु भावसे तीव्र वेगके साथ साधनामें प्रवृत्त होते हैं। द्वितीय श्रेणीके साधक वह हैं—जो गुरुके प्रति और साधनाके प्रति विशेष श्रद्धालु होते हैं, परन्तु उतने तीव्र भावसे साधनामें प्रवृत्त नहीं होते। तृतीय श्रेणीके साधक वह हैं—जो गुरुके उपदेशके प्रति यथेष्ट श्रद्धा रखते हैं, परन्तु साधनामें विशेष तत्पर नहीं होते। तथा चतुर्थ श्रेणीके साधक वह हैं—जिनको गुरु और साधनाके प्रति विशेष विश्वास नहीं होता, विधिपूर्वक साधना भी नहीं करते, यदि कभी थोड़ा-बहुत कर्म भी करते हैं तथापि गुरु और गुरुप्रदत्त साधनाके प्रति सदा विरुद्ध भाव पोषण करते हैं। इस चतुर्थ श्रेणीके साधकका जो महान् अनिष्ट होता है, उसका उल्लेख भगवान्ने अगले श्लोकमें किया है। तृतीय श्रेणीके साधकको गुरुकी कृपासे कभी न कभी ज्ञानकी प्राप्ति होती है। द्वितीय श्रेणीके साधक दो-तीन जन्मोंमें ही कृतार्थ हो जाते हैं, और प्रथम श्रेणीके साधक इसी जन्ममें जीवन्मुक्ति अवस्था प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाते हैं ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

अन्वय—ये तु (परन्तु जो) मे (मेरे) एतत् मतम् (इस मतका) अभ्यसूयन्तः (दोषदृष्टि करके) न अनुतिष्ठन्ति (अनुसरण नहीं करते) अचेतसः (विवेक-शून्य) तान् (उनको) सर्वज्ञानविमूढान् (सर्वज्ञान-विमूढ़) नष्टान् (पुरुषार्थभ्रष्ट) विद्धि (जानो) ॥३२॥

श्रीधर—विपक्षे दोषमाह—ये त्वेतदिति। ये तु नानुतिष्ठन्ति तानचेतसो विवेक-शून्यान्। अतएव सर्वस्मिन् कर्मणि ब्रह्मविषये च यज्ज्ञानं तत्र विमूढान् नष्टान् विद्धि ॥३२॥

अनुवाद—[अन्यथा जो दोष होता है उसे कहते हैं]—परन्तु जो मेरे इस

मतमें दोषदृष्टि करके इसका अनुसरण नहीं करते, वे विवेकशून्य तथा सारे कर्मों और ब्रह्मविषयक ज्ञानमें विमूढ़ हैं, उनको नष्ट हुआ ही समझो ॥३२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो मेरे मतमें नहीं रहता, वह नष्ट हो जाता है, ब्रह्ममें न रहनेके कारण।

—जो लोग भगवान्‌के इस मतमें अश्रद्धालु होकर क्रिया नहीं करते, वह आत्माकी स्थिरताको नहीं जान सकते, अतएव ब्रह्ममें स्थिर रहनेसे जो परमशान्ति प्राप्त होती है, उसका उन्हें कुछ भी अनुभव नहीं हो सकता। यदि मनुष्यजन्म पाकर उस अव्याकृत स्थिरताके भावको हृदयङ्गम नहीं किया तो उसका यह मनुष्यजन्म केवल क्लेश उठानेके लिए ही हुआ और कुछ लाभ उसने नहीं उठाया। वे अचेतसः अर्थात् तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए उपयुक्त नहीं हैं, अतएव सर्वज्ञानविमूढ़ हैं—क्योंकि साधन-हीन अशुद्धचित्त पुरुष शास्त्रीय सिद्धान्तको धारण भी नहीं कर सकता अर्थात् शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धके रहस्य-व्यापारमें सदाके लिए अनभिज्ञ ही रह गया, अतएव वह नष्ट है, वह इस लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट हो गया ॥३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

अन्वय—ज्ञानवान् अपि (ज्ञानी पुरुष भी) स्वस्याः (अपनी) प्रकृतेः (प्रकृतिके) सदृशं (अनुरूप) चेष्टते (चेष्टा अर्थात् कार्य करते हैं) भूतानि (प्राणी गण) प्रकृतिं यान्ति (प्रकृतिका अनुसरण करते हैं) निग्रहः (इन्द्रिय-निग्रह) किं करिष्यति (प्रकृति इतना बलवती है फिर इन्द्रिय-निग्रहके विधिनिषेध क्या कर सकते हैं?) ॥३३॥

श्रीधर—ननु तर्हि महाफलत्वादिन्द्रियाणि निगृह्य निष्कामाः सन्तः सर्वेऽपि स्वधर्ममेव किं नानुतिष्ठन्ति? तत्राह—सदृशमिति। प्रकृतिः प्राचीनकर्मसंस्काराधीनः स्वभावः। स्वस्याः स्वकीयायाः प्रकृतेः स्वभावस्य सदृशमनुरूपमेव गुणदोषज्ञानवानपि चेष्टते। किं पुनर्वक्तव्यमज्ञश्चेष्टत इति? यस्माद्भूतानि सर्वेऽपि प्राणिनः प्रकृतिं यान्त्यनुवर्त्तन्ते। एवं च सतीन्द्रियनिग्रहः किं करिष्यति? प्रकृतेर्बलीयस्त्वादित्यर्थः ॥३३॥

अनुवाद—[तुम्हारा वचन पालन करनेका यदि इस प्रकार महाफल ही होता है तो इन्द्रियादिका निग्रह करके निष्काम होकर सब लोग क्यों नहीं स्वधर्मका अनुष्ठान करते हैं? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—प्रकृतिका अर्थ है प्राचीन कर्मोंके संस्कारोंसे बना हुआ स्वभाव। अपने अपने स्वभावके अनुसार कर्म गुण-दोषोंके जाननेवाले ज्ञानी भी करते रहते हैं। अतएव अज्ञानी यदि अपने स्वभावका अनुसरण करके काम करते हैं तो इसमें कहना ही क्या? क्योंकि सारे प्राणी प्रकृतिका अनुवर्तन करते हैं; यदि ऐसी बात है तो इन्द्रियनिग्रह कोई कैसे करेगा? प्रकृति ही बलवती है। अतएव शास्त्रमें विधिनिषेध रहने पर भी उसको माननेकी शक्ति कहाँ है? [पूर्वकृतधर्माधर्मादिसंस्कारो वर्तमानजन्मादावभिव्यक्तः। सा प्रकृतिः—पूर्वजन्मोंके किये हुए धर्माधर्मके जो संस्कार वर्तमानजन्ममें अभिव्यक्त होते हैं उन्हीं संस्कारोंका नाम प्रकृति है—शङ्कर] ॥३३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पञ्चतत्त्वमें सर्वदा रहते हुए अन्यदिशामें मन रहने पर निग्रह कैसे किया जायगा? अर्थात् क्रिया सदा कैसे होती है?

—पञ्चतत्त्वोंमें जब मन रहता है तब सब प्रकारके कार्य मनसे होंगे ही। सहस्रों वार समझाने पर भी उसका बाहर विचरण करनेवाला स्वभाव नहीं बदलेगा। जब मन दूसरी ओर जाता है तो क्रिया भी ठीक ठीक नहीं होती। बलपूर्वक इन्द्रिय-निग्रह करनेसे भी कुछ नहीं होता, मनको जो सोचना या करना होता है वही करता है। परन्तु इसका भी उपाय है। सत्त्व, रजः और तमः की साम्यावस्था ही तो प्रकृति है। प्रकृति जब सत्त्वभावापन्न होती है तब वह ईश्वराभिमुख हो जाती है, ईश्वराभिमुख होने पर ही क्रमशः गुणातीत अवस्था प्राप्त होती है, प्रकृतिके भीतर भी तरङ्गें नहीं उठतीं और उसके द्वारा सांसारिक कार्य कुछ नहीं होता। "सत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्—" (सांख्यसूत्र)। परमपुरुषके सन्निधानके कारण प्रकृति चैतन्ययुक्त या चैतन्यमयी हो जाती है, उसमें जड़त्वके विकार नहीं होते, अर्थात् उस समय वह जड़ नहीं रहती, चैतन्यरूप होती है। यह चैतन्यमयी प्रकृति ही भगवती या स्थिर प्राण है। यही सृष्टि, स्थिति और प्रलयकारिणी हैं। यह प्रकृति नृत्यशीला होने पर गुणमयी होकर बहिर्मुखी होती है, तब संसारका खेल प्रारम्भ होता है। इसको अन्य किसी प्रकार रोकना सम्भव नहीं है। परन्तु सारे भूत (अर्थात् शरीर, प्राण, मन, इन्द्रियादि) जब प्रकृतिका अनुसरण करते हैं अर्थात् शुद्धसत्त्व होकर साम्य-भावापन्न होते हैं, तब बहिर्मुख वृत्तियाँ स्वयमेव सिमट कर आत्मामें स्थिर होती हैं, तभी शान्ति प्राप्त होती है। नहीं तो केवल बातोंसे कुछ होनेवाला नहीं। मूल प्रकृति या साम्यावस्थासे जैसे पञ्चतत्त्व उद्भूत होकर इस विराट् विश्वकी रचना करते हैं, उसी प्रकार संसारसे पार उतरनेके लिए उस पारके यात्रीको भी पञ्चतत्त्वोंका अति-क्रमण करके सहस्रारमें परमशिवरूपमें युक्त होना पड़ता है। तब सारी इन्द्रियाँ अपने आप शान्त हो जाती हैं, 'परमानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्।' तब यह समझमें आ जाता है कि आत्मा नित्यमुक्त और परमानन्दस्वरूप है।

अब प्रश्न यह है कि, प्रकृतिको बाधा देनेसे तो काम न चलेगा, उसे इस विषयमें उपदेश देना भी व्यर्थ है। तब उसको आत्ममुखी कैसे किया जाय? आत्म-मुखी करनेका एकमात्र उपाय है अभ्यास। अभ्यास करनेसे ही पूर्व स्वभाव या प्रकृति सदा अवरोधको मान लें, ऐसी बात नहीं है। परन्तु प्रतिदिन नियम पूर्वक प्राण-कर्मका अभ्यास करनेसे एक स्वतंन्त्र स्वभाव उत्पन्न होगा जो जीवको भगवद-भीमुखी बना देगा और वही एकमात्र प्रभु हैं यह समझ लेने पर जीवका अहङ्कार या आत्मकर्त्तृत्व संकुचित हो जायगा। अनेक जन्मोंके सञ्चित कर्म-संस्कार अत्यन्त प्रबल होते हैं, उनका निग्रह करना बहुत ही कठिन है—परन्तु चेष्टा करनेसे असाध्य कुछ नहीं रहता। मनको स्थिर करनेके लिए चेष्टा करनी पड़ेगी। प्राणायामके द्वारा चित्तकी स्थिरता प्राप्त होने पर, उस स्थिर चित्तमें भगवती शक्ति प्रस्फुटित होती है, उसके बलसे बलवान् होकर जीव अपने स्वभावका निग्रह करनेमें समर्थ होता है। अनेक जन्मोंमें नाना प्रकारके क्लेशोंको भोगनेके बाद जीवकोपञ्चतत्त्वोंके अधीन रहनेकी

प्रवृत्ति नहीं होती। तब भगवत्-कृपासे ही सद्गुरुके प्रदर्शित मार्गमें चलते चलते तत्त्वातीत परम भावको प्राप्त करनेके लिए प्रबल पुरुषार्थ करनेकी शक्ति प्राप्त होती है ॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अन्वय—इन्द्रियस्य (इन्द्रियका) इन्द्रियस्य अर्थे (इन्द्रियोंके विषयमें—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और नासिका—ये इन्द्रियाँ हैं, इनके विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) रागद्वेषौ (अनुराग और द्वेष) व्यवस्थितौ (निर्दिष्ट हैं) [अर्थात् यह स्वाभाविक है परन्तु] तयोः (उनके) वशं न आगच्छेत् (वशवर्ती होना ठीक नहीं), हि (क्योंकि) तौ (वे) अस्य (मुमुक्षु जीवके) परिपन्थिनौ (परम विरोधी हैं) ॥३४॥

श्रीधर—नन्वेवं प्रकृत्यधीनैव चेत् पुरुषस्य प्रवृत्तिस्तर्हि विधिनिषेधशास्त्रस्य वैयर्थ्यं प्राप्तमित्याशङ्क्याह—इन्द्रियस्येति । इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सया सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रत्येकमित्युक्तम् । अर्थे स्वस्वविषयेऽनुकूले रागः प्रतिकूले द्वेषः इत्येवं रागद्वेषौ व्यवस्थितावश्यं भाविनौ । ततश्च तदनुरूपा प्रवृत्तिरिति भूतानां प्रकृतिः । तथापि तयोर्वशवर्ती न भवेदिति शास्त्रेण नियम्यते । हि यस्मादस्य मुमुक्षोस्तौ परिपन्थिनौ प्रतिपक्षौ । अयं भावः—विषयस्मरणादिना रागद्वेषावुत्पाद्यानवहितं पुरुषमनर्थेऽतिगम्भीरे स्रोतसीव प्रकृतिर्बलात् प्रवर्त्तयति । शास्त्रं तु ततः प्रागेव विषयेषु रागद्वेषप्रतिबन्धके परमेश्वरभजनादौ तं प्रवर्त्तयति । ततश्च गम्भीरस्रोतःपातात् पूर्वमेव नावमाश्रित इव नानर्थं प्राप्नोति । तदेवं स्वाभाविकीं पश्वादिसदृशीं प्रवृत्तिं त्यक्त्वा स्वधर्मे प्रवर्तितव्यमित्युक्तम् ॥३४॥

अनुवाद—[यदि पुरुषकी प्रवृत्ति प्रकृतिके अधीन है तो शास्त्रके सारे विधि-निषेध व्यर्थ हो जाते हैं—इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं]—प्रत्येक इन्द्रियका अपने अपने अनुकूल विषयमें अनुराग और प्रतिकूल विषयमें विद्वेष व्यवस्थित अर्थात् अवश्यम्भावी है। उसके द्वारा प्रकृति प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिका उत्पादन करती है, यही भूतोंकी प्रकृति है। तथापि इनके (रागद्वेषके) वशीभूत न होना—यह शास्त्रोंका अनुशासन है। क्योंकि मुमुक्षुओंके ये प्रतिपक्षी हैं। इसका भावार्थ यह है कि, विषयोंके स्मरणादिके द्वारा राग और द्वेष उत्पन्न करके प्रकृति अनवहित (असावधान) पुरुषको बलपूर्वक अत्यन्त गम्भीर स्रोतस्वरूप अनर्थमें लगा देती है, परन्तु शास्त्र उसके पहले ही विषयोंमें राग-द्वेषके प्रतिबन्धक परमेश्वरके भजनादिमें उसे लगाते हैं। अतएव गम्भीर स्रोतमें पड़नेके पहले ही मनुष्यको नौकाका आश्रय प्राप्त होनेके समान वह अनर्थको नहीं प्राप्त होता। अतएव पशु आदिके समान स्वाभाविकी प्रवृत्तिका परित्याग कर धर्ममें प्रवृत्त होना ही कर्तव्य है ॥३४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इन्द्रियोंके कर्म इन्द्रियाँ करती हैं, उनके वश न होना, क्योंकि वे आत्मातिरिक्त वस्तुमें आत्मा (मन) को ले जाती हैं।

—इन्द्रियों और उनके कर्मोंको जानना चाहिए, समझना चाहिए और समझकर सावधान रहना चाहिए। इससे इन्द्रियोंकी अधीनता नहीं स्वीकार करनी पड़ेगी, और इन्द्रिय-जय सहज ही हो जायगी। बहुतसे लोग सोचते हैं कि मैं जब क्रिया करता हूँ, भगवत्स्मरण करता हूँ, तो इन्द्रियाँ फिर क्यों सिर उठायेंगी? यह बात लड़कोंकीसी है। प्रकृतिको अपने वशमें लाना सबसे कठिन कार्य है। मैं इसे वशमें करूँगा ही, इस प्रकारका दृढ़ सङ्कल्प करके भी बहुतोंको असफल होते देखा गया है। इसका सहज उपाय भगवान् कहते हैं—'देखो, तुम सोचते हो कि मैं अच्छा हो जाऊँगा, अतएव मेरी प्रकृति भी साथ ही साथ अच्छी हो जायगी—यह धारणा भ्रमपूर्ण है, यह कभी नहीं होता। प्रकृतिका कार्य प्रकृति करे, इसके लिए असहिष्णु न बनो। प्रकृति अपना कार्य करेगी, और तुम अपना कार्य करो। इससे तुम देखोगे कि तुम जितना ही गम्भीर भावसे और दीर्घकाल तक आत्मक्रियामें मन लगाते हो, उतना ही तुम्हारा मन विषयोंसे हटता जाता है। इस प्रकारके साधनाभ्याससे तुममें एक शक्ति उत्पन्न होगी। वह इस प्रकार होगा—मान लो कि तुम एक सुन्दरी स्त्री देखते हो और कामसे मोहित हो जाते हो। जिसको अपनी ओर लक्ष्य रखनेका अभ्यास है वह उसी समय यह धारणा करेगा कि प्रकृति अपना कार्य किस प्रकार कर रही है। प्रकृतिका कार्य रूप भी है और मन भी है। रूपने मनको आकर्षण किया, और मन भी प्रलुब्ध हो गया—यह सब ठीक है। परन्तु भगवान् साधकको सावधान होनेके लिए कहते हैं। प्रकृतिका कार्य चाहे जो हो—'तयोर्न वशमागच्छेत्' उनके वशवर्ती मत होना। अर्थात् उनका उदय देखकर पुनः पुनः उनका स्मरण नहीं करना चाहिए। इस समय पुरुषार्थका अवलम्बन कर मनको पुनः पुनः उनके चिन्तनसे निवृत्त करना पड़ेगा। निवृत्त करनेके अनेक उपाय हैं, उनमेंसे किसी एक मार्गका भी अवलम्बन करनेसे कृतकार्यता प्राप्त होगी। मान लो कि उस समय दूसरा प्रसङ्ग उठाकर, सत्कथाके द्वारा या बलात् ४–५ प्राणायाम करनेसे नाड़ीकी उत्तेजना कम हो जायगी। क्रियाके द्वारा इन्द्रियोंकी राग-द्वेष बुद्धि दोनों ही उपशमको प्राप्त होती हैं, तब अपने आप शास्त्रके आदेश और गुरुवाक्यके पालन करनेकी इच्छा होती है। पुरुषार्थ बुरी वस्तु नहीं है, अहङ्कार मात्र भी नहीं है। पुरुषार्थका माने है पुरुषका अर्थ या विषय। जैसे पुरुष निर्गुण, निर्लिप्त, अपने आपमें मग्न होता है उसी प्रकार बननेके लिए जो साधक चेष्टा करता है उसके प्रयासको ही पुरुषार्थ कहते हैं। जो लोग प्रकृतिके वशीभूत हैं, अतएव कामोपभोगपरायण हैं, वे किसी प्रकारका पुरुषार्थ नहीं करना चाहते। जड़के समान निद्रा, आलस्य और व्यर्थ आमोदके वशीभूत होकर सुख-दुःखादिके तापसे निरन्तर सन्तप्त होते रहते हैं। इन्द्रियोंको विषयोंके प्रति स्वाभाविक रागद्वेष रहता है। वह अपनी बुद्धिके विचारसे दूर नहीं किया जा सकता। इसके लिए शास्त्र-श्रवण और शास्त्र-विचार आवश्यक है, इसके द्वारा हेय और उपादेय विषयोंका ज्ञान प्राप्त होता है। इससे मनुष्य अपना हिताहित समझ सकता है, और उसके साथ साथ यदि नियमित रूपसे भगवदाराधना और सत्सङ्ग चलता है तो इससे मुमुक्षुत्व अपने आप जाग उठेगा। जब मुमुक्षुत्व

प्रबल होकर जाग उठेगा तब जीवकी स्वाभाविक रागद्वेषकी प्रबलता कम हो जायगी, तब भगवत्स्मरणमें आनन्द आयेगा, और इस आनन्दसे नये संस्कार उत्पन्न होंगे जिनके द्वारा प्रकृति पर विजय पाना संभव हो जायगा। जो लोग आत्मध्यान, और आत्मविचारमें रत रहते हैं, जप-तप आदिके अनुष्ठानमें बराबर लगे रहते हैं, स्वाध्यायशील हैं, वे प्रकृति अर्थात् देह-इन्द्रिय और मन आदिके प्रति कुछ भी विश्वास नहीं रखते। वे जानते हैं कि ये तनिक भी छिद्र पाने पर महान् अनर्थ उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए वे सदा अपनेको भगवत्स्मरण और मनन आदिमें लगाये रखते हैं। वे जानते हैं कि इस जगत्में सब कुछ अनित्य है, यहाँ पाने या ग्रहण करने योग्य कोई भी वस्तु नहीं है। अतएव सांसारिक वस्तुओंमें लोभरहित होकर, सर्वदा मनको भगवत्स्मरणमें लगाये रखते हैं, फलस्वरूप वे उपराम प्राप्तकर परमानन्द लाभ करते हैं। विषयोंके सम्पर्कमें जाने पर भी वे भगवान्को नहीं भूलते, भ्रमवश भी वे अपनेको कर्त्ता या भोक्ता मानकर व्यर्थकी विड़म्बनामें नहीं पड़ते। ये सब पुरुष ही उस तद्विष्णुके परमपदको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाते हैं और प्रकृतिके स्वामीका भजन करके उनके साथ ऐकात्म्य प्राप्तकर प्रकृतिके परे पहुँच जाते हैं। इस अभ्यासयोगके द्वारा भागवती चित्त प्राप्त करनेकी बात गीतामें उपदिष्ट है। अन्यत्र भी लिखा है—

'एवं निरन्तरं कृत्वा ब्रह्मैवास्मीति वासना।
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव रसायनम्॥'

रसायनके प्रयोगके द्वारा जिस प्रकार रोग नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार जो निरन्तर 'मैं ब्रह्म हूँ' या 'मैं ब्रह्मका हूँ'—यह स्मरण करते हैं उनकी अविद्या-विक्षेपादि सब नष्ट हो जाते हैं॥३४॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥३५॥

अन्वय—स्वनुष्ठितात् (सम्यक् रूपसे अनुष्ठित) परधर्मात् (परधर्मसे) विगुणः (अङ्गहीन) स्वधर्मः (स्वधर्म) श्रेयान् (श्रेष्ठ है); स्वधर्मे (स्वधर्ममें रहकर) निधनं (मरना भी) श्रेयः (कल्याणकर है) [परन्तु] परधर्मः (परधर्म) भयावहः (भयावह होता है)॥३५॥

श्रीधर—तर्हि स्वधर्मस्य युद्धादेर्दुःखरूपस्य यथावत् कर्त्तुमशक्यत्वात् परधर्मस्य चाहिंसादेः सुकरत्वाद्धर्मत्वाविशेषाच्च तत्र प्रवर्तितुमिच्छन्तं प्रत्याह—श्रेयानिति। किञ्चिदङ्गहीनोऽपि स्वधर्मः श्रेयान् प्रशस्यतरः। स्वनुष्ठितात् सकलाङ्गसंपूर्त्या कृतादपि परधर्मात्सकाशात्। तत्र हेतुः—स्वधर्मे युद्धादौ प्रवर्त्तमानस्य निधनं मरणमपि श्रेष्ठं स्वर्गादिप्रापकत्वात्। परधर्मस्तु परस्य भयावहो निषिद्धत्वेन नरकप्रापकत्वात्॥३५॥

अनुवाद—[युद्धादि स्वधर्मको दुःखरूप समझकर तथा यथावत् पालनमें असमर्थ होकर, अहिंसादि परधर्मको सुकर मानकर उसमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा करने वाले अर्जुनसे कहते हैं]—स्वधर्म कुछ अङ्गहीन होने पर भी उत्तम ढंगसे अनुष्ठित सर्व अवयवोंसे पूर्ण परधर्मकी अपेक्षा प्रशस्यतर अर्थात्

श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि स्वधर्म युद्धादिमें प्रवर्त्तमानका मरण भी श्रेष्ठ है क्योंकि वह स्वर्गादिको प्रदान करता है। परन्तु परधर्म निषिद्ध है, क्योंकि वह नरकमें ले जानेके कारण भयावह है ॥३५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहना अच्छा है, दूसरी ओर आसक्तिपूर्वक दृष्टि करनेसे या करनेमें मृत्यु है।

—मृत्युही जीवके लिए सर्वापेक्षा भयावह है। अन्य दिशामें आसक्तिवश मनका जो निरन्तर चाञ्चल्यभाव है, वही मृत्युका मार्ग है। इसके विपरीत अर्थात् मनः-प्राणकी स्थिरावस्था ही अमरत्व की प्राप्तिका मार्ग है। अतएव यह अवस्था जिस कार्य द्वारा मिल सके, उस कार्यका अनुसरण ही स्वधर्म-पालन है। यह शरीर ही 'क्षेत्र' है, यह गीतामें कहा है, और वह धर्मप्रापक होनेके कारण 'धर्मक्षेत्र' भी है। धर्मप्रापक कैसे ?—'धारणाद्धर्ममित्याहुः'—धारणार्थक 'धृ' धातुसे धर्म शब्द बनता है। भूतके प्रति दया भी धर्म है, यह प्रथम अध्यायके प्रथम श्लोकमें व्याख्यात हुआ है। यह देह ही पञ्चतत्त्व, ज्ञान और कर्मेन्द्रियोंका आधार है। मेरुदण्डको आश्रित कर जो सुषुम्ना नाड़ी सहस्रार पर्यन्त विस्तृत है उसको गुरुकी कृपासे जानकर चैतन्यमय कर सकने पर मनुष्य जन्म, जरा और मरणकी अधीनतासे अथवा इस देह-बन्धनसे निस्तार पा जाता है। यही है अपने प्रति अपनी दया। क्रियाके बिना इस दयाका प्रकाश ठीक तौर पर नहीं होता, क्योंकि क्रियाके द्वारा ही यह पथ परिष्कृत होता है। शुभाशुभ कर्मका आधार ही यह देह है। इस देहका सम्बन्ध छूटे बिना कर्म-क्षय नहीं होता, और कर्मक्षय हुए बिना भवबन्धन भी नहीं कटता, अतएव मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं होती।

"यावन्न क्षीयते कर्म शुभञ्चाशुभमेव वा।
तावन्न जायते मोक्षः नृणां कल्पशतैरपि ॥"

अतएव क्रिया करनेके लिए इस देहकी रक्षा आवश्यक है। सुषुम्नाको चैतन्ययुक्त करनेके लिए प्राणायाम रूप योग-कौशल जानना चाहिए। प्राणायामके द्वारा ही श्वास चैतन्ययुक्त होता है, इससे सुषुम्नाका मुँह खुल जाता है। इससे मनका त्राण होता है अर्थात् चाञ्चल्य रहित होकर स्थिरता प्राप्त करनेके कारण यहाँ मन्त्रके मन्त्रनामकी (मननात् त्रायते) सार्थकता दृष्ट होती है। तन्त्रमें लिखा है—

"शिवादिकृमिपर्यन्तं प्राणिनां प्राणवर्तनम्।
निःश्वास-श्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते प्रिये ॥"

शिवसे लेकर कृमि पर्यन्त प्राणियोंके प्राणावर्तन रूप श्वास-प्रश्वासको मन्त्र कहते हैं।

"मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः।
शतकोटि जपेन्नित्यं तस्य सिद्धिर्न विद्यते ॥"

मन्त्रका यथार्थ मानी है श्वास और उसको चैतन्य करनेका उपाय है श्वास-क्रिया या प्राणायाम। प्राणायामके द्वारा तथा योनिमुद्राकी सहायतासे उस जगत्-प्रसविताकी वरणीय शक्ति या तेजके प्रकाशका अनुभव होता है। उस तेजके अन्तर्गत

एक कृष्णवर्ण गोलक दीख पड़ता है, उसको 'भ्रामरी गुहा' भी कहते हैं। इस गुहामें स्थित पुरुषको जान लेने पर ही जीवका जन्म सार्थक हो जाता है। दूसरा उपाय नहीं है। क्योंकि इस क्रियाकी परावस्था ही मोक्ष है, उस मोक्षकी ओर दृष्टि न हो तो मन संसार-चक्रमें निविष्ट होगा ही, अतएव स्वधर्माचरण (क्रिया करना) ठीक तौरसे अनुष्ठित न हो तो भी पूर्णरूपेण अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। परधर्म चाहे कितना भी उच्चतर हो, वह देहादि भावका अतिक्रम नहीं कर सकता। अतएव भोगादि इन्द्रिय-धर्मकी चाहे कितनी भी प्रशंसा की जाय, तथा मनके लिए कितना भी वाञ्छित क्यों न हो, जीवका परित्राण करनेमें वह समर्थ नहीं है। बल्कि इन्द्रियादिके भोगोंमें आकण्ठ डूबा हुआ जीव सन्तप्त चित्तसे त्राहि त्राहि करता है। अतएव परधर्म सुन्दर रूपसे अनुष्ठित होने पर भी अन्त तक भयावह बना रहता है; और उस का परिणाम दुःखप्रद होता है। इसीसे साधु लोग गुणातीत अवस्थाकी बात करते हैं, जिसको प्राप्त किये बिना जीवका परित्राण नहीं है। उसके लिए अभ्यास और तपका क्लेश उठाना भी ठीक है, परन्तु देहेन्द्रियादिके सुखकी लालसामें प्राकृत धर्म को स्वीकार कर लेना मानव-धर्मके विरुद्ध है। महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है— "महर्षियोंने अपने अपने विज्ञानके बलसे नाना प्रकारके धर्मोंका निर्देश किया है, उनमें उन सबके मतसे इन्द्रिय-संयम ही सर्वप्रधान है।" शान्तिपर्वमें एक और स्थलमें लिखा है कि "यथार्थ धर्मका निश्चय करना दुःसाध्य है। प्राणियोंके अभ्युदय, क्लेश-निवारण और परित्राणके निमित्त धर्मकी सृष्टि हुई है। अतएव जिसके द्वारा प्रजा अभ्युदयशाली हो, उसका क्लेश निवारण हो और परित्राण मिले—वही धर्म है।" बाह्य धर्मानुष्ठानके द्वारा जो बाह्य अभ्युदय प्राप्त होता है, वह जीवको कभी शान्ति प्रदान नहीं कर सकता, अतएव वह स्वधर्म नहीं हो सकता। "स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा"। जीव इस आनन्दस्वरूप आत्माको प्राप्त करके ही सुखी होता है।

"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥" कठोपनिषद्।

धीर पुरुष नश्वर शरीरोंमें अवस्थित अशरीर अर्थात् स्थूलसूक्ष्मादिशरीरके अतीत, देश-काल-गुण द्वारा अपरिच्छिन्न महान् सर्वव्यापी आत्माको जानकर फिर शोक नहीं करते।

अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुसे भी सूक्ष्मतर अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंके भी अतीत, 'महतः' आकाशादि बृहत् पदार्थोंसे भी 'महीयान्' अति बृहत् देशकालादिके भी अतीत, सुतरां बुद्ध्यादिके भी अतीत यह आत्मा जीवकी 'गुहायां' बुद्धिके अभ्यन्तर (भ्रामरी गुहाके अभ्यन्तर) अवस्थित है। 'धातुप्रसादात्'—शरीरादि इन्द्रियवर्गको धातु कहते हैं, इनकी प्रसन्नता या स्थिरतावश 'अक्रतुः' कामनाशून्य होकर 'वीतशोकः'

शोकरहित होकर मनुष्य आत्माकी 'तं महिमानं' उस महिमाको, अनादि, निर्विकार विशुद्ध चैतन्य स्वभावको 'पश्यति' साक्षात्कार करता है।

धातु अर्थात् प्राण-मन-इन्द्रियादिकी निर्मलता या स्थिरता प्राप्त हुए बिना कुछ होता नहीं है। अतएव इनको स्वच्छ बनाने पर ही यह आत्ममुखी होकर आत्मस्वरूपमें स्थिर हो सकते हैं। यही मनुष्य-जीवनकी चरम सार्थकता या कैवल्य-पद है। प्राणके प्रच्छर्दन और विधारणके द्वारा ही स्थिरता प्राप्त होती है। दूसरे उपाय गौण हैं ॥३५॥

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)—वार्ष्णेय (हे वृष्णिवंशोत्पन्न!) अथ (तब) केन (किसके द्वारा) प्रयुक्तः (प्रेरित होकर) अयं (यह) पूरुषः (मनुष्य) अनिच्छन् अपि (इच्छा न करते हुए भी) बलात् (बलपूर्वक) नियोजितः इव (नियोजित हुआ सा) पापं चरति (पापाचरण करता है?) ॥३६॥

श्रीधर—तयोर्न वशमागच्छेदित्युक्तम्। तदेतदशक्यं मन्वानोऽर्जुन उवाच—अथेति। वृष्णेर्वंशेऽवतीर्णो वार्ष्णेयः। हे वार्ष्णेय! अनर्थरूपं पापं कर्तुमनिच्छन्नपि केन प्रयुक्तः प्रेरितोऽयं पूरुषः पापं चरति? कामक्रोधौ विवेकबलेन निरुद्धतोऽपि पुरुषस्य पुनः पापे प्रवृत्ति-दर्शनात्। अन्योऽपि तयोर्मूलभूतः कश्चित् प्रवर्त्तको भवेदिति संभावनायां प्रश्नः ॥३६॥

अनुवाद—[रागद्वेषके अधीन न हो, यह पहले ही कहा जा चुका है, परन्तु उसको असाध्य मान कर] अर्जुन बोले—हे वृष्णिकुलोत्पन्न! अनर्थरूप पाप कर्म करने की इच्छा न होते हुए भी किसके द्वारा प्रेरित होकर यह पुरुष पापाचरण करता है? विवेकबलसे काम-क्रोधका निरोध करनेवाले पुरुषकी भी पुनः पापमें प्रवृत्ति देखी जाती है। [अतएव इसका मूलभूत कोई प्रवर्तक होना चाहिए, इस संभावनासे अर्जुनने यह प्रश्न किया है] ॥३६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा अनुभव हो रहा है,—परन्तु जो उत्तम पुरुष है वह किस कारण पापाचरण करता है, इच्छा न होते हुए भी बलपूर्वक नियुक्त कराता है।

—सारे अनर्थोंका मूल कारण यह पापप्रवृत्ति पुरुषमें कहाँसे आती है? पाप घोर अनिष्टकारक है, यह सब जानते हैं, पाप करना सदा अच्छा लगता हो, ऐसी बात भी नहीं है। तथापि ऐसा लगता है कि मानो जीव बाध्य होकर पापोंमें प्रवृत्त होता है। क्यों? तथा किस उपायसे इस पाप-प्रवृत्तिका उच्छेद हो सकता है, इसका उपाय जिज्ञासा करते हुए अर्जुन यह प्रश्न कर रहे हैं। क्योंकि उपाय ज्ञात होने पर ही साधक उस विषयमें यथासाध्य प्रयत्न कर सकता है ॥३६॥

श्रीभगवान् उवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—एषः कामः (यह काम) एषः क्रोधः (यह क्रोध) रजोगुणसमुद्भवः (रजोगुणसे उत्पन्न है) महाशनः (अपरिमित भोगसे भी जिसकी क्षुधा-निवृत्ति नहीं होती वह) महापाप्मा (अति उग्र) इह (मोक्षमार्गमें) एनं (इसको) वैरिणम् (शत्रु) विद्धि (जानो) ॥३७॥

श्रीधर—अत्रोत्तरं—श्रीभगवानुवाच काम एष क्रोध एष इत्यादि । यस्त्वया पृष्टो हेतुरेष काम एव । ननु क्रोधोऽपि पूर्वं त्वयोक्त इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे इत्यत्र । सत्यम् । नासौ ततः पृथक् । किन्तु क्रोधोऽप्येष एव । काम एव हि केनचित् प्रतिहतः क्रोधात्मना परिणमते । अतः पूर्वं पृथक्त्वेनोक्तोऽपि क्रोधः कामज एवेत्यभिप्रायेणैकीकृत्योच्यते । रजोगुणात्समुद्भवतीति तथा । अनेन सत्त्ववृद्ध्या रजसि क्षयं नीते सति कामो न जायत इति सूचितम् । एनं काममिह मोक्षमार्गे वैरिणं विद्धि । अयं च वक्ष्यमाणक्रमेण हन्तव्य एव । यतो नासौ दानेन सन्धातुं शक्य इत्याह—महाशनः । महदशनं यस्य सः दुष्पूर इत्यर्थः । न च साम्ना सन्धातुं शक्यः । यतो महापाप्माऽत्युग्रः ॥३७॥

अनुवाद—(इसके उत्तरमें) श्रीभगवान् बोले—जो तुमने पूछा है उसका कारण काम है । पहले क्रोधके बारेमें भी कहा गया है, वह भी कारण है । परन्तु काम और क्रोध पृथक् पृथक् नहीं है । काम किसी कारणसे प्रतिहत होने पर क्रोधमें परिणत हो जाता है । पहले पृथक् रूपमें कहे जाने पर भी क्रोध कामज है । यह काम और क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं । सत्त्वकी वृद्धिसे जब रजोगुणका क्षय होता है तब फिर काम उत्पन्न नहीं होता । इस कामको मोक्ष मार्गका बैरी जानना चाहिए । कामको नीचे लिखे (अगले श्लोकोंमें कहे गये) उपायोंसे वध करना होगा । प्रबल शत्रुको साम, दान, भेद आदि उपायोंसे वशमें करना चाहिए । कामोपभोग प्रदानकर कोई इस कामको शान्त नहीं कर सकता । अतएव 'दान' द्वारा कुछ काम नहीं चलेगा । क्योंकि यह महाशन अर्थात् दुष्पूर है । इसको 'साम' द्वारा भी वशमें नहीं कर सकते क्योंकि यह महापाप्मा अर्थात् अत्यन्त उग्र है ॥ ३७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है—इच्छा और क्रोध जो रजोगुणसे उत्पन्न हैं, ये शत्रु हैं तथा बड़े पापी हैं ।

—ग्रहण और त्यागकी इच्छाओंको काम कहते हैं । इच्छामें बाधा पड़ने पर वह क्रोधके रूपमें प्रकट होती है । जब तक मन है तब तक ग्रहण और त्याग रहेगा ही, अतएव क्रोध भी रहेगा । जबतक प्राणवायु मस्तकमें चढ़कर नहीं बैठती, तबतक मन कदापि शान्त न होगा, और न काम-क्रोधकी निवृत्ति होगी । संसार-क्षेत्रमें और विशेषतः साधनाके क्षेत्रमें ये ही प्रधान शत्रु हैं । सारे अनर्थ घटाते हैं ये ही दोनों । प्राणायाम करते-करते ब्रह्मनाड़ीका भेद होने पर

ही प्राण और उसके साथ मनका उपराम हो जाता है। इसलिए खूब मन लगाकर प्रच्छर्दन-विधारण करना पड़ता है, सदा श्वासमें ही लक्ष्य रखना पड़ता है। शास्त्र कहते हैं कि, "काम-निग्रह ही धर्म और मोक्षका बीज है। निर्ममता और योगाभ्यासके बिना काम जय नहीं होता।" (अश्वमेधपर्व—कामगीता)। आत्माके सिवा अन्य वस्तुओंका बोध ही मूल अज्ञान है। यह अज्ञान ही काम-संकल्पादिका मूल आधार है। काम-संकल्प जितना ही बढ़ता है, आत्मदृष्टि उतनी ही लुप्त हो जाती है, बहिर्दृष्टि उतनी ही फैलती है। उतना ही आवरणके ऊपर आवरण चढ़ता जाता है। "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥" (गीता)। ब्रह्मकी जिस मायाशक्ति अर्थात् प्राणसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है, कारण रूपमें जो ब्रह्म इस ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर अवस्थित हैं, मानव आत्मकर्म अर्थात् प्राणकी उपासना द्वारा जब उनकी अर्चना करता है तो भगवान्‌की मायाशक्ति संकुचित होती है, तब अनन्त विश्वब्रह्माण्डमें व्यापक परमानन्दरूपिणी शुद्ध भागवती शक्तिका विकास होता है, और उसके फलस्वरूप जीव तत्त्वज्ञान प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाता है ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) वह्निः (अग्नि) धूमेन (धूमके द्वारा) आव्रियते (आवृत होता है), यथा (जिस प्रकार) आदर्शः (दर्पण) मलेन च (मलके द्वारा आवृत होता है), यथा (जैसे) उल्बेन (जारायुके द्वारा) गर्भः आवृतः (गर्भ आवृत होता है) तथा (उसी प्रकार) तेन (उस अर्थात् कामके द्वारा) इदं (यह ज्ञान) आवृतं (आवृत होता है) ॥ ३८ ॥

श्रीधर—कामस्य वैरित्वं दर्शयति—धूमेनेति। धूमेन सहजेन यथा वह्निराव्रियत आच्छाद्यते। यथा चादर्शो मलेनागन्तुकेन। यथा चोल्बेन गर्भवेष्टनचर्मणा गर्भः सर्वतो निरुद्ध आवृतः। तथा प्रकारत्रयेणापि तेन कामेनावृतमिदम् ॥ ३८ ॥

अनुवाद—[कामका वैरित्व दिखलाते हैं]—सहोत्पन्न धूम जिस प्रकार अग्निको आच्छादित करता है, आगन्तुक मल जिस प्रकार दर्पणको आच्छादित करता है, और जरायु अर्थात् गर्भवेष्टन-चर्म जिस प्रकार गर्भको सर्वतोभावेन आवृत करता है उसी प्रकार तीन प्रकारोंसे काम विवेकज्ञानको आच्छादित करता है ॥३८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छारूपी अग्नि धूमके द्वारा आवृत रहती है, क्रोध-रूपी दर्पण मैलसे ढका रहता है, थोड़ा वायुका सञ्चार होते ही बलपूर्वक प्रकाशित कर देता है।

—कभी कभी हमारे मनमें आता है कि काम-क्रोधादि शत्रु हमारे मनसे निकल गये हैं, परन्तु यह भूल है। वासनाकी वायु तनिक भी बही, कि न जाने वे कहाँ से भस्माच्छादित अग्निके समान प्रज्वलित हो उठते हैं। जीवके विवेकज्ञानको वे ही

नष्ट करते हैं। यदि काम और क्रोध न होते तो किसीके लिए आत्मदर्शन कठिन न होता। जीव यद्यपि स्वभावतः प्रज्ञानमय है, परन्तु वासनाजनित धूमके द्वारा ज्ञानाग्नि सदा आच्छन्न रहती है। वासना मनका कार्य है। मेघाच्छादित सूर्य जब मेघमुक्त होता है तब जैसे उसका प्रकाश पुनः देखनेमें आता है, मनके वासना-शून्य होने पर आत्मप्रकाश भी उसी प्रकार लक्षित होने लगता है। वासना या काम आत्माके आवरक हैं। जैसे मेघ जब सूर्यको आवृत करता है तो उसकी रश्मि पूर्णतः लुप्त नहीं होती, उसी प्रकार आत्माका सच्चिदानन्द भाव काम द्वारा आच्छादित सा जान पड़ता है, परन्तु उसका प्रकाश पूर्णतः आच्छन्न नहीं हो सकता। घनाच्छन्न सूर्यको देखनेके लिए जैसे मेघका दूर होना आवश्यक है उसी प्रकार आत्माको देखनेके लिए कामको हटाना आवश्यक है। ज्ञान-स्वरूप आत्माको काम तीन प्रकारसे आवृत करता है, उसे यहाँ तीन दृष्टान्तों द्वारा दिखलाया गया है। काम ही अज्ञानका सुदृढ़ आधार है। काम नष्ट होने पर अज्ञान भी साथ ही साथ नष्ट हो जाता है। जीव स्थूल शरीर धारण करनेके पहले पूर्व कर्मोंके अनुसार अपने सूक्ष्म शरीरकी रचना कर लेता है। वही पुनः अपने अदृष्टके वश होकर माता-पिताके सहयोगसे स्थूल पिण्ड-शरीरकी रचना कर लेता है। निश्चय ही जीवका कारण शरीर पहलेसे ही रहता है, क्योंकि जब तक मूल अविद्या नष्ट नहीं होती अर्थात् मुक्ति-लाभ नहीं होता, तब तक वह नष्ट नहीं होता है। प्रत्येक जन्ममें जीवके सूक्ष्म शरीरकी सृष्टिके साथ काम भी सूक्ष्मशरीरमें सूक्ष्मभावसे विद्यमान रहता है। स्थूल शरीर प्राप्त करनेके बाद जैसे जैसे स्थूल शरीरकी पुष्टि होती है, वैसे वैसे यह सूक्ष्म शरीर भी पुष्ट होता जाता है, और उसमें निहित वासना-बीज भी क्रमशः विकसित होता जाता है।

देहावृत आत्माकी कैसी अवस्था होती है, यही यहाँ बतलाते हैं। पहले यह धूमावृत वह्निके समान रहता है। धूमावृत वह्निमें भी वह्निका प्रकाश सुस्पष्ट होता है, केवल थोड़ा धूमावृत होता है, उसमें सहज ही अग्निका सन्धान प्राप्त हो सकता है। यही है कारण शरीर और उसके भीतर आत्माकी बात। तत्पश्चात् सूक्ष्म शरीर है, और उसके भीतर जीव नाना प्रकारकी वासनाओंसे आवृत होनेके कारण और भी आच्छादितवत् प्रतीत होता है—जैसे मललिप्त दर्पण। जिस प्रकार मललिप्त दर्पणमें ठीक प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता—उसी प्रकार वासनावेगमयी सूक्ष्म शरीरमें आत्मस्वरूपका स्फुरण अत्यन्त अस्पष्टवत् प्रतिभात होता है। परन्तु तनिक परिश्रम करके दर्पण साफ करने पर जैसे प्रतिबिम्ब सुस्पष्ट भावसे पड़ने लगता है, उसी प्रकार विचार और साधनकी सहायतासे जब अशुभ वासनाका वेग ह्रासको प्राप्त होता है तो उसमें समुज्ज्वल आत्मज्ञान सुस्पष्ट झलकने लगता है। अन्तमें स्थूलतम पिण्डमें कामके विषयोपभोगकी चेष्टा पूर्णताको प्राप्त होती है। यहाँ ही आत्मा मानो लुप्तवत् जान पड़ता है। इसकी तुलना जरायुमध्यस्थ भ्रूणके साथ भलीभाँति की जा सकती है। जरायुके भीतर भ्रूण जिस प्रकार अज्ञानाच्छन्न अवस्थामें रहता है, वहाँ ज्ञानशक्तिके किसी विकासका अनुभव नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार कामोपभोगकी चेष्टामें तथा

भोग्य वस्तुके संग्रहमें बुद्धि इतनी स्थूल हो जाती है और इतना अधिक विषयदर्शी हो जाती है कि आत्मज्ञानका प्रकाश मानो वहाँ कुछ रह ही नहीं जाता।

जिस प्रकार ये तीन आवरण हैं उसी प्रकार अज्ञानके आवरणके उन्मोचनके लिए साधक भी साधनाकी तीन अवस्थाएँ देख पाते हैं। पहली जरायुके आवरणके समान है। पूर्ण अन्धकार विराजमान है—आत्मा, भगवान्, ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञानका कोई बोध ही नहीं रहता। भगवत्साधनाके सम्बन्धमें बिल्कुल निश्चेष्ट जड़वत् भाव रहता है। इस अवस्थामें भगवान् जीवकी बुद्धिके बाहर पड़े रहते हैं। और जीव सिर्फ सांसारिक कामोपभोगको लेकर व्यस्त रहता है। इस अवस्थामें आत्माकी ज्ञानज्योति पूर्णतः समाच्छादित होती है। यद्यपि बहुत कहने सुनने पर कहीं साधन ग्रहण करता भी है तो कुछ कर नहीं पाता। साधन करनेकी इच्छा भी नहीं होती, और करने पर रस नहीं मिलता। तत्पश्चात् इस स्तरको अतिक्रम कर जीव जब प्रकृत साधक हो उठता है, अर्थात् साध्य वस्तु और साधना जब उसे अच्छी लगने लगती है, तब ज्ञान-ज्योतिसे अन्तराकाश भर जाता है। प्राणकी साधनासे जिह्वा-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, हृदयग्रन्थि भी क्षीणसे क्षीणतर हो जाती है। आत्मज्योति-का विमल प्रकाश मनको आनन्दित और उत्साहित कर देता है। मण्डलाकार गर्भाच्छादक उल्बको भेद करके तब दिव्य प्रकाश अन्तराकाशमें उसी प्रकार क्रीड़ा करता है जैसे मेघके क्रोड़में सौदामिनी विलसित होती है। दर्पणके मलको घिसते-घिसते जैसे वह मलशून्य हो जाता है और तब जैसे उसमें अपना प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, ठीक उसी प्रकार साधनाके प्रबल अभ्याससे मन जड़त्वसे हटकर सूक्ष्मभावकी ओर अग्रसर होता है। तब फिर इस जड़देह और इसकी चेष्टाकी ओर मनका विशेष लक्ष्य या आग्रह नहीं रहता। तब मनकी मैल दूर हो जाती है, भीतर अनन्त रूपभण्डारका द्वार उन्मुक्त हो जाता है, अनाहतके नौबतखानेमें कैसा स्वर्गीय मधुर वाद्य बजने लगता है, अद्भुत् प्राणविमोहन वंशीध्वनिसे मनःप्राण मुग्ध हो जाते हैं, दीर्घ घण्टाध्वनिसे मनका आतङ्क मिट जाता है। आकाशमें प्रकाशमान दिव्य चक्षुके समान आत्मज्योतिके प्रकाशका अनुभव होता है। अनेक दिव्यदर्शन और देवदर्शन होते हैं। परन्तु उस अवस्थामें भी बहुत कुछ बाकी रह जाता है। उस समय भी आत्मज्ञान अपनी महिमामें उद्भासित नहीं होता, साधक सदाके लिए अज्ञान-पाशसे मुक्ति नहीं पाते। उस समय और भी तीव्र साधनाका प्रयोजन होता है। ॐकार-क्रियासे साधक जाग्रत होकर भूतशुद्धि आरम्भ कर देते हैं। इस भूतशुद्धिका अन्त होने पर सारे आवरण हट जाते हैं। अन्तिम आवरण है कारण शरीर। इसमें ही अनादि अज्ञान-बीज निहित रहता है। इसके दूर होने में साधकके बहुत दिन और बहुत जन्म लग जाते हैं। 'छायातपयोरिव ब्रह्मलोके'—तब बहत्तर हजार नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं और इन सारी नाड़ियोंके अधिष्ठातृ देवता तब चैतन्ययुक्त होकर जाग उठते हैं। तब जीव सच्चिदानन्द-मय ब्रह्मचैतन्यमें प्रवेशोन्मुख होकर—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'को अपने ज्ञानका विषय कर लेता है। उषाकालकी स्निग्ध ज्योतिके समान, मेघके भीतर पूर्णचन्द्रके

प्रकाशके समान सदा ही आत्मज्योति और आत्मज्ञानका प्रकाश मिलता रहता है, सारे देह और इन्द्रियादिके ऊपर आधिपत्य फैल जाता है, कूटस्थके भीतर स्निग्ध-उज्ज्वल शुभ्र ज्योतिर्मय चिदाकाश सुस्पष्ट हो उठता है, बुद्धि अन्तर्मुखी होकर आत्मस्वरूपमें विलीनप्राय हो जाती है, सविकल्प समाधि सुदीर्घ और सुस्पष्ट भावसे विराजमान होती है। तभी अन्तिम आवरण कारण शरीर अस्तोन्मुख होकर अनन्त आत्मसत्तामें, अनन्त चिद्ज्योतिमें चिरदिनके लिए विलीन हो जाता है। इसके पूर्ण होने पर आवरण या अज्ञान कुछ नहीं रह जाता। यही महामहेश्वर-भाव कहलाता है।

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।'

तब 'ब्रह्मैवाहम्'—यह दृढ़ निश्चयता उपस्थित होती है तथा देहादिमें अभिमान-शून्य होकर साधक प्रसन्नचित्त हो जाते हैं, तब प्राप्त वस्तुके नष्ट होने पर भी उसके लिए शोक नहीं होता, तथा अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिके लिए मनमें आकांक्षा भी नहीं उत्पन्न होती ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) ज्ञानिनः (ज्ञानीके) नित्यवैरिणा (चिर शत्रु) दुष्पूरेण (दुष्पूरणीय) अनलेन च (अग्नि स्वरूप) एतेन कामरूपेण (इस कामके द्वारा) ज्ञानं (ज्ञान) आवृतम् (आवृत् रहता है) ॥३९॥

श्रीधर—इदंशब्दनिर्दिष्टं दर्शयन् वैरित्वं स्फुटयति—आवृतमिति। इदं विवेकज्ञान-मेतेनावृतम्। अज्ञस्य खलु भोगसमये कामः सुखहेतुरेव। परिणामे तु वैरित्वं प्रतिपद्यते। ज्ञानिनः पुनस्तत्कालमप्यनर्थानुसन्धानाद्दुःखहेतुरेवेति नित्यवैरिणेत्युक्तम्। किञ्च विषयैः पूर्य-माणोऽपि यो दुष्पूरः। आपूर्यमाणस्तु शोकसन्तापहेतुत्वादनलतुल्यः। अनेन सर्वान् प्रति नित्यवैरित्वमुक्तम् ॥३९॥

अनुवाद—[इदं शब्दके निर्दिष्ट वस्तुका निर्देश करके कामके वैरित्वको स्पष्ट करते हैं]—हे कौन्तेय! इस कामके द्वारा विवेकज्ञान आवृत रहता है। अज्ञानी के लिए भोगके समय काम सुखहेतु जान पड़ता है सही, परन्तु परिणाममें काम शत्रुका ही कार्य करता है। और ज्ञानी परिणाममें दुःखदायक समझ भोगकालमें भी उसको दुःखका हेतु मानते हैं, इसी कारण ज्ञानीके लिए काम नित्य वैरी है। विषयोंके द्वारा परिपूरित होने पर भी यह कदापि पूरा नहीं होता, इसी कारण यह दुष्पूर है। सर्वदा भोगके द्वारा पूर्यमाण होने पर भी यह शोक-सन्तापका हेतु है, अतएव काम अनल-तुल्य है। इस कामके द्वारा ज्ञानीका ज्ञान समाच्छन्न होता है। [काम ज्ञानीका नित्य शत्रु क्यों है? शङ्कर कहते हैं—"ज्ञानी हि जानाति—अनेनाहमनर्थे प्रयुक्तः पूर्वमेवेति। अतो दुःखी च भवति नित्यमेव। अतोऽसौ ज्ञानिनो नित्यवैरी, न तु मूर्खस्य।" ज्ञानी

ही जानते हैं कि इस कामके द्वारा ही मैं अनर्थसे युक्त होता हूँ, इसीके कारण वह सर्वदा दुःखी रहते हैं। इसीसे यह ज्ञानीका ही नित्य वैरी है, मूर्खका नहीं]॥३९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियासे युक्त पुरुषोंका इच्छारूपी अनल अन्तःकरणमें आवृत होता है, तनिक भी प्रबल वायुके मिलते ही वह भक्से जल उठता है, तथा अहं इत्याकारक बुद्धिसे वह क्रोधान्वित हो जाता है।

—भीतर वासनारूप अग्नि है ही, तनिक भी विषय-संयोगरूपी वायुका योग मिलनेपर धाँय-धाँय जल उठती है। उसके साथ अहं अभिमानका योगदान करने पर वह सोलहों कलाओंसे पूर्ण हो जाती है। इस कामाग्निमें जितना ही विषय-भोग रूप हवि डाला जाय, उतना ही वह प्रज्वलित हो उठती है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

यथार्थ योगारूढ़ ज्ञानीको काम नहीं रहता, परन्तु जो योगारूढ़ नहीं हैं और उस पथपर चलते हैं उनको भी ज्ञानी कहते हैं। उनको ही कामके कारण विषय-विड़म्बना भोगनी पड़ती है। काम अच्छा भी नहीं लगता, पर संस्कारवश वह छूटता भी नहीं। इसलिए वे यथेष्ट सावधान और जाग्रत रहते हैं; तथापि समय-समय पर आत्मविस्मृति आती है। उस समय आत्मस्मृतिको जागरूक रखना ही उनकी अन्यतम साधना हो जाती है। अन्तमें साधक ही विजयी होते हैं। क्योंकि कामोपभोग उनके सामने प्रधान लक्ष्यका विषय नहीं रहता। भगवत्प्राप्तिकी इच्छा उनकी सारी वासनाओंमें भरी रहती है। ऐसे साधक-श्रेष्ठ पुरुष ही भगवत्कृपासे भगवान्में चित्त रखते-रखते कामजयी हो जाते हैं। श्रीमत् शङ्कराचार्यने कामपर विजय प्राप्त करनेका उपाय बतलाया है—

सङ्कल्पानुदये हेतुर्यथा भूतार्थदर्शनम्।
अनर्थचिन्तनं चाभ्यां नावकाशोऽस्य विद्यते॥
—(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह)।

वस्तुके यथार्थ स्वरूपका बोध, और उससे अनिष्ट प्राप्तिकी चिन्ता—इन दोनोंके विद्यमान रहते हुए मनमें कामसङ्कल्पका उदय नहीं हो सकता॥३९॥

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

अन्वय—इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) मनः बुद्धिः (मन और बुद्धि) अस्य (इस कामका) अधिष्ठानम् (आश्रय या आविर्भावस्थल) उच्यते (कहलाता है); एषः (यह काम) एतैः (इनके द्वारा) ज्ञानं (विवेक-ज्ञानको) आवृत्य (आच्छादित करके) देहिनं (देहाभिमानी जीवको) विमोहयति (विमुग्ध करता है)॥ ४०॥

श्रीधर—इदानीं तस्याधिष्ठानं कथयन् जयोपायमाह—इन्द्रियाणीति द्वाभ्याम्। विषयदर्शनश्रवणादिभिः सङ्कल्पेनाध्यवसायेन च कामस्याविर्भावादिन्द्रियाणि च मनश्च

बुद्धिश्चास्याधिष्ठानमुच्यते। एतैरिन्द्रियादिभिः दर्शनादिव्यापारवद्भिराश्रयभूतैर्विवेकज्ञानमावृत्य देहिनं विमोहयति ॥ ४० ॥

अनुवाद—[अब कामका आश्रय क्या है, यह बतलाकर उसकी जयका उपाय बतलाते हैं]—इन्द्रियोंके विषय दर्शन श्रवणादि, मनका विषय सङ्कल्प, बुद्धिका अध्यवसाय—इन तीनोंके द्वारा कामका आविर्भाव होता है, इसी कारण इन्द्रिय, मन और बुद्धिको कामका अधिष्ठान या आश्रय कहते हैं। काम दर्शनादि व्यापारोंके आश्रयभूत इन्द्रियादि साधनोंके द्वारा विवेकज्ञानको आवृत करके देहीको विमुग्ध करता है ॥ ४० ॥

आध्यात्मिक व्याख्या – आत्मामें सदा रहने नहीं देता। इन्द्रिय द्वारा आसक्ति पूर्वक किसी वस्तुको दिखाता है और मोहित हो जाता है।

—आत्मामें अवस्थित व्यक्तिको सङ्कल्पका उदय नहीं होता, परन्तु पक्के सिद्ध साधकके सिवा इस अवस्थामें कोई सर्वदा नहीं रह सकता, क्योंकि संकल्प-विकल्पसे रहित होकर मनके कुछ स्थिर होने पर भी अनादि वासना-बीजके प्रभावसे पुनः मन स्थानच्युत होकर सङ्कल्पादि करनेमें प्रवृत्त हो जाता है। यही साधारण नियम है। जिसका मन या बुद्धि पञ्चतत्त्वके क्षेत्रको छोड़कर आज्ञाचक्रमें या उससे ऊपर जाकर अवस्थित हो सकती है, काम तब उसके पास नहीं फटक सकता। मन उस समय स्वक्षेत्रमें रहता है अतएव उसकी शक्ति असाधारण हो जाती है, वहाँसे कोई उसे आकर्षित नहीं कर सकता। जब विषय-दर्शन ही नहीं है तो फिर सङ्कल्प कहाँसे उठेगा ? कामोत्पत्ति तो तब होती है जब मनमें विषय-दर्शनके द्वारा सङ्कल्पका मन्थन होता है। विषयभोग और विषयतृष्णा इन्द्रियोंके द्वारा होती है अतएव इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिको कामके आधार कहते हैं। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये तीनों कामके निवासस्थान हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रियोंके आश्रयस्थल शब्द स्पर्श रूप रसादि तथा कर्मेन्द्रिय वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, मनके नाना प्रकारके काम-सङ्कल्प, तथा बुद्धिके आश्रय अध्यवसायके सहारे काम विषयरसका उपभोग करता है, जब वह इन सब विषयोंके भोगमें सचेष्ट होता है तो ज्ञानज्योति आवृत्त हो जाती है। तब मोहान्धकार जीवको घेर लेता है। तब वह हिताहित ज्ञानसे शून्य हो जाता है। तो फिर क्या जीवके उद्धारका कोई उपाय नही है ?—है। विषयतृष्णाके प्रबल होने पर विवेकज्ञान आवृत तो होता है सही, परन्तु विलुप्त नहीं होता। काम प्रबल होने पर विवेकज्ञान दुर्बल हो जाता है और कामतृप्तिकी वस्तु प्राप्त होने पर लोभको संवरण करना कठिन हो जाता है। जिस प्रकार नशाबाज नशा पीकर उन्मत्त हो उठता है, उसी प्रकार जब मन निरन्तर विषयोंकी मदिरा पीकर उन्मत्त हो जाता है तब उसका विवेकज्ञान आच्छादित हो जाता है, और वह भूल जाता है कि वह आत्मा है, भगवान्‌का सेवक है, ज्ञानयुक्त मानव है—यह धारणा भी उसको नहीं रहता। इससे परित्राण पानेका उपाय क्या है ? मन जिस प्रकार विषयोन्मुख होने पर विषय-चिन्तन करते हुए विषयोंको ग्रहण करता है, वही आत्ममुखी होकर आत्मामें अवस्थित परमानन्दका भी उपभोग कर सकता है। रस ग्रहण करनेकी स्पृहा मनका

स्वभाव है। यदि भगवद्-रससे वह वञ्चित होता है तो विषय-रसमें अवश्य ही डूबेगा। अतएव साधकका यह कर्त्तव्य होता है कि मनको भगवद्-रसका आस्वाद देनेके लिए सचेष्ट हो। अन्यथा मनको विषयसे छुड़ाना कठिन है। यह आत्मरस आत्मामें ही विद्यमान है, आत्मा रस-स्वरूप है। 'रसो वै सः'। परन्तु इस रसको बाहर निकालना ही साधना है। इसके लिए कुछ अध्यवसाय और क्लेश भोगनेकी जरूरत पड़ती है। परन्तु यह अध्यवसाय और क्लेशभोग कैसे करना होगा? मनको किसी प्रकारसे अवसन्न होनेका मौका नहीं देना चाहिए। यदि मनको स्वयं सँभालनेमें असमर्थता जान पड़े तो तत्काल दौड़कर साधुओंका आश्रय लेना चाहिये, कभी कभी बलपूर्वक प्राणायाम तथा मुद्रा आदिके साधनमें बैठना होगा। इस प्रकार क्लेश-साधनसे मनकी अधोमुखी शक्ति क्षीण होगी, और साधुसंगसे उसकी ऊर्ध्वमुखी शक्ति बढ़ेगी। ब्रह्म निर्दोष और समरससम्पन्न हैं, यही उनकी विशेषता है। इस समरसका आस्वादन करनेके लिए इसके विरोधी रसका त्याग करना पड़ेगा। प्राणापानकी स्थिर अवस्था ही समरस है।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं च समाधिरमिधीयते॥

प्राणापानके स्थिर होने पर मन भी क्षीण हो जाता है अर्थात् सङ्कल्पशून्य हो जाता है। प्राणापानके जाग्रत रहने पर ही विषय-ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टा होती है। जब प्राणापानकी गति समभावापन्न हो जाती है, तो फिर विषयस्पृहा नहीं रहती। तब मन और इन्द्रियादि ब्रह्मानन्द-रसमें मग्न हो जाते हैं॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥४१॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ!) तस्मात् (इस लिए) त्वं (तुम) आदौ (पहले) इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) नियम्य (संयत करके) ज्ञानविज्ञान-नाशनं (ज्ञान और विज्ञानके विनाशक) पाप्मानं (पाप रूप) एनं हि (इस कामको ही) प्रजहि (परित्याग करो या विनाश करो)॥४१॥

श्रीधर—यस्मादेवं तस्मादिति। तस्मादादौ विमोहात् पूर्वमेवेन्द्रियाणि मनो बुद्धिं च नियम्य पाप्मानं पापरूपमेनं कामं हि स्फुटं प्रजहि घातय। यद्वा प्रजहिहि परित्यज। ज्ञानमात्मविषयम् विज्ञानं शास्त्रीयं तयोर्नाशनम्। यद्वा ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशजम्। विज्ञानं निदिध्यासनजम्। तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेति श्रुतेः [विज्ञानं विशेषतस्तदनुभवः—शङ्करः]॥४१॥

अनुवाद—अतएव हे भरतश्रेष्ठ! इन्द्रियाँ तुम्हें विमोहित करें, इसके पहले ही तुम इन्द्रिय, मन और बुद्धिको नियमित करके पापरूपी इस कामका विनाश करो। यह काम ज्ञान और विज्ञानका नाशक है। ज्ञान—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न ज्ञान। और विज्ञान—निदिध्यासनसे उत्पन्न ज्ञान। अर्थात् स्वानुभवका ज्ञान

ही विज्ञान है—शङ्कर। श्रुतिमें लिखा है कि धीर पुरुषको चाहिये कि शास्त्रोपदेशसे आत्माका ज्ञान प्राप्त कर, साधनकी सहायतासे उसके विशेष ज्ञान अथवा यथार्थ स्वरूपके बोधके लिए प्रयत्न करे ॥४१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इसलिए इन्द्रियोंको पहले निःशेषरूपसे संयत करके इन दोनों उपर्युक्त पापियोंको पराजय करो, जो योनिमुद्रा और क्रिया नहीं करने देते।

—इन्द्रियोंको वशमें न करनेके कारण ही मन और बुद्धिमें मलिनता आती है। इन्द्रियाँ ही कामके आश्रयस्थल हैं। इन्द्रियोंके प्रबल रहते चित्तका विक्षेप नष्ट नहीं होता। यदि इन्द्रियाँ विषयाभिमुखी न हों तो काम नहीं आ सकता। इन्द्रियोंके द्वारा विषय-स्पर्श होने पर ही उसके प्रति आसक्ति या कामकी उत्पत्ति होती है। परन्तु दृढ़ विचार सम्पन्न पुरुषका मन ब्रह्मभाव का अनुसरण करता है, उसे विषय हेय लगते हैं। अतएव इन्द्रियाँ विषय-स्पर्श नहीं कर पातीं और उनके मनमें विषय-प्राप्तिकी आशाका भी उदय नहीं होता। इन्द्रियोंके सामने विषय उपस्थित होते ही जैसे वह उसके प्रति मनोयोग देता है वैसे ही उस विषयके प्रति काम उत्पन्न होता है। उस समय संसारमें और देहमें रहते हुए विषयको वर्जित करना असंभव होता है। अतएव इसका उपाय क्या है ? यही यहाँ विवेचनीय है। मनमें दृढ़ता न होनेसे सारे विचार व्यर्थ हो जाते हैं। अतएव जिसका चित्त अपेक्षाकृत दृढ़ है, वह यदि विचार करे तो कोई न कोई उपाय निकल सकता है। पहले देखना यह है कि हमें विषयकी कितनी आवश्यकता है ? जितना विषय आवश्यक है उसके लिए तो चेष्टा करनी ही पड़ेगी, परन्तु बहुधा हम अनावश्यक विषयोंकी चिन्तामें रत होते हैं और कामको जीवित रखते हैं। ऐसा करने पर कभी काम पर विजय प्राप्त न होगी। जो अनावश्यक चिन्ताएँ हैं; उनका पहले त्याग करना होगा, पश्चात् जब मन कुछ सबल और एकाग्र हो जायगा तब जो चिन्ताएँ आत्मचिन्तनके लिए हितकर नहीं हैं संसारपक्षमें प्रयोजनीय होने पर भी उनको मनमें आने देना ठीक न होगा। संसारमें हमारे लिए प्रयोजनीय विषय बहुत ही अल्प हैं। उनके चिन्तनसे उतनी हानि भी नहीं होती, परन्तु अप्रयोजनीय विषयोंकी चिन्तासे हमारा यह अमूल्य जीवन निरन्तर ही विनाशके मुखमें जा पड़ रहा है। अप्रयोजनीय विषय मैं उसको कहता हूँ जिसके लिए चिन्ता न करने पर भी काम चल जाता है। और उसका प्रयोजन ऐहिक या पारलौकिक किसी भी स्थानमें नहीं पड़ता। ऐसे विषयोंका चिन्तन अनर्थकारी होता है। जो हमारी शक्तिके बाहर है उसकी प्राप्ति या त्यागके लिए व्याकुल होना भी अनर्थ चिन्तामें गिना जा सकता है। सब अवस्थाओंमें भगवान्के तथा उनके विधानके ऊपर आत्मसमर्पण करनेकी चेष्टा ही सारे अनर्थोंके नाशका हेतु है। मन लगाकर प्राणायाम करना अथवा कूटस्थमें लक्ष्य रखकर बैठ रहना, इन्द्रिय-जयका प्रधान उपाय है। शास्त्र कहते हैं—

"जपात् श्रान्तः पुनर्ध्यायेत् ध्यानात् श्रान्तः पुनर्जपेत्"—जप करते करते श्रान्त होने पर ध्यान करे, ध्यानमें परिश्रान्त होने पर फिर जप करे। इसके साथ साथ एक और विचार करे कि, एकमात्र भगवान् ही सत्य हैं, हमारा प्रयोजन उनसे ही है। यह जो बार बार जन्म-मरणकी चरखी पर चढ़कर हम क्लान्त और परिश्रान्त होते हैं वह कभी मिट नहीं सकता, यदि उस आत्मदेवको, उस जगत्-प्रभुको हम नहीं प्राप्त करते ! वह हमारे सात राजाके धन माणिक हैं। उनको पाये बिना हमारा कोई भी दुःख दूर न होगा। हमको यदि पृथिवीका सारा स्वर्ण, पशु और रमणी प्राप्त हो जाते हैं तथापि हमारा जीवन महती व्यर्थतामें अवसन्न हो जायगा। अतिमृत्युके हाथसे कभी त्राण न मिलेगा। अतएव प्रपन्न होकर उनके शरणागत हो जाओ, इससे तुम्हारा सारा क्षोभ, जीवनका समस्त सन्ताप अवसानको प्राप्त होगा। उनको छोड़कर तुम्हें जो कुछ मिलता है वह सब अपदार्थ है, अत्यन्त हेय है। अतएव विचार करके जगत्की समस्त हेय वस्तुओंसे ममताका परित्याग कर श्रीगुरुके दुर्लभ चरणोंका आश्रय लो। वह भवसागरके नाविक हैं तुमको अवश्य ही पार लगा देंगे। सोचो तो कि जीवनमें कितनी बार कितनी काम्य वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त हो चुकी हैं, कितनी बार तुमने उनका कितने प्रकारसे उपभोग किया है, कितनी बार तुमने सोचा है कि 'इस बार मेरी सारी आशाएँ मिट गयीं, परन्तु, हाय ! क्या कभी किसीकी भोगवासना निःशेष पूरी होती है ? इस भोगरूपी नरकमें डुबकी खाते खाते कितनी बार सोचा था कि इस नरकमें फिर न पड़ूँगा, परन्तु उससे उठते न उठते फिर उस नरकमें पतित होनेके लिए कितने प्रचण्ड वेगसे उसकी ओर अग्रसर हो रहे हो ! इस प्रकार कामोपभोगके द्वारा वासना-कण्टक दूर न होगा, काम-जय भी न होगी, तथा विज्ञानका विशुद्ध आलोक भी न फूट पड़ेगा। भाई साधक ! इसलिए विचार करो, उनके शरणागत हो, गुरुके उपदेशके अनुसार क्रिया करते चलो। और कोई उपाय नहीं है। कोई नया उपाय निकल आवेगा, इस प्रतीक्षामें पड़कर व्यर्थ समय नष्ट न करना। जय गोविन्द, जय गुरु कहकर कमर कसकर साधनमें लग जाओ, तभी जीवन कृतार्थ होगा। योनिमुद्रामें भ्रामरी गुहाके भीतर उस परम श्यामसुन्दर और शत-शशधर-किरण-लाञ्छित अपूर्व प्रोज्ज्वल नक्षत्रकी ओर दृष्टि निबद्ध करो, तुम्हारा सारा काम अकाम हो जायगा, सारी इन्द्रियाँ विषयरसको छोड़कर 'कालीपद-नील-कमलमें' अपने आपको भूल जायँगी—ॐ शान्तिः ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

अन्वय—इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) पराणि आहुः (देहसे श्रेष्ठ या भिन्न कहा गया है) इन्द्रियेभ्यः (इन्द्रियोंसे) मनः परं (मन श्रेष्ठ है) मनसः तु (परन्तु मनसे) बुद्धिः परा (बुद्धि श्रेष्ठ है)। यः तु (परन्तु जो) बुद्धेः (बुद्धिसे) परतः (ऊपर या श्रेष्ठ है) सः (वही आत्मा है) ॥४२॥

श्रीधर—यत्र चित्तप्रणिधानेनेन्द्रियाणि नियन्तुं शक्यन्ते तदात्मस्वरूपं देहादिभ्यो विविच्य दर्शयति—इन्द्रियाणीति। इन्द्रियाणि देहादिभ्यो ग्राह्येभ्यः पराणि श्रेष्ठान्याहुः। सूक्ष्मत्वात् प्रकाशकत्वाच्च। अतएव तद्व्यतिरिक्तत्वमप्यर्थादुक्तं भवति। इन्द्रियेभ्यश्च सङ्कल्पात्मकं मनः परम्। तत्प्रवर्त्तकत्वात्। मनसस्तु निश्चयात्मिका बुद्धिः परा। निश्चयपूर्वकत्वात् सङ्कल्पस्य। यस्तु बुद्धेः परतस्तत्साक्षित्वेनावस्थितः सर्वान्तरः स आत्मा। तं विमोहयति देहिनमिति देहिशब्दोक्त आत्मा स इति परामृश्यते ॥४२॥

अनुवाद—[जिसमें चित्त लगाने पर इन्द्रियोंको संयत कर सकते हैं, वह आत्मा देहादिसे भिन्न है, यह विचार करके दिखलाते हैं]—देहादि इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ सूक्ष्म और प्रकाशक हैं। इन्द्रियोंका प्रवर्त्तक और सङ्कल्पात्मक होनेके कारण मन इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है, मनसे निश्चयात्मिका बुद्धि श्रेष्ठ है, क्योंकि सङ्कल्पसे निश्चय श्रेष्ठ है। जो बुद्धिसे परे साक्षीस्वरूपमें अवस्थित हैं वही सर्वान्तरावस्थित आत्मा हैं। काम उस देही-शब्द-वाच्य आत्मा को विमोहित करता है ॥४२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सारी इन्द्रियोंके वश मन है। वह मन स्थिर होकर बुद्धिके परे क्रियाकी परावस्थामें रहकर ब्रह्म होता है।

—मन सारी इन्द्रियोंके वशमें रहता है, इन्द्रियाँ जिन सब विषयोंको लाकर उपस्थित करती हैं, मन बिना विचारे उसे ही ग्रहण करनेके लिए उद्यत होता है। इन्द्रियाँ जड़ हैं, यह कहना ही पड़ेगा, ये मनका वाहन बनकर उसको विषयभोग कराती हैं। मन जब तक इन्द्रिययुक्त रहेगा, तब तक इसका कूदना-फाँदना बन्द न होगा। इसीलिए क्रिया करना जरूरी है, क्रिया करते करते मन स्थिर हो जाता है, मनके स्थिर होने पर उसको फिर 'मन' नहीं कहते; तब वह निरुद्धरूप होकर एकाग्रता प्राप्त करता है, इसका ही नाम बुद्धि है। यह बुद्धि मनके समान चञ्चल नहीं है, क्योंकि मन जैसे अनेक विषयोंमें दौड़ता है, उस प्रकार बुद्धि बहुमुखी नहीं हो सकती। बुद्धिको साधन और विचारके सहयोगसे आत्ममुखी कर सकने पर फिर उसमें आत्माके सिवा अन्य वस्तु भासित नहीं हो सकती। योगादि साधनोंके अभ्याससे बुद्धि जब आत्ममुखी होती है तो इन्द्रियोंका चाञ्चल्य-विक्षेप नहीं रहता। अतएव इन्द्रिय-संयम उस समय अनायास सिद्ध हो जाता है। इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषयोंमें मनकी गति निरुद्ध होने पर आत्मस्वरूपका विकास होता है, अर्थात् मन वासना-शून्य होकर कैवल्य-पदमें स्थिति प्राप्त करता है। तब वासना और उसके संस्कार चित्तके ऊपर कालिमा नहीं लगा सकते, तथा कामाग्नि तैलहीन दीपकी शिखाके समान नष्ट हो जाती है। इस साधनको आयत्त करनेके लिए एक ओर जैसे श्रद्धा-भक्तिके साथ क्रिया करना आवश्यक है, उसी प्रकार विवेक-बुद्धियुक्त मनके द्वारा इन्द्रियोंको संयत करनेकी चेष्टा भी करनी पड़ती है। परन्तु मनको समाहित किये बिना यथार्थ विवेकबुद्धि जाग्रत नहीं होती। उपनिषद् कहते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ कठ० उप०।

जो पुरुष विवेकबुद्धिरूप सारथीसे युक्त है, और उस सारथीके हाथमें मनोरूप प्रग्रह अर्थात् अश्वपरिचालन-रज्जु है,—"इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्"—चक्षु श्रोत्र आदि इस शरीररूपी रथके अश्व हैं, और इन अश्वोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूपी विषय 'गोचरान्' अर्थात् 'विचरण-स्थान' हैं। अतएव जिनका विवेकसे वशमें किया हुआ बुद्धिरूपी सारथी मनरूपी रज्जुके द्वारा इन सब इन्द्रियोंको संयममें रख सकता है—इस संसाररूपी पथके अर्थात् पुनः पुनः आवागमन (जन्म-यातायात) के पार वही जा सकते हैं—इस संसार-पथका दूसरा पार है श्री विष्णुका परमपद।

इस श्रीविष्णुके परमपदको कौन देख सकता है?—जो शूरवीर हैं, जो किसी प्रकार भी बैठ नहीं जाते, जब तक वे शान्त समाहित होकर परमानन्दरूप भगवान्‌को नहीं पा लेते, तब तक उनका साधनका उत्साह कदापि कम नहीं होता। उपनिषद् कहते हैं—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥"

चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियोंसे इन्द्रियोंके विषय जो भीतर अनुभूत होते हैं, सूक्ष्मत्वके कारण वे इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है, अन्तःकरणकी विषय-ग्राहिका शक्ति विषयोंसे श्रेष्ठ है, मनसे निश्चयात्मिका वृत्तिवाली बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महान् आत्मा अर्थात् अन्तः-करणका आदि कारण हिरण्यगर्भ श्रेष्ठ है। हिरण्यगर्भसे अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृति महामाया या भगवती या जीवके प्राण-शक्तिका केन्द्र श्रेष्ठ है, उससे पुरुष अर्थात् परमात्मा श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वह प्रकृतिके भी अतीत हैं। उस पर ब्रह्मसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, वही काष्ठा अर्थात् अन्तिम सीमा है, वही श्रेष्ठ गति हैं, अर्थात् संसार-गतिकी अवधि हैं, जन्म-मृत्युरूप संसारके वह पार हैं॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) एवं (इस प्रकार) बुद्धेः (बुद्धिसे) परं (श्रेष्ठ) बुद्ध्वा (आत्माको—जानकर) आत्मना (बुद्धिके द्वारा) आत्मानं (मनको) संस्तभ्य (स्थिर करके) कामरूपं (कामरूप) दुरासदं (युद्धर्ष) शत्रुं (शत्रुको) जहि (विनाश करो)॥४३॥

श्रीधर—उपसंहरति एवमिति। बुद्धेरेव विषयेन्द्रियादिजन्याः कामादिविक्रियाः। आत्मा तु निर्विकारस्तत्साक्षीत्येवं बुद्धेः परमात्मानं बुद्ध्वात्मनैवंभूतया निश्चयात्मिकया बुद्ध्यात्मानं मनः संस्तभ्य निश्चलं कृत्वा कामरूपिणं शत्रुं जहि मारय। दुरासदं दुःखेनासादनीयं दुर्विज्ञेयमित्यर्थः ॥४३॥

स्वधर्मेण यमाराध्य भक्त्या मुक्तिमिता बुधाः।
तं कृष्णं परमानन्दं तोषयेत् सर्वकर्मभिः ॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

अनुवाद—[इस श्लोकमें अपने वक्तव्यका उपसंहार करते हैं]—विषयेन्द्रियादिके कारण बुद्धिमें कामादि विकार घटित होते हैं। परन्तु आत्मा निर्विकार और बुद्धिका साक्षी है, ऐसा विचारकर, अर्थात् बुद्धिकी अपेक्षा श्रेष्ठ आत्माको जानकर 'आत्मना' अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धिके द्वारा 'आत्मानं' मनको 'संस्तभ्य' निश्चल करके, हे महाबाहो, इस दुरासद शत्रु कामको तुम विनष्ट कर दो ॥४३॥

(बुद्धिमान् लोग भक्तिपूर्वक स्वधर्माचरणके द्वारा जिसकी आराधना करके मुक्ति प्राप्त करते हैं उस परमानन्दरूप कृष्णको सर्व कर्मोंके द्वारा तुष्ट करना ही कर्त्तव्य है)।

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार क्रियाकी परावस्थामें रहे तो मन अपने आप स्थिर हो जायेगा। मनके स्थिर होने पर दुर्दान्त कामको जय कर सकोगे।

—देहसे इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, यह प्रायः हम सब समझते हैं। परन्तु इन्द्रियोंसे विषय किस प्रकार श्रेष्ठ होते हैं? इन्द्रियोंसे विषयोंके श्रेष्ठ होनेका कारण यह है कि विषय ही मनको आकर्षित करते हैं। ये विषय दो प्रकारके होते हैं—(१) जिन्हें हम बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा अनुभव करते हैं। (२) एक प्रकारके विषय और भी हैं, वे भी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धमय हैं। परन्तु वे क्रिया-विशेषके द्वारा भीतर ही अनुभूत होते हैं। वे बाह्य विषय न होने पर भी विषय ही हैं। इनका अनुभव करनेके लिए मनकी आवश्यकता पड़ती है, इसीकारण मन इनसे श्रेष्ठ है। परन्तु वह मन भी विषय-व्यापृत मन नहीं, बल्कि वह मन बहुत कुछ चाञ्चल्य-रहित है, पर एकबारगी अचञ्चल भी नहीं है। यह मन जब साधनाके द्वारा एकाग्र होता है तब एकमुखी या निरुद्ध भावापन्न बनता है, अतएव श्रेष्ठ बुद्धिके रूपमें प्रकट होता है। उसके पश्चात् हिरण्यगर्भ अर्थात् कूटस्थ और उसके भीतर विचित्र वर्णरूपादि युक्त ज्योतिर्मय मण्डल है। उस मण्डलके भीतर कृष्णवर्ण गुहा है, इसके परे भी लय-विक्षेप-रहित अचञ्चल साम्यभाव, अमावस्याकी रात्रिमें महाकाशके समान, अनन्त रूप और वैचित्र्यका मूल कारण रूपा महाप्रकृति भगवती है—उसके परे कार्य-कारणका लयस्थान सबका आदि तथा स्वयं अनादि—चिरस्थिर चिदानन्दमय अवस्था—समाधिबोधगम्य वह पुरुष है। उसके परे और कुछ नहीं है। वही जीव की परम गति है।

"एषोऽस्य परमो सम्पद् एषास्य परमा गतिः ॥"
एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

समस्त भूतोंमें जो गूढ़भावसे अवस्थित है, वह आत्मा सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। परन्तु जो साधनाके द्वारा सूक्ष्म या अन्तर्दृष्टि प्राप्त करते हैं उनको ही ध्यान-निश्चल एकाग्रता (बुद्धिके) द्वारा वह आत्मस्वरूप "दृश्यते" दीख पड़ता है, अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित होने पर भी निगूढ़ आत्माकी धारणा बहिर्विचरणशील इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं कर सकतीं। जिन्होंने क्रियाके द्वारा निश्चल अवस्था प्राप्त की है वे ही उसके स्वरूपसे अवगत हो सकते हैं। यह अवस्था प्राप्त हुए बिना अर्थात् जीवन्त ही मृतवत् हुए बिना कामादि रिपुओंको वशमें करना एकबारगी असंभव है।

"यदा न निन्देन्न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा"—जब क्रियाकी परावस्था आती है तब सब ब्रह्म हो जाता है, तब सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं, कोई तृष्णा नहीं रहती, अतएव अक्षय सुख होता है। प्रणव-स्वरूप यह शरीर है और आत्मा जिसके न रहने पर यह शरीर नहीं रहता, वही सर्वव्यापी ब्रह्म है, तथा आत्माके रहते यह शरीर ही प्रकृतिशक्ति है। यह शरीर प्रणव-स्वरूप है, इसका कुछ अंश प्रकृति है और कुछ अंश पुरुष—राधाकृष्णके युगलभावके समान—"प्राणानवति यस्तस्मात् प्रणवः परिकीर्तितः"—प्राणोंको इसी शरीरकी क्रियाके द्वारा स्थिर करते हैं, इसीलिए इसको प्रणव कहते हैं। 'हंस' ही है महाप्राण या महाशून्य, यही सवितृमण्डल-मध्यवर्ती नारायण है, यही हंस (स्थिर वायु) चञ्चलावस्थाको प्राप्त हुआ तो इसका एक नाम मन हुआ, मनने स्थिर वायुमें प्रवेश करके सन्धिस्थानमें पवन नाम धारण किया; पवनने शून्यका आश्रय लेकर शब्द नाम धारण किया। शब्द ही ॐकार-ध्वनि है। इसी ध्वन्यात्मक ॐकार-ध्वनि में स्थिरत्व पद ही निर्वाण कहलाता है। उसमें प्रवेश करके हंसने प्राण नाम धारण किया, प्राणने ब्रह्ममें प्रवेश करके ब्रह्म नाम धारण किया।

इस प्रकारकी स्थिति न होने पर ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती। काम निर्वापित नहीं होता। अतएव कामको जय करनेके लिए प्राणको महाशून्यमें प्रवेश कराना होगा। प्राणको शून्यपथमें संचारित करते करते ॐकार-ध्वनि सुननेमें आयेगी, उस ॐकार-ध्वनिके लयके साथ ही प्राण भी परब्रह्ममें लय हो जायगा। तब फिर काम सिर न उठा सकेगा। इसी कारण भगवान्‌ने उस परागति परमात्माके विषयमें उल्लेख करके कहा है कि उसको जानना ही होगा। हम जान सकेंगे कैसे? साधनालब्ध स्थिर बुद्धिके द्वारा अर्थात् मनको निश्चल करके। इससे पुनः जगद्दर्शन न होगा, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होने लगेगा। भगवान्‌में जिनकी भक्ति है, भगवान्‌को न पानेसे उनका चित्त विषादसे भर जाता है। इस विषादसिन्धुमें डूबते डूबते भगवत्प्राप्तिके लिए प्राणमें व्याकुलता आती है। वह व्याकुलता साधनके बिना दूर नहीं होती। व्याकुलता दूर होने पर ही भगवत्‌निर्भरता आती है, तब सारे कर्मोंको भगवान्‌के निमित्त करके भक्त निरहंकार हो जाते हैं। यह निरहंकार चित्त ही भगवान्‌का अधिष्ठान या

आसन है। भगवान् आनन्दस्वरूप हैं, वह रसराज निखिल रसके केन्द्र हैं। उनमें अमानी-चित्तसे चित्तको रखते रखते चित्त परमानन्दमें मग्न होकर सब भूल जाता है, अपनेको भी भूल जाता है। यही ब्राह्मी स्थिति है। इस ब्राह्मी स्थितिकी प्राप्तिके मार्गमें काम या बहिर्विचरणशील मन ही अन्तराय है। यह मन क्रिया करते करते क्रियाकी परावस्था प्राप्तकर स्थिर हो जाता है। तब उसका कोई कार्य नहीं रहता अर्थात् मन दूसरी ओर नहीं जाता। यदि वह कुछ करता भी है तो अपने लिए नहीं करता। तब उसके सब कर्म ब्रह्मार्पण होकर ब्रह्मकर्म हो जाते हैं। यही यथार्थमें नैष्कर्म्य या ज्ञान है। "सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते"—इस प्रकार मन वशीभूत होने पर योगीका पाप-पुण्य कुछ नहीं रहता, तब अनायास ही भगवत्स्पर्श प्राप्त होता है। निखिल रसके केन्द्र जो भगवान् हैं उनको स्मरणके द्वारा निरन्तर स्पर्श कर सकते हैं। जो साधक उनको स्पर्श कर सकते हैं वे ही कामजय कर सकते हैं। क्योंकि जगत्की किसी वस्तुमें उसकी ममता होनेकी संभावना नहीं रहती। मनकी स्थिरता ही कामजयका उपाय है, क्योंकि मनकी चञ्चलता ही कामभाव है। मनकी चञ्चलता नष्ट होने पर ही मनका मनत्व चला जाता है, सङ्कल्प-भाव दूर हो जाते हैं। सङ्कल्पशून्य मन ही असीम ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है, तब अनात्मभाव कुछ नहीं रहता, सब आत्मस्वरूप हो जाता है। यह आत्मस्वरूपमें स्थिति ही भगवत्-चरण-स्पर्श कहलाता है, यह केवल ज्ञानमात्र ही नहीं—प्रेमकी भी पराकाष्ठा है। भगवान्की भक्ति करते करते या प्रेम करते करते, जब उन्हें अपनेसे पृथक् नहीं कर सकते तभी भक्तिकी पराकाष्ठा होती है। यही गुणातीत अवस्था या **क्रियाकी परावस्था** है॥ ४३॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिकदीपिका नामक गीताके तीसरे अध्यायकी व्याख्या समाप्त हुई॥

चतुर्थोऽध्यायः

(ज्ञानयोगः)

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)। अहं (मैंने) विवस्वते (सूर्यको) इमं (इस) अव्ययं योगं (अव्यय योगको) प्रोक्तवान् (कहा था)। विवस्वान् (सूर्यने) मनवे (अपने पुत्र मनुको) प्राह (कहा); मनुः (मनुने) इक्ष्वाकवे (अपने पुत्र इक्ष्वाकुको) अब्रवीत् (कहा) ॥१॥

श्रीधर— [आविर्भावतिरोभावावाविष्कर्तुं स्वयं हरिः ।
तत्त्वंपदविवेकार्थं कर्मयोगं प्रशंसति ॥]

एवं तावदध्यायद्वयेन कर्मयोगोपायकज्ञानयोगो मोक्षसाधनत्वेनोक्तः। तमेव ब्रह्मार्पणादि-गुणविधानेन तत्त्वंपदार्थविवेकादिना च प्रपञ्चयिष्यन् प्रथमं तावत् परम्पराप्राप्तत्वेन स्तुवन् श्रीभगवानुवाच—इममिति त्रिभिः। अव्ययफलत्वादव्ययम्। इमं योगं पुराऽहं विवस्वते आदित्याय कथितवान्। स च स्वपुत्राय मनवे श्राद्धदेवाय प्राह। स च मनुः स्व-पुत्रायेक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

अनुवाद—[अपने आविर्भाव और तिरोभावको प्रकट करनेके लिए स्वयं हरि 'तत्त्वमसि' महावाक्यके 'तत्' और 'त्वम्' इन दो पदोंके सम्यक् ज्ञानके निमित्त कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं]—पहले दो अध्यायोंमें ज्ञानयोगके उपायस्वरूप कर्मयोगको मोक्षके साधनके रूपमें वर्णन किया है। उसे ही ब्रह्मार्पणादि गुणों के विधानके द्वारा तथा 'तत्' और 'त्वं' पदवाच्य पदार्थके विवेकके द्वारा स्पष्टीकरणके लिए पहले परम्पराप्राप्त कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए—श्रीभगवान् बोले। मैंने अक्षय फलदायक इस योगको पहले सूर्यसे कहा था। सूर्यने अपने पुत्र श्राद्धदेव मनुको, और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको बतलाया ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थके द्वारा अनुभव होता है—यह योग मैंने सूर्यको उपदेश किया, सूर्यने मनुको उपदेश किया, मनुने इक्ष्वाकुराजाको उपदेश किया।—

'नास्ति योगसमं बलम्'—योगके समान कोई बल नहीं है। इस योगबलसे विहीन होकर ही आज हम संसारकी आँखोंमें हेय बन गये हैं। जब ऋषि

लोग योगबलके द्वारा असाध्यको साध्य कर देते थे उस समय कोई भी उनकी बातका उल्लङ्घन नहीं कर सकता था। आज वह तपस्या नहीं है, ब्रह्मचर्य नहीं है, साधनबल भी नहीं है—फिर हमारी बात कौन सुनेगा? 'शास्त्र कहते हैं—' कहनेसे ही उसे कौन मानेगा? भगवान्ने गीतामें ही उपदेश दिया है—'योगस्थः कुरु कर्माणि'—योगस्थ होकर ही कर्म करना होगा। योगबलसे बलवान् हुए बिना यदि कोई कर्मका उपदेश करे तो उसकी बात सुननेके लिए लोगोंके मनमें वैसा आग्रह न होगा। आचार्य शङ्करने कहा है—"जगत्-परिपालयितॄणां क्षत्रियाणां बलाधानाय अहं योगं प्रोक्तवान्, तेन योगबलेन युक्तास्ते समर्था भवन्ति ब्रह्मपरिरक्षितुम् ब्रह्मक्षात्रपरिपालिते जगत् परिपालयितुमलम्"—जगत्का परिपालन करनेवाले क्षत्रियोंके बलाधानके निमित्त भगवान्ने उनसे यह योग कहा था। इस योगबलसे युक्त होकर क्षत्रिय लोग ब्राह्मण जातिकी परिरक्षा करनेमें समर्थ होंगे। ब्राह्मण और क्षत्रियके परस्पर परिरक्षित होने पर वे संसारका परिपालन करनेमें समर्थ होंगे। अतएव जगत्के आदि राजाओंको योगबलसे बलवान् करके ब्रह्मादि देवताओंने सारे क्षत्रिय राजाओंके ऊपर जगत्के पालनका भार अर्पण किया था। कालवश वह शिक्षा विलुप्तप्राय हो गयी है। भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि कालवश इस योग-शिक्षाका लोप हो गया। जान पड़ता है कि यही भगवदिच्छा थी। जिनको भगवान्ने योगकी शिक्षा दी थी, वह सूर्य कौन थे? वह आदि राजा थे, उन्हींके नामसे सूर्यवंश विख्यात है। उनके साथ हमारे आकाश-मण्डलके आदित्यका सम्बन्ध है या नहीं, यह विचारणीय विषय है। अवश्य सूर्यके अधिष्ठाता एक चेतन पुरुष निश्चय ही हैं। वह चेतन पुरुष ही आदि देव हैं, जान पड़ता है कि उन्हींसे आदि मानवकी उत्पत्ति हुई है। हमारे पुराणोंके मतसे यह सूर्य ब्रह्माके प्रपौत्र हैं। सूर्यके पुत्र मनु और मनुके पुत्र इक्ष्वाकु हुए। यही इक्ष्वाकु सूर्यवंशके आदि राजा थे। इक्ष्वाकुके ही कुलमें दिलीप, रघु और भगवान् रामचन्द्रने जन्म ग्रहण किया था। यह कुल योग और तपस्यामें खूब महान् न होता तो क्या भगवान् इसमें अवतीर्ण होते?

हम शास्त्रोंमें देखते हैं कि ब्रह्मा और शिव ही योगके आदि वक्ता हैं। योगका उद्देश्य है—भगवान् और जगत्के स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना। वासुदेव ही सब कुछ हैं, यह जगत ब्रह्ममय है—जब तक यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक जीव संसार-चक्रमें बँधा रहता है। अतएव सारे शास्त्र इस सिद्धान्तका ही समर्थन करते हैं कि यह दृश्यमान विश्व तथा भगवान्से पृथक् रूपमें प्रतीयमान् जीव सब भगवान्के अंश हैं। "इदन्तु विश्वं भगवानिवेतरो" (भागवत)। इस ज्ञानको प्राप्त करने पर ही जीवको मोक्षलाभ होता है और वह शोकरहित होकर परमानन्दमें डूब जाता है। गीतामें भगवान्ने जो साधनाकी बात कही है, वह उस परमानन्दरूप आत्माके स्वरूप-साक्षात्कारके लिए ही कही है। अन्यथा जीवके दुःखोंका ऐकान्तिक अवसान होगा कैसे? कर्मवश जगत्में असंख्य जीवोंका समागम होता है। मनुष्य-शरीर जीवकी साधनाका श्रेष्ठ आधार है। मनुष्य-शरीर पाकर ही जीव ऐकान्तिक धर्मके पालनमें सचेष्ट होता

है, तथा स्वधर्म-पालनके द्वारा सबके आदि श्रीगोविन्दको पाकर कृतार्थ होता है। जिससे जगत्को विध्वंस करने वाली कामादि-शक्तियाँ सिर न उठा सकें उसीके उपदेशसे हमारे वेदादि शास्त्र परिपूर्ण हैं। धर्म-पालनके द्वारा ही जगत् और जीवका कल्याण होता है। वैषम्य अधर्मका सहचर और धर्मका विरोधी है। धर्मकी रक्षाके लिए ही जगत्में राजाकी आवश्यकता है। धर्म-शक्तियुक्त राजशक्ति ही वस्तुतः जगत्-पालनका मूल केन्द्र है। "नराणाञ्च नराधिपम्"—मनुष्योंको धर्ममें व्यवस्थित रखनेके लिए मनुष्योंके शासन-कर्त्ता भी भगवान्की विभूतिमें गण्य होते हैं। इसी कारण भगवान्ने आदि राजाको इस परम गुह्य योगधर्मका उपदेश दिया था।

अब तक जो कुछ कहा गया, वह बाहरी आलोचना मात्र है; यह भी ज्ञातव्य है। इसका एक आभ्यन्तरिक आलोच्य विषय भी है, उसका भी यहाँ उल्लेख करूँगा। इस 'सूर्य' के आदि राजा होने पर भी हमारे अभ्यन्तर भी एक पुरुष हैं, जिन्हें पुरुषोत्तम कहते हैं। वही जगत्की मूल शक्तिके उत्स हैं, उनके न रहने पर हमारा यह स्थूल पिण्डदेह और मनकी मनन-शक्ति आदि सब कुछ गतिहीन और अव्यवहार्य हो जाते हैं। उनसे ही 'सविता' की उत्पत्ति होती है। सविता ही जगत्के प्राण हैं। इनको सृष्टिका प्रथम विकास या महत्तत्त्व कहते हैं। यहाँ गुणोंकी विशेष जटिलता नहीं है, गुणोंके स्वच्छांश होनेके कारण ये अत्यन्त प्रकाशमय हैं, इसलिए इनको 'स्वच्छं भगवतः पदम्' कहते हैं। इस दीप्यमान देवता—सविताका वरणीय भर्ग ही भजनीय पुरुष है। पुरुषोत्तमको प्रथम पुरुष कहें तो इनको ही द्वितीय पुरुष कह सकते हैं। जीव इनकी ही उपासना करता है।

आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति॥
हृद्याकाशे च यो जीवः साधकैरुपवर्ण्यते।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति॥

वही "प्राणो ह्येषः वा सर्वभूतैर्विभाति"—सब भूतोंमें जो प्रकाशित हो रहे हैं, वही प्राण हैं। 'या प्राणेन सम्भवति अदितिर्देवतामयी' (कठ० उप०)। सर्वदेवतारूप जो अदिति अर्थात् चित्शक्ति है वह प्राणशक्तिके साथ उत्पन्न होती है। ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्त सारे भूतोंमें स्थित होकर जो वासुदेव विद्यमान हैं, यह प्राण उनकी ही मुख्य शक्ति है। यह वासुदेव ही श्रीकृष्ण हैं, उनको ही 'आदिदेव' या पुरुषोत्तम कहा जाता है। भागवतमें भीष्म कहते हैं—'एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान्"—यही साक्षात् आदि पुरुष भगवान् वासुदेव हैं। हमारे हृदयाकाशमें "सूर्य-कोटिप्रतिकाशं" जो ज्योतिर्मय मण्डल है, जिसका अनुभव साधक लोग योगक्रियाके द्वारा करते हैं—वही विवस्वान् या सविता हैं। उनके ही प्रकाशसे भूर्भुवः स्वः आदि सप्तलोक निरन्तर प्रकाशित होते हैं। इस सवितृ-मण्डलके मध्यमें रहनेवाले पुरुष ही नारायण हैं, वही हमारी गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वही आदिदेव

गोलोकपति पुरुषोत्तम हैं—"स उ प्राणस्य प्राणः" वही प्राणके प्राण हैं।* सवितृ-मण्डलका जो सुवर्ण-लाञ्छित किरण-पुञ्ज है वह इस गोलोकपतिकी ही महिमा है। गोलोकपति श्रीकृष्ण स्वयं साक्षात् ज्ञानस्वरूप निर्विकार कूटस्थ-स्वरूप हैं। वह स्वयं निर्विकार हैं तथापि उनकी नित्य प्रकाशित शक्तिच्छटा जो विश्वको उद्भासित करती है वही प्राण या सूर्य है। सृष्टि-प्रकरणमें यही प्रथम प्रकाश या प्रथमोत्पन्न होनेके कारण आदित्य कहलाते हैं। आदित्यसे ही विराट् विश्वभुवनकी उत्पत्ति होती है, इसीसे इनको 'सविता' भी कहते हैं। पुरुषोत्तमसे सर्वप्रथम सूर्यमण्डलमें ज्ञानका सञ्चार होता है, इसी कारण गीतामें कहा है कि भगवान्ने सूर्यको प्रथम ज्ञान प्रदान किया। उसके बाद यह ज्ञानधारा मनःक्षेत्रमें उतरती है। उससे मन चैतन्ययुक्त होकर अनन्त चिन्ताओंमें नियुक्त होता है। इस मनको ही भग-

* इनके सम्बन्धमें तथा पुरुषोत्तम नारायणकी साधनाके सम्बन्धमें भागवतमें जो उल्लेख है, उसे यहाँ देते हैं—

"ॐ नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नाय निरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥
इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्त्तिममूर्त्तिकम्।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान्" (भाग० १म स्क०)

—दीनवत्सल योगीजन स्थानान्तर प्रस्थान करनेके समय नारदजीको इस मन्त्रसे दीक्षित कर गये थे। यही गुह्यतम ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय है। वही पुरुष सम्यग्दर्शन अर्थात् कृतार्थ होते हैं जो इस मन्त्रका ध्यान करते हैं। यजनीय पुरुष जो यज्ञेश्वर रूपमें सारे कर्म-फलोंके विधाता हैं, जो मन्त्रोक्त मूर्त्तिके अतिरिक्त अन्यमूर्त्तिसे रहित हैं (पर इस मन्त्रसे ही सुस्पष्टरूपसे ब्रह्मस्वरूपकी अनुभूति होती है), उनकी आराधना करके भगवान्का आश्रय लेना कर्त्तव्य है। 'नमः' और 'धीमहि' इन दो शब्दोंसे उनके चरणकमलोंमें आश्रय लेनेकी बात सूचित होती है। वह एक अखण्ड सर्वव्यापी वासुदेव होते हुए भी सत्त्वप्रधान अनिरुद्ध रूपमें, रजःप्रधान प्रद्युम्न रूपमें और तमःप्रधान सङ्कर्षणरूपमें जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहारका कार्य परिचालित करते हैं।

वासुदेवके इन तीनों प्रकाशोंको लेकर ही श्रीकृष्णका चतुर्व्यूह बनता है। उनका रूप कैसा है? वे 'अमूर्तिक' हैं, उनकी कोई मूर्त्ति नहीं है। तब उनको कैसे देख या जान सकते हैं? इसीसे कहते हैं कि अमूर्त्त होते हुए भी उनकी 'मन्त्रमूर्त्ति' है। मन्त्रको चैतन्य करने पर उसके भीतर उनका अनुभव किया जा सकता है। इस अनुभव-पद और इसके सम्बन्धमें कुछ कहना है। "निःश्वासश्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते प्रिये"—निःश्वास और श्वासरूपमें यह मन्त्र सबके भीतर रहता है। सारे शरीरमें शुद्ध या स्थिर प्राणवायुको ले जा सकें तो भूतशुद्धि हो जाती है। भूतशुद्धि होने पर मन्त्रचैतन्य होता है। कूटस्थकी इच्छामात्रसे वह विन्दुस्वरूपमें प्रकृतिके भीतर प्रवेश करता है। यही गर्भाधान-क्रिया है। पश्चात् वही विन्दु प्राणवायुके स्वरूपमें महादेव बनकर आविर्भूत होता है। इस शरीरमें ॐकारध्वनिरूप नाद सदा होता रहता है। उसी नादके परे है विन्दु। भ्रूमध्यमें दृष्टि स्थिर करने पर इन आँखोंसे ही उस विन्दुको देख सकते हैं। विन्दु स्थिर होने पर ही साधक

ान्ने 'मनु' कहा है। मन प्राणसे ही उत्पन्न होता है। 'मनोनाथस्तु मारुतः'—मन प्राणके अधीन है अर्थात् मनका राजा प्राण है। मन ही सब कर्मोंका कर्त्ता है।

मनः करोति पापानि मनो लिप्यते पातकैः।
मनश्च तन्मनो भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः॥ ज्ञानसङ्कलिनी

ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। साधक जब आत्माराम होकर शिवस्वरूप हो जाते हैं, तब उनका स्थान वाराणसी होता है। "वाराणसीं भ्रुवोर्मध्ये ज्वलन्तं लोचनत्रये"—अर्थात् भ्रूमध्यमें कूटस्थ-ज्योति दीप्तिमन्त अग्निके समान प्रज्वलित हो रही है।

तेजोविन्दुः परं ध्यानं विश्वातीतं हृदिस्थितम्।
आणवं शाम्भवं शाक्तं स्थूलं सूक्ष्मं परं च यत्॥ (तेजोविन्दु)

जीव जो शिवस्वरूपसे कण्ठमें रहता है—वह सर्वव्यापी, शून्यस्वरूप है। उस शून्यसे भी परे क्रियाकी परावस्था या परमस्थिति है, जो हृदयमें कूटस्थरूपमें विराजमान है। वह आणवं अर्थात् अणुरूपमें, शाम्भवं—कूटस्थरूपमें, तथा शाक्तं—स्थूलरूपमें जगन्मय होकर व्याप्त हो रहा है। और इन सबके परे सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपमें भी वह विराजमान है। यही परमात्माका स्वरूप है।

जो सब कर्मोंके फलका विधान करनेवाले या यज्ञेश्वर हैं, उस यज्ञपुरुषकी जब जीव यजन या आराधना करता है, तब उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। अर्थात् तब उसकी दृष्टि सर्वत्रगामी होती है। इस अवस्थामें वह सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है।

भगवान्‌के चार व्यूह हैं, इन व्यूहोंको भेद किये बिना वह प्राप्त नहीं हो सकते। वे चार व्यूह हैं—(१) वासुदेव, (२) सङ्कर्षण, (३) अनिरुद्ध और (४) प्रद्युम्न।

(१) वासुदेव सर्वव्यापी निखिल जीवोंके जीवनस्वरूप या सत्तारूप हैं। यही गुणोंके आधार, अव्यक्त प्राण, महेश्वरी हैं।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

इदं यत् किञ्च—यह दृश्यमान् जो कुछ है, सर्वं जगत्—सारे जागतिक पदार्थ, प्राणे—ब्रह्मसत्तारूप प्राणशक्तिमें, एजति—स्पन्दित हो रहे हैं। निःसृतं—इस प्रकार उससे ही यह जगत् ब्रह्माण्ड विकसित हो रहा है। ये एतत्—जो इस प्राणशक्तिके रूपमें प्रकाशित ब्रह्मको, महद्भयं—महान् और भयङ्कररूपमें, विदुः—जानते हैं, ते—वे, अमृताः भवन्ति—जन्म-मृत्युके अतीत, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं। इससे तमोमय (२) संहर्त्ता—विन्दुरूप सङ्कर्षण या महाशक्ति काली प्रादुर्भूत हुई हैं। सब कुछ सिमट कर एक अणुमात्रमें परिणत होना ही जगत्‌का ध्वंसभाव है। इसी कारण इनको काल कहते हैं, और सृष्टिके प्रारम्भमें इस विन्दुसे ही जगत् प्रकटित होता है। तब वह जगन्माता हो जाती हैं। (३) अनिरुद्ध—जो निरुद्ध नहीं अर्थात् जिसका स्फुरण या प्राकट्य प्रारम्भ हो गया है—यही सत्त्वगुण या विष्णु अथवा स्थिर प्राण है। इसको आश्रय करके ही स्थूल या चञ्चल प्राण रह सकता है। (४) प्रद्युम्न—यह काम-सङ्कल्प, रजोगुण या ब्रह्मा हैं, जो जगत्‌की सृष्टि करते हैं। कामनाके बिना सृष्टि नहीं हो सकती।

मनके सङ्कल्पसे ही ये तीनों लोक उत्पन्न हुए हैं। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। यही मन जब एकाग्र होकर स्थिर होता है तभी उसको कूटस्थ या ब्रह्म कहते हैं। मन एकाग्र होने पर ही षडैश्वर्यसे युक्त या सर्वशक्तिसम्पन्न हो सकता है। तभी उसके जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, क्षुधा, तृषा आदि षड्विकारोंका लोप होता है। ऐसे पुरुषोंके पास महर्षिगण, ब्रह्मा, गणेश, सरस्वती, जगद्धात्री—मूलाधारमें; कृष्ण और राधा—लिङ्गमूलमें; रुद्र—नाभिमें; ईश्वर—हृदयमें; सदाशिव—कण्ठमें, तथा अन्यान्य अनेक देवता स्वयं ही आते हैं। तब वे उनको मन लगाकर देखते हैं और मन ही मन अपना अभिप्राय भी व्यक्त करते हैं। इस अवस्थाको प्राप्त साधकका मन ही 'मनु' है। इस प्रकार 'मनु' लोगोंके द्वारा ही बारंबार धर्म-स्थापना होती है। मनके चेष्टा किये बिना यथार्थ धर्म या स्थिरता (स्थिरता ही ब्रह्मसूत्र है, जिसके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, यह ब्रह्मसूत्र मेरुदण्डमें है—जिसके अन्तर्गत यह अखिल ब्रह्माण्ड है) कहाँ से आयेगी? इस कारण मनु ही जगत्के धर्म-संस्थापक हैं। मन जब तक बाह्यदृष्टि युक्त होकर विषयोंका उपभोग करता है, तभी तक संसार-प्रवाह चलता है। और जब वह साधनशील होकर भीतर प्रवेश करता है, तब उसकी अन्तर्दृष्टि खुल जाती है। मनकी इस अवस्थाको ही 'इक्ष्वाकु' कहते हैं। इक्ष्वाकु मन से ही उत्पन्न हैं—यही हैं मनके प्रज्ञाचक्षु या मानसनेत्र। इन प्रज्ञाचक्षु साधकोंके द्वारा ही मोहान्ध जीव अन्तर्मुखी होनेका मार्ग देखते हैं। अतएव प्राचीन कालसे प्रचलित यह योग "परम्पराप्राप्त" होकर जगत्में प्रचलित होता है। अगले श्लोकमें पुनः इस बातको कहेंगे।

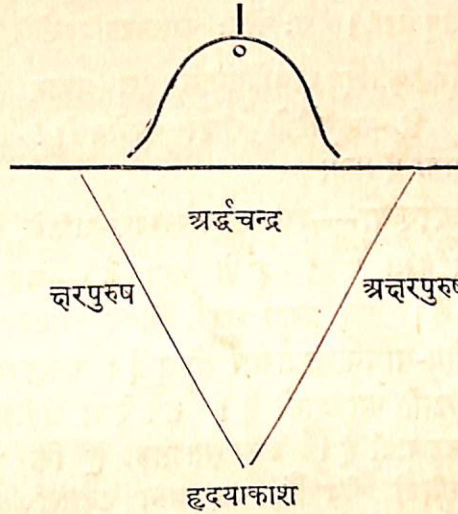
सर्वशुद्धातीत **परमात्मा या निर्गुण ब्रह्म** (Unchangeable Reality)
(अवाच्य, विदेह, निःशब्द, अगोचर, अवरुद्ध रूप, निरञ्जन, निराकार, सोऽहं ब्रह्म, पर शिव, अनुभव विन्दु, ब्रह्मरन्ध्र)

विन्दु—०—कण्ठ

[अगोचर शून्य——नाद-विन्दु समन्वित]

पुरुषोत्तम या सगुण ब्रह्म

मायाधीश, महेश्वर या ईश्वरी, कैवल्यावस्था, कैवल्यज्ञानदेह, परापरावाक्, सूक्ष्मवेद, अमात्र, उन्मनी, अघोर, दीपकम्



हृदयाकाश

[अव्यक्त, चैतन्यमयी प्रकृति, महामाया, मुख्यप्राण]

ईश

(परावाक्, तूर्यावस्था, महाकारण देह, अर्द्धमात्रा, परावाक्, तुर्यावस्था, मसूरमात्र, अगोचरी)

बुद्धि—महत्तत्त्व—हिरण्यगर्भ

समष्टि कारण शरीर

मध्यशून्य—नाभि

(मूल प्रकृति विकृतिको प्राप्तकर सत्त्वगुण प्रवृद्ध । तत्पुरुष, पूर्वार्द्ध, सुषुप्तावस्था, कारणदेह, खेचरी, पश्यन्तिवाक्, कुण्डलि, प्लुतमात्रा)

लिङ्गमूल—ऊर्ध्व शून्य

अहंकार— मन—तैजस

समष्टि सूक्ष्म शरीर

सप्तदश अवयव = पञ्च ज्ञानेन्द्रिय + पञ्च कर्मेन्द्रिय + पञ्च प्राण + मन + बुद्धि
(स्वप्न, लिङ्गदेह, मध्यवाक्, दीर्घमात्रा, वामदेव, अङ्गुष्ठमात्र, चांचरी)

गुह्यद्वार—स्थूल शरीर (३½ हाथ)—अधः शून्य
(वाक वैखरी, ह्रस्वमात्रा, भूचरी, सद्योजात, जाग्रत)

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।। २।।

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप !) एवं (इस प्रकार) परम्पराप्राप्तम् (परम्परासे प्राप्त हुए) इमं (इस योगको) राजर्षयः (राजर्षिलोगोंने) विदुः (जाना था), इह (इस लोकमें) सः योगः (वह योग) महता कालेन (दीर्घकालीन होनेके कारण) नष्टः (नष्ट हो गया है) ।। २ ।।

श्रीधर—एवमिति । एवं राजानश्च त ऋषयश्चेति । अन्येऽपि राजर्षयो निमिप्रमुखाः स्वपित्रादिभिरिक्ष्वाकुप्रमुखैः प्रोक्तमिमं योगं विदुर्जानन्तिस्म । अद्यतनानामज्ञाने कारणमाह—हे परन्तप शत्रुतापन । सः योगः कालवशादिहलोके नष्टो विच्छिन्नः ।।२।।

अनुवाद—निमि आदि राजर्षिगणने इस प्रकार पितृपरम्परा द्वारा प्राप्त इस योगको जाना था । हे शत्रुओंको संतप्त करनेवाले ! इस लोकमें वह योग कालवश विच्छिन्न हो गया है ।।२।।

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार परम्परा-प्राप्तिके द्वारा राजर्षियोंको मिला, इस प्रकारका परम योग काल पाकर नष्ट हो गया है ।—यह योग एक आदमीके द्वारा दूसरेको मिलता है । इस प्रकार गुरुसे शिष्य साधना प्राप्त करता है और जगत्में परम्पराक्रमसे योग-साधनाका प्रचार होता है । कालवश उपयुक्त अधिकारीके अभावमें उसके प्रचारमें कमी आ जाती है । तब ऐसा प्रतीत होता है मानो इस संसारसे योगसाधना उठ गयी है । अब बतलाता हूँ कि 'योग' है क्या ? हम भगवान्से पृथक् देहाभिमानी जीव हैं, यह ज्ञान दृढ़बद्ध होने पर सारे कर्मोंमें अपना कर्तृत्व दीख पड़ता है, भगवान् नहीं दिखलायी देते । अतएव जीवको त्रिताप या दुश्चिन्ता कभी नहीं छोड़ती । योगयुक्त पुरुष "नैव किञ्चित् करोमि" मैं कुछ नहीं करता हूँ—ऐसा सोचते हैं । केवल सोचते ही नहीं, वे भगवान्को प्रत्यक्ष देखते हैं । अतएव उनको अपने कर्तृत्वका अभिमान हो ही नहीं सकता । तो फिर हम सब लोग उस ईश्वरको क्यों नहीं देख पाते ? हम देहेन्द्रियादिके साथ इस प्रकार घुल मिल गये हैं कि उनसे अपनी पृथक् सत्ताका हमें बोध भी नहीं होता । देहेन्द्रियोंके सारे कर्मोंको अपना कर्म मानकर हम अभिमान करते हैं और अनन्त दुःखोंका भार वहन करते करते इस जीवनको निरानन्दमय और अकृतार्थ बना डालते हैं । इसी लिए निष्काम कर्म करनेकी आवश्यकता है । परन्तु निष्काम कर्म मौखिक विचार या मन ही मन चिन्तनसे नहीं होता । हमारा अभिमान-सूत्र सहस्रों नाड़ियोंके द्वारा प्रवाहित होकर हमारे प्रकृत शुद्ध ज्ञान-स्रोतको विपर्यस्त कर देता है । वह कदापि दूर होना नहीं चाहता । जिन नाड़ियोंके द्वारा प्रसारित होकर हमारा दिव्यज्ञान अवरुद्ध हुआ है, उन नाड़ियोंका शोधन करना होगा । नाड़ी-शोधन करना ही भूतशुद्धि है, इस भूतशुद्धिके विना पूजा नहीं हो सकती । भूतशुद्धिके लिए ही प्राणायाम और ॐकार-क्रियाकी आवश्यकता

है। यही योगकौशल कहलाता है। इस कौशलमें जो कुशली नहीं, उसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त होना संभव नहीं है। जो लोग पूर्व जन्मोंके द्वारा उपार्जित संस्कारोंके वश ज्ञानी हो गये हैं, उनकी भूतशुद्धि हो ही गयी, उनकी बात निराली है। दूसरे लोगोंके लिए योगाभ्यास बिना किये मुक्तिकी चाह करना बालचेष्टा मात्र है ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अन्वय—[तुम] मे (मेरे) भक्तः सखा च असि (भक्त और सखा हो) इति (इसलिए) अयं (यह) सः पुरातनः योगः (वह पुराना योग) अद्य (आज) ते (तुमको) मया (मैंने) प्रोक्तः (कहा) हि (क्योंकि) एतत् (यह) उत्तमं रहस्यम् (अति गूढ़ रहस्य है) ॥ ३ ॥

श्रीधर—स एवायमिति। स एवायं योगोऽद्य विच्छिन्ने सम्प्रदाये सति पुनश्च मया ते तुभ्यमुक्तः। यतस्त्वं मम भक्तोऽसि सखा च। अन्यस्मै मया नोच्यते। हि यस्मादेतदुत्तमं रहस्यम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—सम्प्रदाय विच्छिन्न होनेके कारण जो योग नष्ट हो गया था उस पुरातन योगको मैंने पुनः तुमसे कहा। क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो। यह योग मैंने और किसीको नहीं बतलाया। क्योंकि मुक्तिका साधन होनेके कारण यह अति उत्तम और रहस्यमय है ॥ ३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वही पुरातन योग आज मैंने तुमसे कहा, क्योंकि तुम भक्त और सखा हो, इसी कारण इस गुप्त विषयको मैंने कहा।—यह योग पुरातन है। कृतयुग और त्रेतायुगमें मनुष्यका मन स्वभावतः स्वच्छ होता था, अतएव सब लोग इस रहस्यमय योगको जानते थे और इसका अभ्यास करते थे। कालवश लोगोंका मन मलिन होनेके कारण ईश्वर-परतन्त्रताका भाव उठता जा रहा है। यही कारण है कि इस योग-सम्प्रदायका अस्तित्व अब संसारमें देखनेमें नहीं आता। परन्तु द्वापरके अन्तिमकालमें कलिके प्रारम्भमें भगवान्ने अर्जुनको यह रहस्यकी बात क्यों बतलायी? इसका कारण यह है कि अति पापयुगमें भी यह रहस्यमय योग एकदम लुप्त नहीं होता। अधिकारियोंके अभावसे केवल प्रचार कम हो जाता है। आज भगवान अपने सखा अर्जुनको पाकर उनको अपना भक्त समझकर इस रहस्यको व्यक्त कर रहे हैं। सदासे ही सद्गुरुजन आवश्यकता देखकर इस रहस्यका प्रचार करते आ रहे हैं, परन्तु सबके सामने नहीं करते। जो गुरुभक्त हैं उन सभी स्निग्ध शिष्योंके सामने सद्गुरु गुह्यतम वस्तुको भी प्रकट कर देते हैं। इसका कारण यह है कि भक्त हुए बिना इस बातमें किसीको विश्वास नहीं होता। इसलिए भक्तके सामने कहने पर यह निष्फल नहीं होता। अन्यथा भगवान्के सामने भक्त और अभक्त दोनों समान हैं। भगवान्का भक्त होना बड़े भाग्यकी बात है, और उससे भी बढ़कर भाग्यकी बात है उनका सखा होना।

जो भगवान्‌को अपना समझकर भक्ति करते हैं, जो उनका भजन करते हैं या क्रिया करते हैं वे उनके अपूर्व रहस्यकी बात भी समझ सकते हैं। परन्तु जो उनके सखा हैं, उनके लिए तो रहस्यका सारा द्वार ही खुल गया है। सखाके लिए कोई तत्त्व अज्ञात नहीं रहता। क्योंकि जो सखा सखाके साथ समभावापन्न होता है वही सखा है। यह समभावापन्न भाव किसको होता है ? जो साधन करते करते उनके साथ मिलकर एक हो जाते हैं। जो आत्मस्वरूप हो जाते हैं, उन्हींको पूर्ण अधिकार होता है कि आत्माके रहस्यको जानें। अर्जुन इस अधिकारसे सम्पन्न थे। अनधिकारीको रहस्यकी बात कहनेका शास्त्रने निषेध किया है। मुक्तिकोपनिषद्‌में लिखा है, "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।"—एक समय ब्रह्मविद्या ब्राह्मणके पास गयी और बोली, तुम मेरी गोपनमें रक्षा करो, इसके बिना मैं शुभफल प्रदान करनेमें समर्थ न हूँगी ॥३॥

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)। भवतः (आपका) जन्म अपरं (जन्म बादमें हुआ) विवस्वतः (सूर्यका) जन्म परं (जन्म पहले हुआ है) त्वम् (तुमने) आदौ (पहले) प्रोक्तवान् इति (इसे कहा था) एतत् (यह) कथम् विजानीयाम् (किस प्रकार जानूँ ?) ॥४॥

श्रीधर—भगवतो विवस्वन्तं प्रति योगोपदेशासम्भवं पश्यन्नर्जुन उवाच—अपरमिति। अपरं अर्वाचीनं तव जन्म। परं प्राक्कालीनं विवस्वतो जन्म। तस्मात्त्वाधुनातनत्वाच्चिरन्तनाय विवस्वते त्वमादौ योगं प्रोक्तवानिति—एतत् कथमहं जानीयां ज्ञातुं शक्नुयाम् ॥४॥

अनुवाद—(भगवान्‌ने सूर्यको योगका उपदेश दिया, यह असंभव समझते हुए) अर्जुनने कहा—आपका जन्म बादमें हुआ है। विवस्वतः अर्थात् सूर्यका जन्म पहले हुआ है। अतएव आप अर्वाचीन और सूर्य प्राचीन हुए, उनको आपने पहले योगका उपदेश दिया, यह मैं कैसे समझूँ ? ॥४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा अनुभव होता है—जिस सूर्यका जन्म तुम्हारे जन्मसे पहले हुआ है, उस सूर्यको तुमने कैसे उपदेश दिया ?—भगवान्‌की यह बात सुनकर जीवके मनमें यदि ऐसा सन्देह उठे तो इसमें विस्मयकी क्या बात है ? हममेंसे कितने हैं जो भगवान्‌को ठीक ठीक पहचान सकते हैं ? जब कुछ विश्वास होता है तब एकबार भगवान्‌से पूछनेकी इच्छा होती है कि क्या तुम एक श्रीकृष्णरूपमें ही बार बार आविर्भूत होते हो ? तो क्या देहभेदसे सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्माका रूप नहीं बदलता ? यदि यह बात सत्य है प्रभु, तो फिर यह समझमें कैसे आयगा ? तुम्हारा तो कोई अलग शरीर नहीं है, फिर जब अवतार लेकर शरीर धारण करते हो तो क्या प्रत्येक अवतारी शरीरमें तुम्हारा रूप नहीं बदलता ?

अर्जुनके मनमें सन्देह उठनेका यथेष्ट कारण है। अर्जुन अभी नहीं समझ रहे हैं कि परब्रह्म भगवान् नामरूप-विवर्जित हैं। परन्तु नामरूप-विवर्जित होने पर भी (न तस्य प्रतिमा अस्ति) उनका चिन्मय रूप है। वह चिदाकाश रूप है। रूपका यही आदि रूप है। इसे ही पराप्रकृति या श्यामा कहते हैं, यही अरूपका रूप है। इसके पहले सब कुछ 'अरूप' है—निजबोधमात्र चिद्रूप है। सब जीवोंके भीतर वह चिदाकाशरूप देखनेमें एकसा है। साधनकी प्रथमावस्थामें इस चिदाकाशरूपका भी दर्शन नहीं होता। साधक पहले ज्योतिर्मय सूर्यरूपको देखते हैं। इसी कारण अर्जुनको आशङ्का हुई कि सूर्य ही तो प्रथम हैं, तुम कृष्ण उनके पहले कैसे हुए? अर्जुनको मालूम नहीं कि श्यामसुन्दरकी अङ्गज्योति ही ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल है। उस महाप्राणका विकसित रूप ही सूर्य है, और उससे इस विविध रूपमय विश्वकी उत्पत्ति हुई है! और उस ज्योतिर्मय मण्डलके भीतर—गुहामें स्थित एक अपूर्व सुन्दर विन्दु झलमल करता है!! यही है जीवचैतन्य, या 'मैं' या अहङ्कार। इसीसे अहं-ज्ञान स्फुरित होता है, अतएव इसको अहङ्कार कहते हैं। यह विन्दु भी उस चिदाकाशकी एक शक्ति है। सरोवरके बीच कमलिनीके समान अनन्त नीलाकाशमें एक प्रोज्ज्वल नक्षत्र फूट उठता है। दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं, केवल रूपभेद मात्र है। दोनों ही महाविद्या हैं। अज्ञ साधकके मनमें सन्देह होता है कि प्रथम प्रकाश तो कूटस्थ-ज्योति है, पश्चात् बिन्दु है, फिर नवजलधरकी कान्तिके समान चिदाकाशरूप श्यामसुन्दर आगे कैसे हुए? साधक अभी समझ नहीं रहा है कि अनन्त चिदाकाशमें चिज्ज्योति स्फुरित हो रही है। चिदाकाशमें ब्रह्मका स्फुरण ही चिद्ज्योति या कूटस्थकी ज्योति है। ब्रह्म है रूपविवर्जित विकारहीन सत्ता मात्र। अनन्त ज्ञानसिन्धु ब्रह्म यद्यपि सर्वगत है, तथापि वह है परिवर्तनरहित, शुद्ध साक्षीमात्र। नामरूपात्मक आवरण उत्पन्न हुआ है आद्या प्रकृतिके गुण-वैषम्यसे। इसी नामरूपात्मक आवरणके बीचमें चैतन्यका जो स्फुरण होता है उसीका नाम है जन्म। इसके द्वारा ही प्रकृति-क्षेत्रगत मन, बुद्धि, अहङ्कार और इन्द्रियादिमें, तथा पश्चात् उनसे इस स्थूल देहक्षेत्रमें चैतन्य स्फुरित होता है। तब ये भी चैतन्यमय जान पड़ते हैं। इसे आत्मप्रतिबिम्बित चैतन्य या आभास चैतन्य कहते हैं। प्रकृति अव्यक्त चिदाकाशरूप है, इसके ही वक्षःस्थलमें चैतन्य प्रस्फुटित होता है, जिसका कारण है आत्माका प्रकृतिके गर्भमें वीर्याधान। अतएव आदिदेव पुरुषोत्तम 'बीजप्रद पिता' हैं, और यह चिदाकाश ब्रह्मयोनि है, जगत्की माता है। इस चिदाकाशमें जो महत् ज्योति प्रतिबिम्बित होती है वही है चित्-ज्योति या महत्तत्त्व, और उसे ही विवस्वान् या सूर्य कहते हैं॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)। परन्तप अर्जुन

(हे परन्तप अर्जुन !) मे (मेरे) तव च (और तुम्हारे) बहूनि जन्मानि (बहुतसे जन्म) व्यतीतानि (व्यतीत हो गये); अहं (मैं) तानि सर्वाणि (उन सबको) वेद (जानता हूँ) त्वं न वेत्थ (परन्तु तुम नहीं जानते) ॥ ५ ॥

श्रीधर—रूपान्तरेणोपदिष्टवानित्यभिप्रायेणोत्तरं श्रीभगवानुवाच—बहूनि इति। तान्यहं वेद वेद्मि। अलुप्तविद्याशक्तित्वात्। त्वं तु न वेत्थ न वेत्सि अविद्यावृतत्वात् ॥५॥

अनुवाद—(अन्य अवतारोंमें उपदेश दिया है, इस अभिप्रायसे) श्री भगवान् बोले—हे परन्तप अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे बहुतसे जन्म बीत चुके हैं। अलुप्त ज्ञानशक्तिके कारण मैं उन सबसे अवगत हूँ। तुम अविद्यासे आवृत होनेके कारण पूर्वजन्मके वृत्तान्तोंसे अवगत नहीं हो। (मैं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप हूँ अतएव मेरी ज्ञानशक्ति किसी प्रतिबन्धकसे आच्छादित नहीं है, इसीसे मैं सब कुछ जानता हूँ।) [मूर्ख लोग वासुदेवमें ईश्वर और सर्वज्ञ न होनेकी आशङ्का कर सकते हैं, इसके परिहारके लिए अर्जुन और भगवान्का यह प्रश्नोत्तर है—शङ्कर।] ॥ ५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थके द्वारा अनुभव हो रहा है—तुम्हारे और मेरे सदृश जन्म अनेक बार हुए हैं—वह सब मैं जानता हूँ। तुम कुछ नहीं जानते। —भूत, भविष्यत् और वर्तमान—ये तीनों काल मायाशक्तिकी लीला है। कालके ही प्रभावसे किसीको छोटा, किसीको बड़ा, तथा किसीके जन्म और किसीकी मृत्यु आदिका बोध होता है। जो काल से परे है वही महाकाल है। त्रिकाल न होनेके कारण उसमें नाना भाव नहीं है, वह सदा एकरूप रहता है। साक्षीस्वरूप कूटस्थ भगवान् ही महाकाल हैं। कूटस्थको देखते-देखते जिन्होंने उसमें तन्मयता प्राप्त की है, वही जन्म-मृत्युके परे जाकर साक्षीस्वरूपमें अवस्थान करते हैं। जिस प्रकार काल बद्धजीवोंके ज्ञानको आच्छादित करता है, वैसे महाकालमें निबद्ध-दृष्टि मुक्तात्माका ज्ञान कदापि आच्छादित नहीं होता। अतएव उसकी स्मृति भी कभी मलिन नहीं होती। दुर्गा-सप्तशतीमें इसीको 'महास्मृति' कहा है। यह ध्रुवा स्मृति ही जीवका मोक्षपद है। यह स्मृति जिसकी सदा जाग्रत रहती है उसकी दृष्टि घटस्थ आकाशसे विलुप्त होकर महाकाशमें निबद्ध हो जाती है। तब वह देहादि घटोंका अनुभव नहीं करता। आत्मविस्मृत जीव घटमध्यस्थ आकाशको ही अपना स्वरूप मानता है, इसीसे उसके जन्ममें क्लेश, मृत्युमें भय, नाना प्रकारके अवस्थान्तरोंमें विषाद और शोक होता है। ध्रुवा स्मृतिके जाग्रत होने पर जीव शिव हो जाता है, और विशोका स्थितिको प्राप्त करता है। जब तक मेरु-मध्यस्थ आत्मचैतन्य स्फुरित नहीं होता, तब तक अज्ञानान्धकार दूर नहीं होगा। गायत्रीके विसर्जनका एक मन्त्र है—

"ॐ उत्तमे शिखरे देवि भूम्यां पर्वतमूर्धनि।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम् ॥"

भूमिमें अर्थात् मूलाधारमें अवस्थित जो मेरुपर्वत अर्थात् मेरुदण्ड है, उसके

ऊपरी भागमें अर्थात् शिरस्थित सहस्रारमें गायत्री अर्थात् जीवशक्तिका यथार्थ आलय है। उसके बारेमें कहते हैं कि 'ब्राह्मणैः'—अर्थात् ब्रह्मोपासक या मेरुमध्यस्थ चैतन्यमयी प्राण-शक्तिके उपासक—उनकी साधन-शक्तिके प्रभावसे जो शक्ति स्फुरित होती है उसकी अनुज्ञा या इच्छाके अनुसार यह जीव-चैतन्य परमशिवके साथ संयोजित होकर परमानन्द रससे आप्लुत होकर मृत्युको अतिक्रम करता है। प्रकृतिके नाना भावोंमें जीवका प्रवेश तथा रूप-विशेषमें प्रकाशित होना, यह सब अविद्यामूलक है, अतएव इन सब मायोपहित चिद्विकारमें कुछ प्रकाश अनुभव नहीं होता, मानो सब कुछ ढँका रहता है—इसीसे भगवान्ने कहा कि तुम नहीं जानते। परन्तु कोई आवरण मुझको आच्छादित नहीं कर सकता, इसी कारण मैं सब कुछ जानता हूँ।

उनके भी बहुतसे जन्म बीत गये हैं, यह कैसे? देहमें जीवके प्रकाशके साथ आत्माका प्रकाश तो रहेगा ही। इसी अर्थमें कहा गया कि आत्माके भी बहुतसे जन्म हो गये। परन्तु विचार करके देखो तो जन्म और मृत्यु किसीको भी नहीं होता, आत्मविस्मृत जीव यह नहीं समझता। वह प्रत्येक देह-ग्रहणके साथ जन्म, तथा देहान्तरके साथ मृत्युकी कल्पना करता है, इसीसे जीवको भय और त्रास होता है। तुम्हारा अज्ञान ही जन्म-मृत्युका बोध कराता है, मुझमें उस अज्ञानका सदा ही अभाव है, और तुम्हें सदा देहमें आत्म-बोध होता है, मैं अपने आपमें प्रतिष्ठित हूँ—मुझे देहबोध नहीं होता। प्रकृति तुमको नचाती है, और मैं प्रकृतिको नचाता हूँ। देहाभिमान-शून्य हो जाने पर तुम भी 'मैं' हो सकते हो ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अन्वय—अजः अव्ययात्मा अपि सन् (जन्मरहित और अविनाशी होने पर भी) भूतानां (प्राणियोंका) ईश्वरोऽपि सन् (ईश्वर होते हुए भी) स्वां (अपनी) प्रकृतिं (प्रकृतिको) अधिष्ठाय (वशीभूत करके) आत्ममायया (अपनी मायाके द्वारा) सम्भवामि (जन्म ग्रहण करता हूँ) ॥ ६ ॥

श्रीधर—नन्वनादेस्तव कुतो जन्म? अविनाशिनश्च कथं पुनर्जन्म—येन बहूनि मे व्यतीतानीत्युच्यते? ईश्वरस्य तव पुण्यपापविहीनस्य कथं जीववज्जन्मेति? अत आह—अजोऽपीति। सत्यमेवम्। तथाप्यजोऽपि जन्मशून्योऽपि सन्नहम्। तथाऽव्ययात्माऽप्यनश्वरस्वभावोऽपि सन्। तथा ईश्वरोऽपि कर्मपारतन्त्र्यरहितोऽपि सन्। स्वमायया सम्भवामि सम्यगप्रच्युतज्ञानबलवीर्यादिशक्त्यैव भवामि। ननु तथापि षोड़शकलात्मकलिङ्गदेहशून्यस्य च तव कुतो जन्मेति? अत उक्तं—स्वां शुद्धसत्त्वात्मिकां प्रकृतिमधिष्ठाय स्वीकृत्य। विशुद्धोर्जितसत्त्वमूर्त्या स्वेच्छयाऽवतरामीत्यर्थः ॥ ६ ॥

अनुवाद—[तुम अनादि हो, तुम्हारा जन्म कैसे संभव है? तुम कहते हो कि 'मेरे बहुत जन्म बीत चुके हैं'—तुम तो अविनाशी पुरुष हो, तुम्हारा पुनर्जन्म कैसे

होता है ? पुण्य-पाप और तज्जनित धर्माधर्मके फलस्वरूप जीवका ही जन्म होता है तुम तो पुण्य-पापसे विहीन ईश्वर हो, जीवके समान तुम्हारा जन्म कैसे संभव हो सकता है ?—इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—यह ठीक है कि मैं जन्मरहित हूँ, अनश्वर-स्वभाव, तथा कर्म-पारतन्त्र्यसे रहित हूँ, और भूतगणोंका ईश्वर हूँ तथापि अपनी मायाशक्ति अर्थात् सम्यक् अस्खलित ज्ञान, बल, वीर्यके द्वारा जन्मग्रहण करता हूँ। [तथापि तुम षोड़शकलात्मक लिङ्ग देहसे शून्य हो, तुम्हारा जन्म कैसे होता है ?—इसका उत्तर देते हैं]—अपनी शुद्धसत्त्वात्मिका प्रकृतिको स्वीकार या अवलम्बन करके मैं स्वेच्छासे विशुद्ध और प्रोज्ज्वल सत्त्वमूर्त्ति परिग्रह करके अवतीर्ण होता हूँ। [सम्भवामि देहवानिव भवामि जात इवात्ममायया। न परमार्थतो लोकवत्—ऐसा मालूम पड़ता है कि देहवान्‌के समान मैं जन्मता हूँ परन्तु मैं साधारण लोगोंके समान नहीं जन्मता, केवल आत्ममायाके द्वारा ऐसा जान पड़ता है—शङ्कर] ॥ ६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मेरा जन्म नहीं, नाश भी नहीं है—सब भूतोंका कर्त्ता, मैं प्रकृतिका आश्रय लेकर जन्मग्रहण करता हूँ।—जो अज है उसका जन्म नहीं, जो अविनाशी है उसकी मृत्यु नहीं, तब उसके जन्मादि कैसे संघटित होते हैं ? भोगायतन यह शरीर तो पाप-पुण्य कर्मोंके अनुसार रचित होता है ? जो भगवान् हैं सब जीवोंके आत्मा हैं, जो निर्विकार, स्वयं पूर्ण हैं उनके द्वारा पुण्य-पाप रूप कार्योंका होना बिलकुल असंभव है, और जब यह शरीर कर्मोंके फल भोगनेके लिए होता है तो पुण्य-पापसे रहित भगवान्‌को देहकी प्राप्ति क्योंकर संभव है ? वस्तुतः भगवान्‌का जो जन्मग्रहण है वह कर्मजनित फल नहीं है, वह उनकी अपनी इच्छाशक्तिके कारण होता है। अन्यान्य जीव कर्मफलके अनुसार जन्मग्रहण करनेके लिए बाध्य हैं, उसमें वे स्वतन्त्र नहीं हैं। ईश्वरके जन्मग्रहणमें उस प्रकारकी परतन्त्रता नहीं है। उनकी इच्छा होने पर वे अपनी प्रकृतिको वशीभूत कर या आज्ञा देकर इच्छानुसार देह परिग्रह करते हैं। अन्य जीवोंका जिस प्रकार जन्म अपने अधीन नहीं, वैसे ही मृत्यु भी अपनी इच्छाके अनुसार नहीं होती। कर्मका अन्त होने पर जीवका यह कर्मायतन शरीर विश्लिष्ट हो जाता है। भगवान् जिस प्रकार स्वेच्छासे देह ग्रहण करते हैं उसी प्रकार इच्छानुसार इस देहको सङ्कुचित कर वह लोकचक्षुके अन्तरालमें अदृश्य हो जाते हैं। उनके आविर्भाव-कालमें उनका शरीर मायिक मनुष्यके समान देहास्थिपञ्जर-युक्त जान पड़ने पर भी जब वह अन्तर्धान होते हैं तो किसीको उनके देहास्थिपञ्जरका पता नहीं मिलता। जैसे मेघके बीच अपूर्व इन्द्रधनु स्फुटित तो होता है, और कुछ ही क्षणोंमें वह अनन्त शून्यमें विलीन हो जाता है, भगवान्‌का प्रकट और अन्तर्धान होना, तथा देह ग्रहण और त्याग भी उसी प्रकारका है। वह जो देह ग्रहण करते हैं, वह उनका मायिक देहमात्र है। महाभारतमें भगवान् नारदसे कहते हैं—

"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥"

हे नारद ! तुम चर्मचक्षुओंसे जो मेरे शरीरको देखते हो वह मेरी मायासे रचित है। इस मायिक शरीरसे आवृत मेरे स्वरूपको तुम इन चर्मचक्षुओं द्वारा नहीं देख पा रहे हो।

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥"

यह जो कृष्णरूप देखते हो, अखिल भूतोंके यही आत्मा हैं। जगत्के कल्याणके लिए अपनी मायासे देही जीवके समान प्रतीत हो रहे हैं।

उनका इस प्रकार देहधारण भी उनकी मायाका खेल है, आवश्यकता पड़ने पर वह तदनुरूप देह धारण करते हैं। हम लोगोंके समान देहधारण न होने पर भी ईश्वर की इस मायिक देहकी एक विशेषता है। उनका देहधारण 'भूतानुग्रहप्रयोजनम्' भूतों पर अनुग्रहके लिए ही होता है। परन्तु सारे जीव एकबारगी मुक्त नहीं होते, अतएव उनका दुःख दूर करनेके लिए भगवान्के अनुग्रहकी आवश्यकता होती है। भगवान् जिस प्रकट देहका अवलम्बन करके आविर्भूत होते हैं, जीवके मङ्गलके लिए वह देह नित्य चिन्मयस्वरूपवत् जगत्में नित्य पूजित होती है। यह उनका नित्यसिद्ध शरीर है। इस देहके साथ देहाधिष्ठित पूर्ण चैतन्य-स्वरूप परमात्मा प्रकाशमान होते हैं। जीव उनकी उपासना करके कृतार्थ हो जाता है। जैसे अग्निकी शिखाभी अग्नि ही है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दका प्रकट भाव जिस देहमें स्फुरित होता है वह भी सच्चिदानन्दवत् ही है। चुम्बकयुक्त लोहेके समान उसमेंभी चुम्बकका गुण आ जाता है। अतएव अन्य शरीरके समान उसकी उपासना करके जीव बद्ध नहीं होता। जैसे वाष्प जलमें और जल तुषारमें परिणत होता है, भगवान्की देहभी उसी प्रकारकी है। जिस प्रकार चैतन्य-सत्ताके बिना जड़का अस्तित्व ज्ञानमें नहीं आता, उसी प्रकार भक्तके सामने भगवान्की यह सत्त्वोर्जित मूर्त्ति नित्य चैतन्यमय होकर भक्तकी आशा और आकांक्षाको पूर्ण करती है। यह मूर्त्ति मायाधीन नहीं है। यह भगवान्की इच्छासे होती है। भगवान्की इच्छा या सङ्कल्प ही वेद और यह विराट् विश्व है। यह इच्छा भी जैसे उनकी सत्तासे पृथक् नहीं है, वैसे ही यह विश्व और वेद भगवान्के स्वरूपसे पृथक् नहीं हैं। परन्तु ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिमें बहुत पृथकता जान पड़ती है। ज्ञानी जब स्थूल, सूक्ष्म, कारण भेद करके स्वरूपमें या शुद्ध चैतन्यमें लीन हो जाते हैं, तब वह ब्रह्मसे अपनेको पृथक् अनुभव नहीं करते। तुषार पुनः वाष्पमें परिणत हो जाता है। ज्ञानी आत्माके साथ तादात्म्यभावसे युक्त होनेके कारण यह सब कुछ 'मेरा' या 'आत्माका' है अथवा यह सब 'अहं' या 'मैं' हूँ, ऐसा समझते हैं या देखते हैं। अज्ञानी प्रत्येक प्रकाशमें पृथक् पृथक् भाव देखता है। बुद्धि, मन, अहङ्कार और इस पिण्डदेहादि मायाके खेलोंमें वह नानात्वका अनुभव करता है, और सबका प्रकाश उस एकका ही प्रकाश है, यह समझ न सकनेके कारण विह्वल होकर मायाबद्ध हो जाता है॥ ६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अन्वय—भारत (हे भारत !) यदा यदा हि (जब जब) धर्मस्य (धर्मकी) ग्लानिः (हानि) अधर्मस्य (तथा अधर्मका) अभ्युत्थानं भवति (प्रादुर्भाव होता है) तदा (तब) अहं (मैं) आत्मानं (अपनेको) सृजामि (सृजन करता हूँ) ॥ ७ ॥

श्रीधर—कदा सम्भवसीत्यपेक्षायामाह—यदा यदेति। ग्लानिर्हानिः। अभ्युत्थानमाधिक्यम् ॥ ७ ॥

अनुवाद—[कब तुम शरीर धारण करते या अवतीर्ण होते हो ? इसका उत्तर देते हैं]—जब जब प्राणियोंके अभ्युदय और निःश्रेयस साधनरूप वर्णाश्रमादि-लक्षण धर्मकी हानि होती है तथा अधर्मका आधिक्य होता है तभी मैं अपनेको सृजन करता हूँ ॥ ७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जब क्रिया लुप्त हो जाती है तब मैं अपने आपको सृजन करता हूँ।—कालस्रोतमें पड़कर जब जीव विपथगामी हो जाता है तब उसको मार्ग दिखलानेके लिए भगवान् आविर्भूत होते हैं। कभी मूर्ति परिग्रह कर, कभी जीव-हृदयमें ज्ञानरूपसे आविर्भूत होकर, कभी मुक्त पुरुषके बुद्धिस्थ होकर जगत्‌के कल्याणके लिए भगवान् अवतीर्ण होते हैं। अवतीर्ण होनेका अर्थ है कुछ नीचे उतरना। जीवके प्रति कृपासे वशीभूत होकर भगवान् कुछ नीचे उतरते हैं, अन्यथा उनके पास हम कैसे पहुँचेंगे ? सप्तम ज्ञानभूमिमें आरूढ़ पुरुष इस संसारके विषयमें कुछ नहीं सोचते, उस समय उनकी बुद्धिसे जगत्‌ज्ञानका लोप हो जाता है, परन्तु जो जगत्‌के प्रभु हैं, जो ज्ञानघनमूर्त्ति हैं उनको चलायमान करनेमें कौन समर्थ होगा ? तथापि वह जीवोंके प्रति करुणा कर जगतीतलमें अवतीर्ण होते हैं। तब वह पञ्चम भूमिमें उतर आते हैं, अन्यथा जगतके जीवोंकी उनके पास पहुँच न होती। धर्मकी हानि और अभ्युत्थान क्या है ? जब सत्यके प्रति लोगोंका आदर नहीं रहता, जब द्विजातिके लोग सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मसे रहित हो जाते हैं, शास्त्र, ब्राह्मण और देवताको कोई मानना नहीं चाहता, सब लोग अभक्ष्य-भक्षणमें तत्पर होते हैं, धर्म और शास्त्रकी बातें केवल मुख तक ही रहती हैं, धर्माचरण बाह्याड़म्बरमें परिणत हो जाता है, लोगोंको ठगना ही बुद्धिमानी समझी जाती है, स्त्रियोंमें सतीत्व नहीं रहता, वे गुरु और पतिकी सेवाको तुच्छ समझती हैं, स्त्रियाँ नारीधर्म छोड़कर पुरुषभावापन्न हो जाती हैं, सदा कर्कश वाक्य बोलती हैं, दयाशून्य और लज्जाहीन हो जाती हैं, तब समझना चाहिए कि धर्मकी हानि हो गयी है, और अधर्मका आधिक्य हो गया है। यह अधर्म-स्रोत जगत्‌के नित्य धर्मचक्रमें बाधा उत्पन्न करता है। तब संसारमें अव्यवस्था उत्पन्न होती है। नाना प्रकारके रोग, दैवी आपत्तियाँ, युद्ध, अशान्ति, दुर्भिक्ष, महामारी आदि

जगत्‌को मानो ग्रास करनेके लिए उद्यत हो जाते हैं। जान पड़ता है कि संसारका कोई कर्त्ता या नियन्ता नहीं रहा, अधर्मी लोग आनन्दोत्सवमें नृत्य करते फिरते हैं, धार्मिक पुरुषको कोई नहीं पूछता, कोई सम्मान नहीं करता, तब वे विपन्न होकर संसार त्याग करके निर्जनमें अज्ञात स्थानमें वास करते हैं। यह अवस्था जब विशेष रूपसे बढ़ती है तब फिर धर्मचक्र बार बार विकम्पित और आन्दोलित होता है, उस आन्दोलनके फलस्वरूप शक्तिमान् पुरुषोंका आविर्भाव होता है। कभी कभी स्वयं भगवान् जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं। ईश्वरीय नियम कैसा अपूर्व और करुणा-पूर्ण होता है! यह सोचकर हृदय हर्षसे उत्फुल्ल हो जाता है, अत्यन्त आशा और विश्वाससे भर जाता है। कलियुगके दुःसह पापोंसे सन्तप्त जीवोंको शान्ति कैसे मिलेगी? अधर्ममें पड़ा हुआ जीव कैसे धर्मकी छायामें जाकर शीतलता प्राप्त करेगा, कब वह सत्ययुगके सत्पथका अवलम्बन करके असत्यका परिहार करेगा, कलिके मध्याह्न-मार्त्तण्डकी रश्मि-ज्वालाओंसे सन्तप्त होकर सत्ययुगके स्निग्ध प्रातःसमीरणमें शुद्धस्नात होकर शीतल होगा, इसकी ही व्यवस्था करनेके लिए भगवान् बहुत पहले ही अपने विश्वस्त अनुचर, अपने पार्षदोंको जगतमें धर्मरक्षा करनेके लिए, धर्म संस्थापनका बीज वपन करनेके लिए भेजते हैं। यही है क्रियाके लोप होने पर अपने आपको सृजन करना। क्रिया किये बिना प्राण स्थिर नहीं होते, प्राण स्थिर नहीं हुआ तो मन विषयकी प्राप्तिके लिए उन्मत्त होकर दौड़ेगा ही। अतएव इस रोगकी औषध बतलानेके लिए, उत्तप्त प्राणको शीतल करनेके लिए, बहुवृत्तियुक्त मनको वृत्तिहीन करनेके लिए, बहिर्विचरण-शील मनको अन्तर्मुखी बनानेके लिए वह लोकशिक्षक होकर श्रीगुरु-कर्णधारके रूपमें उदित होकर—जीवको साधनमार्गका उपदेश देनेके लिए संसारमें आविर्भूत होते हैं। इन भगवत्प्रेरित महापुरुषोंको कितने आदमी पहचान पाते हैं? संसारमें कोई उनको न पहचानने पर भी वे अपना कार्य चुपचाप कर जाते हैं। इसका ही नाम निरहङ्कार है। अभिमान और अहङ्कार-शून्य पुरुष ही धर्मके धारक होते हैं, संस्थापक होते हैं, प्रवर्त्तक होते हैं। कलिमें भयानक धर्म-ग्लानिकी बात भागवतमें ऋषि लोग सूतसे कहते हैं—

प्रायेणाल्पायुषः सभ्यः कलावस्मिन्युगे जनाः।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः॥

इस कलिमें मनुष्य प्रायः अल्पायु होंगे, आलसी और नितान्त बुद्धिहीन होंगे। अत्यन्त मन्दभाग्य तथा दुर्भिक्ष-महामारी आदि उपद्रवोंसे कलिके जीव सदा उत्पीड़ित रहेंगे। सत्ययुगमें धर्मके चारों पाद पूर्ण होते हैं, त्रेता द्वापरमें एक एक पाद कम होते होते कलियुगमें केवल एक पाद अवशिष्ट रह जाता है। समष्टिरूपसे जैसे कालप्रभाव सत्य, त्रेता आदि युगोमें पृथक् पृथक् दीख पड़ता है, वैसेही सब कालोंमें व्यष्टिभावसे मनुष्यके भीतर भी सत्य, त्रेता, द्वापर और कलिका प्रादुर्भाव दीख पड़ता है। धर्मके चार पाद ये हैं—

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मय-सङ्ग-मदैस्तव॥

सत्ययुगमें तप, शौच, दया और सत्य नामक चार पाद थे। परन्तु गर्व द्वारा तप, प्रबल भोगासक्तिके द्वारा शौच, तथा मद या मत्तताके द्वारा दया नामक पाद भग्न हो गये हैं।

गर्वहीन तपस्या, भोगवर्जित पवित्रता और निरभिमानी होकर दया-धर्मका आज भी जो प्रतिपालन करते हैं तथा काय-मन-वचनसे सत्यकी मर्यादा रखते हैं, वे कलिके जीव होने पर भी सत्ययुगमें प्रतिष्ठित हैं। साधना द्वारा ही धर्म-रक्षा की जाती है। धर्म—धारणा, जिसके द्वारा इन गुणोंको धारण किया जाय या अपने भीतर रक्खा जाय वही स्वधर्म-पालन कहलायेगा। यह स्वधर्म-पालन पूर्ण मात्रामें होने पर ही सत्ययुग होता है। देह, प्राण, मन और बुद्धि—इन चारोंकी पूर्ण निर्मलता ही सत्ययुग है, प्रत्येक अगले युगोंमें इस पवित्रताका एक एक पाद घटता जाता है। कलियुगके जीवकी प्रधान आसक्ति शरीरके ऊपर ही होती है। जब प्राणकी साधनासे देह-धर्मके (स्वार्थभाव और कामोपभोगादिके) ऊपर अनास्था आ जाती है तब द्वापर युग होता है। प्राणकी साधनासे प्राणके स्थिर होने पर जब मन स्थिर और इन्द्रियाँ निर्मल होकर ईश्वरमुखी होती हैं तभी त्रेतायुग होता है। मनका विक्षेप या चाञ्चल्य पूर्णरूपसे दूर होने पर बुद्धि स्थिर और एकाग्र होकर निरुद्ध और ईश्वरार्पित होती है तब जिस परम ज्ञानका उदय होता है वही सत्ययुग है। इन चारों युगोंमें क्रिया भी चार प्रकारकी होती है। कलियुगमें केवल बाहर ही बाहर क्रिया करनेकी चेष्टा होती है, द्वापरमें मनको अन्तर्मुखी करके एकाग्रता प्राप्त करनेकी चेष्टा की जाती है, त्रेतामें प्राणकी स्थिरतासे मनमें असीम स्थैर्य आता है और बुद्धि निर्मल होती है, सत्ययुगमें बुद्धि अत्यन्त निर्मल होकर ब्रह्मके भीतर प्रवेश करती है। कलियुगमें जितना देहाभिमान और देहात्मबुद्धि बढ़ती है, उतना ही जीव भगवान्‌से दूर हटता जाता है। कामोपभोग चरितार्थ करनेके सिवा मनमें अन्य किसी साधु-वृत्तिका उदय ही नहीं होता। घोर कलिके प्रभावके समय मनसे तप, शौच, दया, सत्य सब विलुप्त-प्राय हो जाते हैं। भगवान् दया करके हमको घोर कलिके प्रभावसे मुक्त करें; जिससे हम पूर्णरूपसे उनका स्मरण-मनन करके कृतार्थ हो सकें॥ ७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

अन्वय—साधूनां (साधुओंके) परित्राणाय (परित्राणके लिए) दुष्कृतां (दुष्कर्मीजनोंके) विनाशाय (विनाशके लिए) धर्मसंस्थापनार्थाय च (और धर्मकी प्रतिष्ठाके लिए) युगे युगे (युग युगमें) सम्भवामि (अवतीर्ण होता हूँ)॥८॥

श्रीधर—किमर्थमित्यपेक्षायामाह—परित्राणायेति। साधूनां स्वधर्मवर्त्तिनां रक्षणाय। दुष्टं कर्म कुर्वन्तीति दुष्कृतः। तेषां वधाय च एवं धर्मसंस्थापनार्थाय साधुरक्षणेन दुष्टवधेन च धर्मं स्थिरीकर्त्तुम्। युगे युगे तत्तदवसरे सम्भवामीत्यर्थः। न चैवं दुष्टनिग्रहं कुर्वतोऽपि नैर्घृण्यं शङ्कनीयम्। यथाहुः—

लालने ताड़ने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः—॥ ८॥

अनुवाद—[किसलिए तुम शरीर धारण करते हो ? इसके उत्तरमें कहते हैं]—(१) स्वधर्मवर्ती साधुओंकी रक्षाके लिए, (२) जो दुष्ट कर्म करते हैं वे दुष्कृत हैं—उनके विनाशके लिए, (३) साधु-रक्षा और दुष्टवधके द्वारा धर्मकी प्रतिष्ठाके लिए युग युगमें तत्तत् अवसरों पर मैं अवतीर्ण होता हूँ। दुष्टोंका निग्रह करने पर भगवान्में नैर्घृण्य या निष्ठुरताकी आशङ्का करना उचित नहीं है। जैसे माता बालकको लालन-ताड़न करती है, ताड़ना करने पर यह नहीं कहा जाता कि मातामें सन्तानके प्रति करुणाका अभाव है। ठीक उसी प्रकार गुण-दोषके नियन्ता प्रभुको कभी अकरुण नहीं कह सकते ॥ ८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—साधुओंके परित्राणके लिए, तथा ब्रह्मके सिवा दूसरी ओर जो चिन्तन करते हैं उनके विनाशके लिए युग युगमें जन्मग्रहण करता हूँ—(१) साधुओंकी रक्षा, (२) पापियोंका विनाश और (३) धर्मसंस्थापनके लिए भगवान् अवतीर्ण होते हैं। (१) जो साधनशील भगवद्भक्त हैं, जो बहुत कुछ अग्रसर हो गये हैं, उन पर भी समय समय पर अनेक विपत्तियाँ आती हैं। साधनमें यथेष्ट उन्नति हो रही है, अनेक विभूतियोंको भी प्राप्त किया है—संभवतः इनके कारण अहङ्कार आ उपस्थित होता है, और साधककी उन्नतिका मार्ग एकबारगी बन्द हो जाता है। वह अब आगे नहीं बढ़ रहा है। मानो अपनी अवस्थासे नीचे उतर गया। तब उसे भय उत्पन्न होता है और अपनी आँखोंसे अन्धकारको देखकर वह भगवान्के शरणापन्न होता है। शरणापन्न होते ही भगवान् हृदयमें सद्बुद्धिके रूपमें प्रकट होकर दीनार्त साधकको कृतार्थ करते हैं। अथवा जो अत्यन्त भाग्यवान् भक्त होते हैं, जिनका मन अनेक जन्मोंके साधन-संस्कारसे खूब शुद्ध हो गया है, उनको भी कभी कभी पूर्वजन्मकी दुष्कृतिके कारण साधन-मार्गमें कुछ विघ्न आते हैं और अनायास बहुत दूर आगे जाकर उसकी अन्तिम सीमा के पार किसी प्रकार नहीं जा पाते हैं, अथवा खूब भक्ति है, विचार है, परन्तु शरीर वैसा स्वस्थ नहीं है, अतएव इच्छानुरूप भगवद्भजन नहीं हो पाता; अथवा भगवद्भजन खूब चल रहा है, परन्तु विचारमें कुछ त्रुटि होनेके कारण साधनमें उन्नति नहीं होती। इन अवस्थाओंमें भक्त बहुत अधीर हो उठते हैं, और तब भगवान् "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते"—उनको ज्ञान देते हैं, बल देते हैं, जिससे वे शीघ्र उनके पास पहुँच सकें। यही है साधुओंका परित्राण।

(२) जो पापी हैं अर्थात् भगवान्को नहीं मानते, साधारण रूपसे मानने पर भी पूजा-पाठ, ध्यान-धारणा कुछ भी नहीं करते, स्वेच्छानुसार आहार-विहार करते हैं, जीवको कष्ट देते हैं, नाना प्रकारके दुष्कर्म करते हैं, और उसके लिए कुछ भय या लाज नहीं अनुभव करते। उनमें मनुष्यत्व इतना भी नहीं होता, ज्ञान-विद्याका अभाव न होने पर भी वह उसका उपयोग दूसरोंके अपकारमें ही करते हैं। इन सब राक्षसी तथा आसुरी प्रकृतिके पुरुषोंके विनाशके लिए भी भगवान् आते हैं। यहाँ मनमें आ सकता है कि तब

तो भगवान् मनुष्यके समान ही हिंसा-परायण हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है। यह संहार स्थितिमूलक होता है, यह संहार हुए बिना जगत्में कोई वास ही नहीं कर सकता। कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा—ये सप्त मातृका जगत्की भूषण-स्वरूपा हैं, आसुरी भावकी वृद्धिके साथ ये सारी अध्यात्म-शक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं। जगत्का अभ्युदय करनेवाली ये सारी शक्तियाँ जब अन्तर्हित होती हैं तो जगत्का विध्वंस करनेवाली आसुरी शक्तियाँ प्रचण्डरूपसे बढ़ने लगती हैं, अतएव उनको ध्वंस करनेके लिए फिर भगवान्को संसारमें आना पड़ता है। परन्तु असुरगण असुर होने पर भी सन्तान तो उनके ही हैं। जगत्के उपकार और स्थितिके लिए उनका विनाश आवश्यक होने पर भी वे भगवान्की असीम करुणासे वञ्चित नहीं होते। दुर्गासप्तशतीमें लिखा है—

एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते
कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्।
संग्राममृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु
मत्वेति नूनमहितान् विनिहंसि देवि॥
दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म
सर्वासुरानरिषु यत्प्रहिणोषि शस्त्रम्।
लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्रपूता
इत्थं मतिर्भवति तेष्वपि तेऽतिसाध्वी॥ (चतुर्थ माहात्म्य)

हे देवि, इन सारे दैत्योंके मारे जानेसे जगत् सुखी हो गया; परन्तु ये जिससे चिरकाल तक नरक-भोगके लिए पाप न कर सकें तथा संग्राम-मृत्युको प्राप्त होकर स्वर्ग जा सकें, इन तीन हेतुओंको स्मरण करते हुए अनुग्रह-बुद्धिसे ही तुमने जगत्में अहितकारी महिषासुर आदि दैत्योंका बध किया है।

क्या तुम दृष्टि मात्रसे ही सारे असुरोंको भस्म नहीं कर सकती थीं? परन्तु जो तुमने शत्रुओं पर अस्त्र-प्रयोग किया है, वह निश्चय ही इस विचारसे किया है कि वे शस्त्रपूत होकर उत्कृष्ट लोकोंको गमन करें। अतएव जब शत्रुओंके प्रति तुम्हारा मन इतना दयार्द्र है तो फिर भक्तोंकी तो बात ही क्या है?

(३) धर्म-संस्थापन—यह उनके अवतारी शरीरका सर्वप्रधान कर्म है। अन्य दोनों कर्म उनके कृपापात्र भक्त ज्ञानियोंके द्वारा भी हो सकते हैं, परन्तु धर्मसंस्थापन और कोई नहीं कर सकता। धर्म ही जगत्को धारण करता है। धर्मकी कमी होनेसे जगत्की स्थिति-शक्ति प्रकम्पित और विचलित हो जाती है। धर्मकी मूलशक्ति या केन्द्र भगवान् हैं। केन्द्रसे शक्ति स्फुरित होकर परिधि पर्यन्त फैलती है। और परिधिसे केन्द्रमें लौट आती है। इस प्रकार आवर्तन और विवर्तन होना धर्मचक्रका लक्षण है। इसे ही सर्ग-विसर्ग, सृष्टि-लय कहते हैं। यही ईश्वरीय शक्तिकी क्रीड़ा है। जीव जीवन्त ईश्वरांश ही तो है, अतएव इसका भी स्वाधीन स्वभाव है; जीवमें स्वाधीनता तो है, परन्तु बहुधा इसके दुरुपयोगसे जीवका

अधःपतन और क्लेश होता है। इस क्लेशका निवारण ईश्वर ही चाहें तो कर सकते हैं, पर वह करते क्यों नहीं? वह जीवके कल्याणके लिए ही ऐसा नहीं करते हैं। दुःख पाते पाते जीवको बहुत ज्ञानसंचय होता है, अनेक शिक्षाएँ मिलती हैं। ज्ञानसंचय होने पर पशुबुद्धि जीव सावधान होना सीखता है, पशुत्वको त्यागनेकी चेष्टा करता है। इस प्रकारकी शिक्षा अमूल्य होती है। इस शिक्षा से वह किसीको वञ्चित नहीं करते, यही उनकी परमदया है। यह शिक्षा पाये बिना कोई मुक्त नहीं होता, यह भी ईश्वरीय नियम है।

अब सोचो कि शरीररूपी यन्त्रमें कितने कल-कारखाने हैं, उन सबके विशेष विशेष धर्मभी हैं। जीव स्वभावसे स्वाधीन होनेके कारण उनका बहुत दुरुपयोग करता है। उदाहरणके लिए आहारको ही लो। आहार देहधर्मकी एक पोषक क्रिया है। भोजन-व्यापार ठीक ठीक नियमानुसार चलता रहे तो देहरूपी यन्त्र असमय ही जीर्ण न हो सकेगा। आहारके द्वारा ही प्राण, मन और इन्द्रियोंकी पुष्टि होती है। और यदि भोजन-व्यापारमें स्वेच्छाचार और असंयम होता है तो देहयन्त्रके विभिन्न अवयवोंमें सामञ्जस्य भग्न होता है, जिसका परिणाम रोग है और उससे जीवको दुःख भोगना पड़ता है। और इस सामञ्जस्यको फिर स्थापित करनेके लिए बहुत चेष्टा करनी पड़ती है। आहारमें नियम-संयम तथा औषधि-सेवनके द्वारा यह सामञ्जस्य फिर लौटाना पड़ता है। उपयोगी औषधि तथा पथ्य सेवनके द्वारा शरीर-यन्त्रका धर्म स्थापित होने पर शरीरमें फिर स्वास्थ्य लौट आता है। अतएव शरीरकी रक्षाके लिए यथाविहित नियम पालन करनाभी धर्म है। इसके द्वारा शरीरमें धर्मकी स्थापना होती है। इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धिमें जो विरुद्ध धर्म उत्पन्न होकर इनको विकृत करते हैं उनको फिर अपने स्थानमें संस्थापित करनाभी धर्म-संस्थापन है। बहिर्जगत्में जब इस प्रकार धर्मका अभाव होता है तबभी उसका सामञ्जस्य भग्न होता है, तब अधर्मके फलस्वरूप नाना प्रकारकी व्याधि और दुर्नीति जगत्के अध्यात्म-स्वास्थ्यको विप्लावित और विपर्यस्त कर डालती है, तब भूतलमें पुनः धर्म-संस्थापनकी आवश्यकता पड़ती है। यह धर्म-संस्थापन बहुधा स्वयं भगवान्को आकर करना पड़ता है। वह स्वयं धर्मरूप हैं, धर्मके बिना जगत्की रक्षा नहीं होती, अतएव धर्मकी ग्लानि होते ही प्राकृतिक नियमके अनुसार जगत्का विध्वंस करनेवाले आसुरी भावका प्रादुर्भाव होता है। वह स्वयं धर्मस्वरूप हैं, अतएव जगत्के प्राकृतिक नियमोंकी शृङ्खलाका पूर्ण सामञ्जस्य उनके भीतर पूर्णसे भी पूर्णतररूपमें विराजमान है। धर्मका मानदण्ड सर्वदा उनके पास साम्यभावमें रहता है, इसीसे वह कहते हैं कि, 'न में द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'। परन्तु मनुष्योंमें धर्मका मानदण्ड समभावमें सर्वदा नहीं रहता, क्योंकि मनुष्योंमें गुण-वैषम्यके कारण अनुराग-विरागकी मात्राको सदा सम रखना असम्भव होता है, अतएव धर्मका मानदण्ड प्रायः झुक जाता है। धर्मके मानदण्डमें विषमता आते ही धर्म-ज्योतिकी स्वाभाविक उज्ज्वलताका ह्रास हो जाता है, और धर्मकी ग्लानि होती है। इस मानदण्डको पुनः

स्वाभाविक अवस्थामें लौटानेके लिए भगवान्‌के आविर्भावकी आवश्यकता होती है। भगवान्‌के आविर्भावका अर्थ है उनका प्रकट होना। जब वह मनुष्यके चित्तसे हटते हटते पूर्णतः हट जाते हैं तो जीव उनको भूल जाता है। धर्मके मानदण्डमें प्रचण्ड विषमता उपस्थित होती है। तब वह अपनेको प्रकट करते हैं, उनके प्रकट होने पर फिर सब धर्म, सब यन्त्र ठीक ठीक कार्य करने लगते हैं। इस विषमतका नाशही धर्म-संस्थापन कहलाता है। "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥" देवता लोग उनके भयसे या उनके प्रति श्रद्धावश कभी कोई अनियम नहीं करते। 'न देवाः सृष्टिनाशकाः'—परन्तु स्वाधीन जीव आत्मविस्मृत होता है। वह भगवान्‌से भी नहीं डरता, श्रद्धा भी नहीं करता, उनकी खातिर भी नहीं करता। पशुके समान बेंत मारकर उसमें चैतन्यका सञ्चार करनेकी कभी कभी आवश्यकता होती है। यह दण्डदान या चेतना-सञ्चार ही मनुष्यके ऊपर भगवान्‌की ऐकान्तिक कृपा है।

मनुष्यके शरीर, मन और प्राणके द्वारा इस प्रकार जो धर्म-संस्थापनका कार्य चलता है, उसके बारेमें कुछ कहूँगा। मनुष्यके अवयव-संस्थानमें द्विदल या आज्ञाचक्रमें आत्माके प्रकाशकी अधिकता दीख पड़ती है। मनका स्वस्थान भी यह द्विदल पद्म ही है। परन्तु पञ्चतत्त्वके साथ उतरते उतरते मन इतनी दूर उतर जाता है कि उसको अपने घरकी याद ही नहीं रहती। इतना अधिक आत्मविस्मृत हो जाता है कि देहको छोड़कर, ऐन्द्रिय विषयोंको छोड़कर, और किसीकी बात उसे याद नहीं पड़ती। जान पड़ता है मानो आत्माके साथ उसका सारा सम्बन्ध छिन्न हो गया। भूलते भूलते इतना भूल जाता है कि उस देशकी बात भी मनमें नहीं आती। इसीसे उस समय आत्मविस्मृत जीवको समझाना पड़ता है कि, "स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।" हे जीव, तुम अन्य किसीके नहीं, तुम मेरे ही भक्त हो, तुम्हारे मेरे प्राण एक हैं, इसीसे तुम मेरे सखा हो, तुम्हारे और मुझमें अनादिकालसे ऐक्य भाव है, उसी पुरातन योगकी बात तुमको आज सुनाऊँगा। मन जब आज्ञाचक्रमें था, तब वह पूर्णज्ञानसम्पन्न था, अब वह वहाँ से उतर गया है, अजस्र प्राण-प्रवाहके बीच पड़कर मानो उसे दिग्भ्रम हो गया है। चित्स्वरूप आत्मा ज्ञानस्वभाव, आनन्दस्वभाव, पूर्णसे भी पूर्णतर है, तथापि चित् चैत्यभावमें स्फुरित होने पर मानो वह आत्मविस्मृत हो जाता है, अपने आपको भूल जाता है। चित्‌के भीतर स्पन्दन होने पर चैत्यभाव प्रस्फुटित हो उठता है, प्राणस्पन्दन आरम्भ होता है। यह प्राण स्पन्दित होते होते उनचास वायु (प्राणशक्ति)के रूपमें अजस्र नाड़ीप्रवाहके भीतरसे बहिर्मुखी हो जाता है। प्राणकी यह बहिर्मुखता ही इन्द्रियोंकी शक्तिको विषयग्रहण करनेके लिए आन्दोलित करती है। इन्द्रियाँ स्पन्दित होकर विषयोंकी खोजमें व्याकुल हो जाती हैं और विषयोंके प्राप्त होने पर उनके बीचमें रमण करती हैं; इसीको कहते हैं कि, "स कालेनेह महता योगोनष्टः परन्तप!"

परन्तु परमात्मा सचमुच ही जीवके प्रभु हैं, जीवके बड़े मित्र हैं, इसी कारण जीव उनको भूल जाता है तो भी वह जीवको नहीं भूलते। उनकी इतनी दया है कि

वह इसके लिए अवतीर्ण होते हैं। "सम्भवामि युगे युगे।"—'धर्मसंस्थापनार्थाय धर्मं स्थिरीकर्त्तुं युगे युगे सम्भवामि आविर्भवामि।'

'देहात्मदृष्टयो मूढ़ा नास्तिका पशुबुद्धयः'—देहात्मदृष्टि करते करते जीव नास्तिक होकर पशुबुद्धि हो जाता है। तब धर्म स्थिर नहीं रहता, तब धर्मको स्थिर करनेके लिए भगवान्के आविर्भावकी आवश्यकता पड़ती है। अब यह समझना है कि धर्म और अधर्म क्या वस्तु है? मन ही पाप-सङ्कल्प करता है। मन ही पापमें लिप्त होता है अर्थात् मनके स्वस्थान(द्विदल)से च्युत होने पर देहात्म-बोध होता है। यह देहात्मबोध ही समस्त पापोंका मूल है। देहको सर्वस्व मानकर उसका अनुगत होकर रहना ही महापाप है। यह पाप निरन्तर हम सभी करते हैं। तो फिर धर्म है क्या वस्तु?—यही न, कि जिससे मनको स्वस्थानसे भ्रष्ट होकर देहमें आने न दिया जाय। इसके विपरीत ही अधर्म है। अधार्मिक लोग ही मूढ़, नास्तिक और पशुबुद्धि होते हैं। क्योंकि वे पशुके समान भोग-लालसाकी तृप्तिके लिए अपने सारे कार्य करते हैं; और अपना स्वरूप क्या है, आत्मा क्या है—यह सब कुछ भी नहीं समझ पाते, इसकारण नास्तिक हो जाते हैं। जीवको धारण करनेवाले धर्ममें जब विषमता आती है तब फिर धर्मकी संस्थापनाकी आवश्यकता पड़ती है। धर्म शब्द 'धृ' धातुसे निकला है, 'धृ' धातुका अर्थ है धारण। जगत्को कौन धारण करता है?—मन। मनके न रहने पर जगत् नहीं रहता। यह मन स्वस्थानसे च्युत होकर धर्मभ्रष्ट हो गया है। इसको स्वस्थानमें रोकनेकी चेष्टा ही धर्म-संस्थापन है। इस मनको फिर आज्ञाचक्रमें ले जाना होगा। ऐसा करनेसे वह अपने स्वाधिकारको प्राप्त होगा, धर्म स्थिर होगा। किसी भी चञ्चल जीवका धर्म स्थिर नहीं होता। यह मन अभी एक वासना करता है, दूसरे क्षण दूसरी ही वासना करेगा, और उसके बाद तीसरे क्षण कोई और ही वासना करेगा। उसका धर्म स्थिर कहाँ है? अच्छा, यह धर्म स्थिर करना या मनको स्वस्थानमें रखना, यह तो जीवका निजी कर्त्तव्य है। भगवान्के आविर्भावका प्रयोजन क्या है? और युग युगमें उनका आविर्भाव होनेसे अधिकांश जीवोंको उससे क्या लाभ होता है? क्योंकि भगवान् जब अवतीर्ण होंगे हम सब उस समय नहीं रहेंगे। इसका भी लक्ष्य है। आविर्भाव माने फूट उठना, जो था नहीं उसका प्रकाश होना। यह भगवान्, आत्मा सब जीवोंके भीतर रहते हैं, परन्तु उनका स्वतः प्रकाश आज्ञाचक्रमें ही फूट उठता है। जब यह चिज्ज्योति स्फुरित होती है तब प्राणका असल धर्म जो स्थिरता है वह प्रकाशमें आती है। प्राणकी स्थिरताके साथ ही मन विक्षेप-शून्य होकर निर्मल हो जाता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

प्रत्याहारके द्वारा जो पुनः पुनः मनको वशीभूत करनेकी चेष्टा करते हैं उनका रजोगुण क्षय हो जाता है और वह ब्रह्मके साथ मिलनरूप योगसुखको प्राप्त करते हैं। इसी कारण रजोगुणको शान्त करना होगा, इससे पाप (अन्य विषयोंमें मनकी

गति) से मुक्त होकर ब्रह्मभावको प्राप्त (स्थिर निश्चल) हो जाओगे। इस प्रकार योगीको उत्तम समाधि-सुख स्वयं ही आकर आश्रय करता है।

मन लगाकर बारंबार प्राणायाम करनेसे प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि सारी अवस्थाएँ प्राप्त हो सकेंगी। उसके पश्चात् मनके न रहने पर ब्रह्म या आत्मा अपने भावमें आप ही डूबे रहेंगे, यही स्वधर्म है। इस अवस्थाकी प्राप्तिकी चेष्टा ही स्वधर्मरक्षा या स्वधर्मपालन कहलाता है।

भगवान्‌के आविर्भावकी बात कही गयी, अब युग युगमें आनेकी बात कहता हूँ। प्राणका चाञ्चल्य ही श्वासका चाञ्चल्य है। प्राणका चञ्चल भाव ही श्वास-प्रश्वास है। यह श्वास-प्रश्वास कभी बायीं नासिका और कभी दाहिनी नासिकामें बहता है। वाम भागमें इड़ा नाड़ी और दक्षिणमें पिङ्गला है। इड़ा-पिङ्गलामें श्वासके प्रवाहका नाम ही संसार है। यही रजस्तम भाव है। रजस्तम भाव ही समस्त पापवासनाके मूल हैं। जब तक इड़ा-पिङ्गलामें श्वास चलता रहेगा तब तक पापवासना नष्ट न होगी। परन्तु भगवान कहते हैं कि पापके नाशके लिए ही वह युग युगमें अवतीर्ण होते हैं। तब यह युग क्या है? 'युग्मं हि युगलं युगः।' युग माने युग्म या युगल। श्वास जब इड़ासे पिङ्गलामें आता है तो एक बार सुषुम्ना होकर आता है। तथा पिङ्गलासे जब इड़ामें आता है तब भी एक बार सुषुम्ना होकर आता है। यह जो इड़ाके साथ सुषुम्नाका या पिङ्गलाके साथ सुषुम्नाका योग है, यही युग कहलाता है। इस मिलनके सन्धि-कालमें, ब्राह्ममुहूर्त्तमें भगवान्‌का आविर्भाव होता है। अर्थात् उनकी अपूर्व सारसे भी सार प्रकाशावस्था इस मिलनकालमें ही जानी जाती है। योगी लोग इस मिलन-क्षणको साधनाके द्वारा बढ़ाते हैं। इस युगसन्धिमें भगवान्‌के प्रकाशका अनुभव होता है। यही है उनका युग युगमें आविर्भाव।

जीव उनको भूल जाता है, परन्तु वह जीवको नहीं भूलते। उनकी दया इतनी है कि इसके लिए वह अवतीर्ण होते हैं, जहाँ आने पर जीवकी उनके पास पहुँच हो वहाँ वह अवतरण करते हैं। देहके अभ्यन्तर भ्रूमध्यमें वह स्वमहिमामें नित्य विराजित हैं। मन यदि किसी प्रकार उस धाममें प्रवेश कर सके तो उसकी आत्मविस्मृति दूर हो जायगी। जीवकी इस मोहनिद्राको तोड़नेके लिए वह सद्‌गुरुके रूपमें आकर दर्शन देते हैं; भयातुर शिष्यको अपने स्वधामकी महिमा समझाकर स्वधाममें प्रवेशका मार्ग भी दिखला देते हैं। नाड़ियोंके द्वारा प्राण-प्रवाह आते आते पथभ्रष्ट हो गया है; दयालु गुरु शिष्यको वह मार्ग पकड़ा देते हैं जो मार्ग प्राणधाराका विशिष्ट राजमार्ग या सुषुम्ना है। सहस्रों स्थानोंसे इस प्रक्षिप्त मनको प्राण-प्रवाहके मार्गसे किस प्रकार स्वस्थानकी ओर ले जाना होता है उस अपूर्व कौशलको बतलाकर शिष्यके मुद्रित नेत्रोंको उन्मीलित कर देना ही सद्‌गुरुका प्रधान कार्य है। यही है "तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।"

विषयासक्त मन आत्माको भूलकर विषयोंमें ही उन्मत्त रहता है। सद्‌गुरुके द्वारा दिखलाये हुए मार्ग पर चलनेसे शिष्यकी विषयासक्ति और मोह क्रमशः ध्वंस हो जाते

हैं, इसीको दुष्कृतियोंका विनाश कहते हैं। साधन प्राप्त करनेके पहले मन जैसा विकृत और पापासक्त रहता है उसका वह पूर्वभाव साधन करते करते बदल जाता है। यह दुष्कृतिका विनाश भी है और धर्मका संस्थापन भी है ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) यः (जो) मे (मेरे) एवं (इस प्रकारके) दिव्यं जन्म कर्म च (अलौकिक जन्म और कर्मको) तत्त्वतः (ठीक ठीक) वेत्ति (जानते हैं) सः (वह) देहं त्यक्त्वा (शरीर त्याग करके) पुनः जन्म (फिर जन्मको) न एति (प्राप्त नहीं होते) [परन्तु] मां एति (मुझको ही प्राप्त होते हैं) ॥ ६ ॥

श्रीधर—एवंविधानामीश्वरजन्मकर्मणां ज्ञाने फलमाह—जन्मेति। स्वेच्छया कृतं मम जन्म कर्म च धर्मपालनरूपं दिव्यमलौकिकं तत्त्वतः परानुग्रहार्थमेवेति यो वेत्ति। स देहाभिमानं त्यक्त्वा पुनर्जन्म संसारं नैति न प्राप्नोति। किन्तु मामेव प्राप्नोति ॥ ६ ॥

अनुवाद—[ईश्वरके इस प्रकारके जन्म-कर्मके ज्ञानका फल क्या है ?—यह बतलाते हैं] हे अर्जुन ! जो स्वेच्छाकृत मेरे जन्म तथा धर्मपालनादिरूप कर्मको 'दिव्य' अलौकिक और तत्त्वतः अर्थात् परानुग्रहार्थ करके जानता है, वह देहाभिमानका त्याग कर पुनर्जन्म या संसारको प्राप्त नहीं होता, बल्कि मुझको ही प्राप्त होता है। [दिव्यमप्राकृतमैश्वरं—शङ्कर। अन्यैः कर्त्तुमशक्यम्—मधुसूदन] ॥ ९ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मेरे जन्म और कर्म आकाशके समान हैं—इसको जो जानता है, जानकर क्रिया करता है, उसका फिर पुनर्जन्म नहीं होता।—आकाशके शरीरमें हम कितने चित्र, कितने रङ्ग देखते हैं परन्तु वह हमारा भ्रान्ति-दर्शन है, क्योंकि वे चित्र और रंग वस्तुतः आकाशमें नहीं हैं। वह हमारी दृष्टिके भ्रमसे मनमें उस प्रकारकी धारणा मात्र होती है। शून्यको किसी वस्तुसे किसी प्रकार भी मिला नहीं सकते, अतएव कोई वस्तु उसके साथ लगकर नहीं रह सकती। आत्मा या भगवान् इस आकाशके समान निःसङ्ग हैं, अतएव उनमें भी कोई कर्म या संस्कारका होना संभव नहीं। इसी लिए उनका जन्म कर्म 'दिव्यं' 'अप्राकृतमैश्वरं' अर्थात् प्राकृत जन्म कर्मके समान उनके जन्म-कर्म नहीं हो सकते, वह ईश्वरकी स्वेच्छाके अधीन हैं, कर्माधीन नहीं हैं। ईश्वर मायाका आश्रय लेकर मायाको वशीभूत करके प्रकाशित होते हैं। मनमें तो लगता है कि प्राकृत मनुष्यके समान उनका जन्म हुआ, परन्तु ऐसी बात नहीं है। तुम और हम भी मायाका आश्रय लेकर ही जन्म ग्रहण करते हैं, भेद इतना ही है कि हम मायाके वशीभूत होते हैं और ईश्वर वशीभूत नहीं होते। हमारी आत्मा और परमात्मामें परमार्थतः कोई भेद नहीं है, फिर हमको ही मायाके वशीभूत होकर जन्म ग्रहण क्यों करना पड़ता है ? इसका कारण यह है कि हम अविद्यासे आवृत हैं; हम स्वरूपतः वही हैं परन्तु अविद्या हमको ऐसा समझने नहीं देती। अनादि अविद्याके कारण हमारा यह भवबन्धन है।

ज्ञान प्राप्त करने पर यह अज्ञान नष्ट हो जाता है। यदि जीवके स्वरूपमें अज्ञान होता तो यह अज्ञान कभी नष्ट नहीं होता। परन्तु जीवका स्वरूप ज्ञानमय है, स्वरूपकी दृष्टिसे परमात्मा और जीव समान रूपसे अज, अव्यय और अविनाशी हैं—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'। यह जीव यदि जन्मरहित और अमृतस्वरूप ही है तथा साक्षी चैतन्यरूप है तो वह मरेगा कैसे? मृत्यु होती है शरीरकी, और जीव देहको 'मैं' समझकर अभिमान करता है, इसीसे देहनाशके साथ जीव मर गया, ऐसा उसको बोध होता है। परन्तु कुछ धीरता-पूर्वक विवेचना करने पर उसकी यह भ्रान्ति नष्ट होनेमें देर नहीं लगती। इस देहमें आत्मबोध ही जीवका अज्ञान है, इसीसे वह बद्ध होता है। भगवान्‌को यह अज्ञान कभी नहीं होता, इसीसे वह कदापि बद्ध नहीं हो सकते। जब जीव परमात्माके जन्म-कर्मकी बात समझकर ज्ञानवान् होता है तब उसकी आत्मविस्मृति टूट जाती है, उसे याद आता है कि वह और परमात्मा तो एक ही वस्तु हैं—"अक्षरं ब्रह्म परमम्"—तब वह फिर अपनेको देह नहीं समझता। परन्तु मैं देह नहीं हूँ, ऐसा सोचनेसे ही देहबोध नष्ट नहीं होता। देहबोध नष्ट करनेका उपाय है। देहमें आत्मबोध होने पर देहके साथ कर्मसूत्रमें जीव अनन्त बन्धनोंसे जड़ित होकर देहके सिवा और कुछ अनुभव नहीं कर सकता। यह बन्धनभाव प्राणमें आता है, प्राण से अगणित नाड़ियोंके भीतर आता है, जीव तब अपनी बात आप भूल जाता है। मन, बुद्धि, इन्द्रियादि सबको ही आत्मविस्मरण होता है। कहाँ से वे आये हैं, और वे हैं कौन, यह बिल्कुल ही याद नहीं पड़ता। तब सबका एकमात्र कार्य हो जाता है उन्मत्तके समान केवल एक विषयसे दूसरे विषयोंमें भ्रमण करते रहना। फिर भी, जन्म-मृत्युका कष्ट देखकर जीवमें कुछ चेतनता जाग उठती है। जन्म-मृत्युसे छुटकारा पानेकी इच्छा जन्म-मृत्यु-रहित जीवके लिए कुछ अंशमें स्वाभाविक ही है। जन्म ग्रहण करना और पश्चात् मृत्युको प्राप्त होना तथा जन्म और मृत्युके बीच बद्धजीवके कितने कष्ट होते हैं, यह सब उसकी जानी हुई बात है। भगवान्‌के दिव्य जन्मकर्मकी बातसे अवगत होने पर जीव जन्म-मृत्युके सङ्कटसे उद्धार पा जाता है। अतएव उनकी दिव्य जन्म-कर्मकी बात जीवके लिए बहुत ही आवश्यक वस्तु है। उनके जन्म और कर्म हमारे समान नहीं हैं, वे अलौकिक हैं। किस प्रकार निःशब्दसे वाक्‌वैखरी अवस्था आविर्भूत होती है, किस प्रकार "विदेह" अवस्था स्थूल देहमें परिणत होती है, यह अत्यन्त ही विस्मयजनक बात है। भगवान्‌का वह आदि अप्राकृत भाव विकृत न होकर भी कैसे इस जगत्-लीलाका सम्पादन होता है, शिव कैसे जीव बनते हैं, यह मनमें आते ही चित्त विस्मित हो जाता है। आत्मा या ब्रह्मका स्वरूप तीन अवस्थाओंमें प्रकट होता है—ब्रह्मरूपमें, ईश्वररूपमें और अवताररूपमें। ब्रह्मरूपमें उनकी मायाशक्ति नित्य सङ्कुचित होती है—"धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्"। यह ब्रह्म जब मायाको अङ्गीकार करते हैं तब उनकी द्वितीय अवस्था प्रकट होती है—यही ईश्वरभाव कहलाता है। ईश्वरका स्थूलदेह विराट्‌रूपमें, सूक्ष्मदेह हिरण्यगर्भरूपमें तथा कारणदेह प्राज्ञरूपमें समष्टि और व्यष्टिमें प्रकाशित होती है।

यही ईश्वरकी तीन उपाधियाँ हैं। व्यष्टिभावमें गुण प्रक्षीण अवस्थामें रहते हैं, समष्टिमें सत्त्वगुणके आधिक्यके कारण ईश्वर अनन्तज्ञानयुक्त होते हैं, अतएव वह मायाधीन नहीं होते, जीव (व्यष्टिमें) सत्त्वगुणकी कमीके कारण अज्ञानयुक्त होता है। सत्त्वभावकी अधिकताके कारण ईश्वर मायायुक्त होनेपर भी मायामुक्त होते हैं; और जीव मायाधीन होता है। ब्रह्मकी तृतीय अवस्था अवतार है। जो धर्मरक्षाके लिए जन्मग्रहण करते हैं वे ही अवतार हैं। मुक्त जीव भी जब धर्मरक्षाके लिए अवतीर्ण होते हैं तो वे भी अवतारमें गिने जाते हैं। वे सब ईश्वरके समान ही शक्तिसम्पन्न होते हैं। यह मनमें आ सकता है कि जब इतने ईश्वर हैं तो उनके बीच टकरा जानेकी संभावना हो सकती है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। ईश्वरतुल्य ये सारे मुक्त पुरुष ईश्वरके प्रतिबिम्बके समान हैं और सदा ही उनकी छायाके समान उनके ही अभिप्रायको सम्पादन करते हैं, कभी उनके मनमें ईर्ष्या या अहंकारका भाव नहीं आता। माया ईश्वर या ईश्वराश्रित मुक्तपुरुषोंके अधीन होती है। अतएव यद्यपि ये सभी मायाश्रित होते हैं तथापि ज्ञानकी प्रखरताके कारण उनको साधारण जीवके समान बद्ध नहीं होना पड़ता। ये ब्रह्ममें भी रहते हैं और मायाका आश्रय करके जगत् और जीवका कल्याण भी कर सकते हैं। पद्मपत्रमें जैसे जल रहता है तथापि उसे स्पर्श नहीं करता, इसीप्रकार ये कर्तृत्वाभिमानीके समान कर्म करके भी सर्वदा आत्मभावमें भी रह सकते हैं, इसी कारण कोई कर्म उनको बद्ध नहीं कर सकता। भगवान् या मुक्त पुरुषके इस भावको समझ सकने पर साधारण जीव भी मुक्त पदमें आरूढ़ होता है, तब उसके जन्म-मृत्युके खेलकी भी परिसमाप्ति हो जाती है।

अब विचार कर देखो, ईश्वरके जन्मके समान जीवके जन्ममें भी कोई भेद नहीं है। भेद केवल बुद्धिकी विड़म्बनामें है। मायाधीन होने पर जीवको जो देहात्माभिमान होता है वह उसको अपना स्वरूप समझने नहीं देता। मायामुक्त होने पर यही जीव शिव हो जाता है। बुद्धिकी विड़म्बनासे जीव किसप्रकार मायाधीन होता है और उस मायासे मुक्तिका उपाय क्या है, यह तत्त्वतः जान लेने पर फिर उसे माया जकड़ नहीं सकती और न उसका पुनर्जन्म ही होता है। पूर्व श्लोकको व्याख्यामें मैंने बतलाया है कि मन किस प्रकार स्वस्थानसे च्युत होकर प्राण-प्रवाहके साथ बहते बहते छः घाटियोंमें असंख्य नाड़ियोंके साथ बँधकर एकबारगी स्थूलतम पिण्डके साथ मिलकर एक हो जाता है और अपनेको देहमात्ररूपमें देखता है, अन्य अनुभव स्पष्टतः उसे कुछ नहीं होता। यह अज्ञानभाव ही जीवकी मृत्यु है, उसकी और कोई मृत्यु नहीं है। और यह अज्ञान ही उसके जन्मका भी कारण है। इस अवस्थामें जीवको कितना ही भय, कितनी ही व्याकुलता होती है, पर उसे यह कदापि स्मरण नहीं होता कि वह "चिरस्थिर, अपापविद्ध" है। परन्तु यदि भाग्यवश— "सद्गुरु मिलें, भेद बतावें, ज्ञान करें उपदेश"—तो उसको अपनी बात, अपने घरकी बात याद आ जाती है। तब अपने घर लौटनेके लिए जीव छटपटाने लगता है। जब अपने स्थानमें आ जाता है तब उसके मनका सब खेद, सब क्लेश मिट जाता है।

जो ब्रह्ममें प्रतिष्ठित है उसको भय नहीं होता, वहाँ मृत्यु भी नहीं पहुँचती। जिस प्राणकी चञ्चलतासे मन-बुद्धि निरन्तर छटपटाती फिरती हैं वह प्राण स्थिर होने पर कूटस्थ ब्रह्ममें निर्वाण लाभ करता है और उसके साथ साथ मन-बुद्धि भी ब्रह्ममें संलीन हो जाती हैं। तब फिर वे विषय ग्रहण नहीं करते, मुक्तस्वभाव होकर आत्माके साथ एक हो जाते हैं। बाहरके शब्दस्पर्शमें, रूपरसगन्धमें जीव मोहित होकर अन्धेके समान विषय ग्रहणको बाहरकी ओर दौड़ता है, परन्तु प्राणकी साधनासे जब चिद्ज्योतिस्फुरित होती है और अनाहत वाद्य बज उठता है, क्रियाकी परावस्थाका क्षणिक स्पर्श प्राप्त होता है, तब जीव आश्चर्य-चकित हो जाता है। तब भ्रम दूर हो जाता है और मायाको निरस्त करनेका प्रत्यक्ष उपाय भी उसकी समझमें आ जाता है। प्राणक्रियाके द्वारा मन स्थिर हो जाता है, प्राण भी महाशून्यमें प्रवेश करता है, तब ॐकार-ध्वनि अविच्छिन्न धारामें निनादित होने लगती है, बाहरके सारे शब्द तब उसमें डूब जाते हैं। अनाहतमें ऐसे दस प्रकारके शब्द सुनने पर जीवका भवरोग दूर हो जाता है, मनकी वृत्ति निरुद्ध हो जाती है। गुरूपदिष्ट पथमें चलते चलते अनाहतशब्दके द्वारमें पहुँचने पर साधककी आज्ञाचक्रमें और पश्चात् सहस्रारमें स्थिति होती है, तभी जीव अपने स्वरूपका अनुभव कर सकता है। इस स्थान पर जो उसका जन्म होता है वह दिव्य जन्म है अर्थात् सब शून्य, पर सब पूर्ण होता है,—यही उसका स्वधाम है। इस महाशून्य या परम व्योममें पहुँचने पर फिर जन्म कैसे होगा? शिव ही तो स्वयं व्योमरूप हैं। इस व्योमरूपी महादेवको हम प्रणाम कर सकें यही प्रार्थना है ॥९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

अन्वय—वीतरागभयक्रोधाः (आसक्ति, भय और क्रोध रहित) मन्मयाः (मुझमें एकचित्त) माम् (मुझको) उपाश्रिताः (आश्रयपूर्वक) ज्ञानतपसा (ज्ञान और तपस्याके द्वारा) पूताः (पवित्र होकर) बहवः (अनेक व्यक्ति) मद्भावम् (मेरे भाव या स्वरूपको) आगताः (प्राप्त हुए हैं) ॥१०॥

श्रीधर—कथं जन्मकर्मज्ञानेन त्वत्प्राप्तिः स्यादिति ? अत आह—वीतरागेति। अहं शुद्धसत्त्वावतारैर्धर्मपालनं करोमीति मदीयं परमकारुणिकत्वं ज्ञात्वा। वीता विगता रागभयक्रोधा येभ्यस्ते चित्तविक्षेपाभावान्मन्मया मदेकचित्ता भूत्वा मामेवोपाश्रिताः सन्तः। मत्प्रसादलभ्यं यदात्मज्ञानं च तपश्च। तत् परिपाकहेतुः स्वधर्मः। तयोर्द्वन्द्वैकवद्भावः। तेन ज्ञानतपसा पूताः शुद्धा निरस्ताज्ञानतत्कार्यमलाः मद्भावं मत्सायुज्यं प्राप्ता बहवः। न त्वधुनैव प्रवृत्तोऽयं मद्भक्तिमार्ग इत्यर्थः। तदेवं तान्यहं वेद सर्वाणीत्यादिना विद्याविद्योपाधिभ्यां तत्त्वंपदार्थावीश्वर-जीवौ प्रदर्श्येश्वरस्य चाविद्याभावेन नित्यशुद्धत्वाज्जीवस्य चेश्वरप्रसादलब्धज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तेः शुद्धस्य सतश्चिदंशेन तदैक्यमुक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥१०॥

(ज्ञानमेव च परमात्मविषयं तपः। तेन ज्ञानतपसा पूताः परां शुद्धिं गताः सन्तः मद्भावमीश्वरभावं मोक्षमागताः समनुप्राप्ताः—शङ्कर)

अनुवाद—[उनके जन्मकर्मके ज्ञानसे उनको (आत्माको) किस प्रकार प्राप्तकर सकते हैं ?—इसके उत्तरमें कहते हैं]—मैं शुद्धसत्त्वावतारके द्वारा धर्मपालन करता हूँ। मेरे इस परम कारुणिकत्वको जानकर वे विगतराग और भयक्रोधरहित हो जाते हैं। अतएव चित्त-विक्षेपके अभावके कारण मदेकचित्त होकर, एकमात्र मुझको आश्रय कर मेरे प्रसादके द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान और ज्ञानके परिपाकके कारण स्वधर्मरूप तपस्याके द्वारा परिशुद्ध होकर (अर्थात् अज्ञान और उसके कार्य—मलके दूर होने पर) अनेक व्यक्ति मत्सायुज्यको प्राप्त हो गये हैं। आज ही यह भक्तिमार्ग प्रारम्भ हुआ है ऐसी बात नहीं। 'तान्यहं वेद सर्वाणि' इत्यादि वाक्योंके द्वारा विद्या और अविद्याकृत उपाधि, तत् और त्वं शब्दके द्वारा लक्षित ईश्वर और जीवका स्वरूप दिखलाकर, अविद्याके अभावमें ईश्वर नित्यशुद्ध हैं और अविद्योपाधियुक्त जीव ईश्वरके प्रसादसे उपलब्ध ज्ञानके द्वारा अज्ञानसे निवृत्त होता है और तब चिदंश होनेके कारण जीव ईश्वरके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है—इसके लिए ही 'मद्भावमागताः'—मत्सायुज्य प्राप्त होता है, ऐसा कहा गया है ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छारहित होकर भय और क्रोधका त्याग करके,—आत्मा सर्वव्यापक है, और आत्माका ही प्रिय (प्रियकार्य) करके—बहुत कुछ देख सुनकर—सर्वदा कूटस्थमें रहकर—पवित्र होकर, क्रियाकी परावस्थामें जाता है।—किस प्रकार उस आत्म-स्वरूपमें लौटा जा सकता है, यही बतलाते हैं। विषयोंमें हमारा प्रबल अनुराग है, यह अनुराग इतना क्यों होता है ? क्योंकि—पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥—कठ० उ०। स्वयम्भू भगवान्ने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके निर्मित किया है। इसीकारण जीव बाह्य विषय शब्दादिको जान सकता है, अन्तरात्माको नहीं जान सकता। कोई कोई विवेकी पुरुष मुक्तिकी इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियोंको विषयोंसे प्रत्याहृत कर जीवदेहमें प्रकटित आत्माका दर्शन करते हैं।

इन्द्रियाँ बहिर्मुखी क्यों होती हैं ? आत्मा विषय ग्रहण करनेका अभिलाषी होने पर मनयुक्त होता है, मन इन्द्रियोंके द्वारोंसे आकर विषय ग्रहण करता है, विषयमें भी जो चैतन्यस्वरूप आत्मा है उसको धारणा न करके आत्माके भोग्यरूपमें विषयोंको ग्रहण करता है, और ग्रहण कर विमोहित होता है। तब जीव भी मानो अपने आपको अन्ध और बद्धवत् समझता है। पश्चात् जल-जलकर खाक होनेके बाद जब अपना आदि रूप खोजनेकी चेष्टा करता है तब गुरुके उपदेशानुसार साधन प्रारम्भ करता है। साधन करते करते जब कुछ स्थिरता प्राप्त होती है तो मनकी बाह्य-विषयोंके ग्रहणकी अभिलाषा कम हो जाती है, तब मन अन्तर्मुखी होता है। मनके इस अन्तर्मुखी भावसे इच्छा, भय, क्रोध आदि आत्मदर्शनके विरोधी व्यापार ह्रासको प्राप्त होते हैं। वासनाही सारे जञ्जालका मूल है, यह वासना घटते घटते इतनी घट जाती है कि मन फिर बाह्य विषयोंको देख भी नहीं पाता क्योंकि उसका मनन

ही वन्द हो जाता है। इस अवस्थामें बहुत सुख बोध होता है। तब मन बहिर्जगतमें न होनेके कारण आत्मामें लगा रहता है या उसमें संलग्न या प्रविष्ट होता है। यही है मद्भावप्राप्ति और यह अत्यन्त पवित्र भाव है। तब न तो कुछ देखता है, न सुनता है, केवल आत्मज्योति, अनाहत शब्द और आत्माके आनन्दघन स्वभावके कारण मानो मन आनन्दमें डूब जाता है। यह आत्माका प्रियकार्य भी है, क्योंकि जब जीव मायामें भूलकर मायिक वस्तुओंको खोजता है तब वह केवल ज्वाला अनुभव करता है और हाहाकार करता है। और यहाँ विषय-चिन्तन नहीं होता, अतएव ज्वाला भी नहीं होती। यही है आत्माका प्रियकार्य साधन करना। तब उसका श्वास निरन्तर स्थिर रहता है, इसीसे कूटस्थमें अवस्थान होता है और अन्य दिशामें दृष्टि न जानेके कारण अपवित्र नहीं होता। इस प्रकारसे साधनाभ्यास करते करते साधकके लिए समाधि आसन्न हो जाती है। इस समाधि या क्रियाकी परावस्थाको प्राप्तकर जीव शिव हो जाता है, त्रितापके बदले परमानन्दके सागरमें डूब जाता है। इस प्रकार जो साधन करता है उसको ही यह अवस्था प्राप्त होती है। पहले भी साधनके द्वारा वहुत लोग इस अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं; अतएव तपस्या करनी पड़ेगी। यह अन्य तपस्या नहीं है, शुद्ध ज्ञानमय तपस्या है। प्राणायाम आदिके अभ्यासका जो फल है अर्थात् सर्वदा कूटस्थमें रहना, क्रियाकी परावस्थामें रहना—यही ज्ञानमय तपस्याका फल है। परमात्माके साथ अपनेको अभिन्न रूपमें जानना ही तपस्याका सर्वोत्तम फल है। यह अवस्था प्राप्त होनेके पहले ही विषयानुराग, भय, क्रोध, कपट सबके सब मनसे दूर हो जाते हैं। एकबारगी "प्रोज्झितकैतवः"—वहाँ कपटता पूर्णतः परित्यक्त हो जाती है। तभी समझना चाहिए कि ज्ञानमय तपस्या पूर्णताको प्राप्त हो गयी है, परमात्मामें पूर्ण शरणागति प्राप्त हो गयी है, अतएव 'मद्भावमागताः'—अर्थात् विशुद्ध सच्चिदानन्दघनरूप जो मद्रूपत्व मोक्ष है वह प्राप्त हो गया है ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) ये (जो) यथा (जिस प्रकारसे अथवा जिस प्रयोजनके लिए) मां (मुझको) प्रपद्यन्ते (भजते हैं) अहं (मैं) तान् (उनको) तथा एव (उसी प्रकार उनका अभीष्ट प्रदानकर) भजामि (भजता हूँ या अनुग्रह करता हूँ) मनुष्याः (मनुष्य) सर्वशः (सब प्रकारसे) मम वर्त्म (मेरे मार्गका) अनुवर्तन्ते (अनुसरण करते हैं) ॥११॥

श्रीधर—ननु तर्हि किं त्वय्यपि वैषम्यमस्ति ? यस्मादेवं त्वदेकशरणानामेवात्मभावं ददासि। नान्येषां सकामानामिति ? अत आह—य इति। यथा येन प्रकारेण सकामतया निष्कामतया वा ये मां भजन्ति। तानहं तथैव तदपेक्षितफलदानेन भजाम्यनुगृह्णामि। न तु ये सकामा मां विहायेन्द्रादीनेव भजन्ते तानहमुपेक्ष इति मन्तव्यम्। यतः सर्वशः सर्वप्रकारैरिन्द्रादिसेवका अपि ममैव वर्त्म भजनमार्गमनुवर्तन्ते इन्द्रादिरूपेणापि ममैव सेव्यत्वात् ॥११॥

अनुवाद—[तो क्या तुममें भी वैषम्य-भाव है ? क्योंकि तुम शरणागतको ही आत्मभाव प्रदान करते हो, दूसरे सकाम लोगोंको नहीं प्रदान करते ?—इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—सकाम या निष्काम जिस भावसे कोई भी मेरा भजन करता है, उसको उसी प्रकार प्रार्थित फल प्रदान करता हूँ। जो लोग सकाम हैं और मुझे छोड़कर इन्द्रादिदेवताओंका भजन करते हैं, उनकी भी मैं उपेक्षा नहीं करता, क्योंकि सारे मनुष्य, इन्द्रादिदेवताओंके सेवक भी, मेरे ही भजनमार्गका अनुसरण करते हैं; क्योंकि वे इन्द्रादिरूपमें मेरी ही सेवा करते हैं। [जो जैसा फल चाहता है उसे वैसा ही फल मैं प्रदान करता हूँ, जो मुमुक्षु, ज्ञानी या संन्यासी हैं उनको मोक्ष प्रदानकर, जो आर्त्त हैं उनकी आर्त्ति हरण कर—अर्थात् जो जिस प्रकार मेरा भजन करता है उसके साथ मैं उसी प्रकार भजन या अनुग्रह करता हूँ ; राग, द्वेष या मोहके कारण किसीका भजन नहीं करता।—शङ्कर] ['अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद'—जो अन्य देवताकी उपासना करते हैं, वह यह नहीं जानते कि वह देवता मैं ही हूँ।—शङ्कर] ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो जिस प्रकार भजन करता है उसको मैं उसी प्रकार भजन करता हूँ—मेरे ही रास्ते सब आदमी चलते हैं।—मेरा भजन जो जिस भावसे करे उसके अनुसार मैं उसको फल देता हूँ। जो मन लगाकर साधन करते हैं उनका मन शीघ्र स्थिर हो जाता है और आनन्द प्राप्त करता है। जो मन लगाकर भजन नहीं करता उसे बहुत देर होती है। साधनामें अग्रसर होकर जो जितनाही गंभीर ध्यानमें मग्न होता है वह तदनुसार ही स्थिरता या आनन्द प्राप्त करता है। मैं किसीको भी फल देते समय छोड़ता नहीं, परन्तु उसके कर्मानुसार ही उस पर मैं अनुग्रह करता हूँ। इससे भगवान्में समभाव कहाँसे हुआ ? जो मोक्षार्थी प्राणपनसे उनको पुकारता है और जो यदाकदा उनको पुकारता है, उन सबको एक ही फल देना तो समभावका लक्षण नहीं है। मान लो यदि मैं सबको एकभावसे कृतार्थ करनेकी इच्छा कर सबके सामने आत्मप्रकाश करता हूँ, तो भी साधनके अभावमें ज्ञान पुष्ट न होनेके कारण सब मुझे एक भावसे नहीं समझ सकेंगे। जौहरी हुए बिना माणिककी पहचान न होगी, अनभिज्ञको माणिक देनेसे वह उसे काँच समझकर उपेक्षा करेगा। तब सब लोग तुम्हारे ही रास्ते पर कैसे चल रहे हैं ? मेरे रास्ते सब चलते हैं—इसका कारण यह है कि सकामी हो या निष्कामी, ज्ञानी हो या विषयासक्त—सभी आनन्दकी आसक्तिमें पड़े हुए हैं। विषयासक्त पुरुष विषयको ही आनन्दका हेतु समझता है, परन्तु वह नहीं जानता कि रस या आनन्द और कहीं है। सब विषयोंका सारा रस वह आत्मा है—"रसो वै सः", परन्तु कोई चाहे जो इच्छा करे, एक दिन उसकी समझमें आ जायगा कि वह जो खोज रहा है वह आनन्द धनमें नहीं है, प्रतिष्ठामें नहीं है, स्त्रीमें नहीं है, पुत्रमें नहीं है, विषयमें नहीं है—वह आनन्द एकमात्र आत्मामें ही वर्तमान है। वह स्वयं ही रसराज आनन्दविग्रह हैं। इसलिए लोग चाहे जो सोचकर या लक्ष्य कर दौड़ें, अन्तमें वे उनके ही पदतलमें आकर खड़े होंगे। जो एकमात्र

उनको ही चाहेगा, वह सच्चिदानन्द आनन्दघनरूपमें उनको ही पायेगा। जो विषयानन्दरूपमें उसको चाहता है वह उसको ही पायेगा, पर विषयानन्दरूपमें। मैं आत्मारूपमें हूँ और विषयरूपमें भी हूँ, जो मुझे जिस भावमें चाहेगा मैं उसके सामने उसी भावमें प्रकाशित हूँगा। अतएव मुझमें पक्षपातका दोष नहीं लगता। साधनाओंमें भी यह देखा जाता है कि कोई कोई साधक स्थिरतासे प्रेम करते हैं, और कोई विविध ध्वनिमें मोहित होते हैं, और साधनाके फलस्वरूप उसे ही पानेकी इच्छा करते हैं, कोई कोई कूटस्थके भीतर विचित्र दर्शन करना चाहते हैं, देखते भी हैं अनेक रूप—परन्तु ये सब आत्माकी ही विभूति हैं। साधक शब्दमें मोहित हो, या रूपमें मुग्ध हो, या अनन्त स्थिरतामें आत्मनिवेश करे, सभी मेरे ही विभिन्न प्रकाशसमूहको भजते हैं ॥११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

अन्वय—कर्मणां (सब कर्मोंकी) सिद्धिं (सिद्धि) काङ्क्षन्तः (चाहने वाले) इह (इस लोकमें) देवताः (देवताओंकी) यजन्ते (पूजा करते हैं) हि (क्योंकि) मानुषे लोके (मनुष्यलोकमें) कर्मजा सिद्धिः (कर्मजनित सिद्धि) क्षिप्रं भवति (शीघ्र होती है) ॥१२॥

श्रीधर—तर्हि मोक्षार्थमेव किमिति सर्वे त्वां न भजन्तीति ? अत आह—काङ्क्षन्त इति। कर्मणां सिद्धिं कर्मफलं काङ्क्षन्तः प्रायेणेह मनुष्यलोके इन्द्रादिदेवता एव यजन्ते। न तु साक्षान्मामेव। हि यस्मात् कर्मजा सिद्धिः कर्मजं फलं शीघ्रं भवति। न तु ज्ञानफलं कैवल्यम्। दुष्प्राप्यत्वाज्ज्ञानस्य ॥१२॥

अनुवाद—[तब सब लोग क्यों नहीं मोक्षके लिए तुम्हारा भजन करते हैं ? इसके उत्तरमें कह रहे हैं]—कर्मफलकी आकांक्षा कर मनुष्य प्रायः इन्द्रादि देवताओंका भजन करते हैं; साक्षात् मेरा भजन नहीं करते। क्योंकि कर्मजनित फल शीघ्र फलता है, परन्तु ज्ञानफल कैवल्य शीघ्र नहीं होता, क्योंकि ज्ञान अत्यन्त दुष्प्राप्य है।

[मनुष्यलोकमें शास्त्राधिकार और वर्णाश्रमादि कर्म विहित हैं, इस लोकमें कर्मफलकी सिद्धि शीघ्र होती है—शङ्कर] ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकांक्षाके निमित्त देवताका भजन करता है—फलाकांक्षारहित होकर करने पर शीघ्र ही सिद्धि होती है, अर्थात् इच्छारहित हो जाता है। —अविद्याकृत जीवकी भोगवासना स्वाभाविक है; भोगके प्रति आसक्ति होनेके कारण, जहाँ सहज ही भोग प्राप्त होता है वहाँ जीव दौड़ पड़ता है। भगवान्का भजन करके भी जीव काम्य वस्तुकी आकांक्षा करता है। योगाभ्यास करते करते भी योगसिद्धिकी प्राप्तिके लिए लोग व्याकुल हो जाते हैं। परन्तु कुछ ऐश्वर्योंको प्राप्त करना ही यथार्थ योगसिद्धि नहीं है। यथार्थ योगसिद्धि या सबसे बड़ा योगैश्वर्य है

इच्छारहित अवस्था, नैष्कर्म्य या ज्ञान। इसका मूल्य कितना है—यह हम संसार-विमूढ़ प्राणी नहीं समझ सकते। क्या कोई सहज ही इच्छारहित हो सकता है ? अविद्यास आच्छादित हमारे चित्तसमुद्रमें नाना प्रकारकी वासनाओंकी तरङ्गें निरन्तर उठती रहती हैं। तरङ्गोंके भयानक उत्थान-पतनमें मनुष्यका देहतट आलोड़ित और उत्क्षिप्त हो रहा है। मनमें और कुछ नहीं आता, केवल भोग ही भोग आता है। यह कर्मभोग कब कटेगा, यह अन्तर्यामी ही जानें। दुर्लभ कैवल्यपदकी ओर किसीका भी लक्ष्य नहीं है। केवल यह चाहिए, वह चाहिए। यह चाह मनसे नहीं गयी तो जीवकी मुक्ति कैसे होगी ? प्राणके बहिर्मुखी होनेसे मन भी विषयमुखी हो गया है। श्वासकी तरङ्ग मनको तरङ्गित करती जाती है। जो कुण्डलिनी शक्ति है, जो हमारा प्राण है, जो कुल-वधू है, वह अन्तःपुर छोड़कर स्वैरिणीके समान बाहर आ पड़ी है। उसके उच्छ्वाससे मन क्या क्या नहीं चाहता और क्या क्या नहीं प्राप्त करता है, तथापि मनको शान्ति नहीं है। भजन करने पर भी कामनारहित होकर भजन नहीं कर पा रहा है। कामनाके साथ भजन और कामनारहित भजन करनेमें बहुत अन्तर है। कबीरने कहा है—

सहकामी सुमिरन करे पावे ऊँचा धाम।
निहकामी सुमिरन करे पावे अविचल राम॥
सहकामी सुमिरन करे फिरि आवे फिरि जाय।
निहकामी सुमिरन करे आवागमन नशाय॥
भक्ति भेख बड़ अन्तरा जैसे धरनि अकास।
भक्त जो सुमिरे रामको भेख जगत्की आस॥

कामनायुक्त पुरुष साधन करके मृत्युके बाद उच्च धाममें गमन करता है, परन्तु जो भगवान्को चाहते हैं अर्थात् निष्काम हैं, वह अविचल रामको अर्थात् चिर स्थिर परमपदको पाते हैं। कामनायुक्त व्यक्ति भगवत्-स्मरण करने पर भी बारंबार जगत्में आता जाता है, और निष्काम स्मरण करनेवालेका आना जाना बन्द हो जाता है। भक्ति और भक्तिके भेसमें बहुत अन्तर है जैसे धरणी और अकाशमें। भक्त शरणागत होकर भगवान्का भजन करता है, पर भेस बनानेवालेकी दृष्टि केवल जगत्के लाभालाभकी ओर ही होती है।

कुछ साधन करने पर उच्च लोक प्रकाशित होते हैं, इससे अनेक दिव्य दर्शन होते हैं, देवताओंका भी दर्शन प्राप्त होता है। वे समय समय पर साधकके प्रति कृपा भी करते हैं। परन्तु कोई कैवल्य प्रदान नहीं कर सकते। इसके लिए साधकको बहुत परिश्रम करना पड़ता है। साधन करते करते जब चित्त शुद्ध होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है तब वैकुण्ठका द्वार उन्मुक्त हो जाता है। जब तक मनसे खोद खोदकर सारी वासनाएँ दूर नहीं की जातीं तब तक मन अत्यन्त निर्मल नहीं होता। निर्मल मनसे साधना किये बिना क्रियाकी चरम अवस्था जो परावस्था है उसे कोई प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव अल्प बुद्धिवाले पुरुष साधनामें थोड़ाबहुत परिश्रम करके जो एक-आध विभूतियाँ प्राप्त करते हैं, उसमें ही अपनेको कृतार्थ समझते

हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि कामोपभोग तक ही रहती है, वैकुण्ठ तक वह दृष्टि प्रसरित नहीं होती। इसीसे वे मध्यमार्गमें जो कुछ दिव्य दर्शन या शक्ति प्राप्त करते हैं उसमें ही सन्तुष्ट होकर बैठ जाते हैं। यह सब स्वल्प आयासमें ही होता है, परन्तु कैवल्य ज्ञान या मुक्ति सहज-साधन-लभ्य नहीं होती। यद्यपिइससे ही चिर शान्ति प्राप्त होती है तथापि यह आयाससाध्य तपस्याका फल होनेके कारण इस ओर कोई लगता नहीं। लोग सामान्य विभूतिसे सन्तुष्ट होकर उस परमपावन कैवल्यपदको तुच्छ करते हैं। कैवल्यकामी साधकश्रेष्ठको देवता भी बहुधा विड़म्बित करनेकी चेष्टा करते हैं। निश्चय ही यह एक प्रकारसे बुरा नहीं है। साधक भगवान्‌को कितना आग्रह पूर्वक चाहता है, इसकी परीक्षा हो जाती है। [इस श्लोकको यह व्याख्या भी बुरी नहीं है—"इस मनुष्यलोकमें काम्य कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले मुझको छोड़कर इन्द्रादि देवताओंका भजन करते हैं, परन्तु उनकी सिद्धि अनिश्चित है, क्योंकि काम्य कर्म विधिके अनुसार ठीक ठीक न होने पर फल-प्रसव नहीं करते। परन्तु निष्काम कर्मरूप जो प्राण-क्रिया है उससे सिद्धि या इच्छारहित अवस्था निश्चयही शीघ्र पैदा होती है। अन्य कामना न करके मन लगाकर क्रिया करने पर क्रियाकी परावस्था निश्चयही प्राप्त होती है।"] ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वय—गुणकर्मविभागशः (गुण और कर्मके विभागके अनुसार) मया (मेरे द्वारा) चातुर्वर्ण्यं (चार वर्ण) सृष्टं (सृष्ट हुए हैं) तस्य (उसका) कर्त्तारमपि (कर्त्ता होने पर भी) अव्ययं मां (अव्यय मुझको) अकर्त्तारं (अकर्त्ता) विद्धि (जानो) ॥१३॥

श्रीधर—ननु केचित् सकामतया प्रवर्त्तन्ते। केचिन्निष्कामतया। इति कर्मवैचित्र्यम्। तत्कर्तॄणांचब्राह्मणादीनामुत्तममध्यमादिवैचित्र्यं कुर्वतस्तव कथं वैषम्यं नास्ति? इत्याशङ्क्याह—चातुर्वर्ण्यमिति। चत्वारो वर्णा एवेति चातुर्वर्ण्यम्। स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। अयमर्थः—सत्त्वप्रधाना ब्रह्मणाः। तेषां शमदमादीनि कर्माणि। सत्त्वरजःप्रधानाः क्षत्रियाः। तेषां शौर्ययुद्धादीनि कर्माणि। रजस्तमःप्रधाना वैश्याः। तेषां कृषिवाणिज्यादीनि कर्माणि। तमःप्रधानाः शूद्राः। तेषां त्रैवर्णिकशुश्रूषादीनि कर्माणि। इत्येवं गुणानां कर्मणां च विभागैश्चातुर्वर्ण्यं मयैव सृष्टमिति सत्यम्। तथाप्येवं तस्य कर्त्तारमपि फलतोऽकर्त्तारमेव मां विद्धि। तत्र हेतुः—अव्ययं आसक्तिराहित्येन श्रमरहितम् ॥१३॥

अनुवाद—[अच्छा, कोई सकामभावसे कर्ममें प्रवृत्त होता है तथा कोई निष्काम भावसे कर्ममें प्रवृत्त होता है, इस प्रकारका कर्मवैचित्र्य देखनेमें आता है। कर्मोंके कर्त्ता ब्राह्मण आदिमें भी उत्तम, मध्यम आदि वैचित्र्य देखा जाता है। इस

प्रकार वैचित्र्यके कर्ता तुममें वैषम्य कैसे नहीं है ?— इस आशङ्काका उत्तर देते हैं]— चार वर्ण हैं, उनमें सत्त्वप्रधान ब्राह्मण हैं, शम-दम आदि उनके कर्म हैं। सत्त्वरजः-प्रधान क्षत्रिय हैं, शौर्य-युद्ध आदि उनके कर्म हैं। रजस्तमःप्रधान वैश्य हैं, कृषि-वाणिज्य आदि उनके कर्म हैं। तमःप्रधान शूद्र हैं, त्रैवर्णिकोंकी शुश्रूषा उनके कर्म हैं। इस प्रकार गुण और कर्मके विभागके अनुसार चतुर्वर्णकी मैंने सृष्टि की है, फलतः इसका कर्त्ता होते हुए भी मुझको आसक्तिरहित होनेके कारण अकर्त्ता ही समझो ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—चार प्रकारके वर्णोंकी मैंने सृष्टि की है, उनका भी कर्त्ता मैं हूँ।—सत्त्व, रजः और तमः—इन प्रकृतिके गुणोंके भेदसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंकी सृष्टि हुई है, इनका भी कर्त्ता आत्मा ही है। आत्माके न रहने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि कोई कार्य नहीं कर सकते। इसलिए आत्माको सब कामोंके कर्त्ता कह सकते हैं। परन्तु आत्मा इन सब कामोंके फलका भोक्ता नहीं है, इसीसे वह अकर्त्ता भी है। प्रकृति किसी कर्ममें आत्माको लिप्त नहीं कर पाती। ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि बाह्य दृष्टिसे जातियाँ हैं तथा अन्तर्दृष्टिसे वर्णके खेल हैं। सत्त्व शुभ्रवर्ण है। कूटस्थके चतुर्दिकस्थ आकाश जब शुभ्रज्योतिसे भर जाता है, तब उस शुभ्रज्योतिके प्रकाशमें बुद्धि निर्मल हो जाती है और उसमें सब विषय प्रकाशित हो जाते हैं, मन शुद्ध और शान्त हो जाता है—यही सत्त्वभावमय विप्रवर्ण है। और जब मनमें सत्त्व भाव रहता है परन्तु रजोगुणका प्राधान्य लक्षित होता है—मनमें यथेष्ट तेज और बुद्धिमें दृढ़ताका भाव लक्षित होता है, तब अन्तरा-काश भी ईषत् श्वेत आभायुक्त रक्त रङ्ग (गुलाबी) में रञ्जित होता है—यही क्षत्रिय वर्ण है। परन्तु जब अन्तराकाश पीले रङ्गसे भरा होता है तब मनकी स्थिरता और दृढ़ता वैसी नहीं रहती, मनमें चाञ्चल्य विशेष भावसे परिलक्षित होता है। रजोगुणकी अत्यन्त वृद्धि होती है और सत्त्वगुण नहीं रहता। तब समझना चाहिए कि यह रजस्तमोमय वैश्य वर्ण है। और जब कूटस्थके चतुर्दिकस्थ ज्योति (Aura) अन्धकारमय जान पड़ती है, कोई प्रकाश या ज्योति परिलक्षित नहीं होती—तब उसे तमोमय शूद्रवर्ण जानना चाहिए। यही चार युगोंकी चार प्रकारकी कूटस्थ-मण्डलकी आभा है। इसे देखकर आध्यात्मिक वर्ण निर्णीत होता है। ऋग्वेदमें लिखा है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

मुख ज्ञानके प्रकाशका द्वार होनेके कारण ब्राह्मणका आदि स्थान कहा गया है। क्षत्रिय अर्थात् जगत्को परिचालन करनेवाली शक्तिका प्रधान केन्द्र बाहु है, बाहु ही सब कर्मोंका मूल है, अतएव ब्रह्मशरीरमें यही क्षत्रियका स्थान है, इसी प्रकार बैठे बैठे जो सारे शिल्पादि कार्य होते हैं, उसका स्थान ऊरु है, परन्तु यह मुख यानी ब्रह्मविद्यासे बहुत दूर है। जगत्में शिल्पकी बहुत उन्नति और प्रचार होने पर भी

उससे निःश्रेयस्‌की प्राप्ति नहीं होती, तथापि जगत्‌की संस्थापनामें इसका प्रयोजन है। और यह तीसरी वैश्य जाति इस प्रकारकी वैषयिक उन्नतिका मूल है। तत्पश्चात् उनका पद है जो अधोगतिका सूचक है—स्थूल कर्म, गमन आदि का ज्ञापक होनेके कारण यही ब्रह्मशरीरमें शूद्रका स्थान है। अवयव-संस्थानमें चाहे जिसका जो स्थान हो, परन्तु सब एक ही ब्रह्मको आश्रित करते हैं। अतएव कोई घृणा का पात्र नहीं है। और सांसारिक कार्योंमें इसकी यथेष्ट आवश्यकता भी है। जो जीव तमोगुणके आश्रित हैं वे इस विषयमें कुछ अधिक सोचने-समझनेमें समर्थ नहीं होते। निश्चय ही सारे गुण एकको ही अभिव्यक्ति हैं। अन्तमें सारे गुण सत्त्वमें ही लीन होते हैं, सारे वर्ण धीरे धीरे ब्राह्मणमें ही परिणत होते हैं। पूर्ण विकसित होना ही साधनाका अन्तिम फल है। ब्राह्मणादि चार जातियाँ इसी विकासके तारतम्य हैं। अतएव जातिकल्पना किसीकी कपोलकल्पना नहीं है, यह प्रकृतिका स्वकीय कर्म-विभाग या परिणाम है। जड़ धर्मसे ही क्रमशः आध्यात्मिक धर्म विकसित होता है। स्थूल विषयोंमें आनन्दका अनुभव होते होते वह ब्रह्मानन्दमें चरम विकासको प्राप्त होता है। स्थूलमें हमें जो आनन्द मिलता है, वह भी उस परमानन्दसे पृथक् वस्तु नहीं है, केवल प्रकाशके तारतम्यसे इतना विभिन्नवत् प्रतीत होता है।

प्रणव-दीक्षाके द्वारा ही द्विजत्व सूचित होता है। शूद्र प्रणवहीन हैं, परन्तु उनको बलपूर्वक किसीने प्रणवसे वञ्चित किया हो, ऐसी बात नहीं। साधनके अभावके कारण ही शूद्र प्रणवसे वञ्चित हैं। वैश्य लोग द्विज हैं, प्रणव-प्राप्त साधक हैं, अर्थात् प्रणव-ध्वनिका कुछ कुछ विकास वैश्यसे आरम्भ होता है, और ब्राह्मणमें वह चरम उत्कर्षको प्राप्त होता है। यह ध्वनि नादात्मक पुरुषरूप है। यही नाद विन्दु और उसके साथ प्रकृतिरूप ज्योतिको प्रकाशित करता है। इस विन्दु और ज्योतिसे सङ्कल्पात्मक मन या विश्व उत्पन्न होता है। जब यह विश्व या सङ्कल्पात्मक मन ज्योतिमें, ज्योति शब्दमें और शब्द परब्रह्ममें लय होता है तब ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस अवस्थाको प्राप्त हुए योगी ही यथार्थमें ब्राह्मण हैं। इस ब्राह्मणके सम्बन्धमें दाशरथि कविने कहा है—

मन मानस सदा भज द्विजचरण-पङ्कज।
द्विजराज करिले दया बामने धरे द्विजराज॥

ब्राह्मण प्रणवस्वरूपमें अपनेको जान सकते हैं, और उसके ही बलसे अपरोक्षानुभूतिके द्वारा ब्रह्मविद्वरिष्ठ होकर कैवल्य शान्ति प्राप्तकर अपने अपने जीवनको कृतार्थ करते हैं। मनुष्य-जीवनकी यही चरम सार्थकता है। इसी कारण ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ मानव है।

अब यह देखना है कि भगवान् इसके कर्त्ता होते हुए भी अकर्त्ता कैसे हैं? भगवान्‌के सिवा जगतमें कुछ नहीं है, सबके मूलमें वही हैं, इसलिए सबके कर्त्ता भी वही हैं। अकर्त्ता इस प्रकार हैं कि रक्त, पीत, हरित काँचके भीतरसे आने पर ऐसा भ्रम होता है कि प्रकाश भी तत्तद् वर्णोंसे युक्त है। परन्तु वस्तुतः प्रकाशका कोई वर्ण नहीं होता। इसी प्रकार कूटस्थका कोई अपना वर्ण नहीं है। वह अत्यन्त शुद्ध

होनेके कारण आकाशवत् निर्मल है, और उसमें कोई व्यञ्जना नहीं होती। परन्तु साधकके देहयन्त्र और मनादि (एक शब्दमें प्रकृति) के अवस्थानुसार सत्त्व, रजः और तमोगुणके प्रभावसे—गुणानुसार प्रकृतिक्षेत्रमें विम्बित कूटस्थचैतन्यकी झलक उठती है, वह आत्माका वास्तविक स्वरूप नहीं है। परन्तु काँच-मध्यगत अग्निकी दीप्ति जैसे काँचके स्वभावसे अनुरञ्जित होकर प्रकाशको तत्तत् रूपोंमें प्रकाशित करती है—कूटस्थ-मण्डलके वर्णवैचित्र्यका भी यही रहस्य है। सभी साधक इससे अवगत हैं। आत्मसत्ताके बिना प्रकृतिके किसी कार्यका प्रकाशित होना सम्भव नहीं है। इसलिए जो चार वर्ण देखनेमें आते हैं उनका कर्त्ता प्रकृति है, आत्मा नहीं।

इस श्लोकके ऊपर हिन्दुओंका सामाजिक वर्णभेद स्थापित है, ऐसा बहुतोंका अनुमान है। बहुतसे लोग कहते हैं कि आजकलका चार प्रकारका वर्णभेद अनादिसिद्ध व्यापार नहीं है। यह लौकिक चेष्टाका फल है। अतएव वे जाति या वर्णके विभागको मनुष्यकृत मानकर इसे घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है, वे लोग भगवान्के 'गुणकर्मविभाग'को ठीक समझ नहीं पाते। इसी कारण आजकल बहुतसे लोग इस प्रकारके वर्णविभागके विरुद्ध आचरण करते हैं, और सनातन प्रथाके विद्रोही होकर यथार्थ उन्नतिके पथमें विघ्न उपस्थित करते हैं। यह जाति-भेद अनादि कालसे चला आ रहा है, ऋग्वेद-संहितामें लिखा है—

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥"

कोई माने या न माने, जातिभेद प्रकारान्तरसे पृथ्वीमें सर्वत्र विद्यमान है। परन्तु भारतवर्षमें यह जन्मगत है, इसके भी यौक्तिक और वैज्ञानिक हेतु हैं। प्राचीन ऋषि लोग इतने सूक्ष्मदृष्टिसम्पन्न थे कि वे मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, यहाँ तक कि नद-नदी, वृक्ष-पर्वत आदिमें भी चार प्रकारकी जातियोंके अस्तित्वका अनुभव करते थे। जब गुणोंकी विभिन्नताके कारण सृष्टिवैचित्र्य है तब सृष्टिकी सारी वस्तुओंमें गुणोंकी विभिन्नता लक्षित होगी, और गुणोंके अनुसार कर्म-विभाग भी अवश्य रहेगा। यही क्यों, देवताओंमें भी ये चार वर्ण लक्षित होते हैं, सृष्टिकी कोई वस्तु या जीव इस गुणकर्मविभागसे पृथक् होकर रह नहीं सकता। बृहदारण्यक उपनिषदमें भी इसकी आलोचना है। इस विषयमें बहुत आलोचना हो गयी है तथापि ऐसा नहीं लगता कि विरोधी लोगोंको इससे समाधान प्राप्त हुआ हो। मैं यहाँ भारतके अद्वितीय धर्मवक्ता श्रीकृष्णानन्द स्वामीका मन्तव्य उनके गीतार्थसन्दीपनीसे उद्धृत करता हूँ। आशा है इसे पढ़कर बहुतोंकी बुद्धि प्रस्फुटित होगी।

"देहके मूलतत्त्व—सत्त्व, रजः, तमः—इन तीन गुणोंके भेदसे अधिकारकी भिन्नता प्रदर्शित होती है। बहुतोंके मनमें यह संस्कार काम करता है कि भगवान्ने सबको समान बनाकर मनुष्यजातिकी सृष्टि की। काल-क्रमसे जन-समाज गठित हुआ। पश्चात् जो जैसा कर्म करने लगा उसको उसी प्रकारकी उपाधि मिली। जैसे

जो केवल पूजा-पाठ करते थे वे ब्राह्मण कहलाये, जो युद्धादिमें बल-विक्रम दिखलाते थे वे क्षत्रिय, इत्यादि। इस प्रकारके वाक्योंके दार्शनिक, ऐतिहासिक या सांकेतिक कोई प्रमाण नहीं हैं, वस्तुतः यह कल्पनामूलक है। यदि कहो कि ईश्वर समदर्शी, निरपेक्ष होकर ब्राह्मणको श्रेष्ठ और क्षत्रियादिको क्रमानुसार निकृष्ट बनावेंगे तो यह कभी संभव नहीं है। इसीसे भगवान्ने कहा कि वह कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता हैं। वस्तुतः यह प्रकृतिका स्फुरित उच्छ्वास मात्र है। प्रकृति त्रिगुणमयी और अनाद्या है। सत्त्वगुणके प्राधान्यके अधिकारसे प्रकृति-सत्तासागरसे जो मनुष्यरूप बुद्बुद स्फुरित होता है, उसमें शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा आदि वृत्तियोंका विकास होता है। ये वृत्तियाँ सत्त्वगुणके कर्म हैं। इस 'गुण-कर्म' के अनुसार पूर्वोक्त श्रेणीके मानव 'ब्राह्मण' नामसे अभिहित होते हैं। सत्त्वगुणके गौण और रजोगुणके मुख्य अधिकारसे प्रकृति-सत्तासमुद्रसे जिस श्रेणीके मनुष्यरूप बुद्बुद स्फुरित होते हैं, उनमें शौर्य-वीर्यादिका विकास होता है। ये रजोगुणके कर्म हैं; इस गुणकर्मके अनुसार मानव 'क्षत्रिय' नाम धारण करता है। इसी प्रकार तमोगुणके गौण और रजोगुणके मुख्य अधिकारमें कृषि-वाणिज्यादि वृत्तिशील 'वैश्य' तथा तमोगुणके मुख्याधिकारसे द्विजातिकी शुश्रूषा करने वाली 'शूद्र' जातिका आविर्भाव हुआ है। यह गुण-कर्म-विभाग अनादिकालसिद्ध है। अतएव वर्णभेद भी अनादिकालसिद्ध है। परन्तु वर्णधर्मी मानवमें अपनी अपनी वृत्तियोंकी मलिनताके कारण प्रतिभा-हानि या पतन होता है। ब्राह्मण मलिनवृत्ति होने पर क्रमशः क्षत्रिय-ब्राह्मण, वैश्य-ब्राह्मण, शूद्र-ब्राह्मण, चाण्डाल-ब्राह्मण आदिमें परिणत हो जाता है। वृत्तिके गुणतारतम्यसे ब्राह्मण 'शूद्रत्व' और शूद्र 'ब्राह्मणत्व' को प्राप्त होता है। परन्तु 'ब्राह्मण' कभी 'शूद्र' और 'शूद्र' कभी 'ब्राह्मण' नहीं हो सकता। ब्राह्मणकुलमें जन्म और संस्कारके द्वारा द्विजत्व, वेद-पाठ करनेसे विप्रत्व, और ब्रह्मज्ञानसे युक्त पुरुष ही सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है। इस अन्तिम अवस्थासे नीचे जैसे एक एक गुणकी कमी होती है वैसे ही ब्राह्मणभी हीनताको प्राप्त होता है। ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न, उपनीत और वेदाभ्यासशील ब्राह्मण, ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणकी अपेक्षा हीन है। ब्राह्मणकुलोत्पन्न और द्विजब्राह्मण, वेदज्ञ ब्राह्मणकी अपेक्षा हीन है, और केवल ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न अनुपनीत ब्राह्मण, द्विजब्राह्मणकी अपेक्षा हीन है। ज्येष्ठ और कनिष्ठका जो सम्बन्ध है, गुरु और शिष्यका जो सद्भाव और सम्बन्ध है, ब्राह्मणका शूद्रके साथ भी वही सम्बन्ध है। किसीको ऐसा नहीं समझना चाहिये कि शूद्र ब्राह्मणका कृतदास है। वस्तुतः जिस प्रकार छोटा भाई बड़े भाईकी सेवा करता है, शिष्य जैसे गुरुकी सेवा करता है, उसी प्रकार शूद्रको भी चाहिए कि द्विज-गणकी सेवा करे। जैसे सब भाई ज्येष्ठ नहीं हो सकते, उसी प्रकार सब वर्ण एक-रूप नहीं हो सकते। ईश्वर पक्षपातसे किसीको छोटा-बड़ा नहीं बनाते, प्रकृतिके गुण-कर्म-विभागसे ही ऐसा होता है। ✿ ✿ ✿ एकत्र आहार और विवाह करना ही समानताका लक्षण है, यह कोई नहीं कह सकता। सद्गुणको प्राप्त करनाही श्रेष्ठताका लक्षण है। ब्राह्मणेतर जातिके कोई कोई व्यक्ति सात्त्विक-गुण-सम्पन्न होकर अपनेको

कभी हीन नहीं समझते और वह ब्राह्मणका सत्कार करनेमें भी कुण्ठित नहीं होते। ब्राह्मण-समाजमें भी उनका गौरव बढ़ता है। परन्तु व्यक्तिविशेषमें ब्राह्मणत्वका विकास होने पर भी वह साधारणतः दीख नहीं पड़ता, अतएव व्यक्तिविशेषके लिए साधारण नियमका व्यक्तिक्रम करनेसे समाजबन्धन अत्यन्त शिथिल हो जायगा और भ्रष्टाचारकी वृद्धिमात्र होगी ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

अन्वय—कर्माणि (सारे कर्म) मां (मुझको) न लिम्पन्ति (लिप्त नहीं कर सकते) कर्मफले (कर्मफलमें) मे (मेरी) स्पृहा न (स्पृहा नहीं है) इति (इस प्रकार) यः (जो) मां (मुझको) अभिजानाति (जानते हैं) सः (वह) कर्मभिः (कर्मोंके द्वारा) न बध्यते (आबद्ध नहीं होते) ॥१४॥

श्रीधर—तदेव दर्शयन्नाह—न मामिति। कर्माणि विश्वसृष्ट्यादीन्यपि मां न लिम्पन्त्यासक्तं न कुर्वन्ति। निरहङ्कारत्वात्। आप्तकामत्वेन मम कर्मफले स्पृहाऽभावाच्च मां न लिम्पन्तीति किं वक्तव्यम्? यतः कर्मलेपराहित्येन मां योऽभिजानाति सोऽपि कर्मभिर्न बध्यते। मम निर्लेपत्वे कारणं निरहङ्कारत्वनिःस्पृहत्वादिकं जानतस्तस्याप्यहङ्कारादिशैथिल्यात् ॥१४॥

अनुवाद—[उसीको प्रमाणित करनेके लिए कहते हैं]—विश्वसृष्टि आदि कर्मसमूह मुझको आसक्त नहीं कर सकते, क्योंकि मैं निरहङ्कार हूँ और कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है। अतएव कर्म मुझको लिप्त नहीं कर सकते, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार निर्लेप और निःस्पृह जो मुझको जानता है वह भी कर्ममें आबद्ध नहीं होता। मेरी निर्लेपताके कारण जो निरहङ्कार और निस्पृहभाव हैं उनको जो जानता है, उसका भी अहङ्कार शिथिल हो जाता है ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं किसी कर्ममें लिप्त नहीं हूँ, न मुझको किसी फलकी इच्छा है, इस प्रकार जो मुझको (अर्थात् अपनेको) जानता है वह किसी कर्ममें आबद्ध नहीं होता।—'आप्तकामस्य का स्पृहा'? जो आप्तकाम हैं और सर्वत्र जिनकी आत्म-दृष्टि है, अतएव जहाँ अन्य वस्तुका अभाव है। ऐसे पुरुषोंको कोई वस्तु काम्य नहीं हो सकती। आत्मा स्वयं पूर्ण है, उसमें वासनाका लेप कैसे होगा? साधनाके द्वारा आत्माके इस तत्त्वको जानकर जो आत्माराम हो गये हैं वह कर्ममें लिप्त नहीं हो सकते। वह साक्षी स्वरूपमें केवल देह-मन-बुद्धिके कार्योंका अवलोकन मात्र करते हैं। जो कर्मका कर्त्ता नहीं है उसकी कर्मफलमें आसक्ति भी संभव नहीं है। क्रिया करके जिसने क्रियाकी परावस्था प्राप्त की है, वह भी समझते हैं कि उनकी मन-बुद्धिसे किस प्रकार सारी स्पृहाएँ दूर हो जाती हैं, अतएव जो स्वयं आत्मा हैं उनमें स्पृहा कैसे रहेगी? और वह किस वस्तुकी कामना करेंगे? जो कुछ कामना करेंगे, वह भी तो वही है। क्रियाकी परावस्थामें जीव आत्मा हो जाता है। आत्माका इस प्रकारका निर्लिप्त भाव इस अवस्थामें ही समझमें आता

है, अन्य अवस्थामें नहीं। क्रियाका अन्त ही यह 'अक्रिय अवस्था' है, अतएव जब कर्म ही नहीं है तो कर्मबन्धन कहाँसे होगा? और किसको होगा? भगवान् ही सब जीवोंके आत्मा हैं, वह यदि इतना बड़ा जगद्व्यापार करके भी निर्लिप्त रह सकते हैं तब जीवके लिए इसकी धारणा करना कठिन होने पर भी एकबारगी असम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि जीव भी उसीका अंश है। सुख-दुःखादिमें आत्मा तो बद्ध होता नहीं, बद्ध होता है अज्ञानके वश देहाभिमानी जीव। कर्ममें आसक्त होता है मन, अतएव कर्मफलसे जो आबद्ध होता है वह है तुम्हारा मन। आत्मा कर्म नहीं करता अतः वह बद्ध होनेवाला भी नहीं है। साधक आत्माके इस निर्लिप्त भावको क्रियाकी परावस्थामें जान सकते हैं। अतएव जो किसी भी वस्तुसे लिप्त होनेवाला नहीं, इस प्रकारका आत्मा ही तुम हो, यह धारणा निश्चय हो जाने पर तुम्हारे या मेरे कर्ममें या उसके फलमें लिप्त होनेकी सम्भावना नहीं रहती। क्रियाकी परावस्था पुनः पुनः प्राप्त होने पर ही आत्माका स्व-भाव समझमें आता है, जिसको यह ज्ञान निरन्तर बना रहता है उसको फिर बन्धन नहीं हो सकता। जिसका सपना टूट गया है, वह जैसे सपनेमें देखी वस्तुका स्मरण करके उसमें अपना अभिमान करनेकी इच्छा नहीं करता उसी प्रकार जिनका जगत् स्वप्न टूट जाता है उनके फिर कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादि भाव नहीं रह सकते ॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

अन्वय—एवं (इस प्रकार) ज्ञात्वा (जानकर) पूर्वैः (प्राचीन कालके) मुमुक्षुभिः अपि (मुमुक्षुओंके द्वारा भी) कर्म कृतम् (कर्म अनुष्ठित हुए थे); तस्मात् (अतएव) त्वं (तुम) पूर्वैः (प्राचीन लोगोंके द्वारा) पूर्वतरं (पूर्वतरकालमें) कृतं (अनुष्ठित) कर्म एव कुरु (कर्मका ही अनुष्ठान करो) ॥१५॥

श्रीधर—ये यथा मामित्यादिभिश्चतुर्भिः श्लोकैः प्रासङ्गिकमीश्वरस्य वैषम्यं परिहृत्य पूर्वोक्तमेव कर्मयोगं प्रपञ्चयितुमनुस्मारयति—एवमिति। अहङ्कारादिराहित्येन कृतं कर्म बन्धकं न भवति। इत्येवं ज्ञात्वा पूर्वैर्जनकादिभिरपि मुमुक्षुभिः सत्त्वशुद्ध्यर्थं पूर्वतरं युगान्तरेष्वपि कृतम्। तस्मात् त्वमपि प्रथमं कर्मैव कुरु ॥१५॥

अनुवाद—[पूर्वोक्त चार श्लोकोंके द्वारा प्रासङ्गिक क्रमसे ईश्वरमें वैषम्यका अभाव दिखलाकर अब यह दिखलाते हैं कि पूर्वोक्त कर्मयोगका अनुष्ठान करके प्राचीन कालके लोग क्यों नहीं आबद्ध हुए?] अहङ्कारादिरहित होकर कर्म करने पर वह बन्धन-कारक नहीं होता, यह जानकर प्राचीन कालके जनक आदि मुमुक्षुओंने सत्त्वशुद्धिके लिए कर्म किया था, तथा उनसे भी पूर्व युगके मुमुक्षुओंने कर्म किया था, अतएव तुम भी पहले कर्म ही करो ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तन्निमित्त कर्म (क्रिया) करो, जैसे पूर्वके लोग करते आ रहे हैं।—कर्ममें आत्मा लिप्त नहीं होता तथा आत्मज्ञ भी कर्ममें लिप्त नहीं

होते, यह तो समझमें आया। परन्तु आवरण आकर सबको भुला देता है, अतएव इस ज्ञानको स्थायी और स्थिर बनाये रखनेके लिए आत्मक्रिया करनी पड़ती है। प्राचीनकालके मुमुक्षु जनकादि ऋषियोंने भलीभाँति आत्मतत्त्वको समझा था तथा अपनेमें इस भावको नित्य प्रतिष्ठित रखनेके लिए उन्होंने कभी क्रिया नहीं छोड़ी थी। क्रियाकी परावस्थामें सामान्यरूपसे स्थिरत्वका अनुभव कर ही क्रियाका त्याग करना ठीक नहीं है। क्योंकि क्रिया त्याग करने पर अपरिपक्व साधकका पतन संभव है, केवल समझ लेनेसे ही काम नहीं चलेगा। कर्म करके स्थायी भावसे मुक्तावस्थाको प्राप्त किये बिना कर्मत्याग करना ठीक नहीं है। क्रियाकी परावस्थामें आत्माका साक्षित्व स्पष्टरूपसे समझमें आता है। सब अवस्थाओंमें यह साक्षित्वभाव स्थायी होने पर ही जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होती है। इसलिए हे अर्जुन, तुम भी पहले कर्म ही करो। जब तक जीवके सामने आत्मतत्त्व सूर्यके प्रकाशके समान प्रकाशित नहीं हो जाता तब तक जानना चाहिए कि चित्तशुद्धिका अभाव बना ही हुआ है। और यदि कोई क्रियाकी परावस्थामें प्रतिष्ठित भी हो गया है तो भी उसे लोकशिक्षाके लिए क्रिया करना आवश्यक है। जनकादि ऋषिलोग भी क्रियाकी परावस्थामें पहुँचकर भी लोकशिक्षाके लिए कर्म करते थे॥ १५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

अन्वय—किं कर्म (क्या कर्त्तव्य कर्म है) किं अकर्म इति (क्या अकर्त्तव्य है, अर्थात् अकरणीय कर्म है) अत्र (इस विषयमें) कवयः अपि (विवेकी लोग भी) मोहिताः (मोहको प्राप्त होते हैं); तत् ते (इसीलिए तुमको) कर्म प्रवक्ष्यामि (कर्मका रहस्य बतलाऊँगा) यत् (जो) ज्ञात्वा (जानकर) अशुभात् (अशुभसे) मोक्ष्यसे (तुम मुक्त हो जाओगे)॥ १६॥

श्रीधर—तच्च तत्त्वविद्भिः सह विचार्य कर्त्तव्यम्। न लोकपरम्परामात्रेणेति आह—किं कर्मेति। किं कर्म कीदृशं कर्मकरणम्, किमकर्म कीदृशं कर्माकरणम् इत्यस्मिन्नर्थे विवेकिनोऽपि मोहिताः। अतो यज्ज्ञात्वा यदनुष्ठायाशुभात् संसारान्मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसि। तत् कर्माकर्म च तुभ्यमहं प्रवक्ष्यामि तच्छृणु॥१६॥

अनुवाद—[वह भी तत्त्ववेत्ताओंके साथ विचार कर करना ठीक है, लोकपरम्पराके अनुसार कर्मानुसरण करना ठीक नहीं—यही बतलाते हैं]—कौनसा कर्म करणीय है और कौनसा कर्म अकरणीय है—इस विषयमें विवेकी लोग भी मोहको प्राप्त हो जाते हैं। अतएव जिसका अनुष्ठान करनेसे तुम अशुभ अर्थात् संसारसे मुक्त हो जाओगे, उसी कर्माकर्मके बारेमें तुमसे कह रहा हूँ, इसे सुनो॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कर्म और अकर्म, इसे पण्डित लोग भी नहीं समझ पाते, अतएव कर्म किसे कहते हैं, यह बतलाता हूँ, जिसे भलीभाँति जाननेसे मोक्षपद प्राप्त होता है।—यथार्थ कर्मके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, परन्तु कर्मको बिना समझे-बूझे

करनेसे वह बन्धनको नहीं काटता। इसी कारण कर्मका रहस्य जाननेकी आवश्यकता है। कर्म किस प्रकार अकर्म बनता है और अकर्म कब कर्मके समान हो जाता है, यह सब ज्ञात न रहने से लोग अच्छा कर्म करते भी अपकर्म कर बैठते हैं। अतएव कर्मका अनुष्ठान कैसे करना चाहिए यह समझ लेना होगा। जैसे, क्रिया करने तो बैठ गये परन्तु संस्कारवश मन उस समय विषयचिन्तनमें लग गया तो कर्म अपकर्मके समान हो जायगा; और हो सकता है कि विषय-कर्मका ही अनुसरण कर रहे हो परन्तु आत्मस्थ होकर या आत्मामें लक्ष्य रखकर तो यहाँ कर्म अकर्मके समान बन्धकत्वशून्य हो जायगा। जो संसार-बन्धन है वही अशुभ या मृत्यु है, इस महामृत्युके पाशसे मुक्त होनेका उपाय क्या है, यह जगद्-गुरु कृपा करके बतला रहे हैं ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

अन्वय—हि (क्योंकि) कर्मणः अपि (विहित कर्मका भी) बोद्धव्यं (ज्ञातव्य तत्त्व है), विकर्मणः च (निषिद्ध कर्मका भी) बोद्धव्यं (ज्ञातव्य तत्त्व है), अकर्मणः च (और अकर्मका) बोद्धव्यं (ज्ञातव्य तत्त्व है), कर्मणः (कर्मकी) गतिः (गति) गहना (गहन या दुर्ज्ञेय है) ॥ १७ ॥

श्रीधर—ननु लोकप्रसिद्धमेव कर्म देहादिव्यापारात्मकम् । अकर्म तदव्यापारात्मकम् । अतः कथमुच्यते कवयोऽप्यत्र मोहं प्राप्ता इति? तत्राह—कर्मण इति। कर्मणो विहित-व्यापारस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति। न तु लोकप्रसिद्धमात्रमेव। अकर्मणोऽविहितव्यापारस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति। विकर्मणो निषिद्धव्यापारस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति। यतः कर्मणो गतिर्गहना। कर्मण इत्युपलक्षणार्थम्। कर्माकर्मविकर्मणां तत्त्वं दुर्विज्ञेयमित्यर्थः ॥१७॥

अनुवाद—[यह देहादि व्यापार रूप 'कर्म' तो लोकप्रसिद्ध है और देहादिका 'अव्यापार' ही अकर्म है, फिर विवेकी लोग इस विषयमें मोहित क्यों होते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं]—कर्मका अर्थात् शास्त्रविहित व्यापारका भी ज्ञातव्य तत्त्व है केवल लोकप्रसिद्ध मात्र नहीं। अकर्म अर्थात् जो अविहित व्यापार है उसका भी ज्ञातव्य तत्त्व है, तथा विकर्म अर्थात् निषिद्ध व्यापारका भी ज्ञातव्य तत्त्व है। क्योंकि कर्मकी गति गहन अर्थात् दुर्ज्ञेय है। कर्मकी गति दुर्ज्ञेय कहनेसे कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों ही उपलक्षित होते हैं। [कर्म=शास्त्रविहित कर्म, अकर्म=तूष्णीम्भाव, विकर्म=प्रतिषिद्ध कर्म—शङ्कर] ॥ १७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कर्म ही मनुष्यकी गति है, अतएव कर्म, अकर्म और विकर्म समझना आवश्यक है।—कर्मद्वारा ही जीव-जगत्का व्यापार चलता है, कर्मके बिना किसीकी गति-मुक्ति नहीं है। देहेन्द्रियादिका व्यापार ही तो कर्म है; परन्तु कर्मके तत्वका सम्यग् ज्ञान न होनेसे देहेन्द्रियादिके व्यापार ठीक परिचालित न होनेके कारण बहुधा कर्म अकर्म हो जाता है, और अकर्म भी कर्म हो जाता है। जो हमारे

स्वाभाविक कर्म हैं, देहेन्द्रियादिके वे व्यापार भी ठीक ठीक शिक्षा न मिलनेके कारण मनुष्य भलीभाँति नहीं कर पाते, करने पर भी कर्मका उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है, अतएव कर्म विफल हो जाता है। साधारणतः हम सांसारिक प्रयोजन या लोभवश कर्म करते हैं, और ऐसे कर्मोंके द्वारा प्रायः बन्धन प्राप्त होता है। कर्म-फलके लोभसे उसकी प्राप्तिके लिए जो कर्म किया जाता है उसमें आसक्ति होने पर उस कर्मसे बन्धन होता है। आसक्तिसे उस प्रकारका कर्म करनेके लिए पुनः पुनः प्रवृत्ति होती है, अन्तमें उसका संस्कार इतना दृढ़ हो जाता है कि इच्छा या प्रयोजन न होने पर भी उस प्रकारका कर्म किये बिना नहीं रहा जाता। इससे ही देखनेमें आता है कि कर्म किस प्रकार बन्धनका कार्य करता है। जैसे, हम लोग एक पशुको नाकमें नाथ डालकर उसकी इच्छा न होते हुए भी उससे काम करा लेते हैं, उसी प्रकार कर्मके संस्कार और प्रवृत्तिके प्रोत्साहन बहुधा हमारी इच्छा न होने पर भी हमको बलपूर्वक कर्ममें लगा देते हैं। हम समझते हैं कि यह ठीक नहीं है तथापि वैसा कर्म किये बिना नहीं रहा जाता। यही कर्मका बन्धन है। कर्म करते रहने पर असंस्कृत मनमें कर्मफलका उद्देश्य रहेगा ही, न रहने पर कर्म करनेमें उत्साह ही न रहेगा। परन्तु अष्टम अध्यायमें भगवान्ने जो कर्मकी बात कही है वही कर्मकी सुन्दर संज्ञा है। यहाँ इतना ही हमको समझ रखना चाहिए कि कर्म यदि ईश्वरार्पित न हो अर्थात् भगवान्के उद्देश्यसे कर्म न किया जाय तो कर्ममें जो विष अर्थात् बन्धनकारिणी शक्ति है वह कदापि न जायगी। और मनुष्य कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। इसीसे भगवान् कर्मके अपूर्व रहस्यको यहाँ विश्लेषण कर दिखलाते हैं। कर्मकी गति दुर्विज्ञेय है, इसीसे बहुधा आसक्ति और लोभ कर्मका कारण बन जाते हैं। परन्तु कर्म भी करे और वह अकर्म भी न हो, इस तत्त्वको जानना ही क्या सर्वापेक्षा प्रयोजनीय व्यापार नहीं है? गुरुदेवने कर्म और अकर्मके सम्बन्धमें एक अलग व्याख्या की है, उसके साथ पूर्वाचार्योंका कुछ पार्थक्य होने पर भी वास्तविक तत्त्वकी दृष्टिसे कोई गड़बड़ी नहीं होती। शङ्कराचार्य कहते हैं कि शास्त्रविहित व्यापार ही 'कर्म' है, शास्त्रनिषिद्ध कर्म ही विकर्म है तथा किसी भी प्रकारके व्यापारसे रहित होकर चुपचाप रहना या कर्मका न करना ही 'अकर्म' है। गुरुदेव कहते हैं कि फलाकांक्षाके साथ जो कर्म किया जाता है वही 'अकर्म' है और फलाकांक्षारहित कर्म ही कर्म है। तथा ईश्वरके उद्देश्यसे साधन आदि कर्मोंको करके क्रियाकी परावस्था (क्रियारहित अवस्था) प्राप्त करना ही विकर्म है। इन तीनों विषयोंको ही समझना आवश्यक है, क्योंकि कर्म ही मनुष्यकी गति है। देहादिमें प्राण-सञ्चार होने पर ही इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। और इन्द्रिय, मन और बुद्धि उत्पन्न होकर बाह्य विषयोंमें विचरणशील बनते हैं। इसीसे प्राण-क्रिया (श्वास-प्रश्वास) बाहर ही बाहर चलती है, तथा प्राणकी बहिर्मुखताके वश इन्द्रियाँ और मन बाहर ही विचरण करते हैं—यह यद्यपि कर्म है तथापि यह अकर्म भी है या अपकर्मके समान है, क्योंकि इससे कर्मबन्धन होता है और जन्मान्तर तथा नाना प्रकारके दुःख और क्लेश भी प्रदान करता है और मैं

कौन हूँ, और क्या हूँ—यह समझने नहीं देता। उसके बाद जब जीव जाग्रत होता है, कुछ समझने लगता है, तब गुरुमुख होकर जानता है कि वास्तविक कर्म क्या है, और उस कर्मका उपदेश प्राप्त करता है। उस उपदेशके अनुसार श्रद्धापूर्वक चलते चलते मन अन्तर्मुखी होता है, धीरे धीरे इन्द्रियोंकी भी विषय-व्यापार ग्रहण करनेमें क्षीणता आती है। तब मनमें परमार्थानुसारिणी बुद्धि उत्पन्न होती है और उसके फलस्वरूप अधिक शान्ति प्राप्त करता है। बाहरी व्यापार भी जो कुछ थोड़ाबहुत चलता है वह भगवत्प्रीत्यर्थ, भगवान्का ही होता है। इस प्रकारके लोगों के द्वारा सम्पादित कर्म ही वास्तविक 'कर्म' हैं; और इस प्राणकर्मका अनुसरण करते करते जब प्राण और उसके साथ मन व्यापार-शून्य या स्थिर हो जाते हैं तभी निःश्रेयसकी उपलब्धि होती है। उसका शरीर स्थिर हो जाता है, प्राण-मन स्थिर हो जाते हैं—"तन्मनः विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।" विष्णुके इस परम पदको प्राप्त साधक ही सुर या देवता हैं। यही विकर्म या कर्मकी अन्तिम या परावस्था है। कर्मके सम्बन्धमें इन सब तत्त्वोंको समझे विना जीवनका उद्देश्य ही विफल हो जाता है ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

अन्वय—यः (जो) कर्मणि (कर्ममें) अकर्म (अकर्मको) पश्येत् (देखता है) यः (जो) अकर्मणि च (और अकर्ममें) कर्म (पश्येत्) (कर्मको देखता है) सः (वह) मनुष्येषु बुद्धिमान् (मनुष्योंमें बुद्धिमान् है) सः (वह) युक्तः (योगयुक्त है) कृत्स्नकर्मकृत् (सब कर्मोंका अनुष्ठाता है) ॥१८॥

श्रीधर—तदेवं कर्मादीनां दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयन्नाह—कर्मणीति। परमेश्वराराधनलक्षणे कर्मणि कर्मविषये। अकर्म कर्मेदं न भवतीति यः पश्येत्। तस्य ज्ञानहेतुत्वेन बन्धकत्वाभावात्। अकर्मणि च विहिताकरणे कर्म यः पश्येत् प्रत्यवायोत्पादकत्वेन बन्धहेतुत्वात्। मनुष्येषु कर्मकुर्वाणेषु स बुद्धिमान् व्यवसायात्मकबुद्धिमत्त्वाच्छ्रेष्ठः तं स्तौति—स युक्तो योगी। तेन कर्मणा ज्ञानयोगावाप्तेः। स एव कृत्स्नकर्मकर्त्ता च। सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीये च तस्मिन् कर्मणि सर्वकर्मफलानामन्तर्भावात्। तदेवमारुरुक्षोः कर्मयोगाधिकारावस्थायां—न कर्मणामनारम्भादित्यादिनोक्त एव कर्मयोगः स्पष्टीकृतः। तत्प्रपञ्चरूपत्वाच्चास्य प्रकरणस्य न पौनरुक्त्यदोषः। अनेनैव योगारूढावस्थायां यस्त्वात्मरतिरेव स्यादित्यादिना यः कर्मानुपयोग उक्तस्तस्याप्यर्थात् प्रपञ्चः कृतो वेदितव्यः। यदारुरुक्षोरपि कर्म बन्धकं न भवति तदारूढस्य कुतो बन्धकं स्यात्—इत्यत्रापि श्लोको युज्यते। यद्वा कर्मणि देहेन्द्रियादिव्यापारे वर्तमानेऽप्यात्मनो देहादिव्यतिरेकानुभवेनाकर्म स्वाभाविकं नैष्कर्म्यमेव यः पश्येत् तथाऽकर्मणि च ज्ञानरहिते दुःखबुद्ध्या कर्मणां त्यागे कर्म यः पश्येत्तस्य प्रयत्नसाध्यत्वेन मिथ्याचारत्वात्। तदुक्तं—कर्मेन्द्रियाणि संयम्येत्यादिना। य एवम्भूतः स तु सर्वेषु मनुष्येषु बुद्धिमान् पण्डितः। तत्र हेतुः—यतः कृत्स्नानि सर्वाणि यदृच्छया प्राप्तान्या-

हारादीनि कर्माणि कुर्वन्नपि स युक्त एव। अकर्त्रात्मज्ञानेन समाधिस्थ एवेत्यर्थः। अनेनैव ज्ञानिनः स्वभावादापन्नं कलञ्जभक्षणादिकं न दोषाय। अज्ञस्य तु रागतः कृतं दोषायेति विकर्मणोऽपि तत्त्वं निरूपितं द्रष्टव्यम् ॥१८॥

अनुवाद—[कर्मादिका दुर्विज्ञेयत्व बतलाते हुए कहते हैं]—जो 'कर्मणि' अर्थात् परमेश्वरकी आराधना रूप कर्ममें, यह कर्म नहीं है—ऐसा समझते हैं; यह कर्म ज्ञानप्राप्तिका हेतु है अतएव इस प्रकारके कर्ममें जो बन्धकत्वका अभाव समझ पाते हैं, तथा 'अकर्मणि'—विहित कर्मके न करनेमें जो 'कर्म' अर्थात् कर्मबन्धन होता है, यह समझते हैं [विहित कर्मको न करना प्रत्यवायजनक होता है, अतएव वह बन्धनका हेतु है, ऐसा जो समझते हैं], कर्मकारी मनुष्योंमें वही बुद्धिमान् हैं अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धिसे युक्त होनेके कारण वही श्रेष्ठ हैं। उस कर्मके द्वारा ज्ञानयोग प्राप्त होता है, इसलिए वह युक्त अर्थात् योगी हैं। वह 'कृत्स्नकर्मकृत्' अर्थात् सर्व-कर्मकारी हैं, क्योंकि उस कर्ममें सम्प्लुतोदकके समान सब कर्म विद्यमान हैं। अथवा देहेन्द्रियोंके व्यापार रूप कर्मोंको कर भी जो आत्माको देहादिसे अतिरिक्त अनुभव करते हैं, तथा आत्मामें अकर्म या स्वाभाविक नैष्कर्म्य मात्रका अनुभव करते हैं, तथा अकर्मको—यथार्थ ज्ञानके अभावमें दुःखबुद्धिसे कर्मत्यागको—कर्म समझते हैं अर्थात् प्रयत्नसाध्य और बन्धनका हेतु समझते हैं—ऐसे व्यक्ति मनुष्योंमें यथार्थ बुद्धिमान् या पण्डित हैं, इसका कारण बतलाते हैं—क्योंकि यदृच्छासे प्राप्त आहारादि सारे कर्मोंको करके भी आत्माको अकर्त्ता मानकर जो आत्मज्ञान द्वारा समाधिस्थ होते हैं, वही युक्त हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वभावतः (अनायास ही) प्राप्त कलञ्जादि (दूषित मांसादि) भक्षण भी ज्ञानीके लिए दोषावह नहीं है, परन्तु अज्ञ व्यक्ति आसक्ति वश जो कुछ करता है वह दोषमय होता है। अतएव समझना होगा कि इसके द्वारा विकर्मका तत्त्व भी निरूपित हो गया ॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकांक्षाके साथ जो कर्म है वह अकर्म है, फलाकांक्षा-रहित जो कर्म है वह कर्म अर्थात् क्रिया है, जिसे करने पर मनुष्य बुद्धिमान होता है तथा स्थिर रहता है क्रियाकी परावस्थामें, उसने संसारके सारे कर्म कर लिये।—फलाकांक्षा-विरहित कर्म (अर्थात क्रिया करना) सर्वश्रेष्ठ है, उसमें कर्मजनित शुभाशुभ फल नहीं भोगना पड़ता, अतएव वह अकर्म अर्थात् अननुष्ठितवत्—न किये जानेके समान है। परन्तु जबर्दस्ती कर्मत्याग करने पर इच्छारहित अवस्था नहीं आती, और विहित या कर्त्तव्य कर्मके न करनेसे दोष होता है तथा कर्मवासना उस समय भी काफी रहती है, अतएव कर्मफलके हाथसे छुटकारा भी नहीं मिल सकता। अतएव चित्तकी अशुद्धावस्थाके रहते कर्मत्याग भी नहीं होता। परन्तु योगी लोग जानते हैं कि प्राणकर्म फलाकांक्षासे शून्य होते हैं, इसीलिए वे अपनी सारी शक्तिको प्राणकी साधनामें लगा देते हैं। प्राणके साथ यदि मन युक्त हो जाय तो मन भी प्राणके समान फलाकांक्षा-शून्य होकर निश्चल हो जाता है। तब योगीके बाह्य कर्म करने पर भी वह लक्ष्यहीन होनेके कारण अकर्मके ही तुल्य होता है; किसी

प्रकारका बन्धन नहीं उपस्थित करता। इस प्रकारसे जो कर्म करते हैं वही यथार्थ कर्मकारी और योगी हैं। वे बुद्धिमान् भी हैं क्योंकि स्थिर मन ही बुद्धि है। वे क्रियाकी परावस्थामें रहते हैं, अतएव बुद्धिमान् भी वही हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सब कुछ जड़ है, आत्माके चैतन्य-धर्ममें ये चेतनवत् प्रतीत होते हैं। अब यह देखना है कि सारे कर्मोंका कर्त्ता कौन है? सदसत् कर्मका कर्त्ता अहङ्कार है, यह अहङ्कार उत्पन्न होता है आत्माके साथ बुद्धिके मिलनेके कारण। अहङ्कार ही विहित-अविहित सारे कर्मोंका कर्त्ता है, इन्द्रियादि उसके करण-स्वरूप हैं। परन्तु कर्म करनेके समय ऐसा भ्रम होता है कि आत्मा ही कर्म कर रहा है। आत्माके द्वारा कर्म न किये जाने पर भी आत्मा क्यों कर्त्ता-सा प्रतीत होता है? क्योंकि आत्माका चेतन धर्म बुद्धिमें आरोपित होता है, तथा बुद्धि आदिके द्वारा कृत कर्म आत्मकृत-सा जान पड़ता है, और इस प्रकार जितने कर्म किये जाते हैं उतना ही अहङ्कार बढ़ जाता है तथा अहङ्कारके आधिक्यसे कर्म भी वृद्धिको प्राप्त होता है, और जीवका बन्धन भी उतना ही सुदृढ़ हो जाता है। अब यह समझमें आ गया होगा कि कर्ममात्र ही अनात्मकृत धर्म हैं, यह बिल्कुल ही आत्माके नहीं हैं। परन्तु आत्माके सिवा जब पारमार्थिक सत्य और कुछ नहीं है तब कर्म और उसके कर्त्ता सब ही मिथ्या हैं। अतएव कर्म करने पर भी न करनेके ही समान हो जाता है। आत्मा और कर्मका तत्त्व जो समझते हैं उनके सामने कर्ममें अकर्म दीख पड़ता है, और आत्मा कर्त्ता नहीं है यह धारणा जब दृढ़ हो जाती है तो अहङ्कार नहीं रहता, अतएव कोई बन्धन भी घटित नहीं होता। जीव अभिमानी होकर ही कर्मफल भोग करता है, यदि अहङ्कार मिट गया तो फलप्राप्ति किसको होगी? अतएव कर्मफल भी मिट जाता है। आत्मामें योगयुक्त पुरुष अहङ्कार-शून्य होता है, अतएव कर्मेन्द्रियादिके द्वारा उनके कर्म होनेपर भी कर्मबन्धन घटित नहीं होता। अतएव निरहङ्कारी योगीके लिए कलञ्जादि अभक्ष्य भक्षणमें भी कोई दोष नहीं हो सकता। और जो लोग कर्म-बन्धनके भयसे कर्म नहीं करते, और मन ही मन इसलिए सन्तुष्ट होते हैं कि वे त्यागी हो गये हैं, किन्तु उनका अहङ्कार नष्ट नहीं हुआ हो तो उनकी कर्मशून्य अवस्था भी घोर बन्धनका कारण बन जाती है। इस प्रकार अकर्ममें भी जो कर्मको देखता है वह भी यथार्थ बुद्धिमान् है। प्राण और मनके स्थिर हुए बिना बुद्धि स्थिर नहीं होती और बुद्धिके स्थिर हुए बिना आत्माका निश्चल और अक्रिय भाव समझमें नहीं आता, अतएव मन-बुद्धिको स्थिर करनेके लिए योगाभ्यास करना उचित है। योगाभ्यासजनित जो परावस्था प्राप्त होती है, उसके द्वारा ही आत्माका निष्क्रियत्व भलीभाँति उपलब्ध होता है, तब वे स्वयं उपस्थित कर्मोंके करनेमें भी भय नहीं करते, और कर्म न होने पर भी संसारासक्त जीवके समान कर्मके लिए व्याकुल नहीं होते। आत्मक्रियाका अन्तिम फल एकाग्रता या मनका निरोध है, मनमें जब किसी भी कारणसे सङ्कल्पकी तरङ्गें नहीं उठतीं तो उसेही चित्तशुद्धि कहते हैं। इस प्रकार चित्तके शुद्ध होने पर ही क्रियाकी परावस्था घनी और स्थायी होती है, तभी आत्मसाक्षात्कार या ज्ञानकी प्राप्ति होती है। योगारूढ़ अवस्था भी इसीको कहते हैं। इस अवस्थामें इन्द्रियादिके द्वारा कर्म होने पर भी, वे कर्म योगीको बाँध

नहीं सकते। यही फलाकांक्षारहित कर्म है। फलाकांक्षारहित होकर कर्म न किये जायँ तो अच्छे बुरे सभी प्रकारके कर्मोंसे जीव बन्धनमें पड़ता है। अतएव कर्म न कर चुपचाप बैठनेसे कर्मत्याग नहीं हो सकता। अपने लिए नहीं, भगवत्प्रीति-साधनके लिए जो कर्म किये जाते हैं वे बन्धनकारक नहीं होते। क्रिया व्यापारसाध्य होने पर भी जब भगवत्प्रीत्यर्थ की जाती है तब उस प्रकारके कर्म साधकको बन्धनमें नहीं डालते, बल्कि उसको बन्धनसे छुड़ा देते हैं। इस प्रकारकी भावनासे काम करने पर साधक लोकमें बुद्धिमान् होता है अर्थात् भगवान्‌के साथ योगयुक्त अवस्था प्राप्त करता है। इसकी अपेक्षा उच्चतर अवस्था कर्मकी और कुछ नहीं हो सकती। यज्ञादि कर्म इन्द्रियादि-व्यापार-साध्य हैं, परन्तु योगी जानते हैं कि वे इन्द्रियातीत आत्मा हैं, अतएव यज्ञादि कर्म करने पर भी उनको कर्म नहीं बाँध सकते। बहुतसे लोग समझते हैं कि यज्ञमें पशुबधादि अवैध कर्म हैं, परन्तु वेदमें यज्ञके लिए पशुबधका विधान है—"अग्निषोमीयं पशुमालभेत।" श्रुतिविहित कर्मके द्वारा नरक-पात आदिकी संभावना नहीं होती। परन्तु इस प्रकारकी सारी व्यवस्थाएँ कामा-सक्त लोगोंके लिए ही होती हैं। इन यज्ञादि कर्मोंके न करनेसे सन्ध्यावन्दनादि न करनेके समान दोष नहीं लगता। इसीलिए इनको न करने पर भी कर्मकर्त्ता दोषका भागी नहीं होता। इन सारे हिंसात्मक कर्मोंके द्वारा जीवके स्वेच्छाचारको संयत करना ही शास्त्रोंका उद्देश्य है। टीकाकार नीलकण्ठ कहते हैं—"न हि कृत्स्नो वेदस्तथा तद्‌बोधिता यज्ञाश्च पुरुषं हिंसायां प्रवर्त्तयन्ति, किन्तु परिसंख्याविधया निवृत्तिमेव बोधयन्तीत्यर्थः।"—सारे वेद और वेदविहित यज्ञ पुरुषको हिंसा-कर्मके लिए प्रेरित नहीं करते हैं। बल्कि परिसंख्याविधिके द्वारा निवृत्तिका ही उपदेश प्रदान करते हैं। इसके सिवा पशुबधका एक आध्यात्मिक उद्देश्य है। पशुबधके बिना यज्ञ पूर्ण नहीं होता, इसके लिए पशुबध करना ही पड़ेगा। "यज्ञानां जप-यज्ञोऽस्मि"—सारे यज्ञोंमें जपयज्ञ ही भगवान्‌की विशिष्ट विभूति है। और जपोंमें अजपाजप ही सर्वप्रधान है। यह अजपाजपरूप महायज्ञ भी पशुबधके बिना पूर्ण नहीं होता। परन्तु यह पशु छाग-महिष आदि नहीं हैं, मनुष्यके चित्तक्षेत्रमें काम-लोभादि पशुओंके समूह सदा विचरण करते हैं तथा साधकका महा अनिष्ट साधन करते हैं, प्रवृत्तिमूलक इन सारे पशुभावोंको बलि देना होगा। बलि माने त्याग, त्यागके बिना यज्ञ पूर्ण नहीं होता। भक्त रामप्रसाद कहते हैं—"कामे दिये अजा बलि, क्रोधे दिये महिष बलि, जय काली जय काली बले।" परन्तु पशु-बधके सम्बन्धमें कहा है—

"त्रिभुवन ये मायेर छेले ताँर कि आछे पर-भावना।
तुइ कोन लाजे चास् दिते बलि मेष महिष आर छागल छाना।।"

अर्थात् तीनों लोक मांकी सन्तान है, तो क्या वह उनपर पर-भावना कर सकती हैं ? तू किस अधिकारसे भेड़, बकरा और भैंसा बलि देना चाहता है।

जब तक काम-क्रोध दूर नहीं हो जाता, तब तक मनका काम-सङ्कल्प नष्ट होने वाला नहीं है। इसके लिए विचार आवश्यक है, परन्तु केवल विचार करनेसे ही कुछ

न होगा। मनको स्थिर और शुद्ध करना होगा, जिससे कामसङ्कल्पकी तरङ्ग न उठे। अपने-परायेका भाव छोड़ना होगा, यही शुद्ध मनका लक्षण है। क्रियाकी परावस्थाके बिना मन वस्तुतः शुद्ध नहीं होता, किसी न किसी प्रकारका दोष उसमें रह ही जाता है। जब तक बाह्य पदार्थोंका अनुभव हो रहा है, मन कल्पनाशून्य नहीं हो सकता। सङ्कल्पका प्रशमन हुए बिना मनके निष्क्रिय होनेका कोई उपाय नहीं है। स्थिर या ध्यानी पुरुष व्यावहारिक कर्ममें रत रहने पर भी लक्ष्यहीन नहीं होते। साधनाका यही उत्कृष्ट फल है। यही है उनका कर्ममें अकर्म दर्शन। भगवान् वशिष्ठका उपदेश है—

"पश्यन् कर्मण्यकर्मत्वमकर्मणि च कर्मताम्।
यथा भूतार्थचिद्रूपः शान्तमास्स्व यथासुखम्॥"

कर्मको अकर्म ब्रह्मरूपमें, तथा अकर्मको (निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूपको) अवश्य कर्त्तव्य कर्मरूपमें जानकर तुम यथासुख शान्त चित्स्वरूपमें अवस्थान करो॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥१९॥

अन्वय—यस्य (जिनके) सर्वे (सारे) समारम्भाः (कर्म) कामसङ्कल्पवर्जिताः (काम और सङ्कल्पसे रहित हैं) बुधाः (ज्ञानीजन) ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं (ज्ञानाग्नि द्वारा दग्धकर्मा) तं (उन्हें) पण्डितं (पण्डित) आहुः (कहते हैं) ॥१९॥

श्रीधर—कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यनेन श्रुत्यार्थापत्तिभ्यां यदुक्तं अर्थद्वयं तदेव स्पष्टयति—यस्येति पञ्चभिः। सम्यगारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि। काम्यत इति कामः फलम्। तत्सङ्कल्पेन वर्जिता यस्य भवन्ति तं पण्डितमाहुः। तत्र हेतुः—यतस्तैः समारम्भैः शुद्धे चित्ते सति जातेन ज्ञानाग्निना दग्धान्यकर्मतां नीतानि कर्माणि यस्य तम्। आरूढावस्थायां तु कामः फलहेतुविषयः। तदर्थमिदं कर्त्तव्यमिति कर्त्तव्यविषयः सङ्कल्पः। ताभ्यां वर्जिताः। शेषं स्पष्टम्॥१९॥

अनुवाद—['कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इस श्लोकके श्रुत्यर्थ और तात्पर्य द्वारा जो दो अर्थ कहे गये हैं, उन्हें ही अगले पाँच श्लोकोंमें और भी स्पष्ट करके कहते हैं]—जिनके सारे कर्म फलकामनासे रहित हैं विवेकी पुरुष उनको पण्डित कहते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे कर्मोंके द्वारा चित्तशुद्धि होने पर, तदुत्पन्न ज्ञानाग्निके द्वारा उनके सारे कर्म दग्ध हो जाते हैं और अकर्मता प्राप्त होती है। आरूढ़ावस्थामें 'काम' अर्थात् फलहेतु विषय तथा कामके लिए यह कर्त्तव्य है—इस प्रकारका कर्त्तव्यविषयक सङ्कल्प—ये दोनों वर्जित होते हैं॥१९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अनावश्यक कर्ममें इच्छारहित हैं, वर्तमान अवस्थामें और भविष्यमें इस प्रकार फलाकांक्षायुक्त सारे कर्मोंको जिन्होंने दग्ध कर दिया है वे ही पण्डित हैं। आजकलके पण्डित विपरीत हैं, कहते हैं दुर्गापाठ करो अमुक फल मिलेगा।—हम बहुधा अनावश्यक विषयोंकी भी कामना करते हैं परन्तु इस प्रकारके

सारे चिन्तन व्यर्थ हैं। जो इस प्रकारकी व्यर्थ चिन्ता नहीं करते तथा लोभवश भविष्य कर्मके विषयमें भी सङ्कल्प नहीं करते, वे दग्धकर्मा हैं और वेही पण्डित हैं। साधकको ऐसा ही दग्धकर्मा बनना होगा। वास्तविक पण्डित कर्मके फलकी आकांक्षा भी नहीं करते तथा कर्ममें उनका अभिमान भी नहीं होता। ये दो प्रकारके बोध जिनके कर्मका हेतु नहीं है वे ही पण्डित हैं। अभिमानसे इच्छा होती है, और इच्छासे वस्तुमें आसक्ति होती है, और उससे पुनः काम उत्पन्न होता है। भगवत्प्राप्तिमें यह भयानक विघ्न है। निश्चय ही भगवत्प्राप्तिकी इच्छा या मुक्तिकी इच्छा काम नहीं है 'न तु कामाय कल्पते'। परन्तु भगवत्प्राप्तिकी साधना करते करते यदि सङ्कल्पका उदय होता है कि मुझे सिद्धि प्राप्त होगी, क्या क्या देखने और सुननेमें आयेगा तो इस प्रकारके सङ्कल्प जो साधकोंके मनमें उठते हैं, उनका समारम्भ अर्थात् क्रियानुष्ठान कामसङ्कल्प-वर्जित नहीं होता, उनके इस प्रकारके कर्म, कर्म होते हुए भी शुभफल उत्पादन नहीं करते। इनसे नैष्कर्म्य या ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। परन्तु जो लोग किसी प्रकारके लाभालाभकी ओर दृष्टि न रखकर केवल गुरुवचनका पालन करते हैं, वे भी यथासमय कर्मके फलको प्राप्त करते हैं, परन्तु इसके लिए उनको सङ्कल्प करनेकी आवश्यकता नहीं होती। साथ ही अपना कर्त्तृत्वाभिमान और कर्म-फल-तृष्णा न होनेके कारण कर्म भी प्रवाहवत् चलता रहता है; इस प्रकारसे कर्म कर सकने पर उसका फल नैष्कर्म्य या ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकारके ज्ञानाग्निदग्ध साधक ही पण्डित कहलाते हैं ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥२०॥

अन्वय—सः (वह) कर्मफलासङ्गं (कर्मफलमें आसक्ति) त्यक्त्वा (त्यागकर) नित्यतृप्तः, निराश्रयः (नित्य परितुष्ट और निरवलम्ब होकर) कर्मणि (कर्ममें) अभिप्रवृत्तः अपि (सर्वतोभावेन प्रवृत्त होकर भी) किञ्चित् एव (कुछ भी) न करोति (नहीं करते हैं) ॥२०॥

श्रीधर—किञ्च त्यक्त्वेति। कर्मणि तत्फले चासक्तिं त्यक्त्वा नित्येन निजानन्देन तृप्तः। अतएव योगक्षेमार्थमाश्रयणीयरहितः। एवंभूतो यः स्वाभाविके विहिते वा कर्मण्यभितः प्रवृत्तोऽपि किञ्चिदपि नैव करोति। तस्य कर्माकर्मतामापद्यत इत्यर्थः ॥२०॥

अनुवाद—जो कर्म और कर्मफलमें आसक्ति त्यागकर नित्य निजानन्दमें तृप्त हैं, अतएव योग-क्षेममें (योग=अप्राप्त विषयके लिए चेष्टा, क्षेम=प्राप्त विषयकी रक्षा) किसीका आश्रय नहीं रखते अर्थात् किसीकी अपेक्षा नहीं करते, इस प्रकारके पुरुष स्वाभाविक या विहित कर्ममें प्रवृत्त होने पर भी कुछ नहीं करते हैं। उनका कर्म अकर्मताको प्राप्त हो जाता है ॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकांक्षारहित होकर, नित्यतृप्त निराश्रय होकर, सब कर्म करने पर भी वह कुछ भी नहीं करते।—फलाकांक्षा रहते हुए किसी प्रकारसे

तृप्ति नहीं हो सकती। जिनके हृदयसे फलाभिलाषा मिट गयी है वही नित्यतृप्त हैं। मन सङ्कल्प-विकल्प-धर्मसे युक्त होकर किसी न किसी वस्तुका अवलम्बन करता ही है। क्रियाकी परावस्थामें विषय-संगका त्याग हो जाता है। अतएव निजानन्दमें वह आप मग्न हो जाता है, और उस अवस्थामें मनन करनेके लिए कुछ भी नहीं रहता, अतएव उसका मन किसी वस्तुको अवलम्बन न करके निरावलम्बनमें स्थिर रहता है। इसीका नाम निराश्रय भाव है। कर्मासक्ति रहने पर ही आश्रय रहता है। जिसको कर्मासक्ति नहीं है उसको कोई आश्रय भी नहीं होगा। आसक्ति रहने पर कर्मफल उत्पन्न होता है, और उस कर्मफलके अनरूप ही जीवका अदृष्ट बनता है, और तज्जनित सुख-दुःखभोग भी अनिवार्य हो जाता है। जिनमें यह आसक्ति नहीं होती, तथा किसी भी वस्तुके लिए जिनके चित्तमें अपेक्षा नहीं होती, उनके मनका आश्रय तब एकमात्र परमानन्दस्वरूप आत्मा होता है और वह उसीमें तृप्त रहते हैं। इस प्रकारके पुरुषके कर्मका प्रविलय हो जाता है। तथापि पूर्व संस्कारोंके वश यदि उनको किसी प्रकारके सुख-दु:खादिका भोग भी करना पड़े या कर्ममें प्रवृत्त भी होना पड़े, तो फलासक्ति और कर्ममें कर्त्तृत्वाभिमान न होनेके कारण, इस अवस्थामें भी उनका अदृष्ट नहीं बनता। अतएव कुछ करने पर वह न करनेके समान ही होता है अर्थात् कर्मबन्धन नहीं होता ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥२१॥

अन्वय—निराशीः (निष्काम) यतचित्तात्मा (अन्तःकरण और शरीर संयत) त्यक्तसर्वपरिग्रहः (सब प्रकारके भोगोंका त्यागी) केवलं (केवल मात्र) शारीरं (शरीर द्वारा सम्पाद्य अथवा जिसका प्रयोजन शरीर-स्थिति मात्र है) कर्म कुर्वन् [इस प्रकारसे] (कर्म करके) किल्विषं (पापको) न आप्नोति (प्राप्त नहीं होते) ॥२१॥

श्रीधर—किञ्च—निराशीरिति। निर्गता आशिषः कामना यस्मात्। यतं नियतं चित्तमात्मा शरीरं च यस्य। त्यक्ताः सर्वे परिग्रहा येन। स शारीरं शरीरमात्रनिर्वर्त्यं कर्त्तृत्वाभिनिवेशरहितं कुर्वन्नपि किल्विषं बन्धनं न प्राप्नोति। योगारूढपक्षे शरीरनिर्वाहमात्रोपयोगी स्वाभाविकं भिक्षाटनादि कुर्वन्नपि किल्विषं विहिताकरणनिमित्तदोषं न प्राप्नोति ॥२१॥

अनुवाद—'निराशीः' निर्गत हो गयी है कामना जिनसे अर्थात् निष्काम होकर, 'यतचित्तात्मा'—चित्त और देहको संयत करके—सारे विषयादिका परिग्रह त्यागकर,—कर्त्तृत्वाभिनिवेशरहित होकर, शरीरमात्रका निर्वाह हो ऐसा कर्म करके वह बन्धनको प्राप्त नहीं होते। योगारूढ पक्षमें, शरीर-निर्वाहके लिए उपयोगी स्वाभाविक भिक्षाटन आदि कर्मोंको करके भी 'किल्विष' अर्थात् विहित कर्मोंके न करनेके कारण उत्पन्न दोषोंको वह प्राप्त नहीं होते ॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आशारहित होकर, आत्माको कूटस्थमें रखकर, अन्य वस्तुमें न जाकर शरीरसे केवल क्रिया करने पर कोई पाप नहीं रहता।—संसारमें

जितने कार्य हैं उनको करनेसे एक न एक दोष घटित होता ही है। आसक्ति रहने पर तो कोई बात ही नहीं है, उस समय पुण्यकर्म भी दोषयुक्त हो जाते हैं अर्थात् बन्धनका कारण बनते हैं। तब फिर क्रिया करने और क्रियामें आसक्त होने पर दोष क्यों न लगेगा? इसका उत्तर देते हैं कि जो आशारहित हैं अर्थात् जिनके मनमें किसी काम या विषयकी प्राप्तिकी आशा नहीं है, वे अन्य किसी वस्तुमें लक्ष्य न रखकर कूटस्थमें केवल मन लगाये रखते हैं। इससे चित्त और देहके संयमका अभ्यास होता है। इस प्रकारसे शरीर और चित्त के द्वारा वे कार्य करते हैं—यही है "शारीरं केवलं कर्म"। 'शारीर'से क्या मतलब है?—'शरीरेण निर्वर्त्य शारीरम्'—अर्थात् जो कर्म शरीरके द्वारा निष्पन्न होते हैं। इस प्रकार शरीर द्वारा निष्पाद्य जो 'केवल कर्म' या क्रिया है, उसको करनेसे साधकको पाप नहीं लगता। पाप नहीं लगता क्योंकि आत्मामें लक्ष्य न करके अन्य वस्तुमें मन देना ही पाप है; परन्तु जो उपर्युक्त प्रकारसे साधन करते हैं, उनका मन आत्मामें स्थिर होता है, अतएव विषयसे स्पर्श न होनेके कारण कोई पाप नहीं लग सकता। शरीर द्वारा निष्पाद्य कर्म तो अनेक हैं, परन्तु यहाँ जिन कर्मोंकी बात कही जा रही है वे इस शरीर द्वारा निष्पाद्य 'केवल कर्म' हैं अर्थात् जिन कर्मोंके द्वारा कैवल्यपद प्राप्त होता है। वह कैसे? योगशास्त्रमें कहा है—

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स केवल इति स्मृतः॥

प्राणायामादि साधन करते करते बिना आयासके ही रेचक और पूरक अर्थात् श्वास और प्रश्वास स्थिर हो जाते हैं, यही 'केवल' प्राणायाम है—इसके द्वारा प्राणवायुको सिरमें धारण करने पर ही कैवल्यपद प्राप्त होता है। शिव इसी लिए गंगाको सिर पर धारण किये रहते हैं, इसी प्रकार इस प्राणरूपिणी गङ्गाको जो सिर पर धारण करके रख सकें वे ही शिव हैं॥२१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥२२॥

अन्वय—यदृच्छालाभसन्तुष्टः (स्वतः उपस्थित वस्तुकी प्राप्तिमें जो सन्तुष्ट हैं) द्वन्द्वातीतः (शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको सहनेवाले) विमत्सरः (मत्सर रहित अर्थात् निर्वैर) सिद्धौ (सिद्धिमें) असिद्धौ च (असिद्धिमें) समः (सम-भावापन्न हैं) [ऐसे व्यक्ति] कृत्वा अपि (कर्म करके भी) न निबध्यते (बन्धनको प्राप्त नहीं होते)॥२२॥

श्रीधर—किञ्च—यदृच्छालाभेति। अप्रार्थितोपस्थितो लाभो यदृच्छालाभः। तेन सन्तुष्टः। द्वन्द्वानि शीतोष्णादीन्यतीतोऽतिक्रान्तः। तत्सहनशील इत्यर्थः। विमत्सरो निर्वैरः यदृच्छालाभस्यापि सिद्धावसिद्धौ च समो हर्षविषादरहितः। य एवंभूतः स पूर्वोत्तरभूमिकयो-र्यथायथं विहितं स्वाभाविकं वा कर्म कृत्वाऽपि बन्धं न प्राप्नोति॥२२॥

अनुवाद—'यदृच्छालाभ' अर्थात् विना माँगे जो लाभ उपस्थित हो उसीमें जो सन्तुष्ट हैं, 'द्वन्द्वातीत'—शीतोष्णादि सहनशील हैं, 'विमत्सरः' अर्थात् निर्वैर हैं, तथा सिद्धि और असिद्धिमें जो सम हैं अर्थात् हर्ष-विषादरहित हैं—इस प्रकारके पुरुष योगारूढ़ होनेके इच्छुक होने पर शास्त्रविहित कर्म तथा योगारूढ़ हो जाने पर स्वाभाविक कर्म (अन्न-पानादि) करके भी बन्धनको प्राप्त नहीं होते ॥२२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो दूसरोंकी इच्छा हुई, उसके द्वारा जो लाभ हुआ उसीमें सन्तुष्ट, संशय नहीं, अहङ्कार नहीं—सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें समान हैं—इस प्रकार जो कर्म करता है वह किसीसे आबद्ध नहीं होता, सारे कर्म करके भी।—(क्रियाकी परावस्था प्राप्त योगीका लक्षण)—जो योगसमाधिमें मग्न हैं उनको किसी प्रकारकी बाह्य चेष्टा नहीं होती। पर समाधिसे उठे हुए योगीकी बाह्य चेष्टा होती है, उस समय तो उनका मन बाह्य विषयमें लिप्त होगा ही। इसीसे कहते हैं कि उपर्युक्त अवस्थाको प्राप्त योगी अपने निजी प्रयोजनके लिए कभी व्याकुल नहीं होते, वह अयाचित लाभमें सन्तुष्ट होते हैं, दूसरे लोग जो अपनी इच्छासे देते हैं, उसीसे वे प्रसन्न रहते हैं। 'यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ'—इस प्रकार की तरङ्ग उनके मनमें नहीं उठती। समाधिके समय बुद्धिमें बाह्य विषय ग्रहण नहीं होते, अतएव उनका द्वन्द्वातीत भाव होता है। और व्युत्थानके समय भला-बुरा जो कुछ प्राप्त होता है, उसमें उनको संकोच नहीं होता। यह न होनेसे कष्ट होगा, उस वस्तुसे सुख मिलेगा—इस प्रकारका अभिमान और अहङ्कार भी उनको नहीं होता। और शीतोष्णादि द्वन्द्व उनको व्याकुल नहीं कर सकते। क्योंकि वह जानते हैं कि ये सब मिथ्या हैं, अतएव वह सब कुछ सहन कर सकते हैं। उनका मन सदा स्थिर रहता है—अतएव उनमें सदा ही साम्यभाव रहता है, और लाभालाभ, शीतोष्णादिमें उनको हर्ष-विषाद उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकारके योगी जो कुछ सामान्य कर्म जीवनयात्राके लिए करते हैं, उससे कोई विशेष संस्कार उत्पन्न नहीं होता, इस लिए वह बद्ध भी नहीं होते ॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

अन्वय—गतसङ्गस्य (आसक्तिरहित अथवा निष्काम) मुक्तस्य (धर्माधर्म के बन्धनसे विमुक्त अथवा रागहीन) ज्ञानावस्थितचेतसः (जिनका चित्त ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानमें अवस्थित है ऐसे पुरुषके) यज्ञाय (यज्ञके लिए या ईश्वरके लिए) आचरतः कर्म (आचरण करनेवालेके कर्म) समग्रं (सबके सब) प्रविलीयते (प्रकृष्ट रूपसे विनष्ट हो जाते हैं) ॥२३॥

श्रीधर—किञ्च—गतसङ्गस्येति। गतसङ्गस्य निष्कामस्य रागादिभिर्मुक्तस्य ज्ञानेऽवस्थितं चेतो यस्य तस्य। यज्ञाय परमेश्वरार्थं कर्माचरतः सतः समग्रं सवासनं कर्म प्रविलीयते। अकर्मभावमापद्यते। आरूढयोगपक्षे—यज्ञायेति। यज्ञाय यज्ञरक्षार्थं लोकसंग्रहार्थमेव कर्म कुर्वत इत्यर्थः ॥२३॥

अनुवाद—निष्काम, रागादिमुक्त, ज्ञानमें अवस्थितचित्त पुरुषके ईश्वर-निमित्त कर्म करने पर भी उनके सारे कर्म वासना-सहित प्रकृष्ट रूपसे विलयको प्राप्त होते हैं, अकर्मभावको प्राप्त होते हैं। योगारूढ़-पक्षमें यज्ञरक्षणार्थ अर्थात् लोकसंग्रहार्थ किये गये उनके कर्म भी अकर्मताको प्राप्त होते हैं ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छारहित होकर आत्मामें रहकर सारे कर्मोंमें ब्रह्मको देखता है। —योगीके कर्म किस प्रकार साधनाभ्यासके द्वारा अकर्मताको प्राप्त होते हैं? आत्मस्थित योगी कामकी अभिलाषासे रहित होते हैं, इसलिए उनको सारे कर्मोंमें ब्रह्मका बोध होता है। उनकी चित्तवृत्ति आत्मस्वरूपमें विलीन रहती है, अतएव वह ज्ञानस्वरूपमें अवस्थान करते हैं, तथा उनको कर्म और कर्मफल आबद्ध नहीं करते। यज्ञ शब्दका अर्थ है विष्णु, विष् धातु प्रवेशनार्थ प्रयुक्त होती है। जो सर्वत्र या सब वस्तुओंमें प्रविष्ट है, वही आत्मा है। उनके प्रीत्यर्थ जो कुछ किया जाता है, वह है यज्ञ। आत्मा तो सदाही आनन्दमय है, फिर उनकी प्रसन्नता क्या है?—वह नित्य प्रसन्नभावयुक्त हैं, इसकी उपलब्धि कर सकना। इस अवस्थाको समझनेके लिए ऐसा ही बनना पड़ेगा। जिससे यह भाव आता है वैसे कर्म अर्थात् क्रिया साधनादिके द्वारा मनुष्य किसी बन्धनमें नहीं पड़ता। और जो जगत्के जीवोंके कल्याणके लिए, दूसरोंको स्वधर्ममें लगानेके लिए इस क्रियाका प्रचार करते हैं, उस योगारूढ़ पुरुषके कर्म भी अकर्मताको प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अन्वय—अर्पणं (आहुति देनेवाली दर्वी) ब्रह्म (ब्रह्म है) हविः ब्रह्म (घृत ब्रह्म है) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्मरूपी अग्निमें) ब्रह्मणा (ब्रह्मरूपी होताके द्वारा) हुतं (होम भी ब्रह्म है) तेन (उस) ब्रह्मकर्मसमाधिना (कर्ममें ब्रह्मबुद्धिपरायण पुरुषके द्वारा कृत ब्रह्मकर्म द्वारा) ब्रह्म एव (ब्रह्म ही) गन्तव्यम् (प्राप्त होता है) [स्रुवा, होम, अग्नि, होमकर्त्ता—ये सभी ब्रह्म हैं। इस प्रकारके ब्रह्मभावापन्न पुरुषके सामने कर्म और फल ब्रह्मरूपताको प्राप्त होते हैं] ॥ २४ ॥

श्रीधर—तदेवं परमेश्वराराधनलक्षणं कर्म ज्ञानहेतुत्वेन बन्धकत्वाभावादकर्मैव। आरूढावस्थायां त्वकर्त्रात्मज्ञानेन बाधितत्वात् स्वाभाविकमपि कर्माकर्मैवेति कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यनेनोक्तः कर्मप्रविलयः प्रपञ्चितः। इदानीं कर्मणि तदङ्गेषु च ब्रह्मैवानुस्यूतं पश्यतः कर्मप्रविलयमाह ब्रह्मार्पणमिति। अर्प्यतेऽनेनेत्यर्पणं स्रुवादि। तदपि ब्रह्मैव। अर्प्यमाणं हविरपि घृतादिकं ब्रह्मैव। ब्रह्मैवाग्निः। तस्मिन् ब्रह्मणा कर्त्रा हुतं ब्रह्मैव। होमः अग्निश्च कर्त्ता च क्रिया च ब्रह्मैवेत्यर्थः। एवं ब्रह्मण्येव कर्मात्मके समाधिश्चित्तैकाग्र्यं यस्य तेन ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्यम्। न तु फलान्तरमित्यर्थः ॥ २४ ॥

अनुवाद—[परमेश्वराराधनलक्षण कर्म ज्ञानका हेतु होता है तथा उसमें बन्धकत्वका अभाव होता है, इसलिए वह अकर्म ही है। आरूढ़ावस्थामें आत्मा

अकर्त्ता होता है—इस प्रकारके ज्ञानके हेतु स्वाभाविक अकर्ममें कर्म और कर्ममें अकर्म दिखलायी देता है। अब यह दिखलाते हैं कि कर्म या कर्माङ्ग, सबमें ब्रह्म अनुस्यूत या अधिष्ठित हैं, इस प्रकारके द्रष्टाके भी कर्म का प्रविलय हो जाता है]—अर्पण स्रुवादि यज्ञपात्र या दर्वी ब्रह्म है, हवनीय घृतादि ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है; उसमें ब्रह्म कर्त्ताके द्वारा होम सम्पन्न होता है, अर्थात् होता भी ब्रह्म है। अग्नि, कर्त्ता, क्रिया सभी ब्रह्म हैं। इस प्रकारके ब्रह्मात्मकर्ममें जिनका चित्त एकाग्र है वह "ब्रह्मैव गन्तव्यम्" ब्रह्मको ही पाते हैं। इसमें दूसरे फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥ २४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अर्पण करना भी ब्रह्म है, अन्न ब्रह्म है, हृदयमें अग्नि है—वह ब्रह्म है, मुखमें अन्न डालते जाना—वह भी ब्रह्म है; ब्रह्ममें ही जानेके लिए ब्रह्मकर्म समाधानके लिए।—पहले कहा जा चुका है कि समस्त यति लोग सब कर्मोंमें ब्रह्मको देखते हैं, यही इस श्लोकमें विशेषरूपसे कहते हैं। ईश्वराराधनार्थ किये जाने वाले कर्म ज्ञानप्राप्तिके हेतु हैं, अतएव ऐसे कर्मोंमें बन्धन नहीं होता। ज्ञानप्राप्ति होने पर साधकको सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होता है, भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है। साधन करते करते श्वास जब ब्रह्मनाड़ीमें प्रवेश करके सिरमें चढ़ जाता है और उसके साथ मन भी निरुद्ध हो जाता है, तब 'तत् शुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः'—दर्शन करके योगी स्वयं भी ज्योतिरूप या ज्ञानस्वरूप हो जाते हैं। तब शरीरस्थ अग्नि और उसके द्वारा परिचालित शरीरयन्त्र, तथा यह प्राणरूप हवि, और इस प्राणको ब्रह्ममें मिलानेवाले साधककी चेष्टा, तथा ब्रह्ममें समाहित मनकी अवस्था—सबके सब ब्रह्ममय हो जाते हैं। तब वन्धन हो तो किसको हो? और कौन किसके द्वारा बन्धनमें डाले? अर्थात् इस अवस्थाको प्राप्त योगीके कर्मफल उत्पन्न ही नहीं होते, अतएव कर्माकर्मका फलभोग भी नहीं होता। कर्म करके उनको ही फलभोग करना पड़ता है, जिनके कर्त्ता, कर्म, करण आदि ईश्वरार्पित नहीं होते। कर्मबन्धनसे बचनेका एकमात्र उपाय है ब्रह्मार्पण। आत्मा तो सदा ब्रह्म है ही, जितनी गड़बड़ी होती है वह तो मन ही उत्पन्न करता है। अतएव मनको भी ब्रह्मार्पण कर ब्रह्मका समधर्मी बना देने पर ही परम निश्चिन्तता मिल सकती है। मनमें यदि ब्रह्ममयी वृत्तिके सिवा और कोई वृत्ति न उठे तो उससे मन और उसके मननादि व्यापार सब ब्रह्ममय हो सकते हैं। मनको स्थिर किये बिना यह कभी संभव नहीं है। कर्म करने पर उसका फल उत्पन्न होगा ही, और कर्म किये बिना रहा नहीं जाता, इसलिए कर्मका ब्रह्मार्पित होना आवश्यक है। जो कर्म भगवान्के लिए न करके अपनी तृप्तिके लिए किया जाता है, वह कर्म यज्ञरूपमें परिणत नहीं होता, अतएव सर्वत्र ब्रह्मदर्शन रूप जो मुक्तिफल देने वाला ज्ञान है वह प्राप्त नहीं होता। मनको ही बन्धन, और मनको ही मुक्ति होती है, आत्माको बन्धन नहीं होता। अतएव उसके मुक्त होनेका प्रश्न भी नहीं उठता। साधारणतः साधकोंकी दृष्टिमें आत्माके दो प्रकारके विभाव आते हैं, एक चिरस्थिर और दूसरा चिरचञ्चल। आत्माका जो क्रियाशून्य स्थिर भाव है उसको ही मानो हम आत्मा कहते हैं, और जो भाव सक्रिय और चञ्चल

है उसे मन कहते हैं, और व्यापक रूपसे उसीको हम जगत्-स्रष्टा हिरण्यगर्भ कहते हैं। परन्तु ये दोनों विभाव एकके ही रूपान्तर मात्र हैं। वास्तविकरूपमें तो 'नेह नानास्ति किञ्चन'। परन्तु यह सक्रिय भाव अज्ञानाच्छादित होनेके कारण तमोमय है, अतएव इस अवस्थामें रहते रहते प्राण छटपटाने लगता है। और इससे मुक्ति प्राप्त करना चाहता है। पुनः पुनः क्रिया करते करते यह सक्रिय भाव निष्क्रिय अवस्थाको प्राप्त होता है, यही ब्रह्मार्पण कहलाता है, इसी अवस्थामें वस्तुतः सभी कर्म ब्रह्मार्पित होते हैं। हम पहले पहल इस चिरस्थिर अमृत भावका पता ही नहीं पाते, मनही हमारी दृष्टिमें आता है। यह मन और मनकी असंख्य भावनायें क्रियाके द्वारा एक हो जाती हैं। इस समय जिसको 'सकल वस्तु' रूपमें हम समझते हैं, उस समय उसमें फिर कोई वस्तुभाव नहीं रहता; सब कुछ ब्रह्म जान पड़ता है। इसीसे श्रुतिमें मनको तथा मनकी कल्पना या वस्तुमात्रको ब्रह्मरूपसे उपासना करनेके लिए कहा गया है। "मनो ब्रह्म इत्युपासीत"—यह स्थिर, अचंचल भाव ज्ञानात्मक होनेके कारण ज्ञानस्वरूप कहलाता है। क्योंकि भाव जब तक चंचल रहते हैं तब तक ज्ञानोदय नहीं होता और न अभिमान-शून्यता आती है। इसी कारण चंचल और नाना भावनाओंसे युक्त इस क्रियात्मक भावको संसार कहते हैं। इस चांचल्य या मनरूपताके रहते हुए आत्माका स्थिर भाव समझमें नहीं आता। अतएव ज्ञान या अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव सक्रिय भावराशिको अक्रिय ब्रह्मभावमें परिणत करनेके लिए अर्पण, हवि, अग्नि, होता—सबको ब्रह्मरूपमें देखनेका उपदेश है ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

अन्वय—अपरे (कोई कोई) योगिनः (योगी लोग) दैवं एव यज्ञं (दैवयज्ञ-को ही) पर्युपासते (अनुष्ठान करते हैं) अपरे (दूसरे ज्ञानयोगीगण) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्मरूपी अग्निमें) यज्ञेन एव (ब्रह्मार्पणरूप यज्ञके द्वारा ही) यज्ञं (यज्ञरूपी आत्माको) उपजुह्वति (आहुति प्रदान करते हैं) ॥२५॥

श्रीधर—एतदेव यज्ञत्वेन सम्पादितं सर्वत्र ब्रह्मदर्शनलक्षणं ज्ञानं सर्वयज्ञोपायप्राप्यत्वात् सर्वयज्ञेभ्यः श्रेष्ठमित्येवं स्तोतुमधिकारिभेदेन ज्ञानोपायभूतान् बहून् यज्ञानाह—दैवमित्यादिभिरष्टभिः। देवा इन्द्रवरुणादय इज्यन्ते यस्मिन्। एवकारेणेन्द्रादिषु ब्रह्मबुद्धिराहित्यं दर्शितम्। तं दैवमेव यज्ञमपरे कर्मयोगिनः पर्युपासते श्रद्धयाऽनुतिष्ठन्ति। अपरे तु ज्ञानयोगिनो ब्रह्मरूपेऽग्नौ यज्ञेनैवोपायेन ब्रह्मार्पणमित्याद्युक्तप्रकारेण यज्ञमुपजुह्वति। यज्ञादिसर्वकर्माणि प्रविलापयन्तीत्यर्थः। सोऽयं ज्ञानयज्ञः ॥२५॥

अनुवाद—[इस प्रकार यज्ञके द्वारा सम्पादित सर्वत्र ब्रह्मदर्शनलक्षण-रूप ज्ञान ही सब यज्ञोंका फल है, अतएव श्रेष्ठ है। इस कारण ज्ञानकी प्रशंसाके लिए अगले आठ श्लोकोंमें अधिकारी-भेदसे ज्ञानके उपायभूत नाना यज्ञोंके विषयमें उल्लेख करते हैं]—इन्द्र, वरुण आदि देवता जिससे पूजित होते हैं ('एव' शब्द द्वारा यहाँ

इन्द्रादिमें ब्रह्मबुद्धि-राहित्य सूचित किया गया है) उस प्रकारके दैवयज्ञोंका अनुष्ठान कर्मयोगी किया करते हैं। दूसरे ज्ञानयोगीजन ब्रह्मरूप अग्निमें, यज्ञरूप उपाय द्वारा "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" इत्यादि प्रकारसे यज्ञादि सारे कर्मोंको ब्रह्ममें आहुति देते हैं अर्थात् सारे कर्म प्रविलय करते हैं। यही वह ज्ञानयज्ञ है। [सोपाधिकस्यात्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्मस्वरूपेणैव यद्दर्शनं स तस्मिन् होमः—सोपाधिक आत्माको निरुपाधिक परब्रह्मस्वरूपमें देखना अर्थात् जीवात्माको परमात्मामें होम करना या लय करना—यही ज्ञानयज्ञ है—शंकर] ॥२५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ दर्शन भी एक क्रिया है—योगी लोग इसीकी उपासना करते हैं—ॐकार-क्रिया—यज्ञके द्वारा यज्ञमें आहुति (श्वास रोककर ठोकर दे)।—योगी लोग कूटस्थ-दर्शनकी साधना करके कूटस्थ-ज्योतिका दर्शन करते हैं। इस प्रकारका दर्शन करनेके लिए प्रतिदिन क्रियावानोंको इच्छा होती है। इसी कारण वे सकाम हैं। कोई कोई योगी इस प्रकार साधन करते हैं जिसे देवयज्ञ कहा जाता है। देवयज्ञमें खेचरी-साधनकी अपेक्षा होती है, इसमें किसी बाहरी द्रव्यकी आवश्यकता नहीं होती। केवल प्राणको ब्रह्मज्योतिमें हवन करते हैं। सुषुम्ना-मार्गसे प्राणवायुको प्रवाहित कर मूलाधार पर्यन्त ले आना—यही जीवात्मामें परमात्म-दर्शनरूप होम है, यही 'ॐकार-क्रिया' कहलाती है। यही ब्रह्मयज्ञ है। इसके द्वारा ग्रन्थि खुल जाती है। 'त्वं' रूप जीवभाव 'तत्' स्वरूप ब्रह्मभावरूप अग्निमें होम हो जाता है। इसके फलस्वरूप साधक ब्रह्ममय हो जाते हैं। इस साधनका उपाय गुरुमुखसे जाना जाता है ॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अन्वय—अन्ये (दूसरे लोग) संयमाग्निषु (संयमरूपी अग्निमें) श्रोत्रादीनि (श्रोत्रादि) इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) जुह्वति (आहुति देते हैं), अन्ये (दूसरे लोग) शब्दादीन् (शब्दादि) विषयान् (विषयोंको) इन्द्रियाग्निषु (इन्द्रियरूपी अग्निमें) जुह्वति (होम करते हैं) ॥२६॥

श्रीधर—श्रोत्रादीनीति। अन्ये नैष्ठिका ब्रह्मचारिणस्तत्तदिन्द्रियसंयमरूपेष्वग्निषु श्रोत्रादीनि जुह्वति प्रविलापयन्ति, इन्द्रियाणि निरुध्य संयम-प्रधानास्तिष्ठन्तीत्यर्थः। इन्द्रियाण्येवाग्नयः। तेषु शब्दादीनन्ये गृहस्था जुह्वति। विषयभोगसमयेऽप्यनासक्ताः सन्तोऽग्नित्वेन भावितेष्विन्द्रियेषु हविष्ट्वेन भावितान्छब्दादीन् प्रक्षिपन्तीत्यर्थः ॥२६॥

अनुवाद—दूसरे नैष्ठिक ब्रह्मचारी लोग इन्द्रियसंयमरूपी अग्निमें श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंको होम करते हैं, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंको शब्दादि विषयोंसे प्रत्याहृत करके संयमप्रधान जीवन बिताते हैं। दूसरे मुमुक्षु गृहस्थलोग इन्द्रियरूपी अग्निमें शब्दादि विषयोंको आहुति देते हैं। विषयभोगकालमें भी अनासक्त होकर इन्द्रियरूप अग्निमें शब्दादि विषयोंको हविरूपसे प्रक्षेप करते हैं ॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ॐकार-ध्वनि श्रवण।—कोई कोई इन्द्रिय-संयमरूप अग्निमें श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंको होम करते हैं। प्राणायामका अभ्यास करने पर योगीकी इन्द्रियाँ प्रत्याहृत होती हैं। यह प्रत्याहार अन्तमें इतना घना हो जाता है कि उस समय बाह्य शब्दादिका कोई स्पर्श अनुभव नहीं किया जाता। योगदर्शनमें लिखा है—'त्रयमेकत्र संयमः'—किसी बाह्य या आभ्यन्तर विषयका अवलम्बन करके उसमें ही धारणा, ध्यान और समाधि लगानेका नाम संयम है। प्राणायाम करनेके बाद कुछ काल तक मन स्थिर रहता है। अर्थात् मनमें जो सदृश-प्रवाह चलता रहता है, उसका नाम धारणा है। इस धारणाके दृढ़ होते होते जब मन कुछ शान्त होता है, तो उससे एक अच्छा आनन्दानुभव होता है। परन्तु पहले पहल वह वैसा गंभीर या स्थायी नहीं होता। अभ्यास-कौशलके द्वारा 'धारणा' जब कुछ स्वायत्त की जाती है तो मनको अन्तर्मुखी करना सहज हो जाता है, तथा चित्तवृत्ति यदि विजातीय वृत्ति द्वारा विचलित नहीं होती और अपेक्षाकृत कुछ दीर्घकाल तक स्थायी होती है तो उसे 'ध्यान' कहा जाता है। चित्तमें जब विजातीय प्रत्यय नहीं उठते और स्वजातीय प्रत्ययप्रवाह दीर्घकाल तक अविश्रान्त धारामें चलता रहता है तो उसे 'समाधि' कहते हैं। ध्यानको आयत्त करनेके लिए कोई अवलम्बन ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु बाह्य दृश्यादिका अवलम्बन करके जो एकाग्रताका अभ्यास किया जाता है, उसकी अपेक्षा किसी आभ्यन्तरीय वस्तुका अवलम्बन करने पर ध्यान शीघ्र अधिकृत किया जाता है। प्राणायामादिके साधनके द्वारा प्राण-वायुके स्थिर होने पर आभ्यन्तरिक शब्द श्रुतिगोचर होते हैं। यही 'अनाहत' शब्द है। इस शब्दमें मनको लगाये रखने पर उससे चित्तमें जो धारणा-ध्यानरूप संयम होता है, उस अवस्थामें चित्त अनाहत शब्दके साथ मिल जाता है और एकबारगी वृत्तिशून्य हो जाता है। तब उसकी समाधि अवस्था सहज ही उत्पन्न होती है।

इन्द्रियाँ साधारणतः विषयोंको ग्रहण करती हैं, उस समय इन्द्रियरूपी अग्निमें विषयोंकी आहुति तो होती ही है, परन्तु उससे मनकी ज्वाला नहीं मिटती, क्योंकि मन विषयग्रहणके समय विक्षेपयुक्त ही रहता है। और प्राणायामादि साधनके फलःस्वरूप जब 'नाद' प्रकटित होता रहता है अथवा कूटस्थादिमें विचित्र रूपादि दीखते रहते हैं, तब इन्द्रियोंके विषयग्रहणके समान होते हुए भी वह एक अपूर्व व्यापार है। उसमें वस्तुग्रहण तो होता है परन्तु विक्षेप नहीं रहता, और उसका परिणाम भी चमत्कारमय होता है अर्थात् समाधि आसन्न हो जाती है ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अन्वय—अपरे (दूसरे योगी लोग) ज्ञानदीपिते (ज्ञान द्वारा प्रज्वलित) आत्मसंयमयोगाग्नौ (आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें) इन्द्रियकर्माणि (इन्द्रियोंके कर्म) प्राणकर्माणि च (और सारे प्राणकर्मोंको) जुह्वति (हवन कर देते हैं) ॥२७॥

श्रीधर—किञ्च—सर्वाणीति। अपरे ध्याननिष्ठाः। बुद्धीन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां कर्माणि श्रवणदर्शनादीनि। कर्मेन्द्रियाणां वाक्पाण्यादीनां कर्माणि वचनोपादानादीनि च। प्राणानां च दशानां कर्माणि—प्राणस्य बहिर्गमनम्। अपानस्याधोनयनं। व्यानस्य व्यानयनमाकुञ्चन-प्रसारणादि। समानस्याशितपीतादीनां समुन्नयनम्। उदानस्योर्ध्वनयनम्। उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः। कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे। न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः—इत्येवंरूपाणि जुह्वति। क्व? आत्मनि संयमो ध्यानैकाग्र्यम्। स एव योगः। स एवाग्निः तस्मिन्। ज्ञानेन ध्येयविषयेण दीपिते प्रज्वलिते ध्येयं सम्यग् ज्ञात्वा तस्मिन्मनः संयम्य तानि सर्वाणि कर्माण्युपरमयन्तीत्यर्थः ॥२७॥

अनुवाद—दूसरे ध्याननिष्ठ योगी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंके श्रवण दर्शनादि कर्म, वाक्पाणि आदि कर्मेन्द्रियोंके वचनादि कर्म, तथा प्राणादिके दस प्रकारके कर्मोंको ध्यानैकाग्ररूपी योगाग्निमें ज्ञानदीपित करके होम कर देते हैं अर्थात् ध्येय विषयको सम्यक् रूपसे जानकर, उसमें मनका संयम कर सारे इन्द्रियकर्मों और प्राणकर्मोंसे उपरत हो जाते हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण। इनके विषय क्रमशः—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। इनके विषय क्रमसे—वचन, ग्रहण, गमन, त्याग और आनन्द हैं।

प्राणकर्म दस प्रकारके हैं—(१) प्राणवायुका कर्म है बहिर्गमन (२) अपानका कर्म है अधोगमन (३) व्यानका कर्म है आकुञ्चन और प्रसारण (४) समानवायुका कर्म है अशित और पीत द्रव्यका समुन्नयन (५) उदानका कर्म है ऊर्ध्व उन्नयन (६) नागका कर्म है उद्गार (७) कूर्मका कर्म है उन्मीलन (८) कृकरका फुफकार (९) देवदत्तका कर्म है जृम्भण तथा (१०) धनञ्जयका कर्म है सारे शरीरके संस्थानका संरक्षण। इसी कारण जीवके मर जाने पर भी धनञ्जय वायु शरीरका त्याग नहीं करती ॥ २७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सारे इन्द्रियकर्मोंकी अपेक्षा अर्थात् कूटस्थमें दृष्टि रखनेकी अपेक्षा भी क्रिया करना श्रेष्ठ है।—संयम दो प्रकारका होता है—इन्द्रियसंयम और आत्मसंयम। पूर्व श्लोकमें कहे अनुसार साधनविशेषके द्वारा इन्द्रियाँ संयत होती हैं; परन्तु वह संयम किसी वस्तुको अवलम्बन करके किया जाता है, जैसे अनाहत शब्दका श्रवण या कूटस्थ-ज्योतिका दर्शन इत्यादि। इससे भी चित्त खूब निरुद्ध होता है, परन्तु वह स्थायी नहीं होता। तात्कालिक क्रियाविशेषके द्वारा ज्योति या शब्द जब तक प्रकाशित रहता है, तब तक ही मन स्थिर रहता है। वह भी पूर्ण रूपसे स्थिर नहीं होता क्योंकि उस स्थिरतामें भी एक प्रकारका उद्वेग रहता है। परन्तु प्राणायामादिका अभ्यास दीर्घकाल तक करते रहने पर जब क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है, उसे ही आत्मसंयमरूपी अग्नि कहते हैं, उसमें अन्तरिन्द्रिय मन, बाह्य ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा पञ्च प्राणोंकी समस्त क्रिया निरुद्ध हो जाती है। सम्यक् निरुद्ध होने पर ही ज्ञानदीपित होता है अर्थात् 'सर्वं ब्रह्ममयं

जगत्' हो जाता है। इस अवस्थाके प्रकाशित होने पर विक्षेप लेशमात्र भी नहीं रहता, और इस अवस्थाके परिपक होने पर विषयवासना समूल नष्ट हो जाती है। पूर्व श्लोकमें कथित संयमाग्निमें मन कुछ क्षणके लिए निरुद्ध तो होता है, परन्तु उसकी मननक्रिया एकबारगी नष्ट नहीं होती, क्योंकि दर्शन और श्रवणका अनुभव इसमें बना रहता है। किन्तु क्रियाकी परावस्थामें जो संयम होता है, उस संयम रूपी अग्निमें इन्द्रियकर्मके साथ समस्त प्राण-कर्म निरुद्ध हो जाते हैं; और वह अवस्था सर्वदा न रहने पर भी, क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें जो नशा होता है, उसमें जगत्को देखने पर भी मन उस जगत्में फिर जमकर नहीं बैठता। क्योंकि उसे अमृतका अनुभव हो जाता है, वह सत्यके स्वरूपको देखता रहता है, अतएव उसका चित्त मृत वस्तुके लिए या असत्यके लिए क्यों व्याकुल होगा ? भगवान्ने जो आशोच्य वस्तुके लिए शोक करनेका निषेध किया है, वह इसी अवस्थामें समझमें आ सकता है। बहुतसे पण्डितोंने लयपूर्वक समाधि तथा बाधपूर्वक समाधिके विषयमें गड़बड़ी पैदा की है। सामान्य वस्तु या सूक्ष्म वस्तुमें जो चित्तकी एकाग्रता है या मनका लय है, उसे लयपूर्वक समाधि कहते हैं; किसी आश्रयको लेकर इसका साधन करना पड़ता है। इस समाधिके भङ्ग होने पर फिर विषय भासित होने लगते हैं। इसका अर्थ यह है कि उस समय भी सत्य या आत्माका ठीक पता नहीं मिलता है, समुद्रमें साधक गोता तो लगाता है, परन्तु अतल तलमें जाकर अमूल्य निधिका संग्रह नहीं कर पाता। उस समय भी मन विषयको ही प्राप्त कर निमज्जितरहता है। निश्चय ही वह विषय अपेक्षाकृत सूक्ष्म होता है—बस इतना ही मात्र। इस प्रकार सूक्ष्म विषयमें मनको एकाग्र कर बहुतसे लोग नाना प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं; परन्तु उससे विषयोंमें वैराग्य नहीं होता। विषयोंमें वैराग्य न होनेसे वह भी एक प्रकारका बन्धन ही लाता है। परन्तु क्रिया करके क्रियाकी परावस्थाको घनीभूत बनाने पर उसमें जो संयम या समाधि होती है, उसमें इन्द्रिय, प्राण और मन सभी निःशेष लीन हो जाते हैं—तथा उससे जो प्रज्ञा उदित होती है उसमें विषय-सम्पर्क लेशमात्र भी नहीं रहता। विषय-सम्पर्कहीन परमानन्दके उदय होने पर जीव जिस कल्याणतम अवस्थाको प्राप्त करता है, वही काष्ठा है और वही परा गति है। इस अवस्थाको प्राप्तकर फिर साधक और कुछ प्राप्त करना नहीं चाहता। यही आत्मभाव है। स्थूल देहाभिमानी या जाग्रतावस्थाका चैतन्य, प्रणवकी 'अ' मात्रामें या वैश्वानर पुरुषमें लीन होता है, तथा सूक्ष्मदेहाभिमानी या स्वप्नावस्थाका चैतन्य, प्रणवकी 'उ' मात्रामें या तैजस पुरुषमें लीन होता है। और सुषुप्ताभिमानी या कारणदेहाभिमानी चैतन्य प्रणवकी 'म' मात्रामें या प्राज्ञपुरुषमें लीन हो जाता है। यह मायोपहित चैतन्य, ही प्राज्ञ या अन्तर्यामी है। इस प्रणवकी 'म' मात्राका अन्त ही अर्द्धमात्रा है, प्राज्ञ इस अर्द्धमात्रा या अव्याकृत चैतन्यमें लीन हो जाता है। वह माया जब तुरीय ब्रह्ममें लय हो जाती है तब ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रहते हैं। तब इस ब्रह्मचैतन्यमें जीवचैतन्य या प्रत्यक्चेतन सदाके लिए समाहित हो जाता है, अतएव देहेन्द्रियादिमें फिर कभी

आत्मभ्रम नहीं होता। क्रियाकी परावस्था सम्यक् परिस्फुटित होने पर यह अवस्था प्राप्त होती है। जो स्वयं तत्स्वरूप हो गया है और उनको जान लिया है, उसका अविद्याबीज दग्ध हो जाता है। जब ब्रह्मात्मैक्यबोध हो जाता है तो वह बोध कभी नष्ट नहीं होता। उस अवस्थामें नामरूपमय जगत्का कोई चिह्न भी नहीं रह जाता। जिनकी केवल महावाक्य-विचारके द्वारा ही यह अवस्था संभव होती है उनको इस विषयमें पूर्वजन्मकी अभिज्ञता है, यह जानना चाहिए। क्योंकि मौखिक या मनके द्वारा होनेवाले विचार केवल मनःक्रीड़ा मात्र हैं। उनसे यदि कुछ समय के लिए बुद्धि स्थिर हो भी जाय तो वह चिरस्थायी न होगी। अतएव ज्ञानाग्नि जलकर भी बुझ जाती है। परन्तु जो क्रियाकी परावस्था प्राप्तकर उसमें विचरण करते हैं, उनका चरना अर्थात् विषयादिमें गमन करना समाप्त हो जाता है। इस प्रकारकी अवस्था मौखिक वाक्य, तर्क या विचारके द्वारा नहीं प्राप्त हो सकती। जो इसको प्राप्त करता है वह क्रियाके द्वारा, क्रियाकी परावस्थामें सम्यक् स्थित होकर ही प्राप्त करता है—अन्य किसी उपायसे नहीं होता ॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अन्वय—तथा अपरे (कोई कोई व्यक्ति) द्रव्ययज्ञाः (द्रव्ययज्ञ-परायण) तपोयज्ञाः (कोई कोई तपस्यारूपी यज्ञमें लीन) योगयज्ञाः (कोई कोई योगयज्ञ-परायण) स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च (कोई कोई वेदाभ्यास और ज्ञानयज्ञपरायण) संशितव्रताः यतयः च (कोई कोई प्रयत्नशील पुरुष अनेक नियम पालनरूपी दृढ़व्रत-रूपी यज्ञ किया करते हैं) ॥२८॥

श्रीधर—किञ्च—द्रव्ययज्ञा इत्यादि। द्रव्यदानमेव यज्ञो येषां ते द्रव्ययज्ञाः। कृच्छ्रचान्द्रायणादितप एव यज्ञो येषां ते तपोयज्ञाः। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणः समाधिः। स एव यज्ञो येषां ते योगयज्ञाः। स्वाध्यायेन वेदेन श्रवणमननादिना यत्तदर्थज्ञानं तदेव यज्ञो येषां ते स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः। यद्वा वेदपाठयज्ञास्तदर्थज्ञानयज्ञाश्चेति द्विविधा यतयः प्रयत्नशीलाः। सम्यक् शितं निशितं तीक्ष्णीकृतं व्रतं येषां ते ॥२८॥

अनुवाद—द्रव्यदान जिनका यज्ञ है ऐसे यज्ञ करनेवाले, कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपस्या रूप यज्ञ करनेवाले, चित्तवृत्तिनिरोधलक्षण समाधि-यज्ञकारी तथा कोई कोई वेद पाठ रूप यज्ञ करनेवाले, कोई कोई श्रवणमननादिके द्वारा वेदोंके अर्थज्ञानरूप यज्ञके अनुष्ठाता हैं—ये सभी प्रयत्नशील और तीक्ष्णव्रतपरायण हैं। [श्रौत विधा-नोक्त विविध दानोंका नाम द्रव्ययज्ञ है। कृच्छ्रचान्द्रायणादि उपवासके द्वारा और भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदिके सहनका नाम तपोयज्ञ है। चित्तवृत्तिनिरोधरूप अष्टाङ्ग योगसाधनका नाम योगयज्ञ है। गुरुकी सेवा करते हुए श्रद्धाके साथ ऋग्वेद आदिके अभ्यासका नाम स्वाध्याययज्ञ है। वेदार्थका निश्चय करनेका नाम ज्ञानयज्ञ है। संशितव्रतयज्ञ अर्थात् दृढ़व्रतयज्ञ—जिसमें किसी नियममें कुछ भी त्रुटि नहीं

होती। भगवान् पतञ्जलिने इसे सार्वभौम महाव्रत कहा है। अहिंसा आदि यम-साधन जब जाति, देश, काल और प्रयोजनके द्वारा परिच्छिन्न नहीं होता तो वह सार्वभौम महाव्रत हो जाता है। बहुतसे विषय पापरूपमें गण्य होने पर भी शास्त्र-विधिके अनुसार कभी कभी करणीय बन जाते हैं। जैसे, आपत्कालमें भूखसे जब प्राण खोनेकी नौबत आ जाती है तब चोरी करके प्राणरक्षा करना भी अशास्त्रीय कार्य नहीं होता, परन्तु जो संशितव्रत हैं वे ऐसी अवस्थामें भी यमनियमादिका अनुष्ठान पूर्णभावसे ही करते रहते हैं।] ॥२८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—विल्वपत्रसे होम करनेकी अपेक्षा कूटस्थमें देखना अच्छा है, तत्पश्चात् क्रियाकी परावस्था अच्छी है— जहाँ कुछ भी नहीं रहता।—प्रज्वलित होमाग्निमें घृतयुक्त विल्वपत्रादि निक्षेप करना तथा द्रव्यदानादि करना भी यज्ञ है, इसके करनेसे भी पुण्य होता है, परन्तु उपकरण-यज्ञकी अपेक्षा जो लोग कूटस्थमें नाना प्रकारके रूप देखते हैं वे और भी अच्छे हैं। जो तपोलोकमें या आज्ञाचक्रमें रहते हैं वे उनकी अपेक्षा भी अच्छे हैं, जो नाना प्रकारके नाद आदि अश्रुत विषयोंको श्रवण करते हैं उनकी भी अवस्था अच्छी है, जो वेदोंके अर्थज्ञान अर्थात् तत्त्वालोचनमें लगे रहते हैं, समस्त चक्रोंके बारेमें आलोचना करते हैं, और तत्तत् स्थानोंमें जो शक्तियाँ हैं, उन सब शक्तियोंके सम्बन्धमें सम्यक् परिचय प्राप्त करते हैं—वे सभी अच्छे हैं, परन्तु क्रियाकी परावस्था सर्वापेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि इस अवस्थाके साथ और किसी अवस्थाकी तुलना नहीं हो सकती—उसमें ब्रह्मसे स्तम्ब पर्यन्त सब एकाकार हो जाता है, मैं या मेरा नहीं रह जाता। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए तीक्ष्णव्रत-परायण और प्रयत्नशील होना पड़ता है ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥२९॥

अन्वय—अपरे (दूसरे कोई कोई) नियताहाराः (परिमिताहारी होकर) अपाने प्राणं (अपानवायुमें प्राणको) प्राणे अपानं (प्राणवायुमें अपानको) जुह्वति (होम करते हैं) तथा अपरे (इसी प्रकार दूसरे लोग) प्राणायामपरायणाः (प्राणायामपरायण होकर) प्राणापानगती रुद्ध्वा (प्राण और अपानकी गतिका रोध करके) प्राणान् (सारी प्राणवायुको) प्राणेषु (प्राणमें) जुह्वति (होम करते हैं) ॥२९॥

श्रीधर—किञ्च—अपान इति। अपानेऽधोवृत्तौ प्राणमूर्ध्ववृत्तिं पूरकेण जुह्वति। पूरककाले प्राणमपानेनैकीकुर्वन्ति। तथा कुम्भकेन प्राणापानयोरूर्ध्वाधोगती रुद्ध्वा रेचक-काले अपानं प्राणे जुह्वति। एवं पूरककुम्भकरेचकैः प्राणायामपरायणा अपर इत्यर्थः। किञ्च—अपर इति। अपरे त्वाहारसङ्कोचमभ्यस्यन्तः स्वयमेव जीर्यमाणेष्विन्द्रियेषु तत्तदिन्द्रिय-वृत्तिविलयं होमं भावयन्तीत्यर्थः। यद्वा—अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापर इत्यनेन

पूरकरेचकयोरावर्त्यमानयोर्हंसः सोऽहमित्यनुलोमतः प्रतिलोमतश्चाभिव्यज्यमानेनाजपामन्त्रेण तत्त्वंपदार्थैक्यं व्यतीहारेण भावयन्तीत्यर्थः। तदुक्तं योगशास्त्रे—

सकारेण बहिर्याति हंकारेण विशेत्पुनः।
प्राणस्तत्र स एवाहं हंस इत्यनुचिन्तयेत्॥ इति॥

प्राणापानगतीरुद्ध्वेत्यनेन तु श्लोकेन प्राणायामयज्ञा अपरैः कथ्यन्ते। तत्रायमर्थः—द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्जलेनैकं प्रपूरयेत्।

मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्॥ इति॥

एवमादिवचनोक्तो नियत आहारो येषां ते। कुम्भकेन प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः सन्तः प्राणानिन्द्रियाणि प्राणेषु जुह्वति। कुम्भके हि सर्वे प्राणा एकीभवन्तीति तत्रैव लीयमानेष्विन्द्रियेषु होमं भावयन्तीत्यर्थः। तदुक्तं योगशास्त्रे—यथा यथा सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत्। वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा। इति॥ २९॥

अनुवाद—इस प्रकार (क) अधोवृत्तिवाली अपानवायुमें ऊर्ध्ववृत्तिवाली प्राणवायुको पूरकके द्वारा आहुति देते हैं अर्थात् पूरककालमें प्राण और अपानको एक करते हैं। (ख) कुम्भकके द्वारा प्राण और अपानकी ऊर्ध्व और अधोगतिको रोध करके रेचकके समय अपानवायुको प्राणमें होम करते हैं। इस प्रकार पूरक, रेचक और कुम्भकके द्वारा प्राणायाम-परायण होते हैं। परन्तु कोई आहार-संयमका अभ्यास करके जीर्णमान इन्द्रियोंमें उन उन प्राणोंको इन्द्रियवृत्तियोंका लयरूप होम करते हैं। अथवा "अपाने जुह्वति—तथापरे" इससे पूरक और रेचक इस द्विविध श्वासके आवर्तनमें 'हंसः और सोहं' इस प्रकारके अनुलोम और प्रतिलोमरूपमें प्रकाशमान अजपामन्त्र द्वारा महावाक्योक्त 'तत्' और 'त्वं' पदोंके अर्थानुसार ब्रह्म और जीवके ऐक्य—पर्यायक्रमसे 'ब्रह्म मैं हूँ' तथा "मैं ब्रह्म हूँ"—इस प्रकारका चिन्तन करते हैं। योगशास्त्रमें लिखा है—कि श्वास जब बाहर जाता है, तब 'स-कार' और जब भीतर प्रवेश करता है तब 'हं'-कार—इस प्रकार जाने-आनेमें एक बार 'सोऽहं' एक बार 'हंसः'—इस तरह चिन्तन करते हैं। योगशास्त्रके उपदेशसे उदरके दो भाग अन्नसे, एक भाग जलसे पूरा करके वायुके प्रवेशके लिए एक भाग खाली रखना चाहिए, इस प्रकार मिताहारी होकर वे कुम्भक द्वारा प्राण और अपानकी गतिको अवरुद्ध कर इन्द्रियोंको प्राणवायुमें होम करते हैं। कुम्भकमें सब प्राण एकीभूत हो जाते हैं, उसमें लयको प्राप्त होनेवाली इन्द्रियोंके होमका चिन्तन करते हैं। योगशास्त्रमें लिखा है—निरन्तर अभ्यासवश मन जैसे जैसे स्थिर होता है, वायु, वाणी, शरीर तथा दृष्टिकी भी तदनुरूप स्थिरता होती है॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—प्रच्छर्दन और विधारण—ॐकारकी क्रिया—प्राणके द्वारा प्राणकी आहुति, ठोकरकी क्रिया।—क्रियाके द्वारा चित्तका निरोध होने पर क्रियाकी परावस्था उदित होती है। क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त करनाही क्रिया करनेका मुख्य उद्देश्य है। इस श्लोकमें भगवान्ने इस क्रियाका ही उपदेश दिया है। क्योंकि साधनाके

समस्त अङ्ग प्राणायाम और कुम्भकके ऊपर निर्भर करते हैं, तथा कुम्भक भी प्राणायाम की सहायतासे ही होता है, अतएव प्राणायाम ही योगक्रियाका मुख्य अङ्ग है। प्राणायाम कैसे भगवत्साक्षात्कारका प्रधान उपाय है, इस विषयमें यहाँ कुछ आलोचना की जाती है। परमात्मा या परब्रह्म निर्गुण हैं, मन-वाणीसे अगोचर हैं, वहाँ नानात्व नहीं है। ब्रह्मकी षोड़शकलाओंमें केवल एक कला व्यक्त है, शेष सब अव्यक्त हैं। यह व्यक्त अंश ही त्रिगुणमयी प्रकृति है। प्रकृतिसे त्रिगुण और त्रिगुणसे यह संसार और शरीर है। यही ब्रह्मकी सृष्टि-इच्छा या उनके नाना होनेकी वासना है। त्रिगुणही इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके भीतरसे प्राणवायुरूपमें प्रवाहित होकर संसारलीलाका सम्पादन कर रहे हैं। इससेही सूक्ष्म प्राणशक्ति या अव्याकृत प्रकृतिका सन्धान प्राप्त होता है। उस प्रकृति या प्राणशक्तिसे ही यह त्रिगुणात्मक जगत् बारम्बार उत्पन्न और लय होता है। इसीसे श्रुति गाती है—'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि'। प्राणके बहिर्विचरणके कारणही जीवकी संसारवासना समुद्भूत होती है। यह संसार-वासना जब तक नष्ट नहीं होती, तब तक किसीको ज्ञान उत्पन्न नहीं होता या ईश्वरका दर्शन नहीं होता। मनकी विषय-ग्रहण करनेकी स्पृहाही जीवकी संसारवासना या अज्ञान है। यह अज्ञान, अविद्या जब तक नष्ट नहीं होती, जीवकी विषयस्पृहाका ह्रास संभव नहीं। विषयस्पृहा कम न होनेसे मन चतुर्दिक् उत्क्षिप्त होकर भ्रमण करता है, उस समय फिर भगवत्स्मरण कैसे हो सकता है? कबीर कहते हैं—

माला तो करमें फिरे जीभ फिरे मुख माँहि।
मनुवा तो चहुँदिसि फिरे यह तो सुमिरन नाँहि॥

जो सारे अज्ञानका मूल है, जो भगवत्स्मरणका घोर अन्तराय है, इस प्रकारके चंचल मनको कैसे स्थिर कर सकते हैं? शास्त्र कहते हैं कि प्राणके अवरुद्ध होने पर मनका अवरोध हो जायगा, अतएव सबसे पहले प्राणायामके अभ्यासके द्वारा प्राणको अवरुद्ध करो। जो लोग नितान्त मूढ़ हैं वे ही प्राणायामकी साधनाकी उपेक्षा करते हैं। परन्तु शास्त्रने प्रत्येक जप, पूजा, मानस पूजा और ध्यानके पूर्व प्राणायाम करनेका आदेश दिया है। यद्यपि इसकी साधना विशेष सहज नहीं है तथापि यह उपेक्षाकी वस्तु भी नहीं है। योगदर्शनमें यह श्रुतिवाक्य उद्धृत है—'तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति'—प्राणायामसे श्रेष्ठ तपस्या और कोई नहीं है, इससे सारे मल विशुद्ध होते हैं और ज्ञानका प्रकाश होता है। जब तक यह ज्ञान उदित नहीं होता, भगवत्साक्षात्कारकी प्राप्ति नहीं होती और यह जीवन व्यर्थ चला जाता है। जो तपस्वी नहीं हैं उनका देहमल और मनोमल दूर नहीं होता, इस लिए प्राणायामरूपी तपस्याका साधन सबको करना चाहिए। योगदर्शनमें लिखा है—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'—प्राणायामके द्वारा ही प्रकाश अर्थात् ज्ञानके आवरण, अविद्यादि पंचक्लेशोंके क्षीण होने पर चित्त अप्रसवधर्मा होता है। वासनाकी तरङ्गें चित्तको उत्क्षिप्त करती हैं जिससे स्वरूपदर्शन असंभव हो जाता है। मनकी नाना वासनाएँ जीवको

क्षण क्षण नरक-यन्त्रणासे व्यथित करती हैं। एकमात्र प्राणायाम-साधनाही इस नरकसे जीवको त्राण दे सकती है। योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

प्राणायामादृते नान्यत् तारकं नरकादिव।
संसारार्णवमग्नानां तारकं प्राणसंयमः॥

अब प्राणशक्ति क्या है, इस सम्बन्धमें कुछ कहता हूँ। बाहरकी वायु जिसे प्राणादि पंचवायु कहते हैं, ये ही उस मुख्य प्राणशक्तिकी तरङ्ग-लहरी हैं। यही वायुरूपमें इस देह-मनको संजीवित बनाये रखती है। योगी लोग इस मुख्य प्राण-शक्तिको ही कुलकुण्डलिनी कहते हैं। यही सब जीवोंका जीवन है। जड़ और चेतन सबको इसी परमा शक्तिने धारण कर रक्खा है। इस कुण्डलिनीकी शक्ति पैरके अङ्गुष्ठ से केशाग्र पर्यन्त फैली रहती है, यह सभी अनुभव करते हैं। क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका अनुभव इसीके द्वारा सम्पन्न होता है। मेरुमध्यसे इसकी शक्ति समुद्भूत होकर देहमें सर्वत्र संप्रसारित होती है। गुह्यदेशसे उठकर भ्रूमध्यको मण्डलाकार वेष्टित करके दक्षिण और वाम सन्धिओंको स्पर्श करते हुए पुनः मूला-धारमें आकर मिल जाती है। यह बहुत कुछ धनुषके आकारके समान होती है। प्राणकी सारी शक्तियाँ सम्मिलित होकर गुह्यदेशमें मानो पिण्डाकारमें प्रसुप्त रहती हैं। यही बाह्य वायुको स्पन्दित करके (इस स्पन्दनके ही फल हैं प्राणापानादि पञ्च प्राण या ४९ वायु) मनमें नाना प्रकारकी इच्छाशक्तिको स्फुरित करती है। कुलकुण्डलिनी प्राणवायुको उर्ध्व उत्तोलन और अपान वायुको निम्न निमज्जन करके क्रुद्ध भुजङ्गिनीके समान अनवरत श्वास-प्रश्वासका त्याग कर रही है। इससे ही हमारी प्राणक्रिया या जीवन-प्रवाह उर्ध्व और अधोमुख अविश्रान्त धारामें प्रवाहित होता है। हमारे सारे अनुभव और ज्ञानका यही मूल है। चित्शक्तिको ही यद्यपि संविद्स्वरूप कहते हैं, परन्तु कुलकुण्डलिनी ही इसका मूल बीज है।

पिण्डं कुण्डलिनीशक्तिः पदं हंसमुदाहृतम्।
रूपं विन्दुरिति ज्ञेयं रूपातीतं निरञ्जनम्॥

कुण्डलिनी-शक्तिको ही पिण्ड कहते हैं। मेरुमध्यस्थ मूलाधारमें यह शक्ति प्रसुप्ताकारमें विराजित रहती है। शरीरके समस्त अवयव इसकीही शक्तिसे स्थिर रहते हैं। यह शक्ति हृदयमें आने पर स्थितिपदको प्राप्त करती है, और सूक्ष्म मृणाल-तन्तुके समान हृदयमें गमनागमन करती है। इस स्थितिपदका नामही हंस है। वह जब भ्रूमध्यमें जाती है और 'विन्दु' रूपमें दीख पड़ती है तो उसका नाम और रूप होता है। यही विन्दु प्रकाशकी दिशामें आदि रूप या कूटस्थ है। समस्त ब्रह्माण्डका नाम-रूप इस कूटस्थसे ही होता है। परन्तु ब्रह्म है 'रूपातीतं निरञ्जनम्'। प्राणायामादि योगसाधनके द्वारा जो परमा स्थिति या क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है—वही यह रूपातीत निरञ्जन है।

"यस्यावलोकनादेव सर्वसङ्गविवर्जितः।
एकान्तनिस्पृहः शान्तस्तत्क्षणाद्भवति प्रिये॥"

परब्रह्मके साक्षात्कारसे सब प्रकारकी आसक्तिसे छुटकारा मिल जाता है। तब 'सर्व' एकके भीतर प्रविष्ट हो जाता है। इस अवस्थामें जीव वस्तुतः अत्यन्त निस्पृह और शान्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

यह प्राण जब अजस्र नाड़ियोंमें प्रवेश कर शरीरमें सञ्चरण करता है तभी जीव बाह्य कर्मोंकी चेष्टामें लगता है, इन्द्रियाँ बाह्य विषयोंकी खोज करती हैं, तथा सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि विविध मनोवृत्तियाँ सञ्जीवित होती हैं और साथ साथ श्वास-प्रश्वासका प्रवाह चलता है। यही है संसार-पथ या मृत्युपथ। इससे ही—

देहे हय आत्मबुद्धि, प्राणेर कम्पन बाड़े।
चैतन्य डुबिया जाय, जड़ देह अन्धकारे।
मन हय चञ्चल बुद्धिते नानात्व भासे।
हृत्पिण्ड धुकुधुकु श्वासेते चाञ्चल्य आसे॥
वासनार बेग बाड़े चित् जड़बत् भासे।
पिछनेते मायानटी मुचकि मुचकि हासे। (आत्मानुसन्धान)

अर्थात् देहमें आत्मबुद्धि होती है, प्राणका कम्पन बढ़ता है, चैतन्य जड़देहके अन्धकारमें डूब जाता है। मन चञ्चल हो उठता है और बुद्धिमें नानात्व आभासित होने लगता है, हृत्पिण्ड धुक् धुक् करता है और श्वासमें चञ्चलता आती है, वासनाका वेग बढ़ता है, और चित् जड़वत् जान पड़ता है। और पीछेसे मायारूपी नटी मुस्करा मुस्करा कर हँसती है।

इसके विपरीत अभ्यास ही मृत्युसे त्राण पानेका उपाय है, वही विद्या या अमृतका मार्ग है—

प्राणेर चाञ्चल्ये तव बुद्धि हय विकम्पित।
ताहाते नानात्व देख, ताते हओ चमकित॥
प्राणेर कम्पन रोधि मनःस्थिर हबे जेई।
मनःस्थिरे बुद्धि स्थिर शान्तिर उपाय सेई॥
स्थिरतार मध्ये देख गम्भीर से चिदाकाश।
विवेकख्यातिर तथा समुज्ज्वल कि प्रकाश!
सूर्येन्दु अग्निर तथा प्रकाश किछुई नाइ।
'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' फुटेछे जे दिके चाई॥
हृदयगुहार माझे निर्मल जोछना भरा।
असीम आकाश राजे अनन्त शान्तिते पोरा॥
असीम कालेर बक्षे सेई स्थिराकाश जागे।
सेई आतमा; सिद्ध, ऋषि ताँहारइ दरश मागे॥ (आत्मानुसन्धान)

प्राणकी चञ्चलताके कारण तुम्हारी बुद्धि विकम्पित हो रही है, उसमें नानात्व देखकर तुम चकित हो रहे हो। जब प्राणका कम्पन रोककर मनको स्थिर करोगे तब मन स्थिर होनेसे बुद्धि स्थिर हो जायगी, शान्तिका उपाय भी यही है। स्थिरतामें

ही वह गम्भीर चिदाकाश दीख पड़ता है, यह 'विवेकख्याति'का क्या ही उज्ज्वल प्रकाश है ! उस प्रकाशके सामने सूर्य, चन्द्र और अग्निका प्रकाश फीका पड़ जाता है। जिस ओर दृष्टिपात करता हूँ वहीं 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' फूटी पड़ती है। हृदयगुहाके भीतर निर्मल ज्योत्स्ना भरी है, और अनन्त शान्तिसे पूर्ण असीम आकाश विराजमान है। असीम कालके वक्षःस्थल पर वही स्थिराकाश जागता है, वही आत्मा है। उसीका दर्शन करनेकी इच्छा सिद्ध पुरुष तथा ऋषि-मुनि लोग करते हैं।

महाकाल देहरूपी घटमें स्थित होकर सचञ्चल हो रहे हैं, वही फिर काल या मृत्युरूप धारण करके जीवको विभीषिका दिखलाते हैं। इस काल या मृत्यु (अज्ञान) पर विजय प्राप्त करनेके लिए उस प्राण-प्रवाहिनी अविद्यारूपिणी श्वास-क्रियाकी ही शरण लेनी पड़ेगी। यही है अविद्याकी सहायतासे मृत्युलोकको जय करना। मृत्युलोकको जीतने अर्थात् श्वासके स्थिर होने पर ही ज्ञान प्रकाशित होगा। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।" इस महाविद्या-साधनाका पीठस्थान ही है मेरुमध्यगत सुषुम्ना नाड़ी। प्राणवायु जब सुषुम्नामें प्रवेश करती है, तभी यथार्थ विद्याकी उपासना होती है। यही अमृत-लाभका मार्ग है।

मारुते मध्यसञ्चारे मनस्थैर्यं प्रजायते।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी॥

इस 'उन्मनी' अवस्थाको प्राप्तकर साधक परमा सिद्धिको प्राप्त होता है। आत्माके साथ मिला हुआ मुख्य प्राण ही महामहेश्वरी-भाव है। "सैषा सर्वेश्वरी देवी सर्वभूतप्रवर्त्तका। प्रोच्यते भगवान् कालो हरः प्राणो महेश्वरः॥"

इसीलिए प्राणकी साधना ही सर्व्वोच्च ब्रह्मसाधना है। इस साधनाको प्राचीन कालमें समस्त ऋषि-मुनि लोग करते थे। विशेषतः जिस प्राणकी स्थिरताके अभावमें अध्यात्म-राज्यका कपाट बन्द रहता है, उस प्राणकी साधनाके बिना किस प्रकार हम आत्मदेवके मन्दिरमें प्रवेश प्राप्त कर सकेंगे?

बाह्य प्राणको निग्रह किये बिना स्थिर प्राण या मुख्य प्राणका कोई सन्धान नहीं पा सकता। प्राणके क्षीण होने पर तथा तज्जनित मनके लय होने पर जिस समरस भावका उदय होता है उसीका नाम है समाधि। योगशास्त्रमें लिखा है—

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते॥

इन्द्रियनिग्रहके बिना इस समरस या समाधिका उदय ही नहीं हो सकता। इसीलिए भगवान्ने बतलाया है कि इन्द्रिय-विजय ही प्रज्ञाप्रतिष्ठित पुरुषका लक्षण है। 'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'। इन्द्रियाँ जिसकी वशीभूत हैं उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

प्राणके निग्रहके द्वारा इन्द्रियादिके दोष उसी प्रकार नष्ट होते हैं, जिस प्रकार धातुओंके मल अग्निके द्वारा ही भस्मीभूत होते हैं। मनुने कहा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

आदित्यपुराणमें लिखा है—"योगात् संजायते ज्ञानम्"—योगाभ्यासके द्वारा ही ज्ञान उत्पन्न होता है। योगबीजमें लिखा है—

ज्ञाननिष्ठोविरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मुक्तिं लभते प्रिये॥

ज्ञाननिष्ठ, विरक्तपुरुष, धर्मज्ञ और जितेन्द्रिय होने पर भी यदि योगाभ्यास नहीं करता तो वह देवता भी हो तो मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकेगा। भागवतमें लिखा है कि तपस्या, मन्त्र आदिसे जो सिद्धि होती है वह सभी योगके द्वारा प्राप्त होती है—

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः।
योगेनाप्नोति ताः सर्वाः प्राणैर्योगगतिं व्रजेत्॥

योगलाभ करनेके लिए श्वास पर विजय प्राप्त करना होगा, यह एक स्वरसे सभी शास्त्रोंने उपदेश दिया है। श्वास पर विजय प्राप्त करनेके सिवा मनको स्थिर करनेका दूसरा उपाय नहीं है। और यह विजय प्राणायाम-साधनाके बिना नहीं होता। प्राणायामके बिना प्राणवायु सुषुम्नागत नहीं होती। प्राणायामका अर्थ ही यही है—'प्राणो वायुरिति ख्यातः आयामञ्च निरोधनम्'। प्राणवायुके निरोधको ही प्राणायाम कहते हैं। योगसूत्रमें लिखा है—'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः'—श्वास-प्रश्वासके गतिविच्छेदको ही प्राणायाम कहते हैं। श्वास निकलकर भीतर प्रवेश न करे, अथवा भीतर प्रवेश करके बाहर न निकले। यह कुम्भककी अवस्था ही यथार्थ हवन-क्रिया है। वास्तविक होम इसके द्वारा ही होता है—

न होमं होम इत्याहुः समाधौ तत्तु भूयते।
ब्रह्माग्नौ हूयते प्राणं होमकर्म तदुच्यते॥ (ज्ञानसङ्कलिनी)

भागवतमें लिखा है—"जितश्वासस्य योगिनः"। बोधसार ग्रन्थमें लिखा है—

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः।
प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न सम्भवम्॥

हमारी मन-बुद्धि नाना विषयोंके चिन्तनमें लगी रहती है, उनका भी असली नियन्ता यह प्राण ही है। प्राण-क्रियाके न चलने पर कोई भी इन्द्रिय विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होती। श्वास-प्रश्वासकी बाह्यगतिके द्वारा (अर्थात् इड़ापिङ्गला-वाहिनी प्राणके द्वारा) जिस प्रकार विशाल विश्वका विराट् व्यापार चल रहा है, उसी प्रकार प्राण सुषुम्नावाहिनी न हो तो किसीको ब्रह्मज्ञान या भगवत्तत्त्वविज्ञान बोधका विषय नहीं बनेगा। इसलिए त्रिताप-सन्तप्त जीवका प्रधान कर्त्तव्य और धर्म है आत्मबोधको जाग्रत करना, नहीं तो त्रिताप-ज्वालाकी उपशान्ति न होगी। इस आत्मबोधका जाग्रत होना तो तभी संभव होगा जब,

विधिवत् प्राणसंयामैर्नाड़ीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः॥

विधिवत् प्राणसंयमके द्वारा नाड़ीचक्रके विशोधित होने पर ही सुषुम्नाका मुख भेद करके प्राणवायु उसके भीतर प्रवेश करती है। सुषुम्नामें प्राण-प्रवेशका फल—

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित्॥

प्राणके सुषुम्नावाहिनी होने पर मन भी शून्यमें प्रवेश करता है, तब योगीके समस्त कर्म उन्मूलित हो जाते हैं, अर्थात् योगी किसी कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता।

जब तक प्राण जीवित (अर्थात् चञ्चल) है और मन मृत (अर्थात् स्थिर) नहीं होता, तब तक मनमें यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती—

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत्।
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत्॥

इस प्रकार ज्ञानका प्रकाश हुए बिना हम जो पुस्तकें पढ़कर ज्ञानकी आलोचना करते हैं उससे कोई विशेष लाभ नहीं होता, इस बातका उल्लेख बाबा गोरखनाथने अति तीव्र भाषामें किया है—

यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात्।
यावद् ध्यानं सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः॥

जब तक प्राणवायु मध्यमार्ग—सुषुम्नामें प्रवेश नहीं करती और प्राणवायुके अवरोधके साथ जब तक विन्दु दृढ़ नहीं होता, तथा ध्यानके द्वारा जब तक तत्त्व-समूहका साक्षात्कार नहीं होता, तब तक ज्ञानकी बातें करना नितान्त दम्भ और मिथ्या प्रलाप मात्र है। इसी लिए शास्त्र सबको समझाते हुए कहते हैं—

तपस्या तीर्थयात्राद्याः समदानव्रतादयः।
प्राणायामस्य तस्यैव कलां नार्हन्ति षोड़शीम्॥

तपस्या, तीर्थयात्रा, व्रत, दानादि कोई कार्य प्राणायामके सोलह भागोंमेंसे एक भागका भी फल प्रदान नहीं कर सकते।

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते॥

चित्तादि सारे भावोंमें ब्रह्मरूपकी भावना करके सब वृत्तियोंका जो निरोध होता है वह भी प्राणायाम है। परन्तु यह प्राणायाम सबके लिए सुविधाजनक नहीं है।

मानसं वाचिकं पापं कायिकञ्चापि यत्कृतम्।
तत्सर्वं निर्दहेत् शीघ्रं प्राणायामत्रयेण वै॥
तपस्या तीर्थयात्राद्याः समदानव्रतादयः।
प्राणायामस्य तस्यैव कलां नार्हन्ति षोड़शीम्।
प्राणायामपराः सर्वे प्राणायामपरायणाः॥
प्राणायामैर्विशुद्धा ये ते यान्ति परमां गतिम्॥

ज्ञानका वास्तविक आवरण हमारा शास्त्राध्ययन-रहित अज्ञान नहीं है। ज्ञानका वास्तविक आवरण हमारा चञ्चल प्राण और मन है। इसके लिए प्राणायामादिका अभ्यास करना आवश्यक है, क्योंकि योगानुष्ठान करने पर अशुद्धि-क्षय हो जाता है, अशुद्धिके क्षीण होने पर ज्ञानका प्रकाश होता है। योगदर्शनमें लिखा है—

'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'

—साधनपाद।

शास्त्र पढ़कर भी यदि कोई साधनाभ्यास न करे तो उसका ज्ञान परिस्फुट नहीं होता और शास्त्र न जानकर भी यदि कोई साधनाभ्यास करता है, तो उसके चित्तमें ध्याननिष्ठाका उदय हो सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'केवल कुम्भक' चित्तवृत्तिके निरोधके द्वारा ही सिद्ध होता है, इसमें प्राणसंयमकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह मत भ्रान्तिमय है। क्योंकि योगशास्त्रमें लिखा है—"रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्"—रेचक और कुम्भककी सहायता न लेकर सुखसे या सहजही जो प्राणवायुका निरोध होता है, वही केवल कुम्भक है, और वह प्राणायामके द्वारा प्राण-संयम हुए बिना नहीं हो सकता। प्राणायामके द्वारा प्राण स्थिर होने पर जो स्वाभाविक स्थिरता लक्षित होती है उस समय फिर रेचक-पूरकका काम नहीं रहता, यही केवल कुम्भककी अवस्था है।

उपाय-विशेषके द्वारा अपान वायुको मूलाधारसे मस्तक पर्यन्त आकर्षण तथा प्राणवायुको मूलाधार पर्यन्त विसर्जन रूप क्रियाका अभ्यास करते करते प्राण और अपान एकत्र मिलकर मस्तकमें स्थिर हो जाते हैं अर्थात् पूरक और रेचक द्वारा पुनः पुनः आकर्षण और विकर्षण करते करते अनायास ही दोनों वायुकी गति अवरुद्ध हो जाती है, उस समय जो कुम्भक होता है वही 'केवल कुम्भक' है। यही चन्द्रनाड़ी इड़ाके साथ सूर्यनाड़ी पिङ्गलाका मिलन है, उसमें सुषुम्ना भी मिलती है और तीनों एक हो जाती हैं। इस प्रकार गङ्गा, यमुना, सरस्वतीका सङ्गमस्थान—महातीर्थ प्रयागमें परिणत हो जाता है। और अपान बाहरसे आकर नासाभ्यन्तरमें द्वादश या दशाङ्गुलमय अन्तर्व्योममें प्रवेश करता है, तथा प्राण नासाभ्यन्तरसे बहिर्गत होकर द्वादश या दशाङ्गुलि पर्यन्त बहिर्व्योममें विलीन होता है। जब अपान वायु बाह्य आकाशसे आकृष्ट होकर अन्तराकाशमें प्रविष्ट होकर स्थिर होती है, तब वह प्राण-वायुको ग्रास करती है, यह अवस्था स्थायी होने पर जो कुम्भक होता है वही सूर्य-ग्रहण है; इसी प्रकार प्राणवायु अन्तराकाशसे आकृष्ट होकर जब बाह्य आकाशमें अपानको ग्रास करती है, तब जो कुम्भक अनुष्ठित होता है वह चन्द्रग्रहण है। इड़ाके साथ पिङ्गलाके और पिङ्गलाके साथ इड़ाके मिलनमें इस प्रकारका ग्रहण होता है। बाहरकी ओर जब हम चन्द्र-सूर्यका पूर्ण ग्रहण देखते हैं, तो उसमें ज्योतिका प्रकाश नहीं रहता, सब अन्धकार एकाकार हो जाता है। अभ्यन्तरमें जब इस प्रकारका पूर्ण ग्रास होता है तब फिर पृथक् किसी वस्तुकी प्रतीति नहीं होती, एक अखण्ड सच्चिदानन्द मानो जागतिक समस्त दृश्योंकी प्रतीतिको ग्रास कर डालता है—इसका नामही

समाधि या क्रियाकी परावस्था है। इस अवस्थाको पहुँचा हुआ साधक कैवल्य पदको प्राप्त करता है। योगवाशिष्ठमें कहा है—

प्राणगते यथा देहः सुखदुःखे न विन्दति।
तथा चेत् प्राणयुक्तोऽपि स कैवाल्याश्रमे वसेत्॥

प्राणके चले जाने पर देहमें जिस प्रकार सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता, देहमें प्राणके रहते हुए भी जिसको उसी प्रकार सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता, वही कैवल्यपदमें प्रतिष्ठित है।

योगवाशिष्ठमें लिखा है कि इस प्रकारके कुम्भकके जो अनुष्ठाता हैं वही सारे शोकसे उत्तीर्ण होते हैं।

वस्तुतः कुण्डलिनी ही जीवकी जीवनीशक्ति है। यह महाशक्तिही ऊर्ध्व गमनके कारण प्राणरूपमें और अधोगमनके कारण अपानरूपमें व्यक्त होती है। प्राणायामकी ऊर्ध्व और अधोगतिसे ही श्वासका चांचल्य और अन्तःकरणका विक्षेप लक्षित होता है, इसके कारण चित्का स्फुरण लक्षित नहीं होता। प्राणापानकी गतिका रोध होने पर कुण्डलिनीके प्रकृत स्वरूप चित्-शक्तिका स्फुरण होता है, तभी जीवका मोहनाश और सत्य ज्ञानका उदय होता है।
इसीसे दुर्गासप्तशतीमें लिखा है—

त्वं वैष्णवीशक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत् त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥

हे देवि, तुम्हीं वह अक्षय पराक्रमशीला विष्णुकी परमाशक्ति हो। तुम ही निखिल विश्वका मूल बीजस्वरूपा महामाया हो। तुमने ही समस्त विश्वको संमोहित कर रक्खा है। तुम्हारी प्रसन्नता ही संसारसे मुक्ति प्राप्त करनेका हेतु है।

"प्रणतानां प्रसीद त्वं देवि विश्वार्तिहारिणि।
त्रैलोक्यवासिनामीड्ये लोकानां वरदा भव॥

जो लोग तुम्हारे चरणकमलमें प्रणत हैं, हे विश्वके दुःखोंको हरनेवाली जननि! तुम उनके ऊपर प्रसन्न हो जाओ। हे मां! तुम्हारे जो चरण कमल तीन लोकोंके निवासियोंके लिए वन्दनीय हैं, उन चरणकमलोंमें जो प्रणत हैं उनको वरदान देकर तुम अभीष्ट पूर्ण करती हो।

समस्त विश्वके मूलमें जो महाशक्ति है वही प्राण है। यह प्राण ही जगत्को धारण किये हुए है, इसीसे वह जगद्धात्रीरूपा हैं। प्राण जब बहिर्मुख होता है, तभी विश्व क्रीड़ा होने लगती है, तब उसको महामाया कहते हैं; क्योंकि वह सारे जीवोंको आत्मविस्मृत कर जगत्के खेलमें लगाती हैं। और जब जीव कातर होकर उनके चरणोंमें प्रणत होता है, तब जगदम्बा प्रसन्न होकर जीवका उद्धार कर देती हैं। मांके श्वास-प्रश्वास या इड़ा-पिङ्गला रूप दो चरण जगत्के खेलके हेतु हैं। उनका तृतीय चरण बहुत ही गुप्त है। साधक जब मांके इस तृतीय चरणका सन्धान पाता है तब वह उसके हृदयमें संस्थापित हो जाता है। स्थिर विन्दुरूप माँका तृतीय चरण साधकके ध्यानगोचर होते ही, उनका फिर करालभाव नहीं रह जाता, तब साधकके

मन-प्राण उनकी प्रसन्न दृष्टिसे स्निग्ध और शीतल हो जाते हैं। परन्तु जो प्रणत या प्रकृष्ट रूपसे नत नहीं होते, वे उनका तृतीय पद नहीं देख पाते। प्राणायामकी साधनाके अभ्याससे साधक किस प्रकार प्रणत होते हैं, यह साधक सद्गुरुके मुखसे ही जान सकते हैं। जो इस तृतीय पादका अवलोकन करता है, उसका प्राण सुषुम्नावाहिनी होकर सहस्रदलकमलस्थित शिवके साथ युक्त हो जाता है, तब बहिर्दृष्टिसे भी यह मस्तक कुछ नत हो जाता है। तब वह मेरुदण्डके भीतर एक अननुभूत आकर्षण अनुभव करता है। उसके देह, प्राण, मन सब स्थिर हो जाते हैं, उसकी सारी वासनाएँ मिट जाती हैं—सारांश यह है कि वह कृतकृतार्थ हो जाता है, और उसको कुछ प्राप्य नहीं रह जाता, किसी वस्तुकी चाह नहीं रहती। अनन्त स्थिरतामें मानो जन्म-मृत्युकी सारी चपलता छिप जाती है। उसका भीतर-बाहर सब एक हो जाता है, उसका सब कुछ भगवन्मय हो जाता है। इस प्रकारका बोध या ज्ञान ही संसार या अज्ञानकी निवृत्तिका उपाय है।

प्राणके दो विभाव हैं—एक चञ्चल अवस्था और दूसरी स्थिर अवस्था। चञ्चल भावको हम सभी जानते हैं, परन्तु स्थिरभाव सहजबोधगम्य नहीं है। इस चञ्चल अवस्थाको पकड़कर उस स्थिरभावमें पहुँचा जा सकता है। यही 'मरा मरा' कहकर 'राममें' पहुँचनेकी धारा या कौशल है। इस प्रकार उल्टे नामका जप करके ही जगत्पूज्य 'बाल्मीकि हुए ब्रह्म समाना'। बाल्मीकि ब्रह्मभावयुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो गये थे। जिस मनके चपेटमें पड़कर हम निरन्तर अस्थिर रहते हैं, जिस मनको वश में न कर सकनेके कारण कितने लोग कितने कुकार्य कर बैठते हैं, साधक लोग भी इस मनको वशमें करनेकी चेष्टामें कितने गोते खाते हैं—अर्जुनके मर्मन्तुद रुदनका यही हेतु है—"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्"—परन्तु यह मन क्या वस्तु है, कहाँसे इसकी उत्पत्ति है—इसको बहुत कम लोग जानते हैं। परमाराध्य पूज्यपाद गुरुदेव 'अविनाशी कबीर गीतामें' कहते हैं—मनकी उत्पत्ति श्वाससे होती है और वह पवन अर्थात् स्थिर वायुमें लय होता है। और यह स्थिर वायु क्रियाकी परावस्था ब्रह्ममें लय होती है। ॐकारसे पवन अर्थात् स्थिर वायु, और पवनसे श्वास उत्पन्न होता है। ॐकार ध्वनि प्राणसे होती है और प्राणमें मिल जाती है। × × × × × × × मन श्वास-प्रश्वासमें है, इसको प्राणायामादि क्रिया करके पवन अर्थात् स्थिर वायुमें लय करना उचित है। वायुके स्थिर होने पर उस स्थिरत्वमें मन लगाने पर ॐकार-ध्वनि ह्रस्व दीर्घ प्लुत मात्रामें सुनी जाती है। अतएव श्वाससे ही मन और श्वाससे ही पवन होता है। और ॐकार-ध्वनिका शब्द प्राणसे होता है, अतएव प्राणकी क्रिया करते करते सर्वदा अवरोध करने पर यह ब्रह्ममें लीन हो जाता है। और ब्रह्म हंस परव्योममें लय हो जाता है। ध्यानमें अर्थात् १७२८ बार प्राणायाम करने पर यह ॐकारस्वरूप शरीरमें लय हो जाता है, वह कालमें रहकर सर्वकालमें रहता है, अर्थात् कालमें लय हो जाता है, कालमें लय होकर शिवस्वरूप हो जाता है, अर्थात् निरञ्जन कूटस्थमें रहते रहते अपने तद्रूपमें मिल जाता

है और अपने आपमें रहता है अर्थात् 'सोऽहं ब्रह्म'—ऐसा बोध होता है। यही शास्त्रोक्त निजबोधरूप है। इस प्रकार अपने आपको जाननेका नाम ज्ञान है, इसीसे मुक्ति होती है ॥२९॥

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः ।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥३०॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

अन्वय—एते सर्वे अपि (ये सभी) यज्ञविदः (यज्ञवेत्ता यज्ञकारीगण) यज्ञक्षयितकल्मषाः (यज्ञ द्वारा नष्ट हो गया है कलुष जिनका, अर्थात् निष्पाप होकर) यज्ञशिष्टामृतभुजः (यज्ञावशिष्ट अमृतभोजी होकर) सनातनं ब्रह्म (नित्य चिरन्तन ब्रह्मको) यान्ति (प्राप्त होते हैं)। कुरुसत्तम (हे कुरुसत्तम !) अयज्ञस्य (यज्ञानुष्ठानविहीन पुरुषका) अयं लोकः (अल्पसुखविशिष्ट यह मनुष्यलोक) न अस्ति (नहीं है); अन्यः (बहुसुखविशिष्ट अन्य परलोक या मोक्ष) कुतः (कहाँ है ? अर्थात् पानेकी संभावना कहाँ है ?) ॥३०।३१॥

श्रीधर—तदेवमुक्तानां द्वादशानां यज्ञविदां फलमाह—सर्व इति। यज्ञान् विन्दन्ति लभन्त इति यज्ञविदः। यज्ञज्ञा इति वा। यज्ञैः क्षयितं नाशितं कल्मषं यैस्ते ॥३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुज इति। यज्ञान् कृत्वाऽवशिष्टे कालेऽनिषिद्धमन्नं अमृतरूपं भुञ्जत इति तथा। ते सनातनं नित्यं ब्रह्म ज्ञानद्वारेण प्राप्नुवन्ति। तदकरणे दोषमाह—नायमिति। अयमल्पसुखोऽपि मनुष्यलोकोऽयज्ञस्य यज्ञानुष्ठानरहितस्य नास्ति। कुतोऽन्यो बहुसुखः परलोकः। अतो यज्ञाः सर्वथा कर्त्तव्या इत्यर्थः॥ ३१ ॥

अनुवाद—[पूर्वोक्त द्वादश प्रकारके यज्ञविदोंका फल कह रहे हैं]—ये सभी यज्ञविद् हैं अर्थात् यज्ञलाभ करते हैं या यज्ञज्ञ हैं। यज्ञके द्वारा निष्पाप होकर ये यज्ञावशिष्ट अमृतभोजी बनते हैं। अर्थात् यज्ञोंको करके यज्ञावशिष्ट कालमें अमृतरूप अनिषिद्ध अन्न भोजन करते हैं, और वे ज्ञानद्वारा सनातन नित्य ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। इन यज्ञोंके न करनेसे जो दोष होता है उसे बतलाते हैं—यज्ञानुष्ठानसे रहित पुरुषको अल्पसुखमय मनुष्य लोक ही नहीं प्राप्त होता, भला बहुसुखमय स्वर्ग उनको कैसे प्राप्त हो सकता है ? अतएव यज्ञ आवश्यक कर्त्तव्य है ॥३०।३१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया करनेके पश्चात् अमृत ब्रह्ममें जाता है अर्थात् क्रियाकी परावस्था ॥३०॥ क्रियाकी परावस्था ॥३१॥—विहित कर्म, ज्ञान और उपासना सभी यज्ञशब्दवाच्य हैं। इन सब यज्ञतत्त्वोंको जो जानते हैं, वे तदनुसार साधन करके निष्पाप हो जाते हैं, एवं यज्ञका अवशेष अमृतभोजन करके सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं अर्थात् मुक्तिलाभ करते हैं। परब्रह्मही इस यज्ञकी अग्नि है, प्राण उसका स्तोत्र है, अपान उसका मन्त्र है, अहङ्कार, मन और बुद्धि उसके होता, अध्वर्यु और उद्गाता हैं। सब कुछ त्याग करना ही उसकी दक्षिणा है। (महाभारत-अणुगीता)। विहित कर्म ही उपासना है। और उपासनाके बिना किसीको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मा जन्म-मृत्युरहित है। आत्मक्रिया अर्थात् स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ

जीव उत्पन्न होता है, यही उसका विहित कर्म है। इस विहित कर्म या प्राणकर्मका अनुसरण करने पर (क्रिया करने पर) ही ब्रह्मका अमृतपद अर्थात् क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है। इस प्राणयज्ञके अनुष्ठाताओंके पाप या सारे मल क्षय होते हैं। चञ्चलता ही तो मनका प्रधान मल है। प्राणायामरूपी यज्ञके द्वारा मनके सारे मल या विक्षेप नष्ट हो जाते हैं। मनका विक्षेप मल दूर होने पर जो उसको स्थिरता प्राप्त होती है—वही है यज्ञका अवशेष। प्राणयज्ञके सभी अनुष्ठाता इस प्रकारका यज्ञफल अर्थात् क्रियाकी परावस्थारूप अमृत या परमा शान्ति प्राप्त करते हैं। जो प्राणक्रिया नहीं करते, वे आत्मज्योतिका सन्धान नहीं प्राप्त कर सकते। मन-प्राणके स्थिर न होनेसे शरीर भी अच्छा नहीं रहता। चित्तकी चञ्चलता ही सब दुःखोंका मूल है। वह मूल ही उत्पाटित नहीं होता। अतएव इस देहमें रहकर जिसने सुखशान्ति नहीं प्राप्त की—वह देहातीत कैवल्य पदको कैसे प्राप्त कर सकेगा ? ॥३०।३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

अन्वय—एवं (इस प्रकार) बहुविधाः (नाना प्रकारके) यज्ञाः (यज्ञसमूह) ब्रह्मणः मुखे (वेदके द्वारा) वितताः (विहित हुए हैं), तान् सर्वान् (उन सबको) कर्मजान् (कर्मसे उत्पन्न) विद्धि (जानो) एवं (इस प्रकार) ज्ञात्वा (जानकर) विमोक्ष्यसे (मुक्त हो जाओगे) ॥३२॥

श्रीधर—ज्ञानयज्ञं स्तोतुमुक्तान् यज्ञानुपसंहरति—एवं बहुविधा इति। ब्रह्मणो वेदस्य मुखे वितताः। वेदेन साक्षाद्विहिता इत्यर्थः। तथापि तान् सर्वान् वाङ्मनःकायकर्म-जनितानात्मस्वरूपसंस्पर्शरहितान् विद्धि जानीहि। आत्मनः कर्मागोचरत्वात्। एवं ज्ञात्वा ज्ञाननिष्ठः सन् संसाराद्विमुक्तो भविष्यसि ॥३२॥

अनुवाद—[ज्ञानयज्ञकी प्रशंसाके लिए पूर्वोक्त यज्ञोंका उपसंहार करते हैं]—वेदमुखसे इस प्रकारके नानाविध यज्ञ साक्षात् विहित हुए हैं। तथापि उन सबको वाक्-मन-कायज कर्मोंसे उत्पन्न, अतएव आत्मस्वरूपके संस्पर्शसे हीन समझो। क्योंकि आत्मा कर्मगोचर नहीं है। ऐसा जानकर और ज्ञाननिष्ठ होकर संसारसे मुक्त हो सकोगे ॥३२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार नाना क्रियाएँ हैं, ब्रह्मज्ञ द्वारा प्राप्त होकर मोक्ष होता है अर्थात् स्थिर ! ! ! !—यह यज्ञ ही क्रियायोग है, इनका अनुष्ठान ठीक ठीक होने पर ही यज्ञेश्वरको तृप्ति मिलती है। ब्रह्मज्ञ गुरुके मुखसे इस साधनक्रियाका उपदेश प्राप्त कर उसके अनुष्ठानमें लगनेसे नाना प्रकारकी उच्च अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। इन सब अवस्थाओंमें स्थिरता ही सर्वश्रेष्ठ है, उसमें प्रतिष्ठित होने पर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। भ्रूमध्यमें दृष्टि स्थिर होने पर ही नाना प्रकारके दर्शन, श्रवण हो सकते हैं। मूलाधारस्थित चतुर्दलपद्ममें त्रिकोणाकार योनिस्थान है, यही कुल-कुण्डलिनीका स्थान है, सुषुम्ना उस योनिस्थानसे आज्ञाचक्र तक विस्तृत है। साधना द्वारा मूला-

धारस्थित प्राणशक्ति (कुण्डलिनी) मेरुपथसे आज्ञाचक्रमें जाकर जब स्थिति लाभ करती है तो कर्मातीत या निष्क्रिय पद प्राप्त होता है। निष्क्रिय पद कर्मातीत है तथापि क्रिया द्वारा ही उस अक्रिय या क्रियारहित पदका सन्धान मिलता है। वह प्रकृष्ट रूपसे प्राप्त होने पर ही साधक मुक्ति लाभ करता है। कालसे कर्म अर्थात् सृजन और संहार होता है। इसी कारण सब कालके वशमें होते हैं और काल किसीके वशमें नहीं होता। यह काल भी महाकालमें विलीन होता है। यह महाकाल ही क्रियाकी परावस्था है। क्रिया द्वारा क्रियाकी परावस्था प्राप्त होने पर काल अर्थात् प्राणशक्ति या माया, महादेव या महाकालके साथ एक हो जाता है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

इस विश्वव्यापक विराट् पुरुषमें अनन्त मस्तक, चक्षु और पद हैं, वह इस पृथिवी पर सबके भीतर भ्रूसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त दश अङ्गुलके बीच हैं। यह उनकी महिमा है, इसी कारण वह श्रेष्ठ पुरुष होते हैं। अखिल संसार—इड़ा और पिङ्गलामें या प्राण और अपान दो पादोंमें है। तृतीय पाद सुषुम्नामें है जहाँ समान वायु है, वहाँ सदा रहने पर अमृत पद प्राप्त होता है। अर्थात् परव्योममें क्रियाकी परावस्थामें उसको स्थिति प्राप्त होती है॥३२॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥३३॥

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) द्रव्यमयात् यज्ञात् (द्रव्यमय अर्थात् द्रव्यके द्वारा निष्पन्न होने वाले यज्ञसे) ज्ञानयज्ञः (ज्ञानयज्ञ) श्रेयान् (श्रेष्ठ है), पार्थ (हे पार्थ!) [क्योंकि] सर्वं अखिलं कर्म (श्रौत, स्मार्त्त और लौकिक सारे कर्म) ज्ञाने परिसमाप्यते (ज्ञानमें परिसमाप्त होते हैं)॥३३॥

श्रीधर—कर्मयज्ञाज्ज्ञानयस्तु श्रेष्ठ इत्याह—श्रेयानिति। द्रव्यमयादनात्मव्यापारजन्याद्दैवादियज्ञाज्ज्ञानयज्ञः श्रेयान् श्रेष्ठः। यद्यपि ज्ञानयज्ञस्यापि मनोव्यापाराधीनत्वमस्त्येव तथाप्यात्मस्वरूपस्य ज्ञानस्य मनःपरिणामेऽभिव्यक्तिमात्रम्। न तज्जन्यत्वमिति द्रव्यमयाद्विशेषः। श्रेष्ठत्वे हेतुः—सर्वं कर्माखिलं फलसहितं ज्ञाने परिसमाप्यते। अन्तर्भवतीत्यर्थः। सर्वं तदभि समेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्तीति श्रुतेः॥३३॥

अनुवाद—[परन्तु कर्मयज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, यही बतलाते हैं]—हे परन्तप, अनात्मव्यापारसे होने वाले दैवादि यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। यद्यपि ज्ञानयज्ञ भी मनोव्यापारके अधीन है, तथापि आत्मस्वरूपका ज्ञान मनसे नहीं होता। मनरूपी परिणाम होने पर ज्ञानकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञका यही वैशिष्ट्य है। ज्ञानके श्रेष्ठत्वका कारण यही है कि सारे फलोंके

साथ कर्म ज्ञानमें परिसमाप्त होते हैं, अर्थात् ज्ञानके अन्तर्भूत होते हैं। श्रुतिमें लिखा है कि प्रजा जो कुछ सत्कर्म करती है, वह सब ब्रह्मज्ञानके अन्तर्भूत होता है। अर्थात् तपस्या, योगाभ्यास और नाना प्रकारके सत्कर्म जो कुछ अनुष्ठित होते हैं सब आत्मज्ञानके लाभके लिए ही अनुष्ठित होते हैं ॥३३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब यज्ञोंकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि सारी फलाकांक्षाओंके साथ समस्त कर्म क्रियाकी परावस्थामें समाप्त होते हैं।—समस्त यज्ञ अर्थात् योगाङ्ग-क्रियाओंके अनुष्ठानकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ या क्रियाकी परावस्था ही श्रेष्ठ है। यद्यपि योगाङ्गके अनुष्ठानोंके द्वारा अशुद्धि क्षय होने पर साधकको योगरूढ़ पदकी योग्यता प्राप्त होती है तथापि साधनावस्थामें चित्तकी स्थिरता एकाएक नहीं होती, क्रमशः होती है। ऐसे समयमें साधकके मनमें होता है कि कैसे स्थिरता प्राप्त करूँ? कैसे प्रत्यह कूटस्थ-ज्योतिका दर्शन हो? कैसे प्रत्यह अनाहत शब्द सुनूँ? इत्यादि। साधककी सकामावस्थामें ये व्यापार, द्रव्ययज्ञरूपमें परिणत होते हैं। उस समय नानात्व दर्शनकी स्पृहा खूब बलवती होती है, अतएव जानना चाहिए कि साधक उस समय भी मायिक आकर्षणके बीच रहता है। साधना करते करते और भी कुछ दूर अग्रसर होने पर जब साधककी सब स्पृहा कम हो जाती है तब ये सारी दर्शन-श्रवण आदि विषयस्पृहा आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें समर्पित होती है—इसीका नाम 'द्रव्ययज्ञ' है। मनसे भोगवासनाका त्याग न कर सकने पर तो मनका नाश नहीं होता, अतएव पूर्वोक्त आध्यात्मिक दर्शन, श्रवण आदि होते रहने पर भी मानसिक व्यापार तब भी बना रहता है, मानसिक व्यापारके रहते यथार्थ शान्ति नहीं प्राप्त होती। परन्तु लोग शान्तिकी प्राप्तिके लिए ही कर्म करते हैं। जब तक जीवात्मा परमात्माके साथ एक नहीं हो जाता, तब तक प्राणकी ज्वाला कैसे मिटेगी? वासनाका त्याग हुए बिना शान्ति नहीं मिलती, और मनोनाश होने पर ही वासनाका त्याग होता है। तभी आनन्द-समुद्रमें अवगाहन होता है। क्रियाकी परावस्थासे उस आनन्दसिन्धुका ही बोध होता है। द्रव्ययज्ञके पश्चात् तपोयज्ञ आता है। तपोयज्ञ है—

विधिवत् प्राणसंयामैर्नाड़ीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः॥
मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।

विधिवत् प्राणसंयमके द्वारा नाड़ीचक्रके विशुद्ध होने पर सुषुम्नाका मुख खुल जाता है और उसमें सहज ही प्राणवायु प्रवेश करने लगती है। सुषुम्नाके भीतर प्राणवायुके सञ्चालित होने पर मनकी स्थिरता प्राप्त होती है। इस स्थिरताकी प्राप्तिके लिए ही ॐकारक्रिया, ठोकरकी क्रिया आदि आवश्यक होती है। यही परम तपस्या या तपोयज्ञ है। इस तपस्याके फलस्वरूप साधककी तपोलोकमें अर्थात् आज्ञाचक्रमें स्थिति होती है। इस आज्ञाचक्रमें स्थिति लाभ करने पर ही स्व-स्वरूपमें अवस्थानरूप योग सिद्ध होता है। इस अवस्थामें सर्वदा रहना ही 'योगयज्ञ' है। हृदयसे मस्तक पर्यन्त जो वायु जाती है, उसका नाम इड़ा है, यह प्राणवायु है।

पिङ्गलाकी गति अधोदेशमें होती है, यही अपानवायु है। इस अधः और ऊर्ध्वके बीच समानवायु है, वही सुषुम्ना है। नाभिमें इसका स्थान है, यह अग्निस्वरूप है, समस्त यज्ञको भस्म करके यह एक कर डालती है और स्वयं भस्म हो जाती है। यह अग्नि जब कण्ठसे मस्तक पर्यन्त रहती है, तब यह ब्रह्माग्नि या स्वप्रकाश-स्वरूप होती है। नाभिमें यह तीनों वायु एक होकर हृदयपर्यन्त स्थिर रहती है। इस प्रकार स्थिर रहने पर प्राणापानकी गति स्थिर हो जाती है। इसको ही क्रियाकी परावस्था कहते हैं। क्रियाकी परावस्था ही ब्रह्म निरंजनका रूप या रूपातीत अवस्था है।

यस्यावलोकनादेव सर्वसङ्गविवर्जितः।
एकान्तनिस्पृहः शान्तस्तत्क्षणाद्भवति प्रिये॥

क्रियाकी परावस्थामें स्थिति होने पर 'अनुभव' पद प्राप्त होता है, इसका ही नाम है 'ब्रह्मावलोकन'। इस अवस्थामें साधक सब प्रकारकी आसक्तिसे मुक्ति प्राप्त कर एकान्त हो जाता है। इस एकान्तभावसे ही निस्पृह या इच्छाशून्य अवस्था प्राप्त होती है। गुरुकी कृपासे इस प्रकारकी इच्छारहित अवस्था प्राप्त होने पर ही 'शान्ति पद' प्राप्त होता है।

ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधोशक्तेर्निकुञ्चनात्।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं पदम्॥

ऊर्ध्वशक्ति प्राणवायु जब अधोशक्ति अपानवायुके साथ मिल जाती है, तभी सुषुम्ना या मध्यशक्ति जाग्रत होती है। तभी परम पद प्राप्त होता है।

अतएव इस प्राणापानकी गति रुद्ध होने पर परमज्ञान या परमपद प्राप्त होता है, और इस ज्ञानके प्रकाशित होने पर ही अखिल कर्मोंकी परिसमाप्ति हो जाती है॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥३४॥

अन्वय—प्रणिपातेन (प्रणिपातके द्वारा) परिप्रश्नेन (बारम्बार प्रश्नके द्वारा) सेवया (सेवाके द्वारा) तत् (उस ज्ञानको) विद्धि (जान लो या सीखो); तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः (तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग) ते (तुमको) ज्ञानं (ज्ञानका) उपदेक्ष्यन्ति (उपदेश देंगे)॥३४॥

श्रीधर—एवम्भूतात्मज्ञाने साधनमाह—तदिति। तज्ज्ञानं विद्धि जानीति प्राप्नुहीत्यर्थः। ज्ञानिनां प्रणिपातेन दण्डवन्नमस्कारेण। ततः परिप्रश्नेन। कुतोऽयं मम संसारः? कथं वा निवर्त्तेत? इति परिप्रश्नेन। सेवया गुरुशुश्रूषया च। ज्ञानिनः शास्त्रज्ञाः। तत्त्वदर्शिनोऽपरोक्षानुभवसम्पन्नाश्च। ते तुभ्यं ज्ञानमुपदेशेन सम्पादयिष्यन्ति॥३४॥

अनुवाद—(ऐसे आत्मज्ञानकी प्राप्तिका साधन कहते हैं)—ज्ञानियोंको दण्डवत् नमस्कारके द्वारा, तत्पश्चात् परिप्रश्नके द्वारा—जैसे कहाँसे तथा किस प्रकार मेरा यह संसार हुआ तथा कैसे यह निवर्तित होगा?—तत्पश्चात् गुरुकी सेवाके द्वारा

उस तत्त्वज्ञानको प्राप्त करो। इससे शास्त्रज्ञ तथा अपरोक्ष-अनुभव-सम्पन्न आचार्य तुमको ज्ञानोपदेश करेंगे ।।३४।।

आध्यात्मिक व्याख्या—दण्डवत् प्रणाम करके जिज्ञासा करने पर और सेवा करने पर तत्त्वदर्शी व्यक्ति बतला देते हैं।—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इन तीन उपायोंके द्वारा गुरुके सामने ज्ञानोपदेशकी प्रार्थना करने पर गुरु शिष्यको यथार्थ रहस्यका ज्ञान प्रदान करते हैं। इससे तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके कुछ उपाय मैं जान सका हूँ। गुरुसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करनेके लिए गुरुको दीर्घ दण्डवत् प्रणाम करना चाहिए अर्थात् उनको आत्मसमर्पण करके अपनी प्रपन्नावस्था उनसे बतलानी चाहिए। किस प्रकार भवसिन्धु पार होऊँगा, हे कृपालु गुरु, कृपा करके मुझको इसका उपदेश दीजिये। मैं कौन हूँ ? कैसे इस बन्धनमें पड़ा, और कैसे इससे मुक्ति प्राप्त करूँगा ? यह बात विनयपूर्वक बारंबार उनसे निवेदन करना चाहिए। केवल प्रश्नही करनेसे नहीं होगा, गुरुकी सेवा भी करनी होगी। वह सेवा, वह आत्मत्याग भी क्या अद्भुत वस्तु है ! वह गुरुके प्रति प्राणका आकर्षण भी क्या ही चमत्कार है ! तभी तो गुरु प्रसन्न होंगे। श्रीगुरुके प्रसन्न होने पर फिर चिन्ता ही क्या रहेगी ? अपने बछड़ेको दुग्धपान करानेके लिए गाय जैसे व्याकुल होती है, उसी प्रकार गुरु भी आत्मसमर्पित, सेवा-परायण, जिज्ञासु, कातर शिष्यको भवबन्धन-मोचनका उपाय बतला देते हैं, उनके उपदेशानुसार कार्य करनेसे शिष्य सदाके लिए कृतार्थ हो जाता है। वह गुरु भी क्या ही अपूर्व, आश्चर्य पुरुष हैं, वह मानो इस जगत्के पुरुष ही नहीं हैं, उनके समान और कोई नहीं, जो हमारे प्राणके दर्दको समझने, मनकी प्यासको मिटाने, हमारे रोगको ठीक समझकर ठीक औषधि प्रयोग करनेमें समर्थ हो। जान पड़ता है, हम भी अपनेको ठीक ठीक नहीं समझते। इसीसे उनको देखने, उनकी बात सुनने, तथा उनके विषयमें बातें करनेसे हमारे प्राण मानो कैसा होने लगते हैं। गुरु एक ओर जिस प्रकार शास्त्रपारदर्शी हैं उसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ भी हैं। जैसे साधनसिद्ध हैं, वैसे ही शास्त्रज्ञानमें सुपण्डित हैं, वैसे ही उनकी मनःप्राणबुद्धि भगवत्सेवामें समर्पित हैं। इसीसे श्रुति कहती है—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।'

यदि शिष्य भवबन्धनसे वैसा कातर नहीं हो रहा है, यदि उससे मुक्त होनेके लिए प्राणकी व्यथासे वह व्याकुल नहीं हो उठता, तो उसका शिष्य होना ही व्यर्थ है। यदि भगवान्को जीवनका सर्वस्व नहीं समझ पाये, यदि उनको पानेके लिए सर्वस्व त्याग करनेमें अब भी सङ्कोच बोध हो रहा हो, गुरुसे उपदेश प्राप्त कर उसके बदले सब कुछ उनके चरणोंमें प्रदान कर यदि अपनेको कृतार्थ नहीं समझते, तो समझ लो अब भी तुम्हारा समय नहीं हुआ है, अभी तुम्हें प्रतीक्षा करनी होगी अभी तुम्हें वह अमृतकथा बारम्बार सुननी पड़ेगी—तब कहीं तुम्हारा चित्तमल नष्ट हो जायगा, चित्तमलके दूर हुए बिना तुम अधिकारी ही नहीं हो सकोगे ।।३४।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

अन्वय—पाण्डव (हे पाण्डव!) यत् (जिसको) ज्ञात्वा (जानकर) पुनः (फिर) एवं (इस प्रकार) मोहं (मोहको) न यास्यसि (न प्राप्त होगे)। येन (जिसके द्वारा) अशेषेण (निःशेषरूपसे) भूतानि (सारे भूतोंको) आत्मनि (आत्मामें) अथः (अनन्तर) मयि (मुझ आत्मामें) द्रक्ष्यसि (देखोगे) ॥३५॥

श्रीधर—ज्ञानफलमाह—यज्ज्ञात्वेति सार्द्धैस्त्रिभिः। यज्ज्ञानं ज्ञात्वा प्राप्य पुनर्बन्धुवधादिनिमित्तं मोहं न प्राप्स्यसि। तत्र हेतुः—येन ज्ञानेन भूतानि पितापुत्रादीनि स्वाविद्याविजृम्भितानि स्वात्मन्येवाभेदेन द्रक्ष्यसि। अथो अनन्तरं आत्मानं मयि परमात्मनि अभेदेन द्रक्ष्यसीत्यर्थः ॥३५॥

अनुवाद—[साढ़े तीन श्लोकोंमें ज्ञानका फल कहते हैं]—हे पाण्डव, जिस ज्ञानको प्राप्त कर पुनः बन्धु-वध आदि के कारण मोहको प्राप्त न होगे। क्योंकि उस ज्ञानके द्वारा स्वकीय अविद्या-विजृम्भित पिता-पुत्र आदिको अपनी आत्मामें अभिन्नरूपसे देख सकोगे। पश्चात् अपनी आत्माको मुझ परमात्मामें अभेदरूपसे साक्षात्कार कर सकोगे ॥३५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसे जान लेने पर मोह न होगा और आत्माका दर्शन होगा।—आत्मदर्शन होने पर जगत्-दर्शन मिट जाता है। इस समय जो विश्व प्रपञ्च भासित हो रहा है—जिसके द्वारा तुम, वह और बहुतसी वस्तुओंका बोध हो रहा है, इनका तब पृथक् पृथक् बोध न होगा। जैसे चीनीके बने साँप, पक्षी, मनुष्य, हरिण, सब अन्तमें एक चीनी ही हो जाते हैं, उसी प्रकार देवतासे कीटाणु पर्यन्त सारे प्राणी तुम्हारे आत्मस्वरूप जान पड़ेंगे, और तुम भी परमात्मासे अभिन्न हो, यह बोध होगा। इस प्रकार सबमें वही एक हैं, इस एकत्व-दर्शनसे जीवात्मा-परमात्माका अभेद-ज्ञान फूट उठेगा। पहले समझ सकोगे कि तुम्हारे भीतर जो कूटस्थ है उसके रूपसे ही यह विश्व भरा हुआ है, उसके बाद नाना घटोंमें नाना चन्द्रदर्शन नहीं होगा, घटोंके भग्न होने पर जैसे एक ही चन्द्र वर्तमान रहता है, उसी प्रकार जीवकी देहोपाधि छूट जाने पर सब कूटस्थ-ज्योति ही एक असीम आत्मज्योति या चिदाकाशमें विलीन हो जाती है ॥३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

अन्वय—अपि चेत् (और यदि) सर्वेभ्यः पापेभ्यः (सारे पापियोंसे) पापकृत्तमः (अधिकतम पापकारी) असि (तुम हो), [तथापि] ज्ञानप्लवेन एव (ज्ञानरूपी बेड़ेके द्वारा) सर्वं वृजिनं (सारे पापार्णवको) सन्तरिष्यसि (अनायास ही पार हो जाओगे) ॥३६॥

श्रीधर—किञ्च—अपि चेदिति। सर्वेभ्यः पापकारिभ्यः यद्यप्यतिशयेन पापकारी त्वमसि तथापि सर्वं पापसमुद्रं ज्ञानप्लवेनैव ज्ञानपोतेनैव सम्यगनायासेन तरिष्यसि ॥३६॥

अनुवाद—(अधिक क्या) यदि तुम सब पापियोंसे भी बढ़कर पापकारी हो, तथापि समस्त पापसमुद्रको ज्ञान-नौकाके द्वारा अनायास ही उत्तीर्ण हो जाओगे ॥३६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—बड़ा पापी होने पर भी सब पापोंसे मुक्त हो जायगा। —श्रीशङ्कराचार्यने कहा है—"धर्मोऽपीह मुमुक्षोः पापमुच्यते"—मुमुक्षुके लिए धर्म-कार्य भी पापही है। जो कार्य आत्मस्थितिसे च्युत करता है वह पुण्यकर्म हो तो भी मुमुक्षुके लिए वह पाप ही गिना जाता है। इसलिए जब हम चित्तसमाधान करना चाहते हैं, तब किसी प्रकारकी चिन्ता, यहाँ तक कि सुचिन्ता भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि वह विक्षेपको बढ़ानेवाली है। परन्तु जो साधना करनेके पूर्वसे ही पाप कर्ममें आसक्त है, उसकी क्या गति होगी ? इसीसे भगवान् कहते हैं कि यदि कोई ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो जाय अर्थात् साधना करते करते मनको निश्चल कर सके, तो उसका वह निश्चल भाव उसे एक दूसरे राज्यमें ले जायगा। जहाँ देहज्ञान है, देहके सुख-दुःखमें मनः-प्राण क्षण-क्षण नाना प्रकारके भावोंसे विचलित होते हैं, वहाँ पाप भी है, पुण्य भी है, स्वर्ग भी है, नरक भी है। परन्तु जहाँ मन अन्तर्मुखी होकर देहसम्बन्धके अतीत हो गया है, उस मनमें फिर पाप-पुण्य नहीं प्रवेश कर सकता तथा पाप-पुण्यके फलस्वरूप उसको स्वर्ग-नरक आदि नहीं भोग करने पड़ते। प्राणके सुषुम्नावाहिनी होने पर मन भी जब आज्ञाचक्रमें निश्चल हो जाता है, तब उसको पाप-पुण्य स्पर्श नहीं कर पाते। अतएव पापी भी यदि साधनकी सहायतासे इस अविचल अवस्थाको प्राप्त होता है तो वह क्यों नहीं पापसिन्धुको पार करेगा ? देह और इन्द्रियोंमें मनका आना ही पाप है, जो मन देहमें नहीं रहा, साधन द्वारा आत्मस्वरूपमें स्थितिलाभ किया, उसको फिर क्या पाप और क्या पुण्य—कोई भी रोक नहीं सकता। वह सर्वातीत होकर, सब अवस्थाओंको अतिक्रम करके ब्रह्म-स्वरूप-समुद्रमें विलीन हो जाता है। "ज्ञान होते ही कर्म नहीं रहता। यही ब्रह्मपद है। यही प्रकृतिसे पुरुषकी मुक्ति है"—महा० शान्ति० ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन !) यथा (जैसे) समिद्धः (प्रदीप्त) अग्निः (अग्नि) एधांसि (काष्ठ समूहको) भस्मसात् कुरुते (भस्मीभूत करती है) तथा (उसी प्रकार) ज्ञानाग्निः (ज्ञानरूपी अग्नि) सर्वकर्माणि (सब प्रकारके कर्मोंको) भस्मसात् कुरुते (भस्मीभूत करती है) ॥३७॥

श्रीधर—समुद्रवत् स्थितस्यैव पापस्यातिलङ्घनमात्रम्। न तु पापस्य नाशः। इति भ्रान्तिः दृष्टान्तेन वारयन्नाह—यथैधांसीति। एधांसि काष्ठानि प्रदीप्तोऽग्निर्यथा भस्मीभावं

नयति तथात्मज्ञानस्वरूपोऽग्निः प्रारब्धकर्मफलव्यतिरिक्तानि सर्वाणि कर्माणि भस्मीकरोतीत्यर्थः ॥३७॥

अनुवाद—[ज्ञानके द्वारा समुद्रके समान अवस्थित पापराशिका अतिक्रमण हो सकता है, परन्तु उससे क्या पापका नाश भी होता है ? इस भ्रान्तिके निवारणके लिए दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं]—हे अर्जुन ! काष्ठ समूहको प्रदीप्त अग्नि जिस प्रकार भस्मीभूत कर डालती है, उसी प्रकार आत्मज्ञान स्वरूप अग्नि प्रारब्धकर्मफलके सिवा सारे अन्यान्य कर्मोंको भस्मीभूत कर देती है ॥३७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें सारे पाप भस्म हो जाते हैं।—शंकराचार्य कहते हैं—"सामर्थ्यात् येन कर्मणा शरीरमारब्धं तत् प्रवृत्तफलत्वाद् उपभोगेनैव क्षीयते। अतो यान्यप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक्कृतानि ज्ञानसहभावीनि चातीतानेकजन्मकृतानि च तान्येव कर्माणि भस्मसात् कुरुते"—अर्थात् जिस कर्मके फलस्वरूप यह शरीर आरब्ध हुआ है, उसका फल प्रदान करनेके लिए वह प्रवृत्त हुआ है, वह भोगके द्वारा ही क्षय होगा। अतएव ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व किये हुए तथा ज्ञानोत्पत्ति कालमें किये हुए, तथा अनेक पूर्व जन्मोंके किये हुए वे कर्म जिनका फल प्रवृत्त नहीं हुआ है भस्मसात् हो जाते हैं। (१) सञ्चित कर्म सभी जीवोंके होते हैं, ज्ञानीके भी होते हैं। (२) क्रियमाण कर्म—जो वर्तमान और भविष्यत कालमें किये जाते हैं तथा किये जायँगे, (३) प्रारब्ध कर्म—जिन कर्मोंने फल देना प्रारम्भ कर दिया है, जो फलदानोन्मुख हैं, जिनका फल यह शरीर है। पहले और दूसरे प्रकारके कर्म ज्ञान-प्राप्तिके बाद ज्ञानीको नहीं रहते, तीसरे प्रकारके कर्मोंके फल ज्ञानियोंको भी भोगने पड़ते हैं, परन्तु ज्ञानीको उस प्रकारके भोग अभिभूत नहीं कर सकते, तथा वे भुने हुए बीजके समान अङ्कुर भी उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञानीका कर्माशय नष्ट हो जाता है। कर्मफलमें स्पृहा ही कर्माशय है, यह लिङ्ग-शरीरमें वर्तमान रहता है, यही हृदय-ग्रन्थि है। आत्माकी यही अज्ञानरूपी उपाधि है। इस हृदय-ग्रन्थिको भेद करनेके लिए ही नाना प्रकारकी साधनाओंका आयोजन साधक लोग किया करते हैं। देहात्माभिमान ही समस्त अज्ञानका मूल है। इस देहको भूल न सके तो सारी साधना व्यर्थ गयी। जिससे इस देहको भूलकर आत्मस्वरूपमें स्थिति लाभ हो, उसके लिए प्रयत्न करना ही मुमुक्षुत्व है। क्रियाकी परावस्थामें यह देहज्ञान विलुप्त हो जाता है, आत्मस्वरूपमें स्थिति प्राप्त होती है। इसके फलस्वरूप अज्ञानका नाश होता है, और क्योंकि पापका मूल अज्ञान है अतएव अज्ञानके नाशके साथ पाप भी नष्ट हो जाता है ॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

अन्वय—इह (इस लोकमें) ज्ञानेन सदृशं (ज्ञानके समान) पवित्रं (पवित्र या शुद्धिप्रद) न हि विद्यते (और कुछ नहीं है); कालेन (यथाकाल या दीर्घकालमें)

योगसंसिद्धः (कर्मयोग द्वारा सिद्ध होकर) स्वयं (स्वयं ही) आत्मनि (निज आत्मामें) तत् (वह ज्ञान) विन्दति (प्राप्त करता है) ॥ ३८ ॥

श्रीधर—तत्र हेतुमाह—न हीति। पवित्रं शुद्धिकरं। इह तपोयोगादिषु मध्ये ज्ञानतुल्यं नास्त्येव। तर्हि सर्वेऽपि किमित्यात्मज्ञानमेव नाभ्यस्यन्त इति? अत आह—तत् स्वयमिति सार्द्धेन। तदात्मनि विषये ज्ञानं कालेन महता कर्मयोगेन संसिद्धो योग्यतां प्राप्तः सन् स्वयमेवानायासेन लभते। न तु कर्मयोगं विनेत्यर्थः ॥३८॥

अनुवाद—[उसका कारण दिखला रहे हैं]—इस लोकमें तपोयोगादिमें कोई ज्ञानके समान शुद्धिकर नहीं है। (फिर सभी लोग आत्मज्ञानका अभ्यास क्यों नहीं करते,—इसका उत्तर देते हैं)—दीर्घकाल तक कर्मयोगके अनुष्ठानके द्वारा योग्यता प्राप्त करने पर आत्मविषयक ज्ञानको साधक अपने आप अनायास ही प्राप्त करता है, परन्तु कर्मयोगके बिना वह प्राप्त नहीं होता ॥३८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहते रहते पवित्र होकर काल-
क्रमसे आत्माको देखता है, सब प्रकारसे अपने आप सिद्ध होता है।—दीर्घकाल तक
तपस्या, श्रद्धापूर्वक नियमादि पालन और तीर्थपर्यटन करते करते जब पाप क्षीण हो
जाता है, तब ज्ञानोदय होता है अर्थात् सत्यवस्तुका स्वरूप अवगत हो जाता है।
प्राणायाम ही परम तपस्या है, इसके द्वारा चित्त शुद्ध होता है, पापक्षय होता है।
पहले थोड़ी थोड़ी क्रियाकी परावस्था नशाके समान अनुभव तो होती है, परन्तु वह
स्थायी भावसे नहीं रहती। सुदीर्घकाल तक नियमपूर्वक साधनादि करते करते
योग्यता प्राप्त होती है अर्थात् तब क्रियाकी परावस्था दीर्घस्थायी होती है।
क्रियाकी परावस्थाके समान पवित्र अवस्था और कुछ नहीं हो सकती। ऐसी
शान्तिप्रद, ऐसी सब भुला देनेवाली अवस्था और नहीं है। क्रियाकी परावस्था या
ज्ञानकी प्राप्ति करनेके लिए योगाभ्यास करना होगा, और दीर्घकाल अभ्यास करनेसे
वह अनायासही प्राप्य हो जायगा। परन्तु पहले इस अवस्थाकी प्राप्तिकी योग्यता
अपने आप नहीं आती, अतएव ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए सबको ही क्रियायोगका
अभ्यास करना पड़ेगा। क्रियायोगके अभ्यासके फलस्वरूप मन सङ्कल्पशून्य होकर
महा स्थिरतामें डूब जायगा। तभी आत्मसाक्षात्कार और ज्ञानप्राप्ति होगी।
"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"—उस परावरके दृष्ट होने पर साधकके
समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है। इस प्रकार आत्माके भीतर डूबते डूबते संसारका
मूल बीज अज्ञान समूल नष्ट हो जाता है। परन्तु धैर्यपूर्वक साधनाभ्यासमें प्रयत्न करना
होगा, नहीं तो अधकच्चे फलमें जैसे कषाय रस रहता है, उसी प्रकार चित्तमें
अशुद्ध संसारभाव रह जायगा। अपवित्र भावही कामभाव है। कामभावके न
रहने पर ही मन शुद्ध और परम निश्चिन्त हो सकेगा। यह निश्चिन्त भाव ही ज्ञाना-
नन्दमय अवस्था है ॥३८॥

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९॥

अन्वय—श्रद्धावान् (गुरु और शास्त्रवाक्यमें आस्तिक्यबुद्धिसे सम्पन्न) तत्परः (गुरुकी आज्ञा पालनेमें आलस्यरहित) संयतेन्द्रियः (जितेन्द्रिय पुरुष) ज्ञानं (ज्ञान) लभते (प्राप्त करते हैं), ज्ञानं (ज्ञान) लब्ध्वा (प्राप्त कर) अचिरेण (शीघ्र ही) परां शान्तिं (परम शान्ति अर्थात् मोक्षको) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं) ॥३९॥

श्रीधर—किञ्च—श्रद्धावानिति। श्रद्धावान् गुरूपदिष्टेऽर्थे आस्तिक्यबुद्धिमान्। तत्परस्तदेकनिष्ठः। संयतेन्द्रियश्च। तज्ज्ञानं लभते। नान्यः। अतः श्रद्धादिसम्पत्त्या ज्ञानलाभात् प्राक् कर्मयोग एव शुद्ध्यर्थमनुष्ठेयः। ज्ञानलाभानन्तरं तु न तस्य किञ्चित् कर्त्तव्यम्—इत्याह—ज्ञानं लब्ध्वा तु मोक्षमचिरेण प्राप्नोति ॥३६॥

अनुवाद—श्रद्धावान् अर्थात् गुरुके उपदेशमें आस्तिक्य-बुद्धिसे युक्त, तत्पर अर्थात् तदेकनिष्ठ, और जिसकी इन्द्रियाँ संयत हैं, इस प्रकारके पुरुष ही ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरे नहीं प्राप्त कर सकते। अतएव ज्ञानप्राप्तिके पहले श्रद्धा आदिके द्वारा, चित्तकी शुद्धिके लिए कर्मयोगका ही अनुष्ठान आवश्यक है। ज्ञान प्राप्त करनेके बाद फिर कुछ कर्त्तव्य नहीं रह जाता, इसीसे कहते हैं कि वैसे व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करके अतिशीघ्र मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥३६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—श्रद्धापूर्वक इन्द्रियसंयम करके क्रिया करनेसे क्रियाकी परावस्थामें रहते हुए 'मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है'—शीघ्र ही ऐसी अवस्था प्राप्त होती है।—धर्मसाधनके लिए श्रद्धा सर्वापेक्षा प्रयोजनीय वस्तु है। जिसमें श्रद्धा-विश्वास नहीं रहता, वह इस साधन-समुद्रको पार कर भगवान्के चरणोंमें उपनीत नहीं हो सकता। जीवनमें उसकी अशान्ति कभी नहीं मिट सकती। योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

श्रद्धाविधिसमायुक्तं कर्म यत्क्रियते नृभिः।
सुविशुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते ॥

चाहे कोई कर्म हो, मनुष्य श्रद्धापूर्वक विशुद्धभावसे कर सके तो वह अनन्त फल प्रदान करता है।

महाभारतमें लिखा है कि श्रद्धाहीन मनुष्यका अन्न भी न खाये। किसी यज्ञानुष्ठानमें उसका अधिकार नहीं होता। अश्रद्धा एक ओर जैसे गुरुतर पाप है श्रद्धा उसी प्रकार पापनाशक उपाय है। श्रद्धावान्को ही ज्ञान प्राप्त होता है। श्रद्धापूर्वक क्रियाभ्यास करने पर क्रियाकी परावस्था प्राप्त होगी ही, उसकी अपेक्षा परम शान्तिमय वस्तु और कुछ नहीं है। परन्तु यह भी देखनेमें आता है कि किसी किसीको वह प्राप्त नहीं होती। इसका कारण क्या है ?—इसका कारण यह है कि क्रिया तो करते हैं परन्तु गुरु और उनके उपदेशके प्रति वैसी श्रद्धा नहीं है। क्रिया करते करते और भी पाँच तरहकी साधना करने लगते हैं। यह अश्रद्धान पुरुषका लक्षण है, क्रियाकी महिमा वह नहीं समझते। और किसी किसीको क्रियामें यथेष्ट श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण बीच बीचमें खूब फल भी मिलता है, परन्तु

वैसी निष्ठा नहीं होती। निरालस्य होकर खूब नियमके साथ देर तक प्रतिदिन साधन करनेकी सामर्थ्य नहीं होती। साधनमें तत्पर या आलस्यशून्य हुए बिना श्रद्धा रहते हुए भी अच्छा फल नहीं मिलेगा। और कोई कोई श्रद्धालु तथा तत्पर तो होते हैं, परन्तु इन्द्रियसंयमका उनमें अभाव होता है, इसलिए प्रकृत ज्ञान या क्रियाकी परावस्था प्राप्त करना संभव नहीं होता। श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रियसंयम—इन तीनोंके रहने पर ही ज्ञानलाभ होता है, या क्रियाकी परावस्था शीघ्र उदित होती है। क्रियाकी परावस्था आते ही परमानन्द या अनन्त शान्ति साधकको प्राप्त होती है। अतएव गुरु और शास्त्रवाक्यमें जिनकी अचल श्रद्धा है, जो निष्ठायुक्त हैं अर्थात् नियमपूर्वक साधना करते हैं तथा जिनकी इन्द्रियाँ शासनमें हैं, उनको ज्ञानप्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता ॥३६॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अन्वय—अज्ञः च (गुरूपदिष्ट ज्ञानसे अनभिज्ञ अर्थात् अनात्मज्ञ या अज्ञानी) अश्रद्दधानः (श्रद्धाहीन) संशयात्मा च (तथा संशयाकुलचित्त पुरुष) विनश्यति (विनष्ट हो जाता है) संशयात्मनः (संशयात्माका) अयं लोकः न अस्ति (इह लोक नहीं है) न परः (परलोक भी नहीं है) न सुखं (सुख भी नहीं है) ॥४०॥

श्रीधर—ज्ञानाधिकारिणमुक्त्वा तद्विपरीतमनधिकारिणमाह—अज्ञश्चेति। अज्ञो गुरूपदिष्टार्थानभिज्ञः। कथञ्चिज्ज्ञाने जातेऽपि तत्राश्रद्दधानश्च। जातायामपि श्रद्धायां ममेदं सिद्ध्येन्न वेति संशयाक्रान्तचित्तश्च विनश्यति। स्वार्थाद् भ्रश्यति। एतेषु त्रिष्वपि संशयात्मा सर्वथा नश्यति। यतस्तस्यायं लोको नास्ति धनार्जनविवाहाद्यासिद्धेः। न च परलोको धर्मस्यानिष्पत्तेः। न च सुखं संशयेनैव भोगस्याप्यसम्भवात् ॥४०॥

अनुवाद—[ज्ञानाधिकारीकी बात कहकर अब उसके विपरीत अनधिकारीके विषयमें कहते हैं]—अज्ञ, गुरूपदिष्ट अर्थमें अनभिज्ञ, गुरूपदेशग्रहणमें असमर्थ, कथंचित् ज्ञान उत्पन्न होने पर भी उसमें श्रद्धाहीन, और कुछ श्रद्धायुक्त होने पर भी "मुझे इसमें सिद्धि प्राप्त होगी या नहीं"—इस प्रकारके संशयाक्रान्त पुरुष स्वार्थसे भ्रष्ट हो जाते हैं। अज्ञ, श्रद्धाहीन और संशयात्मा—इन तीनोंमें संशयात्मा सर्वथा विनष्ट हो जाता है। क्योंकि संशयात्माका इहलोक नहीं है, अर्थात् उसका धनार्जन, विवाह आदि सिद्ध नहीं होता, तथा धर्मकी निष्पत्ति न होनेके कारण उसका परलोक भी नहीं बनता। संशयके कारण भोगभी उसके लिए असम्भव होता है, इसलिए सुख भी नहीं होता ॥४०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मूर्ख, श्रद्धाहीन व्यक्ति, संशयमें रहनेके कारण, इहकालमें भी सुख नहीं, परकालमें भी सुख नहीं।—तीन प्रकारके लोग साधनाभ्यास नहीं करते, (१) जो मूर्ख हैं—परम तत्त्वको ठीक ठीक नहीं समझते, किस प्रकारसे

मनुष्य-जीवन सार्थक होता है, उसकी कोई भावना भी जिनके मनमें उदय नहीं होती, पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिमें ही जीवन बिताते हैं, (२) अश्रद्धान्वित—ये बुद्धिमान् तो हो सकते हैं, परन्तु भगवान्में या भगवत्प्राप्तिके उपायोंमें श्रद्धा नहीं करते, साधनके रहस्यको जानकर भी उसके प्रति आस्था नहीं रखते, और उसमें परिश्रम करनेके लिए उन्मुख नहीं होते। 'यह सब करके क्या होगा ?'—यही वे कहते हैं, और उनमें आत्माभिमान खूब होता है। (३) संशयात्मा—जिनको परलोकके विषयमें निश्चय नहीं है अर्थात् केवल सन्देह उनके मनको व्याकुल कर देता है। गुरुवाक्यमें सन्देह, शास्त्रवाक्यमें सन्देह, यहाँ तक कि परलोक है या नहीं—अतएव परलोकके साधनभूत अनुष्ठानोंके करनेसे क्या लाभ होगा, ये सब सन्देह होते हैं। संसारमें भी वे पुत्र, मित्र, पत्नी, गुरु किसी पर भी विश्वास नहीं कर सकते, सबके व्यवहारमें संशयापन्न होते हैं। यदि लोगोंको दिखलानेके लिए गुरुके पास जाकर उपदेश लेते हैं, तथापि उसमें श्रद्धा नहीं होती, केवल गुरु और उनकी दिखलायी हुई साधनामें दोष निकाला करते हैं, पश्चात् सम्भवतः एक दिन कह बैठते हैं कि यह सब खाक-पत्थर करनेसे क्या होगा ? गुरु तो हमारे ही समान खाते-पीते हैं, घूमते-फिरते हैं, सुखके लिए दौड़-धूप करते हैं—उनको भी कुछ होता-जाता नहीं। वह सब बातें कुछ भी नहीं होती हैं, केवल ये लोग संसारको ठगते फिरते हैं—इत्यादि उनके मनके भाव हैं। इन तीन प्रकारके लोगोंमेंसे कोई भी साधना नहीं करता। इनमें अज्ञको गति प्राप्त होना सुकर है, सुखसाध्य है। अश्रद्धालुको गति प्राप्त होना बहुयत्नसाध्य है, परन्तु संशयात्माको गति प्राप्त होना बिल्कुल ही असाध्य है। संशयात्माको इहलोकमें भी सुख नहीं है, क्योंकि वह किसीको भी दिलसे विश्वास नहीं कर सकता। उसके अपने स्वजन भी उसके मनके दोषसे सदा अशान्ति भोगते हैं, तथा अशान्तचित्त होनेके कारण वह सांसारिक सेवा भी भलीभाँति नहीं कर पाता। सबके ऊपर वह सन्देह करता है, किसीके ऊपर विश्वास नहीं कर पाता। इस कारण कोई उसका बन्धु या आत्मीय नहीं हो सकता। संशयात्माको घर या बाहरके किसी आदमीसे कोई सुख पानेकी आशा नहीं रहती। उसको परलोकमें भी विश्वास नहीं होता, इसलिए धर्मानुष्ठान न करनेके कारण परलोकका सुख भी उसके भाग्यमें नहीं होता। विश्वास होता तो तदनुरूप कार्य करता। अतएव संशयात्माको इहलोक-परलोक कहीं भी सुख नहीं होता ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय !) योगसंन्यस्तकर्माणं (योगद्वारा जिनके कर्म भगवदर्पित हो गये हैं) ज्ञानसंछिन्नसंशयं (ज्ञानद्वारा जिनके समस्त संशय छिन्न हो गये हैं) आत्मवन्तं (इस प्रकारके आत्मज्ञ पुरुषको) कर्माणि (कर्म समूह) न निबध्नन्ति (आबद्ध नहीं कर सकते) ॥४१॥

श्रीधर—अध्यायद्वयोक्तां पूर्वापरभूमिकाभेदेन कर्मज्ञानमयीं द्विविधां ब्रह्मनिष्ठामुपसंहरति—योगेति द्वाभ्याम्। योगेन परमेश्वराराधनरूपेण तस्मिन् संन्यस्तानि समर्पितानि कर्माणि येन तं पुरुषं कर्माणि स्वफलैर्न निबध्नन्ति। ततश्च ज्ञानेनाकर्त्रात्मबोधेन संछिन्नः संशयो देहाद्यभिमानलक्षणो यस्य तम्। आत्मवन्तमप्रमादिनम्। कर्माणि लोकसंग्रहार्थानि स्वाभाविकानि वा न निबध्नन्ति ॥४१॥

अनुवाद—[दो अध्यायोंमें कही हुई पूर्वापर भूमिकाभेदसे कर्म और ज्ञानमयी द्विविधा ब्रह्मनिष्ठाका उपसंहार करते हैं]—धनञ्जय, परमेश्वरको आराधनारूपी योगके द्वारा उनमें जिसने सारे कर्मोंको समर्पण कर दिया है, आत्माके अकर्तृत्वबोध रूप ज्ञानके द्वारा देहाभिमानलक्षणरूप संशय जिसका छिन्न हो गया है, उस अप्रमादी पुरुषको कर्मसमूह फल द्वारा आबद्ध नहीं कर सकते। चाहे वे कर्म लोकसंग्रहके लिए होते हों या स्वाभाविक ही होते हों ॥४१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहनेसे किसी कर्ममें आबद्ध नहीं होता।—कर्म एकदम मनुष्यको नहीं छोड़ता, छोड़नेका वैसा प्रयोजन भी नहीं है। कर्मको न छोड़कर भी जिनकी कर्मवासना योगाभ्यासके द्वारा नष्ट हो गयी है, तथा क्रियाकी परावस्थाके प्राप्त होनेके कारण जिनके सारे संशय दूर हो गये हैं, वही आतमस्थ पुरुष हैं, ऐसे अप्रमादी पुरुष कर्म करने पर भी आबद्ध नहीं होते। 'देहोऽहं' रूप अविद्याबुद्धि, कूटस्थदर्शी तथा क्रियाकी परावस्थामें स्थित आत्मवन्त योगीको नहीं रह सकती, क्योंकि वह उस समय छिन्नसंशय होते हैं। देहात्मबुद्धि रहनेसे ही कर्म मानो अपना चिरसङ्गी जान पड़ता है, परन्तु जिन्होंने देख लिया है कि क्रियाकी परावस्थामें देहबोध नहीं रहता, वे भला देहाभिमानजनित कर्मोंको अपना कैसे मानेंगे ? इस प्रकार नित्यतृप्त निराश्रय पुरुष स्वाभाविक भोजन-पान आदि कर्मोंको करते भी रहें तो उनको कर्म बन्धनमें नहीं डाल सकता। अतएव देखा जाता है कि ब्रह्मनिष्ठा, कर्म और ज्ञान भेदसे दो प्रकारकी होती है। पहले मनको विकल्प-शून्य करनेके लिए क्रियायोगका अभ्यास करना पड़ता है, तत्पश्चात् इस अभ्यासमें पटुता आने पर तदुत्पन्न जो परावस्था साधकको प्राप्त होती है वही ज्ञानमय भाव है। इसमें आत्माका प्रत्यक्ष बोध होता है, अतएव आत्मा है या नहीं, अथवा कैसा है—इत्यादि संशय मिट जाते हैं। इसमें 'मैं, मेरा' नहीं रहता, 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' होनेके कारण किसी वस्तुमें स्पृहा भी नहीं होती। यह स्पृहाशून्य अवस्था ही निष्काम भाव या अपरोक्ष ज्ञान है। उस समय एक आत्माकार बुद्धिको छोड़कर और कोई बुद्धि उदित नहीं होती। 'क्षणार्द्धं च न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना' ॥४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

अन्वय—तस्मात् (इसलिए) ज्ञानासिना (ज्ञानरूपी खड्गके द्वारा) आत्मनः (अपने) अज्ञानसंभूतं (अज्ञानसे उत्पन्न) हृत्स्थं (हृदयस्थित) एनं (इस) संशयं (संशयको) छित्त्वा (छेदन करके) योगम् (योगको) आतिष्ठ (आश्रय करो) भारत (हे भारत !) उत्तिष्ठ (उठो) ॥४२॥

श्रीधर—तस्मादिति । यस्मादेवं तस्मात् आत्मनोऽज्ञानेन सम्भूतं हृदि स्थितमेनं संशयं शोकादिनिमित्तम् । देहात्मविवेकज्ञानखड्गेन छित्त्वा । परमात्मज्ञानोपायभूतं कर्मयोगमातिष्ठाश्रय । तत्र च प्रथमं प्रस्तुताय युद्धायोत्तिष्ठ । हे भारतेति क्षत्रियत्वेन युद्धस्य धर्म्यत्वं दर्शितम् ॥४२॥

पुमवस्थादिभेदेन कर्मज्ञानमयी द्विधा ।
निष्ठोक्ता येन तं वन्दे शौरिं संशयसंछिदम् ॥

साधकके अवस्था-भेदसे कर्म और ज्ञानमयी दो प्रकारकी निष्ठाओंका जिन्होंने उपदेश दिया है उन सर्वसंशयोंका नाश करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ ।

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

अनुवाद—क्योंकि कर्मयोगी मुक्त होता है और संशयात्मा विनष्ट होता है, अतएव आत्मविषयक अज्ञानसे उत्पन्न, हृदयमें स्थित, शोकादिके हेतु-रूप संशयको देहात्मविवेकरूपी ज्ञान-खड्गसे छेदन करके आत्मज्ञानके उपाय स्वरूप कर्मयोगका आश्रय लो । ज्ञानसिद्धिके लिए कर्मविमुख होना ठीक नहीं । तुम क्षत्रिय हो, इसलिए युद्ध करना तुम्हारा प्रधान धर्म है, वह युद्ध प्रस्तुत है, अतएव युद्धके लिए उठ खड़े हो जाओ ॥४२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इसलिए आत्मामें रहकर सदासर्वदा क्रिया करो ।—श्रुति कहती है— "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"—ब्रह्मको जानकर "अतिमृत्यु" अर्थात् बार बार मृत्यु तथा अतिमृत्युके भयको मनुष्य अतिक्रम कर सकता है । मुक्तिके लिए और कोई दूसरा उपाय नहीं है । इसलिए हृदयके सारे संशयोंको दूर कर दो और श्रीगुरुनाथको स्मरण करके साधनामें कमर कसकर लग जाओ । सदा आत्मामें रहनेकी चेष्टा करो । भलीभाँति देर तक क्रिया करने पर आत्मा में रह सकोगे । और कोई दूसरा उपाय या मार्ग नहीं है । तुम क्षत्रिय हो, अपना धर्म पालन करो । क्षतसे त्राण करना ही तो तुम्हारा धर्म है । जो लोग आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए देहेन्द्रियादिके धर्मके साथ तैयार होकर लग पड़ते हैं, वे ही क्षत्रिय हैं । सोचो तो, कितने युगोंसे कितने जन्मजन्मान्तरकी संसार-वासनारूप सहस्र व्रणपूर्ण मनको लेकर इस संसारक्षेत्रमें आवागमन कर रहे हो ! क्या कभी इस क्षतकी ओर दृष्टि पड़ी है ? यदि इस बार भाग्यसे दृष्टि पड़ी है तो अब फिर आलस्यमें समय न बिताओ । वृथा आलापमें, वृथा आमोदमें इस अमूल्य समयको नष्ट न कर

डालो। जब समय चला जायगा तो फिर कोई काम न होगा। जो समय बचा है उसे नष्ट न करो, सन्नद्ध होकर साधनामें लग जाओ। तभी इस जीवनके रहस्य तुम्हारे सामने खुलेंगे। तभी जान सकोगे कि तुम कौन हो ? किसके हो ? यह देह क्या है ? आत्मा क्या है ? उसके साथ देहका सम्बन्ध क्या है—इन बातोंका सन्देह-निवारण करनेवाला उत्तर पाओगे। तुम उसमें संशय न करना, तुम अपनी सामर्थ्यके बारेमें भी संशय न करना। तुम्हारे भीतर जो वह अनादि अप्रमेय पुरुषोत्तमकी लीला चल रही है, एक बार उस लीलाको समझनेकी चेष्टा करो। तुम उनकी प्रकृति हो, तुमको लेकर ही उनकी लीला है—तुम उनसे भिन्न नहीं हो—एक बार श्रीगुरुके मुखसे इसको जानकर गुरु-प्रदत्त साधनाका अभ्यास करके तदुत्पन्न प्रज्वलित ज्ञानाग्निमें अपने अविवेकसे उत्पन्न समस्त कर्मराशिको भस्म कर डालो। तुम दोनों एक ही हो—यह गुरूपदिष्ट उपायके द्वारा समझनेकी चेष्टा करो—देखोगे कि इस साधनाकी परिसमाप्तिके समय, क्रियाकी परावस्थामें, उस स्निग्धज्ञानालोकसे उद्भासित अपूर्व स्थिरतामें अनन्त अनैक्य एक हो जायँगे। तुम उनमें मिल जाओगे। अनन्त दुःखोंका मूल अज्ञान ध्वंस हो जायगा। हृदयकी वेदना मिट जायगी। निवृत्तिरूप परमा शान्तिको प्राप्तकर तुम्हारा जन्मजीवन सार्थक हो जायगा। अतएव हम सकेंगे या नहीं, होगा या नहीं—मनके इन समस्त संशयोंसे विचलित न हो। जब युद्ध या चेष्टा न करनेसे तुम्हारा काम नहीं चलेगा, तथा संसारके पर पार जाना ही जब जीवनका उद्देश्य है तब अब अधिक समय नष्ट न करो। सुख-दुःखको समान समझकर साधनामें सचेष्ट होना ही तुम्हारा कर्मयोग है, इसे ठीक समझकर कर्मयोगमें स्थिरबुद्धि होकर तत्पर होनेसे ही ज्ञानप्राप्ति होगी ॥४२॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिक-दीपिका नामक गीताके चतुर्थ अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः।

(कर्मसंन्यासयोगः)

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगश्च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)। कृष्ण (हे कृष्ण !) कर्मणां (कर्मोंका) संन्यासं (त्याग) पुनः (फिर) योगं च (योगको भी) शंससि (उपदेश करते हो) एतयोः (इन दोनोंमें) यत् (जो) श्रेयः (कल्याणप्रद) तत् एकं (उस एकको) सुनिश्चितं (निश्चय करके) मे (मुझको) ब्रूहि (बोलो) ॥१॥

श्रीधर—निवार्य संशयं जिष्णोः कर्मसंन्यासयोगयोः।
जितेन्द्रियस्य च यतेः पञ्चमे मुक्तिमब्रवीत् ॥

अज्ञानसम्भूतं संशयं ज्ञानासिना छित्त्वा कर्मयोगमातिष्ठेत्युक्तम्। तत्र पूर्वापरविरोधं मन्वानोऽर्जुन उवाच संन्यासमिति। यस्त्वात्मरतिरेव स्यादित्यादिना सर्वं कर्माखिलं पार्थेत्यादिना च ज्ञानिनः कर्मसंन्यासं कथयसि। ज्ञानासिना संशयं छित्त्वा योगमातिष्ठेति पुनर्योगं च कथयसि। न च कर्मसंन्यासः कर्मयोगश्चैकस्यैकदैव सम्भवतः। विरुद्धस्वरूपत्वात्। तस्मादेतयोर्मध्ये एकस्मिन्ननुष्ठातव्ये सति मम यच्छ्रेयः सुनिश्चितं तदेकं ब्रूहि ॥१॥

अनुवाद—[भगवान् पञ्चम अध्यायमें कर्मयोग और संन्यासयोग विषयक अर्जुनके संशयको दूर कर जितेन्द्रिय यतिकी मुक्तिका उपाय कहते हैं।—]

[अज्ञानसंभूत संशयको ज्ञानखड्ग द्वारा छेदन करके, अर्जुनको कर्मयोगका अनुष्ठान करनेके लिए भगवान्ने कहा है, इसमें पूर्वापर विरोध देखकर] अर्जुन बोले, हे कृष्ण ! तुमने पहले एक बार कहा है कि जिसकी केवल आत्मामें ही प्रीति (यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् इत्यादि) है, उसके लिए कर्म नहीं है; ज्ञानमें ही सारे कर्मोंकी परिसमाप्ति (ज्ञाने परिसमाप्यते) होती है, इस उक्तिमें ज्ञानीके कर्मसंन्यासकी बात कही गई है। फिर अज्ञानसंभूत संशयको ज्ञानखड्ग द्वारा छेदन करके कर्मयोगका आश्रय लेनेके लिए भी कहा है। कर्मसंन्यास और कर्मयोग एक समय एक आदमीके द्वारा संभव नहीं है क्योंकि कर्म और संन्यास परस्पर विरुद्ध हैं। अतएव इन दोनोंमें कौनसा अनुष्ठान करनेसे मेरा कल्याण होगा, यही एक बात निश्चय करके मुझे बतलाओ ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा अनुभव हो रहा है—संन्यास-कर्म—और योगकर्म—इनमें जो श्रेष्ठ हो उसे बतलाओ।—संसार चलानेमें कर्मको

छोड़नेसे काम नहीं चलेगा, परन्तु कर्म करना भी बहुत श्रमसापेक्ष है। कर्म करनेसे ही कर्मसिद्धि होगी, इसका भी सर्वदा कोई निश्चय नहीं है। कर्म करते रहने पर परस्पर नाना विरोधी व्यापार सामने आते हैं, अतएव कर्म करके आत्मदर्शन करना असंभव जान पड़ता है। ऐसा लगता है कि, मानो अपनी शक्ति पर्याप्त नहीं है। जब कर्मनिरपेक्ष संन्यास लेने पर भी आत्मदर्शन या मुक्तिलाभ होता है, और कर्म-त्याग करना सहज दीखता है तो मन कर्मत्यागकी ओर ही चल पड़ेगा। भ्रान्तचित्त पुरुष ऐसा समझता है सही, परन्तु वह यह नहीं देखता कि कार्यकालमें यह किस प्रकार असंभव है। संसारकी सुखवासना पूरी करने के लिए भी बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। इस कष्टके भयसे बहुतसे लोग गृहस्थी चलाना नहीं चाहते, यह वैराग्य नहीं है, केवल वैराग्यकी नकल है। उसी प्रकार भगवान्‌को पानेके लिए या ज्ञान-प्राप्त करनेके लिए बहुत आयास, बहुत परिश्रम, बहुत तपस्या करनी पड़ती है। यही कारण है कि श्रमविमुख तामसिक प्रकृतिके लोग बहुधा भगवान्‌को प्राप्त करनेका प्रथम उपाय जो ईश्वरार्पितबुद्धिसे कर्मानुष्ठान करना है, उसे करनेके लिए तैयार नहीं होते। वे दो पन्ने वेदान्त पढ़कर एकबारगी कूदकर ज्ञानी बन जाना चाहते हैं। परन्तु ज्ञानीका बाना धारण करनेसे ही कोई ज्ञानी नहीं बन सकता। "ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्"। भागवतमें भगवान्ने उद्धवसे मोक्षके तीन उपाय बतलाए हैं—"ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्"—(१) ज्ञान, (२) कर्म और (३) भक्ति इन तीन उपायोंके सिवा मोक्षका कोई अन्य उपाय नहीं है। यद्यपि उपाय ये तीन ही हैं, परन्तु अपनी अपनी योग्यताका विचार कर इन उपायोंका अवलम्बन करना चाहिए, मनमाना अवलम्बन करनेसे काम न चलेगा। इसीलिए कहा है, "निर्विण्णानां ज्ञानयोगः न्यासिनामिह कर्मसु"—जो निर्विण्ण पुरुष हैं अर्थात् संसारके भोग-सुखादि से विरक्त हैं, इस प्रकारके स्वाभाविक वैराग्ययुक्त कर्मत्यागी पुरुषोंके लिए ही ज्ञान-योग है। 'तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्'—कर्मफलमें स्पृहावाले अर्थात् वैराग्यविहीन, अतएव कर्ममें अविरक्त पुरुषके लिए ही कर्मयोग है। और "यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्। न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥" मेरी कथामें श्रद्धालु पुरुष, जो न तो संसारसे विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त ही हैं उनके लिए भक्तियोग ही सिद्धिप्रद है। इसीसे वैराग्ययुक्त ज्ञानीके लिए साधना कहते हैं—

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥

जब योगी कर्ममें निर्विण्ण तथा फलमें विरक्त होता है, तब संयतेन्द्रिय होकर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए मनको अचलभावसे धारण करनेका अभ्यास करता है।

परन्तु कर्ममें निर्विण्ण और फलमें विरक्त पुरुष मिलना कठिन है। सहस्रोंमें कहीं कोई ऐसा एक आदमी कठिनाईसे मिलता है। इस प्रकारके अधिकारी पुरुषको ही ज्ञानालोचना करनी चाहिए। ज्ञानके परिपाक तथा वैराग्यको दृढ़ करनेके लिए कर्मसंन्यास करके ही संन्यास ग्रहण करना उनके लिए ठीक होगा।

परन्तु जिसको वैराग्य नहीं है और कर्ममें वैसी आसक्ति भी नहीं है, संसारको दुःखात्मक समझता है, परन्तु उसको छोड़नेकी भी उसमें सामर्थ्य नहीं है—इस प्रकारके "वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः"—मनुष्य भगवद्भक्तिकी आलोचना करे, घरमें बैठकर ध्यान, योग, जप-तप आदि करे। गृहस्थके लिए जो ब्रह्मचर्यकी विधि है, उसीका अवलम्बन करे, इसीसे उसका कल्याण होगा। और जो कामना और फलको बिल्कुल ही छोड़ नहीं सकते, वे दिनरात कर्म करें। अवश्य ही तुम इस पर कहोगे कि यह कौनसी व्यवस्था हुई—जो लोग इस प्रकारके आसक्त पुरुष हैं, उनके लिए तो भगवान्‌ने कोई सुव्यवस्था नहीं की या कोई सहज उपाय नहीं बतलाया। भगवान्‌ने उनके लिए भी वेदविधिके द्वारा व्यवस्था की है—इस प्रकारकी प्रकृतिके लोग शास्त्रानुमोदित सकाम कर्म करते रहें, उससे कुछ कुछ विश्वास और त्यागका काम प्रारम्भ हो जायगा। इस प्रकार कर्म करते करते एक दिन उनको निर्वेद अवस्था प्राप्त होगी ही, तब वे भक्ति और पश्चात् ज्ञानका अवलम्बन करके जीवनको कृतार्थ कर सकेंगे। यदि एक जन्ममें न भी होगा तो अगले जन्मोंमें उसके कृतार्थ होनेकी आशा रहेगी। परन्तु जिन्होंने कर्मका त्याग तो कर दिया, पर वासनाओंको निवृत्त नहीं कर सके, उनके लिए बड़ी दुर्दशाकी बात होगी। आत्मज्ञानकी प्राप्ति ही अन्तिम लक्ष्य है, इसीलिए भगवान्‌ने जिसका जैसा अधिकार है उसको उस प्रकार पथका अवलम्बन करके जीवनके अन्तिम लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेके लिए अङ्गुलि-निर्देश करके मार्ग दिखला दिया है। जो उनका इशारा और आदेश समझकर तदनुरूप कार्य करेगा उसको कभी हताश नहीं होना पड़ेगा।

अर्जुन इसी द्विविधामें पड़ गये हैं। वह नहीं समझ पा रहे हैं कि कर्म और कर्म-संन्यासमें उनके लिए अवलम्बनीय कौन-सा है। इसी कारण वह भगवान्‌से कह रहे हैं, "प्रभो! मार्ग तो दोनों ही ठीक हैं, पर मेरे लिए कौनसा मार्ग ठीक है?—तुम एकदम स्पष्ट रूपसे बतला दो। सुनकर मेरे प्राण शीतल हो जायँ। जो कुछ कहना हो तुम अपने ही मुखसे कह दो, मुझे दोनोंमेंसे एक चुननेके लिए मत कहना।"

वस्तुतः देखा जाता है कि ज्ञानप्राप्तिके बिना संसारकी निवृत्ति नहीं होती। इसके लिए ज्ञान प्राप्त करना ही पड़ेगा। परन्तु क्या कोई कर्म-संन्यासके बिना ज्ञानी हो सकता है? अतएव संन्यास लेना भी आवश्यक है। शास्त्रमें भी इसका विधान है, पर कब? "ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।" संन्यास लेना चाहिए, परन्तु ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ होकर, अन्तमें वानप्रस्थ धर्मका पालन करके संन्यास लेना चाहिए। यद्यपि श्रुतिका यह आदेश है कि जिस दिन विषयोंसे वैराग्य हो उसी दिन अन्यान्य आश्रमोंका सम्बन्ध त्यागकर संन्यास ग्रहण करे। परन्तु वैराग्य हो तब न? अविरक्त अवस्थामें संन्यास लेने पर उसका फल विपरीत ही होता है। हम साधारणतः जो कर्म करते हैं वह अपने सुखके लिए या दुःख मिटानेके लिए। परन्तु

उससे न दुःख मिटता है और न कर्म कटता है—अतएव इस प्रकारके कर्मका संन्यास या त्याग नितान्त आवश्यक है। परन्तु कर्म तो वासनाके वेग मात्र हैं। अतएव वे सहज ही छूटनेकी वस्तु नहीं हैं। इसलिए कर्ममें परमात्माका योग अनुभव करना होगा। कर्ममें आत्माभिमान-शून्य होकर, उनका आदेश पालन करता हूँ, उनके लिए ही कर्म करता हूँ—इस प्रकारकी भावनासे जो चित्त भावित है, उस चित्तमें कर्म दाग नहीं लगा सकता। वह चाहे सहस्रों प्रकारके कर्म क्यों न करे, परन्तु उसका मन भगवच्चरणमें पड़ा रहता है। यदि अन्त तक भगवच्चरणमें मनको लगाये रहना ही जीवका परम धर्म और कर्त्तव्य है तो मनको सर्वदा भगवच्चरणमें रखनेका उपदेश न देकर उससे विहित कर्म कराना क्यों चाहते हो? इसका कारण यह है कि वह अभी योगारूढ़ पुरुष नहीं बना है, वह केवल आरुरुक्षु मात्र है। कर्मका नशा अभी भी उसका नहीं गया, अतएव कर्मको भगवान्का कर्म रूपसे समझनेकी चेष्टा करने पर उसका ज्ञानोदय होगा। इस साधनामें सिद्ध होने पर फिर वासनाकी तरंग नहीं उठेगी। अभी तैरनेमें पटुता नहीं आयी है, ठीक तौर पर संकोच छोड़कर तरङ्गकी उपेक्षा करके जानेका साहस नहीं आया है, ऐसी स्थितिमें एक घड़ेको छातीके नीचे लेकर तैरना होगा। पूर्ण ज्ञानकी अवस्था निरावलम्ब होती है, यह अवस्था जिसकी अभी नहीं आयी है, उसे किसीको मध्यवर्ती बनाकर चलना पड़ेगा। यही भक्तियोग या निष्काम कर्मयोग है। केवल कपड़ा रँगा कर संन्यास ग्रहण करनेसे काम नहीं चलेगा, उसमें दोष लगेगा। कर्म द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके ज्ञानाधिकारी हो सकोगे। श्रुति कहती है—"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति" शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधिका अभ्यास करने पर अपने हृदयमें ही आत्माका दर्शन किया जा सकता है। और ऐसा न होने पर बलपूर्वक संन्यास लेनेसे इहलोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।

"काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशीः ज्ञानवर्जितः।
तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः॥
भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा।"

शमदमादि साधन नहीं है, तितिक्षा नहीं है, ज्ञान-वैराग्य नहीं है, केवल दण्ड-धारण कर लिया है, और सब इन्द्रियोंके भोग खूब चल रहे हैं, इस प्रकारका मनुष्य भिक्षा द्वारा यदि जीवन यापन करता है तो वह वास्तविक भिक्षु या संन्यासी नहीं है, वह संन्यासधर्मका नाश करनेवाला है।

इसीसे जो आदमी वस्तुतः क्रियाकी परावस्थामें न पहुँचकर, यह कहकर कि 'मेरे सब कर्म समाप्त हो गये हैं' क्रियाका परित्याग करता है और संन्यासीका बाना धारण करता है उसके उभय लोक नष्ट होते हैं। यद्यपि क्रिया और क्रियाकी परावस्था एक नहीं है, तथापि क्रिया किये बिना क्रियाकी परावस्था प्राप्त करना सहज नहीं है। जब हम यह विचार करके देखते हैं कि कर्म (साधन) किये बिना संन्यास नहीं प्राप्त होता तो सारी गड़बड़ी मिट जाती है॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)। संन्यासः कर्मयोगः च (संन्यास और कर्मयोग) उभौ (दोनों ही) निःश्रेयसकरौ (मोक्षप्रद हैं); तु तयोः (किन्तु उनमें) कर्मसंन्यासात् (कर्मत्यागसे) कर्मयोगः (कर्मयोग) विशिष्यते (श्रेष्ठ है) ॥२॥

श्रीधर—अत्रोत्तरं—श्रीभगवानुवाच। संन्यास इति। अयं भावः—न हि वेदान्तवेद्यात्मतत्त्वज्ञं प्रति कर्मयोगमहं ब्रवीमि। यतः पूर्वोक्तेन संन्यासेन विरोधः स्यात्। अपि तु देहात्माभिमानिनं त्वां बन्धुवधादिनिमित्तशोकमोहादिकृतमेनं संशयं देहात्मविवेकज्ञानासिना छित्त्वा परमात्मज्ञानोपायभूतं कर्मयोगमातिष्ठेति ब्रवीमि। कर्मयोगेन शुद्धचित्तस्यात्मतत्त्वज्ञाने जाते सति तत्परिपाकार्थं ज्ञाननिष्ठाङ्गत्वेन संन्यासः पूर्वमुक्तः। एवं सत्यङ्गप्रधानयोर्विकल्पायोगात् संन्यासः कर्मयोगश्चेत्येतावुभावपि भूमिकाभेदेन समुच्चितावेव निःश्रेयसं साधयतः। तथाऽपि तु तयोर्मध्ये कर्मसंन्यासात् सकाशात् कर्मयोगो विशिष्टो भवतीति ॥२॥

अनुवाद—श्रीभगवान्ने इसके उत्तरमें जो कहा, उसका भाव यह है कि—मैंने तो वेदान्तवेद्य आत्मतत्त्वज्ञ पुरुषके लिए कर्मयोग नहीं बतलाया, जिससे पूर्वोक्त संन्यासके साथ विरोध पैदा हो। परन्तु तुम तो देहाभिमानी हो, बन्धुवधादिके कारण शोक-मोहजनित जो संशय तुमको हो रहा है उसे देहात्मविवेकरूप ज्ञान-असिके द्वारा छेदन करके परमात्मज्ञानके उपायभूत कर्मयोगका आश्रय लेनेके लिए मैं तुमको कहता हूँ। कर्मयोगके द्वारा शुद्धचित्त होनेके कारण जो तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ है उसके परिपाकके लिए ज्ञाननिष्ठाका अङ्गरूप जो संन्यास है, उसीके बारेमें मैंने तुमको पहले बतलाया है। कर्मयोग गौण है और संन्यास प्रधान है, अतः अङ्ग और प्रधानके बीच विकल्प नहीं हो सकता, कर्म और संन्यास दोनों ही भूमिकाभेदसे (आरूढ़ और अनारूढ़ अवस्था भेदसे मिलकर) अनुष्ठित होने पर मोक्षके साधक होते हैं। तथापि कर्मसंन्याससे कर्मयोग अच्छा है ॥२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है—संन्यास और योग दोनों ही अच्छे हैं—योग विशेष अच्छा है।—अपरोक्षानुभूतिके द्वारा जो ज्ञानकी उच्च अवस्थामें प्रतिष्ठित हैं, उनको देहात्मबुद्धिके अभावमें सर्वकर्मसंन्यास अपने आप होता है, परन्तु जो लोग अविद्वान् हैं अर्थात् जिनको अपरोक्षानुभूति नहीं है उनकी कर्मसंन्यासकी अवस्था नहीं आयी है। तथापि वे यदि बलपूर्वक कर्म त्याग करते हैं तो उससे उनको सुफल प्राप्त नहीं होता। अतएव मुक्तिकामी तथा अविद्वान् पुरुषके लिए कर्मसंन्याससे कर्मयोग (योगाभ्यास) श्रेष्ठ है। संन्यास-अवस्था प्राप्त करनेके लिए अल्पाधिकारीके लिए कर्म करना ही ठीक है। क्योंकि पहले पहल कर्मयोगका अभ्यास किये बिना कोई निष्क्रिय नहीं हो सकता, और न क्रियाकी परा-

वस्था या संन्यास ही प्राप्त कर सकता है। अतएव संन्यासकी अवस्था सर्वश्रेष्ठ होने पर भी स्वल्पाधिकारीके लिए कर्मत्याग श्रेष्ठ नहीं है, उसके लिए कर्म ही श्रेष्ठ है। यह कर्म या क्रिया-साधन जो करेगा, उसको एक दिन संन्यासकी अवस्था प्राप्त होगी ही। संन्यास होने पर साथ ही साथ मोक्ष भी प्राप्त हो जायगा। जिस क्रियाके करने पर क्रियाकी परावस्था निश्चय ही आवेगी, उस क्रियाको क्रियाकी परावस्थाके तुल्य कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। बाह्यदृष्टिसे देखें तो भी केवल कपड़ा रँगा लेनेसे ही संन्यास नहीं होता। वास्तविक वैराग्यके बिना किसीका संन्यास सफल नहीं होता। फिर भी मनमें वैराग्य होना कितना कठिन है! परन्तु जो लोग ईश्वरार्पित-बुद्धिसे सारे सांसारिक कर्मोंको करते हैं, उनका जो कुछ होता है सब भगवान्का ही होता है—ऐसा चिन्तन करने पर उनका कर्मत्याग तो नहीं होता, परन्तु फल-त्याग होता है। फल त्याग होने पर ही संन्यासके फलकी प्राप्ति होती है। और संन्यास लेकर यदि यतिधर्मका पालन नहीं होता है तो उसमें दोष लगेगा। ईश्वरार्पितबुद्धिसे कर्मयोगकी साधना करते समय यदि कोई विघ्न भी हो तो वह एकबारगी निष्फल नहीं होता। सारे कर्मोंको जो भगवत्प्रीतिके लिए करता है, उसका कर्ममें द्वेष नहीं रहता। इस प्रकारसे कर्म करने पर उसको आनन्दकी भी कमी नहीं होती ॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥३॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) यः (जो) न द्वेष्टि (द्वेष नहीं करता) न काङ्क्षति (आकांक्षा भी नहीं करता), सः (वह) नित्यसंन्यासी (नित्यसंन्यासी है) ज्ञेयः (ऐसा जानना चाहिए); हि (क्योंकि) निर्द्वन्द्वः (द्वन्द्वहीन व्यक्ति) सुखं (अनायास ही) बन्धात् (बन्धनसे) प्रमुच्यते (मुक्त हो जाता है) ॥३॥

श्रीधर—कुत इत्यपेक्षायां संन्यासित्वेन कर्मयोगिनं स्तुवंस्तस्य श्रेष्ठत्वं दर्शयति—ज्ञेय इति। रागद्वेषादिराहित्येन परमेश्वरार्थं कर्माणि योऽनुतिष्ठति स नित्यं कर्मानुष्ठानकालेऽपि संन्यासीत्येवं ज्ञेयः। तत्र हेतुः—निर्द्वन्द्वो रागद्वेषादिद्वन्द्वशून्यो हि शुद्धचित्तो ज्ञानद्वारा सुखमनायासेनैव बन्धात् संसारात् प्रमुच्यते ॥३॥

अनुवाद—[कर्म यदि बन्धनका कारण है, तो कर्मयोग श्रेष्ठ किस प्रकार हुआ? इसी कारण संन्यासित्व द्वारा कर्मयोगीकी प्रशंसा करते हुए उसकी श्रेष्ठता दिखला रहे हैं]—राग और द्वेषरहित होकर जो परमेश्वरकी प्रीतिके लिए कर्मानुष्ठान करता है, उसे नित्य अर्थात् कर्मानुष्ठान कालमें भी संन्यासी समझो। इसका कारण यह है कि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे शून्य शुद्धचित्तवाला व्यक्ति ज्ञान द्वारा अनायास ही संसारसे मुक्त हो जाता है। [अर्थात् भगवद्-अर्पित-चित्त होकर जो कर्म करता है, 'उसका कर्म फल-रहित होगा'—ऐसा विचार कर वह कर्मके प्रति कभी उदासीन या द्वेष-युक्त नहीं होता। वह सब कर्मोंको

भगवदिच्छासे करता है अतएव उसे फलाकांक्षाभी नहीं होती। इस प्रकारके कर्मयोगी कर्म करते हुए भी संन्यासी हैं, और इसके द्वारा अनायास मुक्ति प्राप्त होती है, अतएव संन्यास कर्मयोगके अन्तर्गत हुआ, इसलिए इस प्रकारके कर्मयोगको श्रेष्ठ कहनेमें कोई क्षति नहीं होती ॥३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वह नित्य ही संन्यासी है जो हिंसा (ईर्ष्या) नहीं करता—और इच्छा नहीं करता—द्विविधा रहित होकर सुखसे बन्धनसे मुक्त हो जाता है। —जिसकी फलादिमें आसक्ति या लोभ नहीं है और किसीकी अच्छी अवस्था देखकर जिसे मनमें ईर्ष्या नहीं होती, इस प्रकारकी अवस्थाका मनुष्य ही यथार्थ ईश्वरार्पितचित्त है। भगवान्ने उसे जो दिया है, उससे अधिक पानेके लिए उसके मनमें लोभ नहीं होता, तथा दूसरोंकी उन्नति और सुख देखकर उसमें भगवान्के सुन्दर विधानका स्मरण कर वह आनन्द प्राप्त करता है, 'मेरे भाग्यमें ऐसा सुख नहीं है,' यह विचार कर वह सुखी व्यक्तिकी अवस्था पर ईर्ष्या नहीं करता। इस प्रकारके मनुष्यको बन्धन नहीं होता। क्योंकि कामना और द्वेष ही समस्त बन्धनके हेतु हैं। हम लोग साधन करते समय भी क्रियामें सिद्धिकी आकांक्षा करते हैं, और प्राकृत भाव जो सिद्धिका (इच्छा-रहित अवस्थाका) विरोधी है उससे भी द्वेष किये बिना हम नहीं रह सकते—यह भी श्रेष्ठ साधकके लिए अनुचित ही है। क्योंकि प्रकृत साधक गुरुवाक्यके अनुसार कार्य करके निश्चिन्त हो जाते हैं, वह उससे क्या हुआ या न हुआ, इसके बारेमें बिल्कुल ही चिन्तित नहीं होते। वह समझते हैं कि श्रीगुरुके आदेशका पालन करते जाना ही उनका कर्त्तव्य है। वह करते भी वही हैं, भगवान् उसके फलस्वरूप उनके लिए क्या विधान करेंगे, इसे तो वही जानें। साधक इसके लिए तनिक भी विचलित या चिन्तित नहीं होते। जिनके मनकी ऐसी अवस्था है उनको फिर कोई दुविधा नहीं होती, अतएव वह चिर निश्चिन्त होकर परमानन्दमें समय व्यतीत करते हैं।

इस प्रकारके साधक विशुद्धचित्त होकर शीघ्र ही चरम स्थिति प्राप्त करते हैं। अतएव क्रियाकी परावस्थामें जो शान्ति है, उस अवस्थामें पूर्ण स्थिति लाभ न करने पर भी वह परम शान्ति लाभ कर सकते हैं। अयुक्तावस्थामें कर्मशून्य होकर रहनेका जब कोई उपाय नहीं है, तो कर्म करनेमें आलस्य करने या प्रमादग्रस्त होनेसे काम न चलेगा। फलकी आशासे जिस प्रकार फलाकांक्षी अध्यवसायके साथ कार्य करता है, निष्काम कर्म करनेवाले साधक फलाकांक्षासे हीन होकर भी उसी प्रकार अध्यवसायसे कर्म करते हैं। वह सदा ही जानते हैं कि "मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ वह हैं, सब उनका है'— इसीसे उनका काम करनेमें भय नहीं होता, विरक्ति नहीं आती, बल्कि बड़ा ही आनन्द आता है। बहुत परिश्रमपूर्वक कर्म करके जब वह सफलकाम होते हैं तो विनम्रचित्तसे "श्रीकृष्णाय अर्पणमस्तु" कहकर आनन्दमें निमग्न हो जाते हैं, और यदि बहुत परिश्रम करने पर भी कार्यसिद्धि नहीं होती तो इससे भी वे क्षुब्ध नहीं होते। वह जानते हैं और मन ही मन हँसते हैं कि जिनके आदेशसे उन्होंने काम किया है उनकी यदि यही इच्छा

है तो यही हो। कर्मके प्रारम्भके समय उन्हें जो प्रसन्नता होती है, कर्म निष्फल होने पर भी उनकी वही प्रसन्नता स्थिर रहती है। इस प्रकारका निश्चिन्त भाव ही संन्यास है, इस अवस्थाके प्राप्त होनेके पहले जो कर्मत्याग करते हैं उनका संन्यास सिद्ध नहीं होता ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

अन्वय—बालाः (अज्ञ लोग) सांख्ययोगौ (संन्यास और कर्मयोगको) पृथक् (भिन्न) प्रवदन्ति (कहा करते हैं) [किन्तु] पण्डिताः (पण्डित लोग) न (नहीं कहते) एकम् अपि (एकको भी) सम्यक् आस्थितः (सम्यक् अनुष्ठान करने पर) उभयोः (दोनोंका ही) फलं (फल) विन्दते (प्राप्त होता है) ॥४॥

श्रीधर—यस्मादेवमङ्गप्रधानत्वेनोभयोरवस्थाभेदेन क्रमसमुच्चयः—अतो विकल्पमङ्गीकृत्योभयोः कः श्रेष्ठ इति प्रश्नोऽज्ञानिनामेवोचितः, न विवेकिनामित्याह—सांख्ययोगाविति। सांख्यशब्देन ज्ञाननिष्ठावाचिना तदङ्गं संन्यासं लक्षयति। संन्यासकर्मयोगावेकफलौ सन्तौ पृथक् स्वतन्त्राविति बाला अज्ञा एव प्रवदन्ति, न तु पण्डिताः। तत्र हेतुः—अनयोरेकमपि सम्यगास्थितः आश्रितवानुभयोरपि फलमाप्नोति। तथा हि कर्मयोगं सम्यगनुतिष्ठञ्छुद्धचित्तः सन् ज्ञानद्वारा यदुभयोः फलं कैवल्यं तद्विन्दति। संन्यासं सम्यगास्थितोऽपि पूर्वमनुष्ठितस्य कर्मयोगस्यापि परम्परया ज्ञानद्वारा यदुभयोः फलं कैवल्यं तद्विन्दतीति न पृथक् फलत्वमनयोरित्यर्थः ॥ ४ ॥

अनुवाद—[क्योंकि अवस्थागत भेद होने पर भी अङ्ग और प्रधान रूपमें संन्यास और कर्मयोगका परिणाम एक ही है, अतएव विकल्प मानकर दोनोंमें कौन सा श्रेष्ठ है—यह प्रश्न अज्ञानीके लिए ही उचित है—ज्ञानी या विवेकीजनके लिए उचित नहीं है। इसीलिए कहते हैं]—सांख्य शब्द द्वारा ज्ञाननिष्ठाका अङ्ग संन्यासको लक्ष्य करा रहे हैं। संन्यास और कर्मयोगका एक ही फल है, अतएव अज्ञ लोग ही संन्यास और कर्मयोगको पृथक् या स्वतन्त्र कहा करते हैं, परन्तु पण्डित लोग ऐसा नहीं कहते। इसका कारण यह है कि दोनोंमेंसे एकका भी सम्यक् आश्रय करने पर दोनोंका फल प्राप्त होता है। कर्मयोगी कर्मयोगका सम्यक् अनुष्ठान कर शुद्धचित्त होकर ज्ञानद्वारा कैवल्य प्राप्त करते हैं, और सम्यक् संन्यास ग्रहण करने पर भी, पूर्व अनुष्ठित कर्मयोगके परम्पराजनित फल ज्ञानके द्वारा भी कैवल्य प्राप्त होता है। अतएव दोनोंका फल पृथक् नहीं है ॥ ४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मूर्ख सांख्य और योगको पृथक् बतलाते हैं, दोनोंमेंसे एकमें रहने पर भी दोनोंका फल होता है। क्योंकि दोनोंमें ही प्राणायाम कहा है। —प्राणमें मन रखकर स्मरण करते करते भी तन्मयता प्राप्त होती है, तब मन अवरुद्ध हो जाता है, इस अवस्थाकी जो स्थिति होती है, और कूटस्थ देखते देखते तन्मय होकर उसके भीतर नाद-विन्दुको भेद करके जो स्थिति प्राप्त होती है, दोनों एक ही

अवस्था है। अतएव योगी और ज्ञानीको अन्तमें एक ही फल प्राप्त होता है। इन दोनों साधनाओंके मूलमें प्राणायाम वर्तमान रहता है। प्राणायामके द्वारा नाड़ीचक्र शोधित होने पर मनको ऊपर उठाकर सहस्रारमें प्रवेश कराना सहज हो जाता है, और किसी साधनासे यह शक्ति सहजमें नहीं प्राप्त होती। सुषुम्नाका जागरण प्राणायामके द्वारा ही होता है, उसके ही फलस्वरूप स्थिरता प्राप्त होती है। यह जिसको ज्ञान नहीं है, और जो केवल शास्त्र पढ़कर ज्ञानी हुए हैं वे पण्डित नहीं हैं। क्योंकि उनको तत्त्व-साक्षात्कार नहीं हुआ है। दोनोंका फल चित्तसाम्य और परमानन्दकी प्राप्ति है। क्योंकि आत्मा सम और नित्य ज्ञानानन्दस्वभाव है। दोनों मार्गोंका फल आत्मदर्शन है। पहलेमें कूटस्थ-ज्योतिके भीतर प्रवेश करके नाद-विन्दु भेद कर परा स्थिति प्राप्त होती है। इस स्थितिमें चित्तकी समताके कारण सर्वभावनावर्जित एकात्मभावका उदय होता है— यही सांख्ययोग है। और क्रिया-योग या केवल प्राणायामका अवलम्बन करके भी यह अवस्था प्राप्त की जाती है। प्राणकी निरोधावस्था, जो प्राणायामके द्वारा अपने आप आती है, उसमें भी सम्यक् अवस्थित होने पर मनःप्राण स्थिर होकर परमात्मामें प्रविष्ट हो जाते हैं। उस समय कर्तृत्वाभिमानका लेश भी नहीं रहता, साधक अपनेको भूलकर एकबारगी निश्चेष्ट (भोला) बन जाता है। उसको आकांक्षा, द्वेष आदि कुछ भी नहीं रहता, यही निष्काम प्राणकर्म या कर्मयोगका फल है। अतएव देखा गया कि मार्ग दो तो हैं, पर फल उनका एक ही है ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

अन्वय—सांख्यैः (ज्ञाननिष्ठ संन्यासियोंके द्वारा) यत् स्थानं (जो स्थान) प्राप्यते (प्राप्त होता है) योगैः अपि (कर्मयोगियोंके द्वारा भी) तत् (वही) गम्यते (प्राप्त होता है); यः (जो) सांख्यं च (संन्यासको) योगं च (और कर्मयोगको) एकं (एक) पश्यति (देखते हैं) सः (वही) पश्यति (यथार्थ दर्शन करते हैं) ॥५॥

श्रीधर – एतदेव स्फुटयति—यत्सांख्यैरिति। सांख्यैर्ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिर्यत् स्थानं मोक्षाख्यं प्रकर्षेण साक्षादवाप्यते। योगैरित्यत्र अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययो द्रष्टव्यः। कर्मयोगिभिरपि तदेव ज्ञानद्वारेण गम्यतेऽवाप्यते। अतः सांख्यं च योगं चैकफलत्वेनैकं यः पश्यति स एव सम्यक् पश्यति ॥५॥

अनुवाद—[इसीको परिस्फुट करते हैं]—ज्ञाननिष्ठ संन्यासी जिस मोक्ष पदको प्राप्त होते हैं, कर्मयोगी भी ज्ञान द्वारा उसे ही प्राप्त करते हैं। अतएव जो सांख्य और योगका एक फल देखते हैं, वही ठीक देखते हैं ॥५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सांख्यकी जो क्रियाकी परावस्था स्थिति है—योगकी भी वही है – योग और सांख्य दोनोंको जो एक देखता है वही देखता है।—सांख्यका अन्तिम फल और योगका अन्तिम फल एक ही है। इसमें कुछ भेद नहीं है।

षट्चक्रकी क्रियाके द्वारा सहस्रारमें निरुद्ध होनेसे जो अवस्था प्राप्त होती है और योनिमुद्राके द्वारा भी सूर्यके समान प्रकाश देखते देखते उसके अन्तर्गत जो स्थिति प्राप्त होती है, दोनों अवस्थाएँ एक ही हैं। दोनोंके द्वारा सहस्रारमें एक ही स्थिति होती है। योगमें षट्चक्रका प्राधान्य है, सांख्यमें सहस्रारका प्राधान्य है, दोनोंमें ही ब्रह्मरन्ध्रभेद करना पड़ता है। षट्चक्रकी साधनामें भी अन्तमें सहस्रारमें स्थिति होती है, मूलाधारसे सहस्रार तक एक ही ब्रह्मनाड़ी फैली है। षट्चक्रकी क्रिया द्वारा नाड़ीचक्रके शोधित होने पर ब्रह्मनाड़ी प्रकाशित होती है, तब प्राण ब्रह्मनाड़ीके भीतरसे सहस्रारमें जाकर स्थिति प्राप्त करता है। और सांख्यकी क्रियामें जो प्रकाश देखा जाता है, वह सहस्रारमें ही होता है, उससे भी चित्तका अवरोध होता है, ब्रह्मनाड़ीका प्रकाश अनुभव होता है। अतएव फलका तारतम्य नहीं है, यह जिसने देखा है, उसका देखना ही ठीक है, वही ब्रह्मविद् है। महाभारतके शान्तिपर्वमें है— "योगी लोग योगबलसे जिसका दर्शन करते हैं, सांख्य लोग उसको ही प्राप्त होते हैं।" दोनोंसे ही चित्तनिरोध होता है तथा ध्येय वस्तुका स्वरूप दीख पड़ता है ॥५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो !) अयोगतः (योगरहित) संन्यासः तु (संन्यास तो) दुःखं आप्तुं (दुःख पानेका कारण बनता है); योगयुक्तः मुनिः (योगयुक्त मुनि) न चिरेण (शीघ्र ही) ब्रह्म अधिगच्छति (ब्रह्मको प्राप्त करते हैं) ॥६॥

श्रीधर—यदि कर्मयोगिनोऽप्यन्ततः संन्यासेनैव ज्ञाननिष्ठा तर्ह्यादित एव संन्यासः कर्त्तुं युक्त इति मन्वानं प्रत्याह—संन्यास इति। अयोगतः कर्मयोगं विना संन्यासः प्राप्तुं दुःखं दुःखहेतुः। अशक्य इत्यर्थः। चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञाननिष्ठाया असम्भवात्। योगयुक्तस्तु शुद्धचित्ततया मुनिः संन्यासी भूत्वाऽचिरेणैव ब्रह्माधिगच्छति। अपरोक्षं जानाति। अतश्चित्तशुद्धेः प्राक् कर्मयोग एव संन्यासाद्विशिष्यत इति पूर्वोक्तं सिद्धम्। तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—"प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः। संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताशयाः" इति ॥६॥

अनुवाद—[यदि कर्मयोगीको भी अन्तमें संन्यास द्वारा ही ज्ञाननिष्ठा होती है तब तो शुरूसे ही संन्यास लेना ठीक है, यदि इस प्रकार किसीके मनमें हो—इसीसे कहते हैं]—हे महाबाहो, कर्मयोगके बिना संन्यास दुःखका हेतु है अर्थात् कोई प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। चित्तशुद्धिके अभावमें ज्ञाननिष्ठा सम्भव नहीं है। परन्तु योगयुक्त मुनि शुद्धचित्तके कारण संन्यासी होकर शीघ्रही अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतएव चित्तशुद्धिके पूर्व संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी ही विशिष्टता है। इससे पूर्वकथित बात सिद्ध हुई। बृहदारण्यक भाष्यके वार्तिककार कहते हैं कि, "प्रमादी बहिश्चित्त, पिशुन, कलहोत्सुक, दैवदूषित दुष्टाशय संन्यासी भी देखनेमें आते हैं" अर्थात् बलपूर्वक संन्यास लेने पर ये सारे कुफल दिखलायी दे सकते हैं ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—योग न होने पर संन्यास कर्ममें दुःख है—योगसे युक्त होने पर ब्रह्ममें शीघ्रही पहुँचता है, क्योंकि मनसे एकका त्याग करने पर दूसरा उपस्थित हो जाता है। योगके द्वारा मन स्थिर करने पर वैसा फिर नहीं हो सकता।—विषय अच्छा न लगनेके कारण एक समय मनके वेगसे संन्यास ग्रहण तो कर लिया परन्तु योगाभ्यासके बिना चित्तशुद्धि नहीं होती और चित्त शुद्ध न होने पर ज्ञाननिष्ठारूप संन्यास सम्भव नहीं अर्थात् मनसे कामसङ्कल्प दूर नहीं होता। यदि बलपूर्वक एक दो वृत्तियोंको भगा भी दिया जाय तो फिर आगे उसी समय मनमें सैकड़ों काम-सङ्कल्प उठने लगते हैं। परन्तु योगाभ्यासजनित जो स्थिरता प्राप्त होती है, उसमें जो विषय-त्याग होता है, वह फिर नहीं जागता। अतएव चित्तशुद्धि या चित्त स्थिर होनेके पूर्व संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। संन्यासमें भी विषय-त्याग है और योगमें भी विषय-त्याग है। परन्तु योगके द्वारा विषय-त्याग हो जाने पर संन्यास सहज हो जाता है, वह अपने आप आता है, और योगाभ्यासके द्वारा विषय त्याग न होने से बलपूर्वक संन्यासी बनने पर विषय-त्याग नहीं होता। जो योगी नहीं है उसकी विषयग्रहण करनेकी अभिलाषा नहीं जाती। ऐसी अवस्थामें संन्यास न लेना ही ठीक है। आवेशमें आकर संन्यास लेनेसे इहलोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। बल्कि भगवदर्पितचित्तसे संसारके सब कामोंको करना ही ठीक है, क्योंकि इस प्रकार कर्म करते रहनेसे सहजही कर्मासक्ति दूर हो जाती है। और प्राण-क्रियाकी साधनामें श्वासकी स्थिरताके साथ मनकी स्थिरता आती है, इस प्रकार बुद्धि पर्यन्त स्थिर हो जाने पर फिर विषय-सङ्कल्प मनमें नहीं उठता। इससे जो शान्ति प्राप्त होती है वह शान्ति वैराग्यविहीन संन्यासीको प्राप्त होना संभव नहीं। जो प्रकृत संन्यासी हैं उनके चार ही कर्म हैं, और कोई कर्म नहीं है। "ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता"—ध्यान, शरीर और मनकी शुद्धि, भिक्षान्न-भोजन और एकान्त वास। चित्तके शुद्ध और स्थिर हुए बिना विषयोंसे वैराग्य नहीं उत्पन्न होता, विषय-वैराग्यके बिना जो संन्यास है वह केवल पाखण्ड और पापजनक होता है, उससे इहलोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। अतएव वास्तविक संन्यासी होना पड़ेगा, स्वाँग रचनेसे नहीं होगा। चित्त शुद्ध न होनेके कारण ही ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, ज्ञानकी प्राप्तिके लिए सद्गुरुप्रदर्शित क्रियायोगके द्वारा साधनाभ्यास करने पर स्वयं ही मन संन्यासी बन जायगा। वास्तविक संन्यासीके लिए ध्यान और एकान्तशीलता आवश्यक है, क्रियाभ्यासके द्वारा मनमें ध्यान-निष्ठा उत्पन्न होकर उसको एकबारगी एकाकी बना देगी। वहाँ मनही न रहेगा तो कोलाहल कहाँसे होगा। ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

अन्वय—योगयुक्तः (योगयुक्त) विशुद्धात्मा (विशुद्धचित्त) विजितात्मा (संयत-शरीर) जितेन्द्रियः (जितेन्द्रिय) सर्वभूतात्मभूतात्मा (ब्रह्मादि स्तम्ब

पर्यन्त सर्वभूतात्माओंकी आत्मा जिसके लिए आत्मस्वरूप है) कुर्वन् अपि (कर्म करके भी) न लिप्यते (लिप्त नहीं होता) ॥७॥

श्रीधर—कर्मयोगादिक्रमेण ब्रह्माधिगमे सत्यपि तदुपरितनेन कर्मणा बन्धः स्यादेवेत्याशङ्क्याह—योगयुक्त इति। योगेन युक्तः। अतएव विशुद्ध आत्मा चित्तं यस्य। अतएव विजित आत्मा शरीरं येन। अतएव जितानीन्द्रियकर्माणि येन। ततश्च सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्य सः, लोकसंग्रहार्थं स्वाभाविकं वा कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते। तैर्न बध्यते ॥७॥

अनुवाद—[कर्मयोगादि क्रमसे ब्रह्माधिगम होने पर भी तत्कृत कर्मोंके द्वारा बन्धन होगा ही, पीछे ऐसी शङ्का हो तो उसका उत्तर देते हैं]—जो कर्मयोगयुक्त अतएव विशुद्धचित्त है, तथा संयतदेह है, जितेन्द्रिय है और सब भूतोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है, इस प्रकारका व्यक्ति लोकसंग्रहार्थ या स्वाभाविक कर्म करके भी बद्ध नहीं होता ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—योगमें लगा रहकर—आत्म निर्मल होकर, विशेषरूपसे आत्मामें स्थित होकर, सारी इन्द्रियोंको जय करके सब भूतोंकी आत्माको अपनी आत्माके समान देखकर—यह सब कर्म करते हुए भी कदापि लिप्त नहीं होता।—अन्य कर्मोंके द्वारा जीवका बन्धन तो होता है, परन्तु प्राणकर्मरूप योगभ्यासके द्वारा चित्त निरुद्ध होने पर उस चित्तमें सङ्कल्पकी तरङ्ग फिर नहीं उठती, अतएव उसका मन निर्मल हो जाता है, और उस निर्मल मनसे आत्म-साक्षात्कार प्राप्त होता है। तब योगी सारे इन्द्रियोंको जय करता है अर्थात् तब इन्द्रियाँ अपने अपने आग्रहके अनुसार नहीं चल सकतीं। योगीका शरीर भी उसके वशमें रहता है। तब वह सब भूतोंमें अपनेको ही उपलब्ध करता है। इस प्रकारका योगी यदि प्रारब्धवश शारीरिक कर्मोंको करता है, तो उससे वह कर्ममें लिप्त नहीं होता। क्योंकि जिस मन पर कर्मकी छाप पड़ने वाली है, वह मन ही उस समय विशुद्ध और चिन्मुखी हो गया है। इस अवस्थाको प्राप्त योगी ही वास्तविक दण्डी है अर्थात् उसके वाक्, काय और मन सभी ब्रह्मरूपी खूँटीमें अटके हुए हैं। उसका चित्त शुद्ध अर्थात् सङ्कल्पशून्य होता है। देह शुद्ध होती है अर्थात् इस प्रकारके योगीकी देह द्वारा कोई असत् कर्म नहीं होता। वह जितेन्द्रिय होता है, उसकी इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारी नहीं होतीं, और उसकी सर्वात्मक दृष्टि खुल जाती है अर्थात् वह सर्वत्र अपनेको ही अनुभव करता है ॥७॥

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

अन्वय—युक्तः (योगयुक्त) तत्त्ववित् (तत्त्वज्ञ पुरुष) पश्यन् (देखते हुए) शृण्वन् (सुनते हुए) स्पृशन् (स्पर्श करते हुए) जिघ्रन् (सूँघते हुए) अश्नन्

(भोजन करते हुए) गच्छन् (जाते हुए) स्वपन् (सोते हुए) श्वसन् (श्वास लेते हुए) प्रलपन् (बातचीत करते हुए) विसृजन् (मल-मूत्र त्याग करते हुए) गृह्णन् (ग्रहण करते हुए) उन्मिषन् निमिषन् अपि (उन्मेष-निमेष करते हुए) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) इन्द्रियार्थेषु (इन्द्रियोंके विषयोंमें) वर्तन्त (प्रवृत्त हो रही हैं) इति धारयन् (इस प्रकार निश्चय करके) किञ्चित् एव (कुछ भी) न करोमि (मैं नहीं करता) इति मन्येत (ऐसा मानते हैं) ॥ ८।९ ॥

श्रीधर—कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते इत्येतद्विरुद्धमित्याशङ्क्य कर्त्तृत्वाभिमानाभावान्न विरुद्धमित्याह—नैवेति द्वाभ्याम् । कर्मयोगेन युक्तः क्रमेण तत्त्वविद्भूत्वा दर्शनश्रवणादीनि कुर्वन्नपीन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् बुद्ध्या निश्चिन्वन् कीञ्चिदप्यहं न करोमीति मन्येत मन्यते । तत्र दर्शनश्रवणस्पर्शनाघ्राणाशनानि चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियव्यापाराः । गतिः पादयोः । स्वापो बुद्धेः । श्वासः प्राणस्य । प्रलपनं वागिन्द्रियस्य । विसर्गः पायूपस्थयोः । ग्रहणं हस्तयोः । उन्मेषणनिमेषणे कूर्माख्यप्राणस्येति विवेकः । एतानि कर्माणि कुर्वन्नप्यभिमानाभावाद्ब्रह्मविन्न लिप्यते । तथा च पारमर्षं सूत्रम्—तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशादिति ॥ ८।९ ॥

अनुवाद—[कर्म करके भी कर्ममें लिप्त नहीं होते, यह अत्यन्त विरोधी बात तो है, परन्तु कर्त्तृत्वाभिमान न रहने पर, यह असम्भव भी नहीं है, इसीलिए कहते हैं]—कर्मयोगमें युक्त व्यक्ति क्रमशः तत्त्वविद् होकर दर्शन-श्रवणादि करते हुए भी, इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्त हो रही हैं (मैं नहीं प्रवृत्त हो रहा हूँ)—यह बुद्धि द्वारा निश्चय कर, "मैं कुछ नहीं करता" ऐसा समझते हैं। वह दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, आहारादि—चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापार हैं, गमन पदोंका व्यापार, निद्रा बुद्धिका व्यापार, श्वास प्राणका व्यापार, बोलना वागिन्द्रियका व्यापार, विसर्ग पायु और उपस्थका व्यापार, ग्रहण हस्तका व्यापार, उन्मेष और निमेष कूर्मनामक प्राणका व्यापार है—ऐसा समझते हैं। इन सब कार्योंके होते हुए भी अभिमान न रहनेके कारण ब्रह्मविद् कर्ममें लिप्त नहीं होते। ब्रह्मसूत्रमें है—ब्रह्म अधिगत होने पर अर्थात् परमार्थदर्शी पुरुषके उत्तरकृत और पूर्वकृत पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ८।९ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं कुछ भी नहीं करता—सदा ब्रह्ममें लगा रहता हूँ, क्रियाकी परावस्थामें रहकर देखता हूँ, सुनता हूँ, स्पर्श करता हूँ, सोता हूँ, साँस लेता हूँ, बातें करता हूँ, लेता हूँ, सूँघता हूँ, उन्मेष-निमेष करता हूँ—इन्द्रियोंके कर्म इन्द्रियाँ करती हैं—इस प्रकार की धारणा है।—प्रकृतिमें या देहमें अहंबोध होने पर ही कर्म होता है। प्रकृतिमें या देहमें अहंबोध करनेका नाम ही अभिमान या अहंकार है। देहमें आत्माके अध्यासवश ही ऐसा होता है। इस अध्यासके नाशका जो उपाय है उसे ही साधना कहते हैं। साधन करते-करते देहमें अभिमान या आत्मबोध नष्ट होता है। यह अभिमान जब तक है तब तक कर्म होगा ही, अर्थात् कर्मबन्धन होगा। देहादिमें अभिमान न रहने पर भी कर्म होता है परन्तु वह कर्म प्रकृति द्वारा संचालित होता है, जैसे निद्रावस्थामें मनके न रहने पर भी श्वास और प्रश्वासका ग्रहण त्याग अपने

आप होता है। शरीरके थकने पर भूख लगती है, और भोजन करनेके बाद उसमें हमारा मनःसंयोग न होने पर भी उसकी परिपाक (पाचन) क्रिया अपने आप होती रहती है। इसी प्रकार गमन, श्रवण, कथन आदि सारी क्रियाएँ भी चल सकती हैं। ये सब प्रकृतिके कार्य हैं, इनमें आत्माभिमान करके ही जीव इन सारे प्राकृतिक कर्मोंमें आबद्ध हो जाता है। साधारणतः अज्ञानवश प्रत्येक जीवको अभिमान रहता है, इसीसे प्रकृतिके सहस्रों कर्मोंमें आत्मा अकर्त्ता होकर भी कर्त्तृत्वाभिमान करके बन्धनमें पड़ता है। जैसे हाथी सूँड़के द्वारा वृक्षकी शाखादिको ग्रहण करता है उसी प्रकार आत्माके अभिमानयुक्त होने पर प्रकृतिके साथ मन उत्पन्न होता है, और उसके द्वारा सारे भोगोंको इन्द्रिय-द्वारसे ग्रहण करके—मैं ग्रहण करता हूँ—इस प्रकार चिन्तन कर आत्मा मोहको प्राप्त होता है। यही आत्माकी बद्धावस्था है। जड़ प्रकृतिमें इसी प्रकार चैतन्यका स्फुरण होता है। आत्मा प्रकृतिके भीतर अनुप्रविष्ट होकर मानो क्रीड़ा करता है। प्रकृति भी 'अहं' या 'आत्मा'के साथ युक्त होकर क्रियाशील होती है। इन्द्रियोंके द्वारा जो विषय-ग्रहण या ज्ञान होता है, वह खण्डित ज्ञान या असम्यक् ज्ञान है। यह असम्यक् ज्ञान ही भ्रान्तिका उत्पादक है। सम्यक् ज्ञान होने पर जब असम्यक् ज्ञान नष्ट हो जाता है तब सर्वत्र आत्मदृष्टि होती है। तब फिर प्रकृतिके कार्यमें अपना अभिमान नहीं रहता। मानो सब कुछ अपने आप होता रहता है। बालक जैसे अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, उसी प्रकार निखिल बोधस्वरूप परमात्माका अंश ही यह समस्त खण्डबोध या खण्डज्ञान है। जब तक इनका आत्मासे पृथक् बोध होता रहता है, तब तक कर्मप्रवाह निरन्तर चलता रहता है। उस समय प्रकृति कर्मोन्मुख होकर क्रियारूप हो जाती है। साधनाके द्वाराही इस अज्ञानजनित भ्रान्तिका उपशमन होता है। उस समय अनन्त खण्ड-बोध एक अखण्ड-बोधके ही अन्तर्गत हो जाने पर उनका पार्थक्य फिर उपलब्ध नहीं होता। आत्मासे वस्तुकी पृथक्ताका ज्ञान जब समाप्त हो जाता है तो वस्तुत्वके ज्ञानके लुप्त होनेके साथ ही वस्तु भी लुप्त हो जाती है, तब आत्माके भीतर प्रकृति प्रविष्ट होकर निष्क्रिय हो जाती है। आत्मामें प्रकृतिके मिल जाने पर, 'अहं' अभिमान कहाँ रहेगा?—उस समय जो कर्म होता है, वह 'अनिच्छा'की इच्छासे होता है। यही ब्रह्ममें कर्म-समर्पण है। कछुआ जैसे अपने भीतर ही अङ्गोंको समेट लेता है, उसी प्रकार आत्माका अङ्ग जो प्रकृति है वह आत्मामें ही प्रविष्ट होकर निष्क्रिय हो जाती है। यही अद्वयज्ञान है। इस ज्ञानमें अवस्थित साधककी कोई क्रिया अपनी क्रिया नहीं जान पड़ती। सारी क्रियाएँ प्रकृति-सिन्धुकी अनन्त तरङ्गोंसी जान पड़ती हैं। पश्चात् क्रमशः जब तरङ्गोंका शमन हो जाता है तब केवल प्रकृति-सिन्धु ही वर्तमान रहता है, अन्तमें वह प्रकृति भी अपने अधिष्ठान चैतन्य या सत्यस्वरूपके साथ एकाकार हो जाती है। यही है मुक्तावस्था या स्व-स्वरूपमें अवस्थान ॥८।९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

अन्वय—यः (जो) ब्रह्मणि (ब्रह्ममें) कर्माणि (कर्मोंको) आधाय (समर्पण करके) सङ्गं (आसक्ति) त्यक्त्वा (त्यागकर) कर्माणि (कर्मोंको) करोति (अनुष्ठान करता है), सः (वह) अम्भसा (जलद्वारा) पद्मपत्रम् इव (पद्मपत्रके समान) पापेन (पापसे) न लिप्यते (लिप्त नहीं होता) ॥१०॥

श्रीधर—तर्हि यस्य करोमीत्यभिमानोऽस्ति तस्य कर्मलेपो दुर्वारः। तथाऽविशुद्ध-चित्तत्वात् संन्यासोऽपि नास्तीति महत् सङ्कटमापन्नमित्याशङ्क्याह—ब्रह्मणीति ब्रह्मण्याधाय परमेश्वरे समर्प्य। तत्फले च सङ्गं त्यक्त्वा। यः कर्माणि करोति। असौ पापेन बन्ध-हेतुतया पापिष्ठेन पुण्यपापात्मकेन कर्मणा न लिप्यते। यथा पद्मपत्रमम्भसि स्थितमपि तेनाम्भसा न लिप्यते तद्वत् ॥१०॥

अनुवाद—[परन्तु जिसको "मैं करता हूँ"—इस प्रकारका अभिमान है उसका तो कर्म-लिप्त होना अनिवार्य है, और अविशुद्ध चित्तसे संन्यास भी नहीं होता—ऐसी स्थितिमें महान् सङ्कट उपस्थित है—इस आशङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं]—कर्मको परमेश्वरमें समर्पित कर तथा कर्मफलमें आसक्तिका त्यागकर जो कर्म करता है, वह बन्धनके हेतु पुण्यपापात्मक कर्ममें लिप्त नहीं होता ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्मका ध्यान करके फलाकांक्षा-रहित होकर, सारे कर्मोंको करता हूँ, इससे किसी पापसे लिप्त नहीं होता—जैसे ब्रह्मका अणु अति सूक्ष्म है वैसे ही पद्मपत्रका अणु जानो। और जलका अणु विषयके अणुके तुल्य है, अतएव जिस प्रकार पद्मपत्रके अणुके ऊपर जल तैरता है उसी प्रकार ब्रह्म-अणुके ऊपर सारे कर्म तैरते रहते हैं—किसी विषय-कर्मके करने पर भी वह लिप्त नहीं होता।—कर्म कैसे करना चाहिए, वही यहाँ बतलाते हैं—(१) कर्म 'ब्रह्मणि आधाय'—अर्थात् परमेश्वरमें कर्म समर्पण करके कर्म करना होगा। ब्रह्ममें समर्पण करके कैसे कर्म किया जाता है ? "सङ्गं त्यक्त्वा"—फलाभिनिवेश और कर्तृत्वाभिनिवेशका त्याग करके। "मेरा कर्म है, मैं कर्म करता हूँ"—इस प्रकारका अभिमान रहनेसे तो वह कर्म ब्रह्ममें निक्षिप्त नहीं होता। ब्रह्ममें कर्म निक्षेपका अर्थ यही है कि कर्म करनेवालेको कर्ममें अभिमान न रहे। वस्तुतः कर्मका कर्त्ता तो प्रकृति है, जीवात्मा अध्यासके वश प्रकृतिके कर्मको अपना कर्म मानकर आबद्ध होता है, तुम अभिमानका त्याग कर दो तो शुभाशुभ कर्मफलसे आबद्ध न होगे। आबद्धका मानी यही है कि कर्मजनित सुख-दुःखादिरूप फलमें—'मैं सुख पा रहा हूँ या दुःख पा रहा हूँ'—इस प्रकारका अभिमान करना। क्रिया करते करते जब चित्त स्थिर हो जाता है अर्थात् चित्त जितना ही ब्रह्ममें लीन होता है उतना ही कर्मादि व्यापारकी आँच शरीरमें नहीं लगने पाती, तब कर्मजनित हर्ष-द्वेषादि कर्म करनेवालेको संलिप्त नहीं कर सकते। यथार्थ निष्काम साधकके लिए कर्म करनेका ढङ्ग यही है कि अपने लिए वह कर्म नहीं करते; जिस प्रकार नौकर स्वामीकी आज्ञाका पालन करता है उसी प्रकार वह भी कर्म करते हैं। परन्तु उस कर्मको करते समय उनका मन खिन्न नहीं होता। बल्कि उस कर्ममें उन्हें खूब आनन्द आता है। किसी लाभकी आशासे वह आनन्दित नहीं

होते, बल्कि प्रभुका आदेश पालन करनेसे ही उनको परमानन्द प्राप्त होता है। प्रियतमको जो प्रिय लगता है, उसके ही बलसे भक्त भगवान्का आदेश पालन करता है। चाहे वह आदेश कितना भी कठोर क्यों न हो, उस कार्यके करनेमें उसे तनिक भी क्लेश नहीं मालूम होता। हो सकता है कि उस कार्यमें उसे बारंबार असफलता मिलती हो, परन्तु वह हिम्मत नहीं हारता। वह जानता है कि प्रभुका कार्य करनेका अवसर पाना ही परम सौभाग्यकी बात है। उस कार्यमें उसे सुख होगा या दुःख—यह सब सोचनेकी प्रवृत्ति उसे बिल्कुल ही नहीं होती। अनेक साधक गुरुका उपदेश प्राप्तकर, उस उपदेशके अनुसार कार्य करते करते बहुधा यह सोचा करते हैं कि साधन करने पर शान्ति प्राप्त कहाँ हो रही है? इतना परिश्रम करता हूँ, तो भी जो होना चाहिए वह क्यों नहीं हो रहा है? शक्ति कहाँ प्राप्त हुई? इस प्रकारकी चिन्ताएँ यथार्थ गुरुभक्त साधकके लिए होना ठीक नहीं। भक्त गुरुके आदेशका ठीक ठीक पालन करनेके लिए प्राण-पनसे चेष्टा करके ही निश्चिन्त हो जाता है, वह बिल्कुल ही नहीं सोचता कि उससे उसे कुछ लाभ हुआ या नहीं। यहाँ तक कि प्रवृत्ति-निवृत्तिकी न्यूनाधिकताके कारण भी वह दुःखित या हर्षित नहीं होता। वह कहता है, "मैं प्रभुका आदेश पालन करके ही कृतार्थ हो रहा हूँ, लाभ-हानिके विषयमें सोचनेकी मेरे लिए कोई आवश्यकता नहीं है।" इस प्रकारके साधकोंके ही कर्म वस्तुतः परमेश्वरमें निक्षिप्त या समर्पित होते हैं, उनमें कर्तृत्वाभिनिवेश नहीं होता, इसी कारण सफलता-असफलता उनको हर्षित या व्यथित नहीं कर सकती। जैसे पद्मपत्र जलमें रहकर भी जलद्वारा लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार पुण्य-पापात्मक कर्म उनको लिप्त नहीं कर सकते। ब्रह्मका अणु अति सूक्ष्म होता है, उस अणुमें जिसका मन लग गया है, उस मनको विषय-अणु स्पर्श नहीं कर सकता। अतएव प्रकृतिके स्वभावके वश जो विषयादि उत्पन्न होते हैं, वह ब्रह्माणुमें मग्न मनको आकर्षित नहीं कर सकते। क्योंकि ब्रह्माणु इतने हल्के होते हैं कि वे विषयाणुके साथ मिलने पर भी विषयोंके ऊपर ही ऊपर तैरते रहते हैं, विषय उनको चिपका नहीं सकते। अतएव इस प्रकारके साधकको कर्मजनित पापमें लिप्त नहीं होना पड़ता। जब चित्त चञ्चल रहता है, तभी बन्धन होनेकी संभावना होती है, परन्तु प्रत्येक चक्रमें मन लगाकर क्रिया करनेसे चित्तकी चञ्चलता बन्द हो जाती है, क्रमशः सुषुम्नाके अन्तर्गत ब्रह्माकाशमें स्थिर प्राणका प्रवाह चलने लगता है। तभी सब कर्म ब्रह्मार्पण होते हैं और क्रिया करके साधनाके द्वारा प्राप्त नाना विभूतियोंकी ओर यदि लोलुप दृष्टि न दौड़े तो मनकी आसक्ति भी मिट जाती है। आसक्तिशून्य मन निश्चिन्त भावसे ब्रह्ममें प्रविष्ट हो जाता है ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

अन्वय—योगिनः (योगी लोग) आत्मशुद्धये (अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए) सङ्गं (आसक्ति) त्यक्त्वा (त्याग करके) केवलैः (केवल) कायेन (शरीर द्वारा)

मनसा (मन द्वारा) बुद्धया (बुद्धि द्वारा) इन्द्रियैः अपि (इन्द्रयोंके द्वारा भी) कर्म कुर्वन्ति (कर्म करते हैं) ॥११॥

श्रीधर—बन्धकत्वाभावमुक्त्वा मोक्षहेतुत्वं सदाचारेण दर्शयति—कायेनेति। कायेन स्नानादिना, मनसा ध्यानादिना, बुद्धया तत्त्वनिश्चयादिना, केवलैः कर्माभिनिवेशरहितैरिन्द्रियैश्च श्रवणकीर्तनादिलक्षणं कर्म फलसङ्गं त्यक्त्वा चित्तशुद्धये कर्मयोगिनः कर्म कुर्वन्ति ॥११॥

अनुवाद—[निष्काम कर्मका बन्धकत्वाभाव कहकर अब यह बतला रहे हैं कि सदाचार द्वारा उक्त कर्म ही मोक्षके हेतु हैं]—कर्मयोगी लोग शरीर द्वारा स्नानादि कार्य, मन द्वारा ध्यानादि कार्य, बुद्धि द्वारा तत्त्वनिश्चयादि कार्य और कर्माभिनिवेशरहित इन्द्रियोंके द्वारा श्रवण-कीर्तनादि कर्म, चित्तशुद्धिके लिए फलासक्तिका त्याग करके किया करते हैं ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके द्वारा, मन-बुद्धिके द्वारा, केवल चक्षुके द्वारा योगी लोग कर्म करते हैं—अर्थात् क्रिया करते हैं इच्छारहित होकर, आत्माको ब्रह्ममें रखनेके निमित्त।—आत्मशुद्धिके लिए योगीजन जो कर्म करते हैं उस कर्मके करते करते शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सब शुद्ध हो जाती हैं। क्योंकि उन समस्त कर्मोंका लक्ष्य होता है ईश्वर-प्रीति। इस प्रकार जो कर्म करता है उसका फलाफलमें लक्ष्य नहीं रहता। शरीरके द्वारा भी योगीको अनेक क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। शरीरके भीतर जो अजस्र नाड़ी-प्रवाह चलता है उसके विशुद्ध हुए बिना चित्त शुद्ध या स्थिर नहीं होता। वात-पित्त-कफके द्वारा सूक्ष्म ज्ञानप्रवाहिका नाड़ियोंका मार्ग प्रायः रुद्ध रहता है। अतएव उस मार्गसे प्राणको ले जाना कठिन होता है, इसी कारण प्राणायामके द्वारा प्राण-प्रवाहको इन सारी नाड़ियोंके मार्गसे संचालित करने पर नाड़ियोंके मल दूर हो जाते हैं और वह शुद्ध हो जाती हैं। तब सुषुम्नाका मार्ग खुल जाता है और उसमें प्राणके प्रविष्ट होने पर मनमें स्थिरता आती है। मनकी नाना प्रकारकी वासनाएँ ही चित्तका मल है। इस चित्तमलके रहते कोई आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। परन्तु प्राणायामके द्वारा जब प्राण सुषुम्नाके मुखमें प्रविष्ट होता है तब 'उन्मनी' अवस्था प्राप्त होती है। यही मनका निश्चल भाव है। मनके इस एकाग्रभावका नाम ही स्थिर बुद्धि है। बुद्धिकी यह स्थिरता प्राप्त होने पर जगत्को अवलोकन करना बन्द हो जाता है। तब केवल अपने आपमें तुष्टि प्राप्त होती है। आसन, प्राणायाम, मुद्रादिकी साधनाके द्वारा ही साधक अपने आपमें स्थित हो सकता है। यही है आत्म-तुष्टि। परन्तु इन सारी साधनाओंके लिए शरीरकी आवश्यकता होती है, प्रत्याहार और ध्यानके लिए मनकी भी आवश्यकता होती है। उसके बाद अन्तमें समाधि साधनाके लिए स्थिर मन या बुद्धिकी भी आवश्यकता होती है। क्रियासाधन द्वारा क्रमशः शरीर, मन और बुद्धिके स्थिर होते होते इच्छारहित अवस्था प्राप्त होती है। अतएव इन सारी क्रियाओंके करनेका उद्देश्य यह हुआ कि मन विषयोंमें परिभ्रमण न करे और ब्रह्ममें लग जाय। परन्तु इन सारे कर्मोंको करनेसे बहुधा विभूतियाँ भी

प्राप्त होती हैं, परन्तु वास्तविक बुद्धिमान् योगी उन फलोंकी आशा न करके केवल भगवत्प्राप्तिके लिए अथवा आत्मस्थ होनेके लिए ही क्रिया करें, तथा उसके प्रतिबन्धक चित्तमल आदिको दूर करनेके लिए प्रयत्न करें। किसी विषयमें आसक्ति रहने पर चित्तमल नष्ट नहीं होता, और विवेक या ज्ञानकी उत्पत्ति भी नहीं होती ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

अन्वय—युक्तः (योगयुक्त पुरुष) कर्मफलं (कर्मफलको) त्यक्त्वा (त्याग करके) नैष्ठिकीम् (आत्यन्तिक) शान्ति (शान्तिको) आप्नोति (प्राप्त करता है) अयुक्तः (अयोगी अर्थात् बहिर्मुख व्यक्ति) कामकारेण (कामना द्वारा) फले सक्तः (फलमें आसक्त होकर) निबध्यते (बन्धनको प्राप्त होता है) ॥ १२ ॥

श्रीधर—ननु कथं तेनैव कर्मणा कश्चिन्मुच्यते कश्चिद्बध्यत इति व्यवस्था ? अत आह—युक्त इति । युक्तः परमेश्वरैकनिष्ठः सन् कर्मणां फलं त्यक्त्वा कर्माणि कुर्वन्नात्यन्तिकीं शान्तिं मोक्षं प्राप्नोति। अयुक्तस्तु बहिर्मुखः कामकारेण कामतः प्रवृत्त्या फलासक्तो नितरां बन्धं प्राप्नोति ॥१२॥

अनुवाद—[कर्मके द्वारा ही कोई मुक्त होता है, कोई बद्ध होता है—ऐसी व्यवस्था क्यों है ?—इसीलिए कह रहे हैं]—परमेश्वरमें एकनिष्ठ पुरुष कर्मफलका त्याग करते हुए कर्म करके, आत्यन्तिकी शान्ति या मोक्षको प्राप्त होता है। परन्तु अयुक्त अर्थात् बहिर्मुख पुरुष कामनावश कर्ममें प्रवृत्त होनेके कारण फलमें आसक्त होकर बन्धनको प्राप्त होता है ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें स्थिर होकर—कर्मफलरहित होकर—'मैं भी कुछ नहीं, मेरा भी कुछ नहीं'—इस प्रकारके चित्तमें रहकर विशेषरूप स्थिति प्राप्त करता है। जो कोई ब्रह्ममें लगा नहीं और फलाकांक्षाके साथ कर्म करता है—वह निःशेषरूपसे आबद्ध होता है।—साधन करके साधनाकी परावस्थामें निःशेषरूपसे स्थिति लाभ होनेपर नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त होती है—यही योगयुक्त अवस्था कहलाती है। 'मैं, मेरा' करता हुआ ही तो जगत्का जीव दिन-रात सन्तप्त होता रहता है, जब क्रिया करके इस प्रकारकी योगयुक्त अवस्था प्राप्त होती है—तब 'मैं, मेरा' कुछ नहीं रहता, उस समय मानो किसीके साथ 'मैं' का सम्बन्ध नहीं रहता, अतएव विषय-वासनाकी आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है, और सन्तापके निवृत्त होने पर परमा शान्तिका उदय होता है। इस शान्तिमयी अवस्थाकी फिर कभी विच्युति नहीं होती। परन्तु जो थोड़ी क्रिया करते हैं या करते ही नहीं, उनका चित्त बहुत विषयोंमें दौड़ता है, और विषय प्राप्त कर कभी उल्लसित होता है और न पाकर कभी शोक-ग्रस्त हो जाता है। यही जीवभाव या बद्धावस्था है। जो लोग साधन करके युक्त नहीं हो सकते, उनका बन्धन कभी नहीं छूटता, अतएव उनको शान्ति भी नहीं मिलती ॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥१३॥

अन्वय—वशी (संयतचित्त) देही (पुरुष) मनसा (मनद्वारा) सर्वकर्माणि (सारे कर्मोंको) संन्यस्य (परित्याग करके) नवद्वारे पुरे (नवद्वार युक्त देह-पुरमें) न एव कुर्वन् (कुछ न करके) न एव कारयन् (तथा किसीसे कुछ न कराते हुए) सुखं (सुखमें) आस्ते (अवस्थान करता है) ॥१३॥

श्रीधर—एवं तावत् चित्तशुद्धिशून्यस्य संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यत इत्येतत् प्रपञ्चितम् । इदानीं शुद्धचित्तस्य संन्यासः श्रेष्ठ इत्याह—सर्वकर्माणीति । वशी यतचित्तः । सर्वाणि कर्माणि विक्षेपकाणि मनसा विवेकयुक्तेन संन्यस्य सुखं यथा भवत्येवं ज्ञाननिष्ठः सन्नास्ते । क्वास्त इति ? अत आह—नवद्वारे । नेत्रे नासिके कर्णौ मुखं चेति सप्त शिरोगतानि, अधोगते द्वे पायूपस्थरूपे इति । एवं नव द्वाराणि यस्मिन् तस्मिन् पुरे पुरवदहङ्कारशून्ये देहे देह्यवतिष्ठते । अहंकाराभावादेव स्वयं तेन देहेन नैव कुर्वन् । ममकाराभावाच्च नैव कारयन्—इत्यविशुद्धचित्ताद् व्यावृत्तिरुक्ता । अशुद्धचित्तो हि संन्यस्य पुनः करोति कारयति च । न त्वयं तथा । अतः सुखमास्त इत्यर्थः ॥१३॥

अनुवाद—[अब तक अशुद्धचित्तके लिए संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ कहा गया, अब शुद्धचित्त व्यक्तिके लिए संन्यास श्रेष्ठ है, यह बतलाते हैं]—संयतचित्त पुरुष सारे विक्षेपक कर्मोंका विवेकयुक्त मनके द्वारा त्याग करके सुखमें अर्थात् ज्ञाननिष्ठ होकर अवस्थान करता है। कहाँ अवस्थान करता है ? नेत्रद्वय, नासिकाद्वय, कर्णद्वय, मुख, पायु और उपस्थ रूप नवद्वारोंसे युक्त पुरमें अर्थात् पुरवत् अहङ्कारशून्य देहमें देही अवस्थान करता है। अहङ्कारके अभावके कारण वह स्वयं देह द्वारा कुछ नहीं करता । ममकार (मेरापन) के अभावमें किसीके द्वारा कुछ कराता भी नहीं । इसके द्वारा शुद्धचित्त और अशुद्धचित्तकी व्यावृत्ति कही गयी । अशुद्धचित्त संन्यास लेकर पुनः कर्म करता-कराता है। परन्तु शुद्धचित्त वैसा नहीं करता । अतएव वह सुखसे अवस्थान करता है ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब कर्मोंका मनसे त्याग करके—(कर्मका अर्थ यहाँ अनावश्यक कर्म है)—सुखसे बैठकर—सबको वशमें करे। देहके मध्यमें कूटस्थ है, उसके नव द्वार खुले हैं, वह कुछ करता नहीं और कराता भी नहीं ।—साधनाके द्वारा जिसका मन सङ्कल्पशून्य हो गया है, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ स्वभाववश कर्म तो करती हैं, परन्तु उन कर्मोंमें देहीको अभिमान नहीं रहता। अतएव वस्तुतः उससे कोई कर्म नहीं होता। उसको वासना न होनेके कारण, कोई कर्म किसीके द्वारा करानेका प्रयोजन ही नहीं होता । उसकी सारी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, अर्थात् स्वतन्त्र इन्द्रियाँ जिस प्रकार देहीको बलपूर्वक शुभाशुभ कर्म कराकर विपन्न करती हैं, यहाँ वैसा होनेकी संभावना नहीं होती । क्योंकि इन्द्रियाँ वशीभूत होनेके कारण भृत्यके समान उसकी सेवा करती हैं, उसके ऊपर प्रभुत्व नहीं करतीं । किसी कर्मके सफल होने पर भी

वह आह्लादसे उत्फुल्ल नहीं होता, और न किसी प्रकारकी विपत्ति आने पर कातर ही होता है। क्योंकि जो मन यह सब तमाशा करता है वह बिल्कुल अवरुद्ध रहता है। मनका सङ्कल्प और बुद्धिका निश्चय दोनों ही समाप्त हो जाते हैं, इसलिए उसकी अपनी क्रिया भी कुछ नहीं रहती। केवल सुखमें वास करता है अर्थात् सु=शोभनं, खं=शून्यं या आकाशमें, अर्थात् परमानन्दरूप आत्मामें उसकी अवस्थिति होती है। उस समय देहमें देहीके नवों द्वार खुले रहते हैं अर्थात् सब द्वारोंसे काम होता है। परन्तु आत्मानन्दमें अवस्थानके कारण उसका कार्यमें अभिमान नहीं होता, इसी कारण वह कुछ करता नहीं है और न कुछ कराता ही है। "यथा चन्द्रिकाणां जले चञ्चलत्वं तथा चञ्चलत्वं तवापीह विष्णोः"। तुम स्वयं स्थिर हो, परन्तु चञ्चल जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्र-छाया की तरह चञ्चल जान पड़ते हो; यह भ्रमात्मक है। उसी प्रकार आत्मा चिर स्थिर है, परन्तु प्रकृति या देहकी विविध गति हो रही है—इसे देखकर आत्माकी ही गति हो रही है ऐसा जान पड़ना भी संभव है। निष्क्रिय आत्माका कर्तृत्व भोक्तृत्व भासमान होने पर भी स्वरूपतः वह सत्य नहीं है ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

अन्वय—प्रभुः (ईश्वर) लोकस्य (मनुष्यका) न कर्तृत्वं (न कर्तृत्वको) न कर्माणि (न कर्मोंको) न कर्मफलसंयोगं (और न कर्मफलके संयोगको) सृजति (सृजता है) तु (किन्तु) स्वभावः (अविद्या-लक्षण-रूप माया ही) प्रवर्तते (प्रवृत्त होती है) ॥१४॥

श्रीधर—ननु—'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते।' इत्यादिश्रुतेः परमेश्वरेणैव शुभाशुभफलेषु कर्मसु कर्तृत्वेन प्रयुज्यमानोऽस्वतन्त्रः पुरुषः कथं तानि कर्माणि त्यजेत्? ईश्वरेणैव ज्ञानमार्गे प्रयुज्यमानः शुभान्यशुभानि च त्यक्ष्यतीति चेत्? एवं सति वैषम्यनैर्घृण्याभ्यामीश्वरस्यापि प्रयोजककर्तृत्वात् पुण्यपापसम्बन्धः स्यादित्याशङ्क्याह—न कर्तृत्वमिति द्वाभ्याम्। प्रभुरीश्वरो जीवलोकस्य कर्तृत्वादिकं न सृजति। किन्तु जीवस्य स्वभावोऽविद्यैव कर्तृत्वादिरूपेण प्रवर्तते। अनाद्यविद्याकामवशात् प्रवृत्तिस्वभावं जीवलोकमीश्वरः कर्मसु नियुङ्क्ते। न तु स्वयमेव कर्तृत्वादिकमुत्पादयतीत्यर्थः ॥१४॥

अनुवाद—कौषीतकी ब्राह्मणमें है "परमेश्वर जिसे इहलोकसे उन्नीत करनेकी इच्छा करता है उससे साधु कर्म कराता है और जिसे अधोलोक ले जानेकी इच्छा करता है उससे असाधु कर्म कराता है।" यदि परमेश्वर द्वारा ही शुभाशुभ फलप्रद कर्ममें जीव नियुक्त होता है तो पुरुष अस्वतन्त्र है, अतएव वह किस प्रकार सब कर्मोंका त्याग कर सकेगा? और यदि ईश्वर द्वारा ज्ञानमार्गमें प्रयुज्यमान होकर जीव शुभाशुभका त्याग करता है तो वैषम्य और नैर्घृण्यसे ईश्वरका प्रयोजक कर्तृत्व होनेके कारण पाप-पुण्य उसीको लगेगा—इस आशंकाका उत्तर देते हैं]—प्रभु ईश्वर जीवोंके कर्तृत्वादिकी सृष्टि नहीं करते। बल्कि जीवका "स्वभाव" अविद्या ही कर्तृत्व

आदिके रूपमें प्रवृत्त होती है। अनादि अविद्याकी प्रेरणाके कारण प्रवृत्तिस्वभाव वाले जीवोंको ईश्वर कर्ममें नियुक्त करते हैं। स्वयं कर्तृत्वादिको उत्पन्न नहीं करते ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं करता हूँ, इस प्रकार कूटस्थ नहीं कहता—वह कर्मभी कुछ नहीं करता फलाकांक्षाके साथ—परन्तु सबको सृजन करता है—और प्रकृष्टरूपमें होता है—उसमें कर्मफलका कुछ संयोग नहीं—अपने भावमें ही वह रहता है। भाव अर्थात् त्रिगुणातीत स्थिति क्रियाके पश्चात्।—ईश्वर जीवके कर्तृत्वको पैदा नहीं करता, जीवके कर्मको उत्पन्न नहीं करता, और सुख-दुःखरूपी कर्मफलके सम्बन्धको भी पैदा नहीं करता। अर्थात् वह कर्मका उत्पादक नहीं है, प्रेरक नहीं है, फलदाता नहीं है, और फलभोक्ता भी नहीं है। भगवान्‌ने इतना कहकर अपने कंधेसे सारा बोझ उतार दिया। आत्मा निर्लिप्त है, अतएव उसके ऊपर कर्तृत्वादि दोष नहीं आता, और देहादिके जड़ होनेके कारण उनमें भी कर्तृत्वादि संभव नहीं, तब फिर यह जगत्-व्यापार और कर्माकर्मका भोग आया कैसे? और वह भोग करेगा ही कौन? तब तो सारा दोष, सारे भोग भगवान्‌के कन्धे पर डालना होगा, उनको निर्लिप्त कहनेसे कौन मानेगा? तथा "स्वभावस्तु प्रवर्तते" कहनेसे ही वह कर्मफलके भोगसे मुक्ति नहीं पा सकते। अब यह जानना है कि वास्तविक भोग किसको होता है? श्रीमदाचार्य शङ्करने इस श्लोककी व्याख्या करते हुए भगवान्‌की ही बातको प्रतिध्वनित किया है—अविवेकी सांसारिक पुरुषका ज्ञान अज्ञानाच्छन्न होनेके कारण 'करोमि कारयामि भोक्ष्ये भोजयामि'—करता हूँ, कराता हूँ, भोगता हूँ, भोगाता हूँ—इस प्रकार अज्ञानमूढ़ होकर ही सब लोग बोलते हैं। असलमें यह व्यापार जैसा देखनेमें आता है वैसा है नहीं। अनादि अविद्या ही जीवको पूर्वकर्मोंके संस्कारके अनुसार कार्यक्षेत्रमें लगाये रहती है। परन्तु इस विषयमें ज्ञान न होनेके कारण प्रयुक्त जीव इसे अपना कार्य समझकर अभिमान करता है और कर्मफलमें आबद्ध होता है, जैसे भूताविष्ट जीव भूतकी कर्म-प्रेरणाको अपनी ही चेष्टा मान लेता है। जीवका यह भूतावेश भाव छुड़ा सकने पर सब गड़बड़ी मिट जायगी। भूतावेश क्यों होता है, यह कोई ठीक ठीक बतला नहीं सकता, पर भूत छुड़ाया जाता है। स्वभाव ही सब कर्मोंका प्रवर्त्तक है। अनादि प्रवृत्त वासना ही स्वभाव है, इसीलिए अनादिकालसे प्रत्येक जीवका अपना अपना एक स्वभाव है, इस स्वभावके द्वारा ही प्रत्येक जीव सञ्चालित होता है। अज्ञानने कब आकर मुझे घेर लिया यह कोई नहीं बतला सकता। परमात्मा स्वभावशून्य है, फिर यह जीव स्वभावयुक्त क्यों हुआ? यह अत्यन्त रहस्यमय बात है, इसका कारण खोजते समय लोगोंने जो जो प्रलाप किये हैं उनकी सीमा नहीं है। "स्वभाव ईश्वरस्य प्रकृतिः त्रिगुणात्मिका माया"—त्रिगुणात्मिका माया ही ईश्वरकी प्रकृति है। इस प्रकृतिके बिना जगत्‌का सृजन नहीं होता। जीवकी अनादि वासना ही उसकी प्रकृति है—इस वासनाके बिना जीवका संसार नहीं बनता। ईश्वरकी प्रकृति सत्त्व, रजः और तमोगुण ही हैं, यह प्रकृति ही सब कार्य करती है। जीवके अनादि जन्मोंके संस्कार वर्तमान जन्मकी समस्त वासनाओंके मूलमें वर्त्तमान रहते हैं।

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः"—सारे कर्म प्रकृतिके गुण इन्द्रियादिके द्वारा निष्पादित होते हैं—जीव बद्ध क्यों होता है ? "अहङ्कारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते"—अहङ्कारसे विमूढ़-चित्त व्यक्ति 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा मानता है। इसी कारण जीव बद्ध होता है। भगवान्की भी वही प्रकृति विश्वकी रचना करती है, परन्तु उनका कर्ममें कर्त्तृत्वाभिमान नहीं है अतएव इतने बड़े विश्वकार्यमें भी वह आबद्ध नहीं होते। इससे ज्ञात हुआ कि जीवका भी स्वभाव है और ईश्वरका भी स्वभाव है। जीव और ईश्वरमें अन्तर इतना ही है कि जीवका स्वभाव जीवके कर्मका नियन्ता है, और वह अपने स्वभावके साथ मिलकर आत्मविस्मृत हो जाता है। ईश्वरके स्वभाव या मायाके द्वारा जगद्-व्यापार रूप कार्य तो होता है, परन्तु उससे वह लिप्त नहीं होते, ईश्वर अपने स्वभावके द्रष्टा मात्र हैं, वह जीवके समान प्रकृतिके वशीभूत नहीं हैं, वह मायाके अधीश्वर हैं। "न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥" सारे कर्मफल मुझे आसक्त नहीं करते, कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं—इस प्रकार जो मुझे जानता है वह कर्ममें आबद्ध नहीं होता—अर्थात् उसके भी अहङ्कारादि शिथिल हो जाते हैं। इससे देखा जाता है कि अहङ्कार ही समस्त व्यापारोंका मूल कारण है। भगवान् अपनी मायाको लेकर लीला करते हैं, और जीव उसे वास्तविक मानकर खेल करता है और विपद्में पड़ने पर हाहाकार करता है। अतएव अज्ञान ही जीवको बद्ध करता है और विपन्न बनाता है। इस अहङ्कारके नाशका उपाय है निरभिमान होना। यह कैसे हो सकता है ? सद्गुरुने कहा है—"मैं करता हूँ ऐसा कूटस्थ नहीं कहता —कर्म भी वह कुछ नहीं करता फलाकांक्षाके साथ—परन्तु सबकी सृष्टि करता है —और प्रकृष्ट रूपमें होता है—कर्मके फलका कुछ संयोग नहीं है उसमें, अपने ही भावमें वह रहता है"—कूटस्थके बिना यह जगदादि व्यापार कुछ भी प्रकाशमें नहीं आता, उसने सबकी सृष्टि की है, वह स्वयं ही सब कुछ हो गया है—परन्तु निरहङ्कार होनेके कारण कर्मके साथ किसी फलका संयोग नहीं होता, वह करके भी कुछ नहीं करता। केश-लोमके उद्गमके समान यह सारा जगत्-ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है, परन्तु किसीको वह प्रयास करके प्रकट नहीं करता और वह प्रकट होकर जो जो लीला करते हैं उन सबके प्रकाश भाव भी उसे आकर्षित नहीं कर सकते। वह अपने भावमें आपही मग्न रहता है। इसी कारण दुःखसे पीड़ित आर्त्त जीवको वह मानो कहता है कि तुम यह सब जगद्-व्यापार देखकर इतना विचलित क्यों हो रहे हो ? तुम अपने आप क्रिया द्वारा क्रियाकी परावस्थामें मग्न हो जाओ, तब देखोगे कि यह सारा जगद्व्यापार तुमको स्पर्श ही नहीं कर रहा है। यह सब स्वप्नवत् तुच्छ है। यह जगत्-स्वप्न तब टूट जायगा, जब तुम देह, मन, बुद्धि, प्रकृतिको अपना कहकर अहंकार न करोगे। तुम कौन हो, इसका परिचय तुमको क्रियाकी परावस्थामें हो जायगा। स्वप्न टूट जाने पर स्वप्नमें देखे गये व्याघ्र-सर्पादि किसीके अस्तित्वका जैसे पता नहीं मिलता, क्रियाकी परावस्थामें भी क्रियावान् आत्मानन्दमें डूबकर उसी प्रकार जगद्-व्यापारके चिह्नको भी नहीं देख पाता। तुम्हें

केवल प्रबुद्ध होना पड़ेगा, श्रद्धापूर्वक क्रिया करनी होगी, उसके द्वारा क्रियाकी परावस्थामें सारे स्वप्नोंका अवसान देखकर निश्चिन्त हो जाओगे। उस त्रिगुणातीत स्थितिमें सारा इन्द्रजाल उड़ जायगा। अन्ध तमससे आच्छन्न घरमें प्रज्वलित दीप जैसे गृहको आलोकित करता है—उसी प्रकार कूटस्थ ज्योति इस जड़ अन्ध देहको जीवनमय करके प्रकाशित करती है। तब देहमें समस्त इन्द्रियादि जीवित और जाग्रत हो उठते हैं जो स्वयं जड़स्वभाव हैं। कूटस्थकी स्वतः प्रकाशित ज्योतिसे वे चैतन्यमय जान पड़ती हैं। कूटस्थका स्वभाव कर्म करना नहीं है। वह स्वतः आनन्दमय विज्ञानघन चैतन्य या पुरुष हैं। परन्तु इस पुरुषका चैतन्य देहेन्द्रियादिमें विच्छुरित होकर उनको चेतनायुक्त करता है। तब इन जड़ोंके भीतर क्रिया और कर्तृत्वभाव स्फुरित होता है। इस प्रकार कूटस्थ सबकी सृष्टि करता है, क्योंकि जो कुछ प्रकाश है सब कूटस्थके ही प्रकाशसे उत्पन्न है। परन्तु असलमें कूटस्थमें कर्म नहीं होता। अतएव कर्मफलका संयोग भी नहीं होता। वह अपने भावमें आप मग्न होता है। यही भावातीत क्रियाकी परावस्था है। इस क्रियाकी परावस्थामें जो रहता है उसको अहं अभिमान नहीं होता, अतएव प्रकृतिकृत कर्ममें उसका कर्मफल उत्पन्न कैसे हो सकता है? तब क्या "प्रकृति" एक विभिन्न वस्तु है, और आत्मासे वह पृथक् है? ऐसी बात नहीं है। जलमें तरङ्ग उठती है, वह तरङ्ग जलका एक स्वभाव है। यह स्वभाव ही प्रकृति है। जन्मजन्मान्तरमें अर्जित वासना ही स्वभाव या प्रकृति रूपमें कार्य करती है। जब दीर्घकाल तक बारम्बार क्रिया-साधनाके द्वारा वासना निर्मूल होती है तब स्वभावके परिवर्तनसे सुख-दुःखादिका संयोग भी नहीं रहता। यह स्वभावयुक्त आत्मभाव ही जीवभाव है। स्वभाव या प्रकृतिसे स्वतन्त्र भाव ही ईश्वरभाव है, और स्वभाव या प्रकृतिसे मुक्तभाव ही ब्रह्मभाव है। यह प्रकृति आत्माको वेष्टन किये रहती है—जीव + आत्मा पर्यन्त, जीवत्वके साथ प्रकृतिका सम्बन्ध है। जीवत्व छूट जाने पर साथ ही साथ प्रकृति भी आत्माके मध्यमें विलीन हो जाती है। आत्मा प्रकृतिसे युक्त होकर जब जीव हो जाता है, तब भी उसमें शिवभाव नष्ट नहीं होता। इसीसे जीवके जीवत्व नष्ट होनेका उपाय भगवानने गीतामें अर्जुनको अनेक प्रकारसे समझाया है। आत्माके साथ प्रकृतिके संयुक्त होने पर ही जीव-भावकी अनन्त ऊर्मियाँ तरङ्गित होती दीख पड़ती हैं। परन्तु प्रकृतिका इतना बन्धन होने पर भी उसमें जीवको स्वाधीनता है। रागद्वेषादि तरङ्गयुक्त जीव-नदीमें ज्ञानकी अन्तः-सलिलाके प्रवाहकी एक धारा भी वर्तमान रहती है, उसीको खोजकर बाहर निकालना पड़ेगा। खोजने पर ही वह प्राप्त हो जायगी। तब त्रस्त और व्याकुल जीव अभय प्राप्त करता है और यह जीवके लिए साध्यातीत नहीं है, इसीलिए भगवान्ने अर्जुनको प्रकृतिकी भयप्रद शक्तिका उल्लेख करते हुए कहा है कि—यद्यपि इन्द्रियोंका इन्द्रिय-विषयोंके प्रति राग-द्वेष स्वाभाविक है, परन्तु तुम उनके वशमें क्यों चलोगे? तुम्हारा तो मार्ग ही और है, तुम इन्द्रियोंके मार्गसे क्यों चलोगे? उनके मार्गसे चलने पर तुम अपने निकेतनमें नहीं पहुँच सकोगे, तुम अपनेको नहीं समझ सकोगे, तुम अपने आपमें प्रतिष्ठित नहीं हो सकोगे। प्रकृतिमें गुण-वैषम्यके कारण विभिन्न

फल उत्पन्न होते हैं, परन्तु आत्मामें गुण साम्यावस्थाको प्राप्त होते हैं, अतएव वहाँ विभिन्न कर्म या विभिन्न फलादि कुछ भी नहीं रह सकते। अतएव तुम क्रिया करके आत्मस्थ होनेकी चेष्टा करो, तुम्हारा स्वभाव बदल जायगा, तुम्हारा जीवत्व छूट जायगा और शिवत्वकी प्राप्ति होगी ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

अन्वय—विभुः (परमेश्वर) कस्यचित् (किसीका) पापं न आदत्ते (पाप ग्रहण नहीं करते) सुकृतं च एव (और पुण्य भी) न (ग्रहण नहीं करते), अज्ञानेन (अज्ञानके द्वारा) ज्ञानम् (ज्ञान) आवृतम् (आवृत है), तेन (इसी कारण) जन्तवः (प्राणी) मुह्यन्ति (मुग्ध होते हैं) ॥१५॥

श्रीधर—यस्मादेवं तस्मात्—नादत्त इति। प्रयोजकोऽपि सन् प्रभुः कस्यचिद् पापं सुकृतं च नैवादत्ते न भजते। तत्र हेतुः—विभुः परिपूर्णः। आप्तकाम इत्यर्थः। यदि हि स्वार्थकामनया कारयेत्तर्हि तथा स्यात्। न त्वेतदस्ति। आप्तकामस्यैवाचिन्त्यनिजमायया तत्तत्पूर्वकर्मानुसारेण प्रवर्त्तकत्वात्। ननु भक्ताननुगृह्णतोऽभक्तान्निगृह्णतश्च वैषम्योपलम्भात् कथमाप्तकामत्वमिति ? अत आह—अज्ञानेनेति। निग्रहोऽपि दण्डरूपोऽनुग्रह एवेति। एवमज्ञानेन सर्वत्र समः परमेश्वर इत्येवंभूतं ज्ञानमावृतम्। तेन हेतुना जन्तवो जीवा मुह्यन्ति। भगवति वैषम्यं मन्यन्त इत्यर्थः ॥१५॥

अनुवाद—जब ऐसी बात है तो प्रभु प्रयोजक होने पर भी किसीके पाप-पुण्यके भागी नहीं हैं। इसका कारण यह है कि वह 'विभु' परिपूर्ण और आप्तकाम हैं। यदि वह स्वार्थ-कामनासे इस प्रकार पाप-पुण्यमें नियोजित करते तो ऐसा हो सकता। परन्तु उनका कोई स्वार्थ नहीं है। वह आत्मकाम प्रभु अपनी अचिन्त्य मायाके द्वारा जीवको तत्तत् पूर्वकर्मोंके अनुसार कर्माकर्ममें प्रवृत्त करते हैं। परन्तु वह भक्त पर अनुग्रह और अभक्त पर निग्रह करते हैं, अतएव उनमें भी वैषम्य देखा जाता है, तब फिर वह आप्तकाम कैसे हुए ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"परमेश्वर सर्वत्र सम हैं"—यह ज्ञान अज्ञानसे आवृत रहता है, इसी कारण जीव मोहको प्राप्त होता है अर्थात् भगवान्में वैषम्यको देखता है ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वह किसीको पाप-पुण्य नहीं देते—अपने आपमें न रहकर अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि डालकर पाप-पुण्यसे जड़ीभूत होता है अतएव उससे मुग्ध हो जाता है—आत्मचिन्तन नहीं होता।—जीव क्यों मोहित होता है ? क्योंकि अज्ञानके द्वारा ज्ञान आवृत होने पर अपने आपमें रह नहीं सकता। जीव देहात्माभिमानके कारण आसक्तिपूर्वक सर्वत्र दृष्टि करता है, अतएव 'सम'-भावके नष्ट होने पर जीव पाप-पुण्यादि कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। इस अवस्थामें बहिर्दृष्टि बढ़ती है, अतएव आत्मचिन्तन नहीं होता। यद्यपि श्रुति-स्मृतिमें कहा है कि भगवान् ही जीवको पाप-पुण्यात्मक कर्ममें प्रवृत्त करते हैं—"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो

लोकेभ्य उन्निनीषते । एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधोनिनीषते ।" —जिसको भगवान् स्वर्गलोक ले जाना चाहते हैं, उसको यहाँ पुण्य-कर्ममें लगाते हैं, और जिसको अधोलोकमें भेजना चाहते हैं उसको यहाँ पापकर्ममें लगाते हैं। यदि यही ठीक है तो पुण्य-पापात्मक कर्मके लिए जीव उत्तरदायी नहीं हो सकता। तथापि वह पुण्य-पाप किसीको नहीं देते, यह कहकर अपने सिरसे कर्मका बोझ उतारना चाहते हैं, इससे भगवद्वाक्यमें कुछ सन्देह होता है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि आत्मा निष्क्रिय है, उसमें कर्त्तृत्वारोप नहीं हो सकता; परन्तु श्रुतिवाक्यमें जो ईश्वरीय प्रेरणा कही गयी है, वह आवरण-विक्षेपादि-शक्तियुक्त प्रकृतिकी प्रेरणा है। ईश्वरेच्छा ही प्रकृतिका दूसरा नाम है। वह आत्मभाव नहीं है। आत्मभाव स्थिर है—अनात्मभाव या प्रकृतिका भाव ही विक्षेप है। यही ईश्वरीय माया है। अच्छा, तो क्या अज्ञान या माया इतनी बड़ी है कि वह अपने आश्रय-दाताको भी तमसावृत कर देती है? नहीं, ज्ञानको अज्ञान आवृत नहीं कर सकता, केवल कुछ समयके लिए आच्छादितवत् जान पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जैसे मेघ सर्वव्यापी सुनिर्मल आकाशको आच्छन्न कर देता है। अनन्त सागरके वक्षःस्थल पर क्षणस्थायी बुद्बुदके स्फुरणके समान ज्ञानके समुद्रमें अज्ञानके बुद्बुद् भासित हो उठते हैं, परन्तु फिर वे सागरके गर्भमें ही विलीन हो जाते हैं। इसलिए आत्माको या भगवान्को प्रयोजक कर्त्ता नहीं कह सकते, क्योंकि वह आप्तकाम और विभु हैं। परन्तु जब मन चञ्चल होकर बहिर्दृष्टिसम्पन्न होता है तो जीव अपने स्वरूपको देखनेमें असमर्थ हो जाता है। यह अचिन्त्य मायाका प्रभाव है, जिससे स्वरूपविस्मृति पैदा होती है, देहाभिमानके कारण सर्वत्र अपनेमें कर्त्तृत्वाभिमान होता है। पाप-पुण्य, सुख-दुःखका यही कारण है। आत्मक्रियाके द्वारा आत्मस्थ होने पर आत्माका विभुपद अर्थात् सर्वव्यापकत्व अनुभूत होता है। सर्वव्यापक होने पर फिर स्थूल आकृतिविशिष्ट वह नहीं रह सकता, तब सर्वभूतोंका आत्मा होकर चिन्मात्ररूपमें उपलक्षित होता है। इस अवस्थामें देह-सम्बन्ध नहीं रहता, अतएव कर्माकर्म, पाप-पुण्य सब निःशेष रूपसे विलीन हो जाते हैं। यही मायाके उस पारका देश है, जो अज्ञान-तमसे परे है। यही "स्वधाम" या "वैकुण्ठधाम" है। "धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं"— इस स्वधाममें मायाका प्रभाव निरस्त हो जाता है ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

अन्वय—येषां तु (परन्तु जिनके) आत्मनः ज्ञानेन (आत्माके ज्ञान या विचारके द्वारा) तत् अज्ञानं (वह अज्ञान) नाशितं (विनष्ट हो जाता है) तेषां (उनका) ज्ञानं (ज्ञान) आदित्यवत् (सूर्यके समान) तत् परं (उस परब्रह्मको) प्रकाशयति (प्रकाशित करता है) ॥१६॥

श्रीधर—ज्ञानिनस्तु न मुह्यन्तीत्याह—ज्ञानेनेति। भगवतो ज्ञानेन येषां तद्वैषम्योपलम्भकं अज्ञानं नाशितम्। तज्ज्ञानं तेषामज्ञानं नाशयित्वा तत्परं परिपूर्णमीश्वरस्वरूपं प्रकाशयति। यथादित्यस्तमो निरस्य समस्तं वस्तुजातं प्रकाशयति तद्वत् ॥१६॥

अनुवाद—[ज्ञानी लोग मोहको प्राप्त नहीं होते, इस विषयमें कहते हैं] —भगवद्विषयक ज्ञानके द्वारा जिसका यह वैषम्य-बोधक अज्ञान विनष्ट हो जाता है, वह ज्ञान उस जीवके अज्ञानका नाश कर "तत्परं" अर्थात् परिपूर्ण ईश्वरके स्वरूपको प्रकाशित कर देता है। जिस प्रकार आदित्य अन्धकारको दूरकर सारी वस्तुओंको प्रकाशित करता है, ठीक उसी रूपसे ज्ञान अज्ञानको नाश करके परमार्थतत्त्वको प्रकाशित करता है ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आत्मामें रहने पर अनात्मामें रहना अर्थात् अन्य ओर दृष्टिका नाश हो जाता है, उसके बाद आत्मामें रहते रहते सूर्यके समान कूटस्थको देखता है और (अपने) स्वप्रकाश स्वरूप हो जाता है—अनुभव होता है।—पूर्व श्लोकमें कथित अवस्थाका अनुभव कर लेने पर साधकको जो अवस्था प्राप्त होती है, उसीका यहाँ वर्णन करते हैं। साधक आत्मस्थ हो जाने पर अनात्म-दृष्टियोंसे रहित हो जाता है, इस अवस्थामें कूटस्थका आदित्यवत् प्रकाश अनुभवमें आता है। इस प्रकाशके साथ निखिल वस्तुजातके ज्ञानका उदय होता है, अणु-परमाणुओंमें प्रवेश प्राप्त होता है और उस अवस्थामें साधकको भूत-भविष्यत कुछभी अज्ञात नहीं रहता। समाधिनिष्ठ पुरुषकी यह अवस्था स्वतःसिद्ध होती है। समाधिसे उतरने पर फिर जब देहात्मबोध जाग्रत होता है तब फिर अज्ञान देहीको वेष्ठन कर लेता है। इस अज्ञानको अनादि बतलाया गया है, अतएव साधकके मनमें संशय होता है कि संसारका मूल कारण अज्ञान तो देहात्मबोधके साथ लौट आता है, तब साधन-भजन बेकार है ? परन्तु ऐसी बात नहीं है। कर्म यदि अज्ञानसे उत्पन्न होता है तो यह मनमें आना स्वाभाविक है कि कर्म अज्ञानका नाशक नहीं हो सकता। आसक्ति पूर्वक जो सांसारिक कर्म किये जाते हैं वे सामान्य कर्म हैं, अभ्यासवश जीव उन सारे कर्मोंको पुनः पुनः करके उसमें बद्ध होता है। परन्तु कर्म असाधारणभी हो सकते हैं, यदि वे इन्द्रियतृप्तिके लिए न करके भगवदर्पित-चित्तसे किये जायँ। कर्मोंको भगवदर्पितभावसे करनेके लिए वेदोंमें नित्य कर्मोंका उपदेश दिया है। क्रिया आदि भी वही नित्य अनुष्ठान करने योग्य कर्म है। क्रिया करते करते गुरुकी कृपासे क्रियाकी परावस्था प्राप्त होने पर नैष्कर्म्य या ज्ञान उत्पन्न होता है। इसीलिए शास्त्रमें उपदेश है—"आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः"—वर्णाश्रम-विहित कर्म करते करते कर्मके द्वारा चित्तशुद्धि होगी। चित्तशुद्धिके साथ साथ सर्वकर्मसंन्यास अपने आप हो जायगा। इस त्यागके द्वारा अज्ञानतम का नाश होता है और ज्ञानसूर्य प्रकाशित होता है। आत्मसाक्षात्कारके साथ साथ सर्वदुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति-पद साधकको आश्रय करता है ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

अन्वय—तद्बुद्धयः (उनमें ही जिनकी बुद्धि है अर्थात् जिनकी बुद्धि ब्रह्मनिष्ठ है) तदात्मानः (जिनका मन उनमें ही रहता है) तन्निष्ठाः (उनमें जिनकी निष्ठा है अर्थात् जो ब्रह्मनिष्ठ हैं) तत्परायणाः (परमात्मा ही जिनके एकमात्र आश्रय हैं अर्थात् जो ब्रह्मपरायण हैं, विषयपरायणता जिनमें नहीं है) ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः (ज्ञानद्वारा जिनके पाप धुल गये हैं) [वे सब ब्रह्मनिष्ठ पुरुष] अपुनरावृत्तिं (मोक्ष-पदको) गच्छन्ति (प्राप्त करते हैं) ॥१७॥

श्रीधर—एवंभूतेश्वरोपासकानां फलमाह—तद्बुद्धय इति। तस्मिन्नेव बुद्धि-र्निश्चयात्मिका येषाम्। तस्मिन्नेव आत्मा मनो येषाम्। तस्मिन्नेव निष्ठा तात्पर्यं येषाम्। तदेव परमयनमाश्रयो येषाम्। ततश्च तत्प्रसादलब्धेनात्मज्ञानेन निर्धूतं निरस्तं कल्मषं येषाम्। तेऽपुनरावृत्तिं मुक्तिं यान्ति ॥१७॥

अनुवाद—[इस प्रकार ईश्वरोपासकोंको क्या फल मिलता है, यही बतलाते हैं]—उनमें ही जिनकी निश्चयात्मिका बुद्धि है, उनमें ही जिनका मन है, उनमें ही जिनका तात्पर्य या एकाग्रता है, वही जिनके परम आश्रय हैं, उनके प्रसादसे प्राप्त आत्मज्ञानके द्वारा जिनके कल्मष अर्थात् पापका क्षय हो गया है—वे अपुनरावृत्ति अर्थात् मुक्ति लाभ करते हैं ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थमें बुद्धि स्थिर कर रखता है, आत्माको भी वहीं रखता है, निःशेषरूपसे स्थिति करके उसमें ही पड़ा रहता है, ऐसा होने पर पुनर्जन्म नहीं होता, आत्मामें सर्वदा रहने पर अन्य दिशामें दृष्टिरूपी पापसे निष्कृति पाता है।—कूटस्थमें एकाग्र लक्ष्य हो, अतएव अन्य कोई चिन्ता न आवे, बुद्धिमें नानात्व भाव न रहे, साधन द्वारा प्राणको स्थिर करे। वह स्थिर प्राण कूटस्थमें स्थिरतापूर्वक रहे। बाहरकी फिर उसकी कोई क्रिया न हो—इस प्रकारके आत्मलक्ष्यसम्पन्न पुरुषका कोई दूसरा लक्ष्य न हो तो पाप आयेगा किस प्रकारसे? तब तो सब कुछ ब्रह्ममय हो जायगा। यही है जीवन्मुक्त-अवस्था। पुनर्जन्मका मूल कारण अज्ञान ही उस समय विनष्ट हो जाता है ॥१७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

अन्वय—पण्डिताः (ज्ञानवान् लोग) विद्याविनयसम्पन्ने (विद्या और विनयसे युक्त) ब्राह्मणे (ब्राह्मणमें) गवि (गायमें) हस्तिनि (हाथीमें) शुनि (कुत्तेमें) श्वपाके च (और चाण्डालमें) समदर्शिनः एव (समदर्शी हुआ करते हैं) ॥१८॥

श्रीधर—कीदृशास्ते ज्ञानिनो येऽपुनरावृत्तिं गच्छन्तीत्यपेक्षायामाह—विद्याविनय-सम्पन्न इति। विषमेष्वपि समं ब्रह्मैव द्रष्टुं शीलं येषां ते पण्डिताः। ज्ञानिन इत्यर्थः। तत्र विद्याविनयाभ्यां युक्ते ब्राह्मणे च। शुनो यः पचति तस्मिन् श्वपाके चेति कर्मणा वैषम्यम्। गवि हस्तिनि शुनि चेति जातितो वैषम्यं दर्शितम् ॥१८॥

अनुवाद—[उस प्रकारके ज्ञानी कैसे होते हैं जिनको अपुनरावृत्ति गति प्राप्त होती है ? इसके उत्तरमें कहते हैं]—विषम वस्तुओंमें भी जिनको "सम" दर्शन करनेका स्वभाव हो गया है वे ही पण्डित या ज्ञानी हैं। वे विद्या और विनयसे युक्त ब्राह्मण और चाण्डालमें, गाय, हाथी और कुत्तेमें समदर्शी होते हैं। वे कर्मगत और जातिगत वैषम्यको नहीं देखते। सत्त्वगुणसम्पन्न ब्राह्मण, संस्कारवर्जित रजोगुणयुक्त गाय, तथा तमोगुणयुक्त चाण्डाल, कुत्ता और हाथी आदि सब प्राणी समदर्शी पण्डितकी दृष्टिमें समान हैं ॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अच्छे विद्वान् नम्र ब्राह्मण जिनके हाथमें पञ्चपात्र और कुश है—उनका अन्न, और एक चाण्डाल जिसने कुत्तेको मारकर पाक किया है वह—इन दोनोंको जो पण्डित होंगे समानरूपसे देखेंगे अर्थात् उनके लिए दोनों समान हैं—कारण क्रियाकी परावस्थामें मतवालेके समान किसी विषयकी विवेचना नहीं रहती।—क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त योगी सब कुछ ब्रह्ममय देखते हैं, अतएव विभिन्न वस्तुओं या प्राणियोंके भीतर भी कोई प्रभेद वह नहीं देख पाते। जैसे कूप, नदी, तालाब और समुद्रमें प्रतिबिम्बित सूर्य दर्शक पुरुषके सामने एक ही प्रकारका जान पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें विभिन्न देहमें प्रकटित चैतन्य एक ही जान पड़ता है। वह ऊँच-नीचका तारतम्य किसी प्राणीकी आत्मामें नहीं देखते। अज्ञानका नाश होने पर जगत्‌के सारे दृश्य उनके सामने एक समान लगते हैं, उपाधिगत दोष-गुणके द्वारा वे विचलित नहीं होते। मतवालेको जैसे पवित्रापवित्र स्थानका विचार नहीं होता, उसी प्रकार क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त योगी मद्यपीके समान मत्त होते हैं, वह अपने भावमें आप निमग्न होते हैं, बाहरी नाम-रूपके प्रति उनका बिल्कुल ही लक्ष्य नहीं होता। यदि समदृष्टि ज्ञानका लक्षण है तो आजकलकी जाति-भेदकी प्रथाको उठा देने वाली चेष्टाओंकी निन्दा कैसे की जा सकती है ? नहीं, इस प्रकारसे जातिको उठा देना ज्ञानका लक्षण नहीं है। यथार्थ ज्ञानका उदय होने पर कोई वैषम्य नहीं रहता, और साधककी किसी भी वस्तुके प्रति आसक्ति नहीं रहती। परन्तु जहाँ वर्णाश्रमका विध्वंस करके अन्य सैकड़ों भेद रखनेकी चेष्टा रहती है वहाँ जातिनाश ज्ञानका कार्य नहीं है। यह हमारी स्वेच्छा-चारिताका फल है। इसके द्वारा वास्तविक वैषम्य या भेदभाव नष्ट नहीं होता। बुद्धिमें जब तक जगत् और नानात्व दिखलायी देगा, तबतक भेदभावको उठा देनेकी इच्छा पागलकी प्रचेष्टा मात्र है। ब्रह्म सर्वत्र समान है, आकाशके समान सर्वत्र मिलित होकर भी वह वस्तुदोषसे दूषित नहीं होता, आत्माको इसी भावसे सबके भीतर देखना होगा। अतएव चाण्डालके भीतर जो आत्मा है वही

आत्मा ब्राह्मणके भीतर भी है—इस प्रकारसे किसी भेदका न होना ही सत्य है। आत्मा किसी वस्तुके गुणसे मिश्रित नहीं होता। परन्तु जबतक यह आत्मदृष्टि सम्यक् स्फुरित नहीं होती तबतक भेदज्ञान जगत्से उठ नहीं सकता। बलपूर्वक उठा देनेसे केवल अनर्थ ही उत्पन्न होगा। ज्ञानीके सामने ब्रह्मदृष्टिके कारण हीरा और काँच दोनों समान हैं, परन्तु अज्ञानी चाहे कितना ही उच्च स्वरसे कहे कि 'हम सब एक हैं,' वस्तुओंके इस गुणवैषम्यको भूल न सकेगा, परन्तु ज्ञानी ऐसी भूल नहीं करते ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

अन्वय—येषां (जिनका) मनः (मन) साम्ये स्थितं (ब्रह्मभावमें स्थित है) इह (इस लोकमें) तैः (उनके द्वारा) सर्गः (संसार) जितः (जीता गया है), हि (क्योंकि) ब्रह्म (ब्रह्म) समं निर्दोषं च (सम और निर्दोष है); तस्मात् (इसलिए) ते (वे अर्थात् समदर्शी पुरुष) ब्रह्मणि एव (ब्रह्ममें ही) स्थिताः (अवस्थित हैं) ॥१९॥

श्रीधर—ननु विषमेषु समदर्शनं निषिद्धं कुर्वन्तोऽपि कथं ते पण्डिताः ? यथाह गौतमः—समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः इति—गौतमधर्मसूत्रः। अस्यार्थः—समाय पूजाया विषमे प्रकारे कृते सति विषमाय च समे प्रकारे कृते सति स पूजक इहलोकात् परलोकाच्च हीयत इति। तत्राह—इहैवेति। इहैव जीवद्भिरेव तैः। सृज्यत इति सर्गः संसारः। जितो निरस्तः। कैः ? येषां मनः साम्ये समत्वे स्थितम्। तत्र हेतुः—हि यस्मात् ब्रह्म समं निर्दोषं च। तस्मात्ते समदर्शिनो ब्रह्मण्येव स्थिताः। ब्रह्मभावं प्राप्ता इत्यर्थः। गौतमोक्तस्तु दोषो ब्रह्मभावप्राप्तेः पूर्वमेव। पूजात इति पूजकावस्थाश्रवणात् ॥१९॥

अनुवाद—[किन्तु विषममें समदर्शन निषिद्ध है, ऐसा करनेसे वे पण्डित कैसे हो सकते हैं ? गौतमने कहा है कि जो असमान अवस्थापन्न पुरुषोंको समभावसे पूजते हैं, अर्थात् उत्तम व्यक्तिको अधमभावसे पूजने पर तथा अधमको उत्तमभावसे पूजने पर पूजक इहलोक और परलोकमें हीनताको प्राप्त होता है, अतएव समदर्शी पुरुष पापभागी क्यों न होगा ?—इस आशङ्काका उत्तर देते हैं]—जिनका मन समत्वमें अवस्थित है उनका संसार जीवित दशामें ही निरस्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि, क्योंकि ब्रह्म सम और निर्दोष है, अतएव वे समदर्शी ब्रह्ममें अवस्थान करते हैं अर्थात् ब्रह्मभावको प्राप्त होते हैं। और गौतमके द्वारा कथित दोष ब्रह्मभाव प्राप्तिकी पूर्वावस्थामें लगता है। गौतमने भी "पूजात" शब्दके द्वारा पूजकावस्थाको ही लक्ष्य किया है ॥१९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सुख इस संसारमें ही है—जिस किसीने समताको पाया है—ऐसा मन जो ब्रह्म है—उसको दोष नहीं, सर्वत्र समान है। उसकी स्थिति ब्रह्मयोनिमें सर्वदा रहती है।—प्राणके स्थिर होने पर जब मन स्थिर होता है तो समता प्राप्त होती है, समता-प्राप्त मनको फिर मन नहीं कहते, वह तब सम अर्थात् ब्रह्मस्वरूप

होता है। वह निर्दोष है, क्योंकि देह और देहमें अभिमान ही समस्त दोषोंका मूल है। मनःप्राणके स्थिर होने पर देहाभिमान नष्ट हो जाता है, देहाभिमान न रहने पर देही निर्दोष हो जाता है। तब सर्वत्र समबुद्धि होती है, विषयके विभिन्न भाव तब फिर बोधके विषय नहीं रह जाते। अतएव इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संस्पर्शसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखादि फिर पैदा ही नहीं होते। जब साधक आत्मसमाधिमें डूब जाता है तो मनके इस प्रकारके विविध विकार तथा उनके सुख-दुःखादि नाना प्रकारके फल साधकके सामने उपस्थित ही नहीं होते। अच्छा, समताको इतना उच्च स्थान क्यों दिया गया है ? सर्वत्र समज्ञान करने पर धर्मशास्त्र के मतसे धर्मविरुद्ध कार्य होता है, तब समदर्शी पुरुषको ब्रह्ममें अवस्थित मुक्त कैसे कहा जाता है ? जीवके साथ जीवकी पृथकता तो ठीक ही है, जड़ और चेतनमें आकाश-पातालका अन्तर वर्तमान है, तथापि इन सारे अनैक्य और वैषम्यके बीच भी एक परम ऐक्य वर्तमान है। यह परम ऐक्य-भाव ही जीवकी आत्मा है, अनन्त जड़ पदार्थोंकी यही सत्ता या अस्तित्वका मूल है। वह आत्मा या सत्तामय भाव आकाशवत् निर्लिप्त है। चिदाकाशके निर्लिप्त होनेके कारण ही देहादिके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। अतएव देहादिके विकार या तत्कृत शुभाशुभ उस चिदाकाशरूप आत्माको मलिन कैसे करेंगे ? जिसका मन साधनाके द्वारा इस चिदाकाशके साथ मिलकर एक हो गया है उसको फिर कोई पृथक् वस्तुज्ञान नहीं रहता। उसके सामने आब्रह्मस्तम्ब सब कुछ ब्रह्ममय है। अतएव शुचि अशुचि भी उसके सामने नहीं रह सकते। इसी कारण उसके सामने ब्राह्मण, चाण्डाल, गो, कुत्ता सब समभावसे मिले हुए हैं। अज्ञानीके सामने द्वैत प्रपञ्च वर्तमान होते हुए भी समदृष्टिसम्पन्न साधकेन्द्रके सामने सब कुछ फिर पृथक् पृथक् वस्तुएँ नहीं रहतीं, उसके सामने सब मिलकर एक अद्वितीय हो जाती हैं। यह एकता बाहर सबके साथ भोजन-पान करने से होती हो, ऐसी बात नहीं है। जिसकी ब्रह्मयोनिमें सदा स्थिति हो गयी है, उसको ही यह अवस्था प्राप्त होती है। ब्रह्मयोनि ही कूटस्थ है। इस कूटस्थमें जिसका लक्ष्य स्थिर हो गया है वह साधक लौकिकाचार मानकर चलता हो तो भी उसकी बुद्धिमें भ्रान्ति-दृष्टि सदाके लिए निरस्त हो जाती है। ऐसे ही महात्माको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥१६॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढ़ो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

अन्वय—ब्रह्मणि (ब्रह्ममें) स्थितः (अवस्थित) स्थिरबुद्धिः (स्थिर-बुद्धि) असंमूढ़ः (मोहरहित) ब्रह्मवित् (ब्रह्मज्ञ) प्रियं प्राप्य (प्रिय वस्तुको पाकर) न प्रहृष्येत् (हर्षित नहीं होता), अप्रियं च प्राप्य (अप्रिय वस्तुको पाकर भी) न उद्विजेत् (उद्विग्न नहीं होता) ॥२०॥

श्रीधर—ब्रह्मप्राप्तस्य लक्षणमाह—न प्रहृष्येदिति। ब्रह्मविद् भूत्वा ब्रह्मण्येव यः स्थितः स प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत् प्रहृष्टो हर्षवान् न स्यात्। अप्रियं प्राप्य च नोद्विजेत्। न

विषीदतीत्यर्थः । यतः स्थिरबुद्धिः । स्थिरा निश्चला बुद्धिर्यस्य । तत् कुतः ? यतोऽसम्मूढो निवृत्तमोहः ॥२०॥

अनुवाद—[ब्रह्मभावप्राप्त पुरुषका लक्षण कहते हैं]—ब्रह्मविद् होकर जो ब्रह्ममें अवस्थित है, वह प्रिय वस्तु पाकर प्रहृष्ट नहीं होता, और न अप्रिय वस्तु पाकर विषादको प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि वह स्थिरबुद्धि है अर्थात् उसकी बुद्धि निश्चला है। यह कैसे होता है ? क्योंकि वह 'असंमूढ़' अर्थात् निवृत्तमोह है। मोह न रहने पर बुद्धि निश्चला हो जाती है ॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—बुद्धि स्थिर—सम्यक् प्रकारसे मूर्ख नहीं—अर्थात् बीच बीचमें दूसरी ओर दृष्टि जाती है—ब्रह्मको जानकर सर्ववस्तुमें ब्रह्मको देखता है, इस कारण कोई वस्तु उसको प्रिय नहीं और अप्रिय भी नहीं—इस कारण हर्ष और उद्वेग भी नहीं होता।—ब्रह्मभावमें अवस्थित पुरुषका लक्षण कहते हैं। साधनाके द्वारा प्राण स्थिर होने पर जब मन और बुद्धि स्थिर हो जाते हैं तब साधकको ब्रह्ममें अवस्थित या ब्रह्मज्ञ कहते हैं। उच्च श्रेणीके साधकका भी साधना करते करते कभी मन विषयकी ओर दौड़ जाता है। तब वह और भी प्रयत्नके साथ मन लगाकर साधना करते हैं और उसके फलस्वरूप उनकी मन-बुद्धि सब स्थिर होकर एक हो जाती है। मन-बुद्धिके स्थिर होने पर फिर तब देहात्मबुद्धि नहीं रहती अर्थात् आसक्तिपूर्वक अन्य वस्तुमें दृष्टि नहीं रह सकती। तभी वह यथार्थ ब्रह्मज्ञ बनते हैं। सब वस्तुओंमें ब्रह्मदर्शन होने पर ही उन्हें ब्रह्मज्ञ कहा जाता है। ब्रह्मज्ञ पुरुषकी दृष्टि अन्य वस्तुमें नहीं रहती, इसी कारण उनको प्रिय-अप्रियका बोध भी नहीं रह सकता। जिसको प्रिय-अप्रिय बोध नहीं होता, उसको हर्ष या उद्वेग भी नहीं हो सकता। अनित्य वस्तुको नित्य समझना ही मोह है। आत्मा नित्य है, देहादि अनित्य हैं। इस अनित्य देहको नित्य समझना ही विपरीत भावना है। क्रियाके द्वारा विपरीत भावनाके नष्ट होने पर मनको आत्माकारमें स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार स्थिति प्राप्त होने पर साधक अद्वैत भावमें अवस्थित होता है। इसीको आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। इस अवस्थामें प्राण, मन और बुद्धि स्थिर हो जाते हैं। अतएव इस अवस्थामें ब्रह्मविषयिणी बुद्धिके सिवा अन्य बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती। अन्य बुद्धिके उत्पन्न न होनेके कारण प्रिय या अप्रियका बोध नहीं होता, अतएव इसी कारणसे मुक्त पुरुषको हर्ष विषाद भी नहीं होता ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

अन्वय—बाह्यस्पर्शेषु (शब्दादि बाह्य विषयोंमें) असक्तात्मा (अनासक्त-चित्त पुरुष) आत्मनि (अन्तःकरणमें) यत् सुखं (उपशमात्मक जो सुख है) [आदौ—पहले] विन्दति (उसे पाता है), [तदुत्तरं—उसके पश्चात्] ब्रह्म-

योगयुक्तात्मा [सन्] (ब्रह्ममें समाधि-योगयुक्त होकर) अक्षयं (स्वयं क्षयहीन सुख) अश्नुते (प्राप्त करता है) ॥२१॥

श्रीधर—मोहनिवृत्त्या बुद्धिस्थैर्ये हेतुमाह—बाह्यस्पर्शेष्विति। इन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति स्पर्शा विषयाः बाह्येन्द्रियविषयेष्वसक्तात्माऽनासक्तचित्तः। आत्मन्यन्तःकरणे यदुपशमात्मकं सात्त्विकं सुखं तद्विन्दति लभते। स चोपशमसुखं लब्ध्वा ब्रह्मणि योगेन समाधिना युक्तस्तदैक्यं प्राप्त आत्मा यस्य सोऽक्षयं सुखमश्नुते प्राप्नोति ॥२१॥

अनुवाद—[मोह निवृत्त होने पर बुद्धिकी जो स्थिरता होती है, उसका हेतु बतलाते हैं]—बाह्येन्द्रियोंके द्वारा जो विषयोंकी उपलब्धि होती है, उसमें अनासक्त-चित्त पुरुषके अन्तःकरणमें उपशमात्मक सात्त्विक सुखकी प्राप्ति होती है। इस उपशमात्मक सुखको प्राप्त कर लेने पर ब्रह्ममें योगसमाधि द्वारा युक्त या एकताको प्राप्त होकर वह अक्षय सुखको प्राप्त होता है ॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—बाहरकी हवा बाहर रहती है—इस प्रकारके जितात्मा ही सुखका अनुभव करते हैं—एक ब्रह्मानन्द है—उसमें ही धारणा, ध्यान, समाधिपूर्वक लगे रहकर—इस प्रकारके सुखमें काल-यापन करते हैं जिस सुखका क्षय नहीं है, अन्यान्य सुखोंका अवश्य क्षय है।—बाह्य विषयोंमें आसक्ति होने पर मन बहिर्मुख और चञ्चल होता है और उसे विषयाधीन होना पड़ता है। तब बाहरकी वायु भीतर और भीतरकी वायु बाहर आती जाती है अर्थात् प्राणापानके कार्य चलते रहते हैं। इस अवस्थामें स्थित व्यक्तिको जितात्मा नहीं कहते। जितात्मा पुरुष वही है जिसको बाहरकी वायु आकर्षण करके लेनी नहीं पड़ती, उसकी बाहरकी वायु बाहर ही रहती है, भीतर भीतर सूक्ष्मभावसे प्राणका प्रवाह चलता रहता है। इस प्रकारकी स्थितिमें जो हैं वे समाधिकी असीम स्थिरता प्राप्तकर परमानन्द—ब्रह्मा-नन्दकी प्राप्तिसे कृतकृत्य हो जाते हैं। अन्यान्य विषयसुखोंका क्षय है, परन्तु इस सुखका क्षय नहीं होता। तब साधकके अन्तःकरणमें निरन्तर अनन्त आनन्दका प्रवाह चलता रहता है। यह आनन्द रहता है कहाँ? ब्रह्ममें या विषयमें? ब्रह्ममें ही यह आनन्द वर्तमान है, विषयमें नहीं। विषयोंमें आनन्द है—ऐसा समझकर मन विषयोंमें दौड़ता तो है, परन्तु विषयोंमें आनन्द नहीं है। तो फिर चित्त विषयोंकी ओर प्रलुब्ध होकर दौड़ता क्यों है?—यही अज्ञान है। चित्तका स्थिरभाव ही आनन्द है। विषयोंको प्राप्तकर चित्त क्षणभरके लिए स्थिर होता है इसीसे क्षणभरके लिए यत्किञ्चित् आनन्दका अनुभव होता है, नहीं तो विषयोंमें आनन्द कहाँ? यदि स्थिरता ही यथार्थ आनन्द है, तो चित्तको स्थिर कर सकने पर वह मिल जायगा; वस्तुकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ेगी। प्राणायामके द्वारा प्राणके स्थिर होने पर चित्त स्थिर हो जायगा, तभी परमानन्दकी प्राप्ति होगी। आनन्दके लिए फिर विषयका प्रयोजन न होगा। विषयोंके द्वारा सुख होता है यह मनका संस्कार या भ्रमके सिवा और कुछ नहीं है। स्थिरताजनित जो आनन्दकी अवस्था है वह बाह्य चिन्ता वर्जित, सब प्रकारकी कामनासे रहित निश्चलावस्था है—इस अवस्थामें ही प्रपञ्चका सर्वथा उपशम होता है, अतएव अनन्त शान्तिसिन्धुमें साधक सदाके लिए निमज्जित

हो जाता है। इस ब्रह्मानन्दके साथ कामजनित ऐहिक सुखकी तुलना नहीं हो सकती ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

अन्वय—ये भोगाः (जो सारे सुखभोग) संस्पर्शजाः (इन्द्रिय-विषयोंके सस्पर्शसे उत्पन्न हैं) ते हि (वे ही) दुःखयोनयः (दुःखकी योनि अर्थात् मूल हैं) आद्यन्तवन्त एव (निश्चय ही आदि अन्त वाले हैं), कौन्तेय !(हे कौन्तेय !) बुधः (पण्डित व्यक्ति) तेषु (उनमें) न रमते (अनुरक्त नहीं होते) ॥२२॥

श्रीधर—ननु प्रियविषयभोगानामपि निवृत्तेः कथं मोक्षः पुरुषार्थः स्यात् ? तत्राह—ये हीति। संस्पृश्यन्त इति संस्पर्शा विषयाः। तेभ्यो जाता ये भोगाः सुखानि। ते हि वर्तमानकालेऽपि स्पर्द्धाऽसूयादिव्याप्तत्वात् दुःखस्यैव योनयः कारणभूताः। तथादिमन्तोऽन्तवन्तश्च। अतो विवेकी तेषु न रमते ॥२२॥

अनुवाद—[अच्छा, विषयभोगादिका निवृत्ति-साधक मोक्ष किस प्रकार आयत्त हो सकता है ? इसीलिए कहते हैं]—विषयजनित सारे सुखभोग वर्तमान कालमें प्राप्त रहने पर भी स्पर्द्धा और ईर्ष्यासे व्याप्त होते हैं, अतएव वे दुःख के कारण होते हैं, तथा आदि अन्तयुक्त होते हैं अर्थात् संयोग-वियोगयुक्त होते हैं, अतएव अनित्य हैं। परमार्थतत्त्वके ज्ञाता विवेकी पुरुष उनमें आसक्त नहीं होते ॥२२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—भोगके द्वारा, वायुके अन्य ओर मनोयोग करनेसे क्षणिक सुख-भोग होता है, परन्तु उस भोगके पूर्व और पश्चात् दुःख है—जैसे मैथुन, जन्म, मृत्यु —आदि अन्त दोनों—इसीमें ही दुःख हैं—इस प्रकारके कर्ममें पण्डित लोग रमण नहीं करते।—विषय भोग करते करते इन्द्रियोंकी शक्ति निस्तेज हो जाती है, चित्तके गाढ़ तमसाच्छन्न होने पर बुद्धि भी म्लान हो जाती है, अन्तराकाश आच्छादित-सा प्रतीत होता है। उस चित्तके द्वारा ब्रह्मधारणा नहीं हो सकती। मन जब भोगकी ओर लुब्ध होता है तो प्राण भी उसी ओर आकृष्ट होता है, इसलिए भोग्यवस्तुके द्वारा क्षणिक सुख-भोग तो होता है, परन्तु सुखके विलीन हो जाने पर या सुखभोगकी शक्ति हीन हो जाने पर प्राणमें उस भोगस्पृहाका स्पन्दन कदापि निवृत्त होना नहीं चाहता। प्राणके स्पन्दनसे भोगलालसामें मन उन्मत्त-सा हो उठता है। इन सारे विषय-भोगोंके आगे-पीछे न जाने कितना सन्ताप लगा हुआ है, इसकी कोई सीमा नहीं है। भोग करनेकी शक्ति तो समाप्त हो जाती है, पर तृष्णा बढ़ती ही रहती है। पुत्र-स्त्री-धनादिमें अत्यन्त आसक्त जीव उन वस्तुओंके वियोगसे अत्यन्त ही अधीर हो उठता है। ये सब अन्तवन्त हैं, ये हमारे कोई नहीं हैं, ये सारे विषय हमारी आँखोंके सामने अपने क्षणिकत्वका प्रमाण देकर स्वप्नदृष्ट वस्तुके समान न जाने किस अदृश्य कोटरमें छिप जाते हैं; इसको कुछ अंशमें समझने पर भी प्राणका हाहाकार कदापि निवृत्त नहीं होता। इन सब विषयोंको न पाने पर भी जीवको दुःख है, और पाने पर भी दाह होता है। इसीसे विवेकी पुरुष शान्त

भावसे विचार करके इन सारी विषय-लालसाओंसे चित्तको निवृत्त करनेकी चेष्टा करते हैं। जब तक चित्तमें विषयासक्ति रहेगी, तब तक शान्ति या उपराम प्राप्त न होगा। प्राणवायुके निरोधके द्वारा प्राण जब स्पन्दनरहित होगा तभी चित्तसे विषय-स्पृहा दूर होगी। वास्तविक सुख विषयमें नहीं है, सुख आत्मामें ही है। यदि सुख चाहते हो तो विषयोंमें मनको न दौड़ाओ। विवेक द्वारा मनको विषयोंसे निवृत्त करके आत्मस्थ होनेका उद्योग करो। प्राणके स्पन्दनरहित हुए बिना मन आत्मस्थ न हो सकेगा, अतएव जिससे प्राण स्पन्दनरहित हो वही मार्ग पकड़ कर चलो, इससे फिर आद्यन्तयुक्त विषयोंके मोहमें पड़कर व्याकुल नहीं होना पड़ेगा।

"यावन्तः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥" (विष्णुपुराण)

जीव जितना ही बाह्य विषयसे प्रेम करेगा, उतना ही शोकरूपी शङ्कु उसके हृदयको विद्ध करेगा। स्वप्नवत् क्षणस्थायी विषयोंमें जिसका जितना अधिक अनुराग होगा—उतना ही वह विविध दुःखोंकी ज्वालामें दग्ध होता रहेगा। अतएव साधक, सावधान! ॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढु प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

अन्वय—यः (जो) शरीरविमोक्षणात् प्राक् (शरीर त्याग करनेके पूर्व तक) कामक्रोधोद्भवं (काम-क्रोधसे उत्पन्न) वेगं (वेगको) इह एव (इह लोकमें रहते रहते) सोढु (सहन कर) शक्नोति (सकता है) सः युक्तः (वह योगयुक्त) सः नरः सुखी (वह आदमी सुखी है) ॥२३॥

श्रीधर—यस्मान्मोक्ष एव परमः पुरुषार्थः। तस्य च कामक्रोधवेगोऽतिप्रतिपक्षः। अतस्तत्सहनसमर्थ एव मोक्षभागित्याह—शक्नोतीति। कामात् क्रोधाच्चोद्भवति यो वेगो मनोनेत्रादिक्षोभादिलक्षणः। तमिहैव तदुद्भवसमय एव यो नरः सोढुं प्रतिरोद्धुं शक्नोति। तदपि न क्षणमात्रम्। किन्तु शरीरविमोक्षणात् प्राक्। यावद्देहपातमित्यर्थः। यः एवंभूतः स एव युक्तः समाहितः सुखी च भवति। नान्यः। यद्वा। मरणादूर्ध्वं विलपन्तीभिर्युवतिभिरालिङ्ग्यमानोऽपि पुत्रादिभिर्दह्यमानोऽपि यथा प्राणशून्यः कामक्रोधवेगं सहते तथा मरणात्प्रागपि जीवन्नेव यः सहते स एव युक्तः सुखी चेत्यर्थः। तदुक्तं वशिष्ठेन—"प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति। तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रयो भवेत्" इति ॥२३॥

अनुवाद—[क्योंकि मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और कामक्रोधादिका वेग उसका प्रतिपक्षी है, अतएव इनके सहनमें समर्थ व्यक्ति ही मुक्तिका भागी बनता है, इसीलिए बतलाते हैं]—काम-क्रोधसे उत्पन्न मन-नेत्रादिके क्षोभस्वरूप वेगोंको, उद्भवके समय ही जो व्यक्ति प्रतिरोध करनेमें समर्थ होता है, वही समाहित और सुखी है। केवल क्षणमात्र सहन करनेसे काम न चलेगा। देहपातके पहले तक सहन करते जाना होगा। इस प्रकारका आदमी ही वस्तुतः युक्त है, और वही सुखी हो सकता है, और कोई नहीं। अथवा मृत्युके पश्चात् रोती हुई युवतीके द्वारा आलिङ्गित तथा पुत्रादिके द्वारा

दग्ध होने पर जैसे प्राणहीन पुरुष कामक्रोधके वेगको सहन करता है, उसी प्रकार मृत्युके पूर्व जीवन-पर्यन्त जो इन सारे सुख-दुःखादिको सहन कर सकते हैं, वे ही युक्त हैं और वे ही सुखी हैं। वशिष्ठ कहते हैं,—मृत पुरुषका शरीर जैसे सुख-दुःखादिका बोध नहीं करता, उसी प्रकार प्राणके रहते हुए जो सुख-दुःखादिका बोध नहीं करते, वेही कैवल्यको प्राप्त होते हैं ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो आदमी काम और क्रोधके वेगको इस शरीरके बाहर निकलनेके पहले सह्य कर सकता है,—उनको मानो ब्रह्ममें लगा रक्खा है और उसके द्वारा सुखी है।—इन्द्रियोंके भोग्य विषयोंको पानेके लिए मनमें जो तीव्र वेग होता है वही काम है। और इस काममें किसी प्रकारकी बाधा प्राप्त होने पर जो मनोवेग उत्पन्न होता है उसका नाम क्रोध है। फलस्वरूप काम और क्रोध एक ही वस्तु है। मनके ये ही दो वेग तीव्र होते हैं। जीवनके सारभूत लक्ष्यसे भ्रष्ट करनेके लिए ऐसा दूसरा शत्रु और कोई नहीं है। विचारके द्वारा इसकी अनिष्टकारिता तो समझी जा सकती है, परन्तु इससे कामका वेग नहीं रुकता। अवश्य ही, तीव्र वैराग्यकी बात और है, परन्तु स्थायी तीव्र वैराग्य कदाचित् ही किसीको होता है। देह और मनमें सात्त्विक भावके स्फुरणके साथ साथ विषयोंका तीव्र आकर्षण ह्रासको प्राप्त होता है, पश्चात् गुणातीत अवस्थामें यह कामक्रोधका वेग कुछ भी नहीं रहता। अतएव साधकोंका कर्त्तव्य वही है जिससे सात्त्विक भावोंकी वृद्धि हो। सात्त्विक भावोंकी वृद्धि तभी हो सकती है, जब प्राणायाम आदिकी साधनाके द्वारा प्राणको स्थिर किया जाय। प्राणके गमनागमनके स्थिर होने पर साथ ही साथ मनबुद्धि भी स्थिर हो जाते हैं। यह स्थिर भाव-प्राप्त अवस्था ही सात्त्विकताका लक्षण है। स्थिर भाव क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होते होते यहाँ तक वृद्धि प्राप्त हो जाता है कि उसके द्वारा साधक गुणातीत हो जा सकता है। योगशास्त्रमें है—

मनःस्थैर्यें स्थिरो वायुस्ततो विन्दुः स्थिरो भवेत्।
विन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥

मनकी स्थिरताके साथ अन्तः प्राणवायु स्थिर होती है, प्राणवायुकी स्थिरताके साथ विन्दु स्थिर होता है, और विन्दुके स्थिर होने पर सदा सत्त्वभाव होता है तथा इस शरीरके काम-क्रोध-लोभादिकी तृष्णा भी शान्त होती है।

मनोवेगके प्रबल होने पर पिण्डदेहको स्थिर रखना संभव नहीं है, अतएव उसके भीतरकी प्रधान धातुका क्षय होना निश्चित है। प्रधान धातुके क्षय होने पर शरीर मन और प्राण—सभी शक्तिहीन हो जायँगे। तब साधन किसके द्वारा होगा? भोगवासनाको उद्दीप्त करने वाली वस्तुओंसे दूर रहना अवश्य उचित है, परन्तु इस प्रकार रहने पर भी विशेष फल नहीं होता, पर सामान्य फल हो सकता है। प्रधान वस्तु मनकी लालसा है जो मनके विक्षेपसे उत्पन्न होता है, मनके इस विक्षेप-भावको हटा सकें तो इससे छुटकारा पाना संभव है। दृश्य देखने पर मनमें सङ्कल्प पैदा होता है और सङ्कल्पसे वेग या तृष्णा उत्पन्न होती है। वस्तुतः दृश्य देखे बिना भी केवल सङ्कल्प द्वारा भी वस्तु-दर्शनका फल होता है। यह सङ्कल्प पूर्वाभ्यास या अहङ्कारका

अनुसरण करता है, अतएव जैसे ही सङ्कल्प जगने लगे वैसे ही प्रबुद्ध होकर मनको विषय-चिन्तासे विरत करना होगा। विषय-चिन्तासे मनको विरत करनेका सुन्दर उपाय है—उसी समय मन लगाकर १०-१२ प्राणायाम करना। प्राणायामके साथ साथ मनोवेग अदृश्य हो जायगा।

अवश्य ही जीव विषयोंके सम्पर्कमें आये बिना रह नहीं सकता, वनमें जाने परभी सब विषय-सङ्ग निवृत्त नहीं होते। क्योंकि विषय-सङ्ग वस्तुतः मनमें मनके द्वारा ही होता है। यदि आत्मा या भगवानमें अनुराग प्रबल हो तो विषयानुरागमें कमी आ सकती है। तभी विषयोंमें विरक्ति संभव है। इस प्रकारके विषयवैराग्ययुक्त साधक ही युक्त साधक कहलाते हैं, और वे ही वस्तुतः सुखी हैं। पिण्डस्थ पञ्चभूतात्मक भाव ही पञ्चतत्त्व हैं। इन पञ्चभूतोंके स्थान हैं मूलाधार आदि पञ्चचक्र। इन चक्रोंके भीतरसे मनका यातायात होते होते मन अत्यन्त सूक्ष्मावस्थाको प्राप्त होता है। क्रमशः साधनके द्वारा सुषुम्ना भेद करके आज्ञाचक्रमें स्थितिलाभ करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। पञ्चतत्त्वको छोड़कर आज्ञाचक्रमें स्थिति लाभ करनेको शरीर-विमोक्षण कहते हैं। परन्तु आज्ञाचक्रमें प्रविष्ट होनेके पूर्व पञ्चतत्त्वकी साधनाके समय साधकको अनेक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, साथ साथ काम-क्रोधका वेगभी बढ़ता है। जो आज्ञाचक्रस्थ कूटस्थमें प्रविष्ट होनेके पहले ही सारे कामादिके वेगको सहन नहीं कर सकता, वह योगभ्रष्ट हो जाता है। और जो गुरुकृपासे समर्थ होता है वह अनन्त आनन्दधाममें अर्थात् चिदाकाशमें प्रवेश प्राप्तकर जीवनको धन्य बनाता है। फलतः वह सुखी अर्थात् सुन्दर खं—शून्यमें या चिदाकाशमें आश्रय करता है। वास्तविक योगयुक्त अवस्था यही है ॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

अन्वय—यः (जो) अन्तःसुखः (आत्मामें ही जिसे सुख प्राप्त है, जिसे बाह्य विषयोंमें सुख नहीं मिलता, अर्थात् जिसका चित्त अन्तर्मुखी है) अन्तरारामः (अन्तरात्मामें जिसकी प्रीति है) तथा (वैसे ही) यः (जो) अन्तर्ज्योतिः (आत्मदृष्टिसम्पन्न है), सः एव योगी (वही योगी) ब्रह्मभूतः (ब्रह्मस्वरूप होकर) ब्रह्मनिर्वाणं (मोक्षको) अधिगच्छति (प्राप्त होता है) ॥२४॥

श्रीधर—न केवलं कामक्रोधवेगसंहरणमात्रेण मोक्षं प्राप्नोति। अपि तु—योऽन्तः-सुख इति। अन्तरात्मन्येव सुखं यस्य। न विषयेषु। अन्तरेवाराम क्रीड़ा यस्य। न बहिः। अन्तरेव ज्योतिः दृष्टिर्यस्य। न गीतनृत्यादिषु। स एव ब्रह्मणि भूतः स्थितः सन् ब्रह्मणि निर्वाणं लयमधिगच्छति प्राप्नोति ॥२४॥

अनुवाद—[केवल काम-क्रोधके वेगको संहरण करने मात्रसे ही मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती, और भी जो आवश्यक है उसे कहते हैं]—अन्तः आत्मामें

ही जिसे सुख है, विषय-भोगमें नहीं, अन्तरात्मामें ही जिसे आराम या क्रीड़ा है, बाह्य व्यापारमें नहीं; आत्मामें ही जिसकी ज्योति या दृष्टि है, नृत्य-गीतादिमें नहीं—इस प्रकारका पुरुष ब्रह्ममें अवस्थित होकर ब्रह्ममें निर्वाण अर्थात् लयको प्राप्त होता है ॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसने अन्तःकरणमें निरन्तर क्रियाके द्वारा स्थिति प्राप्त की है तथा उसके द्वारा भीतर एक प्रकारकी ज्योति जो अन्धकार और प्रकाश दोनों ही नहीं है, जहाँ सब रूप दीख पड़ते हैं (योनिमुद्रा), ऐसे योगी ब्रह्ममें रहकर निर्वाण अर्थात् स्थिति-पदको पाते हैं—ब्रह्ममें रहते रहते ब्रह्ममें ही स्थिर बुद्धि हो जाती है।—ब्रह्ममें बुद्धि स्थिर होनी चाहिए। उनमें प्रविष्ट हुए विना परमानन्द प्राप्त नहीं होता। केवल काम-क्रोधका वेग रोक सकनेसे ही काम न चलेगा। जिसने क्रियाके द्वारा आत्मस्थिति प्राप्त की है—वही ब्रह्मानन्द प्राप्त कर सकता है। उसका मन तब स्थिर हो जाता है, उसमें सङ्कल्पका वेग नहीं होता।

मनःस्थं मनोमध्यस्थं मनःस्थं मनोवर्जितम् ।
मनसा मनमालोक्य स्वयं सिद्धन्ति योगिनः ॥

वह मनके मध्यमें तो रहता है, परन्तु मन वहाँ नहीं होता। मनकी परिधि चारों ओरसे कम होते होते मन बिल्कुल केन्द्रगत हो जाता है इसीसे वह मनके मध्यमें ही रहता है। योगी लोग स्थिर मनके द्वारा इस मनके अतीत आत्माका दर्शन कर सिद्धि प्राप्त करते हैं, उनके सामने विषयानन्द अति तुच्छ वस्तु है। अन्तर्ज्योतिः—जिसकी सहायतासे अतिसूक्ष्म परमाणु भी दृष्टिगोचर होते हैं, बहुत दूरकी घटनाको जान सकना भी कठिन नहीं होता—जहाँ सभी रूपोंका अन्तर रूप प्रकाशित होता है, जो प्रकाश भी नहीं है, अन्धकार भी नहीं है—इस अवस्थामें रहते रहते योगी अनुभव-पद या ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं। इस स्थितिपदको प्राप्त योगीको विषयदर्शन नहीं होता, ब्रह्मदर्शन होता है। यही समाधि अवस्था है। इस अवस्थासे उठे हुए योगीको विषयसुखमें आनन्द नहीं मिलता। अतएव उनके सामने विषयका आकर्षण नहीं होता, इसीलिए विषयजनित तापसे वह सदा मुक्त होते हैं ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं ऋषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

अन्वय—क्षीणकल्मषाः (क्षीणपाप) छिन्नद्वैधाः (छिन्नसंशय) यतात्मानः (संयतचित्त) सर्वभूतहिते रताः (सब भूतोंके प्रति कृपालु) ऋषयः (ऋषि लोग) ब्रह्मनिर्वाणं (ब्रह्म-निर्वाण अर्थात् मोक्षको) लभन्ते (प्राप्त करते हैं) ॥२५॥

श्रीधर—किञ्च—लभन्त इति । ऋषयः सम्यग्दर्शिनः । क्षीणं कल्मषं येषाम् । छिन्नं द्वैधं संशयो येषाम् । यतः संयत आत्मा चित्तं येषाम् । सर्वेषां भूतानां हिते रताः कृपालवः । [अहिंसका इति शङ्करः] ते ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षं लभन्ते ॥२५॥

अनुवाद—जिनका पाप क्षय हो गया है, जिनका संशय छिन्न हो गया है, जिनका चित्त संयत है, जो सर्वभूत-हितमें रत हैं अर्थात् कृपालु हैं, इस प्रकारके सम्यग्दर्शी ऋषि लोग ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं ।।२५।।

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकारके निर्वाणपद ऋषि लोग निष्पापी होकर अर्थात् ब्रह्मके सिवा अन्य ओर दृष्टि न जाय—अतएव दो वस्तुएँ नहीं रहतीं—आत्मा ही एक गुरु हो जाता है–इसीकारण सब भूतोंका जिससे हित हो अर्थात् यह क्रिया प्राप्त करे ऐसी इच्छा होती है ।—सम्यग्-दर्शी ऋषि लोग निर्वाणपदको प्राप्त करते हैं, परन्तु उसके पहले निष्पाप होना चाहिए। अन्य ओर दृष्टि जाने पर ब्रह्मके सिवा अन्य वस्तुके प्रति आसक्ति होती है, यही पाप है। इस प्रकारके पापसे शून्य होने पर ज्ञान प्राप्त होता है। यही निर्वाणपदकी प्राप्तिका सेतु है। क्रिया करके क्रियाकी परावस्था प्राप्त होने पर सब एक हो जाता है, दो नहीं रहते, तब पाप-पुण्य भी नहीं रहता। एकमात्र आत्माकारा वृत्ति रहती है, सब कुछ आत्मा ही जान पड़ता है। सब गुरुवत् पूजनीय जान पड़ता है, क्योंकि गुरु ही आत्मा है और आत्मा ही गुरु है। जिनको ऐसी अवस्था प्राप्त होती है, वे ही महात्मा लोग मायागन्धसे हीन होकर दीनवत्सल होते हैं अर्थात् जो भगवत्प्राप्तिके लिए व्याकुल हैं उनके प्रति कृपालु होते हैं। कृपापूर्वक साधकोंको गुह्य साधन-रहस्य बतला देते हैं। उस गुह्यातिगुह्य साधन और ज्ञानके द्वारा भगवत्स्वरूपका अनुभव होता है और इस प्रकारकी अनुभूति प्राप्तकर साधक शोकातीत परमपदको प्राप्त होता है ।।२५।।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।२६।।

अन्वय—कामक्रोधवियुक्तानां (काम-क्रोधसे मुक्त) यतचेतसां (संयतचित्त) विदितात्मनां (आत्मज्ञ) यतीनां (यतियोंके) अभितः (दोनों लोकोंमें) ब्रह्म-निर्वाणं (ब्रह्मनिर्वाण या मुक्तिपद) वर्तते (वर्त्तमान रहता है) ।।२६।।

श्रीधर—किञ्च—कामेत्यादि । कामक्रोधाभ्यां वियुक्तानां । यतीनां संन्यासिनां । संयतचित्तानां ज्ञातात्मतत्त्वानामभित उभयतो जीवतां मृतानां च । न देहान्त एव तेषां ब्रह्मणि लयः । अपि तु जीवतामपि वर्त्तत इत्यर्थः ।।२६।।

अनुवाद—काम-क्रोधादिसे वियुक्त, संयतचित्त, विदित-आत्मतत्त्व संन्यासी जीवित तथा मृत दोनों ही कालमें ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। देहान्तमें ही उनकी मुक्ति हो ऐसी बात नहीं है, बल्कि जीवितावस्थामें भी वे मुक्त होते हैं ।।२६।।

आध्यात्मिक व्याख्या—जो संन्यासी काम और क्रोधमें नहीं रहकर ब्रह्ममें ही सर्वदा संयत है—वह स्थिर होकर रहता है ब्रह्ममें। सर्वदा आत्मामें ज्ञानकर अर्थात् क्रिया करके क्रियाशील है ।—जो यति हैं अर्थात् सर्वदा संयत होकर ब्रह्ममें

लक्ष्य लगाये हुए हैं, वे आत्मरहस्यको सम्यक् रूपसे जानते हैं। आत्मा नित्य स्थिर और नित्य निर्मल है, इसे वह क्रियाकी परावस्थामें सदा स्थिर रहकर जानते हैं। देहमें वह अभिमानशून्य होते हैं अतएव काम-क्रोधादिकी उत्तेजना उत्पन्न करने वाली वस्तुसे उनको काम-क्रोध उत्पन्न नहीं होता। वे सदा ही विमुक्त हैं। इन विदितात्मा योगियोंको मृत्युके बाद ही मुक्ति प्राप्त होती हो, ऐसी बात नहीं है, इस देहमें रहते हुए भी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिके कारण वह सदा मुक्त होते हैं। जो लोग प्राणायाम-परायण क्रियाशील हैं उनका चित्त स्थिर होता है, इस कारण वे सहजमें ही आत्माको जानकर मुक्तिपद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मोक्ष-लाभका अन्तरङ्ग साधन अगले दो श्लोकोंमें कहते हैं ॥२६॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

अन्वय—बाह्यान् (बाह्य) स्पर्शान् (विषयोंको) बहिः कृत्वा (बाहर करके) चक्षुः च (और चक्षुको) भ्रुवोः (दोनों भ्रुवोंके) अन्तरे एव (बीचमें स्थापन कर) नासाभ्यन्तरचारिणौ (नासिकाके अभ्यन्तर विचरण करनेवाले) प्राणापानौ (प्राण और अपान वायुको) समौ कृत्वा (समान करके) यतेन्द्रियमनोबुद्धिः (इन्द्रिय, मन और बुद्धिका संयम करनेवाला) विगतेच्छाभयक्रोधः (इच्छा, भय और क्रोधसे शून्य) मोक्षपरायणः (मोक्षपरायण) यः मुनिः (जो मननशील पुरुष है) सः सदा मुक्त एव (वह सदा ही मुक्त है) ॥२७।२८॥

श्रीधर—स योगी ब्रह्मनिर्वाणमित्यादिषु योगी मोक्षमवाप्नोतीत्युक्तम्। तमेव योगं संक्षेपेणाह—स्पर्शानिति द्वाभ्याम्। बाह्या एव स्पर्शा रूपरसादयो विषयाश्चिन्तिताः सन्तोऽन्तः प्रविशन्ति। तान् तच्चिन्तात्यागेन बहिरेव कृत्वा। चक्षुर्भ्रुवोरन्तरे भ्रूमध्य एव कृत्वाऽत्यन्तं नेत्रयोर्निमीलने निद्रया मनो लीयते। उन्मीलने च बहिः प्रसरति। तदुभयदोषपरिहारार्थमर्द्धनिमीलनेन भ्रूमध्ये दृष्टिं निधायेत्यर्थः। उच्छ्वासनिःश्वासरूपेण नासिकयोरभ्यन्तरे चरन्तौ प्राणापानावूर्ध्वाधोगतिनिरोधेन समौ कृत्वा। कुम्भकं कृत्वेत्यर्थः। यद्वा प्राणोऽयं यथा न बहिर्निर्याति। यथा चापानोऽन्तर्न प्रविशति। किन्तु नासामध्य एव द्वावपि यथा चरतस्तथा मन्दाभ्यामुच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां समौ कृत्वेति। अनेनोपायेन यताः संयताः इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य। मोक्ष एव परमयनं प्राप्यं यस्य। अतएव विगता इच्छाभयक्रोधा यस्य। एवंभूतो यो मुनिः स सदा जीवन्नपि मुक्त एवेत्यर्थः ॥२७।२८॥

अनुवाद—['स योगी ब्रह्मनिर्वाणम्' इत्यादि श्लोकमें कहा गया है कि योगी ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है, उस योगको संक्षेपमें दो श्लोकोंमें कह रहे हैं]—रूप-रस आदि बाह्य विषय चिन्तन करने पर अन्तरमें प्रवेश करते हैं। चिन्ता-त्यागके द्वारा उनको बाहर करके, चक्षु अर्थात् दृष्टिको भ्रूद्वयके बीच स्थापन करके अर्थात् नेत्रोंके

अत्यन्त निमीलनमें निद्रा द्वारा मनका लय हो जाता है, और अत्यन्त उन्मीलनमें मन बाहर चला जाता है, इन दोनों दोषोंके परिहारके लिए अर्द्धनिमीलित नेत्रोंद्वारा भ्रूमध्यमें दृष्टि स्थापन करके, उच्छ्वास और निःश्वासरूपमें नासिकाके भीतर विचरने वाले प्राण और अपानकी ऊर्ध्व और अधोगति निरोध करके समान अर्थात् कुम्भक द्वारा, अथवा प्राण वायु जिससे बाहर न जाय और अपान भीतर प्रवेश न करे, परन्तु दोनों ही नासिकाके भीतर सञ्चरण करें—इस प्रकार मृदु उच्छ्वास और निःश्वासके द्वारा प्राणापानको समान कर—तथा इन सारे उपायोंके द्वारा जिनके इन्द्रिय, मन और बुद्धि संयत हो गये हैं, मोक्ष ही जिनके लिए एकमात्र प्राप्य वस्तु है, अतएव जिनकी इच्छा, भय और क्रोध विगत हो गये हैं इस प्रकारके मुनि जीवित रहकर भी मुक्त हैं ।।२७-२८।।

आध्यात्मिक व्याख्या—प्राणायाम-परायण क्रियाशीलके बाहरकी हवा बाहर ही रहे—चक्षु भ्रूमध्यमें रहे (पलक गिरे नहीं)। प्राण (खींचना) और अपान (फेंकना) दोनों समान रहे—नाकके भीतर ही वायु सञ्चरण करे—इस कारण सारी इन्द्रियाँ संयत रहेंगी—बुद्धि और मन भी संयत हो जायँगे, इस प्रकारके सब लोग मोक्ष-परायण और निष्क्रिय होते हैं—इसीका नाम जीवन्मुक्ति है, जीते-जागते मुक्ति। जो इच्छारहित भयक्रोधरहित होकर रहते हैं वे सदा ही मुक्त हैं।—**विषय-चिन्तन न करनेसे ही विषयोंका वहिष्कार होता है, चिन्तन करनेसे विषय अन्तरमें प्रवेश करते हैं। यह केवल पुस्तक पढ़नेसे नहीं होता है, इसके लिए किस प्रकारसे अभ्यास करना पड़ता है, उसी साधनाके बारेमें यहाँ कह रहे हैं। जिस योगा-भ्यासके द्वारा योगी ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करते हैं वही योग-विषयक उपदेश भगवान् संक्षेपमें कह रहे हैं।***

*कोई कोई व्याख्याता लिखते हैं कि "भगवान्ने चित्तकी एकाग्रताकी साधना करनेके लिए एक बहिरङ्ग साधनका उल्लेख किया है। ऐसा उपाय हठयोगमें कथित क्रियायोगके अन्तर्गत आता है। × × × जो लोग राजयोगमें कथित नियमके अनुसार चित्त-निरोधका अभ्यास कर सकते हैं, उनको बाह्य वायुस्तम्भनरूप कुम्भक नहीं करना पड़ता।" यह बड़ी ही हास्यजनक बात है। यदि यह करणीय नहीं होता तो भगवान् सारी बातें छोड़कर अध्यायके अन्तमें केवल इसी साधनका उल्लेख क्यों करते? श्रीधरस्वामीके समान यतिने भी कहा है कि योगी ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त करता है। उसी योगका विषय यहाँ संक्षेपसे कहते हैं—"तमेव योगं संक्षेपेणाह।" शङ्कराचार्यके समान ज्ञानगुरुभी कहते हैं—"अथेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गं विस्तरेण वक्ष्या-मीति तस्य सूत्रस्थानीयान् श्लोकानुपदिशतिस्म भगवान् वासुदेवः"। यदि यही बहिरङ्ग साधन है, तो अन्तरङ्ग साधन क्या है? मुझे ऐसा लगता है कि व्याख्याता भूल जाते हैं कि यह बाह्य वायुस्तम्भनरूप हठयोग नहीं है। प्राणायाम-परायण यतियोंको इस प्रकारका कुम्भक अपने आप होता है। इसका उपायभी भगवान्ने चौथे अध्यायके २९वें श्लोकमें बतला दिया है। जिनको नाक दबानेके सिवा अन्य प्राणायाम ज्ञात नहीं है, वे ही इस प्रकारकी बालकोचित बात कहनेका साहस कर सकते हैं।

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—इन पाँच प्राणोंके स्थान क्रमशः हृदय, गुह्य, नाभि, कण्ठ तथा सर्वशरीर हैं। ये पाँचों वायु शरीरकी रक्षा करती हैं—"वायुर्धाता शरीरीणाम्"। इस हृदयस्थ प्राणवायुको बाह्यगतिसे निवृत्त रखकर सुषुम्नामार्गसे गुह्यस्थ अपान वायुमें संचालित करने और गुह्यस्थ अपान वायुको हृदयस्थ प्राणवायुमें लानेकी जो क्रिया है उसे ही प्राणकी प्रच्छर्दन और विधारण क्रियाके नामसे पुकारते हैं। इस क्रियाको गुरुके उपदेश द्वारा जानना पड़ता है। यह वायुस्तम्भन जैसा कष्टसाध्य व्यापार नहीं है। मोक्षाभिलाषी पुरुष चित्तविक्षेप करनेवाले शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादिके ग्रहणके विषयमें संयत होकर, भ्रूमध्यमें दृष्टि संयत कर प्राणायामका अभ्यास करते हैं। अभ्यास करते करते प्राणवायु सुषुम्नाके भीतर प्रवेश करेगी। "मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते। सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे॥ तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित्। यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते। तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते॥"

इस प्रकार 'समरस' या 'समाधि' प्राप्त करना संभव है। प्राणायाम करते करते श्वास खूब पतले सूतके समान हो जाता है, और समझमें नहीं आता कि वह बाहर जा रहा है या नहीं। उस समय जान पड़ता है कि उसका मृदु वेग नासिकाके भीतर ही है। जब ऐसा होता है तो कहते हैं कि प्राणपानकी गति समान हो गयी है। यह अवस्था प्राप्त होने पर अपने आप इन्द्रिय, मन, बुद्धि संयत हो जाते हैं। इच्छा, भय, क्रोध अर्थात् राजस और तामस भाव नहीं रहते। बाह्य चेष्टामें नाना प्रकारके कौशल करके इन्द्रिय, मन और बुद्धिको संयत करनेका प्रयोजन नहीं होता। उस समय नेत्रमें निमेषोन्मेष नहीं होता, मनमें सङ्कल्प-विकल्पादिकी तरङ्ग नहीं उठती, श्वास-प्रश्वासकी गति अपने आप स्तब्ध हो जाती है। उस समय उस संलीन-मानस साधकेन्द्रको मुनि कहते हैं। यही सिद्ध साधकका लक्षण है। उनके सामने फिर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त्यादि अवस्थात्रय रह नहीं सकते। सर्वत्र समरस, ब्रह्मभाव द्वारा परिपूर्ण ऐसा उनको अनुभव होता है। यही निष्क्रिय या जीवन्मुक्तिकी अवस्था है। प्राणायामके अन्तिम फलके विषयमें बहुतोंको कुछ मालूम नहीं है, क्योंकि वहाँ तक उनकी गति ही नहीं है। इसी कारण उनको सन्देह होता है कि प्राणायामके द्वारा जीवन्मुक्ति होगी या नहीं। इसीसे उनको कहना पड़ता है कि प्राणायामके द्वारा केवल मन स्थिर होता है, इससे जन्म-मरणका निवारण नहीं होता, उसके लिए वैराग्य ग्रहण करना चाहिए। परन्तु वे नहीं जानते कि प्राणायामके द्वारा वायुके स्थिर होने पर परम सत्यका प्रकाश होता है। परावैराग्य अपने आप उदय होता है। योग-दर्शनमें है कि प्राणायामके द्वारा विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति प्रकाशित होती है, तथा उसके द्वारा योगीको अपुनरावृत्ति रूप मोक्ष लाभ होता है॥२७-२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

अन्वय—यज्ञतपसां (यज्ञ और तपस्याके) भोक्तारं (भोक्ता) सर्वलोक-महेश्वरं (सब लोकोंके महेश्वर) सर्वभूतानां (सब भूतोंके) सुहृदं मां (सुहृद मुझको) ज्ञात्वा (जानकर) शान्तिं ऋच्छति (शान्तिको प्राप्त होता है ।) ॥२६॥

श्रीधर—नन्वेवमिन्द्रियादिसंयममात्रेण कथं मुक्तिः स्यात्? न तावन्मात्रेण किन्तु ज्ञानद्वारेणेत्याह—भोक्तारमिति । यज्ञानां तपसां चैव—मम भक्तैः समर्पितानां—यदृच्छया भोक्तारं पालकमिति वा । सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं सर्वेषां भूतानां सुहृदं निरपेक्षोपकारिणम् । अन्तर्यामिनं मां ज्ञात्वा मत्प्रसादेन शान्तिं मोक्षमृच्छति प्राप्नोति ॥२६॥

विकल्पशङ्काऽपोहेन येनैवं सांख्ययोगयोः ।
समुच्चयः क्रमेणोक्तः सर्वज्ञं नौमि तं हरिम् ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

अनुवाद—[अच्छा, क्या इस प्रकार इन्द्रियादिके संयमसे ही मुक्ति होती है? नहीं, केवल उसीके द्वारा नहीं होती, बल्कि ज्ञान द्वारा होती है—इसीलिए बतलाते हैं]-भक्तगण यज्ञ और तपस्या करके मुझको ही फल अर्पण करते हैं, इसलिए सारे यज्ञों और तपस्याओंका भोक्ता मैं हूँ । मैं सारे लोकोंका महामहेश्वर हूँ, सर्वभूतोंका सुहृद् निरपेक्ष उपकारी हूँ—योगी इस प्रकार मुझको अन्तर्यामी जानकर मेरे प्रसादसे शान्ति अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है । [भगवान्को इस प्रकारसे न जानकर, केवल उनके स्थूलभावका दर्शन करके जीव मुक्त नहीं हो सकता । अर्जुन तो श्रीकृष्णरूपमें भगवान्को देखते ही थे, तथापि उनको ज्ञानका उदय नहीं हुआ, उनको अज्ञानके पाशसे मुक्त करनेके लिए अपने स्वरूपकी यह व्याख्या करनी पड़ी] ॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सारे कर्मोंको करानेवाला कर्त्ता कूटस्थ ब्रह्म है—वही भोक्ता है, वह अपने आपमें रहता है, इसका ही नाम तपस्या है—अर्थात् कूटस्थमें रहना, सभी लोकोंमें वह है—जीवमात्रमें; इसी कारण पृथक् रूपमें महेश्वर है—सबके हृदयमें सुन्दर रूपमें वासकर रहा है (प्राण) इसे जानकर क्रियाकी पर अवस्थामें रहकर शान्तिपदको पाता है अर्थात् मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है ।—पूर्व श्लोकके अनुसार साधन करते करते कूटस्थका ज्ञान होता है, तब समझमें आता है कि वही विश्वव्यापी विष्णुके रूपमें सब कर्मोंका फलभोक्ता है । विश्वव्यापी कहनेसे यह मतलब नहीं है कि वह और विश्व पृथक् पृथक् हैं । वह अपने आपमें रहते हैं—साधनाके द्वारा प्राणवायु जब मस्तकमें स्थिर हो जाती है तब अपने आपमें रहना बनता है । सब लोगोंमें वही कूटस्थ है और सब लोग भी वही हैं । जब सबका ज्ञान होता है तब सबके भीतर कूटस्थ-ज्योतिरूपमें अनुभव होता है । जब सब ज्ञान विलीन होकर एक अखण्ड सत्तामात्रमें पर्यवसित होता है तब भी वही एक कूटस्थ अखण्ड अद्वितीय सत्तारूपमें रहता है । वही सत्ता प्राणरूपमें नामरूपमय जगत्को प्रकाशित करके उसके भीतर फिर बास करती है । क्रियाकी परावस्थामें इस परम ज्ञानका उदय होता

है, तभी सब कुछ जाना जाता है और जाननेके साथ साथ शान्तिपद अर्थात् मुक्तिपद प्राप्त होता है। तब 'मैं' कुछ नहीं हूँ, 'मेरा' कुछ नहीं है—यह भाव होता है। 'मैं' और 'मेरा' लेकर ही जीव सर्वदा व्याकुल है, परन्तु मैं क्या हूँ, यह वह नहीं जानता। इस 'मैं' का परिचय पाते ही मिथ्या 'मैं' मिट जाता है, 'मैं-मेरा' मिट जाने पर फिर अशान्ति नहीं रहती। देहात्मबोध ही 'मैं-मेरा' का उत्पादक है। क्रियाकी परावस्थामें देहात्मबोध मिट जाता है, साथ ही साथ 'मैं-मेरा' बोध भी निरस्त हो जाता है। क्रियाकी परावस्थामें वह असीम महाशून्य ही महामहेश्वरके नामसे जाना जाता है, तथा उसकी सत्तामें ही समस्त वस्तुकी सत्ता है—ऐसा निश्चय ज्ञान उत्पन्न होकर विक्षेपको नष्ट कर देता है। तब निवृत्तिरूपा परमा शान्ति हमारे जीवन-मरणकी समस्त वेदनाओंको भुला देती है ॥२९॥

पञ्चम अध्यायका सार संक्षेप।

परमार्थतत्त्वको भलीभाँति समझने पर भी योगाभ्यासके बिना संस्कार या स्वभाव बदला नहीं जा सकता। इसलिए काम-क्रोधके वेगको सहन करना होगा। क्योंकि इन्द्रिय-विषयसे उत्पन्न भोगसुखोंमें अनुरक्त रहनेसे काम नहीं चलेगा, स्थिर-भाव नहीं आयेगा। काम-क्रोधादि ही मुक्ति-प्राप्तिके प्रतिपक्षी हैं, अतएव इनका वेग सहनेका सामर्थ्य होना आवश्यक है, परन्तु मन सदा आत्मामें निविष्ट न हो तो इन्द्रियादिका वेग सहन करना संभव नहीं होता। फिर उसको सहन किया जाय किस प्रकार ? क्रियाके द्वारा जिसको स्थिति प्राप्त है तथा जिसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है, दृष्टि अन्य वस्तुमें नहीं जाती, इस कारण सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि प्राप्त होती है, जिससे उसके लिए प्रिय या अप्रिय कुछ नहीं रहता, तथा किसी भी वस्तुको पानेकी आकांक्षा न होनेके कारण उसे हर्ष भी नहीं होता और उद्वेग भी नहीं होता। क्रियाके द्वारा वह जो स्थिति प्राप्त करता है और उसके द्वारा भीतर जिस ज्योतिका सन्धान उसे मिलता है—जो प्रकाश भी नहीं है और अन्धकार भी नहीं है—उसमें रहकर वह और किसी वस्तुसे विचलित नहीं होता। यही निर्वाणपद है। इस अवस्थामें अवस्थित योगीका चित्त उपराम लाभ करता है तथा उसका कोई अपना काम नहीं रहता। तब वह सर्वभूतोंकी हितकामना करता है जिससे वे भी परमपदको प्राप्त करें, इसका उपाय सबको ज्ञात हो—केवल यही उसकी इच्छा होती है, और यह सङ्कल्प कार्यरूपमें परिणत होता है। इस प्रकारका होनेके पक्षमें जो अन्तरङ्ग साधना है उसका ही उल्लेख कर इस अध्यायको समाप्त किया है। प्राणायामपरायण क्रियाशील साधकको साधन करते करते जैसा होना आवश्यक है वह यही है कि—प्राण-अपानका कार्य (खींचना और फेंकना) दोनों समान रहे अर्थात् वायु नासिकाके भीतर सञ्चरण करे, चक्षु भ्रू के मध्यमें रहे अर्थात् पलक न

गिरे। क्यों नहीं सब लोग इन्द्रियनिग्रह करके निष्काम भावसे स्वधर्मका अनुष्ठान करते हैं ? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि सदसद् विषयमें ज्ञानवान् व्यक्ति भी अपनी प्रकृति अर्थात् पूर्व जन्मोंमें कृत संस्कारोंके अधीन स्वभावके अनुसार ही काम करता है। प्राणी अपनी प्रकृतिका अनुसरण करते रहते हैं, अतएव 'इन्द्रिय निग्रह करूँगा' कहनेसे ही नहीं होता। मनमें हो सकता है कि ऐसी हालतमें तो शास्त्रीय विधि-निषेध व्यर्थ हो जाते हैं। इसीलिए दिखलाते हैं कि प्रत्येक इन्द्रियका स्व स्व अनुकूल विषयमें अनुराग और प्रतिकूल विषयमें द्वेष होना अवश्यम्भावी है। अतएव विषयोंमें प्रवृत्ति-निवृत्तिका उत्पादन प्रकृति ही करती है—तथापि इनके वशीभूत होनेसे काम न चलेगा, क्योंकि ये मुमुक्षुके लिए प्रबल शत्रुके समान काम करती हैं। इसलिए भगवान्के उपदेशका यही उद्देश्य है कि प्रकृति खींचा-खींचीमें अपना बल दिखलायेगी ही, उस समय प्रवृत्तिके गंभीर जलमें निमज्जित मत होना, इसके लिए पहलेसे ही राग-द्वेषके प्रतिबन्धक साधनोंमें प्रवृत्त होना पड़ेगा। ईश्वरोपासनासे यह प्रतिबन्धक प्राप्त होते हैं। क्योंकि श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि आरम्भ करनेकी चेष्टा करने पर ही सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी, सत्त्वगुणकी वृद्धिसे ज्ञान उत्पन्न होगा। यह ज्ञान पुस्तक पढ़नेसे नहीं होता—यह साधनाके फलस्वरूप प्राप्त होता है। इसके प्राप्त होते ही गुणासक्ति शिथिल हो जायगी। इससे जीवके सारे संस्कार नष्ट होते हैं और मनःप्राणमें एक शान्तिका अनुभव होता है। यह शान्तिकी अवस्था नष्ट न हो, इसके लिए इसके विरोधी भावोंके प्रति अनास्था उत्पन्न होगी। साधकको कल्याणके मार्गमें परिचालित करनेके लिए यही सर्व श्रेष्ठ उपाय है।

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिक-दीपिका नामक गीताके पञ्चम अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

(ध्यानयोगः या अभ्यासयोगः)

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)। यः (जो) कर्मफलं (कर्मफलमें) अनाश्रितः (आश्रय या अपेक्षा न करके) कार्यं (अवश्य कर्त्तव्य रूपमें विहित) कर्म करोति (कर्म करता है) सः च (वही) संन्यासी योगी (संन्यासी और योगी है), न निरग्निः न च अक्रियः (निरग्नि अर्थात् अग्निसाध्य यज्ञादि कर्मोंका त्यागी और अनग्निसाध्य पूर्त्तादि कर्मोंका त्यागी संन्यासी या योगी नहीं है) ॥१॥

श्रीधर—चित्ते शुद्धेऽपि न ध्यानं विना संन्यासमात्रतः ।
मुक्तिः स्यादिति षष्ठेऽस्मिन् ध्यानयोगो वितन्यते ॥

[चित्त शुद्ध होने परभी ध्यानके बिना केवल संन्याससे मुक्ति नहीं होती, इसलिए षष्ठाध्यायमें ध्यानयोग श्रीभगवान् विस्तारपूर्वक कहते हैं ।]

पूर्वाध्यायान्ते संक्षेपेणोक्तं योगं प्रपञ्चयितुं षष्ठाध्यायारम्भः । तत्र तावत् सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्येत्यारभ्य संन्यासपूर्विकाया ज्ञाननिष्ठायास्तात्पर्येणाभिधानाद्दुःखरूपत्वाच्च कर्मणः सहसा संन्यासातिप्रसङ्गं प्राप्तं वारयितुं संन्यासादपि श्रेष्ठत्वेन कर्मयोगं स्तौति—अनाश्रित इति द्वाभ्याम् । कर्मफलमनाश्रितोऽनपेक्षमाणः सन्नवश्यं कार्यतया विहितं कर्म यः करोति स एव संन्यासी योगी च । न तु निरग्निरग्निसाध्येष्ट्याख्यकर्मत्यागी । न चाक्रियोऽनग्निसाध्यपूर्त्ताख्यकर्मत्यागी च ॥१॥

अनुवाद—भगवान् बोले । [पूर्व अध्यायके अन्तमें योगके सम्बन्धमें जो संक्षेपमें कहा गया है उसकी विशेषरूपसे व्याख्या करनेके लिए ही षष्ठ अध्याय आरम्भ किया जाता है । पूर्व अध्यायमें मन द्वारा सर्वकर्म परित्यागपूर्वक संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठाकी बात कही गयी है । कर्मसाधनको कष्टप्रद समझकर, कर्मत्यागके उपयुक्त अवस्थाकी प्राप्ति होनेके पहले ही लोग कर्म त्याग कर बैठते हैं, इसी आशङ्कासे अनुपयुक्त अवस्थामें संन्यासका निषेध करनेके लिए संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी श्रेष्ठता कीर्तन कर रहे हैं]—कर्मफलकी अपेक्षा न करके, जो विहित कर्मको अवश्य कर्त्तव्य जानकर कर्म करते हैं, वे ही संन्यासी और वे ही योगी हैं । 'निरग्नि' अग्निके द्वारा साध्य होनेवाले इष्टि (यज्ञ) नामक कर्मोंका त्याग करनेवाले, तथा 'अक्रिय' जो अग्निसाध्य नहीं हैं ऐसे पूर्त्त नामक कर्मोंका त्याग करनेवाले

संन्यासी या योगी नहीं हो सकते। [पूर्त्त नामक कर्म—कूप खुदवाना, बगीचा लगवाना आदि]॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकांक्षा-रहित होकर सारे कर्तव्य कर्मोंको करे—वही संन्यासी है और वही योगी है, मैं अग्नि नहीं छूता और कोई कर्म नहीं करता—कहनेसे कोई संन्यासी या योगी नहीं हो सकता।—जब मनुष्यको कर्म करना ही पड़ेगा, तब कर्मत्याग करनेके लिए शास्त्र इतना उपदेश क्यों देते हैं ? शरीर रहते वास्तविक कर्मत्याग नहीं होता। ऐसी अवस्थामें कर्मत्याग जैसे सम्भव है वही उपदेश भगवान्ने दिया है। मनुष्य दो प्रकारसे कर्म करता है, एक अपने लिए और एक दूसरेके लिए। अपने लिए जो कर्म करता है वह प्रायः स्वार्थान्ध होकर अपने कल्याणके लिए ही करता है। और भी एक प्रकारके कर्म करने वाले होते हैं जो अपने स्वार्थके लिए कर्म नहीं करते, बल्कि दूसरोंके कल्याणके लिए कर्म करते हैं। इनमें कर्मकर्ता आस्तिक और नास्तिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं। जो शुद्धभावोंसे युक्त हैं पर भगवान्में विश्वास नहीं कर सकते, वे केवल लोकहितके लिए कर्म करते हैं। परन्तु जो आस्तिक हैं वे भी 'सर्वजनहिताय' कर्म करते हैं, परन्तु वे 'लोकोपकार कर रहा हूँ' इस भावसे काम नहीं करते। वे लोग दूसरोंके लिए कर्म करके सोचते हैं कि वे सर्वभूतस्थित भगवानकी प्रीतिके लिए कर्म कर रहे हैं। इसलिए उनके कर्मका लक्ष्य बन जाते हैं भगवान्, अतएव उनका कर्मफल भी श्रीभगवान्को ही समर्पित होता है। चित्तके अन्तर्मुखी हुए बिना ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करना सहज नहीं होता। मनमें यदि भोग-वासना न हो तभी अपनेको हम भगवच्चरणमें समर्पण कर सकते हैं; इस अवस्थामें जो कर्म होता है वही वस्तुतः निष्काम कर्म है। इसमें हाथ पैर आदि इन्द्रियोंके व्यापारोंको निरुद्ध करनेकी बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं होती। केवल मनको निरुद्ध करना जरूरी होता है। विषय संग्रह करना जीवनके चरम लक्ष्यका विषय नहीं है। चरम लक्ष्य तो भगवान् हैं। जो सब भूतोमें भगवान् हैं, यह जानकर जीवसेवाको भगवत्सेवारूप समझते हैं, उनका देहेन्द्रियादिव्यापार चलता भी रहे तो उनके कर्म भगवद्-उद्देश्यसे ही होंगे, परन्तु मनकी यह समता केवल मान लेनेसे ही नहीं आती। इसके लिए मनको व्यर्थ ही चञ्चल करनेसे काम न चलेगा। पहले क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें पहुँचना आवश्यक है। क्रियाकी परावस्थाको पहुँचने पर यह समझमें आ जाता है कि कर्म मेरे नहीं हैं।

इस प्रकार कर्म करनेसे अक्रिय या आलसी बनकर कालक्षेप करना नहीं पड़ता, और अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए कर्म और उसके फलमें अत्यधिक आसक्ति करके हेय विषयलोलुपताको भी प्रश्रय नहीं देना पड़ता। ये भी संन्यासी हैं, परन्तु संन्यासीका बाना धारण करने वालेके समान 'मैं अग्नि नहीं छूता, कोई कर्म नहीं करता' इत्यादि मिथ्याचारको प्रश्रय नहीं देते। भगवान् परम सत्य-स्वरूप हैं। इस सत्य स्वरूपको कोई मिथ्याके द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। उनको पानेके लिए वाणी, शरीर और मनके द्वारा सत्यका उपासक होना पड़ेगा। संन्यासी लोग त्यागी होते

हैं, योगी लोग कर्मी होते हैं, त्यागका चरम फल शान्ति अर्थात् मोक्ष है, और क्रियादि साधनका अन्तिम फल भी वासना-विरहित होकर मोक्ष प्राप्त करना है। सर्वत्यागी हुए बिना कोई संन्यासी नहीं होता, अतएव चित्तका सङ्कल्प-विकल्प रहते हुए कोई प्रकृत संन्यासी नहीं हो सकता, तथा योगाभ्यास द्वारा चित्त विक्षेप-शून्य हुए बिना वासनाकी निवृत्ति नहीं होती, अतएव कोई योगी भी नहीं कहला सकता। "निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा"—सब कामनाओंसे निःस्पृह व्यक्ति ही 'युक्त' कहलाता है। सङ्कल्पशून्य वासनारहित पुरुष ही मोक्ष प्राप्तिका अधिकारी है, और वही यथार्थ संन्यासी भी है। इसीलिए अगले श्लोकमें जिसको संन्यास कहते हैं उसीको योग बतलाते हैं। जब कोई कर्म किये बिना नहीं रह सकता, तब कर्म करना ही पड़ेगा। कर्म करना होगा, परन्तु ईश्वरार्पित-चित्तसे, फलाकांक्षारहित होकर, कर्त्तव्य समझकर कर्म करना पड़ेगा। इस प्रकार जो कर्म करते हैं, वह कर्मी भी हैं, योगी भी हैं और संन्यासी भी हैं। इस प्रकार ईश्वरार्पित-चित्तसे कर्म करनेकी साधना है। केवल मौखिक अर्पण करनेसे अर्पण नहीं होता। जो क्रियाभ्यासमें रत हैं, वह मूलाधारस्थ जीवशक्ति कुण्डलिनीका सहस्रारमें परमशिवके साथ मिलन करनेकी चेष्टामें व्यापृत हैं। यह भी एक प्रकारका कर्म है, परन्तु इस कर्ममें विषय-तृष्णा और तज्जनित विक्षेप नहीं है, अतएव इस प्रकारके साधक या कर्मीको कर्मफल स्पर्श नहीं कर सकता, और इस कर्मका अन्तिम फल ज्ञान अर्थात् सर्वात्मक भाव है। क्रिया करते करते क्रियाके नशेमें चूर होकर साधक देहको भूल जाता है, जगत्को भूल जाता है, उसकी देहेन्द्रियाँ व्यापारशून्य हो जाती हैं, अतएव स्वभाववश देहेन्द्रियादिका व्यापार बन्द न होने पर भी उसको कर्मफल आश्रय नहीं कर सकता। यही अवस्था वस्तुतः 'अनाश्रित कर्मफल' है—परन्तु कार्यादि जगद्व्यापार प्रायः सभी ठीक ठीक चलते हैं। जब साधककी यह अवस्था अविच्छिन्न चलती है तब उसको संन्यासी और योगी दोनों कहा जाता है। वास्तविक वेदोक्त संन्यास इस युगमें होना बहुत ही कठिन है। उस प्रकारका देह और मनका गठन आजकल देखनेमें नहीं आता। साथ ही मनसे यथार्थ त्याग न होने पर केवल संन्यासीका बाना धारण कर घूमने-फिरनेसे नाना प्रकारका अकर्म करना असंभव नहीं है। अन्ततः लोगोंको अनेक असत् उपायोंसे अर्जित धनके द्वारा जीवन-निर्वाह तो करना ही पड़ता है। यह ब्रह्माभ्यासका विरोधी है। इस प्रकारके अन्नसे परिपुष्ट देह और मनसे आत्मध्यानमें मग्न होना सम्भव नहीं है। 'अकर्मकृत्' होकर कोई क्षणमात्र भी रह नहीं सकता, चाहे वह संन्यासी हो या गृहस्थ। निश्चय ही संन्यासी केवल शास्त्रनिर्दिष्ट कुछ कर्मोंका ही त्याग करते हैं। साधनाभ्यासके द्वारा निरावलम्ब अवस्थामें पहुँचे बिना वह संन्यासी या योगी नहीं हो सकते। कर्म नहीं, कर्मफलकी आकांक्षा जिसके मनसे हट गयी है, अर्थात् जो सर्वसङ्कल्पशून्य है, वही वस्तुतः योगी और संन्यासी है ॥१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

अन्वय—पाण्डव (हे पाण्डव !) यं (जिसको) संन्यासम् इति (संन्यास) प्राहुः (कहते हैं) तं (उसको ही) योगं विद्धि (योग जानो); हि (क्योंकि) असंन्यस्तसङ्कल्पः (सङ्कल्प-त्यागी हुए बिना) कश्चन (कोई भी) योगी न भवति (योगी नहीं हो सकता) ॥२॥

श्रीधर—कुत इत्यपेक्षायां कर्मयोगस्यैव संन्यासत्वं प्रतिपादयन्नाह—यमिति। यं संन्यासमिति प्राहुः प्रकर्षेण श्रेष्ठत्वेनाहुः। न्यास एवात्यरेचयत् इत्यादि श्रुतेः। केवलात् फलसंन्यसनाद्धेतोर्योगमेव तं जानीहि। कुत इत्यपेक्षायामितिशब्दोक्तो हेतुर्योगेऽप्यस्तीत्याह—न हीति। न संन्यस्तः फलसङ्कल्पो येन स कर्मनिष्ठो ज्ञाननिष्ठो वा कश्चिदपि न हि योगी भवति। अतः फलसङ्कल्पत्यागसाम्यात् संन्यासी च फलसङ्कल्पत्यागादेव चित्तविक्षेपाभावात् योगी च भवत्येव स इत्यर्थः ॥२॥

अनुवाद—[कर्मफलकी अपेक्षा न करके जो कर्म करते हैं, वह संन्यासी कैसे होते हैं, इस अपेक्षामें कर्मयोगका ही संन्यासत्व प्रतिपादन करनेके लिए कहते हैं]—'न्यास एवात्यरेचयत्' इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा जिस संन्यासका श्रेष्ठत्व कहा गया है, उस संन्यासको ही केवल फलसंन्यासके कारण योग जानना चाहिए। क्योंकि जिसका फलसङ्कल्प संन्यस्त नहीं हुआ है अर्थात् जो फलकामनाका त्याग नहीं कर सके हैं, इस प्रकार कर्मनिष्ठ या ज्ञाननिष्ठ—जो भी हों, कभी योगी नहीं हो सकते। अतएव फलसङ्कल्पके त्यागके विषयमें योगी और संन्यासीमें समता है। फलसङ्कल्प त्याग करनेके द्वारा चित्त-विक्षेपका अभाव होनेसे संन्यासी ही योगी है ॥२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसको संन्यासी कहते हैं उसे ही योगी कहते हैं—संन्यासी वर्तमान कालमें अनावश्यक इच्छासे रहित होता है और योगी भविष्यत्में भी इच्छा-रहित होता है। जो भविष्यत्को इच्छा रहित नहीं कर सकता वह संन्यासी कभी योगी नहीं हो सकता।—कर्म और कामनाका जिसने त्याग किया है वही संन्यासी है। संन्यासी कामसङ्कल्पविहीन होता है, उनको कोई सांसारिक आशा न होने पर भी मोक्षकी आशा होती है। योगीको मोक्षकी भी आशा नहीं होती। अतएव संन्यासी होकर भी यदि मोक्षकी अभिलाषाका त्याग नहीं किया तो वह योगी नहीं हो सकता। योगीको वर्तमान-भविष्यत्की कोई इच्छा नहीं होती, इसीलिए जो योगी है वही संन्यासी भी है। काम्य कर्मका त्याग ही संन्यासका प्रधान लक्षण है, भगवान्ने १८ वें अध्यायमें भी यही कहा है। परन्तु काम्य कर्मका त्याग या कर्मसङ्कल्प त्याग करनेकी अपेक्षा कर्म-फलकामनाका त्याग ही परमार्थतः श्रेष्ठ है। भगवदर्पितचित्त भक्तिमान् निष्काम कर्म-योगी संन्यास-चिह्नसे विरहित होने पर भी, कामना-त्यागके कारण वस्तुतः संन्यासी है। वह कर्म तो करते हैं परन्तु सब भगवत्प्रीत्यर्थ, अपने सुखके लिए कुछ भी नहीं करते। इसीसे योगी संन्यासीकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। क्योंकि योगी सब प्रकारसे सङ्कल्पवर्जित होता है। जो मन सारे सङ्कल्प-तरङ्गोंको उठाता है वह मन ही उसके पास नहीं होता। वह अमनस्क होता है, इसीसे सदा शुचि रहता है। सङ्कल्प-त्यागके बिना भगवत्-

स्वरूपका ज्ञान स्फुटित नहीं हो सकता—"नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति सङ्कल्पोपशामादृते"—सङ्कल्पके उपशमके विना सत्यज्ञान प्रस्फुटित होनेका और कोई उपाय नहीं है। चित्तकी सारी वृत्तियोंका निरोध ही योग है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति—चित्तकी यह पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ हैं। रजोगुण और तमोगुणके नाशके बिना चित्तमें सत्त्वगुणका उदय नहीं होता। सत्त्वगुणान्वित चित्तको ही शुद्धचित्त कहते हैं। इस प्रकारके सम्यक् शुद्ध चित्तमें अन्य किसी वृत्तिका उदय नहीं होता। जब तक प्राण-प्रवाह इड़ा और पिङ्गलामें प्रवाहित होता है तब तक संसार-वासना या फल-कामनासे रहित होनेका कोई उपाय नहीं है, तब तक चित्त कदापि आत्ममुखी नहीं होता। अतएव योगाभ्यासके द्वारा जब प्राण सुषुम्ना-मार्गमें प्रवाहित होता है तभी चित्त शुद्ध और शान्त होता है, और तब संसार-वासना या फल-कामना कुछ भी नहीं रहती। इस अवस्थाको स्थायी बनाना ही योगाभ्यासका मुख्य उद्देश्य है। जिसका प्राण सुषुम्नावाहिनी होकर सहस्रारमें स्थिर हो गया है, जो इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके अतीत जाकर शिव-शक्तिके सम्मिलनमें परम शिवस्वरूप हो गया है—वही योगी है। योगी ही प्रकृत उपराम प्राप्त करते हैं, तथा सर्वतत्त्वदर्शी और आत्मसाक्षात्कार-सम्पन्न होनेके कारण वही ज्ञानी हैं, और उनकी अन्य किसी वस्तुमें स्पृहा नहीं होती, इसलिए उनकी उस वैशारदी बुद्धिमें परावैराग्य फूट उठता है। विषय जब हेय जान पड़ेंगे तब ही तो विषयोंमें वितृष्णा आयेगी। जब तक विषयका स्वरूप-ज्ञान और आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं होता, परमार्थ वस्तु उपादेय और विषय हेय नहीं जान पड़ेंगे। बहुत चिन्तन और आलोचना करने पर सामान्य वैराग्य कुछ स्फुटित होता है, परन्तु वह बहुत देर तक नहीं रहता।

पञ्चतत्त्वमये देहे पञ्चतत्त्वानि सुन्दरि।
सूक्ष्मरूपेण वर्त्तन्ते जायन्ते तत्त्वयोगिभिः॥ (पवनविजय)

इस पञ्चतत्त्वमय शरीरमें पञ्चतत्त्व मूलाधार आदि स्थानोंमें सूक्ष्मरूपसे विराजित हैं, योगी लोग उन सबको जानते हैं। और जानकर उन तत्त्वोंमें मनको स्थिर करके अन्तमें परम तत्त्वमें उनका चित्त स्थिर हो जाता है।

पञ्चतत्त्वाद् भवेत् सृष्टिस्तत्त्वे तत्त्वं विलीयते।
पञ्चतत्त्वं परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम्॥

क्षिति, अप, तेज, मरुत् और व्योम, ये पाँच तत्त्व हैं। इन पञ्च तत्त्वोंसे ही सृष्टि होती है। और जब प्रलय होता है तब ये तत्त्व एक दूसरेमें लीन होते होते अन्तिम तत्त्व अर्थात् व्योममें विलीन हो जाते हैं। इन पञ्चतत्त्वोंके अतीत जो परम तत्त्व है, वही तत्त्वातीत निरञ्जन है। यह तत्त्वातीत निरञ्जन कब जाना जाता है?—जब ज्ञान होता है। परन्तु "योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि?" हे परमेश्वरि! योगविहीन ज्ञान कैसे मोक्षदायक हो सकता है? इसीसे बाबा गोरखनाथने कहा है—

यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात्।
यावद् ध्यानं सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः॥

जब तक प्राणवायु सुषुम्नामें प्रवेश नहीं करता, और जबतक प्राणवायुकी पूर्णस्थिरताके कारण अन्तर्विन्दु स्थिर नहीं हो जाता, तथा जबतक चित्तमें ध्यान-भाव स्वाभाविक नहीं हो जाता, तबतक ज्ञानकी बात करना दम्भ और मिथ्या प्रलाप है।

अतएव संन्यासी और कर्मी सबको ही सङ्कल्पका त्यागकर योगी बनना पड़ेगा। प्राणके शान्त हुए बिना सङ्कल्पकी तरङ्गें रुक नहीं सकतीं, इसीलिए प्राणा-पानको समान करके 'उत्तमा सहजावस्था'को प्राप्त होना होगा।

योगियोंकी दो अवस्थाएँ होती हैं। एक प्राथमिक अर्थात् जिन्होंने अभी योगा-भ्यासका आरम्भ किया है और उसके आनुषङ्गिक कुछ विषयोंको आयत्त करनेकी चेष्टा कर रहे हैं, उनके मनसे अभी कषाय दूर नहीं हुआ है, और वे अभी योगमें प्रतिष्ठित नहीं हो सके हैं। साधन करते करते बीच बीचमें उनको स्थिरता तो आती है, परन्तु वह स्थायी नहीं होती, सङ्कल्प आकर स्थिरताको भङ्ग कर देता है। इसीसे बारम्बार प्रतिदिन नियमित और अधिक देर तक क्रियाके अभ्यासमें रत रहना ही उनका 'कर्म' है। क्योंकि इस प्रकार सुदृढ़ अभ्यासके द्वारा ही वे 'योगारूढ़' अव-स्थाको पहुँच सकते हैं। योगाभ्यासीकी द्वितीय अवस्था है 'योगारूढ़' अवस्था। "सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदुच्यते" अर्थात् जब क्रिया करके अपने आप ही सर्वसङ्कल्प त्याग हो जायगा। 'सर्वकर्मभ्यो निवृत्तिः' हुए बिना कोई योगारूढ़ नहीं हो सकता। जब मनमें सङ्कल्प-विकल्पकी तरङ्ग नहीं उठती तब ही उसके कर्म नहीं रहते। परन्तु जो लोग केवल आरूढ़ हो गये हैं बीच बीचमें मनमें विकल्प आ पड़ता है, वे अभी अपरिपक्व ही हैं। उनके लिए उस अवस्थाको स्थायी बनानेमें 'शमता' ही साधन बनती है। जिससे मनमें 'शमता' स्थायी हो, अधिक विकल्प न उठें, इसके लिए मनके ऊपर विशेष लक्ष्य रखना होगा। सारी चिन्ताओंसे मनको समेटकर जब निरावलम्ब या आत्मामें स्थिर करनेमें समर्थ होगे तभी सम-झना होगा कि साधनाभ्यास परिपक्व हो रहा है। उस अवस्थासे विचलित करने-वाले कारणोंसे निवृत्त रहनेकी चेष्टा ही उनके लिए सर्वोत्तम नियम होगा। "सदैव वासनात्यागः" सदा ही सङ्कल्प या वासनाका त्याग उनका एकमात्र कर्त्तव्य होगा। इस समयभी उनको कितने ही नियमोंको दृढ़तापूर्वक मानकर चलना होगा। मनको वैराग्यकी ओर खींचनेके लिए विषयोंकी हेयताके विषयमें आलोचना करनी होगी। इससे मनको थोड़ा विराम प्राप्त होगा, परन्तु क्रिया करके कुछ देर क्रियाकी परावस्थामें रहे बिना अन्य किसी प्रकारसे विशेष सुविधा होती नहीं दीख पड़ती। प्राणके रुके बिना मनका उपराम प्राप्त होना निश्चय ही कठिन है। अपक्व फलमें जिस प्रकार कषायरस रहता है उसी प्रकार जबतक साधनामें सिद्धि प्राप्त नहीं होती तब-

तक मनसे काम-क्रोधादि पूर्णतः विलुप्त नहीं होते। जबतक कामक्रोधादि विलुप्त नहीं होते तबतक सभी कुयोगी हैं। इसलिए जो प्रथमाभ्यासी हैं अथवा कुछ दूर अग्रसर हो गये हैं, उन सब अरुरुक्षु (आरूढ़ होनेकी इच्छा रखनेवाले) पुरुषोंको नित्य साधुसङ्ग, सत्कथाकी आलोचना, तथा भगवत्कथाके श्रवण-मनन आदिमें सचेष्ट रहना होगा। इस प्रकारकी चेष्टासे भगवान्की ओर तथा ज्ञान-भक्तिकी प्राप्तिमें मनका अनुराग बढ़ जायगा। भागवतमें लिखा है—"मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान्" जो मुझमें अनुरक्त हैं वे धीरे धीरे हृदयस्थ सारी भोगवासनाओंका परित्याग करनेमें समर्थ होते हैं। क्योंकि "मतिर्मयि निबद्धे यं न विपद्येत कर्हिचित्"—जिनकी मति भगवान्में आबद्ध हो जाती है वे कभी विनाशको प्राप्त नहीं होते ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

अन्वय—योगं आरुरुक्षोः (योगमें आरोहण करनेके इच्छुक) मुनेः (मुनिके लिए) कर्म कारणम् (कर्मको कारण या साधन) उच्यते (कहते हैं) योगारूढस्य (योगारूढ़ होनेके लिए) तस्य (उसका) शमः एव (सर्वकर्मनिवृत्तिरूप समाधि ही) कारणम् उच्यते (साधन कही जाती है) ॥३॥

श्रीधर—तर्हि यावज्जीवं कर्मयोग एव प्राप्त इत्याशङ्क्य तस्यावधिमाह—आरुरुक्षोरिति। ज्ञानयोगमारोढुं प्राप्तुमिच्छोः पुंसस्तदारोहे कारणं कर्मोच्यते चित्तशुद्धिकरत्वात्। ज्ञानयोगमारूढस्य तु तस्यैव ध्यान-निष्ठस्य शमः समाधिश्चित्तविक्षेपककर्मोपरमो ज्ञानपरिपाके कारणमुच्यते ॥३॥

अनुवाद—[तो क्या जीवनपर्यन्त कर्मयोग ही करना होगा? यह आशंका करके उसकी सीमाका निर्देश करते हैं]—ज्ञानयोगकी प्राप्तिके लिए इच्छुक पुरुषको ज्ञानयोगमें आरोहण करनेमें कर्म ही हेतुरूपसे निर्दिष्ट हुआ है। क्योंकि कर्म चित्तको शुद्ध करता है। परन्तु ज्ञानयोगमें आरूढ़ ध्याननिष्ठ व्यक्तिके लिए शम अर्थात् चित्तके विक्षेपक कर्मोंकी उपरतिरूप समाधि ही ज्ञान-परिपाकका हेतु कही गयी है ॥३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो क्रिया करते करते क्रियाकी परावस्थामें स्थिर होकर अपने आप बोलना नहीं चाहते—उनका नाम मुनि है, परन्तु क्रिया करनेसे कुछ शुभ ही होगा—इस प्रकारका मन न रहनेसे कर्म नहीं करते—उसी कर्मको उत्तम कल्याणके उद्देश्यसे जो करते हैं—उनको आरुरुक्षु कहते हैं। जब इस प्रकार कर्म करते करते जो होनेवाला है वही हो—कुछ फल प्राप्त होकर अर्थात् मनमें आनन्द होने पर—कर्म किये जाते हैं फलाकांक्षारहित होकर। इसीका नाम है योगारूढ़।—मन स्थिर होकर मौन होने पर ही मुनि बन जाता है। तभी आनन्द प्राप्त होता है। परन्तु क्रिया किये बिना मन स्थिर कैसे होगा? मनको स्थिर करनेके लिए ही क्रिया करना है। क्रिया करनेसे स्थिरता प्राप्त

होगी, आनन्द मिलेगा—इस प्रकारकी धारणा रखकर जो क्रिया करते हैं वे ही आरुरुक्षु हैं। उस समय आज्ञाचक्रमें स्थिति नहीं होती, अतएव वह स्थिरताका आनन्द नहीं पाते, केवल बीच बीचमें चित्त कुछ स्थिर होने पर आनन्द होता है, इसीसे इस स्थिरताको पानेके लिए जो प्राणपनसे यत्नपूर्वक क्रिया करते जाते हैं वे ही आरुरुक्षु हैं और जब कुछ समय तक इस प्रकार प्राणकर्म करते करते प्राण स्थिर हो जाता है, मन विक्षेपशून्य होकर स्थिर हो जाता है, चित्त आनन्दसे भर जाता है, तब फिर फलाकांक्षाकी इच्छाही नहीं रहती; केवल एक प्रकारकी नशेकी धुनमें काम किये जाते हैं। प्राणमें जब इस प्रकारकी स्थिरता आती है, तो उसके साथ अन्तरेन्द्रिय मनमें भी शमता आ जाती है। इस शमभावको प्राप्त, विक्षेपविहीन मनमें फिर किसी वृत्तिका उदय नहीं होता—यही क्रियाकी परावस्था है—"समाधावचला बुद्धिः"। इस अवस्थाके परिपक्व होने पर ही योगारूढ़ या ज्ञानयोगकी अवस्था प्राप्त होती है। अतएव जो योगारूढ़ नहीं हुआ, परन्तु योगमें आरूढ़ होना चाहता है उसे प्राणपनसे यत्नपूर्वक क्रिया करनी चाहिए। इस क्रियाके द्वारा ही उसे योगारूढ़ अवस्था प्राप्त होगी। आरुरुक्षुको आनन्दप्राप्तिकी कुछ कुछ कामना रहती है। साधनावस्थामें समय समय पर आनन्द-प्राप्ति होने पर भी वह अवस्था दीर्घकाल तक नहीं रहती, भङ्ग हो जाती है। इस अवस्थामें दीर्घकालीन स्थिति बनानेके उपाय दिखला रहे हैं। स्थिति बढ़ानेके लिए 'शम' अर्थात् अन्तरेन्द्रिय मनके विक्षेपोंका पूर्ण निरोध होना आवश्यक है। आरुरुक्षु योगीकी योगारूढ़ अवस्था जब आने लगती है, तब उनके मनमें नाना सङ्कल्प या नानाचिन्ताएँ नहीं रहतीं। तब केवल एकमात्र चिन्ता—आत्मचिन्ताकी वृत्ति पुनः पुनः उदय होती रहती है। जब ऐसा होने लगे तो समझना चाहिए कि योगारूढ़ अवस्था आसन्न है। इस प्रकारकी आत्माकारा वृत्ति अपेक्षाकृत दीर्घकाल स्थायी होने पर भी योगीका चित्त फिर व्युत्थित होता है। परन्तु पुनः पुनः चेष्टाके फलस्वरूप जब आत्माकारा वृत्ति सुदीर्घकाल स्थायी होती है तो सहसा व्युत्थान नहीं होता, तभी उसे योगारूढ़ अवस्था कहते हैं। तब इस अवस्थाके परिपाकार्थ दीर्घ समाधिका अभ्यास करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ प्रयत्न माने केवल अभ्यासमात्र नहीं है। बल्कि यह ध्यानमें रखना होगा कि उस अवस्थाकी प्रतिबन्धक अवस्था आने न पावे। अवश्य ही मन उस समय सहज ही लक्ष्यमें लग जाता है, इतना अभ्यास तो हुआ ही रहता है, परन्तु यह लाग बीच बीचमें छूट न जाय, इसके लिए सावधान रहना ही इस संयमका कार्य है—इसीका नाम शम-साधना है। आरुरुक्षु पुरुष साधन भी करता है, चित्त भी स्थिर होता है, परन्तु चित्तमें फिर संसारका भी स्मरण होता है। अर्थात् अन्य चिन्ताएँ भी आती रहती हैं। जब नित्य कर्त्तव्य कर्मके अन्तमें मन फिर अन्य कर्मोंकी ओर नहीं दौड़ता, अवसर पाने पर भी मनमें अन्य वृत्तिका उदय नहीं होता, साधन-क्रियाको समाप्त करनेके बाद भी अन्य किसी वृत्तिका उदय न होकर आत्मलक्ष्यकी ओर मनकी स्वाभाविक गति होती है—तब समझना होगा कि आरुरुक्षु पुरुष इस बार शीघ्र ही योगारूढ़ अवस्थामें स्थायीभावसे

अवस्थित होगा। शङ्करने कहा है—"यावद् यावत् कर्मभ्य उपरमते तावत्तावन्निरायासस्य जितेन्द्रियस्य चित्तं समाधीयते। तथा सति स झटिति योगारूढ़ो भवति।" जब जब कर्मसे विराम लेता है तब तब उसका चित्त विषय-चिन्तन न करके ध्येय वस्तुमें समाहित होता है अर्थात् संसारमें जो कुछ कर्म करनीय होता है उनका अवसान होते ही उसका मन अन्य विषयकी चिन्ता न करके ध्येय वस्तुमें निमग्न हो जाता है। जब आरुरुक्षुकी इस प्रकारकी अवस्था हो, तब समझना चाहिए कि वह शीघ्र ही योगारूढ़ हो जायगा ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ॥४॥

अन्वय—यदा (जब) न इन्द्रियार्थेषु (न इन्द्रियोंके भोगोंमें) न कर्मसु (न उन भोगसाधनरूप कर्मोंमें) अनुषज्जते (आसक्त होता है) तदा हि (तभी) सर्वसङ्कल्प-संन्यासी (सर्वसङ्कल्पत्यागी पुरुष) योगारूढ़ः उच्यते (योगारूढ़ कहलाता है) ॥४॥

श्रीधर—कीदृशोऽयं योगारूढो यस्य शमः कारणमुच्यत इति ? अत्राह—यदेति। इन्द्रियार्थेष्विन्द्रियभोग्येषु शब्दादिषु तत्साधनेषु च कर्मसु यदा नानुषज्जत आसक्तिं न करोति। तत्र हेतुः—आसक्तिमूलभूतान् सर्वान् भोगविषयान् कर्मविषयांश्च सङ्कल्पान् संन्यसितुं त्यक्तुं शीलं यस्य सः। तदा योगारूढ उच्यते ॥४॥

अनुवाद—[योगारूढ़ पुरुष कैसा होता है ?—'शम' ही जिसका कारण है। उसे ही बतला रहे हैं]—'इन्द्रियार्थेषु' शब्दादि इन्द्रियभोग्य विषयोंमें और उनका भोगसाधन करनेवाले कर्मोंमें वे आसक्ति नहीं करते। आसक्ति न करनेका कारण यह है कि आसक्तिका मूल कारण है—भोगविषयक और कर्मविषयक सङ्कल्प। इनका त्याग करनेमें जो अभ्यस्त हैं, उनको योगारूढ़ कहते हैं ॥४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—किसी इन्द्रियके निमित्त अथवा मुझे अच्छा कहें इस प्रकारके अभिप्रायसे जो क्रिया नहीं करते—किसी विषयकी इच्छा न करके क्रिया किये जाते हैं उनको ही योगारूढ़ कहा जाता है।—कर्मत्यागी होकर भी यदि मन ही मन विषयोंमें आसक्ति रहे तो इससे साधक सर्वसङ्कल्पत्यागी योगी नहीं बन सकता। केवल कर्मत्यागसे ही वासना नहीं जाती, सङ्कल्पत्यागसे ही वासना मिटती है और कर्म भी मिट जाता है। क्रिया करते करते इन्द्रियद्वारसे जब फिर विषय-ग्रहण नहीं होता अर्थात् किसी इच्छा या सङ्कल्पका उदय नहीं होता, तब समझना चाहिए कि योगारूढ़ अवस्था आ गयी है। मनोवृत्तिकी अन्तर्मुखताके कारण अन्तःकरणमें जब कोई सङ्कल्प नहीं उठता तो वही समाधिकी अवस्था है। इस अवस्थामें इन्द्रियोंके भोग्य शब्दादि विषयोंकी ओर मनोगति प्रवाहित नहीं होती। विषय-चिन्तन ठीक नहीं है। यही हमारे सारे दुःखोंका मूल है, इस प्रकारसे विचार करने वाले साधक विचार करके भी जब चित्तको रोध करनेमें समर्थ नहीं होते, तब वे

निश्चय ही हताश हो जाते हैं। उस समय कर्त्तव्य क्या है ? अवश्य ही यह चिन्तन करना पड़ेगा कि सारे कामसङ्कल्प ही दुःखमय हैं। विविध कामसङ्कल्प ही मानो सुदुस्तर समुद्र हैं तथा विषयतृष्णा ही उस समुद्रकी आकुल तरङ्गें हैं। प्राणापानकी चञ्चल गति ही उन तरङ्गोंके नृत्यमय भाव हैं। चित्त सर्वदा ही विषयतृष्णाके द्वारा आलोड़ित हो रहा है। यह विक्षुब्ध विषयतृष्णा विशाल तरङ्गके समान कैसी भयङ्कर दीख पड़ रही है ! साधकको इस अशान्त क्षुभित तरङ्गोंके तल-प्रदेशमें पहुँचना पड़ेगा। तल-प्रदेश स्थिर, शान्त और अचञ्चल है। वही आत्मा है, स्थिर समुद्र है। स्थिर समुद्रके ऊपरी भाग पर या बाहर जैसे चञ्चल तरङ्गें उठती हैं, चिर स्थिर आत्माके बहिर्देशमें सङ्कल्पमय मन ही विक्षुब्ध तरङ्गमालाके समान शोभा पा रहा है। इस तरङ्ग-मालाके रुकते ही महासमुद्र स्थिर और गम्भीर दीख पड़ता है। उसी प्रकार चित्तके शान्त और स्थिर होने पर ही प्रशान्त और पवित्र आत्माका साक्षात्कार होता है। इन तरङ्गोंको रोकनेका कौशल है योगाभ्यास। इसी कारण योगाभ्यासके बिना आत्मदर्शन संभव नहीं है। तरङ्गोंका नृत्य बन्द होते ही जिस प्रकार तरङ्गें भी बन्द हो जाती हैं, उसी प्रकार प्राणापानकी गति रुद्ध होते ही नटराज भगवान्‌का नृत्य और उसके साथ अनन्त अङ्ग-सञ्चालन अथवा चाञ्चल्य भी रुक जाते हैं। प्राणके स्पन्दनसे ही चित्तमें स्पन्दन होता है। प्राणायामका अभ्यास करनेवालोंका प्राणस्पन्दन तिरोहित हो जाता है, और उसके साथ चित्तका स्पन्दन भी रुक जाता है। चित्तके स्पन्दनहीन होने पर वासना-सङ्कल्प भी फिर जाग नहीं सकते। वासनाके निर्वासित होते ही सर्वसङ्कल्पशून्य निरोधावस्था आती है, यही ध्यानावस्था है। इस ध्यानावस्थाके प्रगाढ़ भावका नाम ही समाधि है। अतएव चित्तरूपी तरङ्ग जब शान्त हो जाती है, तब एकमात्र आत्माकारा वृत्ति ही उदित होती है। इसे ही आत्म-साक्षात्कार या स्वरूप-दर्शन कहते हैं, और यही योगारूढ़ अवस्था है ॥४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

अन्वय—आत्मना (विवेकयुक्त मनके द्वारा) आत्मानं (जीवात्माको) उद्धरेत् (उद्धार करे) आत्मानं (जीवात्माको) न अवसादयेत् (अवसन्न या अधः-पात न करे)। हि (क्योंकि) आत्मा एव (यह मन ही) आत्मनः (जीवात्माका) बन्धुः (बन्धु है) आत्मा एव (मन ही) आत्मनः(जीवात्माका) रिपुः (शत्रु है) ॥५॥

श्रीधर—अतो विषयासक्तित्यागे मोक्षं, तदासक्तौ च बन्धं पर्यालोच्य रागादिस्वभावं त्यजेदित्याह—उद्धरेदिति। आत्मना विवेकयुक्तेनात्मानं संसारादुद्धरेत्। न त्ववसादयेत् अधो न नयेत्। हि यत आत्मैव मनःसङ्गादुपरत आत्मनः स्वस्य बन्धुरुपकारकः। रिपुरपकारकश्च ॥५॥

अनुवाद—[अतएव विषयासक्तिके त्यागमें मोक्ष और आसक्तिमें बन्धन

है—यह पर्यालोचना करके रागादि स्वभावके परित्यागका उपदेश दे रहे हैं]—विवेकयुक्त मन द्वारा संसारसे संसार-मग्न आत्माका उद्धार करे, आत्माका अधःपात न होने दे। क्योंकि मनःसङ्गसे उपरत आत्मा ही अपना बन्धु या उपकारक है और विषयासक्त आत्मा ही अपना शत्रु या अपकारक है ॥५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आत्माके द्वारा आत्माका उद्धार करे अर्थात् मस्तकमें स्थिर कर रक्खे, जो क्रियाके द्वारा होता है—यह न करनेसे अधोगति होती है अर्थात् तामसिक कर्ममें प्रवृत्त होता है। अतएव अपना बन्धु आप है और अपना शत्रु आप है।—प्राण स्थिर न होनेके कारण वह अविरत मनको विषयग्रहणमें स्पन्दित करता है। प्राण बहिर्मुख होकर ही संसाररूपी अनर्थको उत्पन्न करता है। जबतक श्वास इड़ा-पिङ्गलामें बहता रहता है तबतक प्राण नृत्यमय और चञ्चल रहता है, तबतक जीवकी संसार-प्रवृत्ति है। मूलाधारादि पञ्चचक्र ही शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके लीलाक्षेत्र हैं। जबतक मन इस क्षेत्रमें विचरण करता है तबतक विषयादिका आकर्षण होता है। अभ्यास और संस्कार मनको बलपूर्वक विषयमें आकर्षण करते हैं। मन तब विविध वृत्तियोंके अधीन हो जाता है। बहुत तरहसे समझाने परभी मनका विषयोंके प्रति आकर्षण कम नहीं होता। इसके लिए गुरुके उपदेशानुसार साधना करनी पड़ती है, साधना करनेसे प्राणकी गति इड़ा-पिङ्गलासे सुषुम्नामें प्रवाहित होती है। तब मूलाधार आदि पञ्चचक्रोंको भेद करके मन आज्ञाचक्रमें आकर स्थिर होता है। इसका ही नाम आत्माका उद्धार या ऊर्ध्व उन्नयन है। आज्ञाचक्रके नीचे रहने पर मन विषयोंके आकर्षणमें आ जाता है, इसीसे इसको अधोदेशमें अर्थात् आज्ञाचक्रके नीचे लानेका निषेध किया जाता है। जो मन स्वभावतः बहिर्मुखी या विषयाभिमुखी होता है उसे अन्तर्मुखी करना पड़ेगा। जो ऐसा नहीं करेगा वह अपने आप अपना शत्रु बनेगा। उसका मन पागल कुत्तेके समान अपनी ही यातनामें छटपटाता हुआ चारों ओर भटकते भटकते अन्तमें कालके गालमें पड़ जायगा। और जो विचारसम्पन्न होकर मनको अन्तर्मुखी बनाता है, वह अपना उपकार आप ही करता है, उसकी सारी ज्वाला निवृत्त हो जाती है, उसके सारे दुःखोंका उपशमन हो जाता है। मनकी विषय-प्रवृत्तिके मूलमें काम और कामके मूलमें सङ्कल्प होता है, क्योंकि सङ्कल्पसे ही काम जाग्रत होता है। "फिर सङ्कल्प न करूँगा"—जो ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करता है उसके सब दुःखोंका मूल काम जाग्रत नहीं होता। अपरिपक्व मन कर्ममें न लगा रहे तो वह सङ्कल्प करेगा ही। इसीसे इसको कभी मौका न देकर सर्वदा कर्ममें नियुक्त रखनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। परन्तु जिस किसी कर्ममें लगा रखनेसे मनमें उसके अनुसार काम-सङ्कल्पकी तरङ्गें उठेंगी, इसीसे उसको आत्मकर्ममें लगा रखनेकी चेष्टा करना ही समीचीन और सङ्गत है। मालाके समान चक्रोंमें मनको और श्वासको फिरा सकने पर काम-सङ्कल्प निर्वापित हो जाते हैं। मनकी उत्पत्ति प्राणसे है, प्राण चञ्चल होने पर ही मनको विषयाभिमुखी बनाता है, और वह विषयाभिमुखी मन सारे दुःखोंका उत्पादक है। अतएव देखा जाता है कि प्राणकी चञ्चलतासे ही मन और इन्द्रिय चञ्चल

होकर विषयान्वेषणामें दौड़ते हैं, इसलिए बुद्धिमान्का कर्त्तव्य है कि प्राणको सबसे पहले स्थिर करनेकी चेष्टा करे। प्राणायामके द्वारा प्राण स्थिर होने पर मन भी साथ ही साथ स्थिर होता है। मनमें सङ्कल्पकी तरङ्ग न उठे तो उस मनको मन नहीं कहेंगे। तब मन स्थिरा बुद्धिमें परिणत हो जाता है। यह स्थिरा बुद्धि या एकाग्रता क्रमशः इतनी घनी हो जाती है कि उसमें फिर किसी उद्वेगका चिह्न नहीं दीखता। वह उद्वेगहीन अचञ्चल शान्त मन ही आत्मा है। आत्मा चञ्चल होकर मन बनता है और इन्द्रियोंमें जाकर इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त होकर विषयभोग करता है। यह आसक्ति सहज ही नहीं जाती। साधुसङ्ग करो, भगवत्कथा श्रवण करो, प्राणमें भगवद्विरहकी ज्वाला फूट उठेगी, तब गुरूपदिष्ट प्राणायामादि साधनके द्वारा मनको स्थिर कर सकोगे, इससे तुम्हारे सब दुःखोंका सारी उपाधियोंका नाश हो जायगा। जिस प्रकार जलसे उद्भूत बुद्बुद जलमें आत्मविसर्जन करके जलमें परिणत हो जाता है, उसका पृथक् नाम-रूप तब नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मसागरका बुद्बुद मन आत्मामें निमग्न होकर आत्मस्वरूप हो जायगा ॥५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अन्वय—येन आत्मना एव (जिसने विवेकयुक्त मन द्वारा) आत्मा जितः (आत्माको जीत लिया है अर्थात् वशीभूत कर लिया है) तस्य आत्मा (उसका मन) आत्मनः बन्धुः (जीवात्माका बन्धु है) अनात्मनः तु (परन्तु अजित-आत्माका) आत्मा एव (मन ही) शत्रुवत् (शत्रुके समान) शत्रुत्वे (शत्रुता करनेमें) वर्तेत (रहता है—शत्रुताका आचरण करता है) ॥६॥

श्रीधर—कथम्भूतस्यात्मैव बन्धुः ? कथम्भूतस्य चात्मैव रिपुरित्यपेक्षायामाह—बन्धुरिति। येनात्मनैवात्मा कार्यकरणसंघातरूपो जितो वशीकृतस्तस्य तथाभूतस्यात्मन आत्मैव बन्धुः। अनात्मनोऽजितात्मनस्त्वात्मैवात्मनः शत्रुत्वे शत्रुवदपकारकारित्वे वर्तेत ॥६॥

अनुवाद—[यदि जिज्ञासा करो कि किसका मन बन्धु है अथवा किसका मन रिपु है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं]—जिसने आत्माके द्वारा कार्यकरणसंघातरूप अर्थात् देहेन्द्रियादिके समष्टिरूप आत्माको वशमें कर लिया है, इस प्रकारके आत्माका आत्मा (मन) ही बन्धु है और अजितात्माका आत्मा (मन) शत्रुके समान अपकार साधनमें प्रवृत्त होता है ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो क्रियाके द्वारा आत्माको स्थिर कर सके हैं वही आत्माके बन्धु हैं, और जो आत्मामें आत्माको नहीं रखते अर्थात् क्रिया नहीं करते वह आत्माको ही आत्माका शत्रु जानें—क्योंकि सदा क्रिया नहीं करनेसे मृत्यु हो जायगी और मृत्युसे बढ़कर दूसरा शत्रु कौन है ?—सभी अपना उद्धार आप कर सकते हैं। यदि सोचते हो कि मैं संसार-समुद्रमें डूब रहा हूँ, मेरा उद्धार कौन करेगा ?—तो सचेष्ट हो जाओ, प्रयत्न करो, तुम अपना उद्धार आप कर सकोगे। पापके गंभीर

पङ्कसे और कोई तुमको बाहर नहीं निकाल सकता। तुम उस आनन्दमय चिरस्थिर आत्माके विषयमें चिन्तन करो, और अपनी पाप-पङ्किल देह और मनके विषयमें सोचो, तुम अपने आपसे भयभीत होने लगोगे। तब तुम्हें सुखमय शान्तिमय अपने आत्माका स्मरण होगा। किसी प्रकार यदि एक बार उस आत्माके शरणापन्न हो जा सको तो तुम अपने निजस्वरूपमें पहुँच जाओगे। इन्द्रियाँ आत्मवशमें न रहकर स्वेच्छाचारी हों तो फिर साधकका कल्याण नहीं है। जो क्रिया करके प्राणको (श्वासको) स्थिर कर लेता है, उसका देहाभिमान नहीं रहता, वह अपने आपमें रहता है। प्राण ही चञ्चल होकर स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंको प्रकट करता है। स्थूल शरीर निद्राके समय सो जाता है, परन्तु सूक्ष्म शरीर उस समय भी जागता है। सुषुप्तिकालमें सूक्ष्म शरीर भी सो जाता है, उस समय केवल अज्ञानरूप आवरण रहता है। जब इस त्रिपुर को वशमें किया जायगा, तभी प्रकृतिकी क्रिया रुकेगी। इस चञ्चला प्रकृतिने ही जगत् और जीवको सचञ्चल कर रक्खा है। चञ्चला प्रकृति ही हमारा चञ्चल प्राण है। इस प्राणके स्थिर होने पर ही प्रकृतिकी क्रिया रुद्ध होगी और ज्ञानकी प्राप्ति होगी। 'मैं' कुछ नहीं हूँ, 'मेरा' कुछ नहीं है, इस ज्ञानके द्वारा सब प्रकारसे वह आत्माभिमान-शून्य हो जाता है—इस प्रकारके पुरुष ही वस्तुतः जितेन्द्रिय हैं। जितेन्द्रिय पुरुषका मन विपथमें नहीं जाता, अतएव इन्द्रियाँ उसको त्रितापसे सन्तप्त नहीं कर सकतीं। विषयासक्ति जितनी ही कम होती है, उतना ही मनका विक्षेप कम होता है, और मन भी प्रशान्त होता है। इस प्रकारके स्थिरचित्त महात्मा ही आप अपने बन्धु हैं। और जो अजितात्मा, विषय-लोलुप और कामासक्त हैं, वे अपने दुःखकी आप सृष्टि करते हैं। शत्रु जैसे अनिष्ट करके दुःख देता है, अजितात्माका मन शत्रुके समान अपने आपको उत्पीड़ित करता है ॥६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

अन्वय—शीतोष्णसुखदुःखेषु (शीत, उष्ण, सुख, दुःखमें) तथा मानापमानयोः (तथा मान और अपमानमें) प्रशान्तस्य (रागादिरहित प्रशान्तभावापन्न) जितात्मनः (जितात्माके) [हृदयमें] परमात्मा (परमात्मा) समाहितः (मानो साक्षात्-रूपसे विराजते हैं) ॥७॥

श्रीधर—जितात्मनः स्वस्मिन् बन्धुत्वं स्फुटयति – जितात्मन इति। जित आत्मा येन तस्य प्रशान्तस्य रागादिरहितस्यैव। परं केवलमात्मा शीतोष्णादिषु सत्स्वपि समाहितः स्वात्मनिष्ठो भवति। नान्यस्य। यद्वा तस्य हृदि परमात्मा समाहितः स्थितो भवति ॥७॥

अनुवाद—[जितात्मा पुरुष आप अपना बन्धु है, इसे स्पष्ट करके कहते हैं] —जिसने अपने आत्माको जीत लिया है, उस रागादिरहित प्रशान्त पुरुषको शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मानापमान आदिमें भी आत्मनिष्ठा रहती है, अर्थात् वह शीतोष्णादिके द्वारा व्याकुलचित्त होकर परमात्माको नहीं भूलता। उस अवस्थामें

भी उसका हृदय परमात्मामें ही समाहित होता है या अवस्थान करता है। [आत्म-जयी पुरुषके सिवा अन्यको यह अवस्था नहीं प्राप्त होती] ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आत्माको जीतकर, प्रकृष्ट रूपसे शान्तिपदको पाकर अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें रहकर परमात्मा कूटस्थमें स्थिर होकर—शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान कुछ भी नहीं रहता—क्योंकि नशेबाजको यह सब कुछ नहीं रहता।—साधनके द्वारा मनको शान्त करके साधक क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त करता है। यही शान्तिपद है। इस अवस्थामें फिर शीतोष्णादि द्वन्द्वभाव नहीं रहता। प्रारब्धके वश जब वह सुख-दुःख, मानापमानादिको प्राप्त होता है, तब भी वह विचलित नहीं होता, प्रशान्तभावसे इन सबोंको भोग लेता है। ठीक वैसे ही जैसे नशाबाज करता है—खाता पीता है, गिर पड़ता है, चोट भी लगती है, पर उसे वह समझ नहीं सकता। आत्मसमाधिमग्न पुरुष कदापि आत्मस्थितिसे विचलित नहीं होता ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

अन्वय—ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा (ज्ञान और विज्ञान द्वारा जिनका अन्तःकरण परितृप्त है) कूटस्थः (जो विकारशून्य हैं) विजितेन्द्रियः (जिनकी इन्द्रियाँ विशेष-रूपसे वशीभूत हैं) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (जो मृत्तिका, पाषाण और सुवर्णको समान देखते हैं) योगी (इस प्रकारके योगीको) युक्तः इति उच्यते (योगयुक्त कहते हैं) ॥८॥

श्रीधर—योगारूढ़स्य लक्षणं श्रैष्ठ्यं चोक्तमुपसंहरति—ज्ञानेति। ज्ञानमौपदे-शिकम्। विज्ञानमपरोक्षानुभवः। ताभ्यां तृप्तो निराकांक्ष आत्मा चित्तं यस्य। अतः कूटस्थो निर्विकारः। अतएव विजितानीन्द्रियाणि येन। अतएव समानि लोष्टादीनि यस्य। मृत्पिण्ड-पाषाण-सुवर्णेषु हेयोपादेयबुद्धिशून्यः। स युक्तो योगारूढ़ इत्युच्यते ॥८॥

अनुवाद—[योगारुढ़के लक्षण और श्रेष्ठत्वका उपसंहार करते हैं]—जो उपदेशजात ज्ञान और अपरोक्ष अनुभव—इन दोनोंके द्वारा तृप्तात्मा अर्थात् निराकाङ्क्षचित्त हैं, अतएव 'कूटस्थ' हैं, भोग्यवस्तुके रहने पर भी निर्विकार हैं, अतः विजितेन्द्रिय हैं, अतएव समलोष्टाश्मकाञ्चन अर्थात् मृत्पिण्ड, पाषाण और सुवर्णमें समान अर्थात् हेय और उपादेय बुद्धिसे शून्य हैं, ऐसे योगीको युक्त अर्थात् योगारूढ़ कहते हैं ॥८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ज्ञान तो कूटस्थ दर्शन है—विज्ञान अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें रहकर आत्मतृप्त होकर—कूटस्थमें रहना—सब इन्द्रियोंको जीतना, इसका नाम है ब्रह्ममें रुके रहना—योगी लोग कहते हैं—जब ढेला और सोना समान जान पड़ता है—जैसे मद्यपायीको होता है।—ज्ञान है कूटस्थ दर्शन अर्थात् हम जो 'मैं-मैं' कहते हैं वह सत्य 'मैं' हमारे भीतर कौन है ? यह देह, इन्द्रिय या मन ? अथवा कुछ और ही ? जब हम आत्मज्योतिको देखकर जान जाते हैं कि किसकी ज्योतिसे

हमारे देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि तथा 'मैं' प्रकाशित हो रहे हैं, तब फिर देहादिमें हमको आत्मभ्रम नहीं होता, यही ज्ञान है। और क्रिया करके जो क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है, वही विज्ञानपद है। विज्ञानका अर्थ विगत ज्ञान है अर्थात् जब अन्तःकरणके लय हो जाने पर सब कुछ विलीन हो जाता है, तब केवल एक आत्मभावको छोड़कर और किसी पृथक् सत्ताका अनुभव नहीं होता—यही विज्ञानपद है। इस अवस्थामें एक परमा तृप्तिका अनुभव होता है, जो किसी विषय-भोगके द्वारा होना संभव नहीं है। तब देह-इन्द्रियसे मन-बुद्धि दूर होकर आत्माके साथ मिलकर आत्माकार हो जाते हैं। तब मन देहमें नहीं रहता, महाशून्यमें विलीन हो जाता है। इसका ही नाम है, ब्रह्ममें रुके रहना। उस समय एक अत्यन्त अनिर्वचनीय निर्विकार भाव आता है—तब फिर योगीको कुछ भी भ्रममें नहीं डाल सकता, उसके सामने सोना और 'ईंट-ढेला' सब एक हो जाते हैं—अर्थात् सब कुछ सोना हो जाता है—"मधुवत्पार्थिवं रजः"—अर्थात् प्रत्येक वस्तुसे नामरूप लय हो जाता है—रह जाता है केवल सत्तामात्र भाव। तब जान पड़ता है कि "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते"। तब जगदादि सारे प्रकाश उस परमानन्दके ही प्रकाशके रूपमें अनुभव होते हैं। जो इस अवस्थाको प्राप्त होता है वही युक्त योगी है ॥८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

अन्वय—सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु (सुहृत्, मित्र, अरि, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुमें) साधुषु (साधुमें) अपि च पापेषु (और पापियोंके प्रति) समबुद्धिः (समज्ञान रखने वाला पुरुष) विशिष्यते (श्रेष्ठ होता है) ॥९॥

श्रीधर—सुहृन्मित्रादिषु समबुद्धियुक्तस्तु ततोऽपि श्रेष्ठ इत्याह—सुहृदिति। सुहृत् स्वभावेनैव हिताशंसी। मित्रं स्नेहवशेनोपकारकः। अरिर्घातकः। उदासीनो विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः। मध्यस्थो विवदमानयोरुभयोरपि हिताशंसी। द्वेष्यो द्वेषविषयः। बन्धुः सम्बन्धी। साधवः सदाचाराः। पापाः दुराचाराः। एतेषु समा रागद्वेषादिशून्या बुद्धिर्यस्य स तु विशिष्टः ॥९॥

अनुवाद—[सुहृत् और मित्रादिमें समबुद्धियुक्त व्यक्ति तदपेक्षा श्रेष्ठ है, यह बतलाते हैं]—'सुहृत्' स्वभावतः हितैषी, 'मित्र' स्नेहवश उपकार करने वाला, 'अरि' घातक, 'उदासीन' विवदमान दोनों पक्षोंकी उपेक्षा करने वाला, 'मध्यस्थ' विवदमान दोनों पक्षोंका हितैषी, 'द्वेष्य' द्वेषका विषय या पात्र, 'बन्धु' सम्बन्धी—जिसके साथ सम्बन्ध हो, 'साधु' अर्थात् शास्त्रानुवर्ती सदाचारी, और 'पाप' दुराचार शास्त्रविगर्हित कर्ममें रत—इन सबमें 'सम' अर्थात् रागद्वेषादिशून्य बुद्धिवाला पुरुष ही विशिष्ट होता है ॥९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तब सुहृत् (जिसका हृदय सुन्दर है), मित्र अर्थात् जो सुख-दुःखका भागी है। उदासीन अर्थात् वायुके द्वारा जो मस्तकमें जा बैठा है; और मध्यवृत्तिका आदमी तथा हिंसक और बान्धव—जो हित कामना करता है और जो क्रिया करता है—साधु और पापी—वह इन सबको समान देखता है।—योगारूढ़ पुरुषको सर्वत्र समज्ञान होता है। कौन अच्छा करता है, कौन बुरा करता है, किसी विषयमें वह मनोयोग नहीं देता; इसके सिवा देहमें अभिमान होनेके कारण, तथा भला-बुरा, अपने-परायेका ज्ञान न होनेके कारण, वह सर्वत्र रागद्वेषशून्य होता है। 'सर्वं ब्रह्ममयं' भावरूपी अभेद-ज्ञानमें वह प्रतिष्ठित होता है, इससे उसका अन्तःकरण सर्वदा विकारशून्य होता है। पूर्व श्लोकोंमें योगारूढ़के अनेक लक्षणोंको दिखलाकर इस श्लोकमें उसके सर्व श्रेष्ठ लक्षणोंको बतलाया है। इस अवस्थाको प्राप्त योगीको संशय या भ्रम नहीं रहता, और उसकी इन्द्रियाँ ऐसी वशीभूत होती हैं कि विषय प्राप्त होने पर भी वह उधर फिर कर नहीं ताकता ॥९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

अन्वय—योगी (योगी अर्थात् योगाभ्यास करने वाला) सततं (निरन्तर) रहसि स्थितः (एकान्तमें रहकर) एकाकी (सङ्गरहित होकर) यतचित्तात्मा (चित्त और देहको संयत करके) निराशीः (आकांक्षारहित होकर) अपरिग्रहः (परिग्रह-शून्य होकर) आत्मानं (मनको) युञ्जीत (समाहित करे) ॥१०॥

श्रीधर—एवं योगारूढस्य लक्षणमुक्त्वेदानीं तस्य साङ्गं योगं विधत्ते—योगीत्यादिना। स योगी परमो मत इत्यन्तेन ग्रन्थेन। योगीति। योगी योगारूढः। आत्मानं मनः। युञ्जीत समाहितं कुर्यात्। सततं निरन्तरं। रहस्येकान्ते स्थितः सन्। एकाकी सङ्गशून्यः। यतं संयतं चित्तमात्मा देहश्च यस्य। निराशीर्निराकाङ्क्षः। अपरिग्रहः परिग्रहशून्यश्च ॥१०॥

अनुवाद—[इस प्रकार योगारूढ़का लक्षण कहकर अब इस श्लोकसे 'स योगी परमो मतः' पर्यन्त योगके अङ्गोंके साथ योगकी व्याख्या करते हैं]—योगारूढ़ पुरुष मनको समाहित करे। निरन्तर एकान्तमें सङ्गरहित होकर चित्त और देहको संयत करके, निराकाङ्क्ष और परिग्रहशून्य होकर मनको समाहित करे ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—योगी—क्रियाकी परावस्थामें रहकर—सदा सर्वदा क्रिया करता है—आत्माका रहस्य अर्थात् गुप्त—सारी मूर्त्तियाँ जो विज्ञान पदमें देखी जाती हैं—जहाँ दिन-रात नहीं—उसीमें रहते हैं—किसी विषयकी आशासे रहित होकर—सबके बीचमें रहते हुए भी एकाकी; आत्मा दूसरी ओर दृष्टि नहीं करता, आत्माके सिवा अन्य गृहमें नहीं जाता। —योगारूढ़का लक्षण कहकर योगारोहणके लिए इच्छुक व्यक्तिको क्या क्या करना आवश्यक है, यही बतलाते हैं। योगाभ्यासीको सङ्गशून्य होकर चित्तनिरोधके लिए प्रयत्न करना पड़ेगा। यह अभ्यास ही उसका सर्वप्रधान कार्य होगा, क्योंकि चित्तकी क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थामें योगकी प्राप्ति नहीं होती। इसके लिए योगीको कुछ

एकान्तवास करना पड़ेगा। जब उनको योगाभ्यास करना हो उस समय एक निराले स्थानमें, अन्ततः घरके भीतर किसी निराली कुटीमें रहकर योगाभ्यास करना होगा। जहाँ विषय-स्मरण कम होनेकी संभावना है वही निर्जन स्थान कहलाता है। जिसका चित्त वैराग्ययुक्त नहीं है वह अरण्यमें जाकर भी समाधिका अभ्यास नहीं कर सकता। वहाँभी उसके चित्तको बहुतसी चिन्ताएँ व्याकुल करती रहती हैं। विशेषतः दंश, मशक, हिंस्र जन्तु और दुष्ट लोगोंके द्वारा उत्पीड़ित होना वहाँ बिल्कुल ही असंभव नहीं होता। अतएव पहले अपने घरके किसी निभृत कोनेमें, अथवा मन्दिरके भीतर, जहाँ बहुत कम आदमी आते जाते हों, जहाँ कोई उद्वेगका कारण नहीं रहता—इस प्रकारका स्थान चुनकर वहाँ योगाभ्यास करना पड़ता है। यहाँ तक कि बहुत पुस्तकोंके संग्रह या उनके पठन आदिके कार्यसे भी विरत रहना पड़ेगा। बहुतसे लोग कहते हैं कि संन्यासके बिना समाधिकी साधना नहीं होती। इस बात पर पूर्ण श्रद्धा स्थापित करना कठिन है। साधना ही जिनके जीवनका लक्ष्य है, भगवत्प्राप्ति ही जिनके जीवनकी एकमात्र आकांक्षा है, वह ऐसा क्यों नहीं कर सकेंगे? तथापि वर्तमान संसाराश्रममें बहुतेरे विघ्न हैं, उन विघ्नोंको यथासाध्य दूर करके साधना प्रारम्भ की जानी चाहिए। मनमें बल न होनेसे यह नहीं हो सकता। संसारमें जो इधर उधर विभ्रान्त हो जाता है उसके लिए तो समाधि साधन असम्भव ही है। क्योंकि योगाभ्यासके लिए यतचित्तात्मा और निराकांक्ष होना पड़ेगा। शरीर और मनके संयमका अभ्यास किये बिना और मनसे सारी आशाओंके निवृत्त हुए बिना ठीक तरहसे योगाभ्यास नहीं होता। साधन करनेसे जो चित्त कुछ स्थिर होता है, वह फिर लोकसङ्गके द्वारा नष्ट हो जाता है, अतएव संसारमें साधनके बहुत विघ्न हैं। इसीसे समाधिकी प्राप्तिभी संभव नहीं है। निश्चय ही यह ठीक बात है, परन्तु साधनाभ्यासी पुरुष बहुत लोगोंका सङ्ग क्यों करेंगे? वह यदि लक्ष्यको सामने रखकर ठीक मार्ग पर चलते हैं और यथासंभव संयमाभ्यासमें पटुता प्राप्त करते हैं, तो वह लय-विक्षेपके द्वारा क्यों भ्रष्ट होंगे? बल्कि घरमें अनेक सुविधाएँ रहती हैं। अपने मन लायक स्थान, समयानुसार संयत आहार, तथा समयकी सारी सुव्यवस्था कर ली जा सकती है। परन्तु दूसरोंकी नौकरी करते हुए अथवा गृहस्थाश्रमके कार्योंमें अत्यन्त आसक्त होकर योगाभ्यास करते जाना विड़म्बना है। पृथिवी पर एकान्त स्थान पाना कठिन है, वस्तुतः साधकको ऐसा स्थान स्वयं ही तैयार करना पड़ता है। जीव निर्जनमें या सङ्गरहित होकर रह सके, ऐसा स्थान ही संसारमें कहाँ है? शरीरके भीतर रहस्य-स्थान सुषुम्ना है। उस सुषुम्नाके भीतर प्राणको ले जाना होगा। गुरुके उपदेशके अनुसार निरन्तर क्रिया करके जिसने लक्ष्यको स्थिर कर लिया है, वही रहस्य-स्थानमें ठीक पहुँच सकता है। इस प्रकार एकाकी और निःसङ्ग होनेपर ही आत्मसाक्षात्कार होता है। उस परम गुप्त रहस्यमय स्थानमें ही विज्ञानपद प्राप्त होता है, वहाँ सहस्रों कैसी कैसी अद्भुत ज्योतिर्मय चिन्मय मूर्त्तियाँ हैं! वहाँ चित्तका कैसा सुन्दर अचपल शान्तभाव होता है! वहाँ सब कुछ है, और कुछ भी नहीं है।

वहाँ "न चन्द्रस्य गतिस्तत्र न सूर्यस्य गतिस्तथा"—प्रकाश नहीं है, अन्धकार नहीं है—तथापि एक दिव्य प्रकाश है—उस परम धाममें अवस्थित योगीकी दृष्टि फिर दूसरी ओर नहीं रहती, सैकड़ों प्रकारके कोलाहलोंके बीच रहते हुए भी वह एकाकी होता है, उसका वह शान्त, गम्भीर और मौन भाव कदापि दूर नहीं होता। उसके हृदयमें किसी प्रकारकी आशाका लेश भी नहीं होता—जो साधक इस प्रकारके साधनमें सुदृढ़ और अविचल है, वह यदि बहुत जनाकीर्ण स्थानमें रहे तो भी जगत्का कोई व्यापार या वस्तु उसके चित्तको उस गोप्य तथा रम्य स्थानसे खींचकर हटा नहीं सकती। परन्तु जो ठीक मुमुक्षु नहीं हैं, देखादेखी योगाभ्यास करते हैं, उनके लिए इन सब आलोचनाओंसे कोई लाभ नहीं हो सकता ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

अन्वय—शुचौ देशे (पवित्र स्थानमें) न अत्युच्छ्रितं (न अत्यन्त उच्च) न अतिनीचं (न अति निम्न) चेलाजिनकुशोत्तरं (कुश, अजिन और वस्त्र—इस क्रमसे) आत्मनः (अपने) स्थिरं (निश्चल) आसनं (आसनको) प्रतिष्ठाप्य (स्थापित करके) [साधनाभ्यास करे] ॥११॥

श्रीधर—आसननियमं दर्शयन्नाह—शुचाविति द्वाभ्याम्। शुद्धे स्थाने। आत्मनः स्वस्यासनं स्थापयित्वा। कीदृशं ? स्थिरमचलं। नात्युच्छ्रितं नातीवोन्नतम्। न चातिनीचं। चेलं वस्त्रं। अजिनं व्याघ्रादिचर्म। चेलाजिने कुशेभ्य उत्तरे यस्य। कुशानामुपरि चर्म तदुपरि वस्त्रमास्तीर्येत्यर्थः ॥११॥

अनुवाद—[दो श्लोकोंमें आसनका नियम बतलाते हैं]—(१) शुद्ध स्थानमें (अर्थात् जो स्थान परिष्कृत है तथा मृत्तिका गङ्गाजल आदिके द्वारा संस्कृत है) (२) स्वकीय आसन (अर्थात् जो आसन दूसरोंके द्वारा व्यवहृत न हो) स्थापित करके उसके ऊपर बैठे। वह आसन कैसा होगा ? (१) स्थिर—अचल अर्थात् पुनः पुनः एक स्थानसे दूसरे स्थानमें आसन न हटावे, तथा इस प्रकारसे आसन स्थापित करे कि भूमिकी असमताके कारण वह हिले डुले नहीं, (२) न अति उन्नत हो—क्योंकि ऐसा होनेसे गिर पड़नेकी आशंका रहती है, शङ्कित स्थानमें बैठने पर फिर चित्तस्थैर्यमें विघ्न पड़ता है, इसीसे खूब ऊँचे स्थानमें आसन नहीं लगाना चाहिए। (३) न अति नीच हो—आसन अत्यन्त निम्नप्रदेशमें स्थापित करने पर कीट, सर्प आदिका भय होता है, वर्षा आदिके कारण निम्नभूमि आर्द्र होकर वातक्षोभ, अग्निमान्द्य आदि रोग सृष्टि कर सकते हैं (४) चेलाजिनकुशोत्तरम्—कुशासनके ऊपर मृगचर्म, उसके ऊपर वस्त्र फैलाकर आसन तैयार करना होगा ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पवित्र देश अर्थात् ब्रह्ममें रहकर—रुककर—हृदयासन पर स्थिर होकर—(आत्माको रखकर लोग आसन पर बैठते हैं) न अति नीच, न अति ऊँच

अर्थात् मध्यस्थानमें हृदयमें रहकर, कुश अर्थात् ब्रह्मा जिसका स्थान मूलाधार होता है—अजिन—चर्म जिसके ऊपर है—कृष्ण लिङ्गमूलमें स्वाधिष्ठानमें विराजमान है। चेल अर्थात् रेशम जिसे शीतकालमें अँधेरे घरमें रगड़ने पर अग्निके समान दीप्ति प्रकाशित होती है। वह रुद्रस्वरूप मणिपूर नाभिस्थानमें विराजमान है। उसके ऊपर हृदयासन पर उपवेशन करके बैठे।—समाधि अभ्यासके लिए एक पवित्र स्थानमें आसन लगावे, और उसे बारम्बार परिवर्तित या स्थानान्तरित न करे। मिट्टी या काठके आसन पर बैठकर योगाभ्यास न करे। साधन करते करते शरीरमें दिव्य तेज और शक्तिका उदय होता है। परन्तु क्षिति अत्यन्त शक्ति-परिचालक (Conductor) है, इसीसे साधन द्वारा जो शक्ति सञ्चित होती है उसे यदि पृथ्वीने खींच लिया तो साधनके द्वारा जिस परिमाणमें शक्ति अर्जित होती है उस परिमाणमें सञ्चित नहीं रहेगी। अतएव पृथ्वी शक्तिको आकर्षित न कर सके, इसके लिए कुशासन, मृगचर्म और वस्त्र द्वारा आसन बनाना पड़ता है। ये पदार्थ शक्तिरक्षक (Non-conductor) हैं इसीलिए साधनामें इनका व्यवहार करनेका नियम चला आ रहा है। परन्तु लोम-वस्त्रमें ये सारे गुण हैं, और लोम-वस्त्रका व्यवहार करने पर व्यर्थका प्राणीवध करके चर्म संग्रह नहीं करना पड़ता। भगवत्साधन करते समय हिंसा-वृत्तिको बढ़ाना अच्छा नहीं होता। जान पड़ता है कि पूर्वकालमें लोग मृत व्याघ्र आदिके चर्मका आसन बनाते थे। बहुत वस्त्रसे ऊँचा या मोटा आसन लगाने पर बैठनेकी सुविधा तो होती है, परन्तु शरीर ढीला हो जाता है, इसलिए आसन खूब भारी करना ठीक नहीं, और खूब पतला आसन भी अच्छा नहीं होता। ऐसे आसन पर बहुत देर तक स्थिर होकर बैठे रहनेका अभ्यास करना आवश्यक है। इसी प्रकारका आसन लगाकर योगाभ्यास करना पड़ता है, परन्तु यह बाहरी आसन है। योगीका मन जैसे आध्यात्मिक भावापन्न होगा वैसे ही योगीके व्यावहारिक जगत्के आसन-शयन प्रभृति भी आध्यात्मिकतासे पूर्ण होना ही आवश्यक है। अतएव योगीका आसन केवल बाहरी पदार्थोंके द्वारा निर्मित आसन हो तो उससे काम न चलेगा। शरीरसे ही उसकी साधना है, इस शरीरके भीतर ही उसको स्थिर आसन प्राप्त करना होगा। सुषुम्नाके भीतर परम पावनी ब्रह्मनाड़ी है, वह सरस्वतीका उपकूल है, इस स्थानमें ही ब्रह्मर्षि लोग ब्रह्ममें लगे रहते हैं अर्थात् ब्रह्मध्यानमें मग्न रहते हैं। इसकी अपेक्षा पवित्र या शुचि स्थान दूसरा नहीं हो सकता। लगे रहेंगे किस स्थानमें, अर्थात् मनका आसन या स्थिति होगी कहाँ ?—हृदयाकाशमें या अनाहत चक्रमें। यह अति उच्च स्थानमें या अति निम्नस्थानमें स्थापित नहीं है, यह ठीक मध्यस्थानमें हृदयमें अवस्थित है। इस हृदयासन पर आसन लगने पर वह चेलाजिन कुशके उत्तर या ऊपर ही होगा। कुश—कु (पृथिवी) शी (शयन) पृथिवी अर्थात् मूलाधारमें जो शयन किये हैं। वह ब्रह्मा है। उनका स्थान मूलाधार है। अजिन—चर्म, जिसके ऊपर कृष्ण लिङ्गमूलमें स्वाधिष्ठानमें विराजमान है। चेल—तेजोत्पादक मणिपूरचक्र, जिसकी अग्निके समान दीप्ति है, उसका स्थान नाभिमें है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर—इन

तीन चक्रोंके ऊपर हृदयचक्रमें उपवेशन करना होगा। हृदयमें बैठनेका अर्थ है वहाँ मनको प्रतिष्ठित करना। अर्थात् जब क्रिया करनी होगी, श्वास खींचकर फेंकने (अर्पण करने) के समय लक्ष्य रखना होगा हृदयचक्रमें। मेरुदण्डको सीधा करके बैठकर श्वास खींचने पर हृदयमें थोड़ा जोर पड़ता है, तब हृदयको कुछ समेटना पड़ता है, और फेंकनेके समय फेंकी गयी वायु अपने स्थान अनाहतचक्र तक उतरती है, उस समय हृदय कुछ फैलता है। अतएव प्राणका वेग अनाहतचक्रमें धारण किया जाता है। इस चक्रमें प्राण-शक्तिकी स्थिरता उत्पन्न होते ही हृदयग्रन्थि छिन्न हो जाती है। तभी साधकका प्रकृत अटल आसन प्रतिष्ठित होता है ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

अन्वय—तत्र आसने (उस आसन पर) उपविश्य (बैठकर) मनः (मनको) एकाग्रं कृत्वा (एकाग्र करके) यतचित्तेन्द्रियक्रियः (चित्त और इन्द्रियकी क्रियाका संयम करके) आत्मविशुद्धये (अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए) योगं युञ्ज्यात् (योगाभ्यास करे) ॥१२॥

श्रीधर—तत्रेति। तत्र तस्मिन्नासन उपविश्यैकाग्रं विक्षेपरहितं मनः कृत्वा योगं युञ्ज्यात् अभ्यसेत्। यताः संयताश्चित्तस्येन्द्रियाणां च क्रिया यस्य सः। आत्मनो मनसो विशुद्धये उपशान्तये ॥१२॥

अनुवाद—उस आसन पर बैठकर मनको विक्षेपरहित करके, चित्त और इन्द्रियकी क्रियाको संयत करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए योगका अभ्यास करे ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वहीं एक ब्रह्ममें मनको रखकर चित्तको स्थिर करके और इन्द्रियोंको संयत करके, इस प्रकारके आसन पर बैठकर क्रिया करे आत्मशुद्धिके लिए आत्म ब्रह्ममें रहनेके लिए।—आज्ञाचक्रमें मनको रखकर विन्दुका ध्यान करनेसे चित्त स्थिर हो जाता है। अवश्यही यह सब करना पड़ेगा प्राणायाम-क्रियाके पश्चात्। खूब मन लगा कर प्राणायाम करने पर उतना विषय-स्मरण नहीं होगा। मनका डूबना-उतराना कम हो जाने पर इन्द्रियाँ स्वभावतः ही कुछ अन्तर्मुखी होंगी। चित्तमें जब वृत्तिस्फुरण कम हो जाता है तब मन एकाग्र होता है। सङ्कल्प-विकल्प-रहित होकर मन जब एकाग्र होता है तब चित्तमें वृत्तियाँ बिल्कुल ही नहीं उठतीं। चित्तकी वृत्तियोंके इस प्रकार निरोध होनेका नाम समाधि है। चित्तकी वृत्तियोंका स्फुरण जितना ही क्षीण होता जायगा, चित्त भी उतना ही विशुद्ध होगा। जब साधना नहीं कर रहे हो, उस समय भी यह विशेषरूपसे ध्यानमें रहना चाहिए कि मन अधिक चञ्चल न होने पाये। विषयसुख यथार्थ सुख नहीं है, उससे मनमें अनेक सन्ताप उठते हैं, यह बात मनको बारम्बार समझानी चाहिए। जीवकी विषय-वासना ही स्थूल विषयके रूपमें परिणत होती है। मन इन्द्रियोंके द्वारोंसे उन्हीं विषयोंका अनुभव करता है। परन्तु प्राणके स्पन्दनके बिना मन या इन्द्रियोंका

विषयग्रहण नहीं हो सकता। इसी कारण चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाको संयत करनेके लिए श्वासको स्थिर करना पड़ेगा। श्वास पर लक्ष्य रखनेसे वह अपने आप स्थिर हो जाता है—यही उपाय है। जीवके भीतर कर्त्तृत्व या भोक्तृत्वका अभिमान उत्पन्न होते ही प्राण आन्दोलित होता है, प्राण आन्दोलित होने पर मनको उत्पन्न करता है। इस मनको स्थिर करना हो तो सबसे पहले प्राणको स्थिर करना होगा। प्राण (प्रकृति) के आन्दोलित होने पर ऐसा अनुभव होता है कि मानो स्वरूप-सत्ताका ही आन्दोलन हो रहा है। यही चित्त-इन्द्रियकी क्रिया है। जबतक चित्त-इन्द्रियकी क्रिया है तबतक योग प्राप्त नहीं होगा। अतएव प्राणायामके अभ्यासके द्वारा प्राणके स्थिर होने पर चित्त और इन्द्रियाँ भी स्थिर हो जाती हैं। उनकी क्रिया भी बन्द हो जाती है। चित्तकी यह अक्रियावस्था ही आत्माका स्वरूप है। जैसे प्राण आन्दोलित होकर मनको आन्दोलित करता है, उसी प्रकार मनका स्पन्दन या विषय-ग्रहणकी व्याकुलता प्राणको व्याकुलित करती है। इस कारण आत्मशुद्धिके लिए एक ओर जिस प्रकार प्राणायामका अभ्यास करके प्राणको स्थिर करना पड़ेगा, दूसरी ओर उसी प्रकार मनको भी भगवद्मुखी बनानेका प्रयत्न करना पड़ेगा। जब केवल ध्येय वस्तु ही मनमें स्फुरित होती है तभी मन एकाग्र होता है। यह एकाग्रता जितनी ही गंभीर होती जायगी समाधि भी उतनी ही आसन्न होती जायगी। अतएव वाणी, मन और इन्द्रियाँ सामूहिकरूपसे भगवच्चिन्तनमें लग सकें, ऐसी चेष्टा यदि नहीं की गयी तो उद्देश्य सफल होना एकबारगी असंभव है ॥१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

अन्वय—कायशिरोग्रीवं (देह, मस्तक और ग्रीवा या गलेको) समं (सीधा) अचलं (निश्चल रूपमें) धारयन् (धारण करते हुए) स्थिरः (स्थिर होकर) स्वं (अपने) नासिकाग्रं (नासिकाके अग्रभागको) संप्रेक्ष्य (देखते देखते) दिशश्च (और दिशाओंको) अनवलोकयन् (न देखते हुए) [अव-स्थान करे] ॥१३॥

श्रीधर—चित्तैकाग्र्योपयोगिनीं देहादिधारणां दर्शयन्नाह—सममिति द्वाभ्याम्। काय इति देहस्य मध्यभागो विवक्षितः। कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं। मूलाधारादारभ्य मूर्द्धाग्रपर्यन्तं सममवक्रं। अचलं निश्चलं। धारयन्। स्थिरो दृढ़-प्रयत्नो भूत्वेत्यर्थः। स्वीयं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्येत्यर्द्धनिमीलितनेत्र इत्यर्थः। इतस्ततो दिश-श्चानवलोकयन्नासीतेत्युत्तरेणान्वयः ॥१३॥

अनुवाद—[दो श्लोकोंमें चित्तकी एकाग्रताके लिए उपयोगी देहादि-धारणाकी बात बतलाते हैं]—काय—देहका मध्यभाग, शिर और ग्रीवा—मूलाधारसे मस्तकके अग्रभाग तक, सीधा और अचल भावमें रख दृढ़प्रयत्न हो, अपनी नासिकाके

अग्रभागमें दृष्टि रख अर्थात् अर्धनिमीलितनेत्र होकर तथा इधर उधर न देखते हुए योगी अवस्थान करे ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीर और गलेको सीधा रखकर, वायुको स्थिर करके, नाकके अग्रभागमें दृष्टि डाले—(गुरुमुखसे जानकर)। —मेरुदण्ड और ग्रीवाको सीधा रखने पर यथासंभव सिर भी सीधा रहेगा। गलेको थोड़ा दबाकर, ठुड्डीको जरा कण्ठकूपकी ओर झुका देना होगा। ऐसी चेष्टा करनी होगी जिससे शरीर न काँपे और दृष्टि भ्रूमध्यमें रहे। बाहरका नासाग्र—नासाग्रदर्शन नहीं है। और ठीक अग्रभागको देखना ही उद्देश्य नहीं है। शङ्कराचार्यने कहा है—"न हि स्वनासिकाग्रसंप्रेक्षणमिह विधित्सितम्। किं तर्हि ? × स्वनासिकाग्रसंप्रेक्षणमेव चेद्विवक्षितं मनस्तत्रैव समाधीयेत नात्मनि।" नासिकाग्रमें दृष्टि रखनेसे मन नासिकाग्रमें समाहित हो जायगा, इससे विपरीत फल भी हो सकता है। अतएव आत्मामें ही मन समाहित करना होगा। आँखें मूँदकर मनको आज्ञाचक्रमें रखनेसे भी होता है, अथवा अर्द्धनिमीलितनेत्रसे मनही मन कूटस्थका चिन्तन करने पर चाक्षुषीवृत्ति शून्यभावमें अवस्थान करती है, इससे लय-विक्षेप भी कम हो जाता है। लयविक्षेपरहित चित्त आत्मामें डूब जाता है, और प्रकृत ज्ञान तभी उदय होता है। यही परमानन्दरूप है ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अन्वय—प्रशान्तात्मा (प्रशान्तचित्त) विगतभीः (भयरहित) ब्रह्मचारि-व्रते स्थितः (ब्रह्मचारी-व्रतमें अवस्थित होकर अर्थात् ब्रह्मचर्य अवलम्बनपूर्वक) मनः संयम्य (मनको संयत करके) मच्चित्तः (मद्‌गतचित्त होकर) मत्परः (मत्परायण होकर) युक्तः आसीत (समाहित हो जाये) ॥१४॥

श्रीधर—प्रशान्तेति। प्रशान्त आत्मा चित्तं यस्य। विगता भीर्भयं यस्य। ब्रह्मचारिव्रते ब्रह्मचर्ये स्थितः सन्। मनः संयम्य प्रत्याहृत्य। मय्येव चित्तं यस्य। अहमेव परः पुरुषार्थो यस्य स मत्परः। एवं युक्तो भूत्वासीत तिष्ठेत् ॥१४॥

अनुवाद—प्रशान्तचित्त, भयरहित और ब्रह्मचर्यमें अवस्थित होकर, मनको प्रत्याहृत करके, मुझमें ही चित्तको समर्पण कर, 'मैं' अर्थात् भगवान् ही जिसका परम पुरुषार्थ है, इस प्रकार समाहित होकर अवस्थान करे ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तब भलीभाँति 'मैं कुछ नहीं, और मेरा कुछ नहीं', ऐसी अवस्थामें रहकर ब्रह्ममें अनवरत विचरण करे (विचरे), मनको मनमें संयत करके अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें रुद्ध होकर मेरे सिवा और कुछ नहीं है—ऐसी अवस्था हो जायगी। —पूर्वोक्त रीतिसे योगाभ्यास करने पर जो समाहित अवस्था होती है उसीका वर्णन कर रहे हैं। मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है—यह धारणा बारंबार करने पर फिर मन विक्षेपयुक्त नहीं होता, प्रत्येक चक्रमें बारंबार स्मरण करके मन अपने आपमें

प्रविष्ट हो जाता है—अर्थात् उसमें फिर सङ्कल्प-विकल्पकी तरङ्ग नहीं उठती। इस प्रकारकी अवस्थामें कुछ देर रहने पर वृत्ति-विस्मरण या चित्तनिरोध हो जाता है। यही क्रियाकी परावस्था है। इस क्रियाकी परावस्थामें एक अखण्ड आत्म-सत्ताके सिवा और किसी वृत्तिका स्फुरण नहीं होता। यही ब्रह्मचर्य या ब्रह्ममें विचरण है। मनका यह शान्ताकार भाव आने पर साधक निर्भय हो जाता है, अर्थात् तब उसको दूसरी वस्तुमें मनोयोग नहीं होता—"सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है। इसे ही युक्तावस्था या समाधिकी अवस्था कहते हैं। जिस आत्माको शत शत बाह्य चेष्टाओंसे हम नहीं प्राप्त कर सकते, मनकी स्थिरताके द्वारा भावना सुदृढ़ करने पर वह अव्यक्त आत्मा भी साधकके सामने व्यक्त हो जाता है ॥१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

अन्वय—एवं (इस प्रकार) सदा (सर्वदा) आत्मानं (मनको) युञ्जन् (समाहित करके) नियतमानसः योगी (निरुद्धचित्त योगी) निर्वाणपरमां (मोक्ष-प्रापिका) मत्संस्थां (मदीयस्वरूपभूता अथवा मदधीना) शान्तिं (संसारसे उपराम-रूप शान्तिको) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं) ॥१५॥

श्रीधर—योगाभ्यासफलमाह—युञ्जन्नेवमिति। एवमुक्तप्रकारेण सदात्मानं मनो युञ्जन् समाहितं कुर्वन्। नियतं निरुद्धं मानसं चित्तं यस्य सः। शान्तिं संसारोपरमं प्राप्नोति। कथम्भूताम्? निर्वाणं परमं प्राप्यं यस्यां ताम्। मत्संस्थां मद्रूपेणावस्थिताम् ॥१५॥

अनुवाद—[योगाभ्यासका फल कह रहे हैं]—उपर्युक्त रीतिसे सदा मनको समाहित करके, निरुद्धचित्त योगी, निर्वाण-मोक्षप्रदा, मेरे स्वरूपमें अवस्थितिरूपा शान्ति अर्थात् संसारोपरतिको प्राप्त करते हैं ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार सर्वदा क्रिया करने पर, निःशेषरूपसे संयत होकर, मैं कुछ नहीं हूँ और मेरा कुछ नहीं है—इस प्रकार स्थिर होकर—मेरे परमपदमें सम्यक प्रकारसे स्थिर होकर बुद्धिके द्वारा, पश्चात् परा बुद्धिमें गमन करता है।—समाधिके अभ्याससे क्या लाभ होता है, यह बतलाते हैं। मायाशक्तिके विलाससे कल्पित इस संसार तथा देहादिमें जीवका जो अहं अभिमान लगा हुआ है, इस महाव्याधिसे जीवके परित्राणका कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसीसे योगाभ्यासके द्वारा मन और प्राणको निश्चल करके, समाधियुक्त होकर आत्मदर्शनकी बात शास्त्र, गुरु और साधुके मुखसे सुनी जाती है। योगाभ्यासके द्वारा चित्तके संयत होने पर मनकी बहिर्विचरणरूप प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है। मनकी वृत्तियोंके निवृत्त होते ही योगी निजस्वरूपमें निमग्न हो जाता है, और इस प्रकार स्वरूपमें अवस्थिति होने पर परम शान्ति प्राप्त कर वह कृतकृत्य हो जाता है। यह निर्वाण ही भगवानका साक्षात् स्वरूप है, इसको ही प्रकृत 'ज्ञान' कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें नारदके आत्मपरिचय-में वर्णित है—

ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भगवतोदितम्।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः॥
येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः।
मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम्॥

साधनस्वरूप धर्मतत्त्वज्ञान, अर्थात् जिस साधनके द्वारा ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान प्राप्त होता है, वह गुह्य है। उस गुह्य ज्ञानद्वारा आत्मस्वरूपको देहसे पृथक् रूपमें अनुभव कर सकने पर ही उस अनुभूतिको 'गुह्यतर ज्ञान' कहते हैं और जब उस गुह्यतर ज्ञानके द्वारा भगवानके स्वरूपका अनुभव कर साधक अपनेको ईश्वरस्वरूपसे अभिन्नरूपमें देखता है, तब उस ज्ञानको 'गुह्यतम ज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञानका उदय साक्षात् भगवान्‌से होता है। इस गुह्यतम ज्ञानकी अनुभूतिके द्वारा सर्वनियन्ता, सर्वैश्वर्यमय और सर्ववस्तुमें अधिष्ठित ब्रह्मकी मायाशक्तिके गूढ़ स्वरूपकी उपलब्धि नारदजीने की थी। इस अनुभूतिके प्राप्त होने पर साधक ब्रह्मपदको प्राप्त करता है। इस कारण संयत होना पड़ेगा और इस प्रकार मन-बुद्धि संयत होकर स्थिर हो जायँगे, अतएव वे निष्क्रिय हो जायँगे। इसीका नाम जीवन्मुक्ति है। इस प्रकार इच्छा-भय-कोध-रहित होकर रहनेका सौभाग्य जिन्होंने प्राप्त किया है वे सदा मुक्त हैं।

चित्तकी समता न होने पर 'यतेन्द्रियमनोबुद्धिः' होना कठिन है। प्राणायामादि साधनके द्वारा चित्तकी समता प्राप्त होती है, साथ ही साथ विचारकी अग्नि प्रज्वलित रखनी पड़ती है। विचारके द्वारा विवेकाभ्यास और प्राणायाम साधनके द्वारा चित्तकी समताका साधन—इन दोनों प्रकारकी चेष्टाओंके द्वारा साधन आरम्भ करने पर अति शीघ्र फल प्राप्त होता है। सब बातोंमें भगवानका आश्रय करके वह 'सुहृदं सर्वभूतानां' हैं, इस भगवद्वाक्यमें विश्वास करके, उनके ऊपर निर्भर रहकर जो प्रयत्न करेगा, वह कभी निराश न होगा। कूटस्थ-दर्शन द्वारा सगुण उपासना होगी और क्रियाकी परावस्थामें निर्गुण उपासना होगी। सगुण उपासना के द्वारा चित्त शुद्ध होने पर भी सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होगा। क्रियाकी परावस्थामें स्थिति लाभ करने पर अद्वैतभावकी उपलब्धि होगी। तब जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करके जीव कृतकृत्य हो जायगा। मन ही समस्त उपद्रवोंका मूल है, इसलिए मनको निरोध करना होगा। परन्तु प्राणको स्थिर किये बिना मनको स्थिर करनेकी आशा करना दुराशा मात्र है। इसलिए प्राणायामादि योगक्रियाके द्वारा प्राणको स्पन्दनरहित करनेकी चेष्टा सबसे पहले करनी पड़ेगी। प्राण-मनकी स्थिरताका अभ्यास करते करते जो निरोध अवस्था पैदा होती है वह प्रधानतः दो स्तरोंमें विभक्त होती है—(१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात। पहले साधनाके द्वारा जो सहज कुम्भक होता है उससे प्राणके मस्तकमें प्रवेश करने पर सर्वसङ्कल्पशून्य एक प्रकारकी निरोध समाधि होती है। पहले वह अल्प क्षण स्थायी होती है, परन्तु वह "निमेषं निमेषार्द्धं वा" होने पर भी महाफलप्रद है। शनैः शनैः अभ्यासपटुताके कारण निरोध-समयकी स्थिति दीर्घ हो सकती है। इस निरोध अवस्थाके प्राप्त होने पर आत्मज्ञानका उदय होता है। अर्थात् आत्मा क्या है, इसके साथ देहादि या दृश्य

जड़वर्गका क्या सम्बन्ध है—इसकी धारणा भलीभाँति हो जाती है—"मनोबुद्ध्यहंकारचित्तादि नाहम्"—अहंवाच्य आत्मा मन, बुद्धि, अहङ्कार या चित्तादि नहीं है, इसकी सुन्दरतापूर्वक उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि जब देर तक और अनेक बार होती है तो आत्मस्वरूपकी धारणा दृढ़ हो जाती है। आत्मस्वरूपकी धारणा दृढ़ होते ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशादि पञ्च क्लेश प्रक्षीण हो जाते हैं और सारे दुःख सदाके लिए निरस्त और क्षय हो जाते हैं। तब वस्तु-निरपेक्ष एक अकाम और अहैतुक आनन्द प्रकट होता है। उससे वह निराधार निरवयव आत्मा, जो 'ब्रह्मानन्दरूपममृतम्' है, साधकके ज्ञाननेत्रोंके सामने विभासित होता है। मनकी एकाग्रता बढ़ते बढ़ते जब खूब बढ़ जाती है, तब समाधिप्रज्ञाका उदय होता है। ध्येय वस्तुमें मनकी पूर्ण एकाग्रता ही सम्प्रज्ञात समाधि है। इस एकाग्र भूमिमें चित्तको बहुत देर तक अभीष्ट वस्तुमें संलग्न रक्खा जाता है, और फलतः उस वस्तुके भीतर प्रविष्ट होकर उसके सम्बन्धमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, इसीसे इसको सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। विक्षिप्त भूमिमें भी समाधि द्वारा पदार्थ ज्ञान या अभीष्ट लाभ तो होता है, परन्तु वह सदा नहीं रहता और उससे क्लेशादिकी परिक्षीण अवस्था भी नहीं प्राप्त होती, अतएव वैराग्य सुप्रतिष्ठित नहीं होता। इसीलिए भगवदाराधनारूपी योगाभ्यासके द्वारा जो चित्त अप्रसवधर्मा हो जाता है उस एकाग्र रुद्धचित्तमें ज्ञान स्थायी होता है, और वैराग्य भी सुप्रतिष्ठित होता है। तब विक्षेपके न आनेके कारण सुखदुःखादिके द्वारा मुग्ध होना नहीं पड़ता। क्लेशकी इस क्षीणावस्थामें कर्मबन्धन शिथिल हो जाता है, समस्त ज्ञेय वस्तुओंका चरम ज्ञान होता है, तब फिर किसी अभीष्ट वस्तुमें चित्त निरुद्ध न होकर एकबारगी निरावलम्ब हो जाता है—यही यथार्थमें निरोध-समाधि या योग है। इसमें सारे ज्ञेय विषयोंका ज्ञान भी निरुद्ध हो जाता है, इसलिए यही प्रकृत समाधिकी अवस्था है और इसको असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। यही द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान कहलाता है। इस अवस्थामें साध्य और साधकमें कुछ भेद नहीं रहता। अभ्यास और तज्जनित वैराग्यके द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होनेके बाद पर-वैराग्यके द्वारा जब ब्रह्मविष्णुशिवत्व पद भी साधकके लिए प्रार्थनीय नहीं रहता, तब समझना चाहिए कि असम्प्रज्ञात समाधिका उदय हो गया है—उस चित्तमें वृत्तिका लेशमात्र भी नहीं रहता। और वृत्तिका लेशमात्र न रहने पर उसका चित्तत्व भी लुप्त हो जाता है। जो चित्त सङ्कल्प-वासनाका भण्डार है, जो जन्म-मृत्यु आदि अजस्र दुःखोंका कारण है, वह चित्त इस प्रकार समूल विनष्ट हो जाता है। निश्चय ही, यह अवस्था सब साधकोंके भाग्यमें एक जन्ममें प्राप्त नहीं होती, परन्तु जिस चित्तमें विषयके हेयत्वकी उपलब्धि हुई है तथा भगवद्-निर्भरता और तल्लीनताके द्वारा जिस साधककी साधन-चेष्टा विघ्नशून्य तथा अप्रतिहत हो गयी है, उस साधकको शीघ्र ही यह चरमावस्था प्राप्त होती है। अन्ततः दो-एक बारसे अधिक उसे जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। यद्यपि असम्प्रज्ञात समाधिको प्राप्त करना सबके भाग्यमें बदा नहीं होता,

परन्तु चेष्टाशील साधक सम्प्रज्ञात समाधि अनायास ही प्राप्त कर लेता है। प्राणायामादिके द्वारा नाड़ीचक्र विशुद्ध होने पर, सारे दृश्य द्रष्टाके स्वरूप मात्र हैं, यह धारणा प्रबल होती है, तब मनमें एक प्रकारका निरोधभाव आता है, वही सम्प्रज्ञात समाधि है। यह सम्प्रज्ञात समाधि वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता भेदसे चार प्रकारकी होती है। चित्तवृत्ति जब स्थूल विषयको लेकर निरुद्ध होती है तब वह (१) वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है। बहुतसे लोग 'समाधि क्या है'—यह जाने बिना ही अपने अभीष्ट विषयका चिन्तन करते करते या मन्त्रादिका जप करते करते और नामकीर्तन करते करते भी निरोध अवस्थाको प्राप्त करते हैं। इसको भावसमाधि भी कहते हैं। कूटस्थमें ज्योति तथा नाना प्रकारकी मूर्त्तियाँ देखते देखते जो चित्तमें तन्मयता आती है वह भी उस प्रकारकी स्थूल विषयक समाधि है। परन्तु इसके द्वारा मुक्ति या चरम प्रज्ञाकी प्राप्ति नहीं होती। उसके बाद जब द्रष्टाकी ओर लक्ष्य जाता है, जगत्की अनित्य-भावना प्रबल हो उठती है, तब विचार द्वारा सूक्ष्म ध्येय पदार्थमें चित्तकी जो एकाग्रता दृष्ट होती है अथवा कूटस्थ-ज्योतिके अन्तर्गत सूक्ष्म विन्दुको देखते देखते, यही वह आत्मा है—मेरा सर्वस्व है—इस प्रकारकी भावनासे भावित होकर जब चित्त मग्न होकर स्थिर हो जाता है तो वह (२) विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है। संयत और दृढ़ विचारवान् पुरुषको इस प्रकार 'विचारानुगत' समाधि प्राप्त हो सकती है। फिर योगपथका अनुगमन करनेवाले चेष्टाशील पुरुषको भी प्राणायामादि साधनके द्वारा शरीर, प्राण और मन सुस्थिर हो जाने पर जो एक प्रकारका सात्त्विक धैर्य या निरोधकी अवस्था प्राप्त होती है, उसमें एक अननुभूत सुखमय भाव द्वारा चित्त परिव्याप्त हो जाता है, तब उससे चित्तकी जो तन्मयता या निरोधभाव आता है वह (३) आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी अवस्था है। इसमें इन्द्रियोंको विषय-व्यापारहीन करके इन्द्रियचेष्टाओंको मनमें ही विलीन करने पर जो सुखानुभव होता है, वही "आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि" है। क्रमिक अध्यवसाय के साथ साधना-भ्यासमें और भी अधिक परिश्रम करने पर ये सारे भाव तिरोहित हो जाते हैं। तब (४) अस्मितानुगत अथवा एकात्मिक प्रत्ययमात्रमें जो सम्प्रज्ञान होता है वही चतुर्थ सम्प्रज्ञात समाधि है। स्वावलम्बन या सम्प्रज्ञात समाधिकी यही चरम अवस्था है। परन्तु इसमेंभी 'पुरुषख्याति' या पुरुष-विषयक समाधि नहीं होती। यह ग्रहीतृ-विषयक समाधि है। 'अस्मिता' या 'मैं'—इसका केवल बोधमात्र ही समाधिका विषय होता है। बुद्धि या महत्तत्त्व ही इस समस्त ज्ञानका ग्रहीता है। पुरुष या द्रष्टाको अव-लम्बन करके ही इस ज्ञानका प्रकाश होता है। यह बुद्धितत्त्व या महत् चेतनपुरुष नहीं है, यह भी बुद्धि प्रतिबिम्बित चैतन्य है। उस समय और कोई प्रत्यय ही नहीं रहता, केवल 'मैं' प्रत्यय मात्र प्रस्फुटित होता है। परन्तु उस समय भी ज्ञानकी पूर्ण निरोधावस्था नहीं आती, अतएव इसे असम्प्रज्ञात समाधि नहीं कह सकते। जब 'मैं कुछ नहीं और मेरा कुछ नहीं' इस ज्ञानमें प्रतिष्ठित होकर यह बुद्धि भी परा बुद्धिमें प्रवेश करती है तभी चरम अपरोक्ष ज्ञान या कैवल्यपद प्राप्त होता है। यही द्रष्टाकी

स्वरूपमें स्थिति है। श्रुति कहती है—"ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेत् शान्त आत्मनि"—मैं ज्ञाता या कर्त्ता हूँ, इस प्रकारका ज्ञान अहङ्कार कहलाता है, यह अस्मिता नहीं है। इस ज्ञातृत्व या कर्तृत्वको महत्तत्त्वमें या बुद्धितत्त्वमें विलीन करना होगा। तब जो अहं-प्रत्यय रहता है वही 'अस्मिता' है। इस अवस्थामें मैं कुछ जानता हूँ, यह बोध नहीं होता, अतएव अहङ्कार नहीं रहता—तब केवल अपनेको आप जानना होता है। इस बुद्धितत्त्वके विलीन होने पर 'अस्मिता' भाव भी नहीं रहता। उस समय अस्मिता आत्मस्वरूपके साथ एक हो जाती है। उस समय उसका ज्ञाता कोई नहीं रहता। यही शान्त आत्मा है। जब अस्मिता भाव भी नहीं रहता तो यह आत्मा निस्तरङ्ग शान्तरूपमें प्रकाशित रहता है। इस अवस्थाको देखनेवाला भी कोई नहीं रहता। यही है स्वरूपावस्था या कैवल्यज्ञान।

गृहस्थाश्रममें रहकर समाधिकी साधना नहीं हो सकती। इस बातमें कुछ अत्युक्ति जान पड़ती है, क्योंकि प्राचीनकालमें अधिकांश ऋषि लोग गृहस्थ ही थे। वे स्त्री-पुत्रादिको साथ रखकर गार्हस्थ्य-धर्मका भी पालन करते थे, और साधनाभ्यासमें भी रत रहते थे। समाधि-साधनके सिवा परमात्माको निगूढ़भावसे प्राप्त करनेका और कोई सुगम उपाय नहीं है। निश्चय ही, घरमें रहकर सर्वदा ध्याननिरत रहना अथवा समाधिमग्न होना अत्यन्त कठिन व्यापार है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। बहुधा यह एक प्रकारसे असंभव ही है, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु मेरे विचारसे घरसे बाहर जाकर भी समाधि-साधन खूब आसान हो जायगा, ऐसा नहीं है। समाधि-साधन क्या वस्तु है, इसे एक बार भलीभाँति समझनेकी चेष्टा करो। समाधिसाधन क्या है और उसका अनुष्ठान कैसे किया जाता है, इसकी शिक्षा-प्रणाली और उपदेश श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको यथेष्टरूपसे बतलाया है, और वह गृहस्थ ही थे। संसारमें पौने सोलह आने तो गृहस्थ ही हैं, उनके लिए जो संभव नहीं है, ऐसी शिक्षा देनेकी आवश्यकता ही क्या थी? असली बात तो समाधि-साधन है जिसे हम समझ नहीं पाते। यह किसी प्रकारकी कसरत नहीं है। चित्तमें जो अनेक वृत्तियाँ निरन्तर स्फुटित होती रहती हैं उनके निरोधका नाम ही योगाभ्यास है। एकाग्रताका अभ्यास जब गम्भीरसे गम्भीरतर होने लगता है तभी मन निरुद्ध होता है। यह निरोधावस्था जब दीर्घकाल-स्थायिनी होती है तो उसे समाधि कहते हैं। परन्तु केवल निरुद्ध भावको ही समाधि नहीं कहते। शकुन्तला दुष्यन्तका चिन्तन करते करते इतना अन्यमनस्क हो गयी थी कि पासमें स्थित दुर्वासा मुनिके आने और उनके द्वारा शाप देनेकी बातसे भी वह अवगत न हो सकी। यह मनकी यथेष्ट एकतानता होते हुए भी समाधि नहीं कहला सकती। ध्येय विषयमें मनकी अत्यन्त एकतानता, और उसको भगवान्‌में अर्पित करने पर ही वह प्रकृत समाधि हो सकती है। गीताके इस अध्यायमें ही श्रीभगवान्‌ने कहा है—"यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मष्वनुषज्जते। सर्वसङ्कल्प-संन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ॥ जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः। शीतोष्ण-सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त

इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥" समाधिसे व्युत्थित होनेके बाद भी जिनकी यह अवस्था रहती है वही युक्त योगी है।

बाह्य वस्तुके चिन्तनमें भी लोगोंका चित्त कभी कभी एकाग्र हो जाता है; परन्तु इससे वह प्रकृत निरोधावस्था नहीं आती, जिससे ब्रह्मभावमें भावित होकर तदाकाराकारित हो सके। व्रजगोपिकाएँ भी श्रीकृष्णके ध्यानमें आत्मविस्मृत हो गयी थीं, जगत्को भूल गयी थीं। योगाभ्यासके समय प्राणायाम-साधनके द्वारा योगीका चित्त स्पन्दनशून्य होते होते देहज्ञान विलुप्त हो जाता है। तब मिथ्या 'मैं' को वह 'मैं' रूपमें बोध नहीं करता। उस समय मन और वासनाके न रहने पर जो एक विशुद्ध चैतन्यका बोध होता है वह सर्वव्यापक होता है, अथवा सब कुछ वही है इस प्रकारके बोधकी उस समय जो एक अखण्ड धारा प्रवाहित होती है वही आत्मबोध कहलाता है। इस अवस्थामें परिच्छिन्न अहंज्ञानका बोध न रहनेके कारण विविध भावनाओंका या बोधोंका स्पन्दन भी लुप्त हो जाता है, अतएव उस दिव्य मुहूर्त्तमें अहं भोक्ता या अहं कर्त्ता रूपी वृथाभिमान मनसे सदाके लिए दूर हो जाता है। तभी प्रकृत प्राणायाम होता है अर्थात् प्राणके आयाम विस्तारका अनुभव होता है। इसी अवस्थाको लक्ष्य करके ज्ञानी लोग कहते हैं—

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥

चित्तमें जो सर्वदा अनवरत सङ्कल्पकी तरङ्गें उठ रही हैं उनको भी ब्रह्मभावसे भावित करना होगा। जल और तरङ्ग भिन्न नहीं है, समस्त स्पन्दनोंमें एक चिर-स्थिर अवस्था विद्यमान है, उसकी धारणा करनी होगी। परन्तु केवल चिन्ता द्वारा ही वह अवस्था प्राप्त नहीं होती। चिन्तामें मन रह ही जाता है, और निश्चिन्त भाव ही ब्रह्मस्वरूप है, अतएव सङ्कल्प या मनोधर्मको बचाये रखनेसे ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त न होगी। इसके लिए क्या करना होगा? इसके लिए वस्तुतः जो निजस्वरूप है, उस स्वरूपमें ही लौट आना होगा। चैतन्य जब चेत्य विषयके उन्मुख होता है तो उस उन्मुखी भावको ही सङ्कल्प कहते हैं। परब्रह्म जब अपनी शक्तिके विषयमें भावनायुक्त होते हैं, अर्थात् स्पन्दित होते हैं तो वह स्पन्दन ही जीव-जगत् और ब्रह्माण्डके रूपमें परिणत हो जाता है। क्षुद्र भावमें रहने पर भी वह सङ्कल्प या स्पन्दन प्रत्येक जीवमें रहता है, और वह जब तक बना रहेगा तब तक मनकी बहिर्मुखता या सृष्ट्युन्मुखता लुप्त न होगी। इसी कारण सङ्कल्पके उपशमके सिवा किसी अन्य उपायसे जीव ब्रह्मभावको प्राप्त नहीं हो सकता। विषयोंमें दोष दर्शन करते करते विषयस्पृहाका कुछ उपशम तो हो सकता है, परन्तु विषयाभिलाषा निःशेष रूपसे नहीं छूटती। यहाँ तक कि विषयसे दूर अरण्यमें चले जाने पर भी विषयसङ्ग नहीं छूटता। क्योंकि मन विषयोंके साथ बँधा होता है। स्पन्दन ही मन है और वही जगत् है तथा मन ही प्राण है और वही स्पन्दन है,

एक दूसरेसे पृथक् नहीं है, अतएव दोनोंमेंसे एकके रहने पर दोनोंका रहना होता है। अस्तु गृहत्याग करने पर भी चित्त निरुद्ध न होगा। चित्त शुद्ध न हुआ तो वनमें जाने पर भी विषय-भावनाकी निवृत्ति न होगी। इसलिए घरमें रहो या वनमें जाओ, सर्वत्र चित्तनिरोधका अभ्यास करना आवश्यक है। चित्तको कदापि बाहर दौड़ने देना ठीक न होगा—इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्प होने पर भी चित्तको वृत्तिशून्य बनाना संभव नहीं। चित्तको वृत्तिशून्य करनेके लिए, चित्त-बुद्बुदका उत्पत्तिस्थान जो जलतरङ्ग रूप प्राण है उस प्राणको सर्वप्रथम रोकना होगा। प्राणायामादि योगाभ्यासकी सहायतासे प्राणको स्पन्दनशून्य किया जाता है। प्राणके निस्पन्दित होने पर मन और साथ साथ सारी इन्द्रियवृत्तियाँ निस्पन्दित हो जायँगी। शुद्ध प्राण-मनके साथ भगवच्चिन्तन करनेसे चित्त भगवद्ध्यानमें मग्न हो जायगा और सारी विषय-चिन्ता भूल जायँगी। चित्तका स्पन्दन न रहने पर उसका विषयग्रहण बन्द हो जायगा, तब चित्त वृत्तिशून्य होकर चिदाकारमें अवस्थित होगा। इसलिए एक ओरसे विषयचिन्तनसे मनको हटाते जाना पड़ेगा। इसके लिए साधु-सङ्ग, देवपूजा, या जनसेवा आदि सात्त्विक कर्मोंमें मन, प्राण और शरीरको लिप्त रखना होगा। मन लगाकर प्राणायामका अभ्यास करनेसे शीघ्र ही प्रत्याहार लग जायगा, और भी प्रयत्न करनेसे मन सङ्कल्पशून्य होते होते एकबारगी कामसङ्कल्पसे रहित होकर स्थिर हो जायगा। मन इस स्थिरताका आनन्द प्राप्त कर फिर विषयोंमें भ्रमण करना नहीं चाहेगा। तभी यथार्थ विषयत्याग होगा। इसके लिए अभ्यासकी दृढ़ताकी रक्षा करना आवश्यक है, सत्सङ्ग करना आवश्यक है और कभी कभी अपेक्षाकृत निर्जन स्थानमें रहना भी आवश्यक है। निर्जनमें कुछ समय बिताकर बीच बीचमें जनपूर्ण कोलाहलमें रहकर देखना होगा कि मन विचलित होता है या नहीं। नाना प्रकारके क्लेश, अभाव और विषमताओंके बीचमें रहते हुए देखना होगा कि मनमें धैर्यच्युति होती है या नहीं। जिस प्रकार शरीरके किसी अङ्गमें वेदना होनेसे सब कामोंमें वह वेदना ही अनुभूत होती है उसी प्रकार संसारकी विविध और विचित्र अवस्थाओंमें पड़कर भी भगवान् भूलते हैं या नहीं, यह देखना होगा। यदि सब अवस्थाओंमें भगवान्का स्मरण नहीं होता है, तो समझना चाहिए कि मनकी मैल अभी ठीक तौर पर नहीं छूटी है। निश्चय ही, नियमित भगवत्स्मरणकी यह अवस्था लानेके लिए गृहस्थको नियमित परिश्रम करना आवश्यक है। मनुष्य परिश्रम करके इस प्रकार जितना हो सके, बने। उसके बाद साधककी सूक्ष्म दर्शन करनेकी बुद्धि तीक्ष्ण होने पर आगे जो होना चाहिए वह भगवत्कृपासे अपने आप होगा। परन्तु चित्तके निरुद्ध न होने पर ब्रह्मस्वरूपका सन्धान नहीं किया जा सकता। जब तक चित्तमें वृत्तियोंका स्फुरण हो रहा है तब तक चित्स्वरूपको ठीक तौर पर धारण नहीं कर सकते। इसलिए प्रयत्नपूर्वक चित्तको वृत्तिशून्य करना होगा। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिमें चित्तवृत्ति विद्यमान रहती है, इसीसे चित्स्वरूपके सदा वर्तमान रहने पर भी जाग्रदादि तीन अवस्थाओंमें उसका विकास समझमें नहीं आता। जब चित्त विषयाकार वृत्तियोंसे शून्य हो जाता है तो वह चित्त नहीं रहता और उस अवस्थाको

निर्वाण अवस्था कहते हैं, परन्तु वह शून्यमात्र नहीं होती—उसे ही विशुद्ध चैतन्य जानना चाहिए ।।१५।।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।१६।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अत्यश्नतः तु (अति भोजन करनेवालेको तो) योगः (समाधि) न अस्ति (नहीं होती); एकान्तम् (बिलकुल) अनश्नतः च (अनाहारीको भी) न (नहीं होती); अतिस्वप्नशीलस्य च (अत्यन्त निद्राशीलको भी) न (नहीं होती); जाग्रतः एव च (अति जागरणशीलको भी) न (नहीं होती) ।।१६।।

श्रीधर—योगाभ्यासनिष्ठस्याहारादिनियममाह—नात्यश्नतः इति द्वाभ्याम् । अत्यन्तमधिकं भुञ्जानस्यैकान्तमत्यन्तमभुञ्जानस्यापि योगः समाधिर्न भवति । तथाऽतिनिद्राशीलस्यातिजाग्रतश्च योगो नैवास्ति ।।१६।।

अनुवाद—[योगाभ्यासीके आहारादिका नियम बतलाते हैं]—अधिक भोजन करनेवालेको, तथा बिल्कुल ही भोजन न करनेवालेको भी समाधि नहीं होती। अति निद्राशील अथवा अति जागरणशीलको भी योगसमाधि नहीं होती ।।१६।।

आध्यात्मिक व्याख्या—अधिक खाने पर योग नहीं होता, बिल्कुल ही न खाने परभी योग नहीं होता—अधिक सोने तथा जागने पर भी योग नहीं होता।—'अतिभोजनं रोगमूलम्,' अतिभोजन रोगका कारण होता है। इसलिए योगीको आहारके सम्बन्धमें विशेष सतर्क रहना आवश्यक है। शरीरमें रोग उत्पन्न होने पर फिर योगाभ्यासकी सुविधा नहीं रहती। रोगादिको योग-विघ्न कहते हैं। स्वास्थ्य और बलकी रक्षाके लिए उपयोगी आहार करना होगा, और उस आहारका पवित्र और परिमित होनाभी आवश्यक है। जो लोग योगाभ्यासमें अधिक समय लगाते हैं, उनके लिए एकाहार करना भी बुरा नहीं। दिनका आहार चाहे जो हो, रात्रिका आहार अत्यन्त लघु होना आवश्यक है। अत्यन्त भोजन तथा अधिक उपवास दोनों ही योगाभ्यासके लिए हानिकर हैं। श्रुति कहती है—"यदु ह वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति। यद्भूयो हिनस्ति तद् यत् कनीयो न तदवति।" जो आत्मसम्मित अन्न भोजन करता है, वह अन्न भोक्ताकी रक्षा करता है, उसकी हानि नहीं करता। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—"तस्माद् योगी नात्मसम्मितादन्नादधिकं न्यूनं वाऽश्नीयात्"—अतएव योगी आत्मसम्मित अन्न ही भोजन करें, उससे अधिक नहीं और तदपेक्षा न्यून भी नहीं। योगशास्त्रमें लिखा है—

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत्।
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्।।

योगी पाकस्थलीके दो भाग अन्नके द्वारा और एक भाग जलके द्वारा पूर्ण करे, और चौथा भाग वायुके सञ्चरणके लिए खाली रक्खे।

अनाहार या क्षुधित रहकर योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। शास्त्रविहित उपवासके दिन स्वल्पाहार या फल-दुग्ध ग्रहण करना ही ठीक है। अवश्य ही सालमें २-३ निर्जल उपवास करना बुरा नहीं होता, परन्तु अधिक उपवास ठीक नहीं है। नियमित और शुद्ध आहारके बिना योगाभ्यास निष्फल है। शास्त्रमें लिखा है—

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भञ्च कारयेत्।
नाना रोगो भवेत्तस्य किञ्चित् योगो न सिध्यति ॥

योगाभ्यासके समय जो मिताहार करते हुए नहीं चलते, उनको किञ्चित् भी योगसिद्धि तो होगी ही नहीं, बल्कि नाना प्रकारके रोग आकर घेर लेंगे।

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥

त्यागी पुरुष ब्रह्मचारी और मिताहारी होकर योगाभ्यास करे तो एक वर्षके पश्चात् वह सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत्।
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ॥

योगाभ्यासके समय वह्निसेवा, स्त्री-सम्भोग या बहुत दूरकी यात्रा, प्रातःस्नान, उपवास या कायक्लेशादि नहीं करना चाहिए।

मार्कण्डेय पुराणमें लिखा है—अनाहारी होकर, क्षुधित अवस्थामें परिश्रान्त होकर अथवा व्याकुल चित्तसे योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। अवश्य ही ये सारे निषेध प्रथमावस्थाके हैं। अभ्यास सुदृढ़ होने पर इस प्रकारके निषेध कुछ भी नहीं हैं।

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ् नियमग्रहः ॥

योगीके अन्न-पानके सम्बन्धमें योगशास्त्रमें लिखा है—

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि।
शुण्ठिकपटोलफलादिकपञ्चशाकं
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यतीन्द्रपथ्यम् ॥

मूंग, गेहूँ, यव, धान आदि सुन्दर अन्न, घी, दूध, मक्खन, मधु, मिश्री, सोंठ, परवल आदि फल, पालक आदिका शाक योगीके लिए सुपथ्य है। निषिद्ध आहार ये हैं—

मांसं दधि कुलत्थं च लशुनं शाकमेव च।
कट्वम्लतिक्तपिण्याकहिङ्गुसौवीरसर्षपाः ॥
तैलं च वर्जान्येतानि यत्नतो योगिना सदा।
पुनरुष्णीकृतं द्रव्यसहितं चेति केचन॥

मांस, दही, कुलथी, लशुन, प्याज, शाक, कटु, अम्ल, तिक्त, पिण्याक (तिलकी खली), हींग, सौवीर (बेर), सरसोंका तेल—इनका यत्नपूर्वक त्याग करे। कोई वस्तु ठंडी हो गयी हो तो उसे फिर गर्म करके खानेका निषेध है।

योगाभ्यासीकी निद्राके सम्बन्धमें भी नियम होना चाहिए। अनियमित निद्रा या जागरण योगीके लिए त्याज्य है। अतिनिद्रासे शरीर और मनमें तमोगुण बढ़ता है, आलस्यके कारण साधना करनेकी इच्छा ही नहीं होती। अनिद्रासे मस्तिष्क उष्ण हो जाता है, काम करनेके समय तन्द्रा आती है, भलीभाँति मनोयोग नहीं होता, अतएव ध्यानादिमें विघ्न होता है। योगाभ्यासीके लिए दिनको सोना या अधिक रात तक जागना ठीक नहीं। रातके प्रथम पहरमें जागकर द्वितीय और तृतीय पहर निद्राके लिए रखना ठीक है। प्रथम और चतुर्थ पहरमें साधनके लिए बैठना उचित है। जो लोग अधिक समय तक नियमित अभ्यास करते हैं, उनकी स्वभावतः नींद घटती जाती है, तब तृतीय पहर या उसका अन्तिम आधा समय भी साधनाके लिए लिया जा सकता है। जो अधिक समय तक सोनेके अभ्यासी हैं, अर्थात् जिनके शरीर में कफकी अधिकता है, वे यदि यत्नपूर्वक निद्राको कम नहीं करेंगे तो योगाभ्यासमें समर्थ नहीं होंगे। दिनमें सोनेसे तमोगुण और कफकी बुद्धि होती है, अतएव वह भी त्याज्य है। निश्चय ही, वृद्धावस्थामें आहारके बाद थोड़ी नींद लेना उतना हानिकर नहीं है ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

अन्वय—युक्ताहारविहारस्य (नियमित आहार विहार करनेवाले) कर्मसु युक्तचेष्टस्य (कर्मोंमें नियमित चेष्टाशील पुरुष) युक्तस्वप्नावबोधस्य (नियमित निद्रा और जागरणशील व्यक्तिके लिए) योगः (योगाभ्यास) दुःखहा भवति (दुःखनिवर्तक होता है) ॥१७॥

श्रीधर—तर्हि कथम्भूतस्य योगो भवतीति ? अत आह—युक्ताहारेति। युक्तो नियत आहारो विहारश्च गतिर्यस्य। कर्मसु कार्येषु युक्ता नियता चेष्टा यस्य। युक्तौ नियतौ स्वप्नावबोधौ निद्राजागरौ यस्य। तस्य दुःखनिवर्तको योगो भवति सिध्यति ॥१७॥

अनुवाद—[तब किस प्रकारके पुरुषको योग प्राप्त होता है ? यही बतलाते हैं]—जिसका आहार नियमित है, विहार अर्थात् भ्रमणादि गति नियमित है, कार्योंमें जिसकी चेष्टा नियमित है, तथा जिसकी निद्रा और जागरण नियत अर्थात् परिमित है, इस प्रकारके पुरुषका योगाभ्यास दुःखनिवर्त्तक होता है अर्थात् योगसिद्धि होती है ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहकर आहार करे, विहार करे, सोये, चेष्टा करे, कर्म करे—ऐसा न करनेसे योग नहीं होता—यह करनेसे योगमें कोई क्लेश नहीं होता।—योगाभ्यासकी प्रथमावस्थामें खूब बँधे हुए नियमोंका होना ही ठीक होता है। नियम न रहने पर किसी कार्यमें सफलता प्राप्त नहीं होती, योगाभ्यासके विषयमें तो इस पर विशेष ध्यान देना ही चाहिए, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। ठीक समय पर सोना, ठीक समय पर जागना, ठीक समय पर भोजन, ठीक समय पर भजन-ध्यान होना चाहिए, और इनमेंसे प्रत्येकके लिए जो समय दिया जाय उसका भी व्यतिक्रम नहीं होना चाहिए, इस पर भी ध्यान देना होगा। सब प्रकारके संयम-अभ्यास अर्थात् यम-नियम-आसनादिके अनुष्ठानमें दृढ़ता—इन सबके द्वारा योगमें दृढ़भूमिकी प्राप्ति होती है। प्राणायामके द्वारा चित्तकी बहुधा वृत्तिका बहिष्कार किया जाता है, इससे चित्त निर्मल होकर प्रसन्नता प्राप्त करता है। प्रसन्न चित्तमें ही बुद्धि प्रतिष्ठित होती है, अर्थात् उस बुद्धिका व्यतिक्रम नहीं होता। असम्बद्ध तरीके पर साधन करनेसे सुफल तो मिलता ही नहीं, कुफलकी ही संभावना होती है। योग तभी सब दुःखोंका नाशक होता है जब योगी देहाभिमानका त्यागकर केवल आत्मरतिमें ही समुत्सुक होता है, लक्ष्य केवल आत्मामें रखता है। इस अवस्थामें रहकर योगी उपस्थित कर्मोंको यथासाध्य और यथासंभव करता रहता है। और जो कुछ करता है सब नारायणमें समर्पण करके करता है, अपने लिए सोचकर आहार विहारादि भी नहीं करता—इस प्रकारके स्थिरलक्ष्य साधक ही वस्तुतः सिद्धि प्राप्त करते हैं। उनका ही समाधि-साधन समस्त सांसारिक दुःखोंका नाशक होता है, अर्थात् योगाभ्यासमें साधकके ज्ञानका इतना विकास होता है कि उसके साथ निरोध अवस्था उत्पन्न होकर योगीके सारे दुःखोंका विनाश करती है। उनके अन्तःकरणमें और कोई संस्कार सञ्चित नहीं हो सकता, पूर्वसंस्कार भी विनष्ट हो जाते हैं, अतएव योगीको कोई वस्तु सन्तप्त नहीं कर सकती। व्यावहारिक जगत् और उसका सम्बन्ध योगीके चित्तसे दूर हो जाता है, उसी प्रकारसे जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें हुआ सुख-दुःखका अनुभव जाग्रत पुरुषको सुखी या दुःखी नहीं कर पाता। यही द्रष्टा और दृश्यकी एकताका अनुभवस्वरूप परम योग है। नियमित चेष्टाशील और संयत साधक इस परम योगको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाते हैं ॥१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

अन्वय—यदा (जब) विनियतं (विशेषभावसे संयत) चित्तं (चित्त) आत्मनि एव (आत्मामें ही) अवतिष्ठते (स्थिति लाभ करता है) तदा (तब) सर्वकामेभ्यः (दृष्टादृष्ट भोग आदिसे) निःस्पृहः (तृष्णारहित) [योगी] युक्तः (प्राप्तयोग, समाहित अथवा योगसिद्ध) इति उच्यते (कहलाता है) ॥१८॥

श्रीधर—कदा निष्पन्नयोगः पुरुषो भवतीत्यपेक्षायामाह—यदेति। विनियतं

विशेषेण निरुद्धं सचित्तमात्मन्येव यदा निश्चलं तिष्ठति। किञ्च सर्वकामेभ्यः ऐहिकामुष्मिक-भोगेभ्यो निःस्पृहो विगततृष्णो भवति। तदा युक्तः प्राप्तयोग इत्युच्यते ॥१८॥

अनुवाद—(योगी पुरुष कब निष्पन्नयोग कहलाता है ? यही बतलाते हैं]—जब विशेषरूपसे चित्त निरुद्ध होकर, केवल आत्मामें ही निश्चल भावसे अवस्थान करता है, तथा सब प्रकारके दृष्टादृष्ट विषयभोगसे विगततृष्ण हो जाता है तब उसे प्राप्तयोग कहते हैं ॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अटका रहना इसका नाम है—जब विशेषतः निःशेष-रूपसे चित्त संयत होगा—और आत्मामें ही आत्मा क्रियाकी परावस्थामें लगा रहेगा—तब किसी विषयमें इच्छा न होगी, इसको युक्त कहते हैं।—हमारे समस्त भोग्यपदार्थ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—क्षिति, जल, तेज, मरुत्, व्योम आदि पञ्चभूतोंसे प्राप्त होते हैं। जब 'लगा रहनेकी' अर्थात् निरुद्ध अवस्था इतनी घनी हो जाती है कि उससे साधक फिर च्युत नहीं होता तब चित्त निःशेषरूपसे संयत कहलाता है। तब योगीको इहलोक या परलोककी कोई इच्छा ही नहीं रहती। सारे सम्बन्धोंसे रहित योगीका तब एकमात्र अवलम्बन आत्मा ही रहता है। कोई विषय न होनेके कारण, चित्त भी चित्स्वरूपमें लय होकर आत्माके साथ मिल जाता है, जलबिम्ब जलमें मिल जाता है, यही युक्तावस्था है। यही असम्प्रज्ञात योगकी अवस्था है। चित्तके बिल्कुल लय हुए बिना यह अवस्था नहीं आ सकती। साधनाकी सामयिक चेष्टाके फलस्वरूप विक्षिप्त चित्त कुछ स्थिर होता है। विषयभावना होते ही चित्त तदाकार हो जाता है, यही चित्तका वृत्तिरूपमें परिणाम है। इस प्रकार सहस्रों वृत्तियाँ चित्तसागरमें तरङ्गके समान उठती हैं और डूबती हैं। जब साधनाके द्वारा चित्तमें नाना वृत्तियाँ न उदित होकर केवल एकमात्र ध्येय वृत्ति उदित रहती है, तब उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस सम्प्रज्ञात समाधिकी चार प्रकारकी अवस्थाओंका वर्णन पहले किया जा चुका है। जब एक वृत्ति भी नहीं रहती, तथा दीर्घकालके बाद भी वृत्तियोंके उदय होनेकी संभावना नहीं रहती, तब वही असम्प्र-ज्ञात योगावस्था होती है। निश्चय ही, वैराग्यविहीन चित्तमें किसी प्रकारकी समाधि नहीं लगती। वैराग्यका अर्थ है विषय ग्रहण करनेकी अनिच्छा, और भगवत्प्राप्तिके लिए ऐकान्तिक इच्छा और चेष्टा। यह साधारण वैराग्य है, साधना करते करते फिर परवैराग्यका उदय होता है। तभी योगी 'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः' हो जाता है। इसके लिए प्राणायाम आदि करनेका प्रयोजन कहाँ रहा ? श्रीमद्भा-गवतमें लिखा है—

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

नित्य अर्थात् सदा परम भागवतरूप साधुजनका सङ्ग करनेसे काम-क्रोधादि अकल्याणकर वृत्तियाँ निस्तेज होकर नष्टप्राय हो जाती हैं, तभी उत्तम-श्लोक भगवान्में निश्चला भक्तिका उदय होता है। तब रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न काम-लोभादि भावोंके द्वारा अनाविद्ध होकर चित्त सत्त्वगुणमें अवस्थित होता है। इस प्रकार ब्रह्मचिन्तनमें रत होकर चित्त प्रसाद या परमानन्दका उपभोग करता है। भगवद्भक्तिके द्वारा भगवान्के साथ चित्तका योग होता है। ऐसा योगप्राप्त पुरुष परमानन्द लाभ करता है और विषयोंके प्रति आसक्तिरहित हो जाता है। यह वैराग्य उत्पन्न होने पर यथार्थ भगवत्तत्त्व-विज्ञान अर्थात् ज्ञानका स्फुरण होता है। जो वासुदेवरूपमें सारी सृष्ट वस्तुओंके आत्मा हैं, उनका दर्शन प्राप्त होता है अर्थात् स्वरूपानुभव होता है। तब जिस अविद्याने देहात्मभाव उत्पन्न कर मन और बुद्धिको देहादिके साथ आबद्ध कर रक्खा था, वह बन्धनग्रन्थि छिन्न हो जाती है। तमोगुणके प्रभावसे मनमें जो कुतर्क और असम्भावनादि रूप संशय उठते थे, वे चिरकालके लिए निवृत्त हो जाते हैं, और सब प्रारब्ध कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवतके मतसे भक्तिके बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तथा गीतामें भी लिखा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ (गी० १८ अ०)

परा भक्तिके द्वारा मुझको तत्त्वतः जान सकता है। मैं जिस प्रकार (सर्वव्यापी) तथा जो (सच्चिदानन्दस्वरूप) हूँ उसे जान सकता है। मुझको इस प्रकार यथार्थरूपमें जानकर, तत्पश्चात् मुझमें ही प्रवेश करता है, अर्थात् परमानन्दस्वरूप हो जाता है। परन्तु इस प्रकार उनका भक्त कौन हो सकता है? गीतामें भक्तका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—"सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥" जो प्रसन्नचित्त, अतएव योगी, संयतचित्त, दृढनिश्चय तथा मुझमें मनोबुद्धि अर्पण करनेवाले हैं, ऐसे भक्त मुझको प्रिय हैं।

पुनः अठारहवें अध्यायमें बतलाते हैं कि इस भक्तिको प्राप्त कौन करता है?

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

इस परा भक्तिको कौन प्राप्त करता है?—जो ब्रह्मभूत हैं अर्थात् ब्रह्ममें अवस्थित (ब्रह्मको प्राप्त—शङ्कर), प्रसन्नचित्त हैं (यहाँ भागवतका "एवं प्रसन्नमनसः" याद रखने योग्य है) ऐसे पुरुष शोक नहीं करते, आकांक्षा भी नहीं करते, क्योंकि उनमें देहादिके अभिमानका अभाव होता है। जो सब भूतोंमें समदर्शी हैं, वही परा भक्तिको प्राप्त करते हैं। अब विचार करनेकी बात है कि जिसको ज्ञान नहीं है, अतः परा भक्तिका उदय भी नहीं हुआ है उसको उपर्युक्त अवस्था कैसे प्राप्त हो सकती है?

शास्त्रज्ञ लोग कहते हैं कि सब प्रकारके अकल्याणका मूल चित्तकी अशुद्धि है। चञ्चलता ही चित्तकी अशुद्धि या मलिन भाव है। अतएव नाना प्रकारकी वासनाओंके रहते चित्तकी विक्षेपशून्यता या चित्तशुद्धि नहीं होती। ये नाना प्रकारकी वासनाएँ किस प्रकार प्राण द्वारा स्पन्दित होकर मनमें वासना या तरङ्गके रूपमें उदित होती हैं, इसका उल्लेख अनेक बार इस गीताकी व्याख्याके अवसर पर मैंने किया है। प्राणके स्थिर हुए बिना भगवदुपासनाकी बात विड़म्बना मात्र है। अतएव प्राणको स्थिर करनेके लिए प्राणायाम आदि योगाभ्यास अवश्य ही करना चाहिए। इसीलिए श्रीभगवान्‌ने गीतामें अनेक बार अनेक स्थानोंमें इसका निर्देश किया है। प्राणायाम साधनसे जो लाभ होता है उसके विषयमें सिद्ध ऋषि पतञ्जलिका सिद्धान्त यहाँ कुछ अंशमें दिखलाया जाता है। पातञ्जलदर्शनके साधनपादमें है—"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः"। योगाङ्गोंके अनुष्ठानके द्वारा अशुद्धिका नाश होता है, विक्षेपरूपी अशुद्धिके नाशके साथ ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है। ज्ञान बढ़ते बढ़ते विवेकख्याति पर्यन्त जाता है। केवल प्राणायामके सम्बन्धमें कहते हैं—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" "धारणासु च योग्यता मनसः"—प्राणायामका अभ्यास करनेवाले योगीके विवेक-ज्ञानके आवरणभूत कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं, तथा धारणादिमें मनको योग्यता प्राप्त होती है। श्रुतिमें लिखा है, "तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति"—प्राणायामकी अपेक्षा श्रेष्ठ तपस्या और कुछ नहीं है, उससे सारे मलोंकी विशुद्धि और ज्ञानकी दीप्ति होती है। प्राणक्रियाके सम्बन्धमें अनेक बातें कहनेको हैं, परन्तु यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि आत्माके प्रकाश या अस्तित्वके सम्बन्धमें बहुतसे लोग सन्देह करते हैं, वह अज्ञानका आवरण प्राणायामके द्वारा ही क्षयको प्राप्त होता है, और धारणादिके विषयमें मनको योग्यता प्राप्त होती है। आध्यात्मिक देशमें चित्तको बाँधनेका नाम धारणा है। प्राणायाम करते समय निरन्तर आध्यात्मिक देशोंकी भावना करनी ही पड़ती है। अनवरत जिसकी भावना हो रही है उसमें चित्तको बाँधनेकी योग्यता प्राप्त होगी, इसमें सन्देह ही क्या है? इसके सिवा पतञ्जलि कहते है—"सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति"—बुद्धिसत्त्व जब रज और तमके मलसे शून्य होकर अत्यन्त शुद्ध होता है, और अविद्याके सङ्गसे पुरुषमें जो अशुद्धि कल्पित होती है उसकी निवृत्ति होती है तब दोनोंका शुद्धिसाम्य होता है। यही कैवल्यपद है। साधनासे बुद्धि अन्तर्मुखी होकर डूब जाती है। पर फिर उसका व्युत्थान होता है। जब तक व्युत्थान होता है तब तक समझना होगा कि बुद्धिकी पूर्ण शुद्धि नहीं हुई है। पूर्ण शुद्धि होने पर आत्मप्रत्यय अखण्ड धाराके समान बहने लगता है। यही परम धाम 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते' है। योगाभ्यासके द्वारा जो अशुद्धिका क्षय होता है, उससे एक अखण्ड ज्ञानधारा प्रवाहित होती है, जिसके फलस्वरूप चित्त व्युत्थान-रहित होकर आत्मामें विलीन हो जाता है। इससे योगाभ्यासकी प्रयोजनशीलता और शास्त्रीयता प्रमाणित हुई ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) निवातस्थः (वायुरहित स्थानमें स्थित) दीपः (प्रदीप) न इङ्गते (विचलित नहीं होता), आत्मनः (आत्मविषयक) योगं युञ्जतः (योगाभ्यासशील) यतचित्तस्य (संयत-अन्तःकरण) योगिनः (योगीका) सा (वह) उपमा (दृष्टान्त) स्मृता (जानना चाहिए) ॥१९॥

श्रीधर—आत्मैक्याकारतयाऽवस्थितस्य चित्तस्योपमानमाह—यथेति । वातशून्ये देशे स्थितो दीपो यथा नेङ्गते न विचलति । सोपमा दृष्टान्तः कस्य ? आत्मविषयं योगं युञ्जतोऽभ्यसतो योगिनः । यतं नियतं चित्तं यस्य तस्य । निष्कम्पतया प्रकाशकतया चाचञ्चलं यच्चित्तं तद्वत्तिष्ठतीत्यर्थः ॥१९॥

अनुवाद—[आत्माके साथ एकाकारमें अवस्थित चित्तका दृष्टान्त कहते हैं]—निर्वात स्थानमें प्रदीप जैसे विचलित नहीं होता, यह दृष्टान्त किसके लिए है ? आत्मविषयक योगाभ्यासी, संयतचित्त योगीके अचञ्चल चित्तका यह दृष्टान्त है। निष्कम्पता और प्रकाशकताके हेतु निर्वातस्थ दीपके समान योगीका चित्त अचञ्चल रहता है ॥१९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आत्मयोगी क्रिया करते हैं—एक प्रदीप जैसे अचंचल हवामें जलता है उसी प्रकार योगीका आत्मा स्थिर रूपमें रहता है।—योगी साधनाके द्वारा जब क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त होते हैं तो उस समय उनके मनकी अवस्था कैसी होती है, यही दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। स्थिर वायु वाले स्थानमें दीपशिखा जैसे तनिक भी नहीं डोलती, प्रदीपके मुखसे क्रमशः सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होती हुई अन्तमें अपने अग्रभागसे मानो आकाशको छूती है, पश्चात् उसकी सूक्ष्म रेखा भी देखनेमें नहीं आती। योगीके संयत चित्तकी यही अच्छी उपमा है। योगाभ्यासके द्वारा योगीका चित्त भी संयत होते होते सारी वृत्तियाँ एकमुखी होकर एकाकार हो जाती हैं। अन्तमें सूक्ष्मतम स्पन्दन भी असीम चिदाकाशमें मिलकर एक हो जाता है। तरङ्गहीन समुद्र जैसे स्थिर और अचञ्चल होता है, कल्पनाशून्य चित्त भी उसी प्रकार स्थिर होता है। यह स्थिर चित्त ही उस समय चित्सत्ताके साथ एकाकारमें अवस्थित होता है। इसीका नाम समाधि है। जब चित्त स्पन्दनशून्य हो जाता है तो उसे फिर चित्त नहीं कहते। उस समय चित्त आत्मसत्ताके साथ एकीभूत अवस्थाको प्राप्त होता है। अतएव चित्तवृत्तिशून्य होने पर जो स्थिरता अनुभूत होती है, वही ब्रह्मसत्ता है और वही चिर स्थिर सत्य वस्तु है। चित्तकी चञ्चलतासे जो कुछ कल्पित होता है वह भ्रम या मिथ्या कल्पनामात्र है। नाना वासनाओंसे युक्त चित्त समाधिके लिए अयोग्य होता है। चित्तकी इस स्पन्दनयुक्त अवस्थासे भ्रममय और दुःखमय संसार कल्पित होता है। चित्तकी स्पन्दनरहित अवस्थामें ज्ञानका विकास होता है। तब जगद्-दर्शन

नहीं होता, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होता है। इस अवस्थामें योगी अपनी इच्छाके अनुसार विषयोंका ज्ञान प्राप्त कर सकता है, सङ्कल्प करते न करते सारे ऐश्वर्य योगीके सामने उपस्थित हो जाते हैं। परन्तु समाधिमग्न योगीका वासना-बीज एकबारगी निर्मूल हो जाता है और आत्माकारमें अवस्थित होनेके कारण उनकी "निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः" अवस्था सिद्ध होती है। जब उनका मन ही नहीं है तो वासनाका उदय होगा कहाँसे? तथा वहाँ ज्ञानकी स्वच्छतामें विषयका कोई दाग नहीं पड़ता अतएव योगीको उसमें कोई मोह या आकर्षण नहीं होता। प्राणकी चञ्चलतासे ही चित्तका स्पन्दन होता है, इसी कारण उसके स्पन्दनको दूर करनेके लिए सबसे पहले प्राणस्पन्दनका निरोध होना आवश्यक है ॥१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

अन्वय—यत्र (जिस अवस्थामें) योगसेवया (योगाभ्यासके द्वारा) निरुद्धं चित्तं (निरुद्ध चित्त) उपरमते (उपरत होता है) यत्र च (और जिस अवस्थामें) आत्मना (शुद्ध अन्तःकरण द्वारा) आत्मानं (परम चैतन्य ज्योतिस्वरूप आत्माको) पश्यन् (देखता हुआ) आत्मनि एव तुष्यति (आत्मामें ही तुष्टिको प्राप्त होता है) ॥२०॥

श्रीधर—यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डवेत्यादौ कर्मैव योगशब्देनोक्तम्। नात्यश्नतस्तु योगोऽस्तीत्यादौ तु समाधिः योगशब्देनोक्तः। तत्र मुख्यो योगः क इत्यपेक्षायां समाधिमेव स्वरूपतः फलतश्च दर्शयन् स एव मुख्यो योग इत्याह—यत्रेति सार्द्धैस्त्रिभिः। यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेषे योगाभ्यासेन निरुद्धं चित्तमुपरतं भवतीति योगस्य स्वरूपलक्षणमुक्तम्। तथा च पातञ्जलं सूत्रम्—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इति। इष्टप्राप्तिलक्षणेन फलेन तमेव लक्षयति। यत्र च यास्मिन्नवस्थाविशेषे। आत्मना शुद्धेन मनसा। आत्मानमेव पश्यति न तु देहादि। पश्यंश्चात्मन्येव तुष्यति। न तु विषयेषु। यत्रेत्यादीनां यच्छब्दानां तं योगसंज्ञितं विद्यादिति चतुर्थेन श्लोकेनान्वयः ॥२०॥

अनुवाद—['जिसको संन्यास कहते हैं उसे ही योग जानो'—इसके द्वारा पहले योगशब्दको कर्मके अर्थमें कहा है, और 'अतिभोजनशीलको योग नहीं होता' —यहाँ योगशब्दके द्वारा समाधिको संकेत किया है। अतएव मुख्य योग क्या है, इसे बतलानेके लिए जो समाधिको लक्ष्य किया है वही मुख्य योग है—साढ़े तीन श्लोकोंमें यही बतला रहे हैं]—जिस अवस्था-विशेषमें योगाभ्यास द्वारा निरुद्ध चित्त उपरत होता है, अर्थात् निष्क्रिय होता है—वही योगका स्वरूप, लक्षण रूपसे कहा गया है। क्योंकि पातञ्जलसूत्रमें 'चित्तवृत्तिका निरोध' ही योग कहा गया है। इष्ट-प्राप्तिके लक्षणस्वरूप फलके द्वारा उसको लक्ष्य कराया गया है। जिस अवस्था-विशेषमें शुद्ध मनके द्वारा हम आत्माको देखते हैं, देहादिमें दृष्टि नहीं रहती, तथा आत्माको देखकर उसमें ही परितुष्ट होते हैं,

विषय-प्राप्तिमें कोई तुष्टि-बोध नहीं होता—उस अवस्था-विशेषको समाधि या योग समझना चाहिए ॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहने पर—चित्त विज्ञान-पदको प्राप्त होकर जहाँ रात नहीं—सब रूप देखता है—वायु स्थिर होकर क्रियाके द्वारा। जहाँ अपनेको आप देखकर अपनेमें सन्तुष्ट होता है।—क्रियाके द्वारा वायु स्थिर होती है यानी तब प्राणका चाञ्चल्य तिरोहित हो जाता है, अतएव मन नामकी वस्तु उस समय कोई नहीं रहती। मनके न रहने पर उसका विषय-भ्रमण नहीं होता। पहले जिन विषयोंमें मन दौड़ता था, मनके न रहने पर वे विषय भी नहीं रहते—यही चित्तकी वृत्तियोंका निरोधरूप योगकी अवस्था है। मनकी एकतानतामें जब वृद्धि होती है तब साधक देहको भूल जाता है। तब केवल ध्याता और ध्येयमात्र बोधके विषय रहते हैं, दूसरे शत शत खण्डज्ञान जो मनकी चञ्चलताके कारण परिलक्षित होते थे—उन खण्डज्ञानोंकी बात अब याद ही नहीं आती। जब उससे भी अचञ्चल अवस्था आती है तो ध्याता भी नहीं रहता, ध्येयमात्र अवशिष्ट रहता है अर्थात् ध्याता ध्येय वस्तुमें डूब जाता है। खण्ड चैतन्य अखण्ड चैतन्यके साथ एकाकार हो जाता है। घटाकाश तब अखण्ड महाकाशके साथ अभिन्न हो जाता है। इस प्रकार चित्तकी वृत्तियोंका निरोध ही योग है। यही क्रियाकी परावस्था है। क्रियाकी परावस्थामें चित्तके अनन्त स्पन्दन एक आत्मसत्तामें डूब जाते हैं, खण्डज्ञान तिरोहित हो जाता है और एक अखण्ड ज्ञान-प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। यह क्रियाकी परावस्था कुछ कुछ आरम्भ होते होते पश्चात् दीर्घकाल स्थायी हो जाती है। इस अवस्थाके दीर्घकाल स्थायी होने पर विज्ञानपद या अनुभवपद प्राप्त होता है। क्रियाके द्वारा प्राण स्थिर होते ही अनेक ज्योतिर्मय दृश्य दीखने लगते हैं। परन्तु वे दृश्य भी कोई पृथक् वस्तु नहीं हैं, यह आप अपनेको ही देखना है। योगी जब ज्योतिरूप दर्शन करता है, तब वह सोचता है कि यह 'ज्योति' क्या मैं हूँ? अथवा अन्य कोई ज्योतिको देख रहा है। तब यह ज्योति क्या है तथा इसको देखता कौन है?—इस प्रकार जो वितर्क और विचारकी अवस्था आती है, तथा इन दोनों अवस्थाओंके अभिभूत होने पर जो स्थिर वृत्ति प्रवाहित होती है, वही सम्प्रज्ञात समाधिके प्रथम और द्वितीय स्तर हैं ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

अन्वय—यत्र (जिस अवस्थामें) अयं (यह योगी) बुद्धिग्राह्यं (इन्द्रिय-निरपेक्ष विशुद्ध-बुद्धि-ग्राह्य) अतीन्द्रियम् (इन्द्रियोंके अगोचर, अतएव विषयेन्द्रिय सम्बन्धजनित नहीं) आत्यन्तिकं (निरतिशय) यत् सुखं (जो सुख है) तद् वेत्ति (उसको अनुभव करता है) एव च स्थितः (तथा जिस अवस्थामें स्थित होने पर) तत्त्वतः (आत्मस्वरूपसे) न चलति (विचलित नहीं होता) ॥२१॥

श्रीधर—आत्मन्येव तोषे हेतुमाह—सुखमिति। यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेषे यत्तत् किमपि निरतिशयमात्यन्तिकं नित्यं सुखं वेत्ति। ननु तदा विषयेन्द्रियसम्बन्धाभावात् कुतः सुखं स्यात्? तत्राह—अतीन्द्रियं विषयेन्द्रियसम्बन्धातीतम्। केवलं बुद्ध्यैवात्माकारतया ग्राह्यम्। अतएव च यत्र स्थितः संस्तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति ॥२१॥

अनुवाद—[आत्मामें ही सन्तोषका हेतु दिखला रहे हैं]—जिस अवस्था-विशेषमें किसी एक अनिर्वचनीय निरतिशय नित्य सुखका अनुभव होता है, वहाँ विषयके साथ इन्द्रियोंके सम्बन्धका अभाव होता है, फिर वह सुख कहाँसे होता है—इसीलिए कहते हैं कि जो सुख विषयेन्द्रियके सम्बन्धके परे है, वह केवल आत्माकाराकारित बुद्धिके द्वारा ग्राह्य है। अतएव जिसमें अवस्थित होने पर योगी आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होता, वही योग या समाधि-शब्द-वाच्य है ॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जहाँ सुखका अन्त नहीं—जो सुख बुद्धिके द्वारा ग्राह्य नहीं—और इन्द्रियके द्वारा भी ग्राह्य नहीं—क्रियाकी परावस्थामें रहने पर—वह वस्तु ऐसी है—इस प्रकारसे जानी नहीं जाती—तथापि वायु स्थिर रहती है—यद्यपि चलती है पञ्चतत्त्वमें—अर्थात् मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य—क्योंकि ऐसा न होने पर मर जाता।—यहाँ एक प्रकारका सुखानुभव होता है, परन्तु वह कैसा होता है—यह वाक्यके द्वारा बतलाया नहीं जा सकता। इन्द्रियोंके द्वार पर जो सुखानुभव होता है उसको हम जानते हैं, परन्तु यह सुख इन्द्रियोंके द्वारा नहीं अनुभव किया जा सकता। क्योंकि अनुभव करने वाली इन्द्रियाँ नहीं रहतीं। प्राण-प्रवाह उस समय स्थिर होता है, प्राण प्रवाहित होकर ही तो इन्द्रिय-मनको जाग्रत करता है। उस समय प्राणका चाञ्चल्य नहीं रहता, अतएव उस सुखका निर्देश करने वाली इन्द्रियाँ भी उस समय सुप्त रहती हैं। उस समय बाह्य अनुभव तो होता नहीं, परन्तु भीतर एक असीम आनन्दकी धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। निर्मल बुद्धिके द्वारा इस आनन्दका अनुभव होता है, यही समाधि-सुख है। प्राण-स्पन्दन भी उस समय तिरोहित हो जाता है। इस प्राणहीन अवस्थामें क्या जीव जीवित रह सकता है?—रह सकता है, क्योंकि बाहरकी वायु यद्यपि स्थिर हो जाती है, परन्तु भीतर मूलाधार से विशुद्धाख्य पर्यन्त चक्र-चक्रमें वायु उस समय भी सूक्ष्मभावसे चलती रहती है। उसके न चलने पर देह नहीं रहती। इस अवस्थामें जो सुखानुभव होता है, वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता, यह कहना ही व्यर्थ है। उस समय भी बुद्धिका लय नहीं होता। बुद्धि जाग्रत रहती है, अतएव बुद्धिमें वह सुखस्पर्श लगा रहता है, उस अनुभवकालमें भी बुद्धि इसे प्रकट नहीं कर सकती, क्योंकि प्रकट करनेवाली इन्द्रियाँ उस समय सुप्त होती हैं। जब वह अवस्था छूट जाती है—तब क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें यह सुख अनुभव होता रहता है, और वह इन्द्रिय-भोग्य वस्तुओंसे उत्पन्न सुखके समान भी नहीं होता। वह कैसा होता है, इसको भाषासे व्यक्त नहीं कर सकते—तथापि वह परमानन्द स्वरूप होता है—इस सुखका अन्त नहीं होता, इस प्रकार धारणा-प्रवाह चलता है। क्षण मात्र भी इस सुखका स्पर्श होने पर वह बहुत दिनों

तक स्मृतिमें रहता है, और ऐसा जान पड़ता है मानो जगत्के समस्त पदार्थ उस आनन्द-अणुके द्वारा पूर्ण हैं। यही योगशास्त्रोक्त सम्प्रज्ञात समाधिके तृतीय और चतुर्थ स्तर हैं। इसके आगे असम्प्रज्ञात समाधि होती है ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

अन्वय—यं च लब्ध्वा (जिस आत्मसुखरूपी अवस्थाको प्राप्त कर) अपरं लाभं (दूसरे लाभको) ततः (उससे) अधिकं (अधिक) न मन्यते (नहीं मानता) यस्मिन् स्थितः (जिसमें अवस्थित होने पर) गुरुणा (महान्) दुःखेन अपि (दुःखके द्वारा भी) न विचाल्यते (विचलित नहीं होता) [वही योगशब्द-वाच्य है] ॥२२॥

श्रीधर—अचलत्वमेवोपपादयति—यमिति। यमात्मसुखरूपं लाभं लब्ध्वा ततोऽधिकं अपरं लाभं न मन्यते। तस्यैव निरतिशयसुखत्वात्। यस्मिंश्च स्थितो महताऽपि शीतोष्णादिदुःखेन न विचाल्यते। नाभिभूयते। एतेनानिष्टनिवृत्तिफलेनापि योगस्य लक्षणमुक्तं द्रष्टव्यम् ॥२२॥

अनुवाद—[योगीका अचञ्चलत्व प्रतिपादन करते हैं]—आत्मसुखरूप लाभको प्राप्त होने पर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ नहीं जान पड़ता—इसका कारण यह है कि आत्मा ही निरतिशय सुखरूप है—जिसमें अवस्थित होने पर शीतोष्णादि महान् दुःख भी अभिभूत नहीं कर सकते। इसके द्वारा सर्व अनिष्ट-निवृत्तिरूप जो फल प्राप्त होता है वही योगका लक्षण कहा गया है ॥२२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो लाभ होने पर अन्य वस्तुको लाभ नहीं मानते अर्थात् जो परम लाभ है—प्राप्ति इसीको कहते हैं प्रकृष्टरूपमें आप्ति ही प्राप्ति है। इसी कारण समस्त शास्त्र अभ्रान्तों (आप्त लोगों) की बात मान्य बतलाते हैं, जहाँ आठ पहर स्थिति होने पर अत्यन्त दुःख होने पर भी वह प्राप्ति अर्थात् लाभ विचलित नहीं होता—(अर्थात् बहुत क्लेश पाने पर भी क्रिया नहीं छोड़ता)।—पूर्व श्लोकमें कही हुई अवस्थाके परिपक्व होने पर ही प्रकृत योगलाभ होता है। यही प्रकृष्टरूपमें प्राप्ति या प्राप्तिकी पराकाष्ठा है। इस अवस्थामें स्थित पुरुष ही 'आप्त' कहलाते हैं। उनको फिर भ्रान्ति नहीं होती। यह अवस्था जब आठों पहर स्थायी हो जाती है, तब फिर दुःख, क्लेशके रूपमें अनुभव नहीं होता। उस समय योगी व्यावहारिक जगत्का कार्य भी कर सकते हैं। तथापि उनको वासना, आशा, सङ्कल्प कुछ भी नहीं रहता। यदि ऐसा न होता तो वह दूसरोंको कैसे समझते? अन्तःकरणकी वृत्तिके साथ विषयादि—शब्दस्पर्शादि बाह्य विषयोंका संयोग होने पर सुख-दुःखादिका अनुभव होता है, उसी अन्तःकरणकी वृत्तियोंके निरुद्ध होने पर बुद्धि आत्माके साथ समाहित हो जाती है, फिर बाह्य क्लेशादिका अनुभव किसे होगा? उस समय चित्त एकाग्र-भूमिको छोड़कर निरोध-भूमिमें पहुँच जाता है। उस सुखकी कोई सीमा

नहीं होती, इसी कारण विषयादिके सुख उसके सामने अकिञ्चित्कर जान पड़ते हैं। जिस साधनाके द्वारा यह सुखमय अवस्था प्राप्त होती है, उस साधनयोगको फिर साधक कदापि छोड़ नहीं सकता। क्रियाकी इस अपूर्व महिमाको देखकर योगी क्रियाको ही सर्वस्व समझता है। यही असम्प्रज्ञात समाधि है, अगले श्लोकमें इसे और भी सुस्पष्ट भावसे कहा गया है ॥२२॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

अन्वय—तं (जो इस प्रकारकी अवस्थाविशेष है उसको) दुःखसंयोगवियोगं (दुःखसंयोगका वियोगरूप) योगसंज्ञितम् (योगनामसे) विद्यात् (जानना चाहिए) सः योगः (वह योग) अनिर्विण्णचेतसा (अवसादरहित चित्तके द्वारा) निश्चयेन (शास्त्र और आचार्यके उपदेशजनित निश्चयके द्वारा) योक्तव्यः (अभ्यास करना कर्त्तव्य है) ॥२३॥

श्रीधर—तमिति। य एवम्भूतोऽवस्थाविशेषस्तं दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितं विद्यात्। दुःखशब्देन दुःखमिश्रितं वैषयिकं सुखमपि गृह्यते। दुःखस्य संयोगेन संस्पर्शमात्रेणापि वियोगो यस्मिंस्तमवस्थाविशेषं योगसंज्ञितं योगशब्दवाच्यं जानीयात्। परमात्मना क्षेत्रज्ञस्य योजनं योगः। यद्वा दुःखसंयोगेन वियोग एव शूरे कातरशब्दवद्विरुद्धलक्षणया योग उच्यते। कर्मणि तु योगशब्दस्तदुपायत्वादौपचारिक एवेति भावः। यस्मादेवं महाफलो योगस्तस्मात् स एव यत्नतोऽभ्यसनीय इत्याह—स इति सार्द्धेन। स योगो निश्चयेन शास्त्राचार्योपदेशजनितेन योक्तव्योऽभ्यसनीयः। यद्यपि शीघ्रं न सिध्यति तथाप्यनिर्विण्णेन निर्वेदरहितेन चेतसा योक्तव्यः। दुःखबुद्ध्या प्रयत्नशैथिल्यं निर्वेदः ॥२३॥

अनुवाद—इस प्रकारकी अवस्था-विशेषको ही दुःखसंयोगका वियोगरूप योग समझना चाहिए। दुःख शब्दके द्वारा दुःखमिश्रित वैषयिक सुखोंका भी बोध होता है। जिस अवस्थामें दुःखका संस्पर्शमात्र होते ही दुःखका वियोग होता है उस अवस्था-विशेषको योगशब्द-वाच्य समझना चाहिए। परमात्माके साथ क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवका जो संयोजन है, वही योग है। अथवा शूरवीरमें कातरता जिस प्रकार विरुद्ध धर्म है उसी प्रकार योगीका दुःखसंयोग भी असम्भव है। दुःखके संयोग-मात्रसे ही उसके दुःखका वियोग होता है—इसी अवस्थाका नाम योग है। कर्म भी जो योगनामसे अभिहित हुआ है, योगका उपायभूत होनेके कारण औपचारिक भावसे उसको भी योग कहते हैं। जिस योगका ऐसा महाफल है उसका यत्नपूर्वक अभ्यास होना चाहिए। उस योगका अभ्यास शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे प्राप्त हुए निश्चयके साथ करना चाहिए। यदि शीघ्र सिद्धि प्राप्त न भी हो, तथापि दुःख-बुद्धिसे प्रयत्नमें शिथिलता न हो ऐसे चित्तके द्वारा योगाभ्यास करना होगा ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यह अध्यात्मविद्या ही विद्या है—क्रिया ही विद्या है। बहुत दुःखोंसे सम्यक् प्रकारसे योग होता है अर्थात् प्राप्ति होती है। इसका विशेष-रूप भलीभाँति अटका रहनेसे ही योग कहलाता है। इसलिए गुरुवाक्यमें विश्वास करके निश्चयपूर्वक क्रिया करना उचित है अन्य ओर आसक्तिरहित होकर।—साधन करते समय साधकको (१) अध्यवसाय और (२) अनिर्विण्ण-चित्त होना अत्यन्त ही आवश्यक है। उसके अभावमें साधन करना असंभव है। शङ्कराचार्यने कहा है, "विद्या हि का ? ब्रह्मगतिप्रदा या।" जो ब्रह्मगति प्रदान करे वही असलमें विद्या है। यह बहुत दुःखसे प्राप्त तो होता है—'हँसि खेले नहि पिया मिलै'—जगत्के तुच्छ आनन्दमें जो हर्षित होते हैं, जगत्के खेलमें ही जो उन्मत्त रहते हैं, वे उस प्रियतम आत्माका सन्धान नहीं पाते—इस कारण भगवत्-साधना पहले नीरस जान पड़े, अथवा बहुत प्रयत्न करने पर भी कुछ न होता हुआ दीख पड़े तो उनके साधनके प्रयत्नमें शिथिलता आ सकती है अथवा निराशा आ सकती है। इसलिए अध्यवसायके साथ साधन करनेका उपदेश श्रीभगवान् दे रहे हैं। मैं प्राणपनसे साधनाभ्यास करूँगा, मेरी चेष्टा कभी व्यर्थ न होगी, भगवान् निश्चय ही कृपा करेंगे—इस प्रकारका विश्वास लेकर जो गुरुके उपदेशके अनुसार साधन करता रहता है, उसे वस्तुतः कभी निराश नहीं होना पड़ता, साधनाका फल तो फलता ही है। परन्तु गुरुके वाक्यमें दृढ़ विश्वास और साधनाकी दृढ़ता न होने पर विश्वासयोग्य फल सहज ही नहीं मिलता। विश्वास करके जो साधक दृढ़ प्रयत्न करते हैं उनकी साधनामें सिद्धि प्राप्त होनेमें विलम्ब नहीं लगता। अन्ततः साधना हमारे लिए अभीष्ट-फलप्रद होगी—साधकको यह समझनेमें बाकी नहीं रहता। परन्तु सावधान! अनिर्विण्ण चित्तसे गुरुके दिखलाये हुए मार्ग पर चलना होगा। महीने-महीने, साल-साल अक्लान्त भावसे वर्षों परिश्रम करते जाना होगा; कुछ प्राप्त न होने पर भी, कुछ समझमें न आने पर भी प्रयत्नमें कभी शिथिलता नहीं आने देनी होगी। उस समय भी मनमें यह विश्वास रखना होगा कि गुरुप्रदत्त साधना निश्चय ही शुभफलदायी होगी। अभी जो इसे ठीक नहीं समझ रहा हूँ, वह भी केवल अपनी दुष्कृतिका परिणाम है, ऐसा समझकर और भी दृढ़ प्रयत्नके साथ साधन करके जो अपनेको अभीष्टफलकी प्राप्तिके योग्य बना लेता है, उसका अध्यवसाय ही यथार्थ अध्यवसाय है। इस प्रकारकी धारणा पुण्यात्मा सौभाग्य-वान् साधकको ही होती है। योगदर्शनमें लिखा है—'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।' द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थानके लिए जब तक अवैराग्य और अविवेकके कारण मन चञ्चल होकर विषयोंमें रमण करता रहेगा, तब तक उसे यत्नपूर्वक विषयोंसे खींचकर आत्मामें पुनः पुनः स्थापन करना होगा—इसका ही नाम अभ्यास है।

साधकके मनमें इस प्रकारका एक विचार होना आवश्यक है कि यह शरीर अन्त तक नहीं रहेगा। इसको नाना प्रकारकी चिन्ताओं और विषय-भोगोंके द्वारा पल पल मृत्युके मुखमें डालनेकी अपेक्षा साधना करते हुए मृत्युको वरण करना सहस्रों गुना अच्छा है। विषय-प्राप्तिके लिए कितनी दौड़धूप करनी पड़ती है,

परन्तु उससे जो लाभ होता है वह कितना क्षुद्र, कितना सामान्य होता है। फिर भी इस तुच्छ विषय-प्राप्तिकी आशामें हम सारा जीवन निःशेष बिता देते हैं। यदि यही प्रयत्न विषयाभिमुख परिचालित न करके भगवत्प्राप्तिमें लगाया जाय तो इसकी अपेक्षा अधिक सौभाग्य मनुष्यके लिए और क्या हो सकता है? इस जगत्में कैसे कैसे दुःख, कैसी कैसी अशान्तियाँ निरन्तर लगी रहती हैं, यदि भगवद् भजनके द्वारा वह अशान्ति निवृत्ति होती है या उस दुःखका उपशम होता है, तो इसकी अपेक्षा परम लाभ और क्या हो सकता है? प्राणके अन्तरतम प्रदेशमें जो एक परम स्थिरभाव है उससे चित्तका सर्वथा उपराम प्राप्त होता है, वह निरतिशय स्थिरता ही ब्रह्म-स्वरूप है। प्राण ब्रह्मकी ही प्रकृति है, अतएव प्राणके भीतर भी एक असीम स्थिरताकी धारा रहती है। प्राणका चञ्चल बहिर्भाग भी जब उस असीम स्थिरतामें प्रवेश करके स्थिर हो जाता है, तब उस अचञ्चल स्थिर प्राणको ही आत्मा कहते हैं। यही परमा विद्या है और सचञ्चल भाव ही अविद्या-रूपा तथा महामोहमयी है, यही जीवकी बुद्धिको नष्ट करनेवाला अज्ञान भाव है। चिरस्थिर चिदानन्दमय परमात्मासे यह क्षेत्रज्ञ जीव स्वरूपतः भिन्न नहीं है। क्षेत्रज्ञ जीव शरीर और इन्द्रियोंके साथ मिलकर अपने आपको समझ नहीं पाता, इसीलिए उसको इतनी दुःख-दुर्गति तथा यह भव-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। यह जीव ही जब दुःख-शोकसे आर्त होकर अपने स्वरूपका अनुसन्धान करनेमें प्रवृत्त होता है तब फिर उसको स्वरूपानुभव होता है। निश्चय ही इसके लिए उसको बहुत परिश्रम और बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। जब वह अपनी भूलको समझता है तब वह अपने भ्रमसंशोधनमें ऐकान्तिक यत्न करने लगता है। यह यत्न या अभ्यास ही साधना कहलाती है। कुछ लोग प्रश्न कर सकते हैं कि जीवकी यह अवस्था पहले कैसे आती है? कौन उसे विषयोंमें प्रेरण करता है? अवश्य ही इन सारी बातोंकी मीमांसा केवल तर्कसे नहीं हो सकती। यही संसार-स्थितिका कारण है, महामायाका प्रभाव है। इसलिए जो कुछ होनेवाला है, वह होता रहे। ऋषियोंने इसे ज्ञानचक्षुसे देख लिया है तथा उच्च स्वरसे घोषणा की है कि जीव जो भगवन्मुखी नहीं होना चाहता, विषयोमें ही रमण करना चाहता है—इसका कारण है प्राणकी विकृति। प्राणकी इस विकृतिका रोध जब तक नहीं होता, तब तक अपने स्थान पर लौटना इसके लिए असम्भव है। यह प्राण ही गतिशील होकर अर्थात् वायुरूपमें मनको उत्पन्न करता है, तथा वह जीवदेहको आश्रय करके निरन्तर विषयोंकी ओर दौड़ता है। इसीसे जहाँ प्राणकी चञ्चलता रहती है, वहाँ ही मन और उसका विषयभ्रमण-व्यापार भी चलता रहता है। वहाँ ही शरीर और इन्द्रियोंकी भी नाना चेष्टाएँ चलती रहती हैं। इस प्राणको रोकना होगा। "मनोनाथस्तु मारुतः"—मनका चालक प्राणवायु है। इस असीम चाञ्चल्यके अन्तरालमें प्राणका जो महास्थिर भाव वर्तमान है, वही महामहेश्वर भाव है, वही ब्रह्मस्वरूप है। समस्त चञ्चल प्राणवायुका

आश्रय वही है, इस सर्वव्यापी प्राणवायुको शुद्ध करना ही भवरोगसे परित्राण पानेका उपाय है ॥२३॥

नोट—पूर्वकालमें ऋषि लोग योगाभ्यासके द्वारा सारी वायुकी गतिको स्थिर करके महाप्राणका सन्धान प्राप्त करते थे, तथा भगवत्स्वरूपका अनुभव करके जीवनको कृतार्थ करते थे। योगशास्त्रमें इन सब उपायोंका वर्णन है। परन्तु यह रहस्यमय योगशास्त्र वर्तमानकालमें अनधिकारियोंके हाथमें पड़कर एक प्रकारसे अर्थशून्य हो गया है। कालके प्रभावसे हम इस परम योगविद्यासे वञ्चित हो गये हैं। इस समय योगके यथार्थ वक्ता अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। इस युगमें जिस महापुरुष (योगिवर श्यामाचरण लाहिड़ी) ने जन्मग्रहण करके जनसमाजमें इस रहस्यमय योगसाधनाका पुनः प्रचार किया था, उन्हींकी व्याख्या की हुई पुस्तकसे शरीरस्थ प्राणादि वायुके सम्बन्धमें कुछ विस्तृत आलोचना की जाती है। पाठक ध्यानपूर्वक इस अंशको पढ़ें तो अनेक रहस्यमय बातोंका मर्म समझ सकेंगे और यह भी जान लेंगे कि अत्यन्त प्राचीनकालमें ऋषियोंके बीच इस योगविद्याका इतना समादर क्यों हुआ था। भगवद्गीतामें भी इस रहस्यमय विद्याकी सुविस्तृत आलोचना है।

"सारी चञ्चल वायु स्थिर वायुके आश्रित हैं। यह स्थिर वायु (प्राण) ही ब्रह्मदेव हैं, उनके सात स्कन्ध हैं। वे सात प्रकारकी वायु स्कन्धके ऊपर हैं, वे अदृश्य हैं, केवल क्रियाके द्वारा उनका अनुभव होता है। इस सप्तस्कन्ध वायुमें एक वाम दिशामें प्रवाहित होती है—उसका नाम इड़ा है। द्वितीय—दक्षिणदेशमें प्रवाहित होने वाली पिङ्गला है। तृतीय—मेरुदण्डके मध्यभागमें प्रवाहिता सुषुम्ना है। ये ही तीन प्रधान नाड़ियाँ हैं। चतुर्थ—वामचक्षुमें पूषा या ताम्रपर्णी है। पञ्चम—दक्षिण चक्षुमें अलम्बुषा या गौतमी है। षष्ठ—दक्षिण कर्णमें हस्तिनी या सिन्धु है। सप्तम—वाम कर्णमें गान्धारी या कावेरी है। इन सप्त स्कन्धोंकी सप्त शाखायें हैं—और वह सब मिलकर उनचास हैं।

नाभिमें जो स्थिर वायु है उसका नाम 'समान' है। यह दुर्जय है अर्थात् इसकी जय कठिनतासे होती है। यह स्थिर वायु जब कण्ठमें जाकर डकार उठाती है तो इसका नाम 'उदान' पड़ता है। यह वायु जब कण्ठकी चाप पाकर सर्व शरीरमें गमन करती है तो 'व्यान' नामसे अभिहित होती है। यह 'व्यान' गुह्यदेशमें जाकर 'अपान' नाम धारण करता है। 'अपान' हृदयमें जाकर 'प्राण' नाम ग्रहण करता है। इन सारे प्राणादिकोंके विभिन्न कर्मोंके अनुसार फिर विभिन्न गति और नाम होते हैं, उन सबका उल्लेख किया जाता है।*

प्राणका कर्म है चेष्टा करना। यह चेष्टा जिन वायुके द्वारा होती है उनके नाम ये हैं—(१) प्रवह—इसका रूप विद्युत्के समान ज्योतिर्मय है। (२) आवह—इसका कर्म जीर्ण करना है, इसका रूप बालसूर्यके समान है। स्थान

---

* इनके स्थान षट्चक्रके चित्रमें देखिये।

अन्तर्देहमें है, यही उदान है, इसी वायुके द्वारा चन्द्र उत्पन्न होते हैं। (३) उद्वह—यह चार समुद्रोंके जलको धारण करता है और ऊर्ध्व वहन करता है। अर्थात् समस्त शिराओंके द्वारा शरीरके चारों ओर रक्त सञ्चालन कर रहा है, और श्वास खींचनेके समय ऊर्ध्व अर्थात् मस्तककी ओर ले जाता है, और श्लेष्मा रूप मेघ, तथा श्लेष्माका निर्गमन रूप वर्षण करता है। मस्तकमें चार समुद्र हैं—मुख, नाक, चक्षु और कर्ण। इन चार समुद्रोंमें वायुकी गति सदा ही होती रहती है। इससे ही क्रियाकी परावस्था स्थिर रूपमें सारे शरीरमें चलती है। इसीसे इसके रूप और स्थानका निर्देश नहीं है, इसका ही नाम व्यान है। (४) संवह—इस वायुका कर्म है उपर्युक्त समस्त मेघरूपी श्लेष्माको कमजोर करके नीचे लाना, वर्षण और मोक्षण करनेका उद्योग करना। इस उद्योगके होते ही मेघरूपी समस्त श्लेष्मा घर्म (पसीना) हो जाता है अर्थात् समस्त श्लेष्माको यह खण्ड खण्ड करके बाहर कर देता है और विशेषरूपसे शरीरसे मोक्षण करता है। इसी समय श्लेष्माकी अधिकता होनेसे सारी नदियाँ स्रोतवती होती हैं—अर्थात् इड़ा गङ्गा, पिङ्गला यमुना, गान्धारी कावेरी, हस्तिनी सिन्धु, पूषा ताम्रपर्णी, अलम्बुषा गौतमी, सुषुम्ना सरस्वती (ऊपर और भीतर दोनों स्थानोंमें प्रवाह है—इसी लिए इसके दो रूप माने जाते हैं), कुहू नर्मदा, वारणी (इसके भी दो प्रवाह हैं), गोमती सब अङ्गमें पयस्वनी—ये द्वादश वायु नदीरूपमें समस्त शरीरमें प्रवाहित हो रही हैं। इन सारी वायुकी गतिके द्वारा समस्त जीव जीवित हैं। ये सारी वायु जिसके द्वारा मस्तकमें जा रही हैं वे हैं पञ्चभूत। यह रथरूपी शरीर अपान वायु अर्थात् उत्तम प्राणायामके द्वारा ऊर्ध्व गतिको प्राप्त होता है। अपान वायुके द्वारा ही गिरिमर्दन होता है, अर्थात् वह मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर मस्तक फाड़कर चली जाती है (योगियोंकी मृत्यु इसी प्रकार होती है)। भूकम्पके समय जैसे पर्वत गिरते हैं उसी प्रकार योगियोंकी मृत्युके समय शरीर त्याग होता है। (५) विवह—इस वायुके व्यतिक्रमसे सब रोग उत्पन्न होते हैं, इसके रूखेपनसे रजोगुण अर्थात् क्रोध उत्पन्न होता है। इस समान वायुके साथ यदि मेघरूपी श्लेष्माका योग होता है, तब वह मृत्यु और दारुण उत्पातका सञ्चार करता है और आकाशमें मिल जाता है। (६) परिवह—इस वायुके द्वारा सब आकाशमय हो जाता है। जल चलता है, पक्षी उड़ता है, और इसके द्वारा इड़ा नाड़ी स्थिर रहती है, दूरसे इसके द्वारा हत होता है, सूर्यकी रश्मि होती है—जिसकी अनन्त किरणोंसे यह वसुन्धरा प्रभाविशिष्ट है, जिसके द्वारा चन्द्रकी पूर्णता और कलासे वसुन्धरा शीतल होती है। जो श्रेष्ठ हैं वे इस वायुका जप करते हैं। (७) परावह—यह वायु सारे प्राणियोंका भरण-पोषण करती है और मृत्युकालमें निर्गत हो जाती है। इसीके द्वारा जीवन और मृत्यु होती है।

श्वास-प्रश्वास अर्थात् प्रकृष्टरूपमें श्वसन, वायुके द्वारा चलता है। परन्तु कूटस्थके शरीरमें रहनेसे ही सारी वायु कार्य करती हैं। पृषदश्य नामक वायु अदृश्य गतिसे त्वचामें जाती है—उसके द्वारा ही त्वचामें स्पर्शशक्ति आती है। शीत, उष्ण, कठिन, नरम—ये सब स्पर्शके द्वारा ही अनुभूत होते हैं। नासिकामें गन्धवाह नामक वायु

है, इस वायुशक्तिके प्रवाहके द्वारा गन्धका ज्ञान होता है। वाह नामक वायु उस गन्धबोध को कुछ समय धारण करके चलाती है और उसमें नियुक्त रहती है। यह प्रवाह कुछ देर तक रहने पर भोगिकान्त नामक वायुकी गतिके द्वारा इस गन्धकी पुनः प्राप्तिकी कामना होती है। श्वसिनी वायुके द्वारा महाबली पराक्रान्त आकर्षणका जीवको अनुभव होता है। जीवके सारे कर्म इस प्रवाहशक्तिके द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। क्रियाके द्वारा इच्छारहित हुए बिना, यह महाबली जो सबसे बलपूर्वक अनावश्यक सारे कर्म करा रहा है उससे मुक्त होनेका और कोई उपाय नहीं है। इच्छारहित न होनेसे ही क्लेशभोग होता है। भोगिकान्त वायुके कारण सभी इस क्लेशको सहन करते हैं। यह भोगिकान्त ही प्राण है, इसीका एक नाम इड़ा है। इसका रूप विद्युत्के समान, स्थान हृदयसे भ्रूपर्यन्त है, इसको प्रवाहवायु भी कहते हैं। इस प्रवाहके भीतर सभी पड़े हुए हैं, यही वायु सबके हृदयमें कर्त्ता होकर बैठी है। इसकी उत्पत्ति आकाशसे होती है, आकाशकी उत्पत्ति कूटस्थ ब्रह्मसे होती है। कूटस्थ ब्रह्म ही गुरु है, आकाश गुरुपुत्र है और इड़ा पौत्र है। ये पौत्रपर्यन्त गुरुवत् मान्य हैं। वायु प्रत्यक्ष ब्रह्म है। श्रुतिमें लिखा है—'वायो त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि'। यही कर्त्ता होकर सब कर्मोंकी चेष्टा करती है तथा त्वचाका अध्यात्म बन कर ऐसी चेष्टा कर रही है कि सारे स्पर्शोंका भोग हो सके। गुरूपदेशके द्वारा इसका साधन करने पर स्वप्रकाश-स्वरूप अधिदैवत पुरुष प्राप्त होता है। इसीकी ज्योतिसे चक्षुद्वारा रूपका, कर्णद्वारा शब्दका तथा जिह्वाद्वारा शब्दसमूहके निर्गमन तथा मधुरादि रसका अनुभव होता है। इसके विकारसे ही सब रोगोंकी उत्पत्ति होती है। कर्त्ताके विकारसे प्रजामें विकार, और उससे क्लेश उत्पन्न होता है। यह जब तक देहमें है तभी तक मनुष्यको आयु और बल है। यही विश्व-जगत्में है और कूटस्थसे उत्पन्न हुई है। इसीके नाम हैं जीव, ईश। यह लिङ्गमें विष्णु और गुह्यमें ब्रह्मा नाम धारण करके सब लोकोंमें रहती है। यह जगत्-मय है, इसके नाशसे सारी इन्द्रियोंका नाश होता है। यह अपान वायुके द्वारा आकर्षित हो रही है, अपानका दूसरा नाम पिङ्गला है। इसकी गति नीचेकी ओर अर्थात् नाभिसे गुह्य पर्यन्त है। जीर्ण करना हो तो वामनासिका द्वारा प्राणायाम करने पर शीघ्र जीर्ण हो जाती है, यही संवह और समीर नामसे ख्यात है। समीर—स= नितम्ब, म=मणिबन्ध, ई=शक्ति, र=दृष्टि अर्थात् मणिबन्धसे नितम्ब पर्यन्त गतिका परिमाण है। निद्रित व्यक्तिको प्रातःकालकी वायु जैसे जाग्रत करती है उसी प्रकार गुरुवाक्यके द्वारा कुलकुण्डलिनी जो मूलाधारमें है उसको सम्यक् प्रकारसे जाग्रत करने पर (अर्थात् मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त स्थिर रखना) —यह स्थिरपद मनुष्यको मोहनिद्रासे जाग्रत करता है। इस स्थिर वायुका नाम "अजगत् प्राण" है। जगत् शब्दसे गति, अ शब्दसे नहीं—अर्थात् अनन्त स्थिति। प्राण जो ऊपर है वह अपान स्थितिमें आता है अर्थात् क्रिया करके अपने आप स्थिर हो जाता है। जिस प्रकार चुम्बक-पत्थरमें लोहा स्पर्श करने पर लोहा चुम्बकका गुण धारण करता है उसी प्रकार प्राणके कर्म श्वास-प्रश्वास स्थिर हो जाते हैं, विपरीत

गमनादिकी इच्छा नहीं होती। क्रियाकी परावस्थामें रहने पर कोई वस्तु-स्पर्श नहीं होता। नाकके समीप कोई सुगन्धित वस्तु होने पर भी उसको गन्ध-ग्रहणकी इच्छा नहीं होती। इस प्रकारकी निवृत्तिका उपाय योगियोंके पास सहज ही क्रियाके द्वारा प्राप्त होता है। उस निवृत्तिके द्वारा ब्रह्ममें स्थिति होती है। जो क्रिया नहीं करते उनकी ब्रह्ममें स्थिति नहीं होती, ब्रह्ममें स्थिति न होनेसे प्राण नासिकाके द्वारा कूटस्थमें स्थिर होकर छिन्न देशमें अर्थात् योनिमें आकर जन्मग्रहण करता है। इस बद्धावस्थामें कुछ दिन रहते रहते किसी दोषसे अथवा अधिक कर्म करनेसे उसके वेगका ह्रास होता है। वेगका ह्रास होनेसे इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं अथवा एक-बारगी उनकी क्रियाका अवरोध हो जाता है—अर्थात् तब अपानकी आकर्षणशक्ति न होनेसे प्राण किसी न किसी द्वारसे बाहर निकल जाता है, और मृत्यु हो जाती है। वसन्त ऋतुके अवसानमें कोकिल, भ्रमर और नव पल्लव इत्यादिका अभाव हो जाता है, उसी प्रकार प्राणके अभावमें तेजका एक-अष्टमांश और तेजके एक-अष्टमांशके अभावमें जलका एक-अष्टमांश अन्तर्हित हो जाता है, जलके एक-अष्टमांशके अभावमें मृत्तिकाका एक-अष्टमांश अन्तर्हित हो जाने पर वे सब व्योम अर्थात् कूटस्थमें जाकर मिल जाते हैं अर्थात् जहाँसे आये थे फिर वही हो जाते हैं। इसी कारण साधक रामप्रसादने कहा है कि मरनेके बाद—"या छिले भाइ ताइ हबे"—यानी तुम जो थे वही होगे।

कुलकुण्डलिनी सार्द्ध त्रिवलयाकृतिमें है। उसकी अर्द्धमात्रा स्थिर अर्थात् अमर है। अपरार्द्ध चञ्चल है, यह चञ्चल भाव अपनी शिथिलतासे स्थान-च्युत होनेके कारण फिर नाभिपर्यन्त आ-जा नहीं सकता, इसीसे प्राणको भी स्थान-च्युत होना पड़ता है। स्थिरार्द्ध—मणिपूर, स्वाधिष्ठान, मूलाधारमें रहता है, उसका नाश नहीं होता, और चञ्चलार्द्धको क्रियाद्वारा स्थिर करने पर फिर प्राणको स्थानच्युत नहीं होना पड़ता। स्थानच्युत न होनेसे मृत्यु भी नहीं होती। स्थान-च्युत होनेकी कोई इच्छा नहीं करता, इसी कारण हृदयको अनाहत कहते हैं। प्राणके विकारसे अन्यान्य वायुओंका विकार होता है। इस प्राणकी स्थिति ईश्वर-रूपमें हृदयमें रहती है। मूल यदि दृढ़ न हो तो वृक्ष किसी प्रकार खड़ा नहीं रह सकता। वायु रबड़के समान स्थितिस्थापक होता है। रबड़को ऊपरकी ओर खींचने पर नीचेके भारके साथ जैसे वह ऊपर उठता है, उसी प्रकार अपानकी शक्तिका ह्रास होने पर प्राण जैसे ऊपरकी ओर खींचता है वैसे ही उस खिंचावके साथ नाभिकी समानवायु रबड़के समान ऊपर उठ कर मणिबन्धमें जाती है, वहाँ नीचेका आकर्षण न होनेके कारण वह और नीचे नहीं आ सकती।

इसी समय स्वाधिष्ठान अर्थात् अधिष्ठानके साथ स्थिति (बुद्धिमें स्थिर) होती है—यहाँ राधाकृष्ण रहते हैं अर्थात् कूटस्थ और ज्योति। यह ज्योति योनिमें जन्मग्रहण करती है। यह समानवायुके अभावमें स्थिर न रहनेके कारण प्राणके खिंचावके साथ रबड़के समान मणिबन्धमें गमन करती है, जिससे जन्ममृत्युके

कर्त्ताका अभाव होता है। उसके बाद मूलाधार अर्थात् सबका आधार जो मृत्तिका है वह सबके अभावमें जैसीकी तैसी मृत्तिका ही रह जाती है। ये सब जानेके समय कण्ठ होकर गमन करते हैं, कण्ठमें सदाशिव जीव रहते हैं। जब सभी कण्ठ पर्यन्त गमन करते हैं तब जीव देखता है कि अब मैं भी चला। उस समय यदि जीव विषय-चिन्तन न करके अभ्यासके द्वारा उस विशुद्धाख्य कूटस्थकी चिन्ता कर सके तो जीवकी मुक्ति हो जायगी, और विषय-चिन्तन होने पर जीवका फिर जन्म होगा।

अपान वायु कुलकुण्डलिनी-स्वरूपा नित्य ब्रह्म है, वह विशुद्धाख्यमें जाकर अन्य वस्तुमें मन लगानेके कारण भोगके लिए जन्मग्रहण करती है। फिर इस प्रकारकी वस्तुमें मन क्यों नहीं लगता? स्थिति-च्युत होनेमें सामान्य कारण विषय हैं, उनमें अभ्यासवश मन सहसा चला जाता है, अतएव स्पर्श यानी प्राणवायु दोषका कारण बनती है। क्योंकि स्पर्श यानी तेज बाहरकी वायुके आघातसे सूक्ष्मरूपमें मिलकर समस्त द्रव्योंको गला देता है अर्थात् समस्त द्रव्योंमें मन चलायमान हो जाता है। ब्रह्म स्वयं ही अदृश्यभावसे उनचास वायु होकर अनन्त प्रकाश-क्रियाएँ करते हैं।

इसको देख न सकनेके कारण ही इतनी गड़बड़ी है, देखने पर कोई गड़बड़ी नहीं रहती। बाहरकी वायु यद्यपि चक्षु-इन्द्रियके द्वारा देखनेमें नहीं आती, परन्तु स्पर्शेन्द्रियके द्वारा अनुभूत होती है, इसी कारण वह स्पर्शेन्द्रिय-ग्राह्य और दृश्य है। पचास हाथ मृत्तिकाके नीचे जो सूक्ष्म वायु है वह स्पर्शेन्द्रियके द्वारा भी उपलब्ध नहीं हो सकती। तुम्हारी नाभि तक जो वायु आती है और जाती है, उसको तुम अनुभव करते हो, परन्तु मृत्तिकाके नीचे मूलाधारमें जो वायु स्थिर-भावसे तथा सूक्ष्मरूपसे आती और जाती है, उसका अनुभव नहीं किया जा सकता। इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण न कर सकनेके कारण ही वह अदृश्य है। मनुष्य जन्म लेनेके साथ ही मर जाता, परन्तु अपान वायुकी स्थितिशक्ति अचानक उसको मरने नहीं देती। इसलिए विशेषरूपसे प्रयत्न द्वारा क्रिया करके यदि अपान वायुमें जाय तो विशेषरूपमें स्थिति होती है। विशेषरूपसे करने पर विशेषरूप देखनेमें भी आता है। इसीलिए क्रिया करो। क्रिया करने पर भी तो मन चञ्चल रहता है! जैसे एक पक्षी उड़कर भ्रमण करता है उसको पिंजड़ेमें बन्द करने पर भी वह जैसे भागनेकी चेष्टा करता है, उसी प्रकार क्रिया करके अपान वायुमें स्थिति होने पर भी अभ्यासवश प्राणका खिंचाव होता है अर्थात् चारों ओर जानेकी चेष्टा होती है। चारों ओर जानेके समय काँपता रहता है। इसी कारण वायुका एक नाम प्रकम्पन है। चुम्बकके पास लोहेको रखने पर चुम्बक जिस प्रकार लोहेको आकर्षण करता है, उसी प्रकार सर्वगुणविशिष्ट स्थितिस्वरूप ब्रह्ममें प्राणवायु आकर्षित होने पर प्राणको सर्वज्ञत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वशक्तिमत्व गुण प्राप्त होता है, इस प्रकार अवरोध करनेके बाद कण्ठ पर्यन्त अवरुद्ध रहता है। तत्पश्चात् इस स्थिर वायुके मस्तकमें रुकने पर वहाँ भार सा जान पड़ता है और

एक प्रकारका नशासा चढ़ जाता है। जो बाह्य और आभ्यन्तरिक बोधका कर्त्ता है, उसका कर्त्ता यह वायु है। त्वचाके अभ्यन्तरको वायु धारण किये रहती है, इसीसे शरीरमें बलका बोध होता है, और क्रियाके द्वारा जो बल आता है उसका नाम है शक्ति। इस शक्ति-चालनकी बात तन्त्रमें है, शक्ति चालनसे कुलकुण्डलिनी जाग्रत होती है। जिनको कुछ कुछ अनुभवावस्था प्रकट हुई है—वह जिस वायुके द्वारा होता है, उसका नाम है अपान; इस वायुके न रहने पर भूख नहीं लगती। भूखके समय कूटस्थसे मूलाधार पर्यन्त खिंचाव पड़ता है। उपर्युक्त प्राण और अपानकी गतिसे समान वायुकी उत्पत्ति होती है—अर्थात् क्रियाकी पर अवस्था (स्थिति) होती है, यही पुरातन योग है जो गीतामें कहा गया है। इस वायुकी सूक्ष्म गति है, इसीका नाम सुषुम्ना है। इसके रहनेका स्थान नाभि है। यह विशेषरूपसे जीर्ण और विरेचन कर रही है, इसीसे इसका नाम 'विवह' है। यह नितम्बसे कूटस्थ पर्यन्त गमनागमन करके स्वयं स्थिर होकर दोनों दिशाओं अर्थात् अधो और ऊर्ध्वको घर्षण द्वारा अग्नि प्रज्वलित करके भक्षित द्रव्यादि (चर्व्य, चुष्य, लेह्य, पेय) को पहले शुष्क करके पचाती है, पश्चात् नाभिमें इसका स्थान होनेके कारण उसमें मल-त्यागकी चेष्टा उत्पन्न कर मलको बाहर करती है, जिसको शास्त्रमें विरेचन कहते हैं। यह विशेषरूपसे प्रकुञ्चन-शक्तिके द्वारा बाहर निकाल डालती है। मूलाधारसे नाभि तक जो अपान वायुका खिंचाव है, उसका पहले नाभिमें स्पर्श होता है, तत्पश्चात् सर्वत्वचामें जो स्पर्श-वायु है उसका स्पर्श-बोध होता है। इस स्थान पर जाकर, मेरुदण्डकी ओर सरल भावसे रहने पर, मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाकर सारे मनकी बातें बोल सकता है। क्योंकि उस समय ब्रह्ममें रहकर सब कुछ देखता है—जिस प्रकार कूटस्थमें अर्जुनने सारा भविष्य देखा था—यही विराट् मूर्त्ति है जिसे योगी लोग देखते हैं।

इस कूटस्थमें बिना प्रयासके ही सब कुछ देख सुन सकते हैं। बिना प्रयासके समस्त गन्ध और स्वादानुभव तथा स्पर्श-बोध होता है। इसकी स्थितिमें ही जगत्की स्थिति है। इसके भीतर जो सारी मूर्त्तियाँ दीख पड़ती हैं उनकी गति भी देखनेमें आती है। परन्तु समाधिमें गतिका अनुभव नहीं होता, क्योंकि उस समय वह आप ही नहीं रहता। जब भलीभाँति समाधि होती है तब शून्यका जैसे अन्त नहीं है वैसे ही स्थिरत्वका भी अन्त नहीं होता। यह स्थिर आकाश जो समाधिमें दिखलायी देता है उसमें भी दो आना वायुका अंश है। जब बिल्कुल गतिविहीन हो जायगा तब एक ब्रह्माकार हो जायगा। यहाँ रहने पर निम्नलिखित चिह्न दीख पड़ते हैं—मृदु भाषण, अल्प गन्धबोध, रसास्वाद, रूप देखनेकी इच्छा और अल्प स्पर्शशक्ति। यह स्थिर वायु जब कण्ठमें जाती है तो कालका अनुभव होता है, अर्थात् ब्रह्ममें रहना होता है, वहाँ रहने पर भूत, भविष्यत् और वर्तमान सबका अनुभव होता है।

क्रियाकी परावस्था ही 'आत्मा' है। उस समय मनका और कोई धर्म नहीं रहता, तभी मन "मम साधर्म्यमागताः" बनता है। नाभिमें मनका आधार है,

इस स्थानसे ही शब्दकी उत्पत्ति होती है, वह वायु अपनेसे ही स्थिरमें मिल जाती है, तब मनमें मन मिल जाता है, यही परमपद है।

समान वायु—इस वायुमें रहने पर सदा समान अवस्था रखती है, इसी कारण इसका नाम समान वायु है, यह सबका पोषण करती है। यह वायु सबकी गतिको समान करती है, इसलिए इसमें सर्वदा रहना चाहिए। मन किसी एक वस्तुमें समानरूपसे रहते रहते फिर नहीं रह सकता, क्योंकि मनको अपान त्याग कर प्राणमें जाकर पृथक् कर देता है, और उस स्थानसे पृथक् होनेमें कोई क्लेश बोध नहीं होता। यह सृष्टि-सङ्कल्पका नाश करती है, अतएव स्थितिपद या अमरपदकी प्राप्ति इसके द्वारा ही होती है। इसकी स्थितिसे ही चर्म स्थिर होकर वृद्धिको प्राप्त होता है, यह स्थिरत्व न होता तो इसके सारे अणु भीतरमें पृथक् हो जाते। भीतरका स्थितिस्वरूप आकाश शरीरके ऊपर भी है। ब्रह्माणु दस गुना होकर आकाशमें मिले हैं, इसी कारण ब्रह्म ब्रह्मको स्पर्श करें तो यह अपने आप जान पड़ता है। ब्रह्मके अणु आकाशमें रहनेके कारण, आकाश अनन्त दीख पड़ता है। पृथ्वीका अणु आकाशके अणुका लाख गुना है। आकाशके अनन्त अणुके स्थिरभावसे दबावके कारण यह ऊपरके चर्मके अणु गलकर नहीं गिरने पाते बल्कि स्थिर भावसे रुके रहते हैं और रक्तके दबावके वश श्वासके खींचने और फेंकनेके साथ साथ पदाङ्गुलिसे मस्तक पर्यन्त द्रुतगतिसे भीतर ही भीतर आते जाते हैं। जिसका रङ्ग, पहले रस होनेके कारण जलवत् होता है, पश्चात् हृदयमें जाकर रक्तवर्ण धारण करता है, वह रक्त तेजके द्वारा समान वायुमें आकर सर्वत्र व्यापक हो जाता है। इस रक्तको भी स्थिर वायु स्थिर रखती है, स्थिर न होने पर यह रक्त फटकर बाहर निकल जाता। इस स्थितिके होनेसे ही मनुष्यकी स्थिति है। मरुत्के स्थिरत्वकी बात योगी लोग जानते हैं, जिसकी वुद्धिसे अमरत्वपद प्राप्त होता है। मरुत्के न रहने पर सभी मर जाते। इसीसे मरुत् शरीरका प्रत्यक्ष कर्त्ता है। 'वायो त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि'। जिसने सृष्टि की है (ईश्वर) वह सबके हृदयमें स्थिररूपमें विराजमान हैं। क्रियावान् लोग इस समान वायुमें रहकर समदर्शिता प्राप्त करते हैं। इसीका नाम योग है—'समत्वं योग उच्यते'—इस समान वायुमें स्थिर होने पर भ्रूमध्यमें एक ज्योति दीख पड़ती है, निर्वात दीपके समान। वही सूक्ष्म शरीर है।

व्यान—उपर्युक्त वायु ही सारे शरीरमें जाकर व्यान नाम धारण करती है। इस वायुनाड़ीका नाम 'पूषा' है। सारे शरीरकी वायुको आबद्ध करने पर वह सूर्यके समान दीख पड़ती है, उसे ही कूटस्थ ब्रह्म कहते हैं, इसके भीतर ब्रह्म है। उसकी गति ऊर्ध्व है, विशेष गति योनिसे कण्ठ पर्यन्त है, इसीकारण इसका नाम 'उद्वह' है। उत्तर दिशाकी वायु जिस प्रकार निद्रित व्यक्तिको जाग्रत कर देती है, उसी प्रकार कूटस्थ-दर्शन सबको जाग्रत कर देता है। काम-क्रोधादि जितने शत्रु हैं, उनको इस वायुके द्वारा ही जय किया जाता है, और इस वायुके द्वारा ही आकाशमें दीप्ति होती है, अर्थात् कूटस्थका दर्शन होता है। सर्वदा शरीरमें मन लगानेसे अर्थात् व्यानमें रहनेसे अपरिपाक उत्पन्न होता है। मृत्यु हो जानेपर यह

वायु शरीरको फुला देती है। यह वायु सारे शरीरमें वेगसे चल रही है। इस वायुके द्वारा जीव सोचता है अर्थात् क्या कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य है यह विचारता है। यह सब शरीरमें व्याप्त है, इस वायुकी शक्तिके द्वारा ही सब मांस धृत हो रहा है, शरीरसे गिर नहीं पड़ता। यह हरिणके समान छलाँग मारकर निःश्वासके साथ मस्तक पर्यन्त जाती है तथा प्रश्वासके साथ पदाङ्गुलि पर्यन्त नीचेकी ओर जाती है। इसकी गति विद्युत्के समान है। यह व्यान वायु अपने शरीरको पूर्ण करके दूसरेके मनके अभिप्रायको व्यक्त कर सकती है। यह वायु सब शरीरमें रहती है, इसीलिए इसका नाम व्यान है। परन्तु इसकी प्रधान अभिव्यक्तिका स्थान है चक्षु, कण्ठ और मूर्द्धा। इस वायुकी शक्तिसे जम्हाई उठती है। जो सदा जम्हाई लेता रहता है, वह इसी वायुमें रहता है। इसमें रहने पर गुह्य तथा सब अङ्गोंका आकुञ्चन किया जाता है, मलका आकुञ्चन और प्रसारण इसीके द्वारा होता है। दूसरेको वशीभूत करना, जहाँ तहाँ मनके द्वारा जाना और सबके मनके भावको जानना इसी वायुकी शक्तिसे होता है।

उदान—व्यानवायुकी ऊर्ध्व गमनकी शक्ति होनेसे इसका एक नाम उदान है। इसका स्थान कण्ठ, मस्तक और नासिकाका प्रान्त भाग है। इस वायु-नाड़ीका नाम अलम्बुषा है। डकार लेते समय इच्छा होने पर इसका अनुभव किया जा सकता है। यह जब व्यानसे पुनरागमन करता है तब इसको अवाह कहते हैं। इसकी गति मूलाधारसे नासिका पर्यन्त है। यह गन्धको ऊर्ध्व वहन करता है, अर्थात् गन्धके अणुको वहन करके लाता है। इसी कारण जो जैसा आहार करता है, उसकी डकार भी तदनुरूप गन्ध लेकर उठती है। यह स्वर्ग, मर्त्य और पाताल इन तीन स्थानोंका ही सुख देने वाला है। डकार उठनेसे गुह्य-द्वार, पेट और मस्तकके रोगका निवारण होता है। यह जब तक है तब तक कूटस्थमें कोई नहीं रह सकता। इस वायुकी जब योनिसे कण्ठ पर्यन्त गति होती है, तब इसका नाम पवन होता है। क्योंकि यह शरीरको शुद्ध और पवित्र करती है। डकारको बाधा नहीं दी जा सकती, सर्पके फणके समान ऊर्ध्व दिशामें इसकी गति होती है। प्राणायामसे इसके द्वारा मस्तकमें ऊर्ध्व गति होने पर निश्चय ही ब्रह्मपद प्राप्त होता है। ब्रह्मपदमें रहने पर श्वास प्रश्वास बाहर नहीं चलते, भीतर ही भीतर चलते हैं। यह त्वगिन्द्रिय-व्यापी है, इसके द्वारा कूटस्थ दर्शन होने पर पापका नाश होता है। उद्‌गीरणके कारण इसका नाम उदान है। प्रायः एक ही बार लोगोंको होता है, इसलिए इसका नाम सकृत् है। यह सकृत् एक बार उठने पर फिर उतरना नहीं चाहता। मस्तकमें उठकर रहनेके कारण इसको परिवह कहते हैं अर्थात् ऊपर या मस्तकमें वहन करता है, इसी कारण इसके द्वारा मस्तकमें भार होता है। यह वायु सबमें ही रहती है, परन्तु किसीको इसका अनुभव नहीं होता। इस नाड़ीका नाम गान्धारी है। यह वायु सबको जानकर भी जानने नहीं देती। जैसे चक्षु होते हुए भी अन्धा। गुरुवाक्यसे क्रियाका अनुभव होने पर भी जिस वायुके द्वारा

क्रिया करनेमें मन नहीं लगता उसका नाम अनिल है। यह वायु गुह्यद्वारसे ब्रह्मरन्ध्रमें ब्रह्मयोनि पर्यन्त बहुत देर तक रहती है। वर्ण नीलपरन्तु धूमकी अपेक्षा भी पतला होता है। इसके स्थिर रहने पर सारा शरीरनीरोग रहता है, और व्यतिक्रमसे अनेक रोग होते हैं। यह वायु शीत और उष्णसे वर्जित सदा वसन्तकालके समान होता है। यह भीतर ही भीतर सर्वदा रहती है, इसको कोई जय नहीं कर सकता। इसका एक और नाम समीरण है। जैसे पश्चिमकी हवा शीतल और स्वास्थ्यप्रद होती है, यह वायु भी वैसी ही होती है। इसका और एक नाम सुषेण है अर्थात् शीघ्रतापूर्वक सब वस्तुओंका अर्थ ग्रहण करती है। जैसे बाज पक्षी दूसरे पक्षियोंको पकड़ता है, उसी प्रकार यह ब्रह्ममें रहकर सूक्ष्म वस्तुओंका अनुभव करता है। इससे स्थिर भाव प्राप्त होता है, तब श्वास कम और प्रश्वास अधिक होता है। यदि यह स्थिर वायु न होती तो प्रश्वास ही न होता, क्योंकि श्वासके ऊपर जाकर स्थिर वायुके प्रतिघातसे नीचे आनेका नाम प्रश्वास है। सुषेण वायुमें अच्छी तरह रहनेसे शीत-उष्णका बोध नहीं होता। इस वायुमें रहने पर बहुत दूरकी वस्तु देखनेमें आती है। इसी कारण क्रिया करने पर साधक भविष्यद्वक्ता होता है, भूतकालके विषयोंको भी देख सकता है। जब भूतभविष्यत दोनोंको देख लिया, तब वर्तमान विषयको देखनेकी बात ही क्या ? इस कारण इस वायुका नाम प्रसदीक्ष अर्थात् दूरदृष्टि है। जो क्रिया नहीं करता, उसे वायुका विषय समझनेकी क्षमता नहीं होती। इसका और एक नाम सुखाष है, अर्थात् इस वायुमें या ब्रह्ममें रहनेमें विशेष सुख होता है। यह सुखदाता है, इसमें जितना ही रहोगे उतना ही सुख मिलेगा। जो जिस प्रकार क्रिया करेगा, उसको उसी प्रकार सुखानुभव होगा। इस वायुमें रहकर देवताओंके देवता महादेव त्रिनेत्र हो गये हैं। इस वायुके द्वारा आकाशमें गमन कर सकते हैं तथा दूसरोंके मनकी बात भी कह सकते हैं, इसी कारण इसका और एक नाम विहग है। इसको उड्डीयान वायु भी कहते हैं, इस वायुके द्वारा सूक्ष्म शरीरमें उड़ भी सकते हैं। इसका और एक नाम ऋतवाह है, ऋत माने ब्रह्म, और वाह माने प्रवाह-स्रोत अर्थात् ब्रह्ममें रहकर परमानन्दको प्राप्त करते हुए अपने आप सारी वस्तुओंका अनुभव होता है। इसका एक और नाम नभःस्वर है, नभः आकाश, स्वर यानी बाहर होता है। इस शब्दका अनुभव होनेपर परव्योममें रहकर दूसरोंकी बात दूरसे ही सुनी जाती है तथा नाना प्रकारके शब्द सुने जाते हैं। उनमें मुख्य दस प्रकारके हैं—(१) भृङ्ग, (२) वेणु, (३) वीण, (४) घण्टानाद, (५) कांस्य, (६) दीर्घघण्टा, (७) शङ्ख, (८) मृदङ्ग, (६) मेघ, (१०) सिंह। परन्तु ये सारे शब्द बहुत देर तक नहीं रहते। यह स्थिर वायु ही प्राण है, इसके द्वारा ही निमेषोन्मेष होता है, यह स्थिर वायु ही शरीरसे बाहर निकलती है। इसका एक और नाम त्रिशक्र है अर्थात् तीन स्थानों पर इन्द्रत्व या राजत्व करती है। सत्त्वगुणमें ऊर्ध्व गमनके कारण नित्य ब्रह्मानन्दका भोग करती है, रजोगुणमें रागान्वित होकर अनित्य सुखभोग करती है, तथा तमोगुणमें आवृत होकर अधोगमन करते

हुए अनित्य दुःखप्रद नरकमें गमन करती है। यह स्थिरत्वमें गमन करते हुए हस्तिनी नामकी नाड़ीमें परावह नाम धारण करती है, जो मातरिश्वा है अर्थात् जगत्-माता है, जगत्को अणुरूपमें धारण किये हुए है (ब्रह्म)। सत्य ब्रह्ममें रहनेके कारण यह सत्यजित् नामसे प्रसिद्ध है अर्थात् ब्रह्ममें रहकर ब्रह्मके अणुका अनुगामी होने पर अपने आप सब वस्तुओंका अनुभव होता है। जो चलायमान जगत्का प्राण है वही स्थिरत्व पद या ब्रह्म है, उसे ही ऋतं ब्रह्म कहते हैं। इसको ही जानना चाहिए, इसीका ही नाम पवमान है जिसे लोकमें वेद कहते हैं, यही क्रिया की परावस्था है। इसका ही एक और नाम ऋतजित् है। ब्रह्ममें रहने पर वह भी जब देखनेमें नहीं आता अर्थात् "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है तो वही अव्यक्त पद कहलाता है। यही स्थिर वायुमें रहकर गमनागमन करता है, परन्तु अपने आपमें रहे बिना इसका भी बोध नहीं होता। यह प्राणरूप कूटस्थमें रहकर इच्छुक होकर चित्तको चलायमान करता है। इस स्थिरत्वमें सर्वदा रहने पर फिर इच्छा नहीं होती, तब उसे समाधि कहते हैं। इस इच्छामें ही सृष्टि होती है, यही वायु ही धाता बनती है, यही सारी इच्छाओंको हरण करती है, इसी कारण इसका नाम हरि है। इसमें रहनेसे ही मोक्ष होता है, अर्थात् ब्रह्मके सिवा अन्य दिशामें मन नहीं जाता। ब्रह्मके अतिरिक्त और सबका अन्त है, यह सबका तथा अन्तकालका मित्र होता है, इसको स्मरण करके मरने पर परमगति प्राप्त होती है। यही संसारका सार है, इसीसे सबकी उत्पत्ति है, यह नित्य है, सदा रहता है। इसमें भी पुरुषोत्तम का वास है, यही सबसे बड़ा है अर्थात् अणुस्वरूपमें विश्वेश्वर है, अनन्त है, सर्वव्यापी है और विभिन्न रूपमें मित है, अतएव वायु प्रत्यक्ष ब्रह्म है।

उपर्युक्त समस्त वायुकी एकता छः चक्रोंके साथ है। मूलाधारके चार पद्मोंमें चार वायु हैं, लिङ्गमूलमें छः हैं, मणिपूरमें आठ हैं, हृदयमें बारह हैं, कण्ठमें सोलह हैं, आज्ञाचक्रमें तीन हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, चन्द्र, सूर्य, अग्नि—ये छः देवता अपनी शक्तिके साथ उनचास देवता होते हैं। जैसे मूलाधारमें ब्रह्मा, गणेश, जगद्धात्री और सरस्वती हैं। इस प्रकार प्रत्येक चक्रके प्रत्येक दलमें देवता हैं, ये भी उनचास हैं। इस शरीरमें विराजमान इन देवताओंके विषयमें तन्त्रमें विशेषरूपसे लिखा हुआ है। उपर्युक्त समस्त वायु जैसे अन्तर्जगतमें हैं वैसे ही बहिर्जगत्में भी हैं। इसी कारण मन और शरीरके साथ बहिर्जगत्का इतना निकटका सम्बन्ध है। इसीलिये मेघाच्छन्न दिवसमें शरीर और मन उत्साहहीन हो जाता है। सारे जीवोंके सब रोग वायुके विकारसे होते हैं। जिस वायुके विकारसे जिस रोगकी उत्पत्ति होती है, उसी वायुको समभावसे रख सकने पर ही रोगका शमन होकर आरोग्य प्राप्त होता है। इसी कारण बाहरकी वस्तु द्वारा रोग दूर होता है, क्योंकि उस वस्तुमें भीतरकी वायुका वैषम्य होता है, यह आयुर्वेदमें विशेषरूपसे लिखा हुआ है, जो प्रत्यक्ष है।"

—वैशेषिक-दर्शन-व्याख्यासे उद्धृत।

सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

अन्वय—सङ्कल्पप्रभवान् (सङ्कल्पसे उत्पन्न) सर्वान् कामान् (सारी कामनाओंको) अशेषतः त्यक्त्वा (निःशेषरूपसे त्यागकर) मनसा एव (मनके द्वारा ही) इन्द्रियग्रामं (सारी इन्द्रियोंको) समन्ततः (सारे विषयोंसे) विनियम्य (विशेषरूपसे प्रत्याहृत करके) [योगाभ्यास करना चाहिए] ॥२४॥

श्रीधर—किञ्च—सङ्कल्पेति । सङ्कल्पात् प्रभवो येषां तान् योगप्रतिकूलान् सर्वान् कामानशेषतः सवासनांस्त्यक्त्वा मनसैव विषयदोषदर्शिना सर्वतः प्रसरन्तमिन्द्रियसमूहं विशेषेण नियम्य योगी योक्तव्य इति पूर्वेणान्वयः ॥२४॥

अनुवाद—सङ्कल्पसे उत्पन्न होने वाली, योगके प्रतिकूल सारी कामनाओंको वासनाके साथ त्याग करना चाहिए। विषयदोषदर्शी मनके द्वारा, सर्वतः प्रसरित अर्थात् चारों ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंको विशेषरूपसे संयत करके योगाभ्यास करना चाहिए ॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं यह करूँगा—इस प्रकार इच्छा त्याग करे, इसे विलक्षण रूपसे अशेष रूपसे त्याग करे—मन तथा सारी इन्द्रियोंको निःशेषरूपसे संयमन करे।—मैं अमुक कार्य करूँगा—इस प्रकारका मन ही मन सङ्कल्प न करे। निश्चय ही, इन्द्रियाँ बलपूर्वक विषय ग्रहण कराती हैं, उनको विचारके द्वारा संयत करना होगा। सङ्कल्पसे उत्पन्न असंख्य कामनाएँ योगाभ्यासके प्रतिकूल हैं। मनकी इन्द्रियाभिमुख गति होने पर इन्द्रियाँ स्व-स्व विषय ग्रहण करनेके लिए उत्सुक होती हैं। इसलिए जिससे मन इन्द्रियाभिमुख न हो, इसको लक्ष्यमें रखना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। ये काम-सङ्कल्प कह देने मात्रसे नहीं चले जायँगे। विषयोंमें दोष देखकर तथा भगवत्-चर्चा करके मनको पहलेसे ही आत्माभिमुखी करना पड़ता है। उसके बाद मन लगाकर साधनाभ्यास करना होता है। चञ्चल प्राण ही मन और इन्द्रियोंको नचाता फिरता है। साधन द्वारा प्राणको स्पन्दनरहित कर सकने पर तदनुगत मन और इन्द्रियाँ भी निःस्पन्द हो जायँगी। यही सर्वापेक्षा सुगम उपाय है ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

अन्वय—धृतिगृहीतया (धारणासे वशमें की हुई) बुद्ध्या (बुद्धिके द्वारा) शनैः शनैः (धीरे धीरे, अभ्यास करते हुए—सहसा नहीं) उपरमेत् (उपरामको प्राप्त करे), मनः (मनको) आत्मसंस्थं (आत्मामें सम्यक् निश्चल करके) किञ्चिदपि (कुछ भी) न चिन्तयेत् (चिन्ता न करे) ॥२५॥

श्रीधर—यदि तु प्राक्तनकर्मसंस्कारेण मनो विचलेत्तर्हि धारणया स्थिरीकुर्यादित्याह—शनैरिति । धृतिर्धारणा । तया गृहीतया वशीकृतया बुद्ध्या । आत्मसंस्थं आत्मन्येव सम्यक् स्थितं निश्चलं मनः कृत्वोपरमेत् । तच्च शनैः शनैरभ्यासक्रमेण । न तु सहसा ।

उपरमस्वरूपमाह—न किञ्चिदपि चिन्तयेत्। निश्चले मनसि स्वयमेव प्रकाशमानपरमानन्दस्वरूपो भूत्वात्मध्यानादपि निवर्त्ततेत्यर्थः ।।२५।।

[आत्मैव सर्वं न ततोऽन्यत् किञ्चिदस्तीति एवमात्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्। एष योगस्य परमो विधिः—शंकरः]

अनुवाद—[यदि पूर्वकर्मोंके संस्कारके वश मन विचलित होता है तो धारणाके द्वारा उसे स्थिर करे—इस विषयमें कहते हैं]—धारणासे वशमें की गयी बुद्धिके द्वारा मनको आत्मामें सम्यक् निश्चल करके उपरतिका अवलम्बन करे। परन्तु वह भी सहसा नहीं, अभ्यासक्रमसे करना होगा। उपरामका स्वरूप क्या है ?—वही बतलाते हैं। उस समय आत्माके सिवा और कुछ चिन्तन न करे। मन निश्चल होने पर स्वयं ही प्रकाशमान परमानन्दस्वरूप हो जायगा। तब आत्मध्यान भी निवृत्त हो जायगा। अर्थात् मैं ध्यान करता हूँ, इस धारणाका भी उदय न होगा।

[शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा ही सब कुछ है, उसके सिवा अन्य किसीका अस्तित्व नहीं है—इस प्रकारकी धारणाका नाम आत्मसंस्थ अवस्था है। मनको इस प्रकार आत्मसंस्थ करके अन्य किसी वस्तुकी चिन्ता न करे, यही योगकी परम विधि है]।।२५।।

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रमशः ऊर्ध्वमें गमन करे और सब रूप देखे। स्थिर होकर जो अपने आप क्रियाकी पर अवस्थामें धारणा होती है उसकी ही वृद्धि करे।—आत्मामें सम्यक् प्रकारसे क्रियाकी पर अवस्थामें स्थिर करके मनमें अन्य कोई चिन्ता न करे—चिन्ता अपने आप ही नहीं होती।—साधनक्रियाका अभ्यास किस प्रकारसे करना होगा, इसीका उपदेश इस श्लोकमें देते हैं। क्रमशः ऊर्ध्वमें गमन करना होगा—अर्थात् मूलाधारसे धीरे धीरे चक्रोंको अतिक्रम करना होगा, ऐसा नहीं कि चटपट एक श्वासमें ऊपर चढ़ा दिया और ऊपरसे नीचे उतार दिया। प्राणको अतिवेगसे सञ्चालित करने पर अनेक विघ्न उपस्थित हो सकते हैं। यद्यपि योगशास्त्रमें—'बलात्कारेण गृह्णीयात्' का स्पष्ट उल्लेख है, परन्तु प्रथम अवस्थामें इस प्रकारका बल प्रयोग करना युक्तियुक्त नहीं है। राजयोगमें मनको लेकर ही सारी साधनाएँ की जाती हैं, अतएव धीरे धीरे प्राणको आकर्षण करने पर मन प्रत्येक चक्रमें स्पर्श करते हुए ऊपर उठ सकेगा। प्रत्येक चक्रका मनके द्वारा स्पर्श होना आवश्यक है, अन्यथा तत्तत् स्थानमें शक्ति कैसे जाग्रत होगी ? क्रियाका अभ्यास करते करते भी अनेक रूपादिका दर्शन होता है, उनमें मन कुछ विक्षिप्त हो सकता है। इसीलिए क्रिया करते समय उपदेशानुसार चिन्तन करनेके सिवा अन्य चिन्तन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मन लगाकर क्रिया करने पर एक एक करके अपने आप क्रियाकी परावस्थाका उदय होता है। उसीको क्रमशः बढ़ानेकी चेष्टा करनी होगी। क्रियाकी इस परावस्थाके उदय होने पर जब मन कुछ निश्चल होगा, तब भी मनमें पूर्वसंस्कारके वश अन्य चिन्ताका उदय होना सम्भव है। इसलिए तब सावधान होकर ऐसा करना होगा, जिससे अन्य चिन्ताएँ न आवें, अन्यथा क्रियाकी परावस्थाका नशा कट जायगा। अवश्य ही, क्रियाकी परावस्थाके

घनीभूत होने पर 'कोई चिन्ता मत करो' ऐसा कहना नहीं पड़ता। चिन्ता अपने आप ही होती नहीं। क्रिया करते करते जो कुछ कुछ नशेके समान क्रियाकी परावस्था आती है—वही धारणाकी अवस्था है। इस धारणासे वशमें किये हुए चित्तमें असली क्रियाकी परावस्थाका उदय होता है। मनमें किसी चिन्ताका उदय न होने देने पर मनकी निश्चल अवस्थामें जो स्थिति होती है, वही प्रत्याहार है। यह स्थिति अत्यन्त तरल होती है, परन्तु अभ्यासके द्वारा वह क्रमशः घनसे घनतर हो जाती है, तब उसको धारणा और ध्यानके नामसे पुकारते हैं, और जब ध्यान अत्यन्त घना और दीर्घकाल स्थायी होता है तो उसे समाधि कहते हैं। बलपूर्वक समाधि नहीं लायी जाती, वह धीरे धीरे क्रियाके अभ्याससे उदित होती है। मनुष्यको निद्रा आनेके पहले जैसे प्रथम तन्द्रा और पश्चात् स्वप्नावस्था तथा उसके बाद सुषुप्ति अवस्थाका उदय होता है, उसी प्रकार समाधि-निद्राकी प्रथम अवस्था तन्द्राके समान होती है, उस समय बाह्य दृश्य क्षण-क्षणमें भूलते जाते हैं, फिर वह नशा कट जाता है—यही धारणा है, यहाँ मन, देह और बाह्य वस्तुएँ भूल जाती हैं, पर साधक अपनेको ठीक ठीक भुला नहीं पाता। इस अवस्थामें इन्द्रियवृत्तियाँ मनमें प्रवेश कर जाती हैं। और तन्द्राके बाद जैसे तरल निद्रा या स्वप्नावस्था आती है, और सूक्ष्म दृश्यादिके द्रष्टाके रूपमें हम जैसे जागते रहते हैं, और बाह्य वस्तुओंका अनुभव नहीं होता—वैसे ही समाधिनिद्राका द्वितीय स्तर इस स्वप्नके ही समान होता है—बाह्य ज्ञान ठीक नहीं रहता, परन्तु आन्तर ज्ञान नाना प्रकारसे स्फुटित होने लगता है, तबभी वस्तुकी प्राप्ति और तज्जनित सुखादि बोधके कर्ताके रूपमें अपनेको साधक देखता है। इसीको कहते हैं—मनको अहं तत्त्वमें ले आना। उस समय साधककी अवस्था बालकके समान हो जाती है। उस समय कोई जागतिक सम्बन्ध दृढ़भावसे मनमें नहीं बैठता। उसके बाद स्वप्नावस्थासे सुषुप्तिमें पहुँचने पर जैसे बाह्य विषय अथवा किसी आन्तर विषयका ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार समाधि-निद्राके तृतीय स्तरमें गाढ़ निद्राके समान और कोई वृत्ति नहीं रहती। निद्राके साथ केवल इतना ही अन्तर होता है कि गम्भीर निद्रामें बुद्धि सुप्त होकर बाह्य चैतन्यको भूल जाती है, और समाधिमें बुद्धि वस्तुतः सुप्त नहीं होती, जागती रहती है, केवल वृत्ति-विस्मरण रूप अवस्था उत्पन्न हो जाती है। यही 'अस्मितारूपी' सविकल्प समाधिकी अवस्था है। यहाँ ही अहं तत्त्व महत्तत्त्वमें प्रविष्ट होता है अथवा अहङ्कार जय होता है। यही आत्माकाराकारित अवस्थाकी निकटतर अवस्था है। इस अवस्थासे भी एकाग्र और चिन्मुखी मनको चित्के साथ एक कर देना पड़ेगा अर्थात् उपाधिशून्य चिन्मात्र रूपमें जो स्थिति होती है, वही आत्माकाराकारित भाव है, उसको ही असम्प्रज्ञात समाधि या आत्मदर्शन कहते हैं। इसमें 'मैं', 'मेरा' बोध नहीं रहता। यथार्थ क्रियाकी परावस्था यही है। इस समय मन नहीं रहता, अतएव मनकी देखने-सुननेकी कोई क्रिया ही नहीं रहती। इस प्रकार वाक्, मन, अहङ्कार और महत्तत्त्वकी भूमि सभी जय हो जाती है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—इस त्रिपुटीका यहाँ नाश हो जाता है।

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानं नियच्छेन्महति तद् यच्छेद् शान्त आत्मनि॥ (श्रुति)

श्रुति कहती है कि प्राज्ञ पुरुष वाक्यको मनमें, मनको ज्ञानात्मामें, ज्ञानात्माको महत्में, और महत्को शान्त आत्मामें लगावे। यही समाधिके अभ्यासका क्रम है। सङ्कल्प वाक्यरूपमें प्रकट होता है, इसी कारण वाक्यका मूल है प्राणशक्ति। उस प्राणशक्तिको प्राणायामके द्वारा स्थिर कर सकनेसे मनके नाना प्रकारके सङ्कल्प मनमें ही विलीन हो जाते हैं। मन सङ्कल्प-विकल्परहित होने पर एकाग्र हो जाता है। यही है मनको ज्ञान-आत्मामें ले जाना। इसको ज्ञानात्मा क्यों कहते हैं? इसका कारण यह है कि मनकी एकाग्र अवस्थामें जो जाननेकी इच्छा होती है वही जाना जाता है। इस ज्ञानात्माको भी महत्में मिला देना होगा। इसीको महत्में प्रवेश या महाकाशरूप होना कहते हैं। इसके बाद वह चिदाकाशका महाकाश पराकाशमें, और पराकाश परव्योममें विलीन हो जायगा। यही शान्त-आत्मा है। अर्थात् इस अवस्थासे फिर मनमें विक्षेप-तरङ्ग उठ नहीं सकती। यही निर्विकल्प समाधि है। यह अवस्था एकबारगी नहीं आती, शनैः शनैः अर्थात् धीरे धीरे इसे आयत्त करना पड़ता है। मन अब तक नाना प्रकारकी चिन्ताएँ और नाना प्रकारकी वासनाएँ करता आ रहा है, और मनमें उन सारे विषयोंकी अजस्र छाप पड़ी हुई हैं। उन सबको 'जाओ' कहनेसे एकबारगी नहीं जा सकतीं। मनसे वासनाका दाग पूरा पूरा मिटाना हो तो धैर्यके साथ साधनाभ्यास करना होगा। इस साधनाभ्यासके फलस्वरूप जब प्राण स्पन्दनरहित होता है तो चित्तका स्पन्दन फिर नहीं रहता। चित्तमें स्पन्दन न रहने पर भी उसमें वासनाका संस्कार बीजरूपमें सुषुप्त रहता है। जिस अवस्थामें समस्त वासनाके बीज सुप्त रहते हैं, सिर नहीं उठा सकते, वही महत् आत्मा है अर्थात् बुद्धिका अतिसूक्ष्म भाव है। बुद्धिकी इस अतिसूक्ष्मावस्थामें ही आत्माका स्पर्श अनुभूत होता है। उस समय भी सविकल्पका भाव रहता है। पश्चात् जब उस स्पर्शका फिर विराम नहीं रहता, तब संस्कारके बीज भी नष्ट हो जाते हैं, वही शान्त-आत्मा या निर्विकल्प समाधिकी स्थिति है। 'धृतिगृहीतया' बुद्धिके द्वारा इस अवस्थाको आयत्त करना चाहिए। अर्थात् साधनके द्वारा जब मन और बुद्धि स्थिर होते हैं तो उस स्थिर बुद्धि या एकाग्रताके द्वारा निरोध अवस्था धीरे धीरे उपस्थित होती है। यही अव्यक्त या मूल प्रकृतिके शुद्ध चैतन्यरूप परमपुरुषके भीतर आत्मनिमज्जन कहलाता है। यही है "पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः"। पुरुषकी अपेक्षा पर या श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। वही काष्ठा अर्थात् अन्त है, और वही परमा गति है। परमा गतिको प्राप्त करनेके लिए साधन करना आवश्यक है। गुरुके उपदेशके अनुसार साधन करते जाना ही ईश्वरशरणागति है। यह शरणागति जिसको हो गयी है वही भगवत्कृपा अर्थात् परम शान्ति प्राप्त करते हैं। यही है सर्वविषय-निवृत्तिरूपी मनका कैवल्यपद या अभय परमपदकी प्राप्ति। इस प्राप्तिका बाधक है कामसङ्कल्प। यह कामसङ्कल्प प्राणका ही स्पन्दन मात्र है। अतएव प्राणायामके अभ्यासके द्वारा प्राणको अवरुद्ध करने पर ही

मनकी निरोधावस्था आती है। जीवात्माकी भोग-प्राप्तिकी चेष्टा ही सङ्कल्प या मन है। यह भोगासक्ति जीवके प्राणमें सञ्चित रहती है। वही अशुद्ध प्राणका कार्य है। प्राणायामके द्वारा प्राण शुद्ध होने पर भोगासक्ति भी तिरोहित हो जाती है। तब मन भी अशुद्ध सङ्कल्प नहीं कर सकता। अतएव मन भी शुद्ध हो जाता है। इस शुद्ध मनसे ही शुद्ध बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। शुद्ध बुद्धिके आभ्यन्तर आत्माका निर्मल भाव प्रतिबिम्बित होता है।

यहाँ और भी एक ज्ञातव्य विषय बतला रहा हूँ। मनके निश्चल होने पर 'मैं ध्यान करता हूँ'—यह धारणा भी नहीं रहती। 'मैं' आत्मस्वरूप हो गया हूँ, यह भी समझने या समझानेमें समाधिमग्न पुरुष समर्थ नहीं होता। तब 'आत्मदर्शन' में किस प्रकारका दर्शन होता है?—यह देखना आँखसे देखी गयी वस्तुको देखनेके समान नहीं होता। समाधिके समय जब मन निरुद्ध हो जाता है, तब आँखोंके दृश्य देखनेके समान तो समाधिकी अवस्था नहीं देखी जाती। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिमें अन्तःकरणके विषयचिन्तनके द्वारा आत्मा आच्छादित होता है, केवल समाधि-योगकी अवस्थामें अन्तःकरणका विषयचिन्तन न होनेके कारण एक भावातीत भाव वर्तमान रहता है, व्युत्थित होने पर उस अवस्थाके सम्बन्धमें केवल एक निश्चय धारणा मात्र होती है। मनके विषयचिन्तासे विरत होने पर ही आत्मचिन्तन या भगवत्-चिन्तन होता है, इस प्रकारकी अवस्थामें भी मन निर्विषय नहीं होता। अतएव आत्मचिन्तनमें भी एक प्रकारका अभिमान या अहङ्कार रहता है। यह अहङ्कार सहसा नहीं जाता। स्पन्दित होनेकी शक्ति ही प्राणकी शक्ति है। प्राणायामके अभ्यासके द्वारा जो सङ्कल्पशून्य अवस्था आती है उसके द्वारा धीरे धीरे अहङ्कार क्षीणताको प्राप्त होता है। अहङ्कारके क्षीण होने पर जो निर्मल मन अवशिष्ट रहता है उसमें फिर स्पन्दन नहीं होता। इस उपरत चित्तमें चिन्ता स्वयं नहीं उठती, उस समय आत्माकाराकारित मन परमस्थिरतामें विश्राम करता है। इस प्रकारके विश्राममें जो धीरे धीरे अभ्यस्त हुआ है उस साधकके पास 'मैं' नहीं रहता और 'मेरा' भी नहीं रहता। यही है मन-नदीका धीरे धीरे आत्मानन्दसागरमें निमज्जन। योग-धृति या प्रत्यह अभ्यासके फलस्वरूप जो स्थिरता आती है उसीके द्वारा यह लभ्य है ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

अन्वय—चञ्चलं अस्थिरं (चञ्चल और अस्थिर) मनः (मन) यतः यतः (जिस जिस विषयमें) निश्चरति (स्वभावदोषसे दौड़ता है) ततः ततः (उन उन विषयोंसे) एतत् (इस मनको) नियम्य (प्रत्याहार करके) आत्मनि एव (आत्मामें ही) वशं नयेत् (वशीभूत करे) ॥२६॥

श्रीधर—एवमपि रजोगुणवशात् यदि मनः प्रचलेत्तर्हि पुनः प्रत्याहारेण वशीकुर्यादित्याह—यतो यत इति। स्वभावतश्चञ्चलं धार्यमाणमप्यस्थिरं मनो यं यं विषयं प्रति निर्गच्छति ततस्ततः प्रत्याहृत्यात्मन्येव स्थिरं कुर्यात् ॥२६॥

अनुवाद—[इस प्रकार रजोगुणके वशमें मन यदि चलायमान होता है तो पुनः प्रत्याहारके द्वारा उसको वशमें करना चाहिए—इसीलिए कहते हैं]—स्वभावतः चञ्चल अर्थात् धार्यमाण होने पर भी अस्थिर मन जिन जिन विषयोंकी ओर दौड़ता है उन उन विषयोंसे उसको प्रत्याहृत कर आत्मामें ही स्थिर करे ॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जहाँ जहाँ मन दौड़े—वहाँ वहाँसे आत्मामें बलपूर्वक लाकर वशीभूत कर रक्खे।—समाधिके चार प्रकारके विघ्न होते हैं—कषाय, विक्षेप, लय और रसास्वाद। स्मृति-संस्कारके द्वारा मनमें विषय-तृष्णा जाग उठे तो उसे बलपूर्वक विषयोंसे लौटाना पड़ेगा। बुझती हुई अग्नि जैसे फूँकने पर फिर जाग उठती है, उसी प्रकार विभिन्न नाड़ीमुखोंसे श्वसन-क्रियाके द्वारा जो प्राणकी गति होती है, उससे ही सारी वासनामयी वृत्तियाँ जाग उठती हैं। उनको बाह्य विचार द्वारा निरस्त करना बहुत ही कठिन है। अत्यन्त विक्षिप्त अवस्थामें अथवा निद्रार्त्त होने पर प्राणायाम या मुद्रादि करनेकी व्यवस्था है। ऐसा करने पर फण निकाले हुए सर्पके मस्तक पर दण्ड प्रहार करने पर जैसे वह सिर नत करनेके लिए बाध्य होता है, उसी प्रकार चित्तकी विक्षेपादि वृत्तियोंका अवसान होता है। मन जब स्वस्थ रहता है तब ठीक विचारादि कर सकता है, परन्तु अत्यन्त लय-विक्षेपके समय वह सब न जाने कहाँ बह जाता है। जिनको प्राणायाम करनेका अभ्यास है, वे इच्छा न होते हुए भी यदि दो चार प्राणायाम कर लें तो शत्रुओंके प्रबल आक्रमणसे रक्षा प्राप्त कर सकते हैं। विकल्प, निद्रा, अतिभोजनादि व्यापार समाधिके विरोधी हैं, परन्तु ये ही मनको अत्यन्त प्रिय हैं। इसलिए जब तक एक बार मन आत्माके अन्तःपुरमें प्रविष्ट नहीं होता, ये सारे विघ्न रहेंगे ही। परन्तु इस बातको लक्ष्यमें रखना आवश्यक है कि दौरात्म्य जितना हो सके कम हो। मनको निरन्तर वैराग्यकी बात सुनाकर विषयोंके हेयत्वको समझाना पड़ेगा। आहार अधिक होने पर अथवा अधिक निद्रासे आच्छन्नभाव आता है, इसलिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह भाव आने न पावे। इस प्रकार लय-विक्षेपसे अपनेको बचाना होगा। सुखास्वादनरूपी एक और विघ्न है वह भी अत्यन्त प्रबल विघ्न है। दूसरे विघ्नोंको तो विचारके द्वारा, साधनाभ्यासमें दृढ़ प्रयत्नके द्वारा दूर कर सकते हैं, परन्तु इसको नष्ट करना बहुत कठिन है, बल्कि कह सकते हैं कि दुःसाध्य है। इस विघ्नका स्वरूप इस प्रकार है—साधनमें कुछ अग्रसर होने पर जब कोई सिद्धि प्राप्त होती है, तब मन उसमें ही डूब जाता है। उसकी अपेक्षा विशुद्ध और निरुद्ध भूमिमें प्रवेश करना नहीं चाहता। जहाँ लोक-प्रतिष्ठा होती है वहीं मन लोलुप होकर बैठ जाता है, हटनेका नाम भी नहीं लेता। भगवत्-कृपासे पर वैराग्यकी प्राप्ति होने पर यह दोष दूर हो सकता है। और कषायरूपी विघ्न साधनकी प्रथम अवस्थामें होती है। साधनमें रस न मिलनेके कारण वह अच्छा नहीं लगता ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

अन्वय—शान्तरजसं (रजोगुणसे मुक्त) प्रशान्तमनसं (प्रशान्तचित्त) अकल्मषं (निष्पाप) ब्रह्मभूतं (ब्रह्मभावको प्राप्त) एनं हि योगिनं (इसी योगीको) उत्तमं सुखं (उत्तम सुख) उपैति (आश्रय करता है) ॥२७॥

श्रीधर—एवं प्रत्याहारादिभिः पुनः पुनर्मनो वशीकुर्वन्तं रजोगुणक्षये सति योगसुखं प्राप्नोति । इत्याह—प्रशान्तमनसमिति । एवमुक्तप्रकारेण शान्तं रजो यस्य तम् । अतएव प्रशान्तं मनो यस्य तमेनं निष्कल्मषं ब्रह्मत्वं प्राप्तं योगिनमुत्तमं सुखं समाधिसुखं स्वयमेवोपैति प्राप्नोति ॥२७॥

अनुवाद—[इस प्रकार प्रत्याहारके द्वारा जो पुनः पुनः मनको वशीभूत करते हैं, वह रजोगुणके क्षय होने पर योगसुखको प्राप्त होते हैं—इस विषयमें कह रहे हैं]—उपर्युक्त प्रकारसे जिसका रजः शान्त हो गया है और मन भी प्रशान्त हो गया, उस निष्पाप और ब्रह्मत्व-प्राप्त योगीको उत्तम समाधि-सुख स्वयं ही आश्रय करता है ॥२७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—भलीभाँति रात दिन, मैं कुछ नहीं हूँ और न मेरा कुछ है, क्रियाकी परावस्थामें रहकर धारणा, ध्यान और समाधि करते हुए सुखसे उत्तम रूपमें रहे—तब क्रियाकी परावस्थामें रहते हुए, मैं कुछ नहीं और मेरा कुछ नहीं—इस प्रकारकी अवस्थामें रहने पर अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि नहीं जायगी, अतएव 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्'—ब्रह्म होकर निष्पाप हो जायगा अर्थात् अन्य वस्तुमें मन नहीं जायगा ।—**मन ही मन ब्रह्मचिन्तन करने पर भी एक प्रकारका प्रत्याहार होता है, परन्तु क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्था-प्राप्त योगीको जो प्रत्यहार होता है उससे रजोगुण शान्त हो जाता है, तब प्रसन्नतासे चित्त भर जाता है और मोह नहीं रहता, अतएव 'मैं' 'मेरा' भाव नहीं रहता। 'मैं' 'मेरा'-भाव रहने पर आसक्ति पूर्वक विषयदृष्टि होती है, अतएव उसमें ब्रह्मभाव नहीं रहता। जब 'मैं' 'मेरा' नहीं रहता, तब मन भी दूसरी ओर नहीं जाता। मन जब दूसरी ओर नहीं जाता तो पापशून्य हो जाता है, इस प्रकार निष्पाप हुए योगीका 'सर्व ब्रह्ममयं जगत्'-भाव हो जाता है। तब योगी निरतिशय सुख—घनीभूत क्रियाकी परावस्था, या आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त होता है। रजोगुण और तमोगुणके क्षयके द्वारा बुद्धि परिशुद्ध होने पर निर्मल स्वच्छ आत्माके साथ वह एकभावापन्न हो जाती है। योगदर्शनमें लिखा है 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'—सत्त्व तथा पुरुषके शुद्धिसाम्यमें कैवल्य प्राप्त होता है। पुरुष तो नित्य शुद्ध है, परन्तु प्रकृतियुक्त अवस्थामें वह भी गुणादि दोषोंसे दूषित जान पड़ता है। परन्तु जब बुद्धि पूर्ण स्वच्छ हो जाती है तो आत्मामें कल्पित अशुद्धि दूर हो जाती है। इस प्रकार दोनोंके शुद्धिसाम्य होते ही चिदाभासरूपी**

बुद्धितत्त्व चिद्रूप आत्मामें एकाकार हो जाता है। यही कैवल्य मुक्ति है, अतएव सर्वोत्तम सुख है ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

अन्वय—एवं (इस प्रकार) सदा (सर्वदा) आत्मानं (मनको) युञ्जन् (वशीभूत् करके) विगतकल्मषः (निष्पाप होकर) योगी (योगी) सुखेन (अनायास ही) ब्रह्मसंस्पर्शम् (ब्रह्मसाक्षात्कार रूप) अत्यन्तं सुखं (अत्यन्त अथवा अविच्छिन्न सुखको) अश्नुते (प्राप्त करता है) ॥२८॥

श्रीधर—ततश्च कृतार्थो भवतीत्याह—युञ्जन्निति। एवमनेन प्रकारेण सर्वदा आत्मानं मनो युञ्जन् वशीकुर्वन्। विशेषेण सर्वात्मना। विगतं कल्मषं यस्य सः योगी सुखेनानायासेन ब्रह्मणः संस्पर्शोऽविद्यानिवर्त्तकः साक्षात्कारस्तदेवात्यन्तं सर्वोत्तमं सुखमश्नुते जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥२८॥

अनुवाद—[तत्पश्चात् योगी कृतार्थ हो जाता है, इस विषयमें कहते हैं]—इस प्रकार सर्वदा मनको वशमें करके निष्पाप होकर योगी अनायास ही अविद्यानिवर्त्तक ब्रह्मसाक्षात्काररूप अत्यन्त सुख भोग करता है अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है ॥२८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार सदा सर्वदा क्रिया करके धारणा-ध्यान-समाधि-युक्त होकर, अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि न रखकर "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" स्वरूप सुख अपने आप क्रियाकी परावस्थामें रहकर ब्रह्ममें करके—अत्यन्त सुखप्राप्ति होती है।—क्रियाके द्वारा धारणा, ध्यान और समाधि सभी धीरे धीरे आ सकते हैं, परन्तु विषय-संस्कार इतना सुदृढ़ होता है कि अभ्यासशील साधकके तनिक अवहेलना करने पर ही मन विषयोंकी ओर दौड़ जाता है—इसलिए आसक्तिपूर्वक अन्य ओर दृष्टि न रखकर केवल आत्मामें ही मनको लगाता रहे—यही भगवान्का उपदेश है, अन्यथा पाप नहीं कटेगा। इस प्रकार अभ्यासके फलस्वरूप योगी पाप-शून्य होता है अर्थात् फिर उसका मन आसक्तिपूर्वक अन्य दिशामें नहीं दौड़ता—जिसकी इस प्रकारकी अवस्था होती है उसकी क्रियाकी परावस्था खूब घनी हो जाती है। क्रियाकी परावस्था घनी होने पर "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है—इसकी अपेक्षा सुखमय अवस्था और कोई नहीं है। इसमें भय-विद्वेष नहीं होता, तब देह, मन और प्राण विक्षेपशून्य हो जाते हैं, बुद्धि आत्माकारको प्राप्त होती है—इस प्रकारके परिपूर्ण चिदानन्दमय "निजबोधरूपः" अवस्थाके साथ और किसी सुखकी तुलना नहीं होती। इसमें ही चिरकालके लिए साधक अविद्या-पिशाचिनीके हाथसे छुटकारा प्राप्त करता है। इसको सर्वोत्तमसुख कहते हैं, क्योंकि विदेह मुक्ति या निर्वाणावस्थाकी प्राप्तिके बाद फिर सुख-दुःखका बोध नहीं होता, कारण यह है कि वहाँ भोक्तृभोग्य भाव कुछ नहीं रहता। देहके रहते हुए हम देहेन्द्रिय-मन-बुद्धिजनित अनेक प्रकारके सुखोंका आस्वादन करते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त योगीको अविद्या-नाश होने पर जो मुक्ति-

सुख अनुभव होता है उसको इन सारे सुखोंकी तुलनामें सर्वोत्तम कहा गया है। जीवितावस्थामें समाधिलाभ होने पर भी वह बीच बीचमें भङ्ग होती है। जब भङ्ग होती है तो हमारी समझमें आता है कि जिस सुखका भोग हो रहा था, उसकी तुलनामें ये सब जागतिक या इन्द्रियजनित सुख कितने तुच्छ हैं! इसलिए फिर उनकी ओर मन ताकना भी नहीं चाहता। मनको निष्पाप अवस्थामें रखनेके लिए पापरूपी मनके पापरूप मलोंसे परिचय होना आवश्यक है। वे ही समाधिके विघ्न हैं। योगदर्शनके समाधिपादमें लिखा है—"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति-भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः"—चित्तविक्षेप-के हेतु ये नव विघ्न हैं—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व। "ये नौ अन्तराय चित्तके विक्षेप हैं। सारी चित्तवृत्तियोंके साथ ये उद्भूत होते हैं, इनके अभावमें पूर्वोक्त चित्त-वृत्तियाँ उद्भूत नहीं होतीं। (१) व्याधि—धातुरस तथा इन्द्रियोंका वैषम्य। (२) स्त्यान—चित्तकी अकर्मण्यता अर्थात् साधनादि सीखकर भी उसके अभ्यासमें आलस्य। (३) संशय—उभयदिक्स्पर्शी विज्ञान, जैसे—यह ऐसा होगा अथवा न होगा, योगसाधन करना उचित है या अनुचित। (४) प्रमाद—समाधिसाधनमें गलत धारणाका होना, भावना न करना (५) आलस्य—शरीर तथा चित्तके गुरुत्वके कारण साधनमें अप्रवृत्ति। (६) अविरति—विषयसन्निकर्षके कारण (अथवा विषयभोग रूपी) तृष्णा। (७) भ्रान्तिदर्शन—विपर्यय-ज्ञान। (८) अलब्धभूमिकत्व—समाधिभूमिका अलाभ। (९) अनवस्थितत्व—लब्धभूमिमें प्रयत्नकी शिथिलताके कारण चित्तकी अप्रतिष्ठा। समाधिका प्रतिलम्भ (निष्पत्ति) होने पर चित्त अवस्थित होता है। इन नव प्रकरके चित्तविक्षेपोंको योगमल, योग-प्रतिपक्ष या योगान्तराय कहते हैं।" (कापिलाश्रमीय योगदर्शनसे उद्धृत)॥ २८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

अन्वय—योगयुक्तात्मा (योगसमाहित-चित्त पुरुष) सर्वत्र समदर्शनः (जो सर्वत्र समदर्शी है अर्थात् ब्रह्मदर्शन करता है) [ऐसा योगी] आत्मानं सर्वभूतस्थं (आत्माको सब भूतोंमें स्थित) सर्वभूतानि च (और सब भूतोंको) आत्मनि (आत्मामें) ईक्षते (देखता है)॥ २९॥

श्रीधर—ब्रह्मसाक्षात्कारमेव दर्शयति—सर्वभूतस्थमिति। योगेनाभ्यस्यमानेन युक्तात्मा समाहितचित्तः। सर्वत्र समं ब्रह्मैव पश्यतीति समदर्शनः। तथा स स्वमात्मानमविद्याकृत-देहादिपरिच्छेदशून्यं सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेष्ववस्थितं पश्यति। तानि चात्मन्यभेदेन पश्यति॥ २९॥

अनुवाद—[ब्रह्म-साक्षात्कारको ही दिखलाते हैं]—योगाभ्यासके द्वारा समाहितचित्त सर्वत्र-ब्रह्मदर्शी योगी ब्रह्मादिस्थावरान्त सब भूतोंमें अविद्याकृत देहादिसे

शून्य अपने आत्माको देखता है, तथा निज आत्मामें सब भूतोंको अभिन्नरूपमें देखता है ॥ २६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं सब भूतोंमें हूँ अर्थात् यह आत्मा ही सब (जीवोंमें) भूतोंमें है, सब भूतोंका आत्मा इस आत्मामें (जीवमें है), धारणा ध्यान समाधि करके क्रियाकी परावस्थामें रहकर देख पाते हैं। तब सर्वं ब्रह्ममयं जगत्—अतः सबको समान देखते हैं।—समाधि अवस्थाको प्राप्त व्युत्थित योगीका अनुभव कैसा होता है, यही बतलाते हैं। जब वह समाधिस्थ रहते हैं तब ब्रह्मादि स्थावरान्त कोई दृश्य पदार्थ नहीं रहता। तब 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' हो जाता है। और वही योगी जब प्रारब्धवश, व्युत्थित होते हैं, तब यह जगत्-प्रपञ्चको प्रतिभासित होते हुए देखते हैं सही, परन्तु उस देखनेमें भी एक विशेषत्व होता है। उस समय जिस जगत्को वह देखते हैं वह ब्रह्माकाराकारित होता है। क्योंकि क्रियाकी परावस्थामें जगत्का स्वरूप उनको अवगत होता रहता है। एक ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है, यह उनके सुस्पष्ट बोधका विषय बन गया है। क्रियाकी परावस्थामें उनको जो ब्रह्मदर्शन हुआ था, समाधि टूटनेके बाद वह अवस्था नहीं रही, उनका जगत्-दर्शन अवरुद्ध न हुआ, इस अवस्थामें क्या उनका समदर्शन टिक सकता है? यदि टिकता है तो असंख्य जीवोंको निरन्तर क्लेश भोगते देखकर वह भी क्लिष्ट हो जायँगे, परन्तु उस अवस्थामें सुखका समदर्शन न होगा, तब उनकी शान्ति और आनन्द कैसे स्थायी रहेंगे? अज्ञानी सबको समान नहीं देखता, अतएव दूसरोंके दुःखमें उसको क्लेश नहीं भी हो सकता है, परन्तु समदर्शी सबके आत्मामें अपनेको देखता है, अतएव उनके दुःखभोगके साथ उसको भी दुःखभोग करना पड़ता है, तब तो आत्मदर्शनमें हानिके सिवा लाभ कुछ नहीं है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। उसका समदर्शन होता है ज्ञानके द्वारा, और जीवको अशान्ति या दुःख होता है अज्ञानके कारण। ज्ञान दुःखका निवारक है, अतएव ज्ञानीको दुःख होना संभव नहीं, समाधिवान् पुरुष अज्ञानके परपार चला जाता है। इसीसे जगत्के दुःखमें अज्ञानीको जिस प्रकारका दुःखानुभव होता है वह दुःखानुभव उसको नहीं होता। ज्ञानी जानता है कि सब आत्मा एक हैं, नाना घटके जलमें सूर्यके पृथक् प्रतिबिम्बके समान नाना देहोंमें केवल उस महान् चैतन्य सत्ताका ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। स्वरूपतः वे नाना नहीं हैं, इसलिए कोई पृथक् या भिन्न नहीं है।

यदि मुझे दुःखित देखकर ज्ञानीको दुःख नहीं होता, तो उनका सङ्ग करनेसे क्या लाभ होगा? ज्ञानीको दुःख नहीं होता, ऐसी बात नहीं है—परन्तु मुग्ध जीवके समान मोहयुक्त दुःख उसको नहीं हो सकता। तब अज्ञानीका दुःख देखकर उनको किस प्रकारका दुःख होता है? जैसे सोया हुआ आदमी स्वप्नमें भीषण दृश्य देखकर क्लिष्ट होता है और उसे देखकर वहाँका जगा हुआ आदमी हाथसे उसका शरीर हिलाकर जगा देता है, उसी प्रकार वह भवरोग-क्लिष्ट अज्ञानी जीवके अज्ञान-निद्राजनित संसार-स्वप्नरूपी क्लेशको देखकर उसको ज्ञानोपदेश द्वारा केवल जाग्रत मात्र कर देते हैं। वह जानते हैं कि तत्त्वतः सबका आत्मा एक ही है, और वह आत्मा नित्य पूर्ण आनन्दमय है, उसमें दुःखका लेश भी नहीं है। मायामोहित

अज्ञानी जीवको यह आत्मदृष्टि न होनेके कारण ही क्लेशका अनुभव होता है। साधनाके प्रभावसे ज्ञानालोक प्रज्वलित होता है, तब साधकको ज्ञात हो जाता है कि अज्ञान इस शरीरको केवल वेष्टन किए हुए है, आत्माको वेष्टन करनेकी शक्ति उसमें नहीं है। उन्होंने आत्मस्थ होकर देख लिया है कि वह देह नहीं हैं, आत्मा हैं, इसी कारण देहका क्लेश उनको मोहित नहीं कर सकता।

ज्ञानी क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें जिस जगत्प्रपञ्चको देखते हैं वह कुछ ऐसा ही होता है। अर्थात् एक अनन्त शर्कराराशि मानो बीच-बीचमें घनीभूत होकर विविध रूप धारण कर प्रकट हो रही है, उसमें मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग अजस्र दृश्यरूपमें भासमान हो रहे हैं। परन्तु सुचतुर रसज्ञ पुरुषके सामने ये सब रूपके पृथक् पृथक् अस्तित्व होने पर भी एक शर्कराके अस्तित्वके रूपमें ही व्यक्त होते हैं। वह शर्करानिर्मित वस्तुओंके समूहमें केवल शर्करा ही अनुभव करते हैं, नामरूप-जनित पार्थक्यका अनुभव नहीं करते, इसीसे वह उन सबके पृथक्-पृथक् नामरूपको देखकर विह्वल नहीं हो उठते। शर्करानिर्मित विभिन्न पुतलियोंका रूप देखकर अज्ञ शिशुमें भेदबुद्धि हो सकती है, परन्तु ज्ञानी पुरुषको वैसी बुद्धि नहीं उत्पन्न होती। उसी प्रकार ज्ञानदृष्टि-सम्पन्न व्युत्थित योगीको जगत्-दर्शन होने पर भी उसमें उनका ब्रह्मानुभव नष्ट नहीं होता। प्रज्वलित अग्निकुण्डमें इन्धन डालनेसे जैसे वह भी अग्निरूप हो जाता है, उसी प्रकार जगत्के वहिर्भागमें जो जड़ मलिनतासे भरा हुआ भाव दीख पड़ता है, स्व-स्वरूपमें अवस्थित या व्युत्थित योगीके सामने वस्तुका जड़त्व-भाव दूर होकर उसका शुद्ध चैतन्य भावमात्र प्रकटित होता है। इसलिए उनको कदापि भ्रम नहीं होता, यही यथार्थ समदर्शन है। जब तक मनकी बाह्य और नानात्व दृष्टि है तब तक यथार्थ समदर्शन नहीं आ सकता। यहाँ एक बात याद रखने योग्य है कि समदर्शन अति उच्च अवस्था होने पर भी वही एक प्रार्थनीय वस्तु हो—ऐसी बात नहीं है। क्योंकि योगीकी योगारूढ़ अवस्थामें उनके सारे दुःखोंका अवसान तो होता है सही, परन्तु उस समय भी कितने ही लाखों लाखों जीव दुःख-कष्टकी ज्वालामें जलकर खाक हो रहे हैं। जगत्में वैषम्य तो प्रायः सर्वत्र है, और एक आध आदमीका वैषम्य छूट जाने पर तो जगत्का दुःख दूर नहीं होता। दुःखकी दावाग्निमें जलनेवाले रोगातुर दीन-दरिद्रकी अवस्थाकी तुलनामें दुग्धफेन-सदृश शय्या पर सोनेवाले, विविध प्रकारकी सामग्रियोंके बीचमें प्रतिपालित धनी पुरुषका समत्व कैसे समझमें आयेगा? और ये समदृष्टिसम्पन्न पुरुष यदि समदृष्टिसे सबको देखते भी रहें तो दीन-दरिद्रोंके दुःखके बोझ हलके कैसे होंगे? और इस प्रकारके समदृष्टि-सम्पन्न अर्थात् उदासीन पुरुषसे जगत्का विशेष लाभ ही क्या होगा? वह जैसे धनीके ऐश्वर्यकी ओर नहीं देखेंगे, वैसे ही दीनार्त्तके दुःखके प्रति भी उनकी कोई हमदर्दी न होगी, फिर समदृष्टिसम्पन्न पुरुषके द्वारा इस श्रेणीके आर्त्त जीवोंका क्या उपकार होगा? अतएव साधारण लोगोंमें इस प्रकारका समदृष्टिसम्पन्न होनेके लिए विशेष आग्रह होनेकी सम्भावना कम है, ऐसा जान पड़ता है। परन्तु, योगीश्वर पुरुषकी समदृष्टि इस प्रकारकी

नहीं होती। वे दुःखीके दुःख, और व्यथितकी व्यथाको खूब हृदयङ्गम कर सकते हैं। भगवान् तो कर ही सकते हैं, अन्यथा उनको दीनबन्धु भगवान् कहकर पूजा करनेका आग्रह मनुष्यके हृदयमें नहीं आता। वह पतितपावन हैं, पतितका उद्धार करनेकी उनकी प्रतिज्ञा है, इस प्रतिज्ञासे वह कभी स्खलित नहीं होते। "मोक्षयिष्यामि मा शुचः"—यही तो उनकी अभय वाणी है। योगीको या भगवान्‌को जीवके लिए दुःख तो होता है, पर वह दुःख ठीक हमारे समान नहीं होता। विचारकर देखो, भगवान् परमानन्दस्वरूप हैं, वह जहाँ हैं, वहाँ दुःख नहीं है। जहाँ वह नहीं हैं वहीं तो सारे दुःखों का घर है। फिर जब वह सर्वव्यापी हैं, तब दुःखीके घरमें भी वह विद्यमान होंगे, तब यह कैसे संभव है कि वह दुःखीके दुःखको नहीं देखते हैं। यदि दुःखको देखते हैं तो सर्वशक्तिमान् भगवान् उस दुःखको दूर क्यों नहीं करते? यहाँ ही हमारे और भगवान्‌के देखनेमें तारतम्य है, यह समझना होगा। अच्छा बतलाओ, दुःख होता है क्यों? दुःखका अनुभव कौन करता है? प्रकृतिके भीतर जो गुणके खेल होते हैं, उसीसे सुख-दुःखके घात-प्रतिघात होते हैं। परन्तु यह घात होता है प्रकृतिके क्षेत्रमें। आत्मचैतन्यमें चेतनवान् होकर मन, बुद्धि, अहङ्कार इस दुःखका अनुभव करते हैं, आत्माके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए जो पुरुष आत्मस्थ है, उसको दुःख नहीं है। जिसका मन देहमें रहता है वह तो देहके व्यापारसे सुख-दुःख बोध करेगा ही। यद्यपि आपात दृष्टिसे जान पड़ता है कि देही दुःखभोग करता है, परन्तु वस्तुतः देहीको क्लेश नहीं होता। क्लेशादि विकार होते हैं देहमें। जिसने जीवदेहके साथ अपनेको एक कर डाला है वही देहके कष्टको अपना कष्ट समझता है। यह अध्यासजनित भ्रम है। साधनके द्वारा जिसने देहके साथ आत्माके पार्थक्यका अनुभव किया है उसको देहके सुख-दुःखादिमें सुख-दुःख बोध क्यों होगा? इसीलिए इस अशुद्ध भावको शुद्ध करना पड़ता है। क्रियाकी परावस्थामें जब मन बुद्धि आत्माके साथ एकाकार हो जाते हैं तब 'त्वं'-पदवाच्य जीवकी शोधन-क्रिया होती है। यह शोधन सम्यक् होने पर 'त्वं' 'तत्'के साथ एक हो जाता है। इसका ही नाम ज्ञान है। यही असल समदर्शन है। जो आत्मा अपनी महिमामें सर्वत्र विराज रहा है, जिसके आनन्दमें यह अनन्तदृश्य-समन्वित जगत परिस्फुटित हो रहा है—उसको न जानना ही अज्ञान है और यही सारे दुःखोंका मूल है। यह अज्ञान ही ज्ञानका आवरक है, यह अज्ञानतम जब तक दूर नहीं होता, आत्मदर्शन कहाँसे होगा? उनका सच्चिदानन्दघन अपरूप रूप और उनकी अनन्त करुणाका परिचय जीव पायेगा कहाँ से? इस परम बोधमें बाधक है देहात्मबोध। इसी कारण सारे दुःखों और सारी अशान्तियोंका मूल यह देहात्मबोध जिससे छूट जाय, यह जगत्-दर्शन रूपी दुःस्वप्न जिससे कट जाय—इसी उद्देश्यसे करुणाके अवतार योगीजन पथभ्रष्ट पथिकको सुपथ दिखलाकर उसके बारबारके जन्म-जरा-मृत्युके कठोर अभिनयको अवरुद्ध करनेकी व्यवस्था करते हैं। इससे बढ़कर करुणा और क्या हो सकती

है ? स्थूलदर्शी स्थूलभावसे दुःखका वियोग तो समझते हैं पर वह यथार्थ दुःखवियोग नहीं होता। इसीसे योगी लोग स्वयं मायाके पार जाकर मायानदीके स्रोतसे उत्क्षिप्त, आर्त्त, दुःखी जीवको सुखका सैकत या अज्ञान-नाशका उपाय बतला देते हैं ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

अन्वय—यः (जो) मां (मुझको) सर्वत्र (सब जीवों तथा पदार्थोंमें) पश्यति (देखता है) मयि (सर्वात्मा मुझमें) सर्वं च (ब्रह्मादि भूतजात समस्त प्रपञ्चको) पश्यति (देखता है) तस्य (उस सर्वैकात्मदर्शीको) अहं (मैं या ईश्वर) न प्रणश्यामि (उसका अदृश्य या परोक्ष नहीं बनता) स च (वह भी) मे (मुझ वासुदेवका) न प्रणश्यति (परोक्ष नहीं होता) ॥३०॥

श्रीधर—एवम्भूतात्मज्ञाने च सर्वभूतात्मतया मदुपासनं मुख्यं कारणमित्याह—यो मामिति। मां परमेश्वरं सर्वत्र भूतमात्रे यः पश्यति। सर्वं च प्राणिमात्रं मयि यः पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि। अदृश्यो न भवामि। स च ममादृश्यो न भवति। प्रत्यक्षं भूत्वा कृपादृष्ट्या तं विलोक्यानुगृह्णामीत्यर्थः ॥३०॥

अनुवाद—[मैं सर्वभूतात्मा हूँ अतएव मेरी उपासना ही सर्वत्र समदर्शनरूप आत्मज्ञानका मुख्य कारण है। इस विषयमें कहते हैं]—परमेश्वरस्वरूप मुझको जो भूतमात्रमें देखता है, तथा सब प्राणीमात्रको मुझमें देखता है, उससे मैं अदृश्य नहीं होता। वह भी मुझसे अदृश्य नहीं होता। मैं उसके सामने प्रत्यक्ष होकर कृपादृष्टि द्वारा अवलोकन कर उस पर अनुग्रह करता हूँ ॥३०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो मुझको इस प्रकार सर्वत्र देखता है वह सबमें मुझ को देखता है, वह मेरा नाश नहीं करता अर्थात् मुझको छोड़कर अन्य वस्तु नहीं देखता, मैं भी उसको देखता हूँ अर्थात् उसके सिवा और कुछ नहीं देखता, उसको मैं नाश नहीं करता।—कूटस्थ ब्रह्ममें नियमपूर्वक चित्त लगाने पर, क्षणमात्रके लिए भी आत्मा या ब्रह्मके सहवाससे वञ्चित नहीं होना पड़ता है। साधक जो कुछ देखता है उसमें उसको ही देखता है, और कोई वस्तु नहीं देखता। "जहाँ जहाँ दृष्टि पड़े तहाँ कृष्ण स्फुरे।" ब्रह्मादिसे स्थावर पर्यन्त वस्तुतः और कुछ नहीं है, विमुग्धदृष्टि हम लोगोंके सामने जगदादिरूपमें भासित होने पर भी, आत्मदृष्टिसम्पन्न पुरुषके लिए सबमें वही आत्मा दीख पड़ता है। तब 'सर्व' के रूपमें कुछ नहीं रहता, सबमें उस प्रभुको ही देख कर योगी कृतकृत्य हो जाते हैं। सब भूतोंमें उनको देखना हो तो पहले उनको अपने भीतर देखना पड़ेगा। अपने भीतर उनका सन्धान पाने पर ही सर्वत्र उनका सन्धान मिलता है। वह निखिल भुवनमें प्रविष्ट हो रहे हैं, अतएव सब कुछ उनका ही रूप है। हम शवके समान उपासना करते हैं, इसीसे उनको जाग्रत जीवन्तरूपमें नहीं प्राप्तकर सकते। जो शक्ति हमारे भीतर सुप्त भावमें पड़ी

है उसको यदि हम जगा सकें, तो विश्वमें जो शक्ति व्याप्त हो रही है वह भी जाग उठेगी। प्रह्लादकी धारणा जाग्रत थी, इसी कारण स्तम्भमें भी वह भगवान्‌को देख सके थे। वह तो सदा जाग्रत हैं, सबको ही देखते हैं, यदि हमारी निद्रा टूट जाय, हम यदि उनको देख पावें तो साथ ही साथ हम यह भी देखेंगे कि प्रभु भी हमको देख रहे हैं। यह, वह, सब कुछ देखकर ही तुम सब नष्ट कर रहे हो। एक वही हैं, यह-वह-सब तो मायामात्र है। योगीकी निर्मल दृष्टिमें कोई 'अहं-मम' आदि आवरण न रहनेके कारण, भगवान् भी कृपादृष्टि द्वारा उन पर अनुग्रह करते हैं, जिससे योगी सर्वत्र प्रभुको देख पाते हैं। प्रपञ्चवर्जित सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही कूटस्थ चैतन्य है, वही 'तत्'-पदवाच्य है, और मायोपहित अहं-बुद्धिविशिष्ट प्रपञ्चज्ञान ही जीवभाव है, यही 'त्वं'-पदवाच्य है। प्रपञ्चके उपशमके बाद 'त्वं' अपने कारण-स्वरूप ब्रह्मसत्ताके साथ एकाकार हो जाता है। साथ ही साथ यह जगद्-व्यापाररूप प्रपञ्च भी तब अदृश्य हो जाता है। यही पहले अपने अन्तःकरणमें अनुभव करना पड़ता है, तब बाहर अनुभव होता है। बर्फ पत्थरके समान दीखनेपर भी जैसे जलके सिवा कुछ नहीं होता, उसी प्रकार चित्स्वरूप ही घना होकर जगत्‌के आकारमें प्रतीत होते हैं। अतएव आत्मा चैतन्यस्वरूप होकर भी जगदादि प्रपञ्चका कारणस्वरूप है। अतः जगत्‌की ओर दृष्टि होते ही योगी आत्माको ही समस्त दृश्य प्रपञ्चके मूलके रूपमें देखता है, अतएव जगत् भासित होनेपर भी उसमें वह ब्रह्मदर्शन ही करता है। ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय होनेपर अन्य कोई वस्तु बोधका विषय नहीं होती, तब ब्रह्मादि स्थावरान्त ब्रह्मके साथ एक हो जाते हैं। जो चैतन्य मन और वाणीके अगोचर है वही दृढ़ भावनाके वश हमारी स्थूल दृष्टिके लिए गोचर हो जाता है। जो नहीं है उसका होना ही उनकी मायाशक्तिका प्रभाव है। क्रियाकी परावस्थामें जगदादि अनन्त खण्डज्ञान एक असीम ज्ञान-सत्तामें डूब जाते हैं। अनन्त खण्डज्ञानमें भी वही एक अद्वितीय था—उनकी मायाशक्तिके द्वारा जो नामरूपमय अनेकका ज्ञान होता था, वह मायाशक्ति जब ब्रह्ममें सङ्कुचित हो जाती है तब एक अनादि अखण्ड ब्रह्म अपनी सत्तामें विराजते हैं, और अन्य कुछ नहीं रहता ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

अन्वय—यः (जो योगी) सर्वभूतस्थितं (सर्वभूतोंमें स्थित) मां (मुझको) एकत्वं आस्थितः (अभिन्नभावमें अवस्थित समझकर) भजति (भजन करता है) सः (वह) योगी (योगी) सर्वथा वर्तमानः अपि (सब अवस्थाओंमें वर्तमान होकर भी) मयि वर्तते (मुझमें अवस्थान करता है—अर्थात् उसके मोक्षमें कोई बाधा नहीं होती) ॥ ३१ ॥

श्रीधर—न चैवम्भूतो विधिकिङ्करः स्यादित्याह—सर्वभूतस्थितमिति। सर्वभूतेषु स्थितं मामभेदमास्थित आश्रितो यो भजति स योगी ज्ञानी सन् सर्वथा कर्मपरित्यागेनापि वर्तमानो मय्येव वर्तते मुच्यते। न तु भ्रश्यतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अनुवाद—[इस प्रकारके योगी विधिकिङ्कर नहीं होते हैं—यही बतलाते हैं]—सब भूतोंमें स्थित मुझको इस प्रकार जो अभेदभावसे भजते हैं, वही योगी ज्ञानी हैं, वह सब अवस्थाओंमें रहते हुए भी अर्थात् वैध या कर्त्तव्य कर्मका परित्याग करके भी मुझमें ही अवस्थान करते हैं। अतएव वह मुक्ति प्राप्त करते हैं, कदापि भ्रष्ट नहीं होते॥ ३१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कोई इस प्रकार करता है, 'सब भूतोंमें हूँ' देखता है—एक करके अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें शान्तिपदको प्राप्तकर वह समस्त वस्तुओंमें रहते हुए भी मुझमें ही रहता है।—क्रियाकी परावस्थामें अवस्थित योगीको जो परम ऐक्यका अनुभव होता है, उसीसे वह मुक्तिपद प्राप्त करता है। शास्त्रीय आचार या किसी प्रकारकी विधिका किङ्करत्व उसे नहीं करना पड़ता। वस्तुतः वे "क्षणमात्रं न तिष्ठन्ति दृष्टिं ब्रह्ममयीं विना"। उनका लक्ष्य सर्वदा ब्रह्ममें रहता है, देहेन्द्रियादिके द्वारा जागतिक व्यापारमें लगे रहनेपर भी वस्तुतः उनका चित्त विषयोंमें आकृष्ट नहीं होता। यहाँ तक कि विषयादिके भोगके समय भी उनका चित्त वासनाशून्य हो जाता है। अतएव समझनेकी बात है कि उनका लक्ष्य निश्चय ही कहीं और लगा है, जब वह भोग्य वस्तुमें नहीं है तो अवश्य ही ब्रह्ममें लगा होगा। जिस योगीकी ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना साधनाके द्वारा खुल गयी है, उसको इस प्रकारके एकत्वका बोध होता है। यही वास्तविक "अद्वैत-बोध" है। चित्तके परे गये बिना देहबोध नहीं जा सकता, उस समय केवल मुँहसे "ब्रह्मास्मि" कहकर कोई "अद्वैत-भाव" का अनुभव नहीं कर सकता। घटाकाशस्थ आकाश महाकाश ही है, घटमें दृष्टि होने पर जिस प्रकार उस महाकाशका बोध नहीं हो सकता, उसी प्रकार ब्रह्मचैतन्यसे जीवचैतन्य पृथक् नहीं है—इस अपरोक्षानुभवको प्राप्त करनेपर परोक्षानुभवका विलोप अवश्यम्भावी है। इस परोक्षानुभवका पूर्ण विलोप होता है क्रियाकी परावस्थामें—तभी 'तत्' और 'त्वं'-पदार्थका अभेदभाव साधित होता है। तब साधक साध्यके साथ एक हो जाता है॥३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) यः (जो योगी) सर्वत्र (सब भूतोंमें) आत्मौपम्येन (अपनी तुलनामें) सुखं वा यदि वा दुःखं (अन्यके सुख या दुःखको) समं पश्यति (अपने सुख-दुःखके साथ समान करके देखता है।) स योगी (वही योगी) परमो मतः (श्रेष्ठ समझा जाता है)॥३२॥

श्रीधर—एवं च मां भजतां योगिनां मध्ये सर्वभूतानुकम्पी श्रेष्ठ इत्याह—आत्मौपम्येनेति। आत्मौपम्येन स्वसादृश्येन। यथा मम सुखं प्रियं दुःखं चाप्रियं तथाऽन्येषामपीति सर्वत्र समं पश्यन् सुखमेव सर्वेषां यो वाञ्छति। न तु कस्यापि दुःखम्। स योगी श्रेष्ठो ममाभिमत इत्यर्थः॥३२॥

अनुवाद—[इस प्रकार मेरा भजन करनेवाले योगियोंमें सर्वभुतानुकम्पी योगी श्रेष्ठ हैं—यही बतलाते हैं]—हे अर्जुन ! आत्माकी उपमामें अर्थात् स्वसादृश्यमें—जैसे मुझे सुख प्रिय तथा दुःख अप्रिय है, उसी प्रकार दूसरेको भी होगा—इस प्रकार सर्वत्र समदृष्टि करके जो सबके सुखकी इच्छा करते हैं, किसीके भी दुःखकी वाञ्छा नहीं करते—मेरे मतसे वही योगी श्रेष्ठ हैं ॥३२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अपने ही समान सबके सुख-दुःखको जो देखे वह परम योगी है।—जो लोग योगाभ्यासमें रत हैं वे दूसरोंके विषयमें एक तो भली-भाँति सोच भी नहीं सकते। क्योंकि दूसरी भावना आते ही योगमें विघ्न पड़ता है। परन्तु जो परिपक्व योगी हैं, यथार्थ आरूढ़ पुरुष हैं उनका चित्त जीवोंके दुःखसे द्रवित तो होता है परन्तु उसमें कोई मोह नहीं रहता। क्योंकि वे किसी वासनाके मोहसे लोकहित करनेके लिए उद्यत नहीं होते। साधारणतः सुख-दुःखका अनुभव प्रकृत योगीको नहीं होता। अपरिपक्व योगीको व्युत्थितावस्थामें सुख-दुःखका अनुभव होता है। और जब तक यह अनुभव रहता है तब तक कोई मुक्तात्मा नहीं हो सकता। अतएव केवल तत्त्वज्ञ होनेसे ही कोई योगी नहीं बनता। योगीन्द्र पुरुषको तत्त्वाभ्यास और मनोनाश दोनोंका ही साधन करना पड़ता है। तत्त्वाभ्यासके उपाय हैं सत्सङ्ग और तत्त्वालोचना। परन्तु मनोनाशका एकमात्र उपाय योगाभ्यास है। तत्त्वाभ्यास और मनोनाश एक साथ चलने पर योगकी प्राप्ति सहज हो जाती है। कल्पनाके अजस्र प्रवाहोंके कारण मन समुद्रवत् भीषण जान पड़ता है, उसमें कल्पनाकी तरङ्गें क्षीण हो जायँ तो उसकी भीषणता नष्ट हो जायगी। इसीसे कृपालु योगीन्द्र पुरुष कहते हैं कि "साधनाके द्वारा मनोनाश करो और व्युत्थान-कालमें भावना करो कि सर्वरूपमें प्रभु विराजमान हो रहे हैं, इससे ब्रह्मध्यान बना रहेगा।"

परन्तु भगवान् कहते हैं कि जो आत्मतुलनामें अन्यके सुख-दुःखको अपने सुख-दुःखके समान देखता है वही श्रेष्ठ योगी है, परन्तु उसने यदि अपने या दूसरोंके सुख-दुःखका अनुभव किया तो उसकी निरोधावस्था कहाँ रही ? यदि निरोध भाव है तब तो उसको न मन होगा, न कल्पना—फिर वह योगी दूसरोंके सुख-दुःखको कैसे समझेगा ? इस प्रकार सुख-दुःखको समझनेके लिए फिर मनमें लौट आना आवश्यक होगा, द्वैतबुद्धिकी आवश्यकता होगी। जो इतना उतर आयेगा, वह भगवान्के सामने इतना श्रेष्ठ कैसे विवेचित हुआ ? क्रियाकी परावस्थामें जब सब कुछ ब्रह्ममय जान पड़ता है, मुझे बोध हो रहा है—इसका भी बोध नहीं रहता, उस अवस्थामें किसी प्रकारका बोध होना संभव नहीं होता, परन्तु क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें उतरने पर योगीकी एक प्रकारकी अवस्था होती है जिसमें दोनों भाव रह सकते हैं यानी ब्रह्म-संलीन भाव भी रहता है और जगत्-दर्शन भी होता है। जिस प्रकार नींद आनेके समय जान पड़ता है कि बहिर्दृष्टि भी है और चित्त अन्तर्मुख भी हो रहा है। परावस्थाकी परावस्थामें उतरने पर योगीके मनमें होता है कि सब एक हो

गया था, जगत् नामकी कोई वस्तु न थी। बहुत देर तक क्रियाकी परावस्थामें रहकर उतरने पर जगत्‌के कार्यकारणका सम्बन्ध ठीक तौर से भान नहीं होता, यहाँ तक कि परिचित व्यक्तिको देखने पर भी वह सहसा अपरिचित व्यक्ति-सा जान पड़ता है, अत्यन्त निकटवर्ती स्वजनका भी नामरूप याद नहीं आता। फिर रह रहकर सब कुछ याद आने लगता है। एक बार जगत्‌की बात मनमें आती है, और फिर उसी समय विस्मृति-मात्र आ जाता है। यह व्युत्थित अवस्थाका प्राग्भाग है। श्रेष्ठ योगीको व्युत्थित अवस्थामें जगत्‌ज्ञान तो होता है, परन्तु उसमें मोह या आसक्ति नहीं होती। उस अवस्थामें योगी दूसरोंके क्लेशका अनुभव कर उसको मोचन करनेके लिए सचेष्ट हो सकते हैं। यद्यपि जागतिक भाव उनके सामने सत्यवत् प्रतीत नहीं होते, जगत्‌के दुःखशोकादि एक प्रकारका दुःस्वप्न जान पड़ते हैं, परन्तु दूसरे किसीको दुःख पाते देखकर उनको अपनी पूर्वावस्था याद आ जाती है कि मुझे भी अज्ञानवश एक दिन ऐसा ही दुःख मिला था। जैसे उनके मनमें होता है कि एक बार घोर स्वप्नमें व्याघ्रके आक्रमणके भयसे भयभीत होकर मैं चिल्ला उठा था, यह आदमी भी उसी प्रकार स्वप्नमें चिल्ला रहा है, इसीलिए वह अनुकम्पायुक्त होकर स्वप्नद्रष्टा पुरुषको जगाकर सान्त्वना देते हैं। इसी प्रकार योगी जब भवरोग-क्लान्त व्यक्तिके दुःखको स्मरण कर अपनी पूर्व अवस्थाका स्मरण करते हैं, तब उसको सदुपदेश दिये बिना वह नहीं रह सकते। निश्चय ही यदि वे इस प्रकारकी अवस्थाके प्रति उपेक्षा प्रदर्शन कर निश्चेष्ट रहते तो क्लेशसे जर्जर दुःखी व्यक्तिके भवरोगकी शान्तिका कोई उपाय नहीं रहता। जो ब्रह्ममें तल्लीन होकर जगत्‌के जीवोंकी व्यथाका अनुभव नहीं कर सकते वे भी उच्चतर अवस्थाको प्राप्त हुए योगी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु जो इच्छामात्रके होते ही तल्लीन हो सकते हैं और उस अनुपम परमानन्दको भी तुच्छ करके, जब व्यथित कातर जीव पर अनुग्रह करनेके लिए उद्यत होते हैं तो उन कृपासिन्धु महानुभव योगीन्द्रके सर्वश्रेष्ठ योगी होनेमें सन्देह ही क्या है? स्वयं भगवान् भी जगत्‌के जीवोंके लिए ठीक ऐसा ही करते हैं, अतएव चित्तसाम्यसे भगवान्‌के साथ एकरूपताको प्राप्त होनेके कारण वे श्रेष्ठ हैं। अन्यथा इस भवान्ध जीवके उद्धारकी कोई आशा ही नहीं रहती। ये समस्त मुक्तात्माही जगद्‌गुरु हैं। जगत्‌को दुःखसे त्राण पहुँचानेमें रत उन महानुभव पुरुषोंको हम बारम्बार प्रणाम करते हैं ॥३२॥

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)। मधुसूदन (हे मधुसूदन!) त्वया (तुम्हारे द्वारा) साम्येन (मनके लयविक्षेपसे शून्य होनेके कारण केवल आत्माकारावस्थित साम्यभावके द्वारा गृहीतव्य) यः अयं योगः (जो यह योगतत्त्व) प्रोक्तः (कहा गया), चञ्चलत्वात् (चित्तके चाञ्चल्यके कारण) एतस्य (इसकी)

स्थिरां (अचल) स्थितिं (स्थितिको) अहं (मैं) न पश्यामि (नहीं देखता) ॥३३॥

श्रीधर—उक्तलक्षणस्य योगस्यासंभवं मन्वानोऽर्जुन उवाच—योऽयमिति। साम्येन मनसो लयविक्षेपशून्यतया केवलात्माकारावस्थानेन। योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः। एतस्य स्थिरां दीर्घकालां स्थितिं न पश्यामि। मनसश्चञ्चलत्वात् ॥३३॥

अनुवाद—[उक्त प्रकारके योगको असंभव मानकर] अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मनके लयविक्षेपसे शून्य होनेके हेतु केवल आत्माकारमें अवस्थानके द्वारा जिस समता रूप योगको आपने कहा है, इस प्रकारके योगकी स्थिरा स्थिति मैं नहीं देख रहा हूँ। अर्थात् यह स्थिर भाव अधिक काल स्थायी होनेकी संभावना नहीं जान पड़ती ॥३३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा अनुभव हो रहा है—आपने जो यह योग कहा—इसे मैंने नहीं समझा—क्योंकि मेरा मन बड़ा ही चञ्चल है—बुद्धिको स्थिर करके मैं नहीं समझ सका।—योगके दो प्रधान विघ्न होते हैं—अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व। अर्थात् योगाभ्यास द्वारा जो स्थिरावस्था या परावस्था प्राप्त होती है उसे प्राप्त न करना, और समय समय पर उस अवस्थाके आने पर भी उसका दीर्घकाल स्थायी न होना। इसलिए साम्यभाव आकर फिर टूट जाता है—अतएव साधक स्थिरा स्थिति अर्थात् दीर्घकाल पर्यन्त क्रियाकी परावस्था प्राप्त नहीं कर सकता। तब मनमें नैराश्य आता है, मनमें होता है कि साधन करनेसे क्या लाभ होगा? जब कि स्थिरता नहीं रहती, थोड़े ही कारणसे टूट जाती है, तब शरीरके तेजके द्वारा जिज्ञासा होती है, कि चित्तकी यह समता क्या कभी अचल होगी? ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) हि (क्योंकि) मनः (मन) चञ्चलं (चञ्चल) प्रमाथि (इन्द्रियविक्षोभकारक) बलवत् (बलवान्) दृढं (दृढ़ अर्थात् अपनी जिद छोड़ना नहीं चाहता) [इसी लिए] तस्य (उसका) निग्रहं (निरोध) वायोः इव (वायुके निरोधके समान) सुदुष्करं (अतिशय दुष्कर) अहं मन्ये (मैं समझता हूँ) ॥३४॥

श्रीधर—एतत् स्फुटयति—चञ्चलमिति। चञ्चलं स्वभावेनैव चपलम्। किञ्च प्रमाथि प्रमथनशीलं। देहेन्द्रियक्षोभकरमित्यर्थः। किञ्च बलवद्विचारेणापि जेतुमशक्यम्। किञ्च दृढं विषयवासनाऽनुबद्धतया दुर्भेद्यम्। अतो यथाकाशे दोधूयमानस्य वायोः कुम्भादिषु निरोधनमशक्यं तथाहं तस्य मनसो निग्रहं निरोधं सुदुष्करं सर्वथा कर्त्तुमशक्यं मन्ये ॥३४॥

अनुवाद—[यही स्पष्ट करके कहते हैं]—हे कृष्ण! मन स्वभावतः ही चपल है, देहेन्द्रियका क्षोभ उत्पन्न करता है, बलवान् है अर्थात् विचारके द्वारा जय करना संभव नहीं तथा विषयवासनाकी अनुबद्धता द्वारा दुर्भेद्य है। अतएव आकाशके

प्रकम्पित वायुका निरोध कलस आदिमें जैसे असाध्य है, उसी प्रकार मनका निरोध भी सर्वथा सुदुष्कर जान पड़ता है ॥३४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मन बड़ा चञ्चल है, घोल-मन्थनके समान अस्थिर है—जोरसे दूसरी ओर खींच ले जाता है—जो चाहता है कर डालता है, इसको घरसे बाहर करना दुःसाध्य है जैसे वायुको घरसे बाहर करना दुःसाध्य है।—वासना और विक्षेपसंस्कारसे युक्त मन बड़ा ही बलवान् होता है, समझाने पर भी वह कदापि अपनी जिद नहीं छोड़ना चाहता और उसके ख्यालमें पड़कर इन्द्रियाँ और शरीर सब क्षुब्ध हो उठते हैं। जो चाहता है वही कर बैठता है, उधरसे उसको लौटाना बड़ा ही कठिन है। जन्मान्तरके संस्कार उसे और भी प्रबल बना डालते हैं। प्रबल उच्छृङ्खल आँधीको जैसे कोई रोक नहीं सकता उसी प्रकार वासना-विक्षुब्ध व्याकुल चित्तको सुस्थिर करना भी दुःसाध्य है। दुर्दमनीय बालकके समान 'यह दो, वह दो' कहता हुआ वह सदा चिल्लाता है और पागल कुत्तेके समान वासनाके घावसे पीड़ित होकर केवल चारों ओर दौड़ता फिरता है। आपने पहले प्राणायामादिके द्वारा प्राणवायुको स्थिर करनेके लिए कहा है—प्राणके निश्चल होने पर मन निश्चल होगा, परन्तु प्राणवायुको सुस्थिर करना भी तो सहज नहीं जान पड़ता। वासना-विक्षुब्ध मनको शान्त करना जैसे असंभव है, भयङ्कर चञ्चल प्राणवायुको स्थिर करना भी उसी प्रकार असंभव है ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)। महाबाहो (हे महाबाहो!) मनः (मन) चलं (चञ्चल है) [अतएव] दुर्निग्रहं (सहज ही निगृहीत नहीं होता) असंशयं (इसमें संशय नहीं) तु (किन्तु) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) अभ्यासेन (अभ्यासके द्वारा) च वैराग्येण (और वैराग्यके द्वारा) गृह्यते (निरुद्ध किया जाता है) ॥३५॥

श्रीधर—तदुक्तं चञ्चलत्वादिकमङ्गीकृत्यैव मनोनिग्रहोपायं श्रीभगवानुवाच—असंशयमिति। चञ्चलत्वादिना मनो निरोद्धुमशक्यमिति यद्वदसिएतन्निःसंशयमेव। तथापि त्वभ्यासेन परमात्माकारप्रत्ययावृत्त्या विषयवैतृष्ण्येन च गृह्यते। अभ्यासेन लयप्रतिबन्धाद्वैराग्येण च विक्षेपप्रतिबन्धादुपरतवृत्तिकं सत् परमात्माकारेण परिणतं तिष्ठतीत्यर्थः। तदुक्तं योगशास्त्रे—"मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। याऽसम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते" इति ॥३५॥

अनुवाद—[मनके चाञ्चल्यादिको मानकर उसके निग्रहका उपाय] श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! चञ्चलत्वादि दोषके कारण मनको निरुद्ध करना असाध्य है, यह जो तुम कहते हो, इसमें कोई संशय नहीं है। तथापि परमात्माकार-

प्रत्ययवृत्तिके अभ्यासके द्वारा, तथा विषय-वैतृष्ण्यके द्वारा मन निरुद्ध किया जा सकता है। अभ्यासके द्वारा लय (चित्तके अवसाद या निद्रा) का प्रतिबन्ध होता है, तथा वैराग्यके द्वारा विक्षेप (विषय-प्रवणता) का प्रतिबन्ध होने पर मनकी वृत्ति उपरामको प्राप्त होती है, तब मन परमात्माकारमें परिणत होकर अवस्थान करता है। योगशास्त्रमें कहा गया है कि वृत्तिशून्य मनकी ब्रह्माकारमें अवस्थितिको ही असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं ॥ ३५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव होता है—जो तुम कहते हो वह ठीक है—अभ्यासके द्वारा और अनावश्यक इच्छाओंसे रहित होने पर उसको (मनको) पकड़ सकते हैं।—शरीरके तेजके द्वारा मनको निग्रह करना असंभव जान पड़ने पर कूटस्थ द्वारा अनुभव होता है कि अभ्यास और वैराग्य साधनके द्वारा मनका रोध किया जा सकता है। अभ्यास किसे कहते हैं ? योगदर्शनमें लिखा है—"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः"। परमात्मामें मनकी स्थितिके लिए उत्साहपूर्वक जो यत्न होता है, उसका नाम अभ्यास है। पुनः पुनः साधनकी सहायतासे मनको कूटस्थमें लगाना चाहिए, इस प्रकार चित्त एकाग्र होकर आत्मामें स्थिर हो जायगा। इस प्रकारके प्रयत्नका नाम अभ्यास है। श्रद्धापूर्वक निरन्तर दीर्घकाल तक अभ्यास करने पर चित्तको दृढ़भूमि प्राप्त होती है। तब चित्तको इच्छामात्रसे ही किसी विषयमें संयत कर सकते हैं। मनको रोकनेका यह एक उपाय है, और दूसरा उपाय है वैराग्य। मनको अनावश्यक सङ्कल्पादि न करने देना ही वैराग्य कहलाता है। क्योंकि सङ्कल्पके द्वारा ही विषयोंमें हमारी आसक्ति उत्पन्न होती है। मनमें सङ्कल्प न होनेसे विषयोंमें आसक्ति नहीं होती। वैराग्यकी भी साधना है। वैराग्य पर और अपर भेदसे दो प्रकारका होता है। इसमें अपर वैराग्य चार प्रकारका होता है—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार। गुरु और शास्त्रके वाक्यको सुनकर भोगत्यागमें जो मनका प्रयत्न होता है, वही 'यतमान' वैराग्य है। पश्चात् इन्द्रियोंकी कौन कौन प्रवृत्तियाँ नष्ट हुईं, और किन किन विषयोंसे मन अब भी निवृत्त नहीं हो रहा है, इन विषयोंका अवधारण ही 'व्यतिरेक' वैराग्य है। पश्चात् लौकिक और वैदिक सारे विषय दुःखकर हैं, इस प्रकारका निश्चय मनमें करके बाह्य इन्द्रियोंका निरोध करना तथा एक ही विषयमें मनकी जो अवस्थिति है उसे 'एकेन्द्रिय' वैराग्य कहते हैं। इसमें भी विषयोंकी ओर मनकी उत्सुकता न रहती हो, ऐसी बात नहीं है, परन्तु नाना विषयोंमें चित्त नहीं दौड़ता। उस समय इन्द्रियोंके द्वारा विषय ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं होती। और जब मनमें तृष्णा नहीं रहती, सब विषयोंमें वैतृष्णा या निःस्पृहभावका उदय होता है, तो उसका नाम 'वशीकार' वैराग्य होता है। "दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।" इसलोकमें अन्न-पान, स्त्री-मैथुन आदिका भोग दृष्ट सुख कहलाता है, और शास्त्रोंके द्वारा सुने गये सत्कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गादिका भोग आनुश्रविक सुख है। इन दोनों प्रकारके सुखोंके प्रति वितृष्णाको ही "वशीकार" वैराग्य कहते हैं। इस वशीकार वैराग्यके उदय होते ही आत्मानात्मविवेक या प्रकृति-पुरुषका

पार्थक्य प्रत्यक्ष हो जाता है। इसका ही नाम 'पर वैराग्य' है। तब फिर मन-निरोधमें कोई विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता। ये सब क्रियाकी परावस्थाकी सामान्य, घन, घनतर और घनतम अवस्थाएँ हैं। योगाभ्यासके बिना मनोनिग्रह नहीं होता। क्रिया करके क्रियाके नशेमें मस्त रहने पर विषयरसमें वितृष्णा आयगी ही। अतएव ये वैराग्य पुस्तक-पठन मात्रसे नहीं होते, साधनाभ्यासके द्वारा ही संसाधित होते हैं। मनका निग्रह करनेके लिए पहले आवश्यक है अध्यात्म-विद्याकी प्राप्ति। परन्तु अध्यात्म-विद्याको प्राप्तकर लेनेसे ही सब काम नहीं हो जाता, उसका साधन करना पड़ेगा। परन्तु पहले पहल साधना बहुत नीरस जान पड़ती है, अतएव साधनामें मनको लगानेके लिए द्वितीय प्रयोजन होता है साधुसङ्ग। साधुके उपदेश और आचरणमें जब मन आकृष्ट होता है तभी तदनुसार कार्य करनेकी अभिलाषा या प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। उस समय भी पूर्वाभ्यासके वश नाना प्रकारकी वासनाओंके संस्कार प्रबल विघ्न बनकर खड़े हो जाते हैं। परन्तु साधुके पवित्र जीवनको देखकर नाना प्रकारकी वासनाओंसे चित्तको निवृत्त करनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। वासना ही साधनपथका महाविघ्न है उस वासना-सङ्कल्पका ह्रास करनेके लिए उस समय मनका आग्रह बढ़ जाता है।—आत्मसाक्षात्कारके लिए यही तृतीय प्रयोजनीय वस्तु है। संसार-वासना क्षीण हो जानेके बाद भी प्रकृत वैराग्य स्थायीभाव प्राप्त नहीं करता। इसका कारण है प्राणस्पन्दन। इस प्राणस्पन्दनको रोकनेके लिए प्राणायामादि योगाभ्यास अवश्य करणीय हैं। केवल इतना ही नहीं, प्राणायामादिके द्वारा प्राणस्पन्दन रुकने पर वशीकार-संज्ञा वैराग्य और पर वैराग्यादि अपने आप ही उदित होते हैं तथा आत्म-साक्षात्कार अनायास ही प्राप्त होता है।

मनोनिग्रहके लिए भगवान्‌ने अभ्यास और वैराग्यको ही प्रधान उपाय बतलाया। वस्तुतः अभ्यासके द्वारा क्या नहीं हो सकता? जीव अभ्यासके बलसे असाध्यको भी सिद्ध कर सकता है। वैराग्य सहज ही नहीं आता, परन्तु अभ्यासके द्वारा चित्तके अन्तर्मुखी होनेपर वैराग्य आप ही उदित होता है। "अभ्यासात् सर्वसिद्धिः स्यादिति वेदानुशासनम्।" अभ्याससे सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, यही वेदका अनुशासन है। मन दुर्निग्रह है, पर अभ्यासके द्वारा उसको निग्रह करना संभव है। जन्मजन्मान्तरसे चित्तमें जो संस्कार सञ्चित हैं, प्राणस्पन्दनके द्वारा मनमें वे अनन्त वासनाके रूपमें जाग उठते हैं। प्राणायामके द्वारा प्राणस्पन्दनका अवरोध कर लेनेपर मनका बहिर्विचरण बन्द हो जाता है। प्राणायाम ही मनरूपी मत्त मातङ्गका सुतीक्ष्ण अङ्कुश है। मनके बहिर्विचरणका अवरोध होनेके साथ (मनोनाश होनेपर) उसकी संसार-वासना भी क्षीण (वासनाक्षय) हो जाती है। इसके साथ तत्त्वाभ्यासका योग हो अर्थात् आत्मा ही सत्य वस्तु है तथा चित्तकी परिकल्पना ही यह जगत्-प्रपञ्च है—यह जगत्प्रपञ्च बिल्कुल मिथ्या है—इस प्रकारकी धारणा होनेपर जगद्-व्यापारमें वैराग्य आ उपस्थित होता है, विषयके हेयत्वकी उपलब्धि होती है। इस प्रकार क्रमिक अभ्यासके द्वारा समाधिसिद्धि प्राप्त होती है। विषयको हेय समझ

लेनेपर व्यर्थ ही विषयप्राप्तिके लिए दौड़-धूप नहीं करेगा। यह विचारजनित वैराग्य विशेष रूपसे मनके लिए उपकारी होता है। योगदर्शनके व्यास-भाष्यमें लिखा है—"चित्तनाम नदी उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भारा अविवेकविषय-निम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, अभ्यासेन कल्याणस्रोतः उद्घाट्यते इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः"। चित्त नामक नदी उभय दिशामें बहती है। यह कल्याणकी ओर प्रवाहित होती है और पापकी ओर भी प्रवाहित होती है। जो कैवल्यरूपी उच्च भूमिसे विवेक-विषयकी ओर निम्नगामिनी है वह कल्याणवहा है, जो संसार-प्राग्भारसे अविवेक-विषयकी ओर निम्नगामिनी है वह पापवहा है। इसलिए वैराग्यके अभ्यासके द्वारा विषयस्रोतको रोकना पड़ेगा, और मनोनिरोधके अभ्याससे प्रयत्न करके मनकी निश्चलतारूपी परम कल्याण स्रोतको उद्घाटित करना होगा। इस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोध दोनों उपायोंके अधीन है। पातञ्जल दर्शनके द्वादश सूत्रमें भी भगवद्वाक्यकी प्रतिध्वनि है। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चित्तवृत्तिका निरोध होता है॥ ३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

अन्वय—असंयतात्मना (असंयतचित्त व्यक्तिके द्वारा) योगः (योग) दुष्प्रापः (दुष्प्राप्य) इति (यही) मे (मेरा) मतिः (मत) है। तु (परन्तु) यतता वश्यात्मना (वशीभूतचित्त व्यक्तिके द्वारा) उपायतः (उपाय द्वारा) अवाप्तुं शक्यः (यह योग प्राप्त हो सकता है) ॥३६॥

श्रीधर—एतावांस्त्विह निश्चय इत्याह—असंयतेति। उक्त प्रकारेणाभ्यास-वैराग्याभ्यामसंयत आत्मा चित्तं यस्य तेन योगो दुष्प्रापः प्राप्तुमशक्यः। अभ्यासवैराग्याभ्यां वश्यो वशवर्ती आत्मा चित्तं यस्य तेन पुरुषेण पुनश्चानेनैवोपायेन प्रयत्नं कुर्वता योगः प्राप्तुं शक्यः ॥३६॥

अनुवाद—[इस विषयमें यही निश्चय है, इसलिए कहते हैं]—उक्त प्रकारसे अभ्यास और वैराग्यके द्वारा जिसका चित्त संयत नहीं हुआ, उसके लिए योग प्राप्त होना दुःसाध्य है, यही मेरा मत है। परन्तु अभ्यास और वैराग्यके द्वारा जिसका चित्त वशवर्ती है ऐसा पुरुष इस प्रकारके उपायोंके द्वारा प्रयत्न करने पर योगको प्राप्त हो सकता है ॥३६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसका मन संयत नहीं होता उसे योग नहीं होता—बड़े दुःखसे होता है। संयम करते करते उपाय द्वारा मन वशमें होता है।—असंयत चित्तसे योग प्राप्त होना दुःसाध्य तो है, परन्तु बहुत लोग थोड़े दिन साधन करके 'मेरा मन वशमें नहीं हो रहा है' कहकर हताश हो जाते हैं, इससे काम न चलेगा।

योगक्रिया एक प्रकारका कौशल है, इस क्रियाको नियमित रूपसे दीर्घकाल तक करते रहो, अन्तमें इसका फल तुम देख सकोगे। परन्तु असंयतात्मा और पौरुष-प्रयत्न-विहीन पुरुषके लिए योग प्राप्त करना दुःसाध्य है। बाहरके अभ्यास-वैराग्यसे चित्त थोड़ा थोड़ा संयत होता है, अन्ततः अनावश्यक चिन्तामें चित्तको उद्भ्रान्त नहीं होना पड़ता। तत्पश्चात् चित्तको वशीभूत करनेका प्रधान उपाय होता है पौरुषप्रयत्न या साधनाभ्यास। प्राणायामादि योगकौशल संयमके साथ प्रतिदिन बहुत देर तक (कमसे कम ६ घण्टे) कर सकने पर प्राणस्पन्दनका अवरोध होता है। प्राण-स्पन्दनके अवरुद्ध होते ही प्रज्ञाका उदय होता है। प्रज्ञाका उदय होने पर प्रारब्ध क्षीण हो जाता है, इसलिए साधन विषयमें पुरुषार्थका प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है। भगवत्प्राप्तिके लिए पुरुषार्थ साधन एकमात्र उपाय है, उसे न करके इस विषयमें प्रारब्धके ऊपर निर्भर करनेसे काम नहीं चलेगा। सांसारिक सुख-दुःख भोगके समान यह केवल प्रारब्धके ऊपर निर्भर नहीं करता। इसमें पुरुषार्थकी आवश्यकता है। पातञ्जलदर्शनमें लिखा है—"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्"—(समाधिपाद)। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—इन उपायोंसे असम्प्रज्ञात योग प्राप्त होता है। गुरु और वेदान्त वाक्यमें अटल विश्वास ही श्रद्धा है। भगवान् कहते हैं—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्"। केवल एक विषयको जाननेकी उत्सुकता ही श्रद्धा नहीं है। श्रद्धेय विषयमें तीव्र अनुराग ही श्रद्धा कहलाती है। इस अनुरागके बिना किसीको किसी विषयमें प्रवेश प्राप्त नहीं होता। मनके प्रबल उत्साहका नाम वीर्य है। इस वीर्यके अभावमें शम-दमादि गुण कदापि वशीभूत नहीं किये जा सकते। साधनाभ्यास करते समय कभी कभी आलस्य और नैराश्य आता है, परन्तु मनमें बल न होने पर उसको दूर करना कठिन होता है, बुद्धदेवके समान सब साधकोंको कहना चाहिए—"इहासने शुष्यतु मे शरीरम्, त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु। अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात् काय-मितश्चलिष्यते॥" अनेक कल्पोंकी साधना द्वारा भी जिसे प्राप्त करना दुर्लभ है उस ज्ञानकी प्राप्ति जब तक नहीं हो जाती, तब तक मैं आसनसे कदापि न उठूँगा। यह अवश्य ही अत्यन्त अद्भुत वीर्य है। परन्तु इसका कुछ अंश भी न होनेसे साधनमें सिद्धि प्राप्त करना असम्भव है। जिस ज्ञानका एक बार उदय हो गया, या साधनाके द्वारा जो प्रत्यय एकबार हो गया है उसे स्मृतिपथमें रखना ही स्मृतिसाधन है। बहुतोंको जीवनमें एकाधिक बार विवेक, वैराग्य, शुभ बुद्धि, भगवद्विश्वास या मनका उपराम प्राप्त होता है, परन्तु उसे हम इस प्रकार भूल जाते हैं कि जीवनमें फिर वह बात एक बार भी मनमें उदय नहीं होती। यह विस्मृति ही जीवका परम दुर्भाग्य है। दुःखको दुःखरूपमें जान लिया, संसारका असारत्व मनमें सुस्पष्ट भावसे प्रतिपन्न हो गया, इस बातको मैं फिर न भूलूँगा—जीवनमें न जाने कितनी बार प्रतिज्ञा की गयी, परन्तु अविवेक ऐसा है कि विषयभोगके समय पूर्वप्राप्त सारी स्मृतियाँ न जाने कहाँ डूब जाती हैं। जीवनका सबसे बढ़कर क्लेश यही है। इसलिए स्मृतिसाधन करना साधकके लिए बहुत ही आवश्यक है। कल्याणजनक अनुभूत

विषयकी पुनः पुनः स्मृतिसे एकाग्रता आती है। इसीलिए नाम, मन्त्र आदिका जप करनेका उपदेश शास्त्रोंमें मिलता है। स्मरणके अभ्यासके द्वारा चित्त तन्मुखी हो जाता है, दूसरा सङ्कल्प नहीं आने पाता। परन्तु विश्रृङ्खलरूपसे अनुभूत विषयका चिन्तन अथवा विक्षेपयुक्त मनसे मन्त्रादिका स्मरण या प्राणायामादि करनेसे विशेष लाभ नहीं होता। इस प्रकार श्रद्धा, वीर्य और स्मृतिके साधनसे समाधिका उदय होता है। चित्तकी एकतानता ही ध्यान है, यह ध्यान ही घना होने पर समाधि कहलाता है। यह निश्चय ही सम्प्रज्ञात समाधि है। इस सम्प्रज्ञात समाधिसे प्रज्ञा या योगज ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके द्वारा बुद्धिसत्त्व पुरुषके साथ एकीभूत हो जाता है। पर वैराग्यके उत्पन्न होने पर सर्वश्रेष्ठ विभूतिके प्रति भी वैराग्य उपस्थित हो जाता है। इसके द्वारा ही कैवल्यपद प्राप्त होता है, साधक सदाके लिए कृतार्थ हो जाता है। अतएव उपर्युक्त श्रद्धादि उपायोंके द्वारा ही जीव जीवन्मुक्त हो सकता है। श्रुति कहती है—"एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम"—इन उपायोंके द्वारा जो प्रयत्न या अभ्यास करते हैं उनका आत्मा ब्रह्मधाममें प्रविष्ट होता है। यह प्रयत्न जीवको करना ही पड़ेगा। 'मेरे भाग्यमें नहीं है'—कहकर शिथिलप्रयत्न होनेसे काम न चलेगा। अदृष्टके द्वारा सुख-दुःखादिका भोग प्राप्त हो सकता है, परन्तु जो भोग नहीं है, जो साधना है, जो नित्य अनुष्ठेय है, उसका अनुष्ठान न करके अदृष्टके ऊपर निर्भर करना मूर्खतामात्र है। भगवान्‌ने इसीलिए 'उपायतः' शब्दका प्रयोग किया है। जो प्रयत्न नहीं करेगा वह वञ्चित होगा ॥३६॥

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)। कृष्ण (हे कृष्ण!) श्रद्धया उपेतः (श्रद्धा या आस्तिक्यबुद्धि द्वारा योगसाधनमें प्रवृत्त) अयतिः (सम्यक् अप्रयत्नशील या शिथिलाभ्यासी) योगात् (योगाभ्याससे) चलितमानसः (भ्रष्ट-स्मृति या मन्दवैराग्यजनित विचलितचित्त) योगसंसिद्धिं (योगसिद्धि—योग-सिद्धिका फल ज्ञानको) अप्राप्य (न प्राप्त कर) कां गतिं (कौनसी गतिको) गच्छति (प्राप्त होता है)? ॥३७॥

श्रीधर—अभ्यासवैराग्याभावेन कथञ्चिदप्राप्तसम्यग्ज्ञानः किं फलं प्राप्नोतीति, अर्जुन उवाच—अयतिरिति। प्रथमं श्रद्धयोपेत एव योगे प्रवृत्तः न तु मिथ्याचारतया। ततः परं त्वयतिः सम्यङ् न यतते। शिथिलाभ्यास इत्यर्थः। तथा योगाच्चलितं मानसं विषयप्रवणं चित्तं यस्य। मन्दवैराग्य इत्यर्थः। एवमभ्यासवैराग्यशैथिल्याद् योगस्य संसिद्धिं फलं ज्ञानमप्राप्य कां गतिं प्राप्नोति ॥३७॥

अनुवाद—[अभ्यास और वैराग्यके अभावमें जिसको सम्यग् ज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे व्यक्तिको क्या फल प्राप्त होता है, यह जाननेके लिए] अर्जुन बोले—

हे कृष्ण! जो पुरुष मिथ्याचारके कारण नहीं परन्तु श्रद्धायुक्त होकर योगमें प्रवृत्त हुआ है, पश्चात् फिर सम्यक् प्रयत्न न करके शिथिलाभ्यासके कारण योगसे विचलित हो गया है, इस प्रकारका विषयप्रवणचित्त पुरुष, मन्दवैराग्य और शैथिल्यके कारण योगफल अर्थात् ज्ञानको न पाकर किस गतिको प्राप्त होता है? ॥३७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा अनुभव हो रहा है—यदि कथञ्चित् मनको स्थिर न कर सका—योगमें अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधिमें कुछ प्राप्त नहीं करता—और मर जाता है तो उसकी क्या गति होगी?—पहले खूब श्रद्धायुक्त होकर साधनाभ्यास प्रारम्भ किया गया परन्तु चित्त स्थिर न हुआ, विक्षेप आकर मनको बारंबार अस्थिर करने लगा, तब अकृतकार्यताके कारण मनमें एक प्रकारकी निराशा आती है। मनमें होता है इतनी चेष्टा करने पर भी यदि सफलता प्राप्त न हुई, तो फिर योगाभ्यास करनेसे क्या लाभ? ऐसा सोचने पर साधनामें भी शिथिलता आती है। अथवा खूब संयमके साथ साधना करते करते अचानक विषय-रसके आस्वादनके लिए आग्रह पैदा हो, जो विषयोंके प्रति अवैराग्यकी सूचना देता है, और साधनमें खूब विघ्न उत्पन्न करता है, ऐसी अवस्थामें यदि अचानक मृत्यु हो जाय और प्रारब्धके फलस्वरूप मृत्युक्लेशके कारण भगवत्स्मरण न हो तो योग-भ्रष्टको तत्त्वसाक्षात्कारके अभावमें कौन सी गति प्राप्त होगी, अर्जुनका यही प्रश्न है ॥३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) ब्रह्मणः पथि (ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें) विमूढः (विमूढ होकर) अप्रतिष्ठः (निराश्रय) उभयविभ्रष्टः (कर्म और योग दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट) [व्यक्ति] छिन्नाभ्रमिव (छिन्न मेघके समान) न नश्यति कच्चित्? (कहीं विनष्ट तो नहीं हो जाता?) ॥३८॥

श्रीधर—प्रश्नाभिप्रायं विवृणोति—कच्चिदिति। कर्मणामीश्वरेऽर्पितत्वात् अननुष्ठानाच्च तावत् कर्मफलं स्वर्गादिकं न प्राप्नोति। योगानिष्पत्तेश्च मोक्षं न प्राप्नोति। एवमुभयस्माद् भ्रष्टोऽप्रतिष्ठो निराश्रयः। अत एव ब्रह्मणः प्राप्त्युपाये पथि मार्गे विमूढः सन् कच्चित् किं नश्यति? किं वा न नश्यतीत्यर्थः। नाशे दृष्टान्तः—यथा छिन्नमभ्रं पूर्वस्मादभ्राद्विश्लिष्ट-मभ्रान्तरं चाप्राप्तं सन् मध्य एव विलीयते तद्वदित्यर्थः ॥३८॥

अनुवाद—[प्रश्नके अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं]—हे महाबाहो! वे ईश्वरमें कर्मार्पण करके कर्म अननुष्ठानके द्वारा स्वर्गफलको प्राप्त नहीं करते; इधर योगकी अनिष्पत्तिके कारण मोक्षलाभ भी नहीं कर सकते, इस प्रकार उभय-भ्रष्ट होकर निराश्रय होकर, ब्रह्मप्राप्तिके उपायभूत मार्गमें विमूढ होकर वह व्यक्ति नष्ट तो नहीं हो जाता? नाशका दृष्टान्त—जैसे विच्छिन्न अभ्र पूर्वअभ्रसे विश्लिष्ट होकर दूसरे अभ्रको प्राप्त

न होकर बीचमें ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार क्या योगभ्रष्ट पुरुष भी नष्ट हो जाता है ? ॥३८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मेघके टुकड़ेके समान उसकी गति है, वह ब्रह्ममें न रहकर मूर्ख रहता है उसकी क्या गति होती है?—जो धर्म और मोक्ष दोनों मार्गोंको खो बैठा है, उसकी क्या गति होगी ? वायुके द्वारा मेघ छिन्न-भिन हो जाने पर एक स्थानमें जम नहीं सकता। पश्चात् यदि कोई खण्डमेघ अनुकूल वायु नहीं पाता तो वह दूसरे मेघके साथ मिल भी नहीं सकता है, बीचमें ही विलीन हो जाता है। क्या योगभ्रष्ट पुरुषकी भी ऐसी ही दुर्दशा होती है ? योगाभ्यासका आरम्भ करनेसे प्रचलित कर्मानुष्ठानके मार्गको ग्रहण नहीं कर सकता, अतएव उसके लिए पितृयान मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। और योगाभ्यास करके ब्रह्ममें रहनेवाला योगफल भी उसे प्राप्त नहीं हुआ, अतएव वह मोक्षके योग्य भी नहीं रहता। इस प्रकार उभय-भ्रष्ट साधककी क्या गति होती है ? क्या वह वायुद्वारा सन्ताड़ित छिन्न खण्डमेघके समान नष्ट नहीं होता ? ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) मे (मेरे) एतत् संशयं (इस संशयको) अशेषतः (निःशेषरूपसे) छेत्तुम् (छेदन करनेमें) अर्हसि (तुम समर्थ हो)। हि (क्योंकि) अस्य संशयस्य (इस संशयका) छेत्ता (छेदनकर्ता) त्वदन्यः (तुमसे भिन्न) न उपपद्यते (संभव नहीं है) ॥३९॥

श्रीधर—[त्वयैव सर्वज्ञेनायं मम सन्देहो निरसनीयः] त्वत्तोऽन्यस्त्वेतत् सन्देह-निवर्तको नास्तीत्याह—एतदिति। एतदेनम्। छेत्ता निवर्त्तकः। स्पष्टमन्यत् ॥३९॥

अनुवाद—[तुम सर्वज्ञ हो, मेरे इस सन्देहको दूर कर सकते हो—इस विषयमें कहते हैं]—हे कृष्ण ! मेरे इस संशयको निःशेषरूपसे छेदन करनेमें तुम ही समर्थ हो। तुम्हारे सिवा अन्य किसी ऋषि या देवताके द्वारा मेरे इस सन्देहका निराकरण होना संभव नहीं ॥३९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इन सब संशयोंका छेदन कीजिए, पश्चात् अन्य संशयोंका छेदन कीजियेगा।—साधकको पहले ही एक प्रबल सन्देह होता है। यह सन्देह मिट जानेके बाद दूसरा संशय उठाया जा सकता है। हमारा मन निरन्तर संशयके झूले पर झूल रहा है, यह झूलना जब तक रुकता नहीं तब तक कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। हम अपने मनको आप नहीं समझ पाते हैं; परन्तु जो हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान हो रहे हैं वह हमारे हृदयकी बात जिस प्रकार समझेंगे, उस प्रकार दूसरा कोई नहीं समझ सकता। इसीलिए अर्जुनने कहा कि मेरे मनके अन्तःस्थलमें जो सन्देह जाग उठा है उसको तुम्हारे सिवा और कोई दूर नहीं कर सकता। भगवान् सर्वज्ञ हैं, सुषुम्ना ज्ञान-प्रवाहिनी नाड़ी है।

जो सुषुम्नामें अवस्थित हो सकता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है। परमात्मामें ही यह सर्वज्ञत्वका बीज पूर्णरूपसे वर्तमान है। योगदर्शनमें लिखा है—"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्"—उनमें सर्वज्ञबीज पराकाष्ठाको प्राप्त है। जो पुरुषोत्तम या भगवान् हैं वह इस अक्षर-पुरुष या जीव-चैतन्यसे उत्तम हैं। "अक्षरादपि चोत्तमः" उपनिषद्में भी लिखा है—'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्'। परमात्मा ही सब जीवोंके गुरु, जीवोंके सारे संशयोंका छेदनकर्त्ता हैं। परमात्माके सिवा और कोई संशयका नाश करनेमें समर्थ नहीं है। जब तक मन है, तब तक संशयका अन्त नहीं। मन जैसे ही परमात्मामें प्रविष्ट होकर अपने पृथक् नामरूपको मिटा डालता है तब फिर कोई संशय उसे क्लिष्ट नहीं कर सकता। साधनाके द्वारा मनोनाश किये बिना प्रकृत कल्याणकी प्राप्तिके लिए और कोई उपाय नहीं है। वासना-शून्य होकर मन जब आत्माकारमें स्थिति लाभ करता है तब वह निखिल ज्ञानका प्रकाशक हो जाता है। वही प्रकृत गुरु होता है—'आत्मा वै गुरुरेकः'। इसी कारण आत्मज्ञ पुरुषको ही गुरु कहते हैं ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)। पार्थ (हे पार्थ!) तस्य (उसका) न इह (न इहलोकमें) न अमुत्र (न परलोकमें) विनाशः (विनाश) विद्यते (है)। तात (हे तात!) हि (क्योंकि) कल्याणकृत् (कल्याणकारी) कश्चित् (कोई) दुर्गतिं (दुर्गतिको) न गच्छति (नहीं प्राप्त होता) ॥४०॥

श्रीधर—अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच पार्थेति सार्द्धैश्चतुर्भिः। इहलोके नाश उभयभ्रंशात्पातित्यम्। अमुत्र परलोके नाशो नरकप्राप्तिः तदुभयं तस्य नास्त्येव। यतः कल्याणकृत् शुभकारी कश्चिदपि दुर्गतिं न गच्छति। अयं च शुभकारी श्रद्धया योगे प्रवृत्तत्वात्। तातेति लोकरीत्योपपालयन् सम्बोधयति ॥४०॥

अनुवाद—(इसका उत्तर साढ़े चार श्लोकोंमें) श्रीभगवान् कहते हैं—हे पार्थ! उभयभ्रष्ट होनेके कारण इहलोकमें नाश या पातित्य, तथा परलोकमें नाश अर्थात् नरक-प्राप्ति, ये दोनों उसको नहीं होते। क्योंकि हे तात! कोई शुभकर्म करनेवाला दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता। वह शुभकारी इसलिए है कि श्रद्धायुक्त होकर योगमें प्रवृत्त हुआ है। अर्जुन भगवान्के सखा और भाई हैं, यहाँ वैसा सम्बोधन न करके उसको 'तात' कहकर सम्बोधन किया, क्योंकि अर्जुनने उनको गुरुरूपमें वरण किया है। इसलिए वह भी लोकरीतिका अनुसरण करके वात्सल्यभावसे सम्बोधन कर रहे हैं ॥४०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है—उसका कभी विनाश नहीं होता, शुभकर्म करनेपर कभी दुर्गति नहीं होती।—साधकके मनमें उपर्युक्त

प्रकारका सन्देह होनेपर भी, उसके साधनजनित दिव्यज्ञानका पुनः उदय होता है, उस दिव्य-ज्ञानके द्वारा वह जान सकता है कि कल्याणकारी पुरुषकी कभी दुर्गति नहीं होती। कल्याणकृत् कौन है? जो जीवात्मा देह-मनके पल्ले पड़करके अब तक नाना प्रकारके दुःख और दुर्गतिका भोग कर रहा है वह जब अपनी अवस्था समझकर देह-मनकी बात नहीं सुनता, अपने अन्तःपुरमें प्रवेश करनेके लिए उद्योग करता है और इन्द्रिय-मनके वशवर्ती होकर विषयोंके द्वारा वञ्चित होना नहीं चाहता, तब वह साधनादि उपायोंका अवलम्बन करता है; शास्त्रमें, गुरुमें दृढ़ विश्वास करके तत्प्रदर्शित मार्गमें गमन करनेकी चेष्टा करता है—वही प्रकृत कल्याणकृत् है। उसकी कभी दुर्गति नहीं हो सकती है। इन्द्रियाँ चाहती हैं विषय, और शरीर चाहता है आराम—परन्तु इसमें दुर्गति नष्ट नहीं होती। आत्मासे दूर रहना ही प्रकृत दुर्गति है। यह दुर्गति न आने पावे, इसकी चेष्टा साधकको करनी चाहिए। परन्तु मन यदि विषयोंमें घूमता रहे, तब तो यह दुर्गति अनिवार्य है। इसलिए साधक लोग ऐसे उपायोंका अवलम्बन करते हैं जिससे आत्मस्थिति प्राप्त करके परम निश्चिंत हो सकें। वह उपाय है आत्माके साथ मनका संयोग-स्थापनका कौशल। यही योगाभ्यास कहलाता है। ये योगाभ्यासी पुरुष भी कभी कभी विषयाकृष्ट होकर योगपथसे भ्रष्ट हो जाते हैं, या अभ्यासमें किसी प्रकारसे शिथिलप्रयत्न हो जाते हैं। उनके दोनों लोक नष्ट होंगे या नहीं—अर्जुनको यही सन्देह हुआ था। भगवान्ने अर्जुनको समझा दिया कि उनकी दुर्गति नहीं होती, क्योंकि वे कल्याणकृत् हैं। एक बार गुरु-कृपासे जिसने आत्मज्योतिका दर्शन किया है, अथवा किसी दिन क्रियाकी परावस्थामें क्षणकालके लिए भी ब्रह्मानन्दका उपभोग किया है—वह अगर सिद्धिलाभ न भी कर सके अथवा अन्य कारणोंसे योगभ्रष्ट हो जाय, तो भी उसकी असद्गति नहीं हो सकती। वह निश्चय ही क्रमसे मुक्ति प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता है। यदि समाधिसिद्धि न भी हुई, केवल समाधिसाधनमें चेष्टा होती रही—और इसी बीचमें मृत्यु हो गयी तो उसके मनके संस्कार जायँगे कहाँ? अतएव संस्कारके वश वह शुभ देह तथा शुभ गति प्राप्त करेगा ही। स्वर्ग, नरक, कर्मलोक, भोगलोक तथा इनमें स्थित सारे जीव तो परमात्माके ही स्वरूप हैं। जिसने सब अवस्थाओंमें उनको स्मरण करनेका दृढ़ अभ्यास किया है उसको भय करनेका कोई कारण नहीं है, वह निश्चय ही मृत्युके बाद शुभ गति प्राप्त करेगा, यही क्यों—जिसका अभ्यास दृढ़ नहीं हुआ है या मन्द-भाग्यके कारण अभ्यास करना छोड़ दिया है, उसका भी नरक-निवारण हो जायगा। उनके स्मरणकी ऐसी ही महिमा है। क्योंकि परमात्मामें सब लोक हैं, इसलिए वह यदि कर्मफलके कारण नरकमें भी वास करता है तब भी पूर्वाभ्यासके वश उनको नहीं भूल सकता, इसलिए उसका नरक-वास होनेपर भी भगवत्स्मृति उसकी लुप्त न होगी। उसके द्वारा वह फिर उच्च गतिको प्राप्त करेगा। भगवत्स्मृति स्वर्गतुल्य है, भगवद्विस्मृति ही नरक है। श्रीमद्भागवतमें नारदजी कहते हैं—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत् ततो यदि।
यत्र क्व वा भद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

(१ स्क० ५ अ०)

जो लोग स्वधर्म अर्थात् अपने अपने वर्णाश्रमके अनुसार विधिकिङ्करत्व परित्याग करके हरि-पादपद्मका भजन करते हैं, अर्थात् आत्मदर्शनकी प्राप्तिके लिए क्रिया करते जाते हैं, और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त करनेसे पूर्व ही यदि उनका पैर फिसल जाता है अथवा वे मर जाते हैं—तो इस प्रकार चाहे जिस किसी अवस्थामें वे पतित हों उनको (इहलोक या) परलोकमें फिर उच्च स्थानमें उन्नति होती है। केवल वर्णाश्रमधर्म पालन करनेमें उस प्रकारके पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती, और जो कुछ पुरुषार्थ होता है वह भी क्षणस्थायी होता है ॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अन्वय—योगभ्रष्टः (योगभ्रष्ट पुरुष) पुण्यकृतां (पुण्यात्मा लोगोंके) लोकान् (लोकोंको) प्राप्य (प्राप्त होकर) [तथा] शाश्वतीः समाः (अनेक वर्ष) उषित्वा (वास करके) शुचीनां (सदाचारी) श्रीमतां (धनवानोंके) गेहे (घरमें) अभिजायते (जन्मग्रहण करता है) ॥४१॥

श्रीधर—तर्हि किमसौ प्राप्नोतीत्यपेक्षायामाह—प्राप्येति। पुण्यकारिणामश्वमेधादियाजिनां लोकान् प्राप्य तत्र शाश्वतीः समाः बहुन् संवत्सरानुषित्वा वाससुखमनुभूय शुचीनां सदाचाराणाम्। श्रीमतां धनिनाम्। गेहे स योगभ्रष्टोऽभिजायते जन्म प्राप्नोति ॥४१॥

अनुवाद—[तब वह किस प्रकारकी गति प्राप्त करते हैं ?—इस विषयमें कहते हैं]—योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यकारी, अश्वमेधादि यज्ञ करनेवाले पुरुषोंके लोकोंको प्राप्तकर, वहाँ अनेक संवत्सर पर्यन्त सुखसे वास करके सदाचारी धनियोंके घर जन्म ग्रहण करते हैं ॥४१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—योगभ्रष्ट पुरुष अच्छे पुण्यात्मा लोगोंके घर, ब्राह्मणके घर, लक्ष्मीवान्के घर योगभ्रष्ट होकर जन्मग्रहण करता है।—योगभ्रष्ट दो प्रकारके होते हैं। योगीके मनमें यदि विषयवासना रहती है, तब उनको योगसिद्धि नहीं होती। वैराग्यके अभावके कारण उनका विषयाकृष्ट चित्त उस प्रकार आत्म-चिन्तनमें मग्न नहीं हो सकता। यद्यपि वे कुछ सामान्य योगैश्वर्य प्राप्त करते हैं जिससे उनका मन लुब्ध हो जाता है और प्रमादवश उन सामान्य शक्तियोंकी प्राप्तिसे मुग्ध होकर आत्मक्रियामें उनका उतना प्रयत्न नहीं रह जाता। तब उनके मनमें होता है कि उन्होंने यथेष्ट शक्ति प्राप्त कर ली है, जो कुछ होना था वह हो गये हैं। तब अभिमान बढ़ जाता है, स्पर्द्धा बढ़ जाती है, और क्रमशः चित्त विपथगामी हो जाता है। धन और विषय-सुखादिके प्रति खूब लोभ होता है। इन सारे सकाम योगभ्रष्ट लोगोंके चित्त विषयाकृष्ट होनेके कारण—वे मृत्युके पश्चात् चिरकाल तक स्वर्गादि सुखका अनुभव कर कर्मफल-भोगके पश्चात् पुनः मर्त्यलोकमें जन्मग्रहण करते हैं। परन्तु इनकी पुनरावृत्ति साधारण जीवके समान नहीं होती। उनके चित्तमें एक समय जो ब्रह्मनिष्ठाका उदय हुआ था तथा उसके लिए जो

उन्होंने परिश्रम किया था, उसके फलस्वरूप वे पुण्यवान् लोगोंके समान स्वर्ग-सुख प्राप्त
तो करते ही हैं, स्वर्गभोगके पश्चात् भूतलपर वे श्रीमान् लोगोंके घर जन्मग्रहण
किया करते हैं। पूर्वसंस्कारके वश भगवत्साक्षात्कारके लिए उनको साधनारम्भ
करना पड़ता है, इसलिए सदाचारी आस्तिक ब्राह्मणके कुलमें जन्म लेते हैं।
कबीरने कहा है—

सहकामी सुमिरन करे पावे ऊँचा धाम।
निहकामी सुमिरन करे पावे अविचल राम॥
सहकामी सुमिरन करे फिर आवे फिर जाय।
निहकामी सुमिरन करे आवागमन नसाय॥

कामनाके साथ भगवत्स्मरण करने पर सारे उच्च धाम प्राप्त होते हैं, निष्काम-
भावसे स्मरण करने पर उनका नित्यपद प्राप्त होता है। सकाम लोग भगवत्स्मरण तो
करते हैं परन्तु उनका संसारमें आवागमन बन्द नहीं होता। परन्तु निष्कामीका
भगवत्स्मरण उसके जन्म-मरणको रोक देता है ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अन्वय—अथवा (अथवा) धीमतां (बुद्धिमान्) योगिनां कुले (योगियोंके
कुलमें) एव भवति (निश्चय जन्मग्रहण करते हैं)। लोके (जगत्में) ईदृशं
(इस प्रकारका) यत् जन्म (जो जन्म है) एतत् हि दुर्लभतरम् (यह निश्चय ही
अपेक्षाकृत दुर्लभ है) ॥४२॥

श्रीधर—अल्पकालाभ्यस्तयोगभ्रंशे गतिरियमुक्ता। चिराभ्यस्तयोगभ्रंशे तु
पक्षान्तरमाह—अथवेति। योगनिष्ठानां धीमतां ज्ञानिनामेव कुले जायते। न तु पूर्वोक्ताना-
मनारूढयोगानां कुले। एतज्जन्म स्तौति—ईदृशं यज्जन्म—एतद्धि लोके दुर्लभतरं।
मोक्षहेतुत्वात् ॥४२॥

अनुवाद—[अल्पकाल अभ्यस्त योगसे भ्रंशकी गति कही गयी, चिरकाल
तक अभ्यस्त योगसे भ्रंशकी क्या गति होती है, यही बतलाते हैं]—वे योगनिष्ठ
बुद्धिमान् ज्ञानीके कुलमें जन्मग्रहण करते हैं। अनारूढ़ योगीके कुलमें जन्म नहीं
लेते। इस प्रकारके जन्मकी प्रशंसा करके कहते हैं—लोकमें इस प्रकारका जन्म दुर्लभ
होता है। मोक्षकी प्राप्ति होनेके कारण ही यह दुर्लभतर है ॥४२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अथवा योगीके घरमें जन्म लेता है—इस प्रकारका
जन्म अति दुर्लभ है।—इस बार द्वितीय प्रकारके योगभ्रष्टोंकी गतिके बारेमें कहते
हैं। बहुत समय तक योगाभ्यास करके भी पूर्व पूर्व जन्मोंकी दुष्कृतिके कारण अथवा
आयुकी अल्पताके कारण अलब्धभूमिकत्व अथवा अनवस्थिततत्व रूपी योगविघ्नोंके
कारण जिनकी योगसिद्धि न हुई, उनकी गतिके विषयमें इस श्लोकमें कहते हैं। इस
प्रकारके योगीको वैराग्य या प्रयत्न-शैथिल्यका अभाव न होने पर भी योगसिद्धि नहीं

होती। मृत्युके बाद इस प्रकारके योगी ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ ही साधन समाप्त करते हैं, अथवा उस प्रकारकी उच्चावस्थाको यदि प्राप्त नहीं होते तो उनको पुनः इस जगत्में लौट आना पड़ता है। परन्तु इस बार वे योगीके घरमें आकर जन्मग्रहण करते हैं। जहाँ पारिपार्श्विक सारी अवस्थाएँ उनके लिए अनुकूल होती हैं। वे सहज ही योगमार्गके उपदेशको वहाँ ही प्राप्त करते हैं। कोई उनकी साधनामें विघ्न उत्पन्न नहीं करता। कुलके दरिद्र होने पर भी वे निर्जनमें बहुत देर तक बैठकर अपने अतिप्रिय प्राणोंमें आत्माका अनुसन्धान कर सकते हैं। इस प्रकार बारम्बार स्वरूपमें स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करके वे वर्तमान जन्ममें चरमसिद्धि लाभ करके कृतार्थ हो जाते हैं। किसी भी प्रकारका विघ्न न होनेके कारण यह जन्म दुर्लभतर होता है। धनी के घरमें चित्तमें विक्षोभ पैदा करनेवाले बहुतसे विघ्न हो सकते हैं, परन्तु योगीके घरमें उस प्रकारका कोई उपद्रव नहीं होता। यहाँ वे निश्चिन्त चित्तसे साधना करके जन्म सफल करते हैं। इसीलिए श्रीमान् लोगोंके घर जन्म लेनेकी अपेक्षा योगीके घर जन्म लेना श्रेष्ठतर है ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

अन्वय—कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन !) तत्र (उस योगीके कुलमें) पौर्वदेहिकं (पूर्वदेहसे उत्पन्न) तं बुद्धिसंयोगं (उस बुद्धिसंयोगको) लभते (प्राप्त करते हैं), ततः च (तदनन्तर) भूयः (पुनर्वार) संसिद्धौ (संसिद्धिके लिए) यतते (यत्न करते हैं) ॥४३॥

श्रीधर—ततः किम् ? अत आह—तत्रेति सार्द्धेन। स तत्र द्विप्रकारेऽपि जन्मनि पूर्वदेहे भवं पौर्वदेहिकं। तमेव ब्रह्मविषयया बुद्ध्या संयोगं लभते। ततश्च भूयोऽधिकं संसिद्धौ मोक्षे प्रयत्नं करोति ॥४३॥

अनुवाद—[उस प्रकारके जन्मग्रहणके बाद क्या होता है, यही डेढ़ श्लोकमें कहते हैं]—वे इन द्विविध जन्मोंमें पूर्वदेहजात ब्रह्मविषयक बुद्धिका संयोग प्राप्त करते हैं। उसके बाद वे मोक्षकी प्राप्तिके लिए अधिकतर प्रयत्न किया करते हैं। [श्रीधरने 'तत्र' शब्दसे 'द्विविध जन्ममें', तथा शङ्कराचार्यने 'योगियोंके कुलमें' अर्थ लिया है] ॥४३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उसके बाद पूर्वजन्मके संस्कारसे पुनः उसी प्रकारकी मति होकर परजन्ममें यत्नवान् बनता है, पश्चात् करते करते सम्यक् प्रकारसे सिद्धि होती है।—नींदसे उठा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार पूर्वस्मृति लाभ करता है, उसी प्रकार पूर्वजन्मस्थ साधनकी इच्छा इस जन्ममें तीक्ष्ण संस्कारके रूपमें आविर्भूत होती है। उसके फलस्वरूप वे अधिकतर साधनमें यत्नवान् होते हैं। हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ ही पूर्वसंस्कारके अनुरूप होकर हमको कर्ममें प्रेरणा प्रदान करती हैं [इसीसे पूर्व जन्ममें अकृतकार्य

साधक इस जन्ममें प्रबल चेष्टा करनेमें समुद्यत होते हैं]। बहुधा अवश होकर भी हम बाध्य होकर तत्तत् कार्य करते हैं। हमारे स्थूलशरीरके त्यागके साथ सूक्ष्मशरीर तो नष्ट नहीं होता। अतएव सारे पूर्वसंस्कार सूक्ष्म-शरीरमें वर्तमान रहते हैं। परन्तु पूर्वदेह-जात संस्कार प्रबल होने पर भी इस जन्ममें बिना परिश्रमके ही सब हो जायगा, ऐसी बात नहीं है। इस जन्ममें भी साधकको अधिकतर परिश्रम करना पड़ेगा। गत जन्मकी विफलताके कारण इस जन्ममें परिश्रम करनेमें प्रवृत्तिका उदय होना स्वाभाविक है। परन्तु गत जन्ममें जितना साधनपथ अतिक्रान्त हुआ था, इस जन्ममें उसके लिए विशेष खटना नहीं पड़ता, थोड़े प्रयत्नसे ही वह प्राप्त होता है। परन्तु अवशिष्ट पथके लिए प्रबलतर परिश्रम किए बिना इस जन्ममें भी सफलता प्राप्त करना संभव नहीं है। परन्तु वहाँ तक की साधनाका जोर जन्मान्तरमें भी बचा रहेगा ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

अन्वय—हि (क्योंकि) सः (वह) अवशः अपि (अवश होकर भी) तेन एव पूर्वाभ्यासेन (उसी पूर्व अभ्यासके वश) ह्रियते (विषयसे उसके मनको हटाकर ब्रह्मनिष्ठ करते हैं)। योगस्य (योगके) जिज्ञासुः अपि (जिज्ञासु होकर भी) शब्दब्रह्म (वेदको) अतिवर्तते (अतिक्रम करता है) ॥ ४४ ॥

श्रीधर—तत्र हेतुः—पूर्वेति। तेनैव पूर्वदेहकृताभ्यासेनावशोऽपि कुतश्चिदन्तरायाद-निच्छन्नपि संह्रियते विषयेभ्यः परावर्त्य ब्रह्मनिष्ठः क्रियते। तदेवं पूर्वाभ्यासवशेन प्रयत्नं कुर्वन् शनैर्मुच्यते इतीममर्थं कैमुत्यन्यायेन स्फुटयति—जिज्ञासुरिति सार्द्धेन। योगस्य स्वरूपं जिज्ञासुरेव केवलम्। न तु प्राप्तयोगः। एवम्भूतो योगे प्रविष्टमात्रोऽपि पापवशाद् योग-भ्रष्टोऽपि शब्दब्रह्म वेदमतिवर्त्तते। वेदोक्तकर्मफलानि अतिक्रामति। तेभ्योऽधिकं फलं प्राप्य मुच्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अनुवाद—[इसके कारण]—उस पूर्व शरीरसे किये हुए अभ्यासके द्वारा किसी विघ्नके कारण अनिच्छुक होने पर भी—उनको विषयोंसे हटाकर ब्रह्मनिष्ठ करते हैं। इस प्रकार पूर्वाभ्यासके वश प्रयत्न करते-करते शनैः शनैः वह मुक्ति प्राप्त करते हैं। जो लोग केवल योगका स्वरूप जाननेके लिए इच्छुक हैं, प्राप्तयोग नहीं हैं, इस प्रकारके व्यक्ति योगमें प्रविष्ट होकर पापवश योगभ्रष्ट होने पर भी शब्दब्रह्म अर्थात् वेदोक्त कर्मफलका अतिक्रमण करते हैं। अर्थात् उससे भी अधिक फल प्राप्तकर मुक्त हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पूर्वाभ्यासके कारण अवश होकर क्रिया करता रहता है। ब्रह्म क्या है? यह पूछता है—और शब्दके द्वारा गुरुवाक्यके द्वारा लभ्य होता है।—योगभ्रष्ट व्यक्ति योगीके कुलमें जन्मग्रहण करते हैं, वहाँ ऐश्वर्यविभवादि योगविघ्न करनेवाले विषय नहीं होते, अतएव उसकी ज्ञानप्राप्तिमें

विघ्न नहीं हो सकता। परन्तु ऐश्वर्यवान्‌के घरमें जन्म लेकर भोगासक्तिके बीचमें लालित होकर क्या वे योग-जिज्ञासु हो सकते हैं? भगवान् कहते हैं कि ऐसे आदमी भी जिज्ञासु हो सकते हैं। वह अपनी इच्छाके वश, विवेक-विचार पूर्वक जिज्ञासु होते हों, ऐसी बात नहीं है। उनके पूर्वजन्मके अभ्यासके पुण्य-संस्कार वर्तमान विषयवासनाको अभिभूत करके पूर्वसाधन-संस्कारको जागृत कर डालते हैं। उस संस्कारके वश वे ब्रह्म-जिज्ञासु होनेके लिए बाध्य होते हैं, और जिज्ञासु शिष्यको श्रीगुरु कृपा करते ही हैं। गुरुकृपा प्राप्त करके तथा गुरुवाक्यमें विश्वास करके साधनामें प्रयत्न करने पर क्रियाकी परावस्था प्राप्त होगी ही। क्रियाकी परावस्था ही योगका मुख्य फल है। अवश्य ही, इसको प्राप्त करनेमें भी यथेष्ट अभ्यासका काम है। पूर्व जन्मके साधन जिसको साधित हैं वे जिज्ञासु होकर अर्थात् योगका उपदेश पाकर चेष्टाशील हों तो अत्यन्त सहज ही उनका नाद समुत्थित होता है, और पश्चात् वे नादभेद करके ज्योतिके अन्तर्गत शुद्ध मानस अर्थात् ब्रह्ममुखी चित्तका अनुभव करते हैं। पश्चात् वही मन क्रियाकी परावस्था या विष्णुके परम पदमें स्थित होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

अन्वय—तु (किन्तु) यतमानः योगी (अधिकतर यत्नशील योगी) प्रयत्नात् (प्रयत्न द्वारा) संशुद्धकिल्विषः (विधूतपाप होकर) अनेकजन्मसंसिद्धः (अनेक जन्मोंमें कुछ कुछ संस्कार पैदा होते होते अन्तमें सिद्धिलाभ या सम्यग् ज्ञान प्राप्त कर) ततः (तत्पश्चात्) परां गतिं (परम गतिको) याति (प्राप्त होते हैं) ॥४५॥

श्रीधर—यदेवं मन्दप्रयत्नोऽपि योगी परां गतिं याति तदा यस्तु योगी प्रयत्नादुत्तरोत्तरमधिकं योगे यतमानो यत्नं कुर्वन् योगेनैव संशुद्धकिल्विषो विधूतपापः सोऽनेकेषु जन्मसूपचितेन योगेन संसिद्धः सम्यग् ज्ञानी भूत्वा ततः श्रेष्ठां गतिं यातीति किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥४५॥

अनुवाद—जब इस प्रकार मन्दप्रयत्न योगी भी परमगतिको प्राप्त होते हैं, तब जो योगी प्रयत्नके साथ योगाभ्यासमें अधिकतर प्रयत्नशील बनते हैं, वह योगी विधूतपाप होकर अनेक जन्मोंके थोड़े थोड़े संस्कारोंसे संवर्धित योगके द्वारा सम्यक् ज्ञानी होकर, पश्चात् श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होंगे, इसमें कहना ही क्या है? ॥४५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इसी प्रकार संयम होते होते ब्रह्मके सिवा अन्य वस्तुको योगी नहीं देखता—इसी प्रकार अनेक जन्मोंमें सम्यक् प्रकारकी सिद्धि होती है। परमगति अर्थात् क्रियाकी परस्थिति होती है।—शिथिलप्रयत्न योगी भी स्वल्प प्रयत्नके द्वारा अप्रत्याशित फल प्राप्त करते हैं। अर्थात् उनका चित्त थोड़ा थोड़ा करके विषयोंसे आत्ममुखी होता है। जब कम प्रयत्नका भी इतना अधिक फल है, तब जो साधनमें बहुत प्रयत्न करते हैं उनके साधनमें सिद्धिकी प्राप्ति तो होगी ही। क्रियाकी परावस्था ही प्रकृत सिद्धि है। यह अवस्था थोड़ा थोड़ा करके दीर्घकाल स्थायी हो जाती है।

दीर्घकाल स्थायी होने पर उसको परमा गति कहते हैं। जो साधक पूर्वजन्मके साधन-
संस्कारको लेकर जन्मग्रहण करते हैं, उनके साधनमें अधिकतर प्रयत्न होता है, मानो
कोई खोयी हुई वस्तु मिल गयी हो, इस प्रकार साधनाके प्रति उनका खूब अधिक
समादर होता है। वह योगके अनेक मंजिलोंको शीघ्रतापूर्वक समाप्त कर देते हैं।
इससे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अनावश्यक चिन्तनमें उनका
चित्त उद्भ्रान्त नहीं होता। साधनामें बैठते ही उनका मन साधनामें जम जाता
है। क्रमशः सारे बाहरी विषय भूलने लगते हैं, अवसर पाते ही मन सत्वर अन्त-
र्मुखी होना चाहता है। इस अवस्थाका नाम है "संशुद्ध-किल्विष"। इस अवस्थाको
प्राप्त करनेके बाद भी सम्यक् सिद्धि प्राप्त करनेमें बहुत जन्म लगते हैं। सम्यक्
सिद्धि उसे ही कहते हैं जिसके प्राप्त होने पर कदापि चित्त विषयाकृष्ट नहीं होता।
चित्तमें जब निरन्तर शान्तिका प्रवाह बहता रहता है तो साधक परमानन्दमें मग्न
होकर सब कुछ भूल जाता है। इस सब कुछ भूल जानेके देशमें पहुँचनेमें भी
बहुत विलम्ब लगता है—इसमें साधकको अनेक जन्म लग जा सकते हैं। पर इसमें
हताश होनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रयत्नशील योगीको योगारूढ़ अवस्था प्राप्त
करनेमें विशेष बिलम्ब नहीं लगता। योगदर्शनमें लिखा है—'तीव्रसंवेगानामासन्नः'।
(समाधिपाद)। जिनको तीव्र संवेग आ गया है, उनके लिए योगकी प्राप्ति आसन्न
ही समझनी चाहिए। तीव्र संवेगवाले योगीको समाधिलाभ तथा उसका फल, ज्ञानकी
प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। पूर्वजन्मका दृढ़ संस्कार भी इस जन्मके वेगको दृढ़तर
करता है, उसका फल यह होता है कि साधकको साधनकार्यमें आलस्य या प्रमाद
नहीं आता, निरन्तर साधनमें लगे रहनेके लिए उनका चित्त सदा उत्सुक रहता है।
यहाँ अनेक जन्मकी बातसे क्या मतलब है, इसे बतलाते हैं। उपर्युक्त संवेगकी
अवस्था मृदु, मध्य और अधिमात्र भेदसे तीन प्रकारकी होती है। जिनको अधिमात्र
तीव्र संवेग है उनको योग आसन्नतम है। अतएव यदि गुरु कृपा करते हैं, यदि
भगवान्‌की दया होती है, यदि विचारमें कोई भ्रम नहीं आता तो तीव्र संवेगकी प्राप्ति
असम्भव नहीं होती। भजनमें मृदुता आती है तामसिक भावके कारण। परन्तु
थोड़ा थोड़ा नियमित रूपसे साधन करने पर तमोभाव दूर हो जाता है।

माताके गर्भसे जन्म लेनेके बाद जब यह देह फिर नष्ट हो जाता है तो उस
अवस्थाको प्रलय या मृत्यु कहते हैं। और यह बहिर्विचरणशील मन साधनाभ्यासके
द्वारा डूबते डूबते जब एकबारगी डूब जाता है तो उसे योगी लोग प्रलय कहते हैं।
इस प्रकारके प्रलयको साधारणतः नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। जाग्रदावस्थाके बाद
निद्रावस्थाको भी नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। परन्तु यह बाह्य है, पूर्वकथित नैमित्तिक
प्रलय आन्तर है। साधनाभ्यासके द्वारा यह अन्तर्मुखी गतिका संस्कार बढ़ते बढ़ते
जब अत्यधिक बढ़ जाता है, उस समय जो मन डूब जाता है वह सहज ही फिर
नहीं उठता—यही अपुनरावृत्ति या मोक्ष कहलाता है। इसको ही योगी लोग महा-
प्रलय कहते हैं। योगी लोग कहते हैं कि जन्म और मृत्यु, सृष्टि और लय क्षण
क्षण होते रहते हैं। जीवके जन्मके आरम्भसे ही श्वासकी गति चलती है। यह

श्वास एक बार आता है और एक बार जाता है। यदि यह श्वास जाकर न आवे तो वह मृत्यु कहलाती है। और यदि श्वास आता है तो वह जन्म कहलाता है। अतएव प्रत्येक श्वास-प्रश्वासके साथ हमारी निरन्तर जन्म-मृत्यु होती रहती है। यह श्वासका गमनागमन-काल प्राणायाम-साधनके द्वारा नियमित और वर्द्धित होता है। अनेक बार प्राणायाम होने पर अर्थात् श्वासको खींचने और फेंकने पर—अनेक बार जन्म हो जाता है। इस प्रकार साधक अनेक जन्म अर्थात् अनेक प्राणायाम द्वारा संसिद्धि प्राप्त करता है। परन्तु प्रयत्न तीव्र होने पर साधकको अनेक प्राणायाम करनेकी आवश्यकता नहीं होती। थोड़ा थोड़ा करने पर ही उन के मनमें नशा आ जाता है, उनका मन भीतर डूब जाता है। साधारणतः इसका नियम यह है कि मन लगाकर १२ प्राणायाम करने पर प्रत्याहार, १४४ पर धारणा, १७२८ बार प्राणायाम करने पर ध्यान, २०७३६ बार प्राणायाम करने पर समाधि लग जाती है ॥४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥४६॥

अन्वय—योगी (योगी) तपस्विभ्यः (तपस्वियोंकी अपेक्षा) अधिकः (श्रेष्ठ) ज्ञानिभ्यः अपि (ज्ञानियोंसे भी) अधिकः (श्रेष्ठ) योगी (योगी) कर्मिभ्यः च (कर्मियोंकी अपेक्षा भी) अधिकः (श्रेष्ठ) मतः (यह मेरा मत है) तस्मात् (अतएव) अर्जुन (हे अर्जुन !) योगी भव (तुम योगी बनो) ॥४६॥

श्रीधर—यस्मादेवं तस्मात्—तपस्विभ्य इति। तपस्विभ्य कृच्छ्रचान्द्रायणादि-तपोनिष्ठेभ्यः। ज्ञानिभ्यः शास्त्रज्ञानविद्भ्योऽपि। कर्मिभ्य इष्टापूर्त्तादिकर्मकारिभ्योऽपि। योगी श्रेष्ठो ममाभिमतः। तस्मात्त्वं योगी भव ॥४६॥

अनुवाद—[अतएव] योगी कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप करनेवालोंसे श्रेष्ठ हैं, शास्त्रज्ञ ज्ञानियोंके अपेक्षा भी श्रेष्ठ हैं, इष्टापूर्त्त कर्म करने वालोंसे भी योगी श्रेष्ठ हैं, यह मेरा मत है। अतएव हे अर्जुन, तुम योगी बनो ॥४६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थमें रहनेकी अपेक्षा—क्रियाकी परावस्थामें रहना अच्छा है—योनिमुद्रा देखनेकी अपेक्षा—क्रियाकी परावस्था अच्छी है—क्रिया करनेकी अपेक्षा क्रियाकी परावस्थामें रहना अच्छा है—इस लिए योगी बनो—योगाभ्यासी जब प्राणमें मन रखकर चक्र-चक्रमें आरोहण और अवरोहण करके—"भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य"—भ्रूके (आज्ञाचक्र या द्विदलमें—यही तपोलोक है) बीच प्राणको प्रवेश करा देते हैं तब वे तपस्वी कहलाते हैं। और ज्ञानी वे हैं जो योनिमुद्राके द्वारा आत्मज्योति देखते हैं तथा उसके भीतर अनेक अश्रुत विषयोंको सुनते हैं, अदृष्टपूर्व दृश्योंको देखते हैं, पश्चात् नाद-बिन्दुका सन्धान पाकर बिन्दुमें मन स्थिर करके बैठे रहते हैं, वे ही ज्ञानी हैं, अर्थात् अन्तर्जगत्के सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी होते हैं। और कर्मी वे हैं जो गुरूपदेशके अनुसार क्रियाभ्यासमें रत रहते हैं। इन समस्त

साधकोंसे योगी श्रेष्ठ होते हैं। क्योंकि योगी वही हैं जो क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त हुए हैं, और उसमें उनको स्थिति प्राप्त है। यही साधनाकी सिद्धि है। जिसके लिए इतना यत्न या परिश्रम होता है वह आत्मस्वरूपकी प्राप्ति ही सर्वोच्च अवस्था है। अन्य सारी अवस्थाओंमें मनकी कुछ न कुछ वृत्ति रहती ही है, परन्तु क्रियाकी परावस्थामें चित्तमें वृत्तियोंका उदय नहीं होता। यह अवस्था जब तक नहीं आती साधनाका अन्त नहीं होता। इसीलिए भगवान् अर्जुनसे बोले कि तुम साधन करते करते बीच रास्तेमें ही बैठ न जाना, एकबारगी अन्तिम फल योगकी प्राप्तिके लिए उद्यत हो जाओ।

अच्छा, चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग क्यों कहते हैं? 'योग' शब्दका अर्थ है मिलन। चित्तके स्पन्दित होनेके कारण ही सारे दृश्य दीख पड़ते हैं। चित्तके बहुमुखी हुए बिना बहुतेरे दृश्योंका अस्तित्व नहीं रहता। एक सत्तामात्र पदार्थ ही चित्तस्पन्दनके कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके रूपमें प्रतिभात हो रहा है, इन सब पदार्थोंको समझनेके लिए हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ भी विभिन्न हो गयी हैं। परन्तु वस्तुतः ये सब एक ही वस्तु हैं। इन अविद्याकृत सारी ज्ञेय वस्तुओंके ज्ञाता रूपमें जो 'अहं' या 'मैं' है, वही वस्तुतः सद्वस्तु हैं, इसका त्रिकालमें व्यतिक्रम नहीं होता। परन्तु ये दृश्य-समूह सर्वदा नहीं रहते। ये जो प्रकाशित हो रहे हैं वह द्रष्टाके दृश्यरूप होकर ही प्रकाशित हो रहे हैं। द्रष्टाके अभावमें दृश्य नहीं रहता। परन्तु दृश्यके अभावमें भी द्रष्टा वर्तमान रहता है। यही द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान या योग है। इस एकत्व-मिलनको ही योग कहते हैं। यदि सचमुच नानात्व होता तो कभी योग न होता। श्रुति कहती है—"नेह नानास्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।" इसलिए यह चित्तविक्षेपक नानात्व-भाव भी चित्तकी एक प्रकारकी अवस्थामात्र है। एकात्म-प्रत्ययरूप आत्म-बोधके उदय होनेपर यह सारी अनात्मभावरूपी मनकी विविध वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। जो मनका कल्पनामात्र था वह मनोलयके साथ साथ अदृश्य हो जाता है। अतएव वृत्तिसमूहके समुदित होने पर आत्माके साथ मनके मिलनमें जो विघ्न होता है, वृत्तियोंके रुद्ध होनेपर वह मिलनकी बाधा कुछ भी नहीं रहती। इसीलिए ऋषियोंने चित्तवृत्तियोंके निरोधको ही योग कहा है। अवश्य ही, इसी कारण योगसाधनके उपायभूत प्राणायामादि साधनको भी योग कहते हैं। और इसीलिए यह प्राणायाम श्रेष्ठ तपस्याके रूपमें गिना गया है।

मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते॥

मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तपस्या है, यह सब धर्मोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। प्राणायामादि योगाभ्यास करनेपर यह परम तपस्या संसाधित होती है। इससे ही सर्वप्रथम मनोनाश होता है, मनोनाश होनेपर ही वासनाका क्षय होता है, और वासनाका क्षय होनेसे तत्त्वज्ञानका उदय होता है। इसी कारण योगाभ्यास तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका हेतु है। मनकी चञ्चलताके कारण अर्जुनको योगके द्वारा चित्त-

साम्यके स्थायित्वके सम्बन्धमें निराशा हो गयी थी। चिरस्थिर अचञ्चल भगवान्‌ने मनकी साम्यावस्थामें ही योगका उपदेश किया था। यह चित्तसाम्य लाना ही साधनाका लक्ष्य है। पहले अनेक बार कह चुके हैं कि प्राणस्पन्दनके कारण ही मनका स्पन्दन होता है। यह चञ्चल प्राणापानकी गति रुद्ध होते ही प्राणस्पन्दन तिरोहित हो जाता है, साथ ही मनका स्पन्दन भी नहीं रहता। मन स्पन्दनके न रहनेपर ही वह आत्माकाराकारित होकर निश्चल भावमें वर्तमान रहता है। यही योग है। इसीलिए अन्य सब धर्मोंसे योगधर्म श्रेष्ठ है। इस साधनकी मध्यावस्थामें न जाने कैसे कैसे अद्भुत व्यापार घटित होते हैं, इससे सभी साधक अवगत हैं, अधिक कहनेका प्रयोजन नहीं है ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो [अभ्यासयोगो वा] नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

अन्वय—यः (जो) श्रद्धावान् (श्रद्धावान् व्यक्ति) मद्गतेनान्तरात्मना (मद्गतचित्त- द्वारा) मां (मुझको) भजते (भजते हैं) सर्वेषां (सारे) योगिनाम् अपि (योगियोंमें भी) सः (वह) युक्ततमः (सर्वापेक्षा श्रेष्ठ हैं) मे मतः (यह मेरा मत है) ॥ ४७ ॥

श्रीधर—योगिनामपि यमनियमादिपराणां मध्ये मद्भक्तः श्रेष्ठ इत्याह—योगीनामपीति। मद्गतेन मय्यासक्तेन। अन्तरात्मना मनसा। यो मां परमेश्वरं वासुदेवं। श्रद्धायुक्तः सन् भजते। स योगयुक्तेषु श्रेष्ठो मम सम्मतः। अतो मद्भक्तो भवेति भावः ॥ ४७ ॥

आत्मयोगमवोचद् यो भक्तियोगशिरोमणिम्।
तं वन्दे परमानन्दं माधवं भक्तशेवधिम् ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः।

अनुवाद—[यमनियमादि-परायण योगियोंमें मेरा भक्त ही श्रेष्ठ है, इसीलिए कहते हैं]—जो मग्दतचित्तके द्वारा मुझ परमेश्वर वासुदेवको श्रद्धायुक्त होकर भजन करते हैं, वे योगयुक्तोंमें श्रेष्ठ हैं, यह मेरा मत है। अतएव मेरा भक्त बनो ॥४७॥

भक्तियोगशिरोमणि आत्मयोगकी जिन्होंने (भक्तके सामने) व्याख्याकी है, भक्तके उस परम सम्पद् परमानन्द माधवकी वन्दना करता हूँ।

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहकर—जिसका मन ब्रह्ममें ही सदा रहता है—वह मुझको जान सकता है—मुझको जानने पर ही सारा इन्द्रियसंयम होगा।—योगियोंमें भक्तयोगीको ही भगवान्‌ने श्रेष्ठ योगी कहा है। इसका कारण यह है कि मनमें अगाध श्रद्धा न होने पर इस सुदुर्गम योगपथका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। जिनके प्राणमें अधिक खिंचाव है—यथा देवे तथा गुरौ—उनके

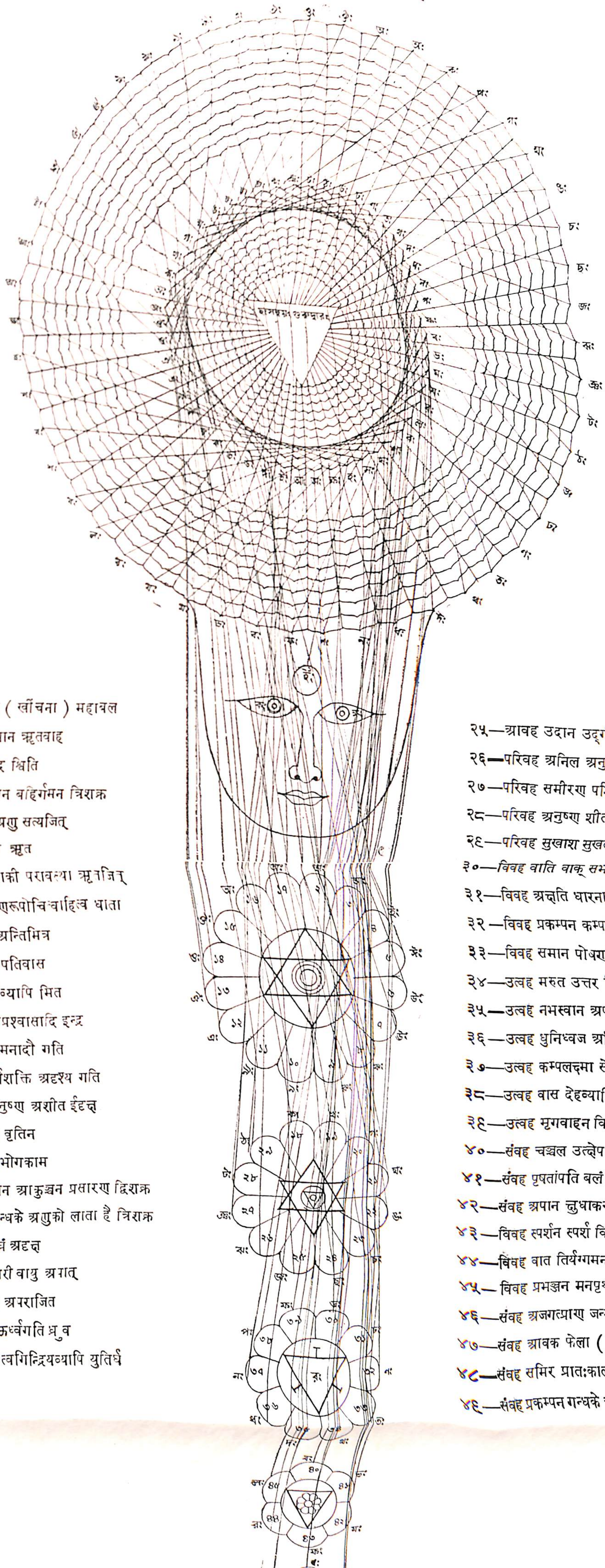
सामने ही भगवान्‌का स्वरूप प्रकाशित होता है। यह नहीं हो सकता कि भक्त पृथक् हो और योगी पृथक् हो। जो योगी और भगवद्भक्त हैं, उनके ही लिए ही योगाभ्यास सुगम होता है। भगवान्‌को जाननेके लिए योगी होना होगा। परन्तु योगी यदि भक्त होते हैं अर्थात् भगवान्‌के प्रति अत्यधिक आसक्ति रखते हैं तो उनके लिए योगाभ्यास सुखकर होता है। इतना कठोर अभ्यास या प्रयत्न करता हूँ किसके लिए? जो "प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुरात्मा"—प्रियतम, जीवमात्रके बन्धु, परम सुहृद् हैं—क्योंकि वही सबके 'आत्मा' हैं। आत्मसंस्थ हुए बिना किसीके लिए आत्मसाक्षात्कार संभव नहीं है। जिससे आत्मसंस्थ हुआ जाता है वह उपाय ही योगाभ्यास है, इस अभ्यासके बारेमें ही इस अध्यायमें विशेषरूपसे कहा गया है। योगीका चित्त भगवान्‌के लिए बड़े ही आदर की वस्तु है। उस चित्तमें तो और किसी विषयकी तरंग या संस्कार नहीं होता, वह केवल स्व-भावमें ही पूर्ण होता है, अपने निजानन्दमें मग्न होता है। जीवात्मा सबसे अधिक परमात्माके निकटतम है। जीवात्मा विषय-व्याकुल होकर देहादिके सम्बन्धमें जड़ित होता है, तब कुछ भी उसे समझमें नहीं आता कि वह क्या है और किसका है? अचिन्तनीय भाग्यके फलस्वरूप, प्राणको स्थिर करने वाले अभ्यासके द्वारा जब प्राणज संस्कार क्षीण हो जाते हैं, तो उसके साथ मनकी संसार-प्रवृत्ति भी ह्रासको प्राप्त होती है। जब मनसे संसार बिल्कुल दूर हो जाता है, तब मन और आत्मामें और कोई व्यवधान नहीं रहता। विषयोंसे विनिर्मुक्त मन तब 'यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ' यानी जैसे गङ्गा सागरमें जा मिलती है उसी प्रकार परमात्माके साथ अविच्छिन्न भावसे युक्त हो जाता है। यही युक्ततम और भक्तकी अवस्था है। क्योंकि इस अवस्थामें आत्माका परमात्माके सिवा और कोई अवलम्ब न या आश्रय नहीं रहता। यही सर्वात्मक भावसे आत्मसमर्पण है। समुद्रमें मिलनेके बाद जिस प्रकार गङ्गाका पृथक् नामरूप नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मसमर्पण करने वाले योगयुक्त योगीका चित्त फिर पृथक्‌रूपमें नहीं रहता। परमात्माके साथ वह एक हो जाता है। यही परमपद है। ऐसे अनेक मतावलम्बी हैं जो योगशास्त्रके अनुसार योगाभ्यास करते हैं और वे योगफल—कुछ न कुछ बाहरी विभूति—प्राप्त करते हैं, परन्तु भगवान्‌को प्राप्त किये बिना प्राण जुड़ाता नहीं, इसलिए नास्तिक योगी, कुछ कुछ योगैश्वर्य प्राप्त करने पर भी परमशान्ति या मोक्ष-पदको प्राप्त नहीं कर सकते। इसी कारण जान पड़ता है भगवान्‌ने सावधान कर दिया है कि योगाभ्यास करने पर भी यदि भगवान्‌में विश्वास या निर्भरता नहीं रहती तो इतना करने पर भी कोई विशेष लाभ न होगा ॥४७॥

इति श्रीश्यामाचरण-आध्यात्मिक-दीपिका नामक गीताके षष्ठ अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

—*—



योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशय प्रदत्त षट्चक्रका चित्र



१—प्रवह श्वसिनि टाना (खींचना) महाबल
२—परिवह विहग उड्डीयान ऋतवाह
३—परिवह नभस्वर शब्द श्विति
४—परिवह प्राण निमीलन बहिर्गमन त्रिशक्र
५—परावह मातरिश्वा अणु सत्यजित्
६—परावह जगत्प्राण ब्रह्म ऋत
७—परावह पवमान क्रियाकी परावस्था ऋतजित्
८—परावह नभप्राण प्राणरूपोचिर्वाहित्व धाता
९—परावह हवि मोक्ष अन्तिमित्र
१०—परावह सारं नित्य पतिवास
११—परावह स्तनुन सर्वव्यापि मित
१२—प्रवह श्वसन श्वासप्रश्वासादि इन्द्र
१३—प्रवह सदागति गमनादौ गति
१४—प्रवह पृषदस्य स्पर्शशक्ति अदृश्य गति
१५—प्रवह गन्धवाह अनुष्ण अशीत ईदृक्ष
१६—प्रवह वाह चलान वृतिन
१७—प्रवह भोगिकान्त भोगकाम
१८—उत्वह व्यान जृम्भन आकुञ्चन प्रसारण द्विशक्र
१९—आवह गन्धवह गन्धके अणुको लाता है त्रिशक्र
२०—आवह आशुग शैघ्रं अदृक्ष
२१—आवह मारुत भीतरी वायु अगात्
२२—आवह पवन पवन अपराजित
२३—आवह फणिप्रिय ऊर्ध्वगति ध्रुव
२४—आवह निश्वासक त्वगिन्द्रियव्यापि युतिर्धं

२५—आवह उदान उद्गीरण सकृत्
२६—परिवह अनिल अनुष्ण अशीत अजय
२७—परिवह समीरण पश्चिमकी वायु सुषेन
२८—परिवह अनुष्ण शीतस्पर्श पसदीक्ष
२९—परिवह सुखाश सुखदा देवदेव
३०—*विवह वाति वाक् सभव*
३१—विवह अक्षति धारना अनमित्र
३२—विवह प्रकम्पन कम्पन भीम
३३—विवह समान पोषण एकज्योति
३४—उत्वह मरुत उत्तर दिशाकी वायु सेनाजित्
३५—उत्वह नभस्वान अपाकज अभियुक्त
३६—उत्वह धुनिध्वज आँदिमित
३७—उत्वह कम्पलक्ष्मा सेचनाधर्ता
३८—उत्वह वास देहव्यापि विधारण
३९—उत्वह मृगवाहन विद्युत्वरण
४०—संवह चञ्चल उत्क्षेपण द्विज्योति
४१—संवह पृषतांपति बलं महाबल
४२—संवह अपान क्षुधाकर अधोगमन एकशक्र
४३—विवह स्पर्शन स्पर्श विराट
४४—विवह वात तिर्यग्गमन पुराणाय्य
४५—विवह प्रभञ्जन मनपृथक् सुमित
४६—संवह अजगत्प्राण जन्ममरण अदृश्य
४७—संवह आवक फेला (फेंकना) पुरिमित्र
४८—संवह समिर प्रातःकालकी वायु संमित
४९—संवह प्रकम्पन गन्धके अणुको लाता है मितासन